कुमार अरुण, एम० ए० द्वारा यंग मैन एण्ड कम्पनी
नई सड़क, दिल्ली के निमित्त प्रकाशित

मूल्य : चालीस रुपया

पुस्तकालय संस्करण

प्रभात प्रेस, नोचन्दी, मेरठ द्वारा मुद्रित

भूमिका

लेखन की प्रेरणा कुछ मे जन्मजात होती है जो किसी विशिष्ट शिक्षण की अपेक्षा नही रखती और कुछ मे उच्चतर अध्ययन के साथ अंकुरित और विकसित होती है। प्रायः स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं मे गम्भीरता एव अध्यवसायपूर्वक अध्ययन करने वाले छात्र-छात्राओ के मन मे यह आकाक्षा उदित होती है कि वे अपने कक्षा के नोट्स को ग्रथ का रूप प्रदान करे अथवा उन नोट्स मे अपने मौलिक चिन्तन का मिश्रण करके उन्हे एक मौलिक ग्रथ का स्वरूप प्रदान करे। प्रोत्साहन मिलने पर उनकी लेखनी चल पडती है और उनमे से अनेक योग्य अनुसधाता और उच्च कोटि के समालोचक एव लेखक के रूप मे यश प्राप्त करते हैं। ऐसा ही एक प्रयास आपके सामने है—"साहित्य शास्त्र के सिद्धान्त"।

परिश्रमी और अध्यवसायशील लेखिका की स्थिति प्रस्तुत ग्रथ में अध्येता और अध्यापक के बीच की है अर्थात एक ओर सुयोग्यतम छात्रा के रूप मे धैर्य और दृढता के साथ उच्चकोटि के प्रामाणिक एव प्रख्यात, समालोचनात्मक और शास्त्रीय, ग्रन्थो से सामग्री सकलित की गई है और दूसरी ओर मान्यता प्राप्त अध्यापक जैसी आत्मविश्वास पूर्ण विशद व्याख्या का भी दिग्दर्शन है। जहाँ तक साहित्यशास्त्र से सम्बन्धित विविध और बहुल सामग्री के संकलन का प्रश्न है लेखिका को इसमे अत्यन्त सफलता मिली है। इस दृष्टि से हम प्रस्तुत ग्रथ को साहित्यशास्त्र की सुन्दर चयनिका कह सकते हैं जिसमे भारतीय और योरोपीय दोनो के साहित्योपवन की सुगन्ध सुवासित हुई है। इस ग्रन्थ मे पुरातन और नूतन, प्राच्य और प्रतीच्य विद्वानो की वाणी का प्रसाद है—पर्याप्त और प्रचुर—साथ ही विद्वानो की पात मे स्थान पाने की भी स्पर्धा इस विनम्र प्रयास मे है। लेखिका ने साहित्यशास्त्र के सिद्धातो का ही नही, उनकी व्याख्याओ का भी सुन्दर सकलन किया है, अपनी ओर से भी विवेचन किया है, निस्सदेह इस ग्रन्थ के द्वारा हिन्दी की उच्च कक्षाओ के छात्रो और अध्यापको की भी एक बडी आवश्यकता की पूर्ति हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे द्वादश अध्याय है। प्रथम अध्याय मे कला का स्वरूप-निरूपण करते हुए लेखिका ने कला विषयक स्वदेशीय और विदेशीय परिभाषाये तथा वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं जिनमे नूतन और पुरातन दोनो ही विचारधाराओ का समावेश है। द्वितीय अध्याय मे इसी प्रकार काव्य का और तृतीय मे साहित्य का स्वरूप-निरूपण [illegible] गया है और चतुर्थ अध्याय मे कविता की व्याख्या है। वस्तुत. इनमे से प्रथम [illegible] अधिक महत्त्वपूर्ण है, अन्य तीन मे परस्पर कुछ आवृत्ति हो गई है। इन चा[illegible] मे कला और काव्य के स्वरूप सम्बन्धी इतने मतो का सग्रह है कि यह [illegible] [illegible] का काम दे सकता है।

पाचवाँ अध्याय सबसे अधिक विस्तृत है। इसमे काव्य के गद्य और पद्य दोनो रूपो का उपवर्गो और विभागो सहित सविवरण विवेचन किया गया है। सर्व-प्रथम (क) भाग "गद्य-काव्य" के अन्तर्गत दृश्य काव्य (नाटक) का सांगोपाग विवेचन है जिसमें भारतीय के साथ योरोपीय नाट्य-शास्त्र का भी समावेश है, साथ ही एकाकी और रेडियो रूपक के तत्त्वो पर भी प्रचुर सामग्री दी गई है। रगमच और अर्थ प्रवृत्ति, सधि तथा अवस्थाओ का स्वरूप चित्रो द्वारा अधिक वोधगम्य वना दिया गया है। सिनेमा और रगमच का सम्वन्ध तथा अन्तर समझाते हुए दृश्यकाव्य के विपय को एक विशिष्ट सीमा तक पूर्ण वनाया गया है। इसी अध्याय के (ख) भाग मे श्रव्यकाव्य (पद्य) के उपविभागो—प्रवन्ध और मुक्तक, तथा उनके उपवर्ग महाकाव्य, खंडकाव्य, पाठ्य और प्रगीत आदि का विवेचन हुआ है। प्रवन्ध और मुक्तक के मध्यवर्ती एकार्थ तथा मिश्र एव स्फुट काव्यो का भी स्वरूप निर्धारण इसके साथ कर लिया जाता तो अधिक उत्तम होता। गीतावली और कवितावली जैसे प्रवन्ध मिश्र मुक्तक प्रथम वर्गीकरण ही अपेक्षा रखते हैं। श्रव्यकाव्य के गद्य विभाग मे उपन्यास, कहानी और निवन्ध तथा जीवनी और आत्मकथा का भी तात्विक विवे-चन और सक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय के अन्त मे गद्यकाव्य (गद्यगीत) पर भी एक सक्षिप्त अनुच्छेद जोड कर प्रकरण को पूर्ण विराम दिया गया है।

छठे अध्याय मे समालोचना की सविस्तार विवेचना है—उसके स्वरूप, व्युत्पत्ति, प्रकार, विकास और पूर्वी तथा पश्चिमी परम्पराओ पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

अन्तिम छ. अध्यायो मे लेखिका ने रस, वक्रोक्ति, अलकार, ध्वनि, रीति और औचित्य सम्प्रदायो पर क्रमश विचार किया है जिनमे से प्रथम अर्थात् रस सम्वन्धी अध्याय सुविस्तृत है और रसविपयक सामग्री विशेप प्रचुरता के साथ प्रस्तुत की गई है। इसमे प्रत्येक रस का देवता और वर्ण उल्लिखित करने के साथ ही भक्ति-रस का भी समावेश करके लेखिका ने वर्तमान समालोचना क्षेत्र के ज्वलन्त प्रश्नो के प्रति भी सतर्कता और चेप्टा प्रकट की है।

एक ही ग्रन्थ मे इतनी विपुल सामग्री के सयोजन की दृष्टि से यह प्रयास सर्वथा स्तुत्य है। इससे उच्च कक्षाओ के (वी० ए०, एम० ए०, साहित्यरत्न, प्रभाकर आदि) छात्र ही नही अध्यापकगण भी अध्यापनकार्य मे लाभ उठा सकेगे। ग्रन्थ का अध्ययन करते हुए अध्यापक ऐसा अनुभव करेगे कि वे अनेक साहित्यशास्त्र विपयक ग्रन्थो की एक साथ आवृत्ति कर रहे हैं। इस प्रकार यह कृति साहित्यशास्त्र का एक लघुकोष कही जा सकती है।

साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के सचयन की विशेपता इसमे यह रही है कि रतीय और योरोपीय, तथा भारतवर्ष की प्रान्तीय भाषाओ, विशेषकर वगला मराठी, के विद्वानो के भी विचारो और सूक्तियो का सग्रह कर लिया गया

है। इन विद्वानो मे केवल आलोचक और निबन्ध लेखक ही नही, नाटककारो और कवियों की भी, तथा कुछ गण्यमान्य नेताओं की भी साहित्य एव कलाविषयक मान्यतायें संग्रहीत की गई हैं। आलोचनाशास्त्र के विकास का इतिहास प्रस्तुत करने मे यह कृति सहायक हो सकती है।

साहित्यशास्त्र जैसे विषय के लिए जीवनव्यापी साधना अपेक्षित है और एक ग्रन्थ में उसका सर्वांगीण विवेचन असभव ही है। इस ग्रन्थ मे भी अनेक अभाव, अपूर्णताओं और त्रुटियो का होना स्वाभाविक है फिर भी इसकी उपयोगिता असदिग्ध है और इसका अनुभव इसके पाठक छात्र और अध्यापक दोनो ही करेंगे। मुद्रण की अशुद्धियाँ, क्रम और विषय विभाजन मे किंचित् अव्यवस्था एव अवैज्ञानिकता आदि ऐसी त्रुटियाँ हैं जिन पर विद्वानो का ध्यान अवश्य पहुँचेगा परन्तु सम्पूर्ण रूप मे इस ग्रन्थ की उपयोगिता सभी स्वीकार करेंगे, ऐसा मेरा निश्चित विश्वास है। पारिभाषिक तथा विशिष्ट शब्दो की अनुक्रमणिका भी जोड दी जाने पर इस ग्रथ की उपयोगिता अधिक बढ सकती थी।

लेखिका सुश्री सरोजिनी मिश्रा, एम० ए०, साहित्यरत्न, प्रभाकर हिन्दी के छात्रो के लिए साहित्य सन्देश और सरस्वती सम्वाद जैसी पत्रिकाओ तथा छात्रोपयोगी एव परीक्षोपयोगी पुस्तको के माध्यम से सुपरिचित हैं। उनकी यह आकार और प्रकार दोनों दृष्टियों से विशाल और सारपूर्ण कृति छात्रो से समादर और वरिष्ठ अध्यापको से आशीर्वाद प्राप्त करे तथा लेखिका को अन्य मौलिक एव उच्चतर ग्रथ-लेखन के लिए प्रेरित करे, यही मेरी शुभ कामना है।

रामप्रकाश अग्रवाल
एम० ए० (हिन्दी, सस्कृत तथा अग्रेजी)
उपाध्यक्ष हिन्दी विभाग,
मेरठ कालिज, मेरठ

३०१, उर्मिला पथ, मेरठ
१–६–५६

दो शब्द

अपनी 'अल्पविषया मतिः' और स्वल्प तथा सीमित ज्ञान के द्वारा मैंने साहित्य शास्त्र के समस्त अगो तथा उपांगो का विवेचन करने का प्रयास "साहित्य शास्त्र के सिद्धान्त" नामक प्रस्तुत पुस्तक मे किया है। अपने विद्यार्थी जीवन काल से ही मैं एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता अनुभव कर रही थी जिसमे साहित्य शास्त्र के समस्त अगों तथा उपागो की व्याख्या के साथ साथ समस्त सम्प्रदायो की गूढ विवेचना एकत्र उपलब्ध हो सके। अत. अनेको विशालकाय तथा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों के होते हुए भी उक्त विषय का सक्षिप्त एव पूर्ण परिचय सरलता से सुसगठित रूप मे एक स्थान पर ही प्राप्त हो सके; यही इस पुस्तक के लिखने का प्रयोजन है।

परीक्षार्थी, अध्यापक तथा अन्य भी साहित्य प्रेमियो को इन दुरूह तत्त्वो का सुगमता से बोध कराने के विचार से ही यह प्रयत्न किया है। यदि उक्त व्यक्तियो या जिज्ञासु जनो को इससे कुछ भी सहायता मिली तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूंगी। प्रस्तुत पुस्तक के लेखन मे मैंने जिन विद्वान् लेखको के व्यवस्थित विचारो को अपनाया या उनके ग्रन्थो से सहायता ली है उन सभी के प्रति मैं केवल मूक-कृतज्ञता ही ज्ञापन करती हूँ। धन्यवाद देकर उनका महत्त्व कम करना मैं नही चाहती।

पुस्तक के प्रथम सस्करण मे शीघ्रता, असावधानी तथा अज्ञान के कारण जो त्रुटियाँ शेष रह गई हो उसके लिए समस्त साहित्य प्रेमी व्यक्तियों से नम्र निवेदन है कि वे इस सम्बन्ध मे अपनी अमूल्य सम्मति भेजने की कृपा करे जिससे भविष्य मे अपनी भूल सुधार कर मैं उनकी समुचित सेवा के योग्य बन सकूं।

अन्त में मैं अपने उत्साही प्रकाशक की भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होने बडी लगन के साथ इस पुस्तक को प्रकाशित किया। आदरणीय श्री रामप्रकाश अग्रवाल जी की भी मैं हृदय से अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होने भूमिका लिखने की कृपा की।

सरोजिनी मिश्रा

सहायक ग्रन्थो की सूची

हिन्दी के ग्रन्थ

साहित्यालोचन — डा० श्यामसुन्दर दास
सिद्धान्त और अध्ययन — श्री गुलाबराय
काव्य के रूप — श्री गुलाबराय
शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त — डा० गोविन्द त्रिगुणायन
समीक्षा शास्त्र — श्री सीताराम चतुर्वेदी
समालोचना शास्त्र — रघुनाथ प्रसाद साधक
आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त — डा० एस० पी० खत्री
भारतीय साहित्य शास्त्र — डा० बलदेव उपाध्याय
रीतिकाव्य की भूमिका — डा० नगेन्द्र
हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास — डा० रामचरण महेन्द्र
हिन्दी साहित्य में हास्य रस — डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी
रीतिकालीन कविता एव शृंगार रस का विवेचन — डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी
काव्य दर्पण — रामदहिन मिश्र
भारतीय साहित्य की विशेषताएँ — डा० श्यामसुन्दर दास
दृश्य काव्य में हास्य-तत्व (आलोचना जनवरी १९५५) — डा० रामकुमार वर्मा
काव्य में रहस्यवाद — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
चिन्तामणि — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
काव्य और कला — जयशकर प्रसाद
साहित्य-सर्जना — इलाचन्द्र जोशी
नाटक की परख — एम० पी० खत्री
एकांकी नाटक — अमरनाथ गुप्त
छः एकांकी — प्रो० प्रकाश चन्द्र गुप्त
साहित्य — कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ
सूरदास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
विवेचनात्मक गद्य — सुश्री महादेवी वर्मा
स्मृति की रेखाएँ — सुश्री महादेवी वर्मा
विचार तथा विवेचन — डा० नगेन्द्र
जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त — श्री लक्ष्मी नारायण सुधांशु
काव्य कल्पद्रुम — श्री कन्हैयालाल पोद्दार

संचारिणी — श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी
रसज्ञ-रंजन — आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी
केलकर द्वारा रचित हास्य रस — (अनुवादक) श्री रामचन्द्र वर्मा
रस-कलश — हरिऔध
हिन्दी काव्य में नवरस — बाबूराम बित्थारिया
जगद्विनोद — पद्माकर
रसिक प्रिया — केशवदास
रस-तरंगिणी — भानुदत्त
शब्द रसायन — महाकवि देव
नवरस तरङ्ग — वेनी प्रवीन
ग्रन्थ शृंगार प्रकाश — भोज
भवानी विलास — महाकवि देव
उज्जवल नील मणि — रूप गोस्वामी
हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी — श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
भक्ति रसायन — आ० मधुसूदन
रामचरितमानस — गोस्वामी तुलसीदास
पल्लव — श्री पन्त जी
साकेत — डा० मैथिलीशरण गुप्त
प्रिय-प्रवास — हरिऔध
कामायनी — कविवर जयशकर प्रसाद
पद्मावत — जायसी
विद्यापति की पदावली — विद्यापति
सान्ध्य गीत — महादेवी वर्मा
गोदान — प्रेमचन्द
प्रेमाश्रम — प्रेमचन्द
व्रतभंग (कहानी) — जयशकर प्रसाद
पुरस्कार (कहानी) — जयशकर प्रसाद
लाछन (कहानी) — प्रेमचन्द
गिला (कहानी) — प्रेमचन्द

संस्कृत के ग्रन्थ

नाट्य शास्त्र — आचार्य भरतमुनि
काव्य प्रकाश — मम्मटाचार्य
साहित्य दर्पण — विश्वनाथ
चन्द्रालोक — जयदेव
ध्वन्यालोक — आनन्दवर्धन

वक्रोक्ति जीवित — कुन्तक
रस गंगाधर — पडितराज जगन्नाथ
औचित्य विचार चर्चा — क्षेमेन्द्र
काव्यादर्श — दण्डी
श्राद्ध विवेक — रुद्रधर
काव्यालंकार — वामन
शृंगार प्रकाश — भोज
काव्य मीमांसा — राजशेखर
सरस्वती कण्ठाभरण — भोज
अग्नि पुराण — महर्षि व्यास
दशरूपक — धंनञ्जय
शिवसूत्र विमर्शिणी — क्षेमराज
साहित्य सार — अच्युतरायने
विक्रमांकदेव चरित — विल्हण
अलङ्कार चन्द्रिम — न्यायवागीश
साहित्य रत्नाकर — धर्मसूरी
एकावली — विद्याधर
रसार्णव — शिङ्गभूपाल
भाव प्रकाशन — शारदातनय
अभिनव भारती — अभिनव गुप्त
नाट्य दर्पण — रामचन्द्र
अथर्व वेद
ऋग्वेद
तैत्तिरीय उपनिषद्
इति विश्व:
कठोपनिषद्
छान्दोग्य उपनिषद्
बालकाण्ड
मालविकाग्नि मित्र
श्रीमद्भगवद् गीता
शुक्रनीति
कामसूत्र
प्रबन्ध कोष
ललित विस्तार

अंग्रेजी के ग्रन्थ

Theory of Drama — निकल
History of Aesthetic — *Bosanquet*
Expression and Rhetoric — क्रोञ्चे
Personality — *Ravindra Nath*
Art of Poetry — *Horace*
Lectures on the English Poets — *Hazlitt*
A Manual of Psychology — *Dr Sinha*
The Future Poetry, Style and Substance — *Arvind Ghosh*
English Studies — सर फिलिप
The Problem of Style — मैंगनस
Lecture and Literary Criticism — एम० जी० भाटे
A Midsummer Night's Dream — *Shakespeare*
Judgment in Literature — *W. B. Worsfold*
इण्डियन रोज नोन टु पाणिनी — वासुदेव शरण अग्रवाल
हिस्ट्री ग्राफ संस्कृत पोइटिक्स — महामहोपाध्याय पी० वी० काले
डिस्कवरीज — बेन जॉनसन
एपॉलॉजी फार हिरोइक पोएट्री — जॉन ड्राइडन
प्रिफेस टु सेल्वी — जॉन ड्राइडन
All for Love — *John Dryden*
ी इम्पार्शल क्रिटिक — टी० राइमर
Essay on Criticism — *Pope*
Essays from "Spectator" — *Addison*
आब्जर्वेशन ऑन दि फेयरी क्वीन — टी० वार्टन
Preface To Shakespeare — *Samuel Johnson*
Lives of the Poets — *Samuel Johnson*
Biographia Literaria — *Coleridge*
Lectures — *Coleridge*
Table Talk — *Hazlitt*
Characters of Shakespeare — *Hazlitt*
Lectures on German Literature — *Thomas Carlyle*
एसे ऑन गर्टा — *Thomas Carlyle*
Essays in Criticism — *Matthew Arnold*
A History of English Literature — *Legouis & Cazamian*
History of Criticism and Literary Taste in Europe — *Saintsbury*
An Essay Concerning Human Understanding — *Locke*

विषय सूची

प्रथम अध्याय

कला-विवेचन

कला का स्वरूप-निरूपण

कला की परिभाषा—कला का सैद्धान्तिक विवेचन हमारे यहा की अपेक्षा पाश्चात्य देशो मे कुछ अधिक हुआ है, परन्तु हमारे यहाँ कला के व्यावहारिक विवेचन की ओर अधिक प्रवृत्ति रही है। यह देश-देश की परम्परा है।

मानव मस्तिष्क का निर्माण ही कुछ इस प्रकार हुआ है कि वह अपने सुख-दु.ख, हर्ष-विषाद, हित-अहित की भावनाओ को अभिव्यजित किये बिना नही रह सकता। अपने भावों को अभिव्यक्त करने मे उसे एक प्रकार का सन्तोष प्राप्त होता है। सम्पूर्ण जीव जगत के चित्र मनुष्य के मस्तिष्क मे अदृश्य रूप से अकित होते रहे होगे और मनुष्य की अन्तरात्मा उन चित्रो को गोचर रूप मे चित्रित करने के लिए तभी से प्रयत्नशील रही होगी। अभिव्यक्ति की इस क्रिया से उसे यत्किंचित् सन्तोष और समाधान प्राप्त होता रहा होगा। कालक्रमानुसार अभिव्यजना की शक्ति का विकास होता रहा और साथ ही अभिव्यंजना की भिन्न-भिन्न विधियाँ भी प्रतिष्ठित होती गई। मानव मन मे अंकित भावनाओ की अभिव्यजना की इन्ही विविध विधियो को "कला" की सज्ञा दी गई है। अतः **"अभिव्यंजना की विविध विधियों को ही हम कला की संज्ञा दे सकते है।"**

इस प्रकार यद्यपि अभिव्यजना को ही कला की सज्ञा दी गई है तथापि सम्पूर्ण अभिव्यजना "कला" नही है। दर्शन, आयुर्वेद, विज्ञान आदि को कला नही कहा जा सकता। मनुष्य की बुद्धि कभी तो वस्तुओ का चित्राकन ही करती हे और कभी उनकी मीमांसा, उनका श्रेणी विभाजन और उनका नियम निर्धारण आदि भी करती हे। मनुष्य केवल कलाकार ही नही है वह दार्शनिक भी है। वह अपने सूक्ष्म दर्शन से सृष्टि चक्र के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार से विवेचन, विश्लेषण और वर्गीकरण करता है। वह सूक्ष्म रूप से अनेक प्रकार के सिद्धान्तो का वर्णन करता है, जो उपदेश के रूप मे ज्ञान की वस्तु बन जाते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक तथ्यो का "निरूपण" तथा दर्शन शास्त्र की स्थापना होती है। यद्यपि ये दार्शनिक सिद्धान्त और वैज्ञानिक तथ्य अभिव्यंजना शक्ति के ही अग है तथापि इन्हे कला की संज्ञा नही दी जा सकती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अभिव्यंजना की विविध विधियां कला अवश्य हैं, परन्तु अभिव्यंजना मात्र कला नहीं। "मनुष्य की अनुभूतियो, कल्पनाओ और उसके सम्पूर्ण ज्ञान का एक वृहदंश कला का विषय बन सकता है।"

संस्कृत मे कला का विवेचन—पाश्चात्य देशो मे काव्य की गणना कलाओ के अन्तर्गत की गई है। परन्तु संस्कृत साहित्य में काव्य का क्षेत्र कलाओ से बाहर माना गया है। भारतीय परम्परा मे ज्ञान को दो भागो मे विभाजित किया गया है—विद्या और उपविद्या। काव्य को विद्या के अन्तर्गत रखा गया है और कलाओं को उपविद्या में स्थान मिला है। संस्कृत के विद्वानो ने काव्य और कला के बीच विभाजनरेखा उपस्थित की है, महाराज भर्तृहरि के इस सुप्रसिद्ध वाक्यांश से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

"साहित्य संगीत कला विहीन, साक्षात् पशु पुच्छविषाणहीन।"

वास्तव मे काव्य तथा कला मे क्या अन्तर है? यह बात दण्डी के कला संबंधी विचार से स्पष्ट हो जाती है। दण्डी ने कला को **"नृत्यगीतप्रभृतय कला कामार्थ संश्रया:।"** कह कर काव्य का कलाओ से पार्थक्य स्वीकार किया है। उसके विचार में कला "कामार्थ संश्रय" (काम के उद्दीपन में सहायक) है। परन्तु साहित्य केवल "कामार्थ संश्रया" ही नही है। हमारे यहां काव्य या साहित्य का बहुत ऊँचा स्थान रहा है। हमारे यहा के ऋषियो ने उसे आत्मा की कला माना है। साराश यह है कि भारत मे कला लौकिक आनन्द की वस्तु समझी गई, जबकि साहित्य आत्माभिव्यक्ति होने के कारण अलौकिक आनन्द की वस्तु है। मम्मट ने इसलिए काव्य की आत्मा रस को "ब्रह्मानन्द सहोदर" कहा है। कला के सम्बन्ध मे यह बात नही है। कला का आनन्द स्थूल तथा बाह्य होता है। सम्भवत इसीलिए भारत मे कला का उद्देश्य किसी वस्तु के रूप को संवारने वाला माना गया। "शिवसूत्रविमर्शिणी" में क्षेमराज ने कला को वस्तु के स्वरूप को संवारने वाली विशेषता माना है। **"कलयति स्वरूपं आवेशयति वस्तूनिवा"** अर्थात् **"कला वस्तु के स्वरूप को सुशोभित या अलंकृत करती है।"** इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा मे कला को साहित्य से हेय माना गया। वस्तुत हमारे यहां काव्य कलाओ के अन्तर्गत नही है वरन् काव्य और कला के कलेवर भिन्न होते हुए उनकी आत्मा एक है। काव्य की आत्मा रस ही कलाओ को अनुप्राणित करती है। चौसठ कलाओ के अन्तर्गत काव्य को स्थान नही दिया गया है। काव्य का जितना मनोरंजक पक्ष है वह सब कलाओ मे आ जाता है। नाटको का अभिनय करना, नाटको का देखना-दिखाना, कहानियो का कहना-सुनना, अभिधान, कोष, छन्द का ज्ञान प्रहेलिका आदि सब साहित्यिक विधाएँ कलाओ मे परिगणित हैं।

भारतीय विद्वानो ने कला को केवल साहित्य से ही भिन्न नही माना है, इनके विचार मे वह ज्ञान, शिल्प, और विद्या से भी भिन्न वस्तु है। भरतमुनि के निम्न वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है—

"न तत्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।"

अभिनव गुप्त ने कला को कुछ संकुचित रूप प्रदान किया। उसने कला का

स्पष्टीकरण "कला गीत वाद्यादिका" कह कर किया है। अर्थात् कला गाने वजाने को कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि हमारे यहा "Fine Arts" के लिए भी कला शब्द का प्रयोग होता था। परन्तु कला का यह अर्थ सकुचित है।

भामह ने काव्य को कला से भिन्न माना है। उसके "वैचक्षण्यं कलासु च" से यह ध्वनित होता है। उसने काव्य के चार विभाग किये—१. देवचरित शसि, २. उत्पाद्य, ३. कलाश्रय, ४. शास्त्राश्रय।

इस विभाजन से दो बाते स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि कला काव्य से भिन्न है और दूसरी यह कि कला सम्बन्धी बाते भी काव्य का विषय हो सकती हैं।

संस्कृत शैवागमो मे कला को छत्तीस तत्त्वो मे से एक माना गया है। परन्तु यहा भी कला को संकुचित रूप दिया गया है। अत स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य मे कला की व्याख्या दो क्षेत्रो मे की गई है—एक काम क्षेत्र मे और दूसरे दर्शन क्षेत्र मे।

कला के सम्बन्ध मे हिन्दी विद्वानो के मत—**"अनुभूति की प्राची पर कला का उदय होता है।"** विश्व को सौन्दर्य तथा उपयोग की विशेषता प्रदान करने वाली सामग्री को ही कला कहते हैं।

जयशंकर प्रसाद—प्रसाद जी ने "काव्य कला' नामक निवन्ध मे कला की परिभाषा इस प्रकार दी है—**"नवनव स्वरूप प्रथोल्लेख संवित वस्तुओं मे या प्रमाता में स्व को आत्मा को परमित रूप में प्रकट करती है इसी रूप का नाम कला है।"**

रामचन्द्र शुक्ल—शुक्ल जी के मतानुसार **"एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुंचाना यही कला का रहस्य होता है।"**—(काव्य मे रहस्यवाद, पृ० १०४) शुक्ल जी ने अपनी परिभाषा मे अभिव्यंजना तथा उसकी प्रेषणीयता को कला माना है।

गुप्तजी का कला सम्बन्धी मत—गुप्तजी ने साकेत के पचम सर्ग मे कला की परिभाषा इस प्रकार दी है—**"अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला है।"** गुप्तजी ने अभिव्यंजना को ही कला माना है।

गांधीजी—गाधीजी ने कला को आत्मा का ईश्वरीय सगीत माना है। गाधीजी उसकी आध्यात्मिकता पर विशेष बल देते थे। कला के सम्बन्ध में गाधीजी का वही मत है जो भारतीय मनीषियो का काव्य के सम्बन्ध मे है।

गुलावराय—गुलावरायजी के शब्दो मे हम कला की परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं—**"कला कलाकार के आनन्द की श्रेय और प्रेय तथा आदर्श और यथार्थ को समन्वित करने वाली प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।"**

कला के सम्बन्ध मे कवीन्द्र रवीन्द्र का मत—कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपनी "*Personality*" नामक पुस्तक मे "What is art" शीर्षक लेख में कला पर पूर्ण प्रकाश डाला है। वे पाश्चात्य विद्वानो के कला सम्वन्धी दृष्टिकोणों से प्रभावित प्रतीत होते हैं। उन्होने ज्ञान के दो पक्ष उपस्थित किए हैं—एक

कला और दूसरा विज्ञान। इन दोनों का भेद उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"In art man reveals himself and not his object His objects have their place in books of information and science." अर्थात्—"कला में मनुष्य बाह्य वस्तुओं की नहीं, स्वानुभूति की अभिव्यक्ति करता है। उसके बाह्य विषयों का वर्णन सूचना-प्रधान ग्रन्थों में तथा विज्ञान के ग्रन्थों में किया जाता है।" रवीन्द्र ने कला में आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति को विशेष महत्व दिया है। उन्होंने इसी निबन्ध में एक स्थल पर कला में व्यक्तित्व की अभिव्यंजना को विशेष महत्व दिया है। वे लिखते हैं—"The principal object of art also being the expression of personality and not of that which is abstract and analytical." अर्थात्—"कला का प्रधान लक्ष्य व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करना है न कि सूक्ष्म और विश्लेषण प्रधान वस्तुओं की विवेचना करना।" उन्होंने कला में सत्य और सौन्दर्य दोनों की प्रतिष्ठा की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"This building of man's true world, the living world of truth and beauty, is the function of art" अर्थात् कला का कार्य मानव के लिए सत्य और सौन्दर्य की एक सजीव सृष्टि करना होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रवीन्द्रनाथ अपने विचारों में मौलिक होते हुए भी पाश्चात्य कला सम्बन्धी विचारों से अधिक प्रभावित हैं। वास्तव में उन्होंने पाश्चात्य तथा भारतीय दृष्टिकोणों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है।

पाश्चात्य विद्वानों के कला के सम्बन्ध में विचार—पाश्चात्य विद्वानों ने कला की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। अरस्तू ने कला को जीवन की अनुकृति माना है। प्रकृति की न्यूनता तथा अपूर्णता को अरस्तू ने भी स्वीकार किया है। कला उसी न्यूनता को पूर्ण करती है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने इस भाव को बहुत सुन्दरता के साथ व्यक्त किया है —

"हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा।
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा।
किन्तु होना चाहिए कब क्या ? कहाँ।
व्यक्त करती है कला ही यह वहाँ।"

इसलिए एक विद्वान् ने—"कला के वास्तविक के उसके मानसिक यज्ञ में प्रस्थापन" कहा है। इस प्रकार कला वास्तविकता का आदर्शीकरण बन जाती है।

हेगिल—हेगिल का कथन है कि—"सौन्दर्य विचार या आदर्श की प्रकृति में

झलक है। प्राकृतिक सौन्दर्य ईश्वरीय सौन्दर्य का आभास है, कला उसी आभास की पुनरावृत्ति है।"

इन दृष्टिकोणों के अतिरिक्त और भी दृष्टिकोणों से कला की परिभाषायें की गई हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर आदि विद्वानो ने—"**कला को अतिरिक्त शक्ति के अथवा फालतू उमंग के प्रसार और खेल की प्रवृत्ति का फल बतलाया है।**" यह परिभाषा प्राणी शास्त्र सम्बन्धी है और कला की मूल प्रवृत्ति की व्याख्या करती है। कुछ परिभाषाये कला किसकी अभिव्यक्ति है ? इस प्रश्न का उत्तर देती है। "**कला रेखाओं, रंगों, गतियों, ध्वनियों, और शब्दों में मनुष्य के मनोगत भावों की वाह्याभिव्यक्ति हैं।**" कुछ परिभाषाए कला से हम क्या प्राप्त करते है ? इस प्रश्न का उत्तर देती है। कुछ विद्वान् तो कला को शुद्ध अर्थात् उपयोगिता से असम्बद्ध प्रसन्नता या आनन्द का जनक मानते है। फ्राइड के सिद्धान्त के मूल मे काम वासना है अतः उनके अनुयायी "**कला को दमित वासनाओ का उन्नयन या पर्युत्थान मानते हैं।**"

रस्किन—रस्किन ने लिखा है—"All great art is the expression of man's great delight in God's work and not his own." अर्थात् "**प्रत्येक महान् कला ईश्वरीय कृति के प्रति मानव के आह्लाद की अभिव्यक्ति है।**" उसे हम अपनी कृति जनित आह्लाद की अभिव्यक्ति नही मान सकते। रस्किन की इस परिभाषा से तीन बाते स्पष्ट होती हैं। प्रथम यह कि उसने कला को अभिव्यजना माना है। यह अभिव्यंजना मानव के अनुभूत आनन्द से होनी है। तीसरी बात यह है कि उसने ईश्वरीय कृति को जितना महत्व दिया है उतना मानव कृति को नही। इस प्रकार स्पष्ट है कि रस्किन के विचार से "**कला प्रकृति के सम्पर्क से उद्भूत मानव हृदय मे उत्पन्न होने वाले आनन्द की अभिव्यक्ति है।**"

गोथे—गोथे के विचार से कला सत्य की सजीव और साकार प्रतिकृति होती है। प्रकृति और पुरुष दोनो ही इस सत्य मे समाहित हैं। इस विचार मे कला को हम "**पुरुष और प्रकृति की मानव विरचित प्रति कह सकते हैं।**" अत. कला सत्य की छाया है सत्य नही। गोथे ने इस प्रकार लिखा है—"The highest problem of any art is to cause by appearance the illusion of a higher reality" अर्थात् "**किसी भी कला की सबमे बड़ी समस्या यह रहती है कि वह किस प्रकार महान् सत्य की प्रतिकृति प्रस्तुत करे।**"

शोपेनहार—शोपेनहार ने कला को बहुत कुछ बुद्धिमूलक सृष्टि माना है। उनके विचार से कला मे हृदय तत्त्व की मात्रा कम होती है।

डान्ते—डान्ते ने कला को प्रकृति की प्रतिकृति माना है। उसका विचार है कि "कला प्रकृति का उसी प्रकार अनुकरण करती है जिस प्रकार शिष्य अपने गुरू का। जब तक उसमें प्रकृति के इस अनुकरण की वृत्ति पाई जाती है तब तक वह ऐसी प्रतीत होती है मानो ईश्वरागत वस्तु है।"

श्लेगल—श्लेगल ने अपनी परिभाषा मे कला की पवित्रता पर विशेष बल दिया है। उसका कहना है—"All higher arts of divine are essentially chaste." अर्थात् "सभी महान् और दिव्य कलायें अवश्य ही पवित्र होती है।

जेम्स—जेम्स ने कला पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला है। उनके विचार से—"कला केवल कृति की बिम्ब-प्रतिबिम्ब प्रतिकृति ही नहीं बल्कि उससे कुछ ऊंची वस्तु है। सच्चा कलाकार अपनी कलाकृति प्रकृति के रूप को ज्यो का त्यो व्यक्त करते हुए भी प्रकृति के अन्तर्गत में प्रवेश कर उसके प्रच्छन्न सौन्दर्य की अनुभूति कर उसकी प्रतिष्ठा भी करता है।"

माइकेल एञ्जिलो—इन्होने कला के सम्बन्ध मे लिखा है—"The true work of art is but a shadow of divine perfection." अर्थात् सच्ची कलाकृति दिव्यपूर्णता की प्रतिकृति होती है।"

टॉलसटॉय—टॉलसटॉय ने *"What is Art"* नामक पुस्तक मे कला के सम्बन्ध मे लिखा है—"कला जैसा कि अध्यात्मवादी कहते है, ईश्वर या सौन्दर्य के किसी रहस्यपूर्ण भाव की अभिव्यक्ति नहीं है, वह तत्त्व-वेत्ताओ के कथनानुरूप अपने एकत्रीभूत ओज के बाहुल्य का उपभोग कराने वाली क्रीडा भी नही है तथा उसे हम आनन्द भी नही कह सकते। वास्तव में उस का कार्य मनुष्यो को एक ही भाव में परस्पर बाँधना है तथा व्यक्ति और मानव की हित कामना करना है।"

चार्ल्स विलियम—चार्ल्स के विचार से—"भाव के हृदययोग में कला की स्थिति है।"

क्लाइववेल—क्लाइववेल नामक विद्वान् ने कला का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"कलाकार या कलाविदो का काम दर्शकों के मन में विशिष्ट भावन को जगा देना है।

प्लेटो—प्लेटो ने कला को जीवन की प्रतिकृति माना है।

प्लोटिनस—प्लोटिनस के विचार से कला जड़ प्रकृति से महान् वस्तु है। उनके विचार से " प्रकृति दिव्य विचारो की जड़ अभिव्यंजना है। कला प्रकृति की अनुकृति है सही किन्तु उस अनुकृति मे एक विशेषता होती है।"

स्लाइली क्रिसपस लीबजिज, बामागार्टन आदि विद्वानो ने कला को अनुकरण प्रधान माना है।

इटालियन विद्वान् पेगानो—पेगानो ने कला को प्रकृति के बिखरे हुए सौन्दर्य का चयन मात्र माना हे ।

चान्से—चान्से के विचार से कला प्रकृति की अनुकृति मात्र नही हे । कला मे जो विशेषता है वह प्रकृति मे भी नही है ।

टकवेल—टकवेल ने अपने "*Religion and Reality*" मे कला का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—"जिस प्रकार ब्रह्म की आत्मा का व्यक्तीकरण यही विश्व हैं उसी प्रकार कलाविद की आत्मा का व्यक्तीकरण तथा उसकी मूर्त्ति ही उसका कार्य है ।"

पारकर—पारकर ने अपने "*The Analysis of the Art*" नामक पुस्तक मे "कला को इच्छा का काल्पनिक व्यक्तीकरण माना है ।"

क्रोचे—क्रोचे के विचार से मूर्त तथा अमूर्त अभिव्यजना ही कला है ।

काण्ट—कला सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है ।

समस्त मतों की विवेचना तथा निष्कर्ष १—सस्कृत आचार्यो के कला सम्बन्धीविचार पाश्चात्य विद्वानो तथा हिन्दी के पडितों से भिन्न है । प्रसाद जी ने "काव्य और कला" मे यह बात स्वीकार की है:—

"हमारे यहाँ इसका वर्गीकरण भिन्न रूप से हुआ है । "काव्य मीमासा" से पता चलता है कि भारत के दो प्रचलित महानगरों में दो तरह की परीक्षायें अलग-अलग थी । काव्यकार परीक्षा उज्जयिनी में और शास्त्रकार परीक्षा पाटलिपुत्र मे होती थी । काव्य की गणना विद्या में थी और कलाओं की अविद्या में । कलाओ का कामसूत्र में जो विवरण मिलता है उसमें संगीत और चित्र तथा अनेक प्रकार की ललित कलाओ के साथ-साथ समस्या पूरण भी एक कला है, किन्तु वह समस्या पूर्ति कौतुक और वाद-विवाद के कौशल के लिए होती थी । साहित्य में वह एक साधारण श्रेणी का कौशल्न मात्र समझी जाती थी । कला का जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में लिया जाता है वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नही ।"

२—पाश्चात्य तथा हिन्दी के बहुत से विद्वानो ने कला को अभिव्यक्ति माना है । परन्तु अभिव्यवित के उपादान तथा स्वरूप मे अन्तर है । कुछ विद्वान् कला को आत्म भाव की अभिव्यक्ति मानते हैं और कुछ प्रकाश ज्ञान की अभिव्यवित को कला मानते हैं ।

३—कुछ विद्वानो ने कला को केवल अनुकरण मात्र माना है । कुछ कला को प्रकृति की अनुकृति मानते हैं और कुछ विद्वान् उसको कल्पनामूलक अनुकरण सिद्ध करते हैं ।

किन्तु कला अनुकृति हे । यह अनुकृति न तो प्रतिकृति ही हो सकती है और न प्रतिबिम्ब ही । वह प्रतिकृति होते हुए भी नित्य नूतन है । यह अभिनवता कवि

अपनी प्रतिभा के द्वारा लाता है। यह ही कलाकार की मौलिकता है। "कोई भी प्रतिकृति तभी कला कही जा सकेगी जब उसमें एक अनिर्वचनीय मौलिकता होगी। इस अनिर्वचनीय मौलिकता से ही कला-रूप नवीन प्रतीत होता है। यह नवीनता ही पाठको या दर्शको में आनन्द या आह्लाद का सचार करती है। इसी दृष्टि से हम कला को अनुकृति मान सकते है।"

कला सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है

ऊपर हम लिख आये है कि "विश्व को सौन्दर्य तथा उपयोग की विशेषता प्रदान करने वाली सामग्री को कला कहते है।" प्राकृतिक तथा मानव दोनो ही सृष्टि मे हम कुछ न कुछ उपयोग या सौन्दर्य की प्राप्ति करते हैं। मानव अपने बाल्यकाल से ही अतृप्त अधरो, आतुर हृदय, जिज्ञासा वृत्ति तथा सचेष्ट प्रयत्नो से आनन्द तथा सौन्दर्य के अन्वेषण मे लगा रहा है। क्योकि इस कला रूपी अप्सरा के नृत्य से ही उसका मन-मयूर आनन्द से विभोर हो उठता है। कला की सृष्टि और उसका विकास करना उसके जीवन का चरम आदर्श है। उसके जीवन का जो लक्ष्य है, ध्येय है, जीवन मे जो कुछ जीवन है वही कला है। कला से विरहित-जीवन साक्षात् मरुभूमि के समान है। अत मनुष्यो ने ही कला और सौन्दर्य शब्दो का सृजन किया है और इन शब्दो के प्रयोग का क्षेत्र उतना ही व्यापक तथा प्रचुर है जितनी कि मानवता।

सौदर्य का मान—मानव सौन्दर्योपासक प्राणी है। वह अपने नित्य उपयोग की वस्तुओ मे सौदर्य देखना चाहता है। मानव सौन्दर्य के लिए उतना ही लालायित है जितना कि आनन्द के लिए। हो भी क्यो न ? सौदर्य ही सत्य है और सत्य ही सौदर्य है। आनन्द और सौदर्य मानव जीवन के वरदान, अभाव के पूरक है। कला जीवन की पूर्णता है। कला बाह्य तथा आन्तरिक सौदर्य की सजीव अभिव्यक्ति है। कला मानसिक जीवन का काव्यमय स्वरूप है। सौदर्य के दो पक्ष है—बाह्य और आन्तरिक अथवा लौकिक और आध्यात्मिक।

सुन्दर वस्तु असुन्दर हो नही सकती। उसका सौदर्य प्रकृति के समान नित्य-नवीन होता रहता है। अत सुन्दर सत्य भी हुआ। सत्य ही मगलमय तथा कल्याण-कारी है। इसलिए "सत्यं, शिवं, सुन्दरम्" कहा गया है। सत्य कर्त्तव्य पथ मे आकर शिव बन जाता है और भावना से समन्वित हो सुन्दर के रूप मे दर्शन देता है। सुन्दर सत्य का ही परिमार्जित तथा सुव्यवस्थित रूप है। सौदर्य के द्वारा ही सत्य ग्राह्य होता है। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने इन तीनो मे एक ही रूप के दर्शन किए हैं —

"वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय मे बनता प्रणय अपार।

लोचनो मे लावण्य अनूप
लोक सेवा मे शिव अविकार ।।"

सौदर्य की न कोई निश्चित सीमा है और न रूप। कुछ मनुष्य सौदर्य को विपयीगत मानते हैं।

"समै-समै सुन्दर सवै, रूप कुरूप न कोय ?
मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होय ।।"

कुछ मनुष्य सौन्दर्य को उभयगत मानते हैं।

"रूप रिझावन हार वह, ये नयना रिझवार।"

अब हम यहा पर सौन्दर्य के सम्बन्ध मे विद्वानो की सम्मतियां पर विचार करेंगे।

कालिदास—कालिदास ने सौन्दर्य मे पवित्रता को विशेप महत्व दिया है। उन्होंने "कुमार सम्भव" मे लिखा है कि सौन्दर्य पापवृत्ति की ओर नही जाता यह सत्य है। अतः सौन्दर्य मे सात्विकता उत्पन्न करने का अपूर्व बल है। सुन्दर वस्तु मे रमणीयता का गुण स्वत आ जाता है। उसको सौन्दर्य युक्त करने के लिए वाह्य अलकारो की आवश्यकता नही। **"सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्"** मे माधुर्य का समावेश कर देने पर सौन्दर्य की परिभापा विपयगत और विपयीगत दोनो हो जाती है।

पडितराज जगन्नाथ—पडितराज जगन्नाथ जी ने सौन्दर्य या रमणीयता की परिभापा इस प्रकार दी है—**"रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता"** अर्थात् अलौकिक आनन्द का ज्ञान गोचर होना ही रमणीयता है।

भारवि—भारवि ने क्षण-क्षण मे नवीनता धारण करने वाले रूप को सौन्दर्य माना है—**"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया।"**

रवीन्द्रनाथ—कवीन्द्र रवीन्द्र ने सौन्दर्य मे शिव-तत्त्व की प्रतिप्ठा की है। उन्होने लिखा है—**"सौन्दर्य की मूर्ति ही मंगल की पूर्ण मूर्ति है, और मंगल की मूर्ति ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप है।"**

अजित चक्रवर्ती—उनके विचार से जब कोई वस्तु सीमित रहती है और अच्छी लगती है तव वह सुन्दर कहलाती है किन्तु वही जब पूर्णता को प्राप्त कर विश्वव्यापी और असीम हो जाती है तब महान् कहलाती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—आचार्य शुक्ल ने सौन्दर्य की परिभापा इस प्रकार दी है—**"कुछ रूप रंग की वस्तुयें ऐसी होती है जो हमारे मन मे आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती है कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते है। हमारी अन्तः सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है........जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान वा भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायेगी।"**

विद्यापति—विद्यापति ने रूप को अनिर्वचनीय तथा प्रतिपल विकसित होने वाला माना है। **"जनम जनम हम रूप निहारल तदपि न तिरपित भेलरे।"** से यही बात ध्वनित होती है।

जायसी—जायसी ने सौन्दर्य मे आध्यात्मिकता को विशेष महत्व दिया है। इस रूप के द्वारा अज्ञान का अन्धकार नष्ट हो कर ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। जायसी ने निम्नलिखित पक्तियो में इस भाव को प्रकट किया है—

"देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन हुई छावा।
गा अंधियार रैंनमसि छूटी। भा भिनसार किरन रवि फूटी॥
अस्ति अस्ति सब साथी बोले। अन्ध जो अहै नैन विधि खोले॥"

विहारी—विहारी की नायिका क्षण-क्षण मे जिस नवीनता को धारण कर रही थी उसको चित्रित करने में चित्रकार असमर्थ थे। निम्नलिखित दोहे मे बिहारी ने सौन्दर्य की नित्य-नवीनता पर वल दिया है—

"लिखन वैठि जाकी सवी गहि-गहि गरव गरूर
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥"

प्रसाद जी ने "कामायनी" मे सौन्दर्य की स्थिति समरसता मे मानी है।

"समरस थे जड या चेतन,
सुन्दर साकार वना था।
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखंड घना था।"

पाश्चात्य विद्वानो ने भी सौन्दर्य के सम्वन्ध मे अपने विचार व्यक्त किये हैं। जर्मन कवि गेटे ने सौन्दर्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—**"सौन्दर्य को समझना कठिन है वह तरल भंगुर भासात्मक छाया सा कुछ है।"** इसके अतिरिक्त सौन्दर्य का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए उन्होने एक स्थल पर लिखा है—"A creation is beautiful when it has reached at the height of its natural development", अर्थात् **"वही रचना सुन्दर हो जाती है जो अपने स्वाभाविक विकास की पराकाष्ठा पर होती है।"**

अरस्तू ने सौन्दर्य मे सत्य और शिव की प्रतिष्ठा की है। उसने शिक्षा और उपदेश को सौन्दर्य का प्रयोजन माना है। वह लिखता है—"I saw her shining there in the company of with the celestial" अर्थात् मैंने सुन्दरता को दिव्यता के साथ प्रकाशित होते देखा है। प्लेटो ने शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का सुख माना है। शुद्ध सुख रूपात्मक सौन्दर्य से प्राप्त होता है तथा उसका प्रयोजन आध्यात्मिक होता है, भौतिक नही। प्लेटो की दृष्टि मे ऐसा सौन्दर्य ही सत्य और मगल का विधायक है।

हीगेल ने भी सौन्दर्य की परिभाषा मे आध्यात्मिकता पर बल दिया है। वह लिखता है—"Beauty is the spiritual making itself known sensuasly," अर्थात् "सौन्दर्य आध्यात्मिकता का भावात्मक प्रकाशन है।"

शेफ्ट सवरी ने सौन्दर्य मे आध्यात्मिकता को इतना अधिक स्थान दिया है कि उसने ईश्वर तथा सौन्दर्य का अभेद सम्बन्ध माना है। वह लिखते हैं:—

"Beauty and God are one and the same."

क्रीट ने सौन्दर्य को भाव की अभिव्यजना माना है। उसने स्पष्ट लिखा है "All beauty is the expression of what may be generally called emotion"

कीट्स ने सत्य और सौन्दर्य का तादात्म्य करते हुए कहा है—"Beauty is truth, truth is beauty that is all" अर्थात् सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है यही मनुष्य जानता है और यही जानने की आवश्यकता है।

वोसांके ने अपने "*History of Aesthetic*" मे सौन्दर्य के सम्बन्ध मे लिखा है कि—"जब वस्तु धर्म कल्पना से समन्वित होकर प्रकाशित होता है, तभी वह सुन्दर होता है।" कैंट ने सौन्दर्य की स्थिति एकचित्तावस्था मे मानी है। "कोई भी बाह्य रूप जब हमारी एक विशिष्ट अन्तश्चेतना के वशवर्ती हो कर उसी विशिष्ट आकार में ढलकर प्रकट होती है उसी को कैंट ने सौन्दर्य कहा है।"

शैली का कथन सौन्दर्य के सम्बन्ध मे इस प्रकार है.—

"A going out of our own nature and an identification of ourselves with the beautiful which exists in thought, action or person not our own." अर्थात्—"अपनी प्रकृति से बाहर जाना और अपने से बाहर रहने वाले विचार, कार्य या व्यक्ति में रहने वाले सौन्दर्य से अपना तादात्म्य करना है।"

हचेन्सन ने लिखा है—"कला का उद्देश्य सौन्दर्य है जिसकी अनुभूति आन्तरिक भावना द्वारा होती है।"

वाशिंगटन इरबिन नामक विद्वान् ने सौन्दर्य के आन्तरिक रूप को महत्व देते हुए लिखा है—"आन्तरिक सौन्दर्य ही बाह्य सौन्दर्य का विधायक होता है। मैं गुण सम्पन्न महिला से कहीं अधिक प्रभावित होता हूं उस रूपवती महिला की अपेक्षा जिसमें गुण नहीं होते।"

सौन्दर्य के वाह्य पक्ष को महत्व देने वाले विद्वानो मे साक्रेटीज का नाम उल्लेखनीय है। साक्रेटीज ने सौन्दर्य को "Short lived tyranny" कहा है। सौन्दर्य का वाह्य रूप क्षणिक तथा नश्वर होता है और उसका आन्तरिक पक्ष नित्य नया रूप धारण कर प्रस्फुटित होता है।

इसके अतिरिक्त अन्य विद्वानो ने भी सौन्दर्य की परिभाषाए तथा व्याख्याएं की हैं। कुछ विद्वान् सौन्दर्य की स्थिति पूर्णता मे मानते हैं। पूर्णता मे **"क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति"** की भावना परिलक्षित होती है। कुछ मनुष्य सामजस्य, सतुलन, और एकरसता को प्रमुखता देते हैं। कुछ आचार्यो ने सौन्दर्य मे उपयोगिता को विशेष महत्व दिया है। उनके विचार से उपयोगिता पर ही सौन्दर्य आधारित है। हर्बर्ट स्पेन्सर इसी मत को मानने वाले थे। कालिदास ने भी दिलीप के सौन्दर्य का जो विशद वर्णन किया है वह क्षात्र धर्म के अनुकूल तथा उपयोगी है। इसीलिए श्लोक की दूसरी पक्ति मे वे लिखते हैं :—

"आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रित"—अर्थात् अपने रक्षा कार्य के योग्य शरीर को समझ कर क्षात्र धर्म ने वहा आश्रय लिया है। यहा पर पुरुष सौन्दर्य के वर्णन मे उपयोगिता का भाव लग जाता है। वस्तुत सौन्दर्य मे उपयोगिता का भी महत्व है।

इस प्रकार अनेक पक्ष-विपक्ष विवेचन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सौन्दर्य का गुण बहुत सीमा तक वस्तुगत है और उसका निर्णय तद्गत गुणो रेखाओ आदि के सामजस्य पर निर्भर है। कोई भी वस्तु सौन्दर्य का रूप तभी धारण करेगी जब उसमे इन गुणो, रूपो आदि का सामजस्यपूर्ण बाहुल्य होगा। उसकी विषयगतता ही लोक रुचि की सृष्टि करता है। वैयक्तिक रुचि यदि अनुकूल न भी हो तो भी उसकी सराहना नही की जा सकती।

"सीतलता रु सुगन्ध की महिमा घटी न मूर।
पीनस वारे जो तज्यो, सोरा जानि कपूर ॥"

सौन्दर्य का प्रभाव विषयी पर पडता है इसलिए उसकी अवहेलना नही की जा सकती। सौन्दर्य का केवल बाह्य पक्ष ही नही है उसका आन्तरिक रूप भी है। जब आकृति गुणो की परिचायक होती है तभी वह पूर्णता को प्राप्त होता है। शिव सौन्दर्य का आन्तरिक रूप ही है। वास्तव मे सत्य, शिव और सुन्दर भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे एक दूसरे से पूर्ण समन्वित हैं। सौन्दर्य वस्तुगत रूपो वा गुणो का ऐसा सामजस्य है जिसके द्वारा हमारे भावो मे साम्य उत्पन्न होता है तथा उसके द्वारा हमें उस आनन्द की प्राप्ति होती है जिसके द्वारा हम तन्मयता की स्थिति पर पहुंच जाते हैं। "सौन्दर्य रस का वस्तुगत पक्ष है। रूपानुभूति के लिए जिस सतोगुण की **अपेक्षा रहती है, वह सामंजस्य का ही आन्तरिक रूप है। सतोगुण एक प्रकार से रजोगुण और तमोगुण का सामंजस्य ही है। उसमें न तमोगुण की सी निष्क्रियता रहती है और न रजोगुण की सी उत्तेजित सक्रियता। समन्वित सक्रियता ही सतोगुण है। इसी प्रकार के सौन्दर्य की सृष्टि करना कवि और कलाकार का काम है। संसार में इस सौन्दर्य की कमी नहीं। कलाकार इस सौन्दर्य पर अपनी प्रतिभा का आलोक**

डाल कर जनता के लिए सुलभ और ग्राह्य बना देता है।" (गुलाबराय-सिद्धान्त और अध्ययन पृ०—१०३)

प्रियता का सम्बन्ध हृदय से है। कभी-कभी अपने ही विचार या भाव से हम चमत्कृत हो जाते हैं। वह प्रिय सुन्दर होता है। उसी सौन्दर्य को याथातथ्य रूप मे दूसरो तक पहुँचाने का कार्य कौशल या कला का है। इस प्रकार अस्वाभाविकता मे कृत्रिम स्वाभाविकता का सामजस्य उत्पन्न करना कला को रूप देना है। अत स्पष्ट है कि स्वाभाविक व्यापिनी प्रियता सौन्दर्य का आकार है। जैसे बाजीगर सब कुछ झूठ दिखाते हैं परन्तु जो कुछ वे दिखाते हैं वह हमारी किसी वृत्ति का गहरा अनुरजन करके तत्क्षण के लिए सुन्दर बना देते हैं। कला और सौन्दर्य का यह अभिन्न सम्बन्ध है। सौन्दर्य कला का प्रेरक हैं। सौन्दर्य का सच्चा स्वरूप तभी होता है जब उसमें आन्तरिक तथा बाह्य सौन्दर्य का सामजस्य हो। यह तो सत्य है कि सौन्दर्य का स्वरूप चाहे जैसा हो उससे आनन्द की प्राप्ति होती हैं। कला का लक्ष्य इसी आनन्द की अभिव्यक्ति करना है। अत अनुभूत सौन्दर्य के सजीव पुनर्विधान को ही कला की सज्ञा दी जायेगी। इस पुनर्विधान की प्रक्रिया को ही अभिव्यजना कहेगे।

यद्यपि मानव मात्र मे सौन्दर्यलिप्सा तथा सौन्दर्यानुभूति की प्रवृत्तिया पाई जाती हैं, किन्तु कलाकार की सौन्दर्यानुभूति साधारण व्यक्ति की अपेक्षा अधिक परिष्कृत तथा महान् होती हैं। प्राच्य तथा पाश्चात्य सभी विद्वानो ने इस बात को स्वीकार किया हैं। प्लेटो का भी विचार था कि कलागत आनन्द के अधिकारी सस्कृत और शिक्षा सम्पन्न व्यक्ति ही हो सकते है। दण्डी और आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है कि कलाकार को सहृदय होना चाहिए। कलाकार और कला प्रशसक दोनो ही साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक महान् होते हैं। अत कला मानव की उदात्त सौन्दर्यानुभूति का उदात्त पुनर्विधान हैं। यही कारण है कि कला के स्वरूप का जितना सम्यक् विकास शिक्षित तथा सुसभ्य जातियो में पाया जाता है उतना असभ्य और पशुवृत्ति जातियो मे नही।

कलाकार कला के द्वारा ही साधारण सौन्दर्य को भी असाधारण रूप प्रदान करता है। जब कला मे कलाकार की आत्मा का समावेश होता है तभी उसमे अनिर्वचनीयता, शाश्वतता, पवित्रता, सजीवता आदि का समावेश हो जाता हैं। क्योकि आत्मा इन गुणो से पूर्ण है। और कला के द्वारा इन्ही गुणो की अभिव्यक्ति होती है। अत कला अनुभूत सौन्दर्य की एक विशेष अभिव्यक्ति है।

मानव सौन्दर्य से पृथक् होकर नही रह सकता। अत. कला से भी वह पृथक् नही हो सकता। यह इसी प्रकार है जिस प्रकार प्राणी का ब्रह्म और माया दोनो से छुटकारा नही। परन्तु अधिकतर मनुष्य ब्रह्म को भी, जो उसका सच्चिदानन्द ब्रह्म

रूप है—उसे विस्मृत कर देता है। इसी प्रकार कला का भी प्रपच है। इस प्रपच मे कला को अतिरजित महत्व प्रदान कर मनुष्य अपने सौन्दर्य—आनन्द ब्रह्म रूप—को भूल जाता है। और तब प्रगति बन्द हो जाती है। जैसे सुरा और सुन्दरी के क्षेत्र मे विचरण करने वाली रीति कालीन कविता ने रस-राज के राज से अराजकता फैला दी। और मनुष्य अपनी सच्ची आनन्द सत्ता का तिरस्कार करने लगे।

Change is the law of life अर्थात् परिवर्तन जीवन का नियम है के अनुसार परिस्थितिया बदलती रहती हैं। और इस परिवर्तन के साथ-साथ कला सौन्दर्य शास्त्र का रूप भी बदलता रहता है।

अत स्पप्ट है कि आनन्द स्फुरण रूपिणी सौन्दर्य वृत्ति अध्यात्म है और कला उसकी अभ्यास पद्धति।

कलाओं का वर्गीकरण

भारतवर्ष मे चौसठ कलाओ को मान्यता दी गई है। कामसूत्रो मे चौसठ कलाओ का उल्लेख है। कामसूत्र तथा साहित्य ग्रन्थो मे कलाओ की सूची इस प्रकार दी गई है.—

गीतं, वाद्य, नृत्यम्, आलेख्यम्, विशेपकच्छेद्य, तण्डुलकुसुमवलिविकारा·, पुप्पास्तरणं, दशनवसनाङ्गराग ,मणिभूमिकाकर्म,शयनरचनम्,उदकवाद्यम्,उदकाघातः,चित्राच्चयोगा , माल्यग्रन्थनविकल्पा , शेखरकापीडयोजनम्, नेपथ्यप्रयोगा , कर्णपत्रभङ्गा, , गन्धयुक्ति , भूषणयोजनम्, ऐन्द्रजाला, कौचुमाराश्चयोगा. हस्तलाघवम्, विचित्रशाकयूपभक्ष्य-विकारक्रियाः, पानकरसरागासवयोजनम्, सूचीवानकर्माणि, सूत्रक्रीडा, वीणाडमरू-वाद्यकानि, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचकयोगा , पुस्तकवाचनम्, नाटकाख्यायिका-दर्शनम्, काव्यसमस्यापूरणम्, पट्टिकावेत्रवानविकल्पा , तक्षकर्माणि तक्षणम्, वास्तुविद्या, रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवाद , मणिरागाकरज्ञानम्, वृक्षायुर्वेदयोगा:, मेपकुक्कुटप्लावक युद्धविधि, शुकसारिकाप्रलापनम्, उत्सादने सवाहने केगमर्दनेच कौशलम्, अक्षरमुप्टि काकधनम्, मलेच्छितविकल्पाद् देगभाषाविज्ञानम्, पुष्पशकटिका, निमित्तज्ञानम्, यन्त्रमातृका, धारणमातृका, साम्पाष्यम्, मानसी काव्यक्रिया, अभिधानकोष., छन्दोज्ञानम्, क्रियाकल्प , छलितकयोगा , वस्त्रगोपनानि, द्यूतविशेपा:, आकर्षक्रीडा, वालक्रीडनकानि, वैनयिकानां वैजयिकीना व्यायामिकीना च विद्याना ज्ञानम्, इति . चतुष्वष्ठिरङ्गविद्या कामसूत्रस्यावयविन ।

"शुकनीति" मे वर्णित चौसठ कलाए कामसूत्र मे वर्णित कलाओ से भिन्न हैं। "प्रवन्ध कोष" नामक ग्रन्थ में वहत्तर कलाओ का उल्लेख मिलता है। प्रसिद्ध वौद्ध ग्रन्थ "ललित विस्तार" मे कलाओ की सख्या छयासी मानी गई है। क्षेमेन्द्र ने सैकड़ो कलाओ के नाम दिये हैं। जिनमें चौसठ जनोपयोगी, चौसठ सुनार की, चौसठ वेश्या की आदि प्रमुख हैं। चौसठ कलाओ वाला मत ही सर्वमान्य है।

भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो के कला सम्बन्धी दृष्टिकोण मे अन्तर है। इसीलिए पाश्चात्य कला सम्बन्धी वर्गीकरण भारतीय वर्गीकरण से भिन्न है। पाश्चात्य विद्वानो ने भिन्न-भिन्न रूपो मे कला को वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है।

कुछ विद्वानों ने कला को निम्नलिखित दो भागो मे वर्गीकृत किया है:—

१. Natural Art—प्राकृतिक कला।

२. Art acquired by Practice or Knowledge—ज्ञान एवं अभ्यासगत कला।

कुछ विद्वानो ने कला को निम्नलिखित दो भागो मे बाटा है—

१. Popular Art—सामान्य कलाएँ।

२ Cultural Art—सांस्कृतिक कलाएँ।

हेगेल ने कलाओ के तीन भाग किये हैं:—

१. प्रतीकात्मक।

२. प्रवन्धात्मक।

३. भावात्मक।

व्यावहारिक दृष्टि से कलाओ का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है:—

१. उपयोगी कला।

२. ललित कला।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या यह वर्गीकरण तात्विक है। कलाओ के वर्गीकरण के सम्वन्ध मे विद्वानो मे बडा मतभेद है। क्रोचे ने तो स्पष्ट स्वीकार किया है कि न तो कला की दृष्टि से, न तात्विक दृष्टि से और न दार्शनिक दृष्टि से कलाओ का श्रेणी विभाग किया जा सकता है। उनके विचार से कला एक अखड अभिव्यक्ति है अत उसका वर्गीकरण सम्भव नही। यद्यपि क्रोचे के समान अन्य विद्वानो ने भी यह माना है कि कला एक अखड अभिव्यक्ति है और तात्विक दृष्टि से उनका विभाजन सम्भव नही, फिर भी कला का श्रेणी विभाजन करने का प्रयत्न किया है।

इन विभाजनो का आधार वे बाह्य उपकरण हैं जिनके द्वारा कलाकार अपने भावो तथा विचारो को पाठक या द्रष्टा तक पहुँचाता है। ये विभाजन व्यावहारिक दृष्टि से सुविधा के लिए किये गये हैं। और इनमें "उपयोगी" तथा "ललित कला" वाला वर्गीकरण सर्व प्रथम है।

प्राकृतिक सृष्टि मे ऐसी कोई भी वस्तु नही है जिसमे उपादेयता तथा सौन्दर्य का गुण वर्तमान न हो। इस दृष्टि से ही कला के दो विभाग किये गये हैं—(१) उपयोगी कला (२) ललित कला। उपयोगी कला—उपयोगी कला मे बढई, सुनार, लुहार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। उपयोगी कलाओ के द्वारा

अधिकतर मनुष्यो की आवश्यकताओ की पूर्ति होती है। इस रूपात्मक जगत् मे मनुष्य नाना प्रकार की वस्तुओ का अवलोकन करता है। उनमे से कुछ वस्तुओ को वह अपने उपभोग के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करता है। यही प्रयत्न उपयोगी कलाओ को जन्म देते हैं। मनुष्य जब अपने अनुभूत सौन्दर्य का पुनर्विधान अपने हित तथा उपयोग की दृष्टि से करता है तभी उपयोगी कला का विकास होता है। परन्तु मनुष्य के हित तथा उपयोग की न तो कोई निश्चित सीमा है और न स्वरूप। अत उपयोगी कलाओ की कोई निश्चित रूपरेखा नही कही जा सकती। "**जितने प्रकार से मानव अपने स्वार्थ के अनुरूप रूपविधान कर सकता है उतने ही प्रकार की उपयोगी कलाएं हो सकती है।**" वस्तुत जिन कलाओ मे उपयोगिता का प्राधान्य हो वे उपयोगी कही जायेगी।

ललित कला—जिन कलाओ मे सौन्दर्य का प्राधान्य हो वह ललित कलायें कही जायेगी। "**अनुभूत सौन्दर्य के जिस पुनर्विधान से हमारी आत्मा का विकास हो, हमारे मन का रंजन हो, हमारी चेतना सजीव हो, वही ललित कला के नाम से अभिहित किया जा सकता है।**" सस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ "रघुवश" में एक स्थल पर "ललित् कलाविधौ" वाक्याश मे ललित कला शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु कुछ विद्वान् इस वाक्याश मे ललित कला का सकेत नही पाते। क्योकि समास की दृष्टि से यह ठीक नही कहा जा सकता। वास्तव मे ललित कला पाश्चात्यो के "फाइन आर्ट" शब्द का हिन्दी अनुवाद है। ललित कलाओ को पांच भागो मे विभाजित किया गया है—

(१) वास्तुकला, (२) मूर्तिकला, (३) चित्रकला (४) सगीतकला, और (५) काव्य कला। यह वर्गीकरण उपकरणो के दृष्टिकोण से किया गया है, अनुभूति की दृष्टि से नही। इसी दृष्टि से इन्हे भी दो भागो मे बाटा गया है—

१—वे जो दृश्य हैं; जैसे—मूर्तिकला, वस्तुकला, चित्रकला।

२—वे जो श्रव्य हैं; जैसे—सगीतकला, तथा काव्य कला। (काव्य कला के भी दो विभाग किए गये हैं—श्रव्य काव्य तथा दृश्य काव्य)

वर्सफील नामक पाश्चात्य विद्वान ने अपने "जजमेंट इन लिटरेचर" नामक ग्रन्थ मे इन पाच कलाओ के अतिरिक्त नाट्यकला, नृत्यकला, और व्याख्यान कला नाम की तीन कलाये और मानी है। हेगेल ने ललित कलाओ के स्थूल रूप से दो भेद किये हैं—मूर्त्त आधारवाली और अमूर्त्त आधारवाली।

ललित कलाओ के द्वारा मनुष्य को उस अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है जिसे "ब्रह्मानन्द सहोदर" कहा गया है।

कला का दूसरा विभाजन इस दृष्टि से किया गया है कि कलाकार ने अपनी आन्तरिक भावना अथवा अनुभूति को जो मूर्त रूप दिया है वह कहाँ तक यथार्थ है।

इस प्रकार कला के दो पक्ष किये गये है—अनुभूति पक्ष और रूप पक्ष । अनुभूति पक्ष के अन्तर्गत वह अनुभूति आता है, जिससे कलाकार अभिभूत हो जाता है। और जिसके द्वारा वह अपने द्रष्टा या पाठक को आन्दोलित करना चाहता है। कला पक्ष का सम्बन्ध उन साधनो से है जिनके द्वारा कलाकार अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करता है।

इसी वर्ग के अन्तर्गत इससे भी अधिक सुविधाजनक विभाजन यह हो सकता है—कला की सफल अभिव्यजना और कला की असफल अभिव्यजना। इस प्रकार कला के दो पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं—अनुभूति पक्ष तथा रूप पक्ष। यह रूप पक्ष ही वास्तव मे अनुभूति को व्यक्त करता है। किसी भाव को अपने हृदय मे अनुभव करना एक वात है और उसको प्रभावोत्पादक रूप मे अभिव्यक्त करना दूसरी वात है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अनुभूति तथा अभिव्यजना की प्रक्रियाओ के द्वारा ही कला का स्फुरण होता है। अत. इन दोनो के आधार पर भी कला का वर्गीकरण किया जा सकता है। कभी-कभी वास्तव मे यह होता है कि किसी कलाकार मे अनुभूति की कमी रहती है और कभी किसी मे रूप व्यजना की असफलता दृष्टिभूत होती है। जब कलाकार का अनुभूति पक्ष न्यून तथा निर्वल होता है तो वह अपनी न्यूनता को कला पक्ष के आवरण से ढकना चाहता है। ऐसी रचना मे कला पक्ष अनुभूति पक्ष की अपेक्षा अधिक सशक्त होता है। इसके विपरीत किसी कलाकार की अनुभूति तो अत्यन्त तीव्र, मार्मिक, सत्य तथा सशक्त होती है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति वह उतनी सफलता तथा सरलता से नही कर पाता। हमारे हिन्दी कवियो मे यह लक्षण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। कबीर तथा जायसी अपनी अनुभूति पक्ष की पुष्टता के लिये प्रसिद्ध हैं। परन्तु उनका कला पक्ष अपेक्षाकृत निर्वल तथा अशक्त है। इसी प्रकार केशव तथा अन्य रीतिकालीन कवि अपने रूप पक्ष (कला पक्ष) की पूर्णता के लिए प्रसिद्ध है, किन्तु उनकी अनुभूति अत्यन्त अशक्त तथा निर्वल है। उपरोक्त दोनों प्रकार की अभिव्यक्ति कला की दृष्टि से पूर्ण नही कही जा सकती क्योकि उसमें कला के दोनो रूपों—अनुभूति पक्ष और रूप पक्ष (कला पक्ष) का उचित सामञ्जस्य नही है। कुछ कलाकार ऐसे भी हैं जिनके अनुभूति पक्ष तथा रूप पक्ष दोनो ही अधिक सवल, सशक्त एवं वेगमय हैं। वही कलाकृति श्रेष्ठ समझी जाती है जिसमे भाव पक्ष तथा कला पक्ष का उचित संतुलन हो। तुलसी, सूर तथा प्रसाद इसी प्रकार के कलाकार हैं जिनकी रचनाओ मे अनुभूति पक्ष तथा रूप पक्ष का उचित सामंजस्य है।

कुछ कलाकार ऐसे भी हैं जिनके अनुभूति पक्ष तथा रूप पक्ष दोनो ही दुर्वल तथा अशक्त हैं।

संक्षेप में कलावस्तु के अवयव संघटन की दृष्टि से कलाओ के कई विभाग किये जा सकते हैं :—

१—अनुभूति की दुर्वलता पर रूप पक्ष सशक्त।

२—अनुभूति की तीव्रता पर रूप पक्ष की अशक्तता ।

३—अनुभूति और रूप दोनो की न्यूनता ।

४—अनुभूति तथा रूप का उचित समन्वय ।

सर्वोत्कृष्ट तथा सफल कला वही मानी जायेगी जिसमे अनुभूति तथा रूप समान रूप से सशक्त और तीव्र हो ।

कुछ विद्वानो ने कला का विभाग प्राचीन कला, आधुनिक कला अथवा धार्मिक कला, तथा लौकिक कला की श्रेणियो मे किया है । इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि तथा रुचिभेद के आधार पर भी वर्गीकरण किये गये हैं । कही-कही तो कुछ कलाओं के प्रति लोगो का भाव पूजा की कोटि तक पहुँच गया है । भारतवर्ष मे मूर्ति-पूजा तो भारतीय जन समाज के धर्म का अभिन्न अग बन गई है । कुछ पुस्तकें तक उदाहरणार्थ रामायण, महाभारत केवल काव्य ही नही है, अपितु धार्मिक ग्रन्थ बन गये हैं । इस प्रकार की सकुचित दृष्टि से कलाओ के वास्तविक निरूपण मे बाधा पड़ती है और धारणाओ के आधार पर कला की समीक्षा होने लगती है जो उचित नही ।

इस प्रकार कलाओ के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे अनेक मतभेद प्रचलित है और यह स्वाभाविक भी है, क्योकि कला एक अखड अभिव्यक्ति है । अत कलाओ के बाह्य उपकरणो का वर्गीकरण किया जाता है जिनके द्वारा कलाकार अपनी कृतियों को विविध रूप में प्रकट करता है । वस्तुत. अनुभूति ही कला का मूल है । यद्यपि अनुभूति तो प्रत्येक कलाकार के हृदय मे एक ही प्रकार की होती है तथापि अभिव्यक्ति की विविध प्रणाली ही कला कृतियो को अभिनव रूप प्रदान करती है ।

अत. यह स्पप्ट है कि कलाओ का विभाजन व्यावहारिक दृष्टि से ही सम्भव है, तात्विक दृष्टि से नही । फलत कलाओ का वर्गीकरण सर्वथा दोप मुक्त नही हो सकता ।

परन्तु यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कलाओ का "ललित" और "उपयोगी" वाला वर्गीकरण ही सबसे अधिक वैज्ञानिक तथा समीचीन है ।

सर्वोत्कृष्ट कला का आधार तथा ललित कलाओं का वर्णन

जिस कला मे मूर्त आधार (अर्थात् भौतिक स्थूल उपकरण) जितना कम होगा, वह कला उतनी ही उच्चकोटि की समझी जायेगी । मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ललित कलाओ की श्रेणिया उत्तम और मध्यम स्थिर की गई है । इसका प्रधान कारण यह है कि इन स्थूल उपकरणो के द्वारा अभिव्यक्त होने पर हृदयस्थ अनुभूति सदैव एक रस नही रह सकती । हृदयस्थ अनुभूति ही एक रस नही होगी तो स्पष्ट है कि उसकी अभिव्यजना भी उतनी ही कम मार्मिक तथा कम प्रभावशाली होगी । किसी भावमयी अनुभूति की आवेशमयी अभिव्यक्ति का आवेश भौतिक स्थूल उपकरणो की अपेक्षा मे कम प्रभाविष्णु तथा कम तीव्र रह जाता है । अत: जिस कला में मूर्त आधार जितना अधिक होगा वह कला उतनी ही निकृष्ट समझी जा[illegible]

अब इस कसौटी पर हम सम्पूर्ण कलाओ का मूल्यांकन करेगे ।

काव्य-कला मे मूर्त आधार का एक प्रकार से अभाव-सा रहता है। इसलिए काव्य-कला को सबसे ऊचा स्थान दिया गया है। इसी के अनुसार वस्तुकला को सबसे निकृष्ट स्थान दिया गया है। क्योंकि मूर्त आधार की अधिकता के बिना उसका अस्तित्व सम्भव नही। वास्तव मे इस आधार को भली प्रकार सवारने मे ही वस्तुकला को कला का आसन प्राप्त होता है। इसके अनन्तर दूसरा स्थान मूर्ति कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है। किन्तु मूर्तिकार किसी प्रस्तर खड को ऐसा रूप देता है जो उस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। मूर्तिकार मे वह शक्ति है जिसके द्वारा वह उस प्रस्तर खंड या धातुखड मे सजीवता की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है। मूर्तिकला के पश्चात् तीसरा स्थान चित्रकला का आता है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त अर्थात् साकार पदार्थ मे लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई होती हैं। वास्तुकार (भवन निर्माणकर्ता) और मूर्तिकार को अपना कौशल प्रदर्शित करने के लिये मूर्त आधार के पूर्वोक्त तीनो गुणों का आश्रय लेना पडता है। चित्र मे तो मोटाई नाममात्र की होती है। साराश यह है कि ज्यो-ज्यो हम ललित कलाओ में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर अग्रसर होते हैं, त्यों-त्यों मूर्त आधार का अभाव होता जाता है। सगीत में स्वरो का आरोह या अवरोह (उतार चढाव) ही उसका आधार होता है। अन्तिम अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्य कला का है। उसमे मूर्त आधार की आवश्यकता नही होती। उसका आविर्भाव उन शब्द समूहो या काव्यो से होता है, जो मनुष्य के मानसिक भाव के द्योतक हैं। काव्य मे जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नही रहता। परन्तु शब्द की रमणीयता आने से सगीत के सदृश ही नाद सौन्दर्य रूप मूर्त आधार की उत्पत्ति भी हो जाती है। भारतीय काव्य कला पाश्चात्य काव्य कला की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट रहती है। पर अर्थ की रमणीयता के समान यह काव्य का अनिवार्य अंग नही है। अर्थ की रमणीयता काव्य का प्रधान गुण है और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।

साधारण रूप से निम्नलिखित बाते प्राय सभी ललित कलाओ के मूल में रहती हैं:—

१—सब कलाओं मे किसी न किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है।

२—नेत्रो तथा कानों के द्वारा हम कलाकृति का ज्ञान प्राप्त करते है।

३—ये उपकरण वह माध्यम हैं जिनके द्वारा कलाकार अपने भावो की अभिव्यक्ति करता है और दृष्टा या पाठक के हृदय मे वे ही भाव जाग्रत करने में समर्थ होता है जिसकी प्रेरणा से स्वयं उसने अपनी कला को जन्म दिया।

ललित कला की उत्कृष्टता का निर्माण करने के लिए निम्नलिखित तीन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :—

१—कला का मूर्त आधार क्या है ?

२—वे माध्यम जिनके द्वारा कलाकार अपनी अभिव्यक्ति को मूर्त रूप देता है।

३—मानसिक दृष्टि मे नित्य पदार्थ का जो प्रत्यक्षीकरण होता है वह कैसा और कितना है ?

इसी आधार पर सर्वोत्कृष्ट कला का निर्णय किया जायेगा।

वस्तुकला—इसका आधार स्थूल उपकरण होते हैं। जैसे—ईंट, पत्थर, लोहा, लकडी आदि जिनसे इमारते बनाई जाती है। ये सब पदार्थ मूर्त है। अतएव इनका प्रभाव आखो पर वैसा ही पडता है, जैसा किसी और मूर्त पदार्थ का हो सकता है। यद्यपि मन्दिर, मसजिद या गिरजाघर अथवा महल या मकबरा सभी स्पष्ट रूप से दर्शको के ऊपर एक मानसिक भाव की अभिव्यक्ति का प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं किन्तु कुछ विशेषज्ञ ही उस व्यक्त प्रभाव का ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। अधिकाश दर्शक तो उसकी सजावट तथा ईंटो के चिनने आदि की प्रशसा करते रहते हैं। और इस तथ्य तक नही पहुँच पाते कि इस भवन अथवा इमारत का निर्माण किन मानसिक भावो की अभिव्यक्ति का परिणाम है। अत स्पष्ट है कि विभिन्न व्यक्तियो द्वारा निर्मित तथा अनेकानेक स्थूल उपकरणो की सहायता से बना भवन अपने कलाकार के आन्तरिक भावो की तद्वत् अभिव्यक्ति नही कर सकता। यो भवन या प्रासाद को कलाकृति की सज्ञा इसलिए दी गई है, क्योकि वास्तुकार अर्थात् भवन-निर्माण-कर्त्ता अनगढ ईंटो तथा पत्थरो की सहायता से ऐसा मूर्त रूप प्रस्तुत करता है जिसे देखकर दर्शक को एक अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। उसके निर्मित रूप को देखकर यह अनुमान नही किया जा सकता कि कितनी कुरूप वस्तुओ के समुच्चय से उसका निर्माण किया गया है। वस्तु कला में मानसिक आनन्द का अपेक्षाकृत अभाव है इसलिए यह ललित कला निकृष्ट मानी गई है।

मूर्ति कला—मूर्ति कला में मूर्त आधार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकडी आदि के टुकडे होते है। इन्ही को काट छाट कर या ढालकर मूर्तिकार उन्हे एक सुन्दर एव भावमयी मूर्ति का रूप प्रदान करता है। यह तो निर्विवाद है कि वास्तु कला की अपेक्षा मूर्तिकला के द्वारा मानसिक भावो की अभिव्यजना अधिक मात्रा मे हो सकती है। इसलिए वास्तुकार से मूर्तिकार की स्थिति अधिक महत्वपूर्ण है। मूर्तिकार मूर्ति मे मानसिक भावो की अभिव्यजना सफलतापूर्वक कर सकता है। भारतीय मूर्तिकारों ने मूर्तियो मे मानसिक सौन्दर्य का स्फुरण बडी सफलता के साथ किया है। विश्व में मूर्तियो के अवयवो के गठन तथा सर्वत्र उनके उचित अनुपात के लिए यूनान, भारतवर्ष के बाद सर्वाधिक प्रसिद्ध है। भारतीय मूर्तिकारो ने जिन मूर्तियो का निर्माण किया है वे वास्तव मे बेजोड हैं। भारतीय मूर्तियो मे नेत्रो को अर्धोन्मीलित कमल-कलिका के सदृश चित्रित किया गया है और उंगलियो को कमल की पत्तियो के सदृश। ये मूर्तियां दर्शको के हृदय पर अत्यन्त तीव्र, मार्मिक, सशक्त तथा व्यापक प्रभाव छोड जाती हैं। महात्मा बुद्ध की प्रस्तर या धातु प्रतिमाये आज भी उन

प्रस्तरावयवो द्वारा शान्ति का आलोक बिखेर रही हैं। वस्तुत. मूर्तिकला शारीरिक या प्राकृतिक सुन्दरता का सुन्दरतम निदर्शन है। परन्तु मूर्तिकला मे भौतिक स्थूल उपकरणो की आवश्यकता पडती है और यह भौतिक स्थूल उपकरण मूर्तिकार की अनुभूति की तीव्रता को कुछ न कुछ कम कर देते है। अत मूर्तिकला भी निश्चित रूप से सूक्ष्म उपकरण वाली कलाओ की तुलना मे निकृष्ट ही कही जायेगी।

चित्रकला—चित्रकला का आधार कपड़े, कागज, चित्रपट आदि तथा कुछ ब्रुश रग आदि है। चित्रकार अपने भावो को ब्रुश या कलम की सहायता से कागज, वस्त्र या चित्रपट पर चित्र रूप मे अंकित करता है। मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार के लिए मूर्त आधार का आश्रय कम रहता है। चित्रकार अपने ब्रुश या कलम से समतल या सपाट सतह पर स्थूलता, लघुता, दूरी और नैकट्य आदि दिखाता है। वह वास्तविक पदार्थो के अनुरूप चित्र चित्रपट पर इस प्रकार प्रस्तुत करता है जिससे दर्शक को चित्रगत वस्तु वास्तविक सी जान पड़े। इस प्रकार वस्तुकला और मूर्तिकला की अपेक्षा चित्रकला मे मानसिक सौन्दर्य के स्फुरण का अधिक अवसर रहता है। चित्रकार अपनी अनुभूति को चित्र मे इस प्रकार व्यक्त करता है जिससे दर्शक के हृदय मे भी वे ही भाव जाग्रत हो जाते है क्योकि उसकी कृति मे मूर्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। किसी ऐतिहासिक घटना या प्राकृतिक दृश्य का चित्र प्रस्तुत करते समय चित्रकार केवल उस घटना या दृश्यो के वाह्य अगो का ही चित्रण नही करता, अपितु अपने विचारो के अनुसार उस घटना या दृश्य को सजीवता देने और मनुष्य या प्रकृति की भाव भगी का प्रतिरूप खडा करने के लिए उसे अपने मानसिक भावो का सजीव चित्र-सा प्रस्तुत करना पडता है। किन्तु फिर भी चित्र मे सजीवता का अभाव है। चित्रकार जिस क्षण को अपने चित्र मे मूर्त रूप देता है वह सदैव एक सा रहेगा उसमे परिवर्तन या गति सम्भव नही। चित्र को देख कर जो भाव दर्शक के हृदय मे जाग्रत होते है वे कुछ क्षण के पश्चात् समाप्त हो जाते है। चित्रकला उस प्रभाव को निरन्तर गतिशील नही वना सकती। फिर भी चित्रकला मे मूर्तता का अश थोडा और मानसिकता का वहुत अधिक होता है।

सगीत कला—इसका आधार नाद है जिसे सगीतज्ञ अपने कठ से या कई यन्त्रो द्वारा उत्पन्न करता है। सगीत और काव्य मे घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। सप्त स्वर इस कला की कुजी या आधार हैं। नाद को प्रकट करने मे भौतिक स्थूल उपकरणो की आवश्यकता अनिवार्य नही है। सगीतज्ञ अपने कण्ठ स्वर से श्रोताओ को मोहित कर सकता है, उन्हे प्रसन्न कर सकता है तथा रुला सकता है। अत. विद्वानो मे कोई सगीत कला को महत्व देता है और कोई काव्य कला को।

सगीत की सर्वश्रेष्ठ विशेपता यह है कि उसका प्रभाव अत्यन्त व्यापक है। तथा यह प्रभाव अनादि काल से मनुष्य की आत्मा पर पडता चला आ रहा है। मनुष्यो को जाने दीजिए पशु पक्षी तक पर सगीत का प्रभाव प्रसिद्ध है। सगीत मानव हृदय मे आनन्द की तरंगे उत्पन्न कर सकता है, और शान्त रस की धारा प्रवाहित करके

मानव हृदय मे शान्ति भी उत्पन्न कर सकता है। सगीत का प्रभाव अमोघ है और इस दृष्टि से यह कला वस्तु, मूर्ति और चित्रकला से वढकर है।

काव्य कला—भारतवर्ष मे काव्य को कला से भिन्न माना गया है। भृत्तहरि ने "साहित्य संगीत कला विहीनः" लिखकर यही वात स्पष्ट की है "काव्यालकार" मे कला को काव्य का ही एक अग माना गया है—

"न स शव्दो न तद्वाच्यम् न सान्यायो न सा कला।
जायते यन्नकाव्याङ्गमहाभार महान् कवे ॥"

मनुष्य अपने भावो की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से करता है। प्रत्येक शव्द किसी न किसी भाव का प्रतीक होता है। इस प्रकार शव्द ही काव्यकला के आधार हैं। ललित कलाओ मे काव्य कला ही सर्वोत्कृष्ट कला मानी गई है। काव्य कला का क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है इसीलिए भामह ने "काव्यालकार" मे लिखा है कि "**महाकवि की कविता में कोई भी ऐसा शब्द नहीं, जो उसका अंगभूत बनकर उसमें समाविष्ट न हो।**" काव्य कला की उत्कृष्टता की तुलना केवल सगीत कला से ही की गई है। क्योकि ललित कलाओ मे ये ही दो कलाये ऐसी है जो गतिशील है। सगीत लय का और काव्य ध्वनि तथा शव्द का सहारा लेकर चलता है। काव्य की सर्वप्रिय विशेषता यह है कि शव्दो की सहायता से वह भावो को अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट कर सकता है। सगीत तो स्वरो के सकेत मात्र से भाव को व्यजित करता है। किन्तु काव्य उसे रूप देकर नेत्रो के समक्ष खडा कर देता है। दूसरी वात यह है कि सगीत की अपेक्षा काव्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। सगीत कुछ भाव कुछ मानसिक परिस्थितियो को ही प्रकट कर सकता है। सगीत द्वारा हर्ष, करुणा, विषाद, आदि भावो की अच्छी अभिव्यजना हो सकती है। किन्तु वह काव्य की भाति वाह्य जगत का चित्रण नही कर सकता। काव्य कला मे वह शक्ति है जिसके द्वारा वह वाह्य तथा आन्तरिक दोनो प्रकार की परिस्थितियो को सफलतापूर्वक व्यक्त कर सकती है। सगीत युद्ध की घटनाओ का वर्णन नही कर सकता। किन्तु काव्य मे वीरो के सिहनाद, तलवारो की झनझनाहट, हाथियो की भगदड, घोडो की चिंघाड़ो का स्पष्ट स्वर सुनाई देता है। काव्य प्रत्येक वस्तु का शव्द चित्र उपस्थित कर देता है। जैसे—

"सध्या का झुटपुट, बासो का झुरमुट।
चिडियां करती टी वी टी टुट् टुट् ॥"

एक-एक शव्द एक-एक चित्र सामने प्रस्तुत करता है और सन्ध्या के वातावरण का एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है जो अनिवर्चनीय तथा वर्णनातीत है।

वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, सगीत कला केवल सीमित तथ्यो की ही अभिव्यंजना करती हैं, किन्तु काव्य मे सगीत भी है, चित्र भी है, मूर्ति भी है, और भाव भी है। काव्य की अमोघ शक्ति तथा व्यापक प्रभाव सर्व विदित है। विहारी के एक दोहे ने जो कार्य जयसिंह पर किया वह सैकडो सूखे उपदेश मिलकर नही कर

सकते थे। यदि वीरगाथा काल का काव्य राजाओं को युद्ध के लिए प्रेरित न करता तो आज भारतवर्ष का इतिहास कुछ और ही होता। वीरगाथाकालीन साहित्य ने योद्धाओ को उनकी अन्तिम रक्त की बूद रहने तक युद्धरत रखा। तुलसी तथा सूर ने अपनी रचनाओ से मुरझाये हुए भारतीय हृदयो को फिर से सीचकर हरा भरा, लहलहा एव पुष्पित किया। "तुलसी" के "रामचरित मानस" ने कितने अन्धकारमय हृदयो को आलोकित किया होगा। **"जिन खोजा तिन पाइयाँ"** वाले कबीर के उत्साह भरे शव्दो ने कितने हताश पुरुषों मे प्राण का सचार किया। जो काव्य शान्ति का सन्देश दे सकता है, क्रान्ति करा सकता है, निर्माण का अमर तथा दिव्य सन्देश दे सकता है उसकी प्रतिद्वन्द्विता विश्व की कोई कला नही कर सकती। मानवीय भावों का उतार चढाव और उसकी सूक्ष्मताए जितनी काव्य मे अवतरित हो सकती हैं उतनी और किसी कला मे नही।

अतः स्पष्ट है कि जिस कला मे मूर्त आधार जितना न्यून होगा वह कला उतनी ही श्रेष्ठ मानी जायेगी। काव्य कला मे मूर्त आधार का सर्वथा अभाव है। अतः काव्य कला ही निश्चित रूप से सर्वोत्कृष्ट कला है।

कला कला के लिए और कला जीवन के लिए

यद्यपि कला की सृष्टि **"स्वान्तः सुखाय"** हुई है, तथापि वह लोकहित से सम्बद्ध होने के लिए वाध्य है। क्योकि सच्चा कलाकार देश का प्रतिनिधि होता है। उसकी लेखनी मे जन-समाज की वाणी मुखरित होती है। वह अपने युग की सृष्टि भी होता है और स्रष्टा भी। वह जनरुचि का प्रसादन भी करता है और परिष्कार भी, अत कला तथा जीवन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। परन्तु कुछ लोग कला को नीति, सदाचार तथा उपयोगिता आदि प्रयोजनो से परे मानकर "कला कला के लिए" का समर्थन करते हैं।

इस प्रकार साहित्य जगत मे दो प्रमुख वादो को जन्म मिला। **"कला कला के लिए"** तथा **"कला जीवन के लिए"**। इन दोनो वादो को जन्म देने का श्रेय प्लेटो तथा अरस्तू को है। अरस्तू ने कला को जीवन की प्रतिकृति माना था। उनका विचार था कि कला तथा जीवन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इन दोनो को एक दूसरे से पृथक् करना सम्भव नही। वे वास्तव मे एक वस्तु के दो पहलू हैं।

इसके विपरीत अरस्तू के शिष्य प्लेटो ने उपरोक्त कथन को कुछ परिवर्तन के साथ कहा। उसका कथन था—**"कला जीवन की अनुकृति है"**। प्रतिकृति तो वह हो ही नही सकती।

कला कला के लिए—"कला कला के लिए" वाद का जन्म उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे यूनान मे हुआ तथा पालन पोषण फ्रास मे। "कला कला के लिए" सिद्धान्त के पृष्ठ-पोषक आस्कर वाइल्ड, जे० ई० स्पिनगर्न, ब्रैडले आदि हैं। इस सिद्धान्त के मानने वालो का कथन है कि—**"कला का प्रयोजन उसकी उपयोगिता में नही है और उसका मूल्य आर्थिक या नैतिक मान से निश्चित करना उसके साथ**

अन्याय करना है। कला के परे और किसी वाह्य वस्तु को उसका प्रयोजन रूप से नियामक मानना उसके स्वायत्त शासन में अविश्वास प्रकट करना है। और उसको स्वाधीनता के स्वर्ग से घसीट कर पराधीनता के अन्धकारतम गर्त में ढकेलना है। कला की मनोमुग्ध-कारिणी सुन्दरता ही उसकी चरम उपयोगिता है।" सहृदयो को रस तथा आनन्द मे मग्न करना ही उसका प्रमुख लक्ष्य है। इस सिद्धान्त के समर्थक "निरंकुशाः हि कवयः" वाली उक्ति के अनुसार भावनाओ के नग्न चित्रण करने के पक्ष मे है। यह वाद "कला की अदम्य आवश्यकता" (Art as a creative necessity) वाले वाद से मिलता जुलता है। दोनो मे अन्तर केवल इतना ही है कि कलावाद मे वाह्य प्रेरणाओ के अभाव को महत्व दिया गया है और इसमे आन्तरिक प्रेरणाओ को।

आस्कर वाइल्ड—कलावाद का पोषण करते हुए आस्कर वाइल्ड ने, जिन्होने स्वयं अपनी कृतियो मे सदाचार की अवहेलना की है, कहा है—"समालोचना में सबसे पहली वात यह है कि समालोचक को यह परख हो कि कला और आचार के क्षेत्र पृथक्-पृथक् है।"

जे० ई० स्पिनगर्न—जे० ई० स्पिनगर्न ने इसी वात को कुछ हास्योतेजक रूप दिया है। उसका कथन इस प्रकार है—"शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार-दुराचार ढूँढना ऐसा ही हैं जैसा कि रेखागणित के समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विवाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण कहना।"

—चिन्तामणि भाग २, काव्य मे अभिव्यजनावाद

ब्रैडले (Dr Bradley)—इन्होने "Poetry for Poetry's Sake" नामक लेख मे कला को नीति से परे माना है। "कला की प्रकृति वाह्य जगत से साम्य स्थापित करने या उसकी अनुकृति उपस्थित करने की नही होती। उसका अपना एक स्वतन्त्र, पूर्ण और निरपेक्ष जगत होता है।"

कलागत सत्य तथा जीवनगत सत्य मे अन्तर होता है। जोवर्ट (Joubert) ने लिखा है—"The ordinary true or purely real cannot be the object of the arts. Illusion on a ground of truth, that is the secret of the fine arts" अर्थात् "व्यावहारिक और पूर्ण सत्य कला का विषय नही हो सकता। सत्यता की आधारभूमि पर कल्पना का आवरण ही प्रत्येक ललित कला का रहस्य है।"

कला का यह सत्य ऐकान्तिक तथा लोकवाह्य है। जो लोग कला को जीवन से पृथक् मानते है वे कला को एक काल्पनिक आदर्श जगत की वस्तु मानते है। इस सम्वन्ध मे वुल्वर (Bulwer) के विचार भी दृष्टव्य हैं—"The artist never seeks to represent positive truth, but the idealised image of a truth" अर्थात् "कलाकार सत्य को व्यक्त करने का प्रयत्न नहीं करता वल्कि सत्य के आदर्श रूप का अन्वेषण कर व्यक्त करता है।"

कला सत्य का प्रत्यक्ष रूप से चित्रण ही नही करती अपितु उसे मगलमय रूप भी प्रदान करती है। गोथे (Gothe) ने इसी बात को इस प्रकार स्पष्ट कहा है—

"The highest problem of every art is by means of appearances, to produce the illusion of a loftier reality." "कला की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है रूपाकार के सहारे चिरन्तन सत्य का प्रतिविम्ब करना।"

कलावादियो ने कला मे सत्य और शिव को महत्व नही दिया है। वे कला का उद्देश्य केवल प्रेम और सौन्दर्य की मादक अभिव्यजना करना मानते है। वूचर ने लिखा है—

"Art employs method for the symmetrical formation of beauty" अर्थात् कला सौन्दर्य का संतुलित रूप प्रस्तुत करती है।

इस धारणा ने कला के नैसर्गिक सौन्दर्य को विकृत कर दिया तथा उसे उच्छृङ्खल भावनाओ की अभिव्यक्ति मात्र वना दिया। अत. कला शृङ्गार की सहचरणी मात्र रह गई।

कला तथा भावना का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कलाकार अपनी कृति मे आन्तरिक भावनाओ की अभिव्यक्ति करता है। डेलसेर्ट नामक विद्वान ने भी लिखा है—

"The object of art is to crystallize emotion into thought and then fix it in form." अर्थात् कला का लक्ष्य भावों को विचारों में परिणत कर उन्हें ठोस रूप देना होता है।

कलाकार अपनी भावना को साकार रूप देकर उसे आनन्दोपयोग की वस्तु बना देता है। पाठक अपनी रुचि तथा भावो के अनुरूप उस कलाकृति का उपयोग करता है। क्विनटीलिन ने लिखा है:—

"The learned understand the reason of art, the unlearned feel the pleasure." अर्थात् "शिक्षित लोग कला की तार्किकता से लाभ उठाते हैं और अशिक्षित उससे आनन्द प्राप्त करके ही रह जाते है।" इस प्रकार स्पष्ट है कि कला जीवन से भिन्न नही और उसका उपयोग सभी मनुष्य कर सकते हैं। "कला कला के लिए" मानने वाले विद्वान यह विस्मृत कर देते हैं कि कला का सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन से है। कला का सम्बन्ध जव मनुष्य के पूर्ण जीवन से है तव वह नीति, सदाचार और उपयोगिता की अवहेलना नही कर सकती। इसलिए एक विद्वान ने कहा है—

"Art is the application of knowledge to real life." अर्थात् कला का अर्थ वास्तविक जीवन में ज्ञान का प्रयोग है।

योरुप मे कुछ ऐसी विचारधारायें और काम कर रही थीं जो "कला कला के लिए" सिद्धान्त की पोषक थीं। संक्षेप में उनका परिचय देना अप्रासंगिक न होगा, क्योंकि साहित्य या कला का क्षेत्र भी उनसे प्रभावित होता है।

१. **फ्रायड का स्वप्न सिद्धान्त**—मनोविज्ञान का गम्भीर विश्लेषण कर फ्रायड इस निष्कर्ष पर पहुँचने का दावा करता है कि मनुष्य अपनी अपूर्ण वासनाओं की पूर्ति कल्पना के द्वारा स्वप्न मे करता है। क्योंकि साहित्य-सृजन का आधार कल्पना है, अतः उसमें अपूर्ण वासनाओं की अधिक मात्रा में अभिव्यक्ति अत्यन्त स्वाभाविक है। वह साहित्य मे शृङ्गार के प्राधान्य का कारण इसे ही मानते हैं। इस सिद्धान्त के समर्थकों ने शैक्सपियर तथा शैली के काव्य एवं माइकेल एंजिलो की कला में इन्ही तत्वो को ढूढने का प्रयास किया है। उनका तर्क है कि अतृप्त कामनाओं की पूर्ति मे बाधा देखकर मानव उन्हे अपनी विभिन्न कलाकृतियों में व्यक्त करता है।

परन्तु इस सिद्धान्त मे लेशमात्र भी सत्यता नहीं है क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि भक्त कलाकार ही ईश्वर की मूर्ति का निर्माण करे। कलाकार असाधारण प्राणी होता है। वह साधारण मनुष्य की अपेक्षा अधिक भावुक तथा गुणज्ञ होता है। अत उसकी रचना मे प्रत्येक स्थल पर उसके व्यक्तित्व की छाप देखना उसके प्रति अन्याय करना है। यह दृष्टिकोण एकांगी है। यदि कला को जीवन से पृथक् कर दिया जायेगा तो आचार का कुछ भी महत्व न रहेगा। ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि—**"संसार की अब तक की सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियाँ अधिकांश में विवेकवान और आचारनिष्ठ पुरुषो द्वारा प्रस्तुत की गई हैं।"**

२ **यथार्थवाद**—योरुप के कुछ विद्वान यथार्थवाद के पृष्ठपोषक हैं। उनकी धारणा है कि आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि उसकी स्वाभाविक तथा प्राकृतिक वृत्तिया हैं। अत. वे दृढभूत हैं। किन्तु सदाचार, नीति आदि उदात्त वृत्तिया सभ्यता प्रसूत हैं, इसलिए वे दृढ नही हैं अत. यह स्वाभाविक है कि मनुष्य की मूलवृत्तियां ही उसकी रचनाओ मे स्फुरित हो। परन्तु यह आवश्यक नही। क्योंकि **"सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्यो में भले-बुरे का ज्ञान दृढ हुआ और इस प्रकार आचार मनुष्य प्रकृति का एक अभिन्न अंग बन गया।"** सम्पूर्ण साहित्य मे मनुष्य के आचार की छाप लगी हुई है क्योंकि मनुष्य विवेकशील प्राणी है। विवेक ही सदाचार को जन्म देता है। अतः यह स्वाभाविक है कि उसकी रचना सदाचार आदि उदात्त वृत्तियो से ओत-प्रोत हो। सच्चा कलाकार ऐसे सत्साहित्य का निर्माण करता है जो समाज के लिए कल्याणकारी हो। अत यह आवश्यक नही है कि प्राकृतिक वृत्तिया ही उसकी कला मे प्रस्फुटित हो। पकज की उत्पत्ति यद्यपि पक से हुई है, परन्तु पक के कुछ भी सस्कार पकज पर नही होते। मानव हृदय मे अनुभव करता है और मस्तिष्क से विचार करता है। अत हृदय तथा मस्तिष्क के योग से उत्पन्न कलाकृति जीवन से पृथक् कैसे हो सकती है, और जीवन से पृथक् उसका महत्व ही क्या होगा।

३. क्रोचें का अभिव्यंजनावाद—क्रोचे ने वस्तु को गौण मानकर प्रधानता दी है। उसका कथन है—"Expression is art." साहित्य के दो पक्ष माने गये हैं—(१) भावपक्ष, (२) कलापक्ष। भावपक्ष का सम्बन्ध वस्तु, भाव या अनुभूति से है, और कलापक्ष का सम्बन्ध अनुभूति की अभिव्यक्ति से है। अतः काव्य के लिए भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनो अनिवार्य हैं। वस्तु के अभाव मे आकार श्रीहीन है और सुन्दर आकार के अभाव मे वस्तु का उचित मूल्याकन नही हो पाता। जिस प्रकार मानव के लिए आन्तरिक तथा वाह्य दोनो प्रकार के सौन्दर्य अपेक्षित है, उसी प्रकार काव्य के लिए भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनो का ही सौन्दर्य आवश्यक है। अतः इस सिद्धांत मे सत्याश कम है।

कला कला के लिए वाले सिद्धान्त के सम्बन्ध मे भारतीय मत—हमारे हिन्दी लेखको पर भी इस मत का गहरा प्रभाव पडा है। श्री इलाचन्द्र जोशी इसके प्रमुख समर्थको मे से हैं। उन्होने एक स्थल पर कहा है—"**विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति, तत्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके अलौकिक मायाचक्र से हमारे हृदय की तन्त्री आनन्द की झंकार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौंदर्य देवी के मंदिर को कलुषित करना है।**" —साहित्य सर्जना, "कला और नीति," पृ० १५

श्री उदयशंकर भट्ट ने "कुमारसम्भव" नामक नाटक मे नीति पर कला की विजय दिखलाई है। स्वय देवी सरस्वती ने कलापक्ष का समर्थन किया है। यह पाश्चात्य कलावाद का ही प्रभाव है। छायावादी कवि "कला कला के लिए" सिद्धात के समर्थक हैं। छायावाद मे पलायनवाद का समावेश इसी सिद्धान्त से प्रभावित होकर किया गया था। प्रसाद जी की निम्नलिखित पक्तियां इसी पलायनवाद की ओर सकेत करती हैं :—

"ले चल वहा भुलावा देकर
मेरे नाविक ! धीरे-धीरे
जिस निर्जन मे सागर लहरी
अम्वर के कानो मे गहरी—
निश्चल प्रेमकथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।"—प्रसाद : "लहर", पृ० १४

कला जीवन के लिए—"कला जीवन के लिए है" जिनका सिद्धान्त था उनमे रस्किन, मैथ्यू आर्नल्ड, आई० ए० रिचार्ड्स तथा अम्बर क्रावी थे। मैथ्यू आर्नल्ड ने तो "**काव्य को जीवन की आलोचना कहा है**"—"Poetry is at bottom a criticism of life." कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने प्रेषणीयता को कला क

प्रमुख तत्व मानकर उसका जगत से अन्योन्याश्रय सम्बन्ध माना है। रस्किन ने लिखा है—"All that is good. In art is the expression of one so ul talking to another." अर्थात् "कला में जो सार तत्व होता है उसे एक आत्मा का दूसरी आत्मा के प्रति निवेदन कहा जा सकता है।" रस्किन ने आत्मा को केवल कला का मनोरजन भाग ही नही माना है। चार्ल्स विलियम का मत भी रस्किन से मिलता जुलता है। उन्होने अपनी *"The English Poetic Mind"* नामक रचना मे लिखा है कि—"भावनाओं के प्रेषण मे ही कला की स्थिति रहती है।" इस प्रकार उन्होने प्रेपणीयता को कला का प्राण मानकर उसका उपयोगितावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। हैमिल्टन नामक विद्वान ने अपनी *"Poetiy and contemplation"* नामक रचना मे कला को लोकहित से सम्वद्ध माना है। "An artist is one who through the imposition of form on his particular material creates for himself and potentially for others a unified contempaltive experience highly objective in character" अर्थात् "कलाकार वह है जो अपनी विशेष भावनाओ और अनुभूतियो को अपने आनन्द के लिए और साथ ही साथ सव के हित के लिए रूपाकार प्रदान करता है। उसकी यह कल्पना मिश्रित अनुभूति पूर्ण रूप से जनसंवेद्य होती है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य विद्वानो ने भी "कला जीवन के लिए" वाले सिद्धान्त को अच्छी मान्यता दी है।

भारतवर्ष मे कला का आदर्श वहुत ऊंचा माना गया है। प्राचीन मनीपियों ने कला को केवल जीवन और सम्भोग की वस्तु ही नही माना अपितु उसका चरम लक्ष्य ब्रह्मानुभूति भी माना। इस सम्वन्ध मे सस्कृत का निम्नलिखित श्लोक दृष्टव्य है :—

"विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥"

अर्थात् "कला का जो भोग रूप है वह वन्धनकारक है। और जो परमानन्द प्राप्तिकारक रूप है वही यथार्थ कला है।" नाट्य शास्त्रकार भरतमुनि ने लिखा है कि काव्य के अध्ययन से मानवो का धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक विकास होता है। उसी के प्रभाव से कायर साहसी वीरजन, उत्साही, शोकार्त लोग शान्तमय, उद्विग्न चित्त वाले विश्रान्तिपूर्ण वन जाते हैं। भारतवर्प मे कला और नीति का अन्योन्याश्रय सम्वन्ध माना गया है। वास्तव मे साहित्य ही जीवन की गति विधि का विश्लेषण कर उसको मगलमय बनाने का प्रयत्न करता है। मम्मटाचार्य द्वारा उपदिष्ट् काव्य के हेतु जीवन से पूर्णतया सम्वद्ध है—

"काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य. परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥"

अर्थात् काव्य की सृष्टि यश के अर्थ, धन के निमित्त, व्यवहार जानने के लिए, अमंगल के नाश के लिए, आनन्द के हेतु तथा प्रेयसी का सा मधुर उपदेश देने के लिये है।

महाराज जयसिंह पर बिहारी के निम्नलिखित दोहे ने जो कार्य किया वह सैकड़ों सूखे उपदेश मिलकर नही कर सकते थे—

"नहिं पराग नहि मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सो बध्यो, आगे कौन हवाल॥"

भामह के शब्दो मे काव्य केवल कार्य का ही विधायक नही है अपितु इसके द्वारा अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की भी प्राप्ति होती है—

"धर्मार्थकाममोक्षाणा वैचक्षण्य कलासु च।
करोति प्रीतिं कीर्ति च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥"

रुद्रट ने काव्य से समस्त मनोभिलाषाओ की पूर्ति माना है। कुछ अन्य विद्वानो ने कला को "कामार्थ संश्रया" कह कर उसकी उपयोगिता पर बल दिया है। प्राचीन ऋषिगणों की काव्य सम्बन्धी धारणा बहुत महान् थी। "साहित्यसार" नामक ग्रन्थ मे लिखा है—"काव्यादि स्वार्थ अन्यार्थ च" अर्थात् काव्य कवि की आत्मतुष्टि और साथ-साथ पाठक की तुष्टि के लिए भी होता है।

"कला कला के लिए"—यह बात अपूर्ण तथा भ्रमपूर्ण है। भारतवर्ष मे तुलसीदास जी के निम्नलिखित काव्य—

"स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा।
भाषा निबन्ध मति मजुल मातनोति॥"

मे इस वाद के मूल तत्वो को ढूढने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार विशुद्ध कलावादियो ने तुलसीदास जी के इस कथन का यह अर्थ लगाया कि कविता का अपने सुख से भिन्न और कोई प्रयोजन ही नही। परन्तु उन्होने तुलसीदास जी की उन पक्तियो को विस्मृत कर दिया जिसमे उन्होने स्पष्ट कर दिया है कि काव्य वही है जिसमे श्रेय और प्रेय का सुन्दर समन्वय हो तथा जो सुरसरिता के सदृश सबके लिए कल्याणकारी हो—

"कीरति भणित भूति भल सोई।
सुरसरि सम सबकर हित होई॥"

तुलसीदास जी ने तो यह स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि काव्य की सृष्टि कलाकार करता है परन्तु उसका रसास्वादन पाठक करते हैं। वह इस तथ्य को और भी अधिक स्पष्ट करते हैं जब वे कहते हैं :—

"मनि मानिक मुक्ता छवि जैसी, अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।
नृप किरीट तरुनी तनु पाई, लहहिं सकल शोभा अधिकाई।
तैसहिं सुकवि कवित बुध कहही, उपजहिं अनत-अनत छवि लहही॥"

अतः तुलसीदास जी ने स्पष्ट कर दिया है कि कला तथा जीवन चिर आलिंगनबद्ध

है। बुधजन जिस काव्य को आदर की दृष्टि से न देखें, तुलसी उसको व्यर्थ ही मानते हैं :—

"जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं, सो श्रम बादि बाल कवि करहीं ॥"

हमारे यहा अनादि काल से लेकर आज तक काव्य का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। भारतीय साहित्य का जन्म ही लोकहितार्थ हुआ है। क्रौञ्चवध के करुणापूर्ण दृश्य से द्रवित होकर ही महर्षि वाल्मीकि रामायण की मन्दाकिनी प्रवाहित कर सके थे। तभी तो ध्वन्यालोक मे कहा गया है—"क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागत.।" क्रौञ्चवध से उत्पन्न शोक ने श्लोक का रूप धारण कर लिया। भारतीय साहित्य तो सत्यं, शिव, सुन्दर का सुन्दरतम् निदर्शन है। हमारे देश का साहित्य लोकपक्ष की भावनाओ से ओत-प्रोत है। रघुवंश आदि महाकाव्यों का प्रणयन सर्वभूत हित को दृष्टि मे रखकर किया गया था। वीरगाथा कालीन साहित्य मे यद्यपि राजा महाराजाओ के यश, वैभव तथा वीरता का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है, परन्तु वह भी जीवन से सम्बन्धित होने के कारण लोकहित से सम्बद्ध है। इन काव्यों में नीति तथा सदाचार को प्रधान स्थान दिया गया है। भक्ति कालीन साहित्य तो जीवन से पूर्णतया सम्बन्धित है। ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों ने तो हिन्दू-मुसलिम एकता का तथा साधारण धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रधान रूप में किया है। प्रेममार्गी शाखा मे भी लोकपक्ष प्रबल है। तुलसी तथा सूर की रचनाओं में तो लोकसंग्रह की प्रधानता है ही। तुलसी तथा सूर ने अपनी रचनाओं के सुधारस से मरझाये हुए हिन्दू जीवन को फिर से सींचकर हरा भरा कर दिया।

रीतिकालीन साहित्य मे यद्यपि सुरा तथा सुन्दरी का ही हास्योत्तेजक वर्णन मिलता है, परन्तु उसमे भी भूषण, लाल, सूदन आदि कवियों ने देश तथा जाति की भावनाओ से प्रेरित होकर रचनाए की हैं। वर्तमान युग का नवाभ्युत्थान तो लोक-संग्रह के भाव को लेकर हुआ है। हरिश्चन्द्र युग मे देश के कल्याण के लिए प्राचीन भारत का गौरव गान होने लगा। द्विवेदी युग मे आकर गुप्तजी तथा उपाध्याय जी की रामभक्ति तथा कृष्णभक्ति मे देश प्रेम तथा देश सेवा की भावना का परिदर्शन होने लगा। गुप्तजी के राम तो इस पृथ्वी को ही स्वर्ग बनाने के लिए अवतरित हुए थे—

"सदेश यहां मैं नही स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ॥"

उपाध्याय जी के श्रीकृष्ण तो ग्वालो मे जातीय प्रेम को जागृत करते हैं—

"विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का,
सहाय होना असहाय जीव का।
उबारना सकट से स्वजाति का।
मनुष्य का सर्वप्रधान कृत्य है ॥"

कृष्ण का उद्देश्य लोकहित था। गोपियो को प्रबोध करते हुए उद्धव जी श्रीकृष्ण की इस प्रवृत्ति का परिचय इन शब्दो मे देते है —

"वे जी से है जगत जन के सर्वथा श्रेयकायी
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा ॥"

छायावादी कवियों ने भी लोकहित के प्रवृत्ति मार्ग को ग्रहण किया है।

"प्रगतिवाद" का दृष्टिकोण कुछ सकुचित तथा सघर्षमय है परन्तु वह भी लोक संग्रह का भाव लेकर अग्रसर हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य तथा जीवन का शाश्वत सम्बन्ध है। किसी भी युग का साहित्य अपने युग की परिस्थितियो का प्रतिफलन होता है। साहित्य की प्रगति समाज की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा ही विस्तृत होती है। आधुनिक हिंदी साहित्य मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कला को जीवन के लिए माना है। वे तुलसी के अनुयायी है। "चिन्तामणि" मे एक स्थल पर उन्होने लिखा है—**"मन को अनुरंजित करना, उसको सुख और शान्ति पहुंचाना ही यदि कवि का अन्तिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी एक विलास की सामग्री हो जायेगी।"**

यद्यपि साहित्य तथा जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध है परन्तु इसका यह भी अभिप्राय नही है कि वह प्रचार का साधन है। **"हम जो कुछ साहित्य में कहें आकर्षक रूप में कहें, उससे यह अभिव्यक्त न हो कि यह प्रचार के लिए है क्योकि राजनीति, धर्मशास्त्र, तथा साहित्य में अन्तर है।** कवीन्द्र रवीन्द्र तथा महात्मा गाधी ने भी कला को जीवन के उत्कर्ष साधन मे सहायक माना है। रवीन्द्रनाथ कला को प्रयोजन से परे मानते हुए भी उसे मगलमय देखना चाहते हैं—**"सौंदर्य मूर्ति ही मंगल की पूर्ण मूर्ति है और मंगल मूर्ति ही सौंदर्य का पूर्ण स्वरूप है।"** महात्मा गाधी का कथन था कि—**"कला वह है जो जीवन को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाय। कला से जीवन का महत्व है। कला जीवन को वास्तविकता की ओर ले जाती है।"**

साहित्य के द्वारा ही हमारी वृत्तियो का परिष्कार तथा सस्कार होता है। अच्छे वुरे का ज्ञान साहित्य द्वारा ही सम्भव है—Poetry is not concerned with telling people what is to do but with extending our knowledge of good and evil." —*Auden*

प्रेमचन्द्र जी ने भी कहा है—**"साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और सुन्दर बनाता है, दूसरे शब्दों में उसकी बदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।"**

यद्यपि कलाकार ससार का शिक्षक है, परन्तु कवि सुधार की बात सौन्दर्य के आवरण में कहता है। इसलिए साहित्य के उपदेश सरस होते हैं। **"कवि संसार के शिक्षक हैं। किन्तु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते, वे सौंदर्य की चरम सृष्टि करके संसार की चित्त शुद्धि करते हैं। यही सौंदर्य की चरमोत्कर्ष साधक सृष्टि काव्य का मुख्य उद्देश्य है। पहला गौण और दूसरा मुख्य।"** —वकिम चन्द्र

साहित्य ही हमारी वृत्तियों का परिष्कार कर हमें ऐसी उच्चभाव भूमि पर ले जाता है जहा हम "अयः निजो परोवा" की भावना से रहित होकर अपने को केवल मनुष्य अनुभव करते हैं तथा मानव मात्र के प्रति हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। कला के द्वारा ही मनुष्य के विचार सस्कृत, उन्नत एव परिष्कृत होते हैं। अतः स्पष्ट है कि कला जीवन से भिन्न कोई अस्तित्व नही रखती और कला का आदर्श एवं उद्देश्य भी होता है। टालसटाय ने एक स्थल पर कहा है—

"कला को बुद्धि द्वारा भाव की ओर अग्रसर होकर विश्व मानव को एक करना होगा। प्रचलित पद्धति और अत्याचार समूह का नाश कर संसार में भगवान का राज, प्रेम का राज स्थापित करना होगा। यह मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।"

सच्चा साहित्य जीवन का तिरस्कार नही कर सकता। "Man does not live by bread alone" अर्थात् मनुष्य केवल रोटी से ही नही जीता है। उसके जीवन को जीवित रखने के लिए सौन्दर्य और रागात्मकता भी अपेक्षित है। किन्तु यह भी ध्रुव सत्य है कि मनुष्य रोटी के बिना भी नहीं जी सकता। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना साहित्य के द्वारा ही आती है। कलाकार लोकहित की भावना प्रयत्न करके अपनी रचनाओ मे नही लाता वह तो स्वतः आ जाती है। अनेक युग व्यतीत हो जाने पर भी बालमीकि, कालिदास, तुलसी तथा सूर अमर है। क्योंकि उनका साहित्य प्रचार का साहित्य नही है, शाश्वत साहित्य है। तो क्या उनके साहित्य का जीवन से कोई सम्बन्ध नही। कवि एक असाधारण प्राणी होता है, अधिक योग्य सुसस्कृत तथा भावुक। अत उसकी कलाकृति जीवन से पृथक् कैसे हो सकती है। वह तो शिवं होने के लिए बाध्य है। अभिप्राय यह है कि सच्चे कलाकार की कृति मे तो सत्य, शिव, सुन्दर की त्रिवेणी प्रवाहित रहती है। क्या प्रसाद जी की "कामायनी" कभी प्राचीन होगी ? कदापि नही। प्रसाद जी ने कामायनी मे जिन सूक्ष्म मानवीय भावनाओ की अभिव्यक्ति की है वे शाश्वत है। और ऐसे कलाकारों के सम्बन्ध मे ठीक ही कहा गया है —

"जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वरा ।
नास्ति येपा यश काये जरामरणजं भयम् ॥"

जिस प्रकार फल मे रस का अस्तित्व रहता है, उसी प्रकार काव्य मे अथवा कला मे शिवत्व की भावना स्वाभाविक रूप से रहती है। कला मनुष्यो के मानसिक स्तर का उन्नयन कर उसमे देवत्व के गुणो की प्रतिष्ठा करती है। इसीलिए तो डा० मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है :—

"मानते हैं जो कला के अर्थ ही
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
वह तुम्हारे और तुम उसके लिए।
चाहिए पारस्परिकता ही प्रिये ॥"

—साकेत. प्रथम सर्ग, पृष्ठ २१

श्रय और प्रेय का समन्वय ही सच्ची कला है। वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी जीवन से सम्बन्धित है। कला ही आन्तरिक तथा वाह्य सौन्दर्य का सम्पादन कर जीवन को सार्थकता प्रदान करती है। कला के द्वारा ही जीवन की पूर्णता और विकास है। वह जीवन की आभा है। आनन्द और सौन्दर्य की प्राप्ति मानव जीवन का लक्ष्य है और उसको प्रदान करने वाली है कला। और उसकी प्रेरणा से ही जीवन सजग रहता है। "वास्तव में कला जीवन की सुन्दरम् में अभिव्यक्ति है। कला अथवा कविता के द्वारा ही हम शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने मे समर्थ होते हैं। इस विपय मे कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्द दृष्टव्य हैं:—

"साहित्य शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है। किन्तु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरंग मिलन साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्भव नही।"

"कला की प्रेरणाओं और प्रयोजन के सम्बन्ध में भारतीय मत"

हमारे यहाँ के विद्वानों ने कला की प्रेरणाओं और प्रयोजनो पर स्वतन्त्र रूप से विचार नही किया है। संस्कृत आचार्यो ने साहित्य की जो प्रेरणाएँ मानी हैं, उन्हे ही हम साहित्य, कला की प्रेरणाएँ और प्रयोजन मान सकते हैं। क्योकि आज कला का प्रयोग जिस अर्थ मे होता है, उनमे साहित्य को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया है।

उपनिषद् ग्रन्थ—उपनिषदो मे यद्यपि पुत्रैपणा, वित्तैषणा और लोकैषणा को प्रेरक शक्ति के रूप में माना है तथापि इनको गौण स्थान देकर आत्मप्रेम को सब क्रियाओ का मूल कारण माना है।

"स होवाच न वा अरे पत्यु: कामाय: पति प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।"

उनके विचार से पति की कामना से पति प्रिय नही होता वरन् आत्मा की कामना से पति प्रिय होता है। इसी प्रकार उन्होने पुत्र और वित्त के सम्बन्ध मे भी कहा है :—

"न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्त प्रियं भवति आत्मनस्तु कामायं वित्तं प्रियं भवति।"

इस प्रकार ऋषि याज्ञवल्क्य ने आत्मप्रेम की श्रेष्ठता दिखाकर मैत्रेयी को आत्मा पर विचार करने का उपदेश दिया था।

काव्य शास्त्र के ग्रन्थ—मम्मट आदि आचार्यो ने आनन्द को काव्य या कला का मूल प्रयोजन माना है। काव्य सस्कृति की चर्चा करते हुए उन्होने उसकी

विशेषता मे "ह्लादकमयी" शब्द का प्रयोग किया है। दूसरे स्थान पर उन्होंने काव्य या कला के प्रयोजन मे आनन्द का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है—"सकल प्रयोजन मौलिभूतं समन्तरमेव रसास्वादनसमद्भभूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्" एक दूसरे स्थल पर उन्होने निम्नलिखित श्लोक मे यही बात व्यक्त की है।

"सकलकरण पर विश्राम श्री वितरणं न सरसकाव्यस्य
दृश्यतेऽथवानिशम्यते सदृशमंशाशमात्रेण।"

इसी प्रकार वक्रोक्ति जीवितकार ने व्यंजित किया है :—

"चतुर्वर्ग फलस्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्,
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।"

आचार्य रुद्रट ने काव्य या कला से सभी मनोभिलाषाओं की पूर्ति माना है :

"अर्थमनर्थोपशम शमसममथवा मत यदेवास्य
विरचितरुचिरसुरस्तुतिरखिलं लभते तदेव कविः॥"

भामह ने काव्य या कला को अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का विधायक माना है।

"धमार्थकाम मोक्षाणा वैंचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्ति च साधु काव्य निवन्धम्॥"

काव्यशास्त्र के ग्रन्थो मे काव्य के विविध प्रयोजनो मे यश प्राप्ति भी काव्य का प्रधान लक्ष्य माना है। मम्मट ने 'काव्यं यशसे' कहकर यश प्राप्ति को प्रथम स्थान दिया है। विल्हण ने 'विक्रमाकदेव चरित' मे इसी बात को इस प्रकार स्पष्ट किया है।

"महीपते सन्ति न यस्य पार्श्वे
कवीश्वरास्तस्य कुतो यशसि
भूपाः कियन्तो न बभवरुण्या
नामापि जानाति न कोऽपि तेषाम्॥"

काव्य का एक प्रयोजन 'कान्तासम्मितयोपदेशयुजे' भी माना गया है। वक्रोक्ति जीवितकार ने निम्नलिखित शब्दो में काव्य के इसी प्रयोजन की ओर सकेत किया है :—

"कटुकौषधवच्छास्त्रम विद्या व्याधिनाशनम्
आल्हाद्यमृतकाव्यमविवेक गदापहम्॥"

भामह ने भी इसी प्रकार लिखा है :—

"स्वादु काव्य रसोन्मिश्र,शास्त्रमत्युपयुञ्जते
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम्।"

'स्वान्तः सुखाय' भी कला का एक प्रयोजन माना गया है। तुलसी ने इसी भावना से अपनी कलाकृति को जन्म दिया :—

"स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भापा निवन्ध मतिमञ्जुल मातनोति ॥"

कभी कभी प्रभु या गुरु प्रसाद से भी कला को जन्म मिलता है। तुलसी, जायसी आदि की रचनाएँ इस हेतु को लेकर लिखी गई थी। तुलसी ने स्पष्ट लिखा है।

"रामप्रसाद सुमति हिय हुलसी, रामचरित मानस कवि तुलसी।"

जायसी ने भी इसी भाव को व्यक्त किया है।

भए प्रसन्न ओहि हजरत ख्वाजे लिए मिरइ जहँ सैयद राजैं।
ओहि सेवत मैं पाई करनी उघरी जीभ, प्रेम कवि वरनी ॥'

इसके अतिरिक्त धन के अर्थ, व्यवहार जानने के लिए, अनिष्ट निवारण के निमित्त तथा शान्तिजन्य आनन्द के लिए भी काव्य या कला का रचना होती है।

वहुत से लोग कला को नीति से पृथक् मानते हैं। परन्तु विश्व की कोई भी कलाकृति ऐसी नही है जिसमे नीति भावना को किसी न किसी रूप में स्थान न मिला हो। नीति से विरहित कला मानव को उच्छृंखल बना देगी तथा उसका कुछ भी पथ प्रदर्शन न कर सकेगी। नीति ही कला को वल प्रदान करती है। कुछ मनुष्यों ने नीति को कला सर्जन का मूल लक्ष्य माना है। ऐसे लोग 'व्यवहार विदे' वाले प्रयोजन को मानने वाले हैं। कला मे नीति की प्रतिष्ठा होने पर ही मानव को व्यवहारिक ज्ञान की प्राप्ति होती है। संस्कृत मे पचतंत्र और हितोपदेश की रचनाएँ इसका सुन्दर उदाहरण हैं। इन ग्रन्थों का महत्त्व तो इसी वात से स्पष्ट है कि 'वाइविल' के पश्चात् पंचतंत्र ही ऐसा ग्रन्थ है जिसका अनुवाद संसार की अनेक भाषाओ में हुआ है। पंचतन्त्र की रचना का उद्देश्य महिलारोप्य के मूर्ख राजकुमारों को व्यवहार कुशल वनाना है।

कला जीवन की सुन्दरम् मे अभिव्यक्ति है। अतः कला तथा जीवन का अन्योन्याश्रय सम्वन्ध है। कला को जीवन से पृथक् कर देने पर उसका कुछ भी महत्त्व नही रह जाता। श्रेष्ठ कला मे तो श्रेय और प्रेय का सुन्दर समन्वय रहता है। सत्यं, शिवं, सुन्दरं की त्रिवेणी उसमे प्रवाहित होती है। श्रेष्ठ कला का प्रयोजन शिवं की स्थापना करना होना चाहिए। अतः वहुत से लोगों ने शिवं की स्थापना या कल्याण विधान को भी काव्य का प्रधान प्रयोजन माना है। संस्कृत की '**सा विद्या या विमुक्तये**' वाली उक्ति से यही भाव ध्वनित होता है। अतः कल्याण विधान भी काव्य का एक लक्ष्य हो सकता है। तुलसी का 'रामचरित मानस' आदि काव्य सर्वभूत हित को ही दृष्टि मे रखकर लिखे गये थे। इन ग्रन्थों ने कितने अन्धकारमय हृदयो को आलोकित किया होगा इसका अनुमान नही किया जा सकता।

कला के प्रयोजन के सम्बन्ध में पाश्चात्य मत

के लिये उन्होंने Pleasure, Delight, Joy, Happiness आदि शब्द प्रयुक्त किये हैं। किसी ने कला का लक्ष्य "Supreme happiness" और किसी ने "Joy for ever" माना है। ऐरिस्टोटिल ने भी इसी प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है—उसने लिखा है—"The object of Poetry as of all the fine arts is to produce an emotional delight a pure and elevated pleasure," आगे वे लिखते हैं—"It is a moment of joy complete in itself and belongs to the ideal sphere of supreme happiness." अरस्तु ने और भी शब्दों का प्रयोग किया है—"A sane and wholesome pleasure, noble emotional satisfaction, refind pleasure."

पाश्चात्य साहित्य में कला के बहुत से प्रयोजन माने गये हैं। जिनमें से नौ प्रसिद्ध हैं। वे इस प्रकार हैं :—

१—Art for Art's sake, कला कला के अर्थ।
२—Art for life's sake, कला जीवन के अर्थ।
३—Art as an escape from life, कला जीवन से पलायन के अर्थ।
४—Art as an escape into life, कला जीवन मे प्रवेश के लिए।
५—Art for service's sake, कला सेवा के अर्थ।
६—Art for self-realization, कला आत्मानुभूति के अर्थ।
७—Art for joy, कला आनन्द के अर्थ।
८—Art for recreation, कला विनोद के अर्थ।
९—Art as creative necessity, कला सृजन की आवश्यकता-पूर्ति के अर्थ।

ये सब प्रयोजन एक दूसरे से नितान्त भिन्न नही हैं। परन्तु इनमे दृष्टिकोण की भिन्नता है। इन सब प्रयोजनो मे "कला कला के लिए" तथा "कला जीवन के लिए" का विशेष महत्त्व है।

द्वितीय अध्याय

काव्य

काव्य का स्वरूप-निरूपण

संस्कृत के विद्वानों ने साहित्य तथा काव्य को पर्यायवाची माना है। उनकी जो काव्य की परिभापाएँ हैं, वे ही साहित्य की भी परिभाषाएँ हैं। हमने साहित्य को काव्य का व्यापकतम रूप माना है। अतः हम सुविधा के लिए काव्य तथा साहित्य का विवेचन पृथक्-पृथक् करेंगे। यद्यपि काव्य का प्रयोग साहित्य के ही अर्थ में किया गया है तथापि इस स्थल पर हम उसका संकुचित तथा पारिभाषिक अर्थ ही लगे।

काव्य तथा साहित्य—कविराज राजशेखर, मुकुलभट्ट, प्रतिहारेन्दु राज और मंखक आदि संस्कृत के विद्वानों ने साहित्य शब्द का प्रयोग काव्य के अर्थ मे ही किया है। डा० श्यामसुन्दरदास जी न काव्य का विवेचन करते समय लिखा है—**"भिन्न-भिन्न काव्य कृतियों का समष्टि-संग्रह ही साहित्य है। इसी विचार से संग्रह रूप में जो साहित्य है, मूलरूप मे वही काव्य है। किसी देश विशेष में किसी काल विशेष में अनेक काव्य ग्रन्थ लिखे जाते हैं। वे ही उस देश के उस काल के साहित्य कहलाते हैं। साहित्य और काव्य में केवल व्यावहारिक भेद मानना चाहिए।"** इस व्याख्या से स्पष्ट है कि डा० श्यामसुन्दर दास जी ने काव्य को साहित्य का व्यष्टि रूप माना है। काव्य कृतियाँ ही एकत्र होकर साहित्य की संज्ञा धारण करती हैं। प्रायः संस्कृत मे काव्य शब्द से गद्य, पद्य और चम्पू का बोध होता है। एक दृष्टि से यह काव्य का पूर्ण और व्यापक स्वरूप है। साहित्यिक अभिव्यक्ति कभी गद्य के माध्यम से की जाती है, कभी पद्य की प्रणाली से और कभी गद्य, पद्य के सम्मिश्रण द्वारा यह कार्य सम्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त नाटकीय कथोपकथन की चौथी शैली भी मानी जा सकती है।

साहित्य भाव जगत की सृष्टि है। मनुष्य की चैतन्य वृत्तियाँ अनेक रूपों द्वारा इस भाव-जगत का निर्माण करती हैं। कभी बाह्य सृष्टि की वस्तुयें, कभी अपने ही हृदय की कल्पनायें मनुष्य हृदय को भावमय बनाती हैं। यह भाव जगत अपने में पूर्ण तथा निरपेक्ष है। साहित्य इसी भावचक्र के सहित रहता है। काव्य का विषय भी यही है। **"परन्तु व्यष्टिरूप से एक-एक काव्य-कृति का सम्बन्ध उसके रचयिता और उस रचयिता के उन भावों से है जिन्हें उसने उन अपार भावभेद से लेकर उस कृति विशेष में संग्रह या संचय किया है। भिन्न-भिन्न रचनाकार अपनी भिन्न-भिन्न काव्य रचनाओं में उसी अपार भावभेद की निधि से अपने मनोनुकूल मणि रत्न चयन करते हैं और युग-युग में यही क्रिया सतत क्रियमाण होती रहती**

है। इसी क्रिया का सामूहिक प्रतिफल 'साहित्य कहलाता है। अतः साहित्य को हम भाव जगत का प्रतीक कहते हैं। काव्य में एक-एक व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि तथा शक्ति के अनुसार भावों की एक नियमित मात्रा को एक विशेष भाषा और परिमित शब्द शक्ति द्वारा प्रकट करता है।"

डा० श्यामसुन्दर दास जी लिखते हैं—"काव्य शब्द का वही अर्थ है जो साहित्य शब्द का वास्तविक अर्थ है।" आगे चल कर वे लिखते हैं—"काव्य वह है जो हृदय में अलौकिक आनन्द या चमत्कार की सृष्टि करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य कला है और "काव्य" शब्द साहित्य का समानार्थक है। बहुत से लोग काव्य को कविता के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं; किन्तु यह ठीक नहीं क्योकि कविता काव्य का एक अग मात्र है। कविता के अतिरिक्त अनेक प्रकार की रचनाएँ काव्य अथवा साहित्य की श्रेणी में आती है। किसी पुस्तक को हम साहित्य या काव्य की उपाधि तभी दे सकते हैं जब जो कुछ उसमें लिखा गया है वह कला के उद्देश्यों की पूर्ति करता है। यही एक मात्र उचित कसौटी है। साहित्य के अन्तर्गत कविता, नाटक, चंपू, उपन्यास, आख्यायिकाएँ आदि सभी आ जाते हैं। ज्योतिष, गणित, व्याकरण, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के ग्रन्थ साहित्य में परिगणित नहीं हो सकते।"

काव्य या साहित्य की व्याख्या करने के उपरान्त अब हम भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टिकोणो से काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

संस्कृत मे काव्य की व्याख्या :—विश्व के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में दृष्टा कहता है—"मैं अपने कवित्व को बादलों में से फूटकर बाहर आने वाली पावस की धारा समझता हूँ।" इस प्रकार दृष्टा ने निर्बाध और प्रवेगपूर्ण अभिव्यक्ति को काव्य की संज्ञा दी।

श्रीमद्भगवद् गीता में भी काव्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है—

"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥" —गीत १७।१५

इस परिभाषा के अनुसार काव्य वह है जो किसी के लिए उद्वेगकर न हो तथा जो सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का सुन्दरतम निर्देशन हो।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र मे काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"मृदुललित पदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं,
स भवति शुभकाव्य नाटकपेक्षकाणाम्॥"

अर्थात् "जो कोमल और ललित पदों से युक्त, गूढ़ शब्द और अर्थ से विरहित, सर्व ग्राह्य, सबको सुख देने वाला, नृत्य में प्रयुक्त किए जाने योग्य रस

की विविध धाराएँ प्रवाहित करने वाला, सन्धियों के सन्धान से युक्त हो वही सर्व श्रेष्ठ काव्य कहा जाता है।"

अग्निपुराण में दी गई काव्य की परिभाषा विचारणीय है—

"संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थं व्यवच्छिन्नापदावली।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम्॥"

अर्थात् जिसमें संक्षिप्त वाक्यों द्वारा अभीष्ट अर्थ व्यक्त हो, अविच्छिन्न पदावली से युक्त हो, तथा जो अलङ्कार तथा काव्य गुणों से भूषित हो, जिसमें दोषों का अभाव हो तो उसी रचना को काव्य की संज्ञा देंगे।

संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पंडित भामह ने शब्द और अर्थ के सहित की बात कह कर उसे काव्य की संज्ञा दी—

"शब्दार्थौ सहितो काव्यम्।"

भामह के पश्चात् रुद्रट तथा मम्मट आदि आचार्यों ने इस विषय में भामह का ही अनुकरण किया है। रुद्रट ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

"ननु शब्दार्थौ काव्यम्।"

रुद्रट ने काव्य में रस की स्थिति भी मानी है।

दण्डी की काव्य परिभाषा इस प्रकार है :—

"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।" —काव्यादर्श १।१०

वामनः—वामन ने काव्य की आत्मा रीति माना है—

"रीतिरात्मा काव्यस्य"

वामन ने काव्य में गुण तथा अलंकार को अनिवार्य माना है :—

"काव्यशब्दोऽय गुणालङ्कारसस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।"

मम्मटाचार्य :—काव्य प्रकाशकार मम्मट ने काव्य की परिभाषा मे शब्द और अर्थ दोनो को ही प्रधानता दी है। उन्होंने इस रचना को जो दोषरहित हो, गुणो से युक्त हो तथा जिसमे कही-कही अलकार न भी हो—काव्य कहा है—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुनः क्वापि" —काव्य प्रकाश

साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने इसकी बडी कठोर आलोचना की है। प्रथम यह है कि "अदोषौ' एक अभावात्मक गुण है। बहुत सी उच्चकोटि की कविताओ मे भी कुछ न कुछ दोष पाया जाता है। फिर क्या वे काव्य कहलाने के अधिकारी नही। इसके अतिरिक्त अलकारो के बिना भी काव्य कभी-कभी रह सकता है। गुण-दोप तो बाद की वस्तुएँ हैं, ये अङ्ग है अङ्गी नही।

विश्वनाथ :—इसलिए विश्वनाथ ने काव्य की आत्मा रस माना और रस-युक्त वाक्य को काव्य की संज्ञा दी। वे लिखते हैं :—

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।" —साहित्य-दर्पण

इस परिभापा के अन्तर्गत वाक्य में अभिव्यक्ति का पक्ष आ गया है और रस में अनुभूति का। इस परिभाषा के विरुद्ध केवल यही आपत्ति है कि इसमें रस को प्रधानता दी गई है। रस एक ऐसा शब्द है जो स्वयं बोधगम्य नही और काव्य के समान ही क्लिष्ट है।

जयदेव :—जयदेव ने चन्द्रालोक मे जो काव्य का लक्षण दिया है वह भी दृष्टव्य है :—

"निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूपिता।
सालंकाररसानेक वृत्तिवाक्काव्यनामभाक्॥"

अर्थात् वह वाणी जिसमें दोषो का अभाव हो, लक्षणों से सम्पन्न हो, रीति और गुण से युक्त हो, अलंकार और रस से विभूषित हो—काव्य है।

पंडितराज जगन्नाथ :—पडितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को काव्य माना है.—

"रमणीयार्थः प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"

यह परिभाषा संस्कृत की अन्य परिभापाओ की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण है। इसमे रमणीय शब्द दृष्टव्य है। रमणीय का अर्थ है अलौकिक चमत्कार की अनुभूति। ऐसी रमणीयता के वाहक जो शब्द हैं वे ही काव्य की सज्ञा पाते है। परन्तु ससार के आनन्द तथा इस आनन्द मे महान अन्तर है। भौतिक या लौकिक आनन्द नश्वर होता है। किन्तु काव्यानन्द शाश्वत तथा अलौकिक होता है।

आनन्दवर्धन :—ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर काव्य की परिभाषा की है—"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति।"

कुन्तक :—वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक ने वक्रोक्तिगर्भित शब्दार्थ को काव्य माना है :—

"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाल्हादकारिणी॥"   —वक्रोति जीवित

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत के आचार्यों ने काव्य की विवेचना बड़े विस्तृत रूप मे की है। उन्होने काव्य पर दो दृष्टियो से विचार किया है—एक, काव्य के बाह्य की दृष्टि से, दूसरा उसके आत्मा की दृष्टि से। काव्य के बाह्य शरीर से सम्बन्धित मत दो प्रकार के हैं—एक शब्दनिष्ठ सम्बन्धी, दूसरा उभयनिष्ठ सम्बन्धी। शब्दनिष्ठ वालो ने शब्द और अर्थ का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध माना है। शब्दनिष्ठता से अर्थनिष्ठता स्वतः व्यंजित हो जाती है।

काव्य की आत्मा के सम्बन्ध मे विद्वान एक मत नही है। कुछ विद्वानों ने काव्य की आत्मा-रस मानी है। कुछ ध्वनि को, कुछ अलंकार को काव्य की आत्मा मानते हैं।

हिन्दी विद्वानों द्वारा निरूपित काव्य का स्वरूप—हिन्दी विद्वानों ने

काव्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'काव्य-और कविता' शीर्षक लेख में काव्य को सरल, प्रत्यक्षमूलक और रागात्मक होना माना है। वे कविता में असलियत पर बल देते हुए लिखते हैं:—

"सादगी, असलियत और जोश यदि यह तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है। सादगी और असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।"

असलियत शब्द का प्रयोग द्विवेदी जी ने व्यापक रूप में किया है। उन्होंने काव्य का सबसे बड़ा गुण नई-नई बातों की उद्भावना माना है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रागात्मक तत्त्व को प्रधानता देते हुए "कविता क्या है" शीर्षक लेख में काव्य के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किये हैं:—

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते है। और कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं।"

शुक्ल भी कोरे चमत्कारवाद के पक्ष मे नही हैं। उन्होंने काव्य को लोक-हित से समन्वित माना है। उन्होने वाह्य जगत और भाव जगत का सामंजस्य विधान किया है। आचार्य द्विवेदी जी ने चमत्कारवाद को कुछ अधिक महत्त्व दिया है। चमत्कार का समर्थन करते हुए वे "रसज्ञ रञ्जन" मे क्षेमेन्द्र का मत देते हुए लिखते हैं:—

"शिक्षित कवि की उक्तियों में चमत्कार का होना परमावश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नहीं, कोई विलक्षणता नहीं तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्षेमेन्द्र के विचार से —"नहि चमत्कार रहितस्य कवेः कवित्वं, काव्यस्य वा काव्यत्वम्।" द्विवेदी जी ने रस को भी महत्त्व दिया है और इस सम्बन्ध मे उन्होने कण्ठ चरित के कर्त्ता का उदाहरण दिया है:—

"तैरतैरलंकृतिशतैरवतंसितोऽपि
रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि।
नूनं विना घनरस प्रसराभिषेकं
काव्याधिराज पदमर्हति न प्रबन्धः॥"

अर्थात "सैकड़ों अलंकारों से अलंकृत उच्चासन पर आरूढ़ होकर भी और

सब प्रकार का सौष्ठव धारण करके भी रसधारा के अभिषेक के बिना काव्याधिराज पदवी को नहीं प्राप्त होता।"

शुक्ल जी ने उसी चमत्कार को स्वीकार किया है जो भाव-प्रेरित हो। वह लिखते हैं—"उक्ति की तह में उसके प्रवर्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो, काव्य की समरसता बराबर पाई जायगी।" शुक्ल जी ने केवल चमत्कार को सूक्ति माना है।

जयशंकर प्रसाद—प्रसाद जी ने काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति माना है। वे लिखते हैं—"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह श्रेयमयी प्रेय, रचनात्मक ज्ञान-धारा है।" इस परिभाषा में सत्य और सौन्दर्य के सम्बन्ध मे आत्मा की सहज वृद्धि को विशेष महत्त्व दिया गया है। यह परिभाषा जानसन की परिभाषा से मिलती जुलती है जिसमे सत्य और प्रसन्नता की बात कही गई है।

इस परिभाषा मे कवि को प्रधानता दी गई है। पाठक और अभिव्यक्ति को गौण माना गया है।

प्रेमचन्द—प्रेमचन्द ने काव्य को जीवन की आलोचना माना है। उनकी परिभाषा जानसन की परिभापा के अधिक निकट है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी काव्य परिभाषा में पाश्चात्य विद्वानो के काव्य सम्बन्धी मत का अनुसरण किया है। परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा प्रसाद जी भारतीय काव्य सम्बन्धी मत के अनुयायी हैं।

पाश्चात्य विद्वानों के काव्य सम्बन्धी मत—पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। होरेस ने अपने 'Art of Poetry' नामक निबन्ध मे कवि और चित्रकार के कार्य को समान मानते हुए लिखा है—

"Painters you say and poets have always had a reasonable licence to venture on what they will."

मेकॉले—मेकॉले ने काव्य को शब्दों की चित्रकला माना है—

"By poetry we mean the art of employing words in such a manner as to produce an illusion on the imagination the art of doing by means of words, what the painter does by means of colours.

शैली—शैली ने कविता को महान सत्य की अभिव्यक्ति माना है—

"Poets are all who love and feel great truths and tell them."

मिल—मिल ने काव्य में भावना को प्रधान माना है।

विल्सन—विल्सन् ने अपनी परिभाषा मे बुद्धि और भावना का मिश्रण किया है—

"Poetry is the intellect coloured by feelings."

वर्डस्वर्थ—वर्डस्वर्थ ने भाव को प्रधानता दी है। वे लिखते हैं कि "काव्य शान्ति के समय में स्मरण किये हुए प्रबल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह है।"

शेक्सपीयर—शेक्सपीयर ने कल्पना को प्रधानता दी है। वे लिखते हैं कि—"कवि की कल्पना अज्ञात वस्तुओं को रूप देती है, उसकी लेखनी वायवी नगण्य अस्तित्व शून्य पदार्थों को भी मूर्त बनाकर नाम और ग्राम प्रदान करती है।

मिल्टन—मिल्टन ने कविता को सादा, प्रत्यक्ष मूलक और रागात्मक कहा है—

"Poetry should be simple, sensuous and impassioned."

कॉलरिज—कॉलरिज ने अभिव्यक्ति को प्रधानता देते हुए कहा है कि कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम विधान है—

"Poetry is the best words in the best order."

कॉरलायल—कॉरलायल ने काव्य की संगीतमयता पर बल दिया है। कविता मनोवेगमय और संगीतमय भाषा मे मानव अन्तःकरण की मूर्त और कलात्मक अभिव्यक्ति है।

मेथ्यू आर्नल्ड—मेथ्यू आर्नल्ड ने कविता को मूल में जीवन की आलोचना कहा है। "Poetry is at bottom a criticism of life." इस परिभाषा मे भावात्मकता का अभाव सा प्रतीत होता है।

हडसन—हडसन ने अपनी परिभाषा में उक्त दृष्टियों का समन्वय सा कर दिया है। उनका कथन है कि कविता कल्पना और मनोवेगों द्वारा जीवन की व्याख्या करती है—"Poetry is an interpretation of life through imagination and emotion." परन्तु इसमें अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का अभाव है।

जानसन—जानसन ने अपनी परिभाषा में प्रायः चारों तत्त्वों का समावेश करने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि "कविता सत्य और प्रसन्नता के सम्मिश्रण की कला है। जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है।" कला शब्द में अभिव्यक्ति भी आ जाती है—"Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason."

हेजलिट्—हेजलिट् ने अपने "Lectures on English Poets" में काव्य को कल्पना की भाषा कहा है।

एडगर—एडगर एलन ने काव्य को सौन्दर्य की संगीतात्मक सृष्टि कहा है।

समन्वय—उपरोक्त सभी परिभाषाएँ पूर्ण नही कही जा सकती वे एकांगी हैं। क्योंकि किसी में भावपक्ष पर अधिक बल दिया गया है और किसी में कलापक्ष पर। परन्तु साहित्य का शरीर तो भावपक्ष और कलापक्ष के उचित मिश्रण से निर्मित होता है। भावपक्ष का सम्बन्ध हे अनुभूति से और कलापक्ष का उस अनुभूति को प्रकट करने की प्रणाली विशेष से है। जिस प्रकार शब्द की सार्थकता वायु के झकोरो मे नही है वरन् कहने और सुनने वाले के साम्य मे है। उसी प्रकार साहित्य की सार्थकता लेखक और पाठक के भाव साम्य मे है। उसी भाव साम्य में अर्थ का पूर्णातिपूर्ण विकास होता है। जिस प्रकार कवि मे विश्व मे व्याप्त भावनाओं की ग्राहकता एवं विस्तारक शक्ति होती है, वैसी ही सहृदय पाठक मे भी कवि के सूक्ष्म भावों को मूर्तता प्रदान करने की शक्ति रहती है।

अन्त मे उपरोक्त परिभाषाओ का समन्वय करके हम काव्य की परिभाषा गुलाबराय जी के शब्दो मे इस प्रकार दे सकते हैं:—

"काव्य संसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान किन्तु शुद्ध वैयक्तिक सम्बन्धों से युक्त मानसिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना के ढाँचे में ढली हुई श्रेय का प्रेय रूप उद्घाटन करने वाली प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।"

इस परिभाषा मे प्रायः सभी बातें आ गई हैं।

काव्य के तत्त्व

काव्य की परिभाषा के सम्बन्ध मे मतभेद होते हुए भी अधिकाश व्यक्ति **"वाक्यं रसात्मकं काव्यं"** को ही काव्य की प्रामाणिक परिभाषा मानते हैं। इसमे रस द्वारा वाक्य के भावपक्ष की और वाक्य द्वारा अभिव्यक्ति या कलापक्ष की व्यंजना की गई है। कलाकार सहृदय तथा भावुक प्राणी होता है। वह अपनी बात अपने समान धर्मियों तक पहुँचाना चाहता है। "स्वान्तः सुखाय" रघुनाथ गाथा लिखने वाले गोस्वामी जी को भी बुद्धजनो के आदर की चिन्ता थी—

"जो प्रवन्ध बुध नहिं आदरही, सोकत वादि वाल कवि करही।"

यह काव्य की प्रेषणीयता है। इसी मे कला की सामाजिकता है।

भावपक्ष की सृष्टि और पुष्टि के लिए विभावपक्ष की भी आवश्यकता होती है। कवि वाह्य संसार को ज्यो का त्यो नही लेता है वह उसको आस्वाद्य योग्य बना कर तथा उनको मनोरम और भावानुकूल रूप देकर विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इसके लिए उसे कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। कल्पना को नियन्त्रित रखने अर्थात् कल्पना को काव्यगत सत्य की सीमा से बाहर न जाने देना और उसमें व्यवस्था औचित्य और आदर्शो की स्थापना के लिए बुद्धि की आवश्यकता होती है।

इस सब सुव्यवस्थित सामग्री को दूसरे तक पहुँचाने और प्रभावोत्पादक बनाने के अर्थ सुन्दर शैली भी वांछनीय होती है। इसीलिए डा० श्यामसुन्दरदास को कहना पड़ा है—"कुछ विद्वानों का मत है कि बुद्धितत्त्व, कल्पना तत्त्व और भावतत्त्व के अतिरिक्त एक चौथा तत्व भी है जिसे शैली या रूप चमत्कार कह सकते है।"

इस प्रकार काव्य के चार तत्त्व होते हैं:—

(१) मूल उपादान स्वरूप भावतत्त्व या रागात्मक तत्त्व।

(२) भावतत्त्व का आधार उपस्थित करने के लिए कल्पना तत्त्व।

(३) कल्पना को सुव्यवस्थित करने के लिए बुद्धि तत्त्व।

(४) इस सुव्यवस्थित सामग्री को प्रभावात्मक रूप से दूसरो तक पहुँचाने के लिए शैली तत्त्व या रूप तत्त्व।

सत्साहित्य मे यह चारो तत्त्व किसी न किसी रूप मे वर्तमान रहते हैं। साहित्य के अभिधान के लिए इन चारों तत्त्वो का समावेश आवश्यक है।

१. **भावतत्त्व**—यही काव्य का मूल तत्त्व है। काव्य के अन्य तीन तत्त्व कल्पना तत्त्व, बुद्धितत्त्व और शैली तत्त्व ये भाव तत्त्व पर आश्रित हैं। यही वह तत्त्व है जो काव्य को विज्ञान और इतिहास से पृथक् करता है। गुलाबराय जी इसके विषय मे लिखते हैं—"राग ही सत्य और शिव को सौन्दर्य प्रदान करता है और इसके साथ निजी सम्बन्ध स्थापित करता है। राग ज्ञान को आकर्षक बनाता है और क्रिया को गति या प्रेरणा देता है। हमारी मनोवृत्तियों के क्रियात्मक विभाग में राग या भावना ज्ञान और क्रिया के बीच की कड़ी होने के कारण केन्द्रीय वस्तु है। रागात्मक तत्त्व में ही कवि की अनुभूति रहती है। अनुभूति के बिना कल्पना निरर्थक और निराधार रहती है। कवि अपनी अनुभूति को कल्पना द्वारा सजीव बनाकर दूसरों तक पहुँचाता है। प्रेषणीयता केवल शैली का ही विषय नहीं है, वरन् भावना से भी सम्बन्धित है। वह शैली की चालक शक्ति है। कल्पना की सार्थकता भी भावनायें ही हैं। कल्पना भावना की परिचारिका है।" इस ससार में हम जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त करते हैं वह भावों के ही द्वारा होता है। इसी भाव के कारण "हम" और "तुम" का विभेद माना जाता है। भाव प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरात्मा का एक विशेष धर्म है।

भावो का जन्म अनुभूति से होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "चिन्तामणि" के "भाव या मनोविकार" शीर्षक लेख में भाव की परिभाषा इस प्रकार दी है—"नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के जो भिन्न-भिन्न योग संगठित होते है वे भाव या मनोविकार कहलाते है।"

शुक्ल जी के कथनानुसार निश्चयात्मिका बुद्धि विकास के साथ-साथ अनुभूतियो की अनेक रूपता का भी विकास होता है। बालको में निश्चयात्मिका बुद्धि अल्पमात्रा

में होती है इसलिए उन्हें विषयों का बोध सामान्य रूप मे होता है। उनकी अनुभूतियाँ भाव दशा तक नही पहुँच पाती। वे ही मनोविकार भाव कहलाने के अधिकारी हैं जिनमे नाना प्रकार की अनुभतियों का योग होता है।

श्री लक्ष्मी नारायण "सुधांशु" का भाव के सम्बन्ध मे इस प्रकार मत है — "मनुष्य के हृदय में बाह्य जगत की संवेदनाओ के कारण विकार उठते हैं, वे परस्पर मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।"—"जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त"

श्री गुलाबराय जी ने अपने "सिद्धान्त और अध्ययन मे लिखा है—"साहित्य के भाव मनोविज्ञान के भाव से भिन्न होते हैं। ये भाव मन के उस विकार को कहते है जिसमें सुख-दुखात्मक अनुभव के साथ कुछ क्रियात्मक प्रवृत्ति भी रहती हैं।" मनोविकारो को शाब्दिक, मानसिक, या शारीरिक किसी भी क्रिया द्वारा प्रकट हो जाने पर ही भाव की सज्ञा दी गई है।

श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने सस्कृत आचार्यों के अनुसार भाव को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उन्होने भाव की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

"देव आदि विषयक रति सामग्री के अभाव में उद्‌बुद्ध-मात्र अर्थात् रस रूप को अप्राप्त रति आदि स्थायी भाव और प्रधानता से व्यजित निर्वेदादि सचारी इनकी भाव सज्ञा है।

"साहित्य दर्पण" मे विश्वनाथ ने भी इसी प्रकार की परिभाषा दी है। वे लिखते हैं :—

"सचारिणी प्रधानानि देवादि विषयारतिः।
उद्‌बुद्ध मात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयतेः॥"

अर्थात् 'जहाँ निर्वेदादि संचारी भाव स्थायी भाव के अग न होकर प्रधान रूप से व्यक्त किये गये हों, देव, पुत्र, मित्र गुरु आदि विषयक रति हो, जहाँ स्थायी भाव रस रूप में पुष्ट न होकर उद्‌बुद्ध मात्र रहते हैं वहाँ भाव की स्थिति रहती है।"

इस परिभाषा के अनुसार भाव के तीन तत्त्व हुए :—

१. देवादि विषयक रति।
२. उद्‌बुद्ध भाव स्थायी भाव अर्थात् वे स्थायी भाव जो अनुभाव विभाव आदि से पुष्ट न हो।
३. प्रधान रूप से व्यक्त किये हुए संचारी भाव।

अतः भाव मानव हृदय के वे उद्‌बुद्ध मनोविकार हैं जो प्रसुप्तावस्था मे मानव हृदय मे (जीवन और जगत के सम्पर्क से उत्पन्न होकर) एकत्र होते रहते हैं।

भाव का सम्बन्ध वास्तव मे मन है। मन अन्तरात्मा की एक कार्यकारिणी शक्ति है। अतएव भाव इसी कार्यकारिणी शक्ति का एक विकार मात्र है। मनुष्य की जितनी इच्छाएं होती हैं, उतने ही प्रकार के भाव भी होते हैं। परन्तु इच्छाओं

की संख्या की गिनती असंख्य होने के कारण भावों की गिनती करना भी कठिन है। विचार करने पर भावों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

१. इन्द्रिय जनित भाव।
२. प्रज्ञात्मक भाव।
३. गुणात्मक भाव।

१. **इन्द्रिय जनित भाव**—सबसे प्रथम सबसे सरल माध्यम, जिसके द्वारा अन्तरात्मा अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, हमारा यह स्थूल शरीर ही है। मन की रचना ऐसी अद्भुत है कि शरीर के किसी अग मे किसी प्रकार का विकार होते ही आत्मा की भावुकता के कारण चट उसका स्वाद मन तक पहुँच जाता है। स्वयं मानव-शरीर मे जब किसी बात की आवश्यकता होती है, तब उसका भी स्वाद मन तक पहुँच जाता है। और 'मन' उस आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए अपनी शक्ति लगाने लगता है। उन आवश्यकताओ के पूर्ण हो जाने पर आनन्द होता है और पूर्ण न होने की अवस्था मे दुःख का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार के भावों को इन्द्रिय जनित भाव कहते हैं।

२. **प्रज्ञात्मक भाव**—दूसरे प्रकार के भाव वे हैं जो मन की ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करने वाली शक्ति से सम्बन्ध रखते हैं। इसके द्वारा हम संसार के सब अनुभवों को एकत्र करके उनसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इन्द्रिय जनित भावो और इन भावों मे यह अन्तर है कि वे सीधे इन्द्रिय ज्ञान से प्राप्त होते हैं। और यह भूत, भविष्य और वर्तमान अनुभवों द्वारा उन इन्द्रिय जनित भावों को विशेष रूप से पुष्ट करते हैं।

३. **गुणात्मक भाव**—तीसरे प्रकार के भाव गुणात्मक कहलाते हैं। मन अपनी इस शक्ति के द्वारा मनुष्य के विचारो को एकत्र करके किसी विशेष लक्ष्य का स्वरूप खड़ा करने तथा उस लक्ष्य को पूर्णतया प्राप्त करने मे प्रयत्नशील होता है। मन की इस शक्ति से ही गुणात्मक भाव उत्पन्न होते हैं। गुणात्मक भाव इन्द्रिय जनित और प्रज्ञात्मक भावो से अधिक व्यापक तथा तीव्र होते हैं। गुणात्मक भाव ही रागात्मक सम्बन्ध को विकसित करते हैं। गुणात्मक भावो मे आलम्बन विशेष की प्रधानता रहती है।

भावानुभूति और रस—काव्य का लक्ष्य रस परिपाक करना है। रस परिपाक मे भाव का विशेष स्थान है। इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भरतमुनि ने भी इस बात को स्पष्ट किया है—**"न भाव हीनोऽस्ति रसो न भावो रस वर्जितः।"**

रस निष्पत्ति भावो के विभिन्न स्वरूपों के योग से होती है —**"विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगात् रस निष्पत्ति"** भरतमुनि के इस रस सूत्र मे विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि शब्द भाव के विभिन्न रूप हैं। भाव रस से पुष्ट होकर विभाव अनुभाव आदि का रूप ग्रहण करते हैं। इन्ही के उचित योग से पाठक का

हृदय साधारणीकृत हो पाता है। साधारणीकरण रसानुभूति की पराकाष्ठा है। रसानुभूति की अवस्था मे ही कवि की भावनाएँ सर्व साधारण की भावनाएँ हो जाती हैं बूचर ने इसी को "Purification of passions" कहा है। चार्ल्स विलियम ने भी भाव के हृदय सामजस्य मे ही कला की स्थिति मानी है। कला रस रूप आनन्द तभी प्रदान करती है, जब उसमे मानव मात्र की भावनाओं से तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता हो। बूचर ने लिखा है कि काव्य का लक्ष्य आनन्द की सृष्टि करना है। वर्डस्वर्थ ने आनन्द के लिए Passion का कीट्स ने Joy का और क्रोचे ने Pure Poetic Joy का प्रयोग किया है। उपनिषदो मे आनन्द रूप ब्रह्म को "रसोवैस." कहकर रसमय कहा है। साहित्य के आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। हेमचन्द्र ने लिखा है कि "आनन्द रसास्वाद से उत्पन्न होता है। रसास्वाद कवि की भावनाओ का ही किया जाता है। आत्मा की मनन क्रिया ही, जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है साहित्य कहलाती है। काव्य या साहित्य मानवीय अनुभवों को अभिव्यक्त करने की कला है। इस प्रकार भाव और रस परस्पर सम्बन्धित तत्त्व हैं।" श्रेष्ठ काव्य वही होता है जिसमे रस रूप भावपक्ष का सुन्दर योग होता है।

भावानुभूति और रसानुभूति मे बहुत कम तात्त्विक अन्तर है। भावानुभूति की स्थिति कलाकार मे और रसानुभूति की स्थिति पाठक या श्रोता में होती है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नही है कि कलाकर रसानुभूति से और पाठक काव्यानुभूति से वचित रहता है। दोनो ही एक वस्तु के दो पहलू हैं। कवि मे कल्पना की प्रधानता होती है और पाठक मे ग्राहकता की। सौन्दर्यानुभूति ही भावों की सृष्टि करती है। भावो से आन्दोलित होने पर ही कलाकार काव्य को जन्म देता है। पाठक या श्रोता भावो की इसी रसानुभूति का आनन्द लेता है। परन्तु कविता का आनन्द सहृदय व्यक्ति ही ले सकता है। सस्कृत के एक कवि ने इसी बात को व्यक्त किया है :—

"कविता रस माधुर्यं कविर्वेत्ति न तत्कवि।
भवानी भ्रकुटीभङ्गं भवोवेत्ति न भूधरः॥"

अर्थात् "कविता के रस माधुर्य को अन्य कवि या सहृदय जन ही जान सकते है न कि उसका रचयिता कवि, जैसे कि भवानी के भ्रूविलासों को भवानीभर्ता भव ही जानते है। उनके जनक हिमालय नहीं जान सकते।"

इस प्रकार कवि की भावानुभूति की अपेक्षा रसानुभूति का अधिक महत्त्व है। विंचेस्टर ने भावो को उद्दीप्त कर रस दशा को पहुँचाने वाले निम्नलिखित पाँच तत्त्व माने हैं :—

१—भावना का औचित्य।
२—वर्ण्य विषय को स्पष्ट करने की शक्ति।
३—मनोवेग या भावनाओ का स्थायित्व।
४—भावनाओ की व्यापकता और विविधता।
५—गुणो की व्यापकता।

कल्पना तत्त्व—जिस प्रकार हमारे यहाँ भावतत्त्व को प्रधानता दी गई है, उसी प्रकार पाश्चात्य देशों में काव्य जगत मे कल्पना को मुख्यता दी गई है। कल्पना शब्द की उत्पत्ति "क्लप" धातु से हुई है जिसका अर्थ सर्जन करना है। यह वही धातु है जो कल्पवृक्ष में है। कल्पना की सृष्टि मानसिक होती है। कल्पना के लिए अंग्रेजी शब्द Imagination है। उसका अर्थ है मानसिक चित्र उपस्थित करना। मूल रूप में कल्पना का अर्थ है "अप्रत्यक्ष का मानसिक प्रत्यक्षीकरण"। हम कल्पना द्वारा अप्रत्यक्ष वस्तु का, चाहे भूत की हो और चाहे भविष्य की, मानसिक चित्रण उपस्थित कर अपने मन मे प्रत्यक्षीकरण करते हैं। स्वप्न, दिवा-स्वप्न भी कल्पना और स्मृति के ही रूपान्तर हैं। कल्पना द्वारा ही स्मृति सजीव होती है। बहुत से मनुष्यों का कल्पना के सम्बन्ध मे कथन है कि काल्पनिक वस्तु मिथ्या ही होती है परन्तु यह सत्य नही है। कल्पना के द्वारा हम भूतकाल की बातों को दुहरा सकते हैं और वास्तविक दृश्यों का विभाजन और संशोधन कर एक नवीन सृष्टि की रचना करते हैं। परन्तु दोनों प्रकार की दशाओं मे हमारा आधार वास्तविकता का ही रहता है। पहली प्रकार की कल्पना को आवृत्यात्मक कल्पना कहते हैं और दूसरी को सृजनात्मक कल्पना कहते हैं। यदि हम अपनी शैशवकालीन घटनाओ का अथवा वर्तमान मे ही अपने स्थान से दूर अपने पूर्व परिचित किसी मनुष्य या जानवर अथवा वस्तु का भी मानसिक चित्रण अपने सम्मुख लावे तो आवृत्यात्मक कल्पना ही होगी। किन्तु यदि हम किसी वस्तु के अंगो को पृथक-पृथक करके उनका नवीन पद्धति से संयोजन करें तो वह सृजनात्मक कल्पना होगी। किसी नवीन सामाजिक व्यवस्था का चित्रण किया जाय, जैसे सेवासदन में वेश्याओं के सुधार की और कंकाल में आर्य संघ की, तो भी सृजनात्मक कल्पना कहलायेगी। सृजनात्मक कल्पना की विश्वामित्री सृष्टि के कारण ही तो कवि को प्रजापति कहा है—

"अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्व तथेद परिवर्तते॥"

कला में जो हो रहा है उसका ही अनुकरण नही होता, उसमे जो होना चाहिए अथवा जो होना सम्भव है उसका भी समावेश रहता है। कवि जब ब्रह्मा की सृष्टि को अपने आदर्शों के अनुकूल नही पाता तब वह उसके होना चाहिए वाले रूप का उद्घाटन कर वास्तविकता मे परिवर्तन कर देता है। कविवर मैथिली शरण गुप्त ने भी कहा है—

"हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ ?"

महाभारत में दुष्यन्त ने शकुन्तला का परित्याग लोकापवाद के भय से किया.

था, किन्तु कालिदास को ऐतिहासिक दुष्यन्त का व्यवहार आदर्श प्रेमी के विरुद्ध लगा। अतः उन्होंने शकुन्तला के विस्मृत करने को सकारण बनाने के लिए दुर्वासा के शाप और अगूठी खो जाने की घटना की कल्पना की।

कल्पना के ये दोनो भेद भी अन्य भेदो की भाति एक दूसरे से सर्वथा पृथक् नही हैं। आवृत्यात्मक कल्पना में थोड़ा बहुत सृजन रहता है और सृजनात्मक मे तो देखी हुई वस्तुओ की आवृत्ति रहती है। परन्तु व्यवस्था और ब्यौरे मे अन्तर हो जाता है। यथार्थवादी रचनाओं मे आवृत्यात्मक कल्पना का अधिक प्रयोग होता है और आदर्शवादी कृतियो मे सृजनात्मक का। किन्तु दोनो प्रकार की कल्पना में बुद्धि तत्त्व का नियन्त्रण रहता है।

हमारे यहाँ कल्पना के स्थान पर प्रतिभा को महत्त्व दिया है। वाग्भट्ट ने प्रतिभा को कवित्व का कारण माना है और व्युत्पत्ति को उसका भूषण कहा है। अभिनव गुप्त प्रथम भारतीय दार्शनिक था जिसने कल्पना पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया था। उसने कल्पना को "अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ-प्रज्ञा माना है। पंडितराज जगन्नाथ ने कल्पना को "काव्य घटना के अनुकूल शब्द और अर्थ की उपस्थिति कहा है।" उन्होने रसगंगाधर में लिखा है—"काव्य घटनानुकूल शब्दार्थों परिस्थिति।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कल्पना सम्बन्धी मत—शुक्ल जी ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से कल्पना पर विचार किया है। उन्होने कल्पना को प्रतिभा और भावना का पर्यायवाची माना है। उन्होने लिखा है—"जो वस्तु हमसे अलग है, हम से दूर प्रतीत होती है उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव कराना उपासना है। साहित्य वाले इसे भावना कहते हैं और आजकल के लोग कल्पना। जिस प्रकार भक्ति के लिये ध्यान और उपासना आवश्यक होती है उसी प्रकार भावों के प्रवर्तन के लिये भावना या कल्पना अपेक्षित होती है।

(—चिन्तामणि, भाग २, पृष्ठ २१६)

शुक्ल जी ने कल्पना को मन की क्रिया माना है। वे लिखते हैं—"कल्पना है कि काव्य का क्रियात्मक बोध पक्ष, जिसका विधान हमारे यहाँ के रसवादियों ने भाव के योग में ही अन्तर्भूत माना है।" (इन्दौर वाला भाषण पृ० २०)

अतः स्पष्ट है कि शुक्ल जी कल्पना को भाव से सम्बन्धित मानते हैं। कल्पना और भाव के सम्बन्ध को महत्त्व देते हुए वे लिखते हैं—

"अतएव काव्य विधायिनी कल्पना वही कही जा सकती है जो या किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव का प्रवर्तन या संचार करती हो। सब प्रकार की कल्पना काव्य की प्रक्रिया नहीं कही जा सकती। अतः काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्त्तरूप भावप्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी है।" (इन्दौर वाला भाषण)

शुक्ल जी ने अपनी सूरदास की आलोचना मे इस भाव को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है—

"काव्य जगत की रचना करने वाली कल्पना इसी को कहते हैं। किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप गढ़ कर या काट-छाँट कर सामने रखने लगती है तब उसे हम सच्ची कवि-कल्पना कह सकते हैं। × × × × "भावोद्रेक और कल्पना में इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि एक काव्य मीमांसक ने दोनों को एक ही कहना ठीक समझ कर कह दिया है—कल्पना आनन्द है।"— (सूरदास, पृ० २८-२९)

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट है कि शुक्ल जी ने कल्पना को काव्य का प्रमुख साधन माना है साध्य नही। वे लिखते हैं:—

"योरुपीय साहित्य मीमांसा में कल्पना को बहुत प्रधानता दी गई है। है भी यह काव्य का अनिवार्य साधन—पर साधन है साध्य नहीं।"

शुक्ल जी ने कल्पना के दो रूप माने हैं:—

१. विधायक कल्पना अर्थात् मूल विधान करने की शक्ति।

२. ग्राहक कल्पना अर्थात् इन चीजों को ग्रहण करने की शक्ति।

शुक्ल जी तुलसी के समान समन्वयवादी थे। अतः उन्होंने काव्य में भावक्षेत्र और बुद्धिक्षेत्र दोनों का सामंजस्य कर उसे कल्पना से सम्बन्धित माना है।

शुक्ल जी के कथनानुसार कल्पना के द्वारा काव्य के प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों पक्षो का उद्घाटन होता है। प्रस्तुत पक्ष के द्वारा रूप विधान होता है और अप्रस्तुत पक्ष अलंकार विधान मे सहायक हैं। वे लिखते हैं:—

"प्रस्तुत पक्ष का रूप विधान भी कवि की प्रतिभा द्वारा ही होता है।"
—इन्दौर वाला भाषण

एक दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं—

"अलंकार विधान में उपयुक्त उपमान लाने में कल्पना ही काम करती है।"

डॉ० श्यामसुन्दर दास:—डॉ० श्यामसुन्दर दास जी ने कल्पना को नव-निर्माण करने वाली मानसिक प्रक्रिया माना है। उन्होने कल्पना के दो भेद किए हैं—

१. साधारण कल्पना, २. मन की तरंग।

साधारण कल्पना मन की तरंग से पहले की वस्तु है।

मन की तरंग कल्पना की दूसरी अवस्था है। मनोरागों की स्थिति इसी के अन्तर्गत है। इन्हीं रागों की उत्तेजना के द्वारा ही कल्पना की सृष्टि और प्रगति होती है। यही कल्पना मधुर और ध्वन्यात्मक शब्दो का परिधान पहन कर काव्य मे आनन्द का उद्रेक करती है। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने मनोविज्ञान के आधार पर अपने मत का प्रतिपादन किया है। एक बार तो पदार्थों के प्रत्यक्षीकरण से आनन्द मिलता है और दूसरी बार पूर्व परिचित पदार्थों के स्मरण से आनन्द की अनुभूति होती है।

गुलाबराय :—गुलाबराय जी ने कल्पना की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

"कल्पना वह शक्ति है जिसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष के मानसिक चित्र उपस्थित करते हैं।" —सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ६७

उन्होंने कल्पना के दो भेद किये है:—

१. Passive या असंकल्पित—यह कल्पना दिवास्वप्न या स्वच्छन्द कल्पना का प्रतिरूप है।

२. Active या संकल्पित—

संकल्पित कल्पना के भी दो भेद है:—

१. आवृत्यात्मक कल्पना :—जिसके द्वारा पूर्व परिचित दृश्य ज्यों के त्यों हमारे मन के सम्मुख आते हैं।

२. सृजनात्मक :—जब आवृत्यात्मक कल्पना द्वारा लाए हुए चित्रो का नवीन पद्धति से संयोजन करें।

गुलाबराय जी ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से कल्पना पर विचार किया है।

डॉ० सिन्हा :—डॉ० सिन्हा ने कल्पना के सम्बन्ध मे "*A mannual of Psychology*" में लिखा है :—

"In passive imagination the mind is comparatively passive. It does not exert itself. It does not make any effort of the will to picture any images. The images come of themselves to the mind and are combined automatically by the suggestive forces. This easy approach of imagination is called passive imagination. In active imagination the mind exerts itself to picture an image. Here the images are not automatically combined by suggestive forces. The combination of images is affected by the effort of the will" अर्थात् "असंकल्पित कल्पना में मन अपेक्षाकृत निष्क्रिय रहता है। यह क्रिया शून्य रहता है। वह इच्छा शक्ति का किसी भी प्रकार के चित्रों के विधान को प्रेरणा नहीं देता। चित्र मन पटल पर स्वयमेव आते हैं और ध्वन्यात्मक शक्तियों से समन्वित हो जाते है। कल्पना का सरल और स्वाभाविक रूप असंकल्पित रूप कहलाता है। संकल्पित कल्पना मन चित्र विधान के स्वयं प्रर्वातित होता है। यहाँ चित्र ध्वन्यात्मक शक्तियों से समन्वित हो जाते हैं। चित्रों की एकता इच्छा-शक्ति से सम्पन्न होती है।"

अरविन्द घोष :—श्री अरविन्द घोष ने "*The Future Poetry, Style and Substance*" नामक अपनी पुस्तक मे कल्पना के दो प्रकार माने हैं—सकल्पित (Subjective) और असकल्पित (Objective) संकल्पित कल्पना

उन समस्त मानसिक और भावात्मक संस्कार चित्रों का प्रत्यक्षीकरण कराती है जो इस जीवन और जगत के संकल्प से हमारे हृदय पर अंकित होते रहते है। असंकल्पित कल्पना जीवन और वस्तुओ के बाह्य रूपों का विधान करती है।

पाश्चात्य विद्वानों के मत :—पाश्चात्य विद्वानो ने कल्पना को काव्य का सर्व प्रमुख तत्त्व माना है। शेक्सपियर ने कल्पना को कवि का प्रधान गुण माना है।

ड्यूगल्ड स्ट्यूवर्ट ने कल्पना के सम्बन्ध मे लिखा है.—

"An uncommon degree of imagination constitutes poetical genius." अर्थात् "असाधारण कल्पना ही काव्य निर्माण की शक्ति उत्पन्न करती है।"

कॉन्ट का मत :—कॉन्ट ने तीन प्रकार की कल्पना मानी है :—

१. The reproductive imagination अर्थात् पुनर्निर्माण करने वाली कल्पना। कॉलरिज ने इस शक्ति को "Fancy" के नाम से अभिहित किया है। इस शक्ति के द्वारा ही हृदय मे अंकित विभिन्न अव्यवस्थित तत्त्व सघातों का पुनः निर्माण होता है।

२. The Productive imagination अर्थात् उद्भावना करने वाली कल्पना शक्ति। यह कॉलरिज की (Primary imagination) से साम्य रखती है। इसके द्वारा विभिन्न अव्यवस्थित तत्त्व सघातो की पुनः निर्माण सामग्री से नवीन रूपों का संयोजन होता है।

३. Aesthetic imagination अर्थात् सौन्दर्य बोध कराने वाली कल्पना। यह कल्पना बुद्धि से अधिक सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए उसने दो प्रकार के विचार माने हैं :—

१. Rational ideas या तर्क प्रधान विचार।

२. Aesthetic ideas या अनुभूति मूलक विचार।

सौन्दर्य बोधात्मक कल्पना के द्वारा ही अनुभूति प्रधान विचारों का विधान होता है। (सर फिलिप मैगनस की "*English Studies*" नामक पुस्तक में पृष्ठ ८६ पर कॉन्ट के मत का विस्तृत विवेचन मिलता है)।

कॉलरिज का कल्पना सम्बन्धी मत :—कॉलरिज ने कल्पना को "Fancy" से भिन्न माना है। उनके विचार से "फैन्सी" वह शक्ति है जिसके द्वारा चित्र संघातों की सृष्टि होती है। उनके विचारो का स्पष्टीकरण करते हुए मैगनस ने लिखा है :—

"The fancy, according to him, is the faculty which produces compound images. It simply constructs new arrangements of past sense experience and its products are purely the result of an associative and not a creative

process." अर्थात् "कॉलरिज के अनुसार 'फैन्सी' वह प्रकृत शक्ति है जिसके द्वारा चित्र संघातों की सृष्टि होती है। यह पूर्व परिचित तथ्यों से ही नवीन चित्रों की उद्भावना करती है। यह उद्भावनाएँ समन्वय द्वारा होती हैं।"

कल्पना को उसने उत्पादक शक्ति माना है। इस कल्पना के उसने दो भाग किये हैं।

१. "Primary imagination which acting upon the raw materials of sensation enables us to have perception." अर्थात् "प्राथमिक कल्पना जो स्वभाव उत्पन्न करने वाले तत्त्वो के सहारे दर्शनानुभूति की शक्ति देती है।"

२. Secondary imagination गौण कल्पना।

उनके विचार से काव्य क्षेत्र में यही कार्य करती है। मैगनस ने कॉलरिज के कल्पना के इन दोनो विभागो के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है।

"It is like primary imagination in kind and differs only in degree and in the mode of its operation. The difference would seem to mean that it acts in accordance with the will. The primary imagination is involuntary, we perceive whether we wish or not." अर्थात् दोनो प्रकार की कल्पना का रूप तो एक ही होता है। दोनों की स्थिति मे भेद है। सेकेन्डरी इमेजिनेशन (Secondary imagination) का विधान इच्छा शक्ति पर आधारित है। परन्तु प्राइमरी इमेजिनेशन (Primary imagination) की उद्भावना अपने आप होती है।

क्रोचे का कल्पना सम्बन्धी विचार—क्रोचे के कल्पना सम्बन्धी विचारो को समझने के लिए उनके स्वयं प्रकाश ज्ञान को समझना भी आवश्यक है। श्री बलदेव उपाध्याय ने उसके स्वयं प्रकाश ज्ञान की जो विवेचना की है वह दृष्टव्य है।

स्वयं प्रकाश ज्ञान—"स्वयं प्रकाश ज्ञान को प्रतिभा ज्ञान भी कह सकते हैं। इसी के सहारे कलाकृतियो का निर्माण होता है। "स्वयं प्रकाश ज्ञान" का अर्थ है मन में सहजानुभूति द्वारा स्वतः विकसित हुई भावनाएँ। इन भावनाओं का सौन्दर्यानुवेष्टित मूर्त्त विधान कल्पना द्वारा होता है। तत्पश्चात् विचार (प्रसा) द्वारा इन मूर्त्तियों का जाति ज्ञान होता है। कल्पना ही मानव मस्तिष्क के सौन्दर्य का बोधात्मक व्यापार है। वह आत्मा की निजी क्रिया है। जो दृश्य नाना रूपों तथा व्यापारों को आत्मसात् कर उसके सौन्दर्यात्मक पक्ष का उद्घाटन किया करती है। कलाकार की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। क्रोचे के अनुसार "प्रत्येक मनुष्य स्वभाव से ही कलाकार होता है। सर्व-प्रथम वह कवि या कलाकार बनता है तदनन्तर वह कवि होने के कारण ही दार्शनिक हो जाता है। मनुष्य जगत को समझता है

और वही उसे बदलता भी है। जानता है और इसलिए वह बदल सकता है।" यह कार्य मनुष्य ज्ञान के सहारे ही कर सकता है। यह ज्ञान दो प्रकार का है—कल्पना (Imagination) और विचार (Thought) "कल्पना शक्ति सौन्दर्य बोधात्मक व्यापार है इसी के कारण मनुष्य कलाकार बनता है। विचार शक्ति के द्वारा वह तत्त्ववेत्ता बनता है।"

उपर्युक्त अवतरण में श्री बलदेव उपाध्याय जी ने क्रोचे के कल्पना सम्बन्धी विचारों मे निम्नलिखित बातों को विशेष महत्त्व दिया है।

१. स्वय प्रकाश ज्ञान से कल्पना का सीधा सम्बन्ध है।

२. कल्पना मानव मस्तिष्क की सौन्दर्य बोधात्मक वृत्ति की प्रक्रिया है।

३. विश्व के समस्त संकल्पों का मूल कारण ज्ञान है। यह ज्ञान दो प्रकार का होता है—कल्पना रूप और विचार रूप।

"कल्पना वस्तुओं के सहज और वास्तविक रूप को ज्यों का त्यों ग्रहण करती है। विचार वस्तुओं के रूप का ग्रहण बुद्धि के माध्यम से करता है।"

४. कल्पना मूर्त्त विधायिनी शक्ति है। यह शक्ति विचार शक्ति की भूमिका है। कवि कल्पना के द्वारा विभिन्न पदार्थों की अभिव्यक्ति करता है और आलोचक विचार शक्ति के द्वारा उनकी व्याख्या करता है। अत. स्पष्ट है कि क्रोचे ने कल्पना शक्ति को विचार शक्ति से बिलकुल भिन्न माना है।

समस्त विद्वानों के कल्पना सम्बन्धी विचारो पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कल्पना पर विचार तीन क्षेत्रों मे हुआ है। दर्शन-शास्त्र, मनोविज्ञान शास्त्र, और साहित्य शास्त्र। कुछ विद्वानो ने दार्शनिक दृष्टि से, कुछ ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तथा कुछ ने साहित्यिक दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। पाश्चात्य विद्वान् कॉन्ट; डा० श्यामसुन्दरदास, डा० गुलाबराय दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक वर्ग मे आते हैं। पाश्चात्य विद्वान कॉलरिज, तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'शुद्ध' साहित्यिक दृष्टिकोण से विचार करने वालों मे अग्रगण्य हैं। क्रोचे समन्वयवादी था उसने दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार किया है।

यद्यपि सभी विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से कल्पना पर विचार किया है परन्तु कुछ मान्यताएँ ऐसी हैं जो सबमे समान हैं।

१. सभी विद्वानो ने कल्पना का प्रधान लक्ष्य मूर्त्त विधान माना हैं। यह मूर्त्त विधान दो प्रकार का हो सकता है—व्यावहारिक, साहित्यिक। साहित्यिक मूर्त्त विधान वह है जो किसी भाव या अन्तर्वृत्ति से परिचालित होता है।

२. सभी विद्वानो ने कल्पना को विधायक तथा ग्राहक माना है।

३. बुद्धि तत्व—कठोपनिषद् में बुद्धि को इन्द्रिय रूपी अश्वों के नियन्त्रण के लिए सारथी माना है। परन्तु बुद्धि इन्द्रियो को ही नही वरन् कल्पना के घोड़ों का

भी नियन्त्रण करती है। यद्यपि कवि को ब्रह्मा की सृष्टि के नियमों से परे कहा गया है तथापि कवि को औचित्य का ध्यान रखना पड़ता है। आचार्य देवेन्द्र ने तो औचित्य को ही काव्य की आत्मा माना है। औचित्य से विरहित काव्य मे रस नीरस हो जाते हैं और अलकार दूषण वन जाते हैं। कवियो को विवेक का ज्ञान आवश्यक है। तुलसीदास जी ने "रामचरित मानस" मे कवित्व के साथ विवेक की भा आवश्यकता मानी है।

"कवित्त विवेक एक नहिं मोरें, सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे ॥"

वहुत से अलंकार वुद्धितत्त्व या उसके आभास पर आधारित हैं।

मनोविज्ञान में वुद्धि को वहुत उच्च तथा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मानसिक कार्यों मे इसका मुख्य स्थान है। हमारे यहाँ "इसे अन्तःकरण की निश्चयात्मक वृत्ति माना है।" इसे हम मन की चेतन शक्ति भी कह सकते हैं। इसी की सहायता से सब प्रकार के इन्द्रिय ज्ञान या मनोवेगादि का ज्ञान होता है। काव्य में वुद्धितत्त्व के द्वारा ही कवि या लेखक समाज का हित सम्पादन करते हैं।

काव्य मे वुद्धितत्त्व तथा हृदयतत्त्व का समन्वय रहता है। जव हमे किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो वुद्धि के द्वारा उसके सम्वन्ध के विचारो की उत्पत्ति होती है। काव्य मे वुद्धितत्व सदैव ही भाव पर आधारित रहता है। मेरी नामक पाश्चात्य विद्वान् ने भी इस वात को स्पष्ट किया है :—

"In literature there is no such thing as pure thought, thought is always the handmaid of emotion."

(*The Problem of Style, Page 73*)

अर्थात् "साहित्य में वुद्धि अपने शुद्ध रूप में नहीं रहती। वह सदा ही भावना की अनुगामिनी भृत्या के रूप में आती है।" सुश्री महादेवी वर्मा ने भी अपने "विवेचनात्मक गद्य" में इस मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि—

"काव्य में वुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है। इसी से उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क-प्रणाली है और न सूक्ष्म विन्दु तक पहुँचने वाली विशेष विचार पद्धति। (काव्य कला शीर्षक लेख पृ० २०)

यदि भावतत्त्व के द्वारा काव्य के कलित कलेवर का निर्माण होता है तो वुद्धि तत्त्व के द्वारा उस कलेवर को अवलम्ब मिलता है।

डा० त्रिगुणायत ने काव्य क्षेत्र मे वुद्धि तत्त्व का कार्य निम्नलिखित रूपो मे माना है—

१. भावो की आधारभूमि के रूप मे।
२. भावो को स्पष्टतर करने के लिए।
३. लेखक के दृष्टिकोण के स्वरूप निर्माण के रूप में।

४. भावों की व्यवस्थित अभिव्यक्ति के रूप में।

५. भावाभिव्यक्ति में चमत्कार की योजना के रूप में।

भावों की आधारभूमि के रूप में—विचारो के द्वारा ही भावनाओं का उद्भव तथा विकास होता है। मनुष्य इस ससार मे जो कुछ अनुभव करता है उसी के द्वारा उसके विचारो का निर्माण होता है। मनुष्य की पूर्वानुभूत अनुभूतियाँ तथा भाव धाराएँ इन्ही विचारात्मक प्रतिक्रियाओ पर आश्रित हैं। कलाकार अपने काव्य की सृष्टि इन्ही विचार या बुद्धि प्रेरित भावानुभूति की सहायता से करता है। एच० जी० वेल्स ने भावों की इस आधारभूमि को मानसिक पृष्ठभूमि के नाम से अभिहित किया है। इटली के प्रसिद्ध विद्वान् क्रोचे का मत इसके विपरीत है। उनके विचार से—**"कवि पहले कल्पना और भावना द्वारा मूर्त्त विधान करते हैं, उसके बाद विचार या बुद्धि की सहायता से उन निर्मित मूर्तियों की समीक्षा द्वारा उनका स्थान निर्धारित करते हैं।"** इस प्रकार क्रोचे ने काव्य रचना मे विचारो को मन की प्रथम क्रिया न मानकर द्वितीय क्रिया माना है। उनके दृष्टिकोण से भावना और विचार मानव के स्वाभाविक गुण हैं अत. मनुष्य जन्म से ही कलाकार और दार्शनिक होता है। पहले वह कवि होता है बाद मे कलात्मक ज्ञान की वृद्धि होती है और तब वह दार्शनिक हो जाता है। किन्तु क्रोचे के यह विचार तात्विक दृष्टि से ठीक नही प्रतीत होते। यदि तर्क की दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट है कि मानव पहले दार्शनिक है और बाद मे कवि। दर्शन-शास्त्र मे विचार का प्रमुख स्थान है। वस्तुतः कवि विचारात्मक निर्णय के पश्चात् ही भावो की रूपरेखा निश्चित करता है विचार भावना के योग से साहित्योचित रूप ग्रहण कर कलित हो जाते हैं। इस प्रकार बुद्धि के द्वारा भावना संयत और क्रमबद्ध हो जाती है।

भावों को स्पष्ट करने के लिए—भावो को स्पष्टतर करने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी बुद्धि का है। भावो का उदय तथा विकास प्रत्येक मनुष्य मे होता है परन्तु उन भावो को भाषा का परिधान पहिनाकर उसे काव्य का रूप प्रदान करने की क्षमता केवल कवि में ही है। क्योकि कवि मे बौद्धिक शक्ति होती है। कवि विचार शक्ति के द्वारा अपनी अनुभूतियो को इस प्रकार व्यक्त करता है कि सहृदय पाठक भी उन अनुभूतियों का समान रूप से रसास्वादन करते हैं। एक सस्कृत कवि ने भी इसी बात को स्पष्ट किया है—

"कविता रस माधुर्यं कविर्वेत्ति न तत्कवि।
भवानी भृकुटीभंग भवो वेत्ति न भूधर॥"

विचारशक्ति ही कवि की अभिव्यक्ति को सौन्दर्यशाली और प्रभावात्मक रूप प्रदान करती है।

मेरी ने भी लिखा है कि **"स्विफ्ट जैसे व्यंग लेखकों ने बुद्धि का उपयोग तर्कपूर्ण निष्कर्षो पर पहुँचने के लिए नही किया बलिक तीव्र प्रतिक्रियाओं के संघात को प्रकट करने के लिए किया है।"**

"A great satirist like Swift uses the intellect not to reach rational conclusions but to expound and convey in detail a complex of very voilent emotional reactions."
(*The Problem of Style*)

लेखक के दृष्टिकोण के निर्माण के रूप में—प्रत्येक काव्य की रचना करते समय लेखक का अपना विशेष दृष्टिकोण होता है। इस दृष्टिकोण का निर्माण वह अपनी विचारात्मक अभिरुचि के अनुसार करता है। कविवर जयशकर प्रसाद जी भारत की प्राचीन संस्कृति तथा दार्शनिक दृष्टिकोणो से इतने अधिक प्रभावित थे कि उनके साहित्य मे शैव-दर्शन या बौद्ध दर्शन का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। अतः प्रत्येक काव्य की सृष्टि भावो पर आधारित है। जिस कवि के जैसे विचार होते हैं, वैसी ही उसमे भावनाएँ उदित होती हैं। और फिर वे ही भावनाएँ काव्य का रूप धारण करती हैं। गीति काव्य व्यक्तिगत सुख-दुखो की सहजानुभूति को व्यक्त करता है। ये व्यक्तिगत भावनाएँ बुद्धिज व्यापार का फल हैं। तुलसीदास जी ने भी अपनी निम्नलिखित पक्तियो में काव्य मे बुद्धि तत्त्व की उपादेयता पर बल दिया है:—

"हृदय सिन्धु गति सीप समाना, स्वाँती सारद कहहि सुजाना।
जो वरसहि वारि वारि विचारू, होहिं कवित्त मुक्तामणि चारू॥"

इन पंक्तियो मे उन्होने "मति सीप समाना" और "वर वारि विचारु" कह कर श्रेष्ठ भावगाम्भीर्य और मधुर वाणी के अतिरिक्त विचारशक्ति को भी महत्व-पूर्ण स्थान दिया है।

भावों की व्यवस्थित अभिव्यक्ति के रूप में—साहित्य मे भावों को शृंखला बद्ध करने का श्रेय भी बुद्धि को ही है। कलाकार के हृदय मे भावनाएँ उदित होती हैं। ये भावनाएँ अव्यवस्थित होती हैं। बुद्धि ही इन अव्यवस्थित भावनाओ मे व्यवस्था लाती है। अतः कवि बुद्धि तत्त्व की उपेक्षा नही कर सकता। सफल काव्य की रचना के लिए भावो की व्यवस्था आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान मेरी ने भी बुद्धि के इस व्यापार पर प्रकाश डाला है।

"The thought that plays a part in Literature is systematised emotion. Emotion becomes the habitual till it attains the dignity of conviction. The fundamental brain work of a great play or a great novel is not performed by the reason pure or practical, even the trancidental essayist is trying to get his emotions on to paper the most austere psychological analyist like Stendhal, really imagined he was exercising fa-Fo-gigue, is only attempting to get some order into his own instinctive reactions."
(*The Problem of Style, Page 74*)

भावाभिव्यक्ति में चमत्कार की योजना के रूप में—महाकवि क्षेमेन्द्र ने चमत्कारपूर्ण काव्य को काव्य माना है—"न हि चमत्कार विरहितस्य कवेः कवित्वं, काव्यस्य वा काव्यत्वम् ।" वास्तव मे चमत्कार ही काव्य के बाह्य रूप को सुन्दर बनाता है। भावो को चमत्कृत करने का कार्य बुद्धि का है। काव्य का कला पक्ष बहुत कुछ बुद्धि या विचार शक्ति पर अवलम्बित है। चमत्कार का सम्बन्ध भाषा तथा भाव दोनो से है। भाषागत चमत्कार के द्वारा काव्य का बाह्य पक्ष अलंकृत होता है किन्तु भावगत चमत्कार से भाव सहज एवं मधुर रूप ग्रहण करते हैं। ध्वनिकाल मे भावगत चमत्कार की योजना बहुत सुन्दर मिलती है। दोनों प्रकार के चमत्कार बुद्धि से सम्बन्धित हैं।

४. शैली तत्त्व—यह काव्य के भाव को प्रेषणीय बनाने के लिए आवश्यक है। **"काव्य का शैली तत्त्व मनोगत भावों को मूर्त्त रूप प्रदान करने वाला सहज साधन है।"** यद्यपि रस को काव्य की आत्मा माना गया है, लेकिन शरीर के अभाव में भी तो आत्मा का अस्तित्व सम्भव नही। इसी प्रकार शैली हमारी भावनाओं का शरीर है जहाँ वह मूर्त हो जाती है। सच तो यह है कि शैली के अभाव मे साहित्य के अस्तित्व की कल्पना भी नही की जा सकती। शैली केवल काव्य के बाह्य रूप को ही अलंकृत नही करती उसके भावगत रूप को विकसित करने का महनीय कार्य भी करती है। भाव सौदर्य की सार्थकता सुन्दर शैली पर ही निर्भर है। हमारे हृदय मे नाना प्रकार के भावों की उर्मिये उठती हैं उससे हम दूसरे व्यक्ति को तब तक आन्दोलित नही कर सकते जब तक कि हम उन भावो को उचित भाषा (शैली) में व्यक्त न कर दे। शैली ही भाषा मे प्रेषणीयता का गुण लाती है। वस्तुतः यही प्रेषणीयता कला का मूल है अर्थात् **"अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही है कला।"** शैली दो प्रकार की होती है—१. समास शैली, २. व्यास शैली।

१. समास शैली—इसमें लेखक अपनी बात सूक्ष्म रूप मे कह देता है और बाद मे उसका विश्लेषण करता है। रामचन्द्र शुक्ल की शैली समास शैली है। वे पहले—**"वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।"** या **"यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण"** आदि सूक्तियाँ कह कर फिर उसका विश्लेपण करते हैं।

२. व्यास शैली—इस शैली मे पहले विश्लेषण किया जाता है और बाद मे पूर्ण बात को सूक्ति में बांध दिया जाता है। डा० श्यामसुन्दरदास जी की शैली व्यास प्रधान है।

शैली अभिव्यक्ति के उन गुणो को कहते हैं जिन्हे लेखक या कवि अपने मन के प्रभाव को समान रूप में दूसरो तक पहुँचाने के लिए अपनाता है। जिस प्रकार आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए शरीर आवश्यक है उसी प्रकार रस की अभिव्यक्ति के लिए शैली आवश्यक है। शैली रस से सश्लिष्ट है। केवल अध्ययन के लिए पृथक् कर ली जाती है।

प्रत्येक लेखक की भावनाओ तथा व्यक्तित्व के अनुसार शैली होती है। अतः

शैली के अनेक रूप हैं। शैलीगत इसी विभिन्नता के कारण उसके अर्थ और परिभाषा के सम्बन्ध मे विद्वानो में मतभेद है।

अब हम पाश्चात्य तथा प्राच्य दोनों विद्वानों की शैली सम्बन्धी विवेचना पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निरूपित शैली का रूप—मरे नामक पाश्चात्य विद्वान ने "*The problem of Style*" मे शैली शब्द का प्रयोग तीन अर्थो मे किया है।

१—"The personal idiosyncrasy of expression by which we recognise writer.". अर्थात् अभिव्यक्ति की व्यक्तिगत विशिष्टताएँ जिनके द्वारा लेखक को पहचाना जा सके।

२—'The technique of expression' अभिव्यंजना के विधान।

३—साहित्य की उच्चतम निधि 'Style as the highest achievement of Literature'.

किन्तु शैली के उपयुक्त तीनो अर्थ एकागी तथा सकीर्ण हैं। श्लाघनीय शैली मे इन तीनो अर्थो का समावेश आवश्यक है। उत्तम शैली में तो यह तीनों गुण सहज समाहित रहते हैं। काव्य मानव के हृदयस्थ भावो की अभिव्यक्ति है।

अतः उसमे लेखक के व्यक्तित्व की छाप स्वाभाविक है। अभिव्यक्ति के विधान पर ही काव्य की सफलता निर्भर है। अतः इसकी उपेक्षा नही की जा सकती। शैली का तीसरा अर्थ भी काव्य मे शैली के महत्व को इगित करता है। उचित गुणो से भूषित शैली ही किसी रचना को साहित्यकता प्रदान करती है।

हडसन ने शैली की तीन विशेषताओ का उल्लेख किया है।

१. वैयक्तिक पक्ष (Personal side) २. कलापक्ष (Art side) और ३. ऐतिहासिक पक्ष (Historical side)।

अब हम शैली की इन तीनो विशेषताओ पर क्रमशः विचार करेंगे।

१. वैयक्तिक पक्ष—(Personal side) हडसन ने लेखक की व्यक्तिगत विशेषताओ को जो शैली में दृष्टिगोचर होती हैं, उन्हे तीन कोटियो में माना है।

(क) Intellectual Element या बौद्धिक तत्त्व :
(ख) Emotional Element या भाव तत्त्व।
(ग) Aesthetic Element या सौन्दर्यात्मक तत्त्व।

इन तीन कोटियो से यह स्पष्ट है कि शैली लेखक के बुद्धि, भाव और कल्पना तीनो को प्रकाश मे लाती है।

(क) बौद्धिक तत्त्व—प्रत्येक काव्य मे बुद्धितत्त्व का प्रयोग किसी न किसी रूप मे रहता है। बुद्धि के तीन आवश्यक गुण माने गये हैं—

१. Precision यथार्थता ।

२. Lucidity स्पष्टता (प्रसाद गुण) ।

३. Propriety उपयुक्तता । (औचित्य)

हडसन ने इन तीनों गुणो के महत्व पर भी प्रकाश डाला है ।

वह लिखते हैं—"There are the intellectual elements the precision which arises from the right use of right words, the lucidity which results from the proper disposition of such proper words in the formation of sentences, propriety or the harmony which should exist between the thing said and the phrasing of it". अर्थात् "शैली में अनेक बौद्धिक तत्त्व होते है—जैसे यथार्थता जो कि भावानुरूप शब्दों के उचित प्रयोग से आती है। उपयुक्तता या सुषमा जो काव्य विषय और उसके विन्यास दोनों के सामंजस्य में निहित रहती है।

मरे ने उपरोक्त तीनों विशेषताओं में से यथार्थता को शैली में अधिक महत्त्व दिया है। शैली मे बुद्धिगत यथार्थता का समावेश कई रूपों में हो सकता है।

१. Precision of communication of emotions and thought अर्थात् भावों तथा विचारो की यथार्थ प्रेषणीयता—इस सम्बन्ध में मेरी के शब्द भी दृष्टव्य हैं—

"Style is a quality of Language which communicates precisely emotions or thoughts peculiar to the author". अर्थात् "शैली भाषा की वह विशेषता है जिसके सहारे लेखक भावों और विचारों का यथार्थ प्रेषण करने में समर्थ हो सके।"

२. Precision of emotional suggestion अर्थात् भावात्मक अभिव्यक्ति की उपयुक्तता – लेखक अपने चिर विधान के द्वारा भावात्मक अभिव्यक्ति को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करता है। मेरी ने इस चित्र विधान को "Crystalisation." कहा है मरे ने भावात्मक अभिव्यक्ति की उपादेयता स्पष्ट करते हुए लिखा है।

"The essential quality of style was precision that this precision was not intellectual, not a precision of definition but of emotional suggestion that there are various methods of achieving it but that they could be grouped together under the term crystalisation." अर्थात्—"यथार्थता शैली का अनिवार्य गुण है। यह यथार्थता बुद्धिगत या परिभाषागत नहीं

वल्कि भावगत होनी चाहिए। भावगत यथार्थता का समावेश करने की अनेक रीतियाँ है। इन सभी रीतियों को मूर्त-विधान के अन्तर्गत रख सकते है।"

यथार्थ चित्र विधान का संयोजन करने के लिए कवि को अप्रस्तुत विधान का प्रयोग करना पड़ता है। ये अप्रस्तुत विधान कई रूपो मे आते हैं। इनमें से दो मुख्य हैं:—

(१) अलंकार रूप मे।
(२) प्रतीक रूप मे।

उच्चकोटि के लेखक भावो को यथार्थ रूप मे उपस्थित करने के लिए अपनी शैली मे इन सभी गुणों का प्रयोग करते हैं।

3. Precision of Language—अर्थात् भाषागत यथार्थता :—हडसन ने भावो की यथार्थता के लिए शब्दों के उपयुक्त प्रयोग को आवश्यक माना है। उपयुक्त शब्द चयन से ही शैली में अन्य गुणों का विकास होता है। गोर्की ने भी शैली की इस विशेषता की ओर चैंहोव नामक विद्वान के पत्र मे संकेत किया था.—

"You are an artist, if you feel superbly, ;you are plastic that is when you describe a thing you see it and touch it with your hands, that is real style."

अर्थात् "तुम एक सच्चे कलाकार हो, तुम्हारी अनुभूति वड़ी तीव्र है, जव तुम अपनी अनुभूति का वर्णन करते हो तो उसको मूर्तिमान वना देते हो। उस समय ऐसा लगता है कि तुम अपने चक्षुओं से वर्ण्य वस्तु को देखते हो और उसे स्पर्श करते हो।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्ण्य विषय की प्रत्यक्षानुभूति की सफलता सुन्दर शब्द विधान पर निर्भर है।

(ख) भावतत्त्व (Emotional Element)—काव्य मे कवि की भावनाएँ विकसित होती हैं। इन भावनाओ पर उसके व्यक्तित्व का भी प्रभाव पड़ता है। सुन्दर भावों की अभिव्यक्ति मे तीन विशेषता होती हैं:—

(१) Force—प्रवेश।
(२) Energy—शक्ति।
(३) Suggestiveness—ध्वन्यात्मकता।

(ग) सौन्दर्य तत्त्व (Aesthetic Element)—हडसन ने उच्चकोटि की सौंदर्य सृष्टि के लिए निम्नलिखित विशेषता वतलाई हैं.—

(१) Music—(rhythm) संगीतात्मकता।
(२) Grace—आन्तरिक सौंदर्य।
(३) Beauty—वाह्य सौंदर्य।
(४) Charm—आकर्षण।

शैली में नियोजित बुद्धितत्त्व, भावतत्त्व और सौदर्य तत्त्व इन तीनों का सम्बन्ध लेखक की प्रतिभा और व्यक्तित्व से है। हडसन के विचार से इन तत्त्वो का रूप विधान लेखक की वैयक्तिक विशेषताओ के अनुरूप होता है। वे लिखते हैं:—

"For us the intellectual, emotional and aesthetic qualities of any man's writings will raid themselves at Bottom to all the personal qualities of his genius and character and thus the technical study of his style become an aid of the individuality embodied in his work."

अर्थात् "शैलीगत बौद्धिक, भावात्मक और सौंदर्यात्मक सभी विशेषताएँ लेखक की प्रतिभा और चरित्र सम्बन्धी विशेषताओं से प्रच्छन्न रूप से संयुक्त रहती हैं। अतः शैली का वैधानिक अध्ययन लेखक के व्यक्तित्व के अध्ययन में भी सहायक होता है।"

वस्तुतः शैली के विधान और लेखक के व्यक्तित्व मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। मरे ने भी लिखा है :—

Style is the direct expression of the individual mode of experience अर्थात् शैली व्यक्तिगत अनुभूति की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। इस प्रकार शैली मे व्यक्तित्व का समावेश भी उसका सहज गुण है।

२. कलापक्ष :—काव्य का कलापक्ष या शैली एक विशेष प्रकार की होती है। भावो की सफलता शैली पर निर्भर है। शैली को सुन्दर और सजीव बनाने के लिए लेखक को भिन्न-भिन्न शैलियो का आश्रय लेना पड़ता है। पाश्चात्य विद्वानो ने शैली के विभिन्न रूपो का विवेचन इस प्रकार किया है।

ऐरिस्टोटिल ने शैलियों के दो प्रकार माने हैं :—

(१) साहित्यिक शैली (Literary Style)।

(२) वादात्मक शैली (Controversail Style) इस शैली के भी दो भेद हैं:—

१—राजनैतिक शैली (Political Style) इस शैली का रूप कुछ शुष्क तथा इतिवृत्तात्मक होता है।

२—उग्रशैली (Forensic Style)—इस शैली मे विषयगत उग्रता रहती है।

ऐरिस्टोटिल ने शैली में प्रसाद और औचित्य दो गुण माने है। उसने शैली के चार दोषो का भी उल्लेख किया है :—

समासो का प्रयोग।

अप्रचलित शब्दों का प्रयोग।

अनौचित्य पूर्ण विशेषणो का प्रयोग।

अनौचित्य पूर्ण रूपकों का प्रयोग।

अरस्तु ने शैली तथा विषय का घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। डिमीट्रियस ने श्रेष्ठ शैलियाँ चार प्रकार की मानी हैं :—

प्रसन्न मार्ग (Plain Style)
उदात्त मार्ग (Stately Style)
मसृण मार्ग (Polished Style)
ऊर्जस्वी मार्ग (Powerful Style)

इन्होंने चार हेय शैलियाँ भी मानी हैं :—

शिथिल (Frigid Style)
कृत्रिम (Affected Style)
नीरस (Arid Style)
अनानुकूल मार्ग (Disagreable Style)

मरे जी ने शैली मे तीन गुण माने हैं:—

१. आनुरूप्य—यह शैली का प्रमुख गुण है।

२. लय की सगीतमय अभिव्यक्ति (Musical Suggestion of the rhythm)।

३. वर्ण्य विषय की रूपमयी अभिव्यक्ति—उपरोक्त दोनो शैली के गौण गुण हैं।

शोपेनहार :—शोपेनहार ने दार्शनिक दृष्टि से शैली के तीन गुण माने हैं:—

वैशद्य;
सौन्दर्य; और

इन दोनों के समन्वय से बनी हुई सामर्थ्य।

उसने शैली की दो कोटियाँ मानी हैं—एक अच्छी दूसरी बुरी।

वाल्टर रैले—इन्होंने शैली मे पदविन्यास को महत्त्व दिया है।

विंचेस्टर—विंचेस्टर ने "Some principles of Literary Criticism" मे शब्द प्रयोगो के आधार पर दो प्रकार की शैलियाँ मानी हैं।

प्रथम शैली वह जिसमे सक्षिप्तता और विशदता का गुण रहता है।

दूसरी वह जिसमे विस्तार और अलकरण प्रवृत्ति का समावेश रहता है।

३. ऐतिहासिक पक्ष—लेखक की शैली में निखार तथा स्थिरता धीरे धीरे प्रयास द्वारा आती है। इसलिए लेखक की प्रत्येक रचना मे शैलीगत विभेद दिखलाई देता है। शैली का यह विकास क्रम तीन अवस्थाओ मे बांटा जा सकता है—आरम्भिक अवस्था, प्रयोगावस्था और प्रौढावस्था। अतः आलोचक को चाहिए कि किसी भी लेखक की कृति की आलोचना करते समय इन तीनों अवस्थाओं को दृष्टि में रखना

चाहिए। शैली के क्रमिक विकास के स्वरूप का सिंहावलोकन करने पर ही कृति का वास्तविक मूल्याकन किया जा सकेगा।

भारत मे शैली का रूप—हमारे यहाँ शैली की व्याख्या रीति या मार्ग के नाम से की गई है। कुछ आचार्यों ने "रीतिरात्मा काव्यस्य" के आधार पर शैली को काव्य मे महत्वपूर्ण स्थान दिया है। कुछ आचार्यो ने व्यक्तित्व-भेद के अनुसार शैलियों के अनेक रूप माने हैं। दण्डी ने "काव्यादर्श" मे लिखा है— "अस्त्यनेको गिराः मार्गः सूक्ष्म भेद परस्परम्" अर्थात् "अभिव्यंजना के अनेक प्रकार होते हैं जिनमें सूक्ष्म अन्तर रहता है।" काव्य मे इस व्यक्तित्व भेद का विशिष्ट स्थान है, यह भेद एक ही विषय पर लिखी हुई अनेक कवियो की रचनाओ को भी मौलिकता तथा रोचकता प्रदान करता है। "गंगावतरण" मे भी व्यक्तित्व भेद के महत्व को स्वीकार किया गया है—

"अन्धास्ते कवयोः एषां पन्थाः क्षुण्णाः परैर्भवेत् ।
परेषां तु यदा कान्तः पन्थास्ते कवि कुंजराः ॥"

डा० श्यामसुन्दरदास जी ने शैली की परिभाषा इस प्रकार दी है—"किसी कवि या लेखक की शब्द योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है।"

श्री गुलाबराय जी ने शैली की परिभाषा इस प्रकार दी है—"शैली अभिव्यक्ति के उन गुणों को कहते हैं जिन्हें लेखक या कवि अपने मन के प्रभाव को समान रूप मे दूसरों तक पहुँचाने के लिए अपनाता है।"

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अतः आत्माभिव्यक्ति की इच्छा उसमे स्वाभाविक है। वह अपने भावो, विचारो को मूर्तिमान देख कर प्रसन्न होता है तथा अपनी अभिव्यक्ति को दूसरो तक पहुँचाना चाहता है। उसे दूसरो को समझाना पड़ता है, किसी कार्य की प्रेरणा देनी होती है तथा दूसरो को प्रसन्न भी करना पड़ता है। ये तीनों कार्य मानव की भिन्न-भिन्न तीन मानसिक शक्तियो से सम्बन्धित हैं। किसी बात को समझना या समझाना बुद्धि का कार्य है, किसी मे प्रवृत्त होना या दूसरो को प्रेरणा देने का कार्य सकल्प का है। आनन्द से अभिभूत होना या प्रसन्न करना भावो का कार्य है। बुद्धि की सहायता से कवि किसी बात का वर्णन कथन या प्रतिपादन करता है। भावों की सहायता से वह काव्य सृष्टि कर मानव समाज से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। अत. शैली की सर्वश्रेष्ठ विशेषता यह है कि वह उपरोक्त तीनो कार्यो को पूर्ण करने के लिए अपनी भाषा को, अपने भावों तथा कल्पनाओ को अधिक सुन्दर तथा प्रभावशाली बनाये। भाषा का कलित कलेवर शब्दो से बनता है। अतः सर्वप्रथम हम शब्दों के महत्व पर विचार करेंगे।

शब्दों का महत्व:—भाषा का मूल आधार शब्द हैं। भाषा ऐसे सार्थक शब्द-समूहो का नाम है जो एक विशिष्ट क्रम से सुव्यवस्थित होकर भावाभिव्यक्ति करते हैं और दूसरों के हृदय तक पहुँचकर उन्हें भी समान रूप से प्रभावित करते हैं। प्रत्येक शब्द से किसी न किसी अर्थ का बोध होता है। अतः लेखक मे शब्द-ज्ञान का

होना अत्यन्त आवश्यक है। शैली में रोचकता तथा अर्थगाम्भीर्य तभी आ सकता है जब उसमे भावोपयुक्त शब्दो का प्रयोग हो। लेखको की लेखन शैली की प्रायः तीन अवस्थाएँ होती हैं—प्रारम्भिक अवस्था, मध्यावस्था और प्रौढ़ावस्था। लेखक की प्रारम्भिक अवस्था की शैली मे शब्दो का बाहुल्य तथा भावो और विचारों का अभाव सा रहता है। जैसे-जैसे उसका अनुभव परिपक्व होता जाता है विचारों में गाम्भीर्य आता जाता है त्यो-त्यो उसकी लेखन शक्ति विकसित होती रहती है और उस शैली में शब्दाडम्बर कम और भावगाम्भीर्य अधिक होता है। मध्यावस्था में प्राय. शब्दों और भावों का सतुलन सा रहता है। प्रौढ़ावस्था मे भावो का बाहुल्य तथा शब्दो की न्यूनता स्पष्टतः परिलक्षित होती है। उस समय भावो को ध्वनित करने वाले सरल और मधुर शब्द स्वतः ही लेखक की लेखनी से प्रसूत होने लगते है। एक ही भाव को ध्वनित करने वाले अनेक शब्द उसकी रचना में मिलने लगते हैं। वह उपयुक्त शब्दो के द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियो का दिग्दर्शन करने तथा गम्भीर और भावपूर्ण बातो को सक्षेप मे व्यक्त करने में समर्थ होता है। अतः स्पष्ट है कि लेखन शैली अभ्यास पर निर्भर है। प्रारम्भिक अवस्था मे लेखक में भाषाडम्बर अधिक होता है उस समय वह भावाभिव्यक्ति के लिए प्रयास करके शब्दो का प्रयोग करता है। उसमें स्वाभाविकता तथा माधुर्य का अभाव रहता है। परन्तु प्रौढ़ावस्था की लेखनी में शब्द परिष्कृत तथा परिमार्जित हो जाते हैं।

इस प्रकार शैली में शब्दो का महत्वपूर्ण स्थान है। उपयुक्त शब्दो की नीव पर ही श्रेष्ठ काव्य का प्रासाद निर्मित होता है। अतः लेखक का शब्द-भण्डार प्रचुर होना चाहिए। युरोप के साहित्यालोचको ने तो शब्दो को लेखक की रचना की सफलता का मापक तत्त्व माना है। शब्दो के द्वारा ही हमें इस बात का ज्ञान होता है कि कोई लेखक अपने भावो को व्यक्त करने मे कहाँ तक सफल हुआ है। भामह ने तो अर्थ के साथ-साथ शब्दो का महत्त्व भी स्वीकार किया है। उसने तो शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को काव्य कहा है—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"। मम्मट, पण्डितराज, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने अपनी काव्य परिभाषाओ मे अर्थ के साथ-साथ शब्द को भी महत्त्व दिया है। अतः शब्द और अर्थ के उचित सामजस्य पर ही श्रेष्ठ काव्य की रचना होती है। शब्द और अर्थ की अभिन्नता को गोस्वामी तुलसीदास जी ने "राम चरित मानस" मे स्वीकार किया है—

"गिरा अर्थ जल-वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।"

महाकवि कालिदास ने रघुवश के आदि मे वदना करते हुए कहा है—

"वागर्थाविव सपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥"

अर्थात् "वाक् और अर्थ की भाँति संपृक्त जगत् के माता-पिता पार्वती और परमेश्वर की वन्दना इसलिए करता हूँ कि जिसमें वाक् और अर्थ की प्रतिपत्ति हो।" यहाँ वाक् और अर्थ से कवि का प्रयोजन शब्द और अर्थ की एकता से है। सार्थक होने पर भी शब्द जब तक वाक्यो मे न गूँथे जायेंगे, तब तक न तो उनकी शक्ति

का ही विकास होता है, न उनके गुण ही प्रकट होते हैं और न वे किसी को प्रभावित ही कर सकते हैं। वाक्यों मे सुचारु रूप से पिरोये जाने पर ही शब्दों की विशेपता, महत्व, सामर्थ्य या प्रभाव का प्रकाशन होता है।

पंत जी ने 'पल्लव' की भूमिका में शब्दो की शक्ति का विवेचन बहुत सुन्दर रूप मे किया है—

"जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमों से बंधे होते हैं उसी प्रकार दूसरी ओर ज्ञान के आकाश में पक्षियों की तरह स्वतन्त्र भी होते हैं।"

"भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द प्रायः सगति भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे भ्रू से क्रोध की वक्रता, भृकुटि से कटाक्ष की चंचलता, भौंह से प्रसन्नता व्यक्त होती है। हिलोर में उठान, लहर में सलिल वृक्ष का कोमल कम्पन, तरंग में सलिलावेग तथा सामूहिक प्रगति, वीचि में हँसमुख लहरियाँ तथा उर्मि में हुलसित, मुखरित, उत्पातपूर्ण तरंगों के चित्र सामने आते हैं। इसी प्रकार अनिल शीतलता का बोधक, वायु निर्मलता तथा लचीलापन से युक्त, प्रभंजन सशब्द आंधी की व्यंजना करता है। इसी प्रकार श्वसन, पवन, समीर अलग-अलग भाव-चित्र रखते है।"

पन्त जी आगे लिखते हैं :—**"शब्द झंकार में चित्र और चित्र में झंकार है। भाव और भाषा का सामंजस्य उनका स्वरैक्य ही चित्र राग है। भाव और भाषा में रागात्मक सम्बन्ध है, भावना सदैव शब्द के भुजपाश में बंधने के लिए व्यग्र रहती है।"**

शब्द शक्तियाँ :—जो शक्ति या व्यापार किसी शब्द के अर्थ का बोध कराता है वह शक्ति कहलाती है। वैयाकरणो ने "शब्दार्थ सम्बन्धः शक्तिः" कहा है। अर्थात् **"बोधक शब्दों और बोध्य पदार्थ या अर्थ के सम्बन्ध को शक्ति कहते हैं।"** शब्दो की शक्ति तीन प्रकार की मानी गई है—१. अभिधा, २. लक्षणा, ३. व्यंजना।

१. अभिधा शक्ति :—अभिधा के द्वारा साधारण अर्थ का बोध होता है। शब्द को सुनते ही यदि उसका अर्थ व्यक्त हो जाय तो यह उसकी अभिधा शक्ति का काम है। पर एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते है, इसलिए जिस शक्ति की सहायता से कोई शब्द किसी एक ही अर्थ को व्यक्त करता है—उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। अभिधा द्वारा शब्द और अर्थ का सम्बन्ध प्रकट करने वाले शब्द तीन प्रकार के हैं—

(क) रूढ शब्द। (ख) यौगिक शब्द। (ग) योग रूढ शब्द।

(क) रूढ़ शब्द :—जब पूरा शब्द केवल एक अर्थ को सूचित करे तो वे रूढ शब्द हैं। रूढ शब्द के लिए कहा गया है—**"व्युत्पत्ति रहिताः शब्दाः रूढ़ा आखण्डलाक्ष्यः"** अर्थात् **"शब्द व्युत्पत्तिरहित और अभेद्य होते है।"** इनमे प्रकृति और प्रत्यय की उपादेयता नही होती। "शब्द कल्पद्रुम" मे लिखा हैं—

"प्रकृतिप्रत्ययार्थमनपेक्ष्यशाब्द बोध जनकः शब्दः रूढ़ः।"

(ख) यौगिक शब्द :—इन शब्दो में प्रकृति और प्रत्यय की सहायता से अर्थ का ज्ञान होता है। जैसे जलधर आदि हैं। जलधर मे जल और धर दो अवयव हैं।

(ग) योग रूढ़—योगरूढ शब्दो मे अनुभवो के योग से अर्थ ध्वनित होते हैं। किन्तु ये यौगिक शब्द किसी विशिष्ट अर्थ के वाचक होते हैं।

निम्नलिखित दोहे मे अभिधामूलक तीनो शब्दो का प्रयोग किया गया है:—

'नूपुर सिंजित चारु अरुन चरन अंवुज नरिस।
भुज मृनाल अनुहारु वदन सुधारक नम रुचिर ॥"

उपरोक्त पद्य मे "नूपुर" से रूढ शब्द, "सुधारक" से यौगिक शब्द तथा "अम्बुज" से योगरूढ शब्द ध्वनित होते हैं।

२. लक्षणा शक्ति—जहाँ शब्द के प्रधान या मुख्य अर्थ के अतिरिक्त किसी दूसरे अर्थ का विधान वाक्य मे सगति लाने के लिए किया जाय वहाँ शब्द की लक्षणा शक्ति का आश्रय लेना पडता है। जैसे—

"अग अग नग जगमगत, दीप शिखा सी देह।
दिया वढाये हू रहै, वड़ो उजेरो गेह ॥"

यदि यहाँ वढाने का अर्थ "वृद्धि करना" या "अधिक करना" लिया जाय तो भाव ठीक से स्पप्ट नही होता और "दीया वढाने" से मुहावरे का अर्थ "दीया वुझाना" लिया जाय तो दोहे मे चमत्कार आ जाता है।

अभिप्राय यह है कि जव अर्थो के विस्तार और उनको भिन्नता प्रदान करने में वाधा उपस्थित होती है तो उसका शमन लक्षणा शक्ति के ही द्वारा होता है। लक्षणा के द्वारा ही भाषा मे गतिशीलता आती है। शब्दो के अल्प व्यय से अर्थ वाहुल्य में सुगमता होती है। वाक्-वैदग्ध भी आ जाता है। इस प्रकार अभिधा से प्राप्त अर्थो मे विशेप चमत्कार की सृष्टि होती है।

काव्यप्रकाशकार ने "लक्षणा शक्ति" का लक्षण इस प्रकार वतलाया है।—

"मुख्यार्थ वाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥"

अर्थात् "मुख्यार्थ सिद्धि में वाधा होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के आधार पर अभिधार्थ से सम्बन्धित दूसरे अर्थ को व्यक्त करने वाली शक्ति लक्षणा शक्ति कहलाती है।

कुमारिल भट्ट ने लक्षणा की विशेषता वतलाते हुए लिखा है—

"मानान्तर विरुद्धे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे।
अभिधेयाविनाभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥"

लक्षणा के दो भेद हैं—

(क) रूढ़ि लक्षणा। (ख) प्रयोजनवती लक्षणा।

(क) रूढ़ि लक्षणा—रूढ़ि होने से जहाँ लक्षणा होती है वहाँ रूढ़ि लक्षणा कही जाती है। जैसे—

"डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल।
कंप किसोरी दरस के खरे लजाने लाल॥"

यहाँ पर रूढ़ि लक्षणा द्वारा "ब्रज" शब्द मे ब्रज निवासी का अर्थ ध्वनित है।

(ख) प्रयोजनवती लक्षणा—मुख्यार्थ के बाधित होने पर जब किसी विशिष्ट लक्ष्य के लिए लक्षणा का प्रयोग करना पड़ता है तब उसे प्रयोजनवती लक्षणा कहते हैं। प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद हैं—(अ) गौणी और (आ) शुद्धा।

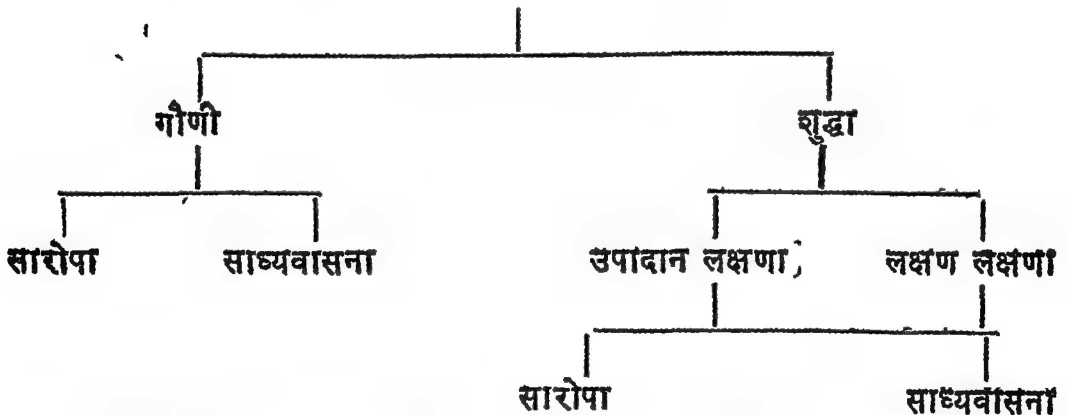
(अ) गौणी लक्षणा—जहाँ मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सादृश्य सम्बन्ध हो अर्थात् सादृश्य सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो, वहाँ गौणी लक्षणा होती है। जैसे—

"शिशिर, न फिर तू गिरि वन में।
जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में॥"

(आ) शुद्धा लक्षणा—जहाँ मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध हो, वहाँ शुद्ध लक्षणा होती है। जैसे—

"अपने कर गुहि आपु हठि हिय पहराई लाल।
मौलसिरी औरे चढी मौलसिरी की माल॥"

काव्य प्रकाश में प्रयोजनवती लक्षणा के भेदों की तालिका इस प्रकार है—



उपादान लक्षणा—जब मुख्यार्थ की सिद्धि के लिए दूसरा अर्थ लिया जाये तो उसे उपादान लक्षणा कहते हैं।

लक्षण लक्षणा—जब लक्ष्यार्थ मुख्य अर्थ के स्थान पर अधिक महत्वपूर्ण होता है तब लक्षण लक्षणा होती है।

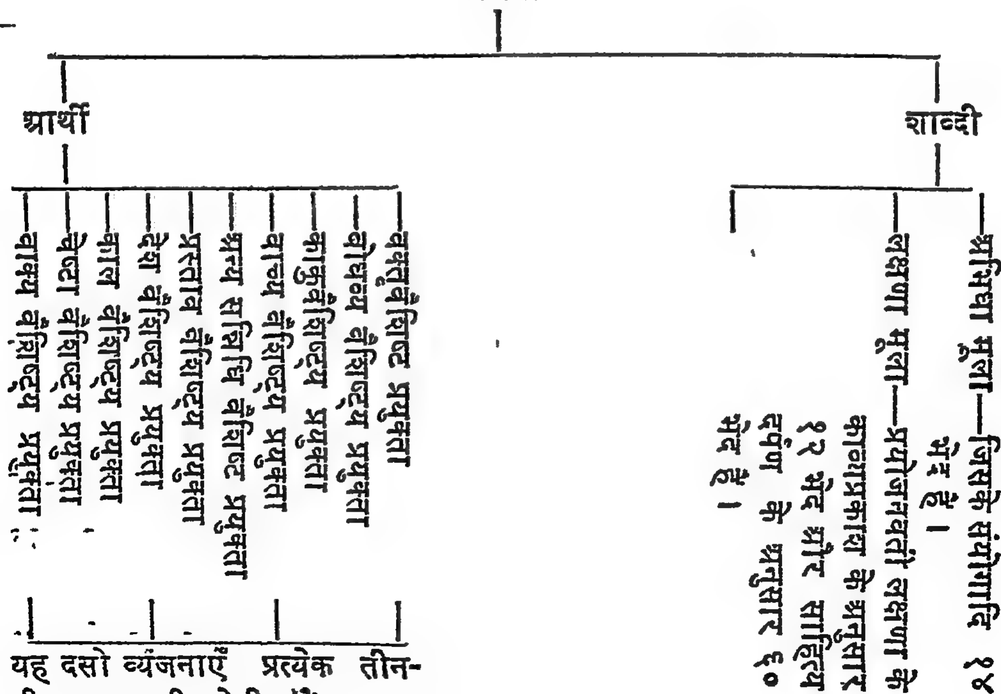
सारोपा गौणी लक्षणा—जहाँ उपमान और उपमेय दोनों का आरोप हो वहाँ सारोपा लक्षणा होती है अर्थात् जहाँ आरोपपूर्वक लाक्षणिक प्रयोग किया गया हो।

साध्यवासना—जहाँ विषय का विषयी से अध्यवसान किया गया हो अर्थात्

विषय का ग्रहण पृथक न किया गया हो, वहाँ साध्यवासना लक्षणा होती है।

विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण मे प्रयोजनवती लक्षणा के चौसठ भेद माने हैं। उन्होने गौणी लक्षणा के भी लक्षण लक्षणा और उपादान लक्षणा दो भेद किये और फिर इनको सारोपा और साध्यवसाना मे बाँटा। शुद्धा के मिलाकर आठ प्रमुख भेद माने। इन आठो को सोलह भेदो मे बाँटा। फिर धर्मगत और धर्मिगत भेदो के आधार पर ६४ भेद माने हैं।

३. व्यंजना शक्ति—मुख्य और लक्ष्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति शब्द के जिस व्यापार से होती है उसे "व्यंजना" कहते हैं। व्यंजना मे लक्षणा की अपेक्षा शब्दो का आधार कम होता है। और शब्द से सकेत पाकर अर्थ निकल पड़ते हैं। व्यजना के द्वारा निबन्ध मे झकार उत्पन्न होती है। इसके द्वारा शैली मे प्राण प्रतिष्ठा होती है और वाक्य रचना को ऐसा प्रभावशाली और प्रभविष्णु बना देता है कि पाठक का लेखक से तादात्म्य हो जाता है। व्यंजना मे यह आवश्यक है कि अर्थ व्यग्य रहते हुए भी शब्द दुरूह न हो। व्यजना के द्वारा ही वाक्य सारगर्भित, प्राणवान् और सशक्त होता है। शैली मे भाषा और भाव का सामजस्य इन तीनो शक्तियो पर ही आधारित है। कन्हैयालाल पोद्दार ने अपने 'काव्य कल्पद्रुम" के प्रथम भाग "रसमजरी" में व्यंजना के भेदो की तालिका निम्न प्रकार है—



वाक्य का महत्व :—काव्य मे शब्दो और शब्द शक्तियों का महत्व वाक्य के द्वारा ही प्रकाश मे आता है। वाक्य सुव्यवस्थित शब्दों का संग्रह है। वाक्य ही काव्य को कलात्मक रूप प्रदान करते हैं। वाक्यों मे भावों का सौन्दर्य मुकुलित होता है। भाषा को प्रभावशाली बनाने के लिए सबसे अच्छा वाक्य वह होता है जिसमें तब तक अर्थ स्पष्ट न हो जब तक वह वाक्य समाप्त नही हो जाता। इसे वाक्योच्चय कह सकते हैं। इस प्रकार के वाक्य पाठक के ध्यान को आकर्षित करके उसे मुग्ध करने उसकी जिज्ञासा को तीव्रता देने तथा आवश्यक प्रभाव उत्पन्न करने का महनीय कार्य करते हैं। वाक्यों की रचना मे शब्दो के संघटन तथा भाषा की प्रौढता का भी विशेष महत्व है। वाक्यो मे इन दोनो गुणो का होना वांछनीय है।

वाक्य बहुत बड़े तथा लम्बे नही होने चाहिए लम्बे वाक्यों से सघटनात्मक गुणो का नाश हो जाता है। और वे रमणीय लगने के स्थान पर अरुचिकर हो जाते हैं। वाक्यो की यह विशेषता लेखक के अभ्यास, कौशल और सौष्ठव-बुद्धि पर आधारित है। जटिल तथा दुर्बोध विषयो का प्रतिपादन करते समय छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग आवश्यक है। जो विषय सरल और सुबोध हो उनके लिए अपेक्षा-कृत लम्बे वाक्यो का प्रयोग वांछनीय हैं। अनावश्यक वाक्यांशों के प्रयोग से पाठक का हृदय ऊब जाता है, और लेखक भी अपने भावों की अभिव्यक्ति सफलतापूर्वक नही कर पाते। फलतः लेखक वाक्यो मे परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने मे असमर्थ रहता है।

जब किसी वाक्य के अंश एक से रूप और आकार के होते हैं तब उन्हें समीकृत वाक्य कहते हैं। इन समीकृत वाक्यो की एकरूपता या तो व्याकरण के नियमो के अनुरूप होती हैं या शब्दो के उच्चारण या अवधारण पर आधारित होती हैं। समीकृत वाक्य हृदय को अधिक प्रभावित करते हैं। तुलनात्मक विषयों में ऐसे वाक्यो की अधिक उपादेयता है।

समीकृत वाक्य एक प्रकार का सुखद विस्मय भी उत्पन्न करते हैं। समीकृत वाक्यों मे संगीतात्मकता भी अधिक होती है। जब एक ही वाक्यांश विभिन्न तथा नवीन भावों का उद्बोधन करता है, तो हम आनन्द तथा विस्मय से अभिभूत हो जाते हैं।

वस्तु अवधारण का संस्थान भी वाक्यों मे महत्वपूर्ण है। जिस बात पर बल देना हो वह वाक्य के प्रारम्भ या अन्त मे होना चाहिए। इस प्रकार से वाक्य में स्पष्टता आ जाती है और वह लालित्य गुण से युक्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त गुण, रीति तथा वृत्ति भी शैली के अंग माने गये हैं।

गुण—गुण तीन होते हैं:—

माधुर्य, प्रसाद और ओज। इनका सम्बन्ध चित्त की तीन वृत्तियों से है। माधुर्य का द्रवणशीलता पिघलाने से है, ओज का उत्तेजना से और प्रसाद का हृदय को प्रसन्न करने से है। प्रसाद तो प्रायः सभी रचनाओं के लिए अनिवार्य गुण है। इसलिए जहाँ

माधुर्य, ओज का सम्बन्ध तीन-तीन रसों से माना है वहाँ प्रसाद का सभी रसों से माना है। माधुर्य गुण शृंगार, करुण और शान्त रस को, ओज गुण वीर, वीभत्स और रौद्र रस को और प्रसाद गुण सब प्रकार के रसो को विशेष प्रकार से परिपुष्ट करता है।

प्रसाद गुण के द्वारा हृदय मे एक साथ अर्थ का आलोक विकीर्ण होता है।

रीतियां—रीतियाँ तीन होती हैं। वैदर्भी, गौडी और पांचाली। मम्मटाचार्य ने रीतियो और वृत्तियो को एक माना है। 'ऐतास्तिस्त्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भीगोड़ी पाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः' किन्तु रीतियो तथा वृत्तियो मे कुछ भेद है। वृत्तियो के विभाजन का आधार रचना के गुण पर है और रीतियो का वर्गीकरण देश या प्रान्त के आधार पर किया जाता है। रीतियो का सम्बन्ध यद्यपि गुणों से है तथापि उनमे रचना के बाह्य रूप को अधिक महत्व दिया गया है।

वृत्तियाँ—गुणो के अनुसार ही तीन वृत्तियाँ मानी जाती हैं—१ मधुरा, २. परूषा, ३. प्रौढा।

माधुर्य गुण के लिए मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति, ओज गुण के लिए परूषा वृत्ति और गौड़ी रीति तथा प्रसाद गुण के लिए प्रौढा वृत्ति और पाचाली रीति आवश्यक मानी गई है।

इसके अतिरिक्त गुण, रीति तथा वृत्ति मे कैसे शब्द हो इसका भी विश्लेपण किया गया है। क्योकि इनका सम्बन्ध साहित्य की आत्मा रस से है।

अलंकार—शैली मे अलकारो को भी विशेष महत्व दिया गया है। अलकार ही भाषा के सौदर्य की वृद्धि करते हैं, उसका उत्कर्ष बढाते हैं और रस भाव आदि को उत्तेजित करते हैं। "कथन की वक्रतापूर्ण शैली ही अलकार है।" यदि भाव, विचार तथा कल्पना काव्य राज्य के अधिकारी हैं तो अलंकार उनके पारिपार्श्वक हैं। अलंकारो के तीन भेद किये गए हैं—शब्दालकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार। अलकार के सम्बन्ध मे पन्त जी के विचार द्रष्टव्य हैं:—

"अलंकार वाणी के आचार-व्यवहार, रीति नीति है। पृथक-पृथक स्थितियों के पृथक-पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओ के वे भिन्न चित्र हैं। वे वाणी के हास, अश्रु, पलक, स्वपन, हाव-भाव हैं। संगीत में जो स्थान राग का है—भावों में वही स्थान अलंकारो का है। दोष वहाँ आ जाता है जहाँ वे वर्ण्य विषय के माध्यम न रह कर वर्ण्य विषय बन जाते हैं।"

इस प्रकार पन्त जी ने अलकारो की बहुत सुन्दर व्याख्या की है। अतः अलकार शैली उत्कृष्टता के लिए आवश्यक है। अलंकार रसानुभूति मे भी सहायक होते हैं।

छन्द—छन्द का सम्बन्ध भी शैली से है। "भावमयी भाषा में जो स्वाभाविक गति आ जाती है छन्द उसी का वाहरी आकार है।" छन्द मे वर्ण ताल और लय

पर आधारित होते हैं। छन्द के द्वारा ही भाषा भावानुकूल होकर पाठकों को अधिक प्रभावित करती है। शब्दो की ध्वनि से भी थोड़ा बहुत अर्थ का बोध हो जाता है। पन्त जी ने छन्द के उचित कार्य तथा महत्व पर बहुत सुन्दर शब्दों में प्रकाश डाला है।

"कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन। छन्द कविता का स्वभाव ही है। स्वय प्रकृति एक अखंड संगीत है। छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।"

छन्दो की सहायता से जो सौंदर्य की सृष्टि होती है उसके मूल में भी अनेकता मे एकता का सिद्धान्त है। नियम लय का ही आकार है। मुक्तक छन्द नियमो से परे होते हैं। इसमें आकार के अभाव मे ही लय की साधना होती है। आधुनिक युग में छन्द के बन्धन ढीले हो गए हैं अब तुक का इतना मान नही है। यद्यपि गद्य में भी गति और लय होती है, किन्तु वह पद्य के समान स्पष्ट रूप मे प्रकट नहीं होती।

ये ही शैली के शास्त्रीय स्तम्भ हैं, जो भाषा को परिमार्जित तथा सुव्यवस्थित कर भाषा की प्रेषणीयता बढ़ाते हैं तथा रसानुभूति में सहायक होते हैं। शैली और भावपक्ष का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

"काव्य उद्‌भव के हेतु"

"हेतु का अभिप्राय उन साधनों से है जो कि कवि को काव्य रचना में सहायक होते हैं।" काव्य के हेतुओ पर पाश्चात्य तथा भारतीय सभी विद्वानों ने बड़े व्यापक रूप से प्रकाश डाला है। यद्यपि सबके मत एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, किन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो अधिकाँश मतो में साम्य प्रतीत होता है।

भारतीय दृष्टिकोण :—आचार्य मम्मट ने "काव्यप्रकाश" में काव्य के हेतु इस प्रकार माने हैं :—

"शक्तिर्निपुणता लोकं शास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तद्‌भुवे॥"

अर्थात् कविता रचने की शक्ति, लोक और शास्त्र आदि का ज्ञान, काव्य जानने वालों की शिक्षा, उसका अभ्यास आदि ही काव्य की उत्पत्ति का मूल कारण हैं। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने काव्य के उद्‌भव के हेतुओ में शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनो को माना है। मम्मट के इस मत को संस्कृत के अन्य आचार्यों ने भी माना है। काव्यप्रकाशकार ने शक्ति या प्रतिभा को नैसर्गिकी अर्थात् जन्मसिद्ध माना है। अन्य दो को अर्जित माना है।

भामह ने आचार्य मम्मट के समान ही शक्ति, निपुणता और अभ्यास को काव्योत्पत्ति का हेतु माना है। यद्यपि दण्डी ने प्रतिभा, शास्त्रज्ञान और अभ्यास को काव्य उद्‌भव का हेतु माना है, तथापि उसने अभ्यास को अधिक महत्व दिया

है। दण्डी ने प्रतिभा को नैसर्गिकी कहा है। परन्तु उसने प्रतिभा से विरहित होकर भी काव्य की कल्पना की है। रूद्रट ने इस सम्बन्ध में मम्मट और भामह का अनुसरण किया है। उन्होने काव्योत्पत्ति में शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को आवश्यक माना है। वाग्भट्ट ने भी तीनो को महत्व दिया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सस्कृत के अधिकाश विद्वानो ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास--इन तीनों को काव्योत्पत्ति का हेतु माना है। यद्यपि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनो एक दूसरे के पर्यायवाची हैं परन्तु प्रत्येक की अपनी कुछ विशिष्टतायें हैं।

अब हम तीनो पर पृथक-पृथक रूप से विचार करेंगे।

प्रतिभा:--शक्ति को दुर्लभ कहा गया है। "कवित्वं दुर्लभ शक्तिः तत्रापि दुर्लभा।" रूद्रट ने शक्ति की व्याख्या इस प्रकार की है—

"मनसि सदा सुसमाधिनि
विस्फुरणमनेकधा विधेयस्य
अविलष्टानि पदानि च
विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥" —काव्यालकार

अर्थात् "जिस विशेषता द्वारा सुस्थिर चित्त में अनेक प्रकार के वाक्यार्थ का स्फुरण तथा कठिनता रहित पदों का भान होता है उसी को शक्ति कहते हैं ॥"

भामह ने प्रतिभा की व्याख्या इस प्रकार की है—

"प्रज्ञा नवनवोन्मेपशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाज्जीवेद् वर्णनानिपुणः कविः ॥"

आचार्य कुन्तक ने प्रतिभा की व्याख्या कुछ और प्रकार से की है—

"प्राक्तनाद्यतन संस्कार परिपाक प्रौढा।
प्रतिभा काचिदेव कवि शक्तिः ॥"

अर्थात् "पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के संस्कारों से परिपक्व दृढ़ बनी हुई एक अनोखी कवित्व शक्ति ही प्रतिभा कहलाती है।"

आचार्य वामन ने प्रतिभा को कवित्व में प्रमुख स्थान दिया है। उसने लिखा है—"कवित्व बीजं प्रतिभान कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजं जन्मान्तरागत संस्कार विशेषः कश्चित् यस्माद् बिना काव्य न निष्पद्यते निष्पन्नं वा हास्याऽऽयतनं स्यात्।"

अर्थात् कवित्व का कारण "प्रतिभान" है। यह प्रतिभान जन्मान्तरगत संस्कार विशेष होता है। उसके बिना काव्य निष्पन्न नहीं हो सकता, और यदि निष्पन्न भी हो जाये तो हास्य को प्राप्त होता है।"

राजशेखर ने "प्रतिभा को कवि के हृदय में शब्द, अर्थ और शक्ति के चमत्कार को अनुभूति जाग्रत करने वाली शक्ति कहा है।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि शक्ति और प्रतिभा एक ही हैं। आचार्य रुद्रट ने भी इन दोनो को एक माना है। कवि मे प्रतिभा का होना आवश्यक है। क्योंकि काव्य की सच्ची उद्भावना प्रतिभा या शक्ति के द्वारा ही होती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा की व्याख्या इस प्रकार की है—"जिस शक्ति के द्वारा काव्य के अनुकूल शब्द और अर्थ कवि के मन में जल्दी-जल्दी आते हैं (काव्यघटानुकूल शब्दार्थोपस्थितिः) उसे प्रतिभा कहते है।"

वाग्भट्ट ने प्रतिभा को सर्वतोमुखी माना है। उन्होंने नवीनता और उसकी ललित पदो मे अभिव्यक्ति दोनो पर जोर दिया है। प्रसन्नपद संस्कृत का और अग्रेजी का Happy expression दोनो वाक्याश एक दूसरे से साम्य रखते हैं। प्रसन्न में प्रसाद गुण का भी सकेत किया गया है।

"प्रसन्न पद नव्यार्थं युक्त्युद्बोध विधायिनी।
स्फुरन्तीसत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ॥"

अर्थात् "सत्कवि की प्रसन्न पदों (ललित प्रसाद गुण युक्त पद) में अभिव्यक्त की हुई नव्यार्थ से (अर्थात् जिनकी पूर्व में उद्भावना न की गई हो इसी को अंग्रेजी में Originality और हिन्दी में मौलिकता कहते हैं) पूर्ण युक्तियों का उद्बोधन करने वाली, सब ओर फैलने वाली चमत्कारयुक्त बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं।"

प्राय: लोग प्रतिभा को जन्मसिद्ध मानते हैं। "Poets are born and not made" किन्तु कुछ मनुष्यो की धारणा है कि प्रतिभा परिश्रम से प्राप्त होती है—"Inspiration is nine tenths perspiration."

वाग्भट्ट ने शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों को समान महत्व दिया है। उसने प्रतिभा को कारण और व्युत्पत्ति को उसका भूषण माना है। वे लिखते हैं—

"प्रतिभा कारण तस्य व्युत्पत्तिस्तुविभूषणम्।
भृशोत्पत्कृदभ्यासत्रि इत्यादिकविसङ्कथा ॥"

अर्थात् "प्रतिभा उसका कारण है और व्युत्पत्ति (लोक और शास्त्र का ज्ञान) उसका भूषण है और बार-बार का अभ्यास शीघ्र काव्य रचना शक्ति का उत्पादक होता है।"

रसगगाधर पडितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा को ही कारण माना है, व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का पोषक और सहायक कहा है। हेमचन्द्र ने व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा को चमका देने वाला माना है।

पाश्चात्य विद्वानो ने भी प्रतिभा पर विचार किया है परन्तु वे उसके निचले स्तरो तक ही पहुँच सके हैं। डा० के० सी० पाण्डेय ने प्रतिभा के सम्बन्ध में लिखा है—"The power of clear visualisation of the aesthetic image

is all its fullness and life is technically called "Pratibha." (Indian Aesthetics', Page 151) अर्थात् "किसी सौंदर्यात्मक पदार्थ के स्पष्ट अन्तर्दर्शन करने वाली शक्ति को प्रतिभा कहते हैं।"

आनन्दवर्धनाचार्य ने महाकवि की प्रतिभा की अभिव्यक्ति उनकी रचना के प्रतीयमान अर्थ से मानी है—

"सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्द मानामहता कवीनाम् ।
आलोक सामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेपम् ॥"

अर्थात् "काव्य के आस्वादनीय अर्थ तत्व को स्फुरित करने वाली महाकवियों की वाणी उनकी अलौकिक असामान्य प्रतिभा विशेष को प्रकट करती है।"

कवि के अतिरिक्त पाठक में भी प्रतिभा होती है।

निपुणता—काव्यप्रकाशकार ने व्युत्पत्ति को निपुणता माना है। यह दो प्रकार से प्राप्त होती है लोक के निरीक्षण से और काव्य शास्त्रों के अध्ययन के द्वारा। जिन वातो का अनुभव वह लोक मे नही प्राप्त कर पाता उनका पूर्ण ज्ञान वह काव्यादि से प्राप्त करता है। इसलिए कहा गया है—"लोक शास्त्र काव्याद-वेक्षणात्"। कवि निपुणता प्राप्त करके ही काव्य की रचना करता है।

अभ्यास—अभ्यास काव्य उद्भव का तीसरा हेतु है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति की सफलता तथा पूर्णता अभ्यास पर निर्भर है। काव्यकला का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। दण्डी ने तो काव्य उद्भव मे अभ्यास को प्रमुख हेतु माना है। वह लिखते हैं—

"न विधते यद्यपि पूर्ववासना
गुणानुवन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ।
तदस्ततन्द्रैरनिश सरस्वती
श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः ।
कृशे कवित्वेपिजनाः कृतश्रमा
विदग्धगोष्ठीपु विहर्तुमीशते ॥"—काव्यादर्श

इस प्रकार स्पष्ट है कि अभ्यास का काव्योत्पत्ति मे विशेप महत्व है।

डा० त्रिगुणायत ने काव्योत्पत्ति के हेतुओ का विवेचन इस प्रकार किया है—"मेरी समझ में काव्य की जनयित्री मनुष्य की प्राणभूत विशेषता उसकी मनन की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति ने ही पशु और मनुष्य में भेद स्थापित कर रखा है। पशुओं में मनन की प्रवृत्ति नहीं होती है। मनुष्य और "मैन" इसी विशेषता के कारण बने हैं। दोनों ही शब्द "मन" धातु से व्युत्पन्न हुए हैं। मानव की इस मनन की वृत्ति ने

ही काव्य या साहित्य को जन्म दिया है। मननशील मानव-मन जब सांसारिक वस्तुओं के सम्पर्क में आता है तब व्यक्तिगत प्रकृति के अनुसार कुछ वस्तुओं को देखकर उसमें तन्मय हो जाता है। कुछ वस्तुओं के प्रति उसके हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है और कुछ के प्रति वह भयभीत होता है। तन्मय प्रधान मननशीलता ही साहित्य की जननी है। जिज्ञासापूर्ण मननशीलता से विज्ञान का विकास होता है। भय विशिष्ट मननशीलता ही धर्म और उपासना का उदय-हेतु है।"

अन्त मे काव्य के हेतुओ के सम्बन्ध में कविवर भिखारीदास जी का निम्न-लिखित छन्द भी दृष्टव्य है—

'सक्ति कवित्त बनाइवे की जेहि,
जन्म नक्षत्र मे दीन्हि विधातैं।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सौं,
देखी सुनी बहु लोक की बातें।
दास है जामैं इकत्र ये तीनि,
बनै कविता मनरोचक तातैं।
एक बिना न चलै रथ जैसे,
धुरन्धर सूत की चक्र निपातैं।"

प्रतिभा और रुचि—जिस प्रकार काव्य रचना के लिए प्रतिभा आवश्यक है। उसी प्रकार काव्य का आनन्द लेने के लिए भावना या आलोचना के लिए रुचि अपेक्षित है। इसको भावियित्री प्रतिभा कहा गया है। अभिनवगुप्त ने कवि की प्रतिभा को आख्या और भावक की प्रतिभा को उपाख्या के नाम से अभिहित किया है। ये दोनो प्रकार की प्रतिभायें एक व्यक्ति मे सम्भव नही। लोकनायक तुलसी ने भी लिखा है—

"मनि-मानिक मुकता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहि सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकवि कवित्त बुध कहही। उपजहिं अनत-अनत छवि लहही॥

पाश्चात्य विद्वानों ने कारयित्री और भावयित्री दोनो प्रकार की प्रतिभाओं को एक माना है। क्योकि आलोचना भी एक प्रकार का सृजन है। कवि जिस प्रकार ससार की वस्तुओ का भावक है, उसी प्रकार आलोचक कवि का भावक है।

अपने भावो को दूसरो के निकट ले जाने की बात जहाँ तक है, वहाँ कवि और भाविक की प्रतिभा एक हैं। किन्तु सृजन और आस्वादन की प्रतिभा में भेद है। यद्यपि भावक मे कवि के समान कल्पना होती है, किन्तु उसमे बुद्धि तत्व का अपेक्षाकृत प्राधान्य होता है। भावक मे निरपेक्षता का भी आधिक्य होता है। यद्यपि हमारे यहाँ के विद्वानों ने प्रतिभा तथा रुचि को भिन्न-भिन्न माना है। परन्तु उन्होंने रुचि को प्रतिभा का ही भेद स्वीकार किया है। कवि में भी रुचि का होना आवश्यक

है। कवि की रुचि को औचित्य का ध्यान रखना आवश्यक है।

रुचि के दो भेद किए गये हैं। एक वैयक्तिक और दूसरी लोक रुचि। वैयक्तिक रुचि भिन्न होती है किन्तु लोक रुचि एक देश मे एक समान होती है।

"काव्य के विभिन्न रूप"

काव्य के कई प्रकार के भेद किये गये हैं। रूप, आकार, प्रवृत्ति, शैली आदि के आधार पर काव्य को कई भागों में विभाजित किया गया है। हिन्दी में काव्य के भेद प्राचीन संस्कृत के ग्रन्थों के आधार पर किये गये हैं। किन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव होते हुए भी, पाश्चात्य साहित्य का उस पर व्यापक प्रभाव पड़ा। उत्तर रीतिकालीन रूढि समर्थित काव्य कला को चुनौती देकर नवयुग के साहित्य का उत्थान एव प्रसार हुआ। अतः काव्य भेद और उसके स्वरूप में भी परिवर्तन स्वाभाविक था।

संस्कृत आचार्यो द्वारा काव्य के भेद :—सर्वप्रथम हम संस्कृत आचार्यों द्वारा किये गये काव्य के भेद पर विचार करेंगे।

अग्निपुराण :—वेद व्यास जी ने अग्निपुराण मे काव्य के तीन भेद किये हैं—

१—श्रव्य—काव्यादि।
२—अभिनेय—नाटकादि।
३—प्रकीर्ण—पत्रादि।

भामह :—भामह ने सम्पूर्ण काव्य को गद्य और पद्य—इन दो भागों में विभाजित किया। भाषा-भेद की दृष्टि से उसको संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश—इन तीन भागो मे बाँटा। काव्य के वर्ण्य वस्तु के आधार पर चार भेद किये—

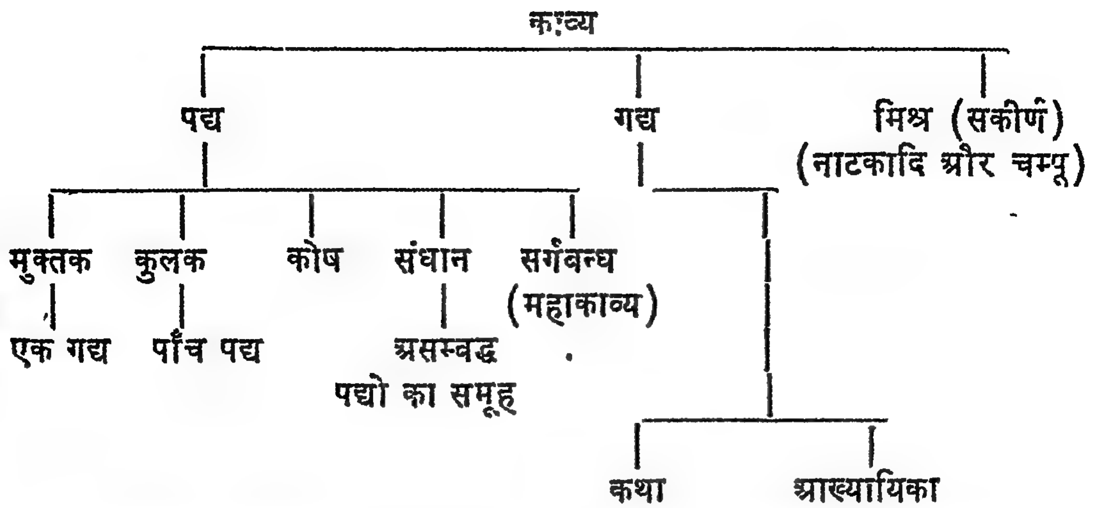
१—वृत्तदेवादि चरितशंस।
२—उत्पाद्यवस्तु।
३—कलाश्रय।
४—शास्त्राश्रय।

स्वरूप भेद से भामह ने काव्य के पाँच भेद बताए हैं :—

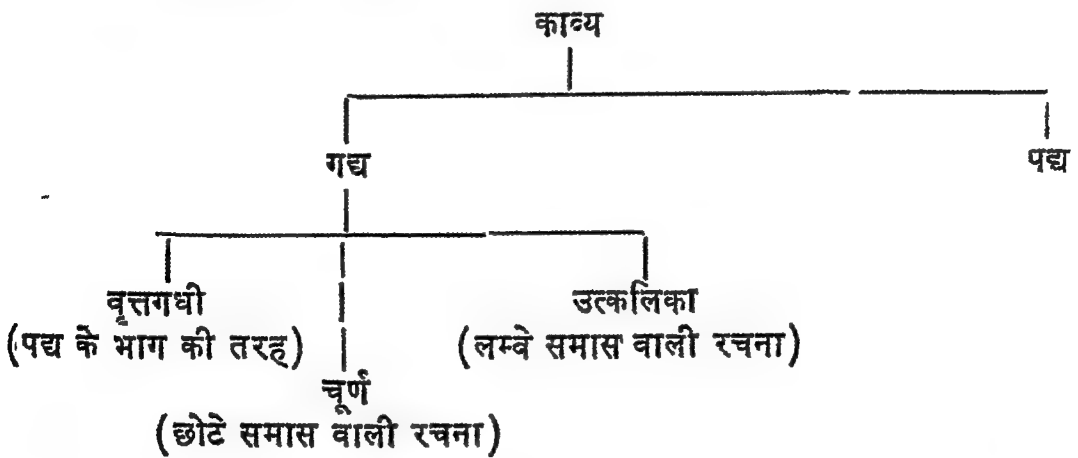
१—सर्गवन्ध (महाकाव्य)।
२—अभिनेयार्थ (नाट्य)।
३—आख्यायिका।
४—कथा।
५—अनिवन्द्र।

भामह का यह काव्य विभाजन विभिन्न आधारों पर निर्मित है।

दण्डी :—दण्डी ने काव्य के तीन भेद किये—गद्य, पद्य और मिश्र। इन तीनों के भी अनेक भेदोपभेद किये। दण्डी के काव्य-विभाजन की तालिका इस प्रकार है—

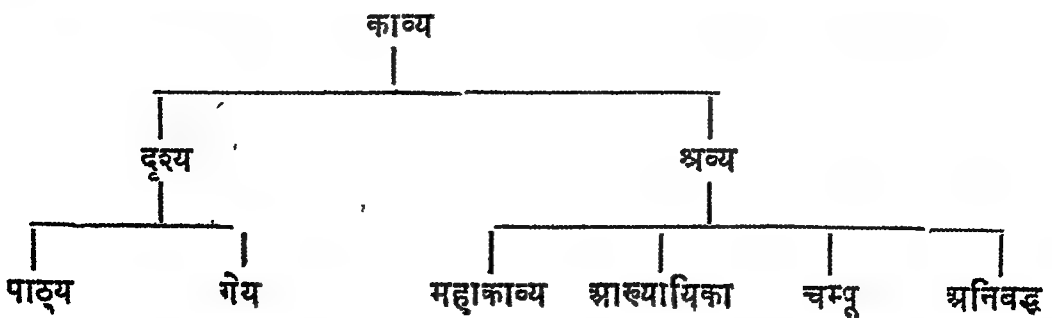


वामन—वामन ने भी काव्य के गद्य और पद्य दो भेद किये है। किन्तु वामन और दण्डी के विभाजन स्वरूप में अन्तर है। "काव्यालंकार सूत्र" मे वामन का विभाजन इस प्रकार दिया गया है:—



रूद्रट—रूद्रट ने "काव्यालंकार" में काव्य के गद्य और पद्य दो भेद करके छः काव्य भाषाओ का वर्णन किया है। इन भाषाओ के आधार पर उन्होने काव्य को छः भागो में विभाजित किया—संस्कृत, मागधी, पैशाची, शूरनी, और अपभ्रंश।

हेमचन्द्र—हेमचन्द्र ने सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और ग्राम्यापभ्रंश इन चार भाषाओ को काव्य भाषा के अन्तर्गत माना है। उनका काव्य-विभाजन इस प्रकार है:—



विश्वनाथ—विश्वनाथ ने "साहित्य-दर्पण" में काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद किये हैं और फिर उनके अनेक भेदोपभेद किये हैं। उनका विभाजन सामने के पृष्ठ पर देखिये :—

इस प्रकार विश्वनाथ ने काव्य के दो भेद किये हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य के दो भेद किये हैं—रूपक और उपरूपक। रूपक के नाटक, प्रकरण आदि १० भेद किये गए हैं और उपरूपक के नाटिका, त्रोटक आदि १६ भेद किये हैं। श्रव्य काव्य के गद्य और पद्य दो भेद किये गए हैं। पद्य के मुक्तक, युग्मक आदि १० भेद और गद्य के मुक्तक, वृत्तगन्ध आदि चार भेद किये गए हैं।

पाश्चात्य काव्य विभाजन—योरुप के विद्वानों ने व्यक्ति और संसार को पृथक करके काव्य के दो भेद किये हैं।

(१) विषयीगत (Subjective)–इसमें कवि को प्रधानता मिलती है।

(२) विषयगत (Objective Poetry)–जिसमें कवि से अतिरिक्त सृष्टि को मुख्यता दी जाती है।

विलियम हेनरी हडसन ने "An Introduction to the Study of Literature" में काव्य का विभाजन विभिन्न रूपों में किया है।

विषयीगत (Subjective Poetry) के निम्नलिखित भेद हैं:—

(१) दार्शनिक एवं विचारात्मक गीत (Meditative and Philosophical Lyrics)
(२) सम्बोधन गीत (Ode)
(३) दुःखात्मक गीत (Elegy)
(४) पत्र गीत (Epistle)
(५) व्यंग्य गीत (Satire)
(६) वर्णनात्मक गीत (Descriptive Poetry)

हडसन ने विषयगत (Objective Poetry) के दो भेद माने हैं:—

(१) वर्णनात्मक कविता (Narrative Poetry)
(२) अभिनयात्मक काव्य (Dramatic Poetry)

वर्णनात्मक कविता के चार भेद हैं—

(१) वीर गीत (Ballad)
(२) महाकाव्य (Epic)
(३) छन्दवद्ध रोमांचकारी कथाएँ (Materical Romance)
(४) कविता में यथार्थवाद (Realism in Poetry)

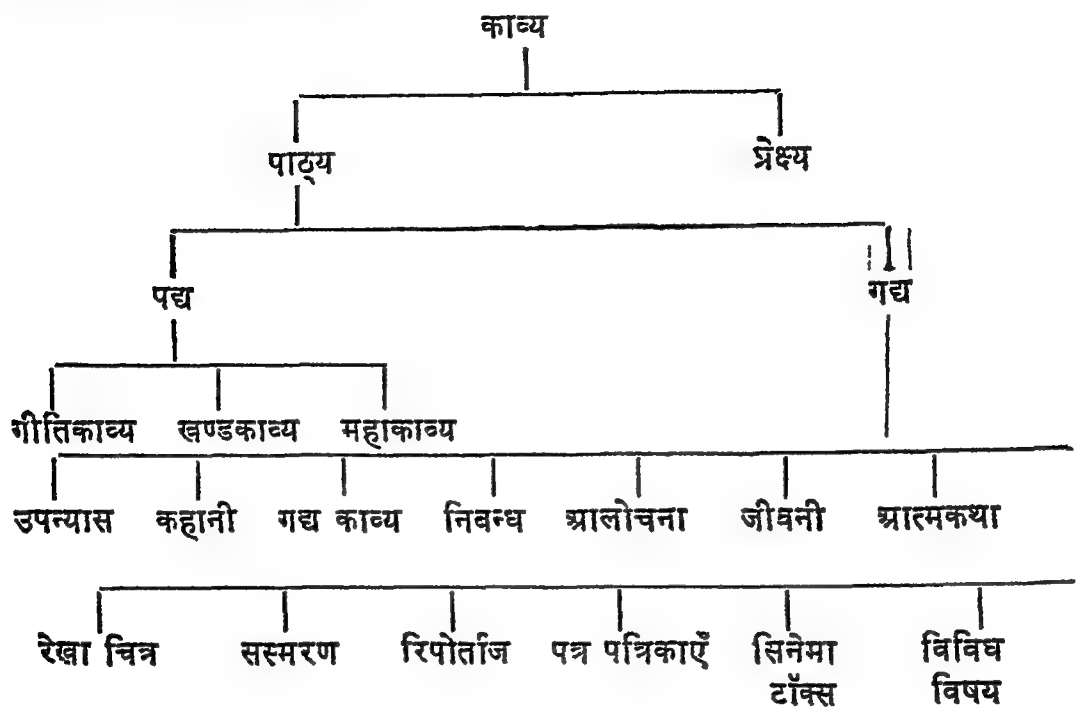
नाटकीय काव्य के भी तीन भेद हैं:—

(१) नाट्य गीत (Dramatic Lyric)
(२) नाट्य कथाएं (Dramatic Story)

- काव्य
  - दृश्य
    - रूपक
      - नाटक
      - प्रकरण
      - भाण
      - व्यायोग
      - समवकार
      - डिग
      - ईहामृग
      - श्रक
      - वीथी
      - प्रहसन
    - उपरूपक
      - नाटिका
      - त्रोटक
      - गोष्ठी
      - सदृक
      - नाट्यरासक
      - प्रस्थानक
      - उल्लाप्य
      - काव्य
      - प्रेरव
      - रासक
      - श्रीगदित
      - शिल्पक
      - विलासिका
      - दुमल्लिका
      - प्रकरणी
      - हल्लीस
      - भणिका
      - संलापक
  - श्रव्य
    - पद्य
      - मुक्तक
      - युग्मक
      - सदानितक
      - कलापक
      - कुलक
      - महाकाव्य
      - काव्य
      - खडकाव्य
      - कोष
      - व्रज्या
    - गद्य
      - मुक्तक
      - वृत्तगध
      - उत्कलिकाप्राय
      - चूर्णक

३—नाट्य स्वगत (Dramatic Marologue or Solioquy)

हिन्दी साहित्य मे काव्य के भेद :—आधुनिक हिन्दी काव्य के विविध रूपो की तालिका इस प्रकार है—



इन सब का विवेचन हम आगे के अध्यायों मे करेंगे।

काव्य दोष

हमारे यहाँ के प्राचीन विद्वानो ने काव्य को निर्दोष होना आवश्यक माना है। आचार्य मम्मट ने तो काव्य की परिभाषा मे काव्य की निर्दोषिता पर विशेष बल दिया है। "तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"—"वे ही शब्द और अर्थ काव्य कहलाते है, जो दोषो से रहित तथा गुणों से युक्त होते है।" अलंकार चाहे कभी-कभी न भी हो। आचार्य दण्डी ने तो तिल के सदृश काव्य दोष को भी अक्षम्य माना है। क्योकि वह कोढ के धब्बे के समान साहित्य के सौन्दर्य को विकृत कर देता है। वे लिखते हैं :—

> "तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दृष्ट कथंचन।
> स्याद्वपु· सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन् दुर्भगम्॥"

भामह तो कुकवित्वं को साक्षात् मृत्यु ही मानते है—"कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृति माहुर्मनीषिण."।

अतः विद्वानों ने दोषो को इतना अधिक महत्व दिया है कि दोषों के अभाव को ही गुण माना गया है। मम्मट ने काव्य दोष का लक्षण "मुख्यार्थ हतिर्दोष:" लिख कर व्यक्त किया है। इस प्रकार मम्मट ने "मुख्य अर्थ को बाधित करने वाले विकार को काव्य दोष माना है।"

दोषों की संख्या के सम्बन्ध मे विद्वान एक मत नहीं हैं। भरत मुनि ने दस दोषों को माना है। अग्नि पुराण मे व्यास जी ने तीन दोषो का उल्लेख करके उनके उपभेदों की विवेचना की है। दण्डी ने दस दोषों को माना है। भामह ने ग्यारह दोषो का वर्णन किया है। आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश में दोषो की विस्तृत विवेचना की है। बाद के विद्वानो ने दोष निरूपण मे मम्मट का ही अनुसरण किया है। ध्वन्यालोक में दोष शब्द के लिए अनौचित्य शब्द का प्रयोग किया गया है।

प्रमुख काव्य दोषों का विभाजन चार भागों मे किया गया है :—

(१) शब्द दोष।
(२) अर्थ दोष।
(३) रस दोष।
(४) वर्णन दोष।

(१) शब्द दोष—काव्य में वाक्य का अर्थ समझने से पूर्व ही जब कोई शब्द खटकने लगता है तो वह शब्द दोष कहलाता है। ये शब्द तीन प्रकार के हो सकते हैं :—

(१) पदगत।
(२) पदांशगत।
(३) वाक्यगत।

शब्द दोष इस प्रकार माने जा सकते हैं :—

(१) श्रुति कटु
(२) च्युत संस्कृति
(३) अप्रयुक्त
(४) असमर्थ और अयथार्थ
(५) निहतार्थ
(६) अनुचितार्थ
(७) निरर्थक
(८) अवाचक
(९) अश्लील
(१०) ग्राम्यत्व
(११) नेयार्थ
(१२) क्लिष्टत्व
(१३) अप्रतीत्व
(१४) अविमृष्ट विधेयांश
(१५) प्रतिकूल वर्ण दोष
(१६) न्यूनपदत्व
(१७) अधिक पद
(१८) व्यर्थ पद
(१९) कथित पद
(२०) अस्थान पद
(२१) अक्रमत्व
(२२) अन्वय दोष

(१) श्रुतिकटु—मधुर स्थलों पर जब कटु पदों या वाक्यों का प्रयोग किया जाता है तब श्रुतिकटु दोष होता है।

"कवि के कठिनतर कर्म की करते नही हम धृष्टता
पर क्या न विषयोत्कृष्टता लाती विचारोत्कृष्टता ॥"—काव्य दर्पण

इसमें विषयोत्कृष्टता, विचारोत्कृष्टता श्रुति कटु हैं।

(२) च्युत संस्कृति दोष—इस दोष के अन्तर्गत व्याकरण विरुद्ध प्रयोग आते हैं। जैसे :—

"मर्म वचन जब सीता बोला,
हरि प्रेरित लछिमन मन डोला।"

इसमे सीता बोला प्रयोग व्याकरण विरुद्ध है।

(३) अप्रयुक्त दोष—अप्रचलित पदो के प्रयोग इस दोष के अन्तर्गत आते हैं।

(४) असमर्थ दोष—जब कोई पद अपने यथार्थ अर्थ को व्यजित न कर सके तो वहाँ असमर्थ दोष होता है। जैसे :—

"मणि ककण भूषण अलंकार
उत्सर्ग कर दिए क्यो अपार।" —काव्य दर्पण

यहाँ उत्सर्ग से दान की ध्वनि निकलती है। जब कि इसका प्रयोग छोड़ने के अर्थ मे किया गया था। अतः यहाँ असमर्थ दोष है।

(५) निहितार्थ दोष—जहाँ किसी शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ मे प्रयोग हो। उदाहरण :—

विषमय यह गोदावरी अमृत के फल देति।
केसव जीवनहार के दु:ख असेस हरि लेति॥

विष और जीवन का अर्थ पानी होता तो है पर अधिक प्रसिद्ध नही।

(६) अनुचितार्थ दोष—जहाँ प्रयुक्त पद उचित अर्थ न देकर अनुचित अर्थ देने लगे वहाँ यह दोष होता है :—

"पलग से पलना पर घाल के,
जननि आनन इन्दु विलोकती।" —काव्य दर्पण

यहाँ पर घाल कर का प्रयोग डालने के अर्थ मे किया गया है जब कि इसका शाब्दिक अर्थ मार है।

(७) निरर्थक दोष—जब अन्यावश्यक पदो का प्रयोग किया जाता है तब निरर्थक दोष होता है :—

"दास बनने का बहाना किस लिए
क्या मुझे दासी कहाना इस लिए
देव होकर तुम सदा मेरे रहो
और देती हो मुझे रखो अहो।" (साकेत)

यहाँ अहो का प्रयोग निरर्थक है।

(८) अवाचक दोष—जब शब्द कवि की विशेष भावव्यंजना मे असमर्थ रहते हैं तब यह दोष आ जाता है।

"कनक से दिन मोती सी रात,
सुनहली सांझ गुलाबी प्रात।
मिटाता रगता बारम्वार,
कौन जग का यह चित्राधार॥" —काव्य दर्पण

चित्राधार का सामान्य अर्थ है 'अलबम' किन्तु यहाँ पर इसका प्रयोग चित्रकार के अर्थ मे किया गया है।

(९) अश्लीलत्व दोष—काव्य मे जब लज्जास्पद, घृणास्पद और अमंगलवाचक पदों का प्रयोग किया जाता है तब यह दोष आ जाता है। जैसे :—

मदिरा पीना आपने समझ लिया था पाप।
लगे थूक कर चाटने इतनी जल्दी आप॥

(१०) ग्राम्यत्व दोष :—काव्य मे जब अशिक्षित ग्रामवासियो के शब्दों का प्रयोग किया जाता है तब वह ग्राम्य दोप कहलाता है। उदाहरण—

पड़े झटोले पर रहे नीद न आई राति।

यहाँ पर रेखाकित शब्द ग्राम्य प्रयोग है।

(११) नेयार्थ:—जहाँ लक्षण न होने पर लक्षणा मूलक अर्थ लिया जाये वहाँ यह दोष होता है, जैसे :—

"बड़े मधुर हैं प्रेम सद्य से निकले वाक्य तुम्हारे।" —काव्यदर्पण

यहाँ पर प्रेम सद्य का अर्थ लक्षणा की सहायता से लिया गया है।

(१२) क्लिष्टत्व दोष :—जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ हो जिनके अर्थ का बोध कठिनता से हो वहाँ यह दोष माना जाता है, उदाहरण :—

वेद नखत गृह जोरि अरध करि सोई बनत अबखात (सूर)

वेद = ४ + नखत = २७ + गृह = ९ = ४० ÷ ½ = २० (बीस) = विष।

गोपियां कहना चाहती हैं कि अब विप खाते ही बनता है कितना क्लिष्ट अर्थ है।

(१३) अप्रतीत्व दोष :—जब कवि पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग करता है तो उसका अर्थ साधारण पाठकों के लिए कठिन हो जाता है। तब अप्रतीत्व दोष माना जाता है, जैसे—

हैं प्रधान के तीनि गुण व्याप्त विश्व मे जौन।
हो स्वतन्त्र इनते रहे अस जग जन्मा कौन॥

यहाँ पर प्रधान शब्द साख्य शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है प्रकृति। अत: यह शब्द साधारण पाठक के लिए बोधगम्य नही।

(१४) अविभ्रष्ट विधेयांश :—जब रसाभासादि के प्रयोग से लेखक के अभीष्ट अर्थ की व्यंजना न हो सके तब अविभ्रष्ट विधेयाश होता है, जैसे—

"आज मेरे हाथों अन्त आया जान अपना।
देश से ही आज रामानुज मैं यहाँ
करता प्रचारित हूँ युद्ध हेत तुम को॥" —काव्य दर्पण

यहाँ पर रामानुज शब्द से कवि के अभीष्ट अर्थ की व्यंजना नही होती।

(१५) प्रतिकूल वर्ण :—जब रस के विरुद्ध वर्णों का प्रयोग किया जाता है तब प्रतिकूल दोष होता है।

"मुकुट की चटक और लटक विवी कुण्डल की" इत्यादि।

यहाँ पर शृंगार रस के प्रतिकूल वर्णो का विधान किया गया है।

(१६) न्यूनपदत्व दोष :—जहाँ अर्थ को पूर्ण रूपेण स्पष्ट करने के लिए जितने शब्दो की अपेक्षा हो उससे कम शब्दो का प्रयोग किया गया हो वहाँ यह दोष होता है। तुलसी का निम्नलिखित दोहा इसका प्रसिद्ध उदाहरण है—

उत्तम मध्यम नीच गति पाहन सिकता पानि।
प्रीति परिच्छा तिहुँन की वैर व्यतिक्रम जानि॥

एक अनिवार्य शब्द रेखा छूट गया जिसके अभाव मे अर्थ अस्पष्ट है।

(१७) अधिक पदत्व दोष :—जब रचना मे अनावश्यक शब्दों की भरमार होती है तब यह दोष आ जाता है, जैसे—

लिपुटी पुहुप पराग पट सनी स्वेद मकरन्द

यहाँ पुहुप का प्रयोग अनावश्यक है जब कि पराग से ही पुष्प रज का बोध हो जाता है।

(१८) व्यर्थ पदत्व दोष :—जब कभी अनावश्यक और व्यर्थ के पदो की योजना होती है जिससे वास्तविक अर्थ व्यंजना मे कुछ भी सहायता नही मिलती तब व्यर्थ पदत्व दोप होता है :—

"एक एक करके तिल तिल करके
दिए रत्नकण सारे खोल—"

यहाँ पर तिल "तिल करके" पद व्यर्थ तथा अनावश्यक है।

(१९) कथित पद दोष :—जब व्यर्थ के समानार्थ पदों का प्रयोग एक ही पद मे किया जाये तब यह दोष होता है।

इन म्लान मलिन अधरो पर स्थिर रही न स्मित की रेखा

उपरोक्त पक्ति मे म्लान और मलिन दोनो ही पद समानार्थक हैं।

(२०) अस्थान पदत्व दोष :—पदो के स्थान अनौचित्य दोष को अस्थान पदत्व दोष कहते हैं।

(२१) अक्रमत्व दोष :—जिस स्थान मे जो शब्द होना चाहिए उसे उस स्थान मे न रखने से यह दोष होता है।

'विश्व में लीला निरन्तर कर रहे वे मानवी"

यहाँ लीला शब्द मानवी का विशेष्य है जो उसके निकट न रह कर बहुत दूर जा पड़ा है।

(२२) अन्वय दोष :—जब पद के अन्वय में बाधा हो तब अन्वय दोष होता है।

"थे दृग से झरते अग्नि खण्ड लोहित थे ज्यों हिंसा प्रचण्ड"

यहाँ यह अस्पष्ट है कि लोहित दृग का विशेषण है या अग्नि खण्ड का।

(२) अर्थ दोष—पुनरुक्ति दोष :—भिन्न-भिन्न शब्दो और वाक्यो द्वारा यदि एक ही अर्थ की प्रतीति हो तो उसमे पुनरुक्ति दोष होता है, जैसे—

"जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना, जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना"

पहली पंक्ति दूसरी पक्ति का भी अर्थ देती है अतः दूसरी पक्ति व्यर्थ है।

अनावश्यक प्रयोग दोष :—ऐसे अर्थ वाले शब्दो का प्रयोग दिया जाये जिन्हें निकाल देने पर पद्य के अर्थ मे कोई व्याघात न पहुँचे तब यह दोप होता है।

"तिमिर पारावार में आलोक प्रतिमा है अकम्पित
आज ज्वाला से बरसता क्यो मधुर घनसार सुरभित।"

यहाँ पर घनसार के साथ सुरभित शब्द का प्रयोग व्यर्थ है।

क्लिष्टार्थ दोष :—जब अर्थ का बोध कठिनता से होता है तब यह दोष होता है।

आशाओ की करवट फिर सुप्त व्यथा का जगना।

यहाँ पर करवट के अर्थ का बोध बहुत देर मे होता है।

अव्याहत दोष :—जिसका महत्व दिखाया जाना चाहिए उसी का तिरस्कार होने पर यह दोष आ जाता है।

"दानी दुनियाँ मे बड़े देत न धन जन हेत"

यहाँ पहले दानियों के बड़प्पन को दिखाकर फिर उनका तिरस्कार किया गया है।

संदिग्ध दोष—जब कवि के भावों का वांछनीय अर्थ न निकले तब यह दोष होता है।

निर्हेतु दोष—जब कवि किसी बात का विवेचन करते समय उसके हेतु को प्रकट नही कर पाता, तब निर्हेतु दोष होता है।

"घर-घर घूमत स्वान सम लेत नही कुछ देत"

यहाँ पर यह अस्पष्ट है कि द्वार-द्वार पर जाने पर भी वह व्यक्ति देने से क्यों नहीं लेता।

प्रसिद्धि दोष—जिस वस्तु के विषय में जैसी प्रसिद्धि हो उसके विपरीत

वर्णन करना इस दोप के अन्तर्गत है। जैसे—

"हरि दौड़े रण मे लिये कर मे धन्वा वाण"

श्रीकृष्ण चक्र के साथ ही तो प्रसिद्ध हैं ? धनुप वाण के साथ नही।

दुष्क्रमत्व दोष—सासारिक व्यवहार में व्यापारो का जो क्रम होता है अथवा शास्त्रीय नियमो के द्वारा कार्यों का जो क्रम होता है उसके विरुद्ध वर्णन करने से दुष्क्रमत्व दोप होता है—

"मारुत नदन मारुत को मन को खगराज को वेग लजायो—(तुलसी)

यहाँ उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाना आवश्यक था परन्तु उसमे व्यतिक्रम हो गया है। ठीक क्रम होता खगराज, मारुत, मन इस व्यतिक्रम के कारण ही यहाँ व्यतिक्रम दोप है।

विद्याविरुद्ध दोष—जव किसी विद्या के विरुद्ध कथनो का प्रयोग किया जाता है तव यह दोप होता है। जैसे—

"वह एक अवोध अचेतन वे सुध चैतन्य हमारा"

यहाँ पर चैतन्य को अवोध और अचेतन माना गया है जो वेदान्त के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

अनवीकृत दोष—जहाँ एक ही प्रकार से अनेक अर्थों का वर्णन किया जाय तब यह दोष होता है।

"लौट आया पानी फिर आर्य तलवार मे
लौट आई उष्णता शिथिल नस-नस मे
लौट आया आज फिर ठण्डे पड़े रक्त मे
लौट आई फिर अरि भेदने की वीरता

यहाँ लौट आई की पुनरावृत्ति की गई है अतः यहाँ अनवीकृत दोष है।

साकांक्षा दोष—जब कुछ शब्दों का अन्तरभाव अर्थ की पूर्णता के लिए किया जाय तब यह दोप होता है।

"इधर रह गन्धर्वों के देश पिता की हूँ प्यारी सन्तान।

यहाँ प्रथम चरण मे "मैं" और द्वितीय चरण मे "अपने" शब्दो का विधान अपनी ओर से करना पडा।

अपदयुक्त दोष—जब ऐसे पदो तथा वाक्यों की योजना की जाये जिनसे प्रस्तुत अर्थ का मण्डन होने के स्थान पर खण्डन हो तब यह दोष होता है।

"सद्वंगज लकापति शैव सुर जयी और
पर रावण रहते कहाँ सतगुण मिलि इक ठौर।"

यहाँ पर रावण के दुर्गुणो का खण्डन किया गया है।

सहचर भिन्नता दोष—जब उत्कृष्ट और निकृष्ट सुन्दर और असुन्दर वस्तुओं

का वर्णन एक साथ किया जाय तब यह दोष होता है।

"वैद को वैद गुनी को गुनी ठग को ठग ड्यूक को ड्यूक मन भावै।
काग को काग मराल को मराल काधै गधा को गधा खुजलावै॥"

यहाँ वैद, गुणी, मराल आदि के साथ कौआ, गधा आदि का वर्णन किया गया है जो अनुचित है।

प्रकाशित विरुद्ध दोष—जब कवि का अभीष्ट अर्थ व्यंजित न होकर विरोधी अर्थ प्रकाशित हो तब यह दोष होता है।

"मनु निहारने लगे ज्यो यामिनी का रूप।
वह अनन्त प्रगाढ छाया फैलती अपरूप॥"

यहाँ पर "अपरूप" शब्द का प्रयोग सुन्दर के अर्थ में किया गया है, किन्तु इसका वास्तविक अर्थ "विकृत रूप" है।

अश्लील दोष—जब लज्जाजनक अर्थ ध्वनित हो तब अश्लील दोष होता है।

कुसुम मालि अस मालति पाई।
जनु चम्पा गहि डार ओनाई॥
कली वेधि जनु भवर भुलाना।
हना राहू अरजनु के बाना॥

यहाँ पर मिलन की लज्जाजनक व्यंजना है।

रस दोष—स्वशब्द वाच्य दोप-भाव जहाँ व्यग न होकर उल्लिखित हो वहाँ यह दोप होता है।

"कौशल्या क्या करती थी, क्या कुछ धीरज धरती थी"

यहाँ पर संचारिभाव धीरज व्यंग न होकर उल्लिखित है।

अकाड प्रथन—जहाँ प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत रस का विस्तार किया जाय तब यह दोष होता है।

विभाव और अनुभाव की कष्ट कल्पना—जब भाव और विभाव के निश्चय मे कठिनाई उपस्थित हो तब यह दोप होता है।

यह अवसर तजि कामना किन पूरन करि लेहु
ये दिन फिर ऐहैं नही यह छन भगुर देहु…"

यहाँ पर कामुक और विरागी दोनो व्यक्ति आलम्बन हो सकते हैं। यहाँ पर आलम्बन का निश्चय करना कठिन है अतः यहाँ यह दोष है।

परिपन्थि साङ्गपरिग्रह—अभीष्ट रस के स्थान पर विरुद्ध रस की योजना से यह दोष उत्पन्न होता है।

"इस पार प्रिये मधु है तुम हो।
उस पार न जाने क्या होगा ॥"

यहाँ पर प्रथम चरण मे शृंगार का परिपाक है और द्वितीय मे निर्वेद का भाव ध्वनित किया गया है। अतः शृगार के परिपाक मे बाधा पहुँचती है।

रस की पुनः-पुनः दीप्ति–यह दोष प्रवन्ध काव्य मे पाया जाता है। आवश्यकता न होने पर बार-बार रस की उद्दीप्ति करने से यह दोष उत्पन्न होता है।

अकाण्ड छेदन दोष—जब रस के पूर्ण परिपाक के समय किसा कारण से रस भग हो जाय तब यह दोष होता है।

अंगभूत रस की अतिवृद्धि—जब कवि प्रधान रस की उपेक्षा कर अग रसो के परिपाक को महत्व देने लगता है तब अगभूत की अतिवृद्धि दोष माना जाता है।

अगीकी विस्मृति—जब कवि प्रधान रस के परिपाक को विस्मृत कर देता है तब यह दोष माना जाता है।

प्रकृति विपर्यय दोष—काव्य या नाटक मे नायक तीन प्रकार के होते हैं। दिव्य, देवतावतार और मनुष्य। जब काव्य या नाटक मे इन नायको की प्रकृति के अनुकूल चरित्र का विकास नही दिखाया जाता तब यह दोष होता है।

अनंग वर्णन दोष—कभी-कभी अग रसो के स्थान पर अनंग रसो का विधान किया जाता है जिससे मुख्य रस का परिपाक नही होने पाता तब यह दोष होता है।

वर्णन दोष—पूर्वापर विरोध दोष—जहाँ पहले एक बात कही जाय फिर उसमें विपरीत बात कही जाय तब यह दोष होता है। यह दोष प्रबन्ध काव्यो मे पाया जाता है।

प्रकृति विरोध दोष—जब बात प्रकृति स्वरूपो के विरुद्ध हो तब यह दोष होता है।

अर्थ विरोध दोष—जब कवि प्रत्यक्ष विरोधी बात कहता है तब यह दोष होता है।

स्वभाव विरोध दोष—जब कवि किसी का वर्णन जातिगत या स्वभावगत गुणो के विरुद्ध करे तब यह दोष होता है। जैसे—

"फाड़-फाड़ कर कुम्भस्थल मदमस्त गजो को मर्दन कर
दौडा सिमटा जमा उडा पहुँचा दुश्मन की गर्दन पर ॥"

यहाँ पर अश्व के स्वभावगत गुणो के विरुद्ध वर्णन किया गया है।

आज का युग बुद्धिवादी है, अतः और भी नवीन दोषों का अन्वेषण हो सकता है।

तृतीय अध्याय

"साहित्य" का निरूपण

साहित्य की व्याख्या:—साहित्य का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। धर्म, दर्शन, विज्ञान और काव्य (जिसमे गद्य, पद्य, और नाटक, उपन्यास, आख्यायिका आदि हैं) राजनीति, अर्थशास्त्र आदि जितना वाड्मय है, सब साहित्य के अन्तर्गत समाहित हैं। संकुचित दृष्टिकोण से साहित्य काव्य का पर्याय है। साहित्य मानव समाज के विचारो का आगार है और विचारो के द्वारा ही समाज का कार्य सम्भव है, हमारे विचार भापा का परिधान पहन कर समाज के सम्मुख आते हैं और सक्रिय हो उसकी गति को निश्चित करते हैं। इसके द्वारा मानव जीवन की अभिव्यक्ति और "सम्पूर्ण ज्ञान की चेतना का बोध होता है।"

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति:—उत्तम भापा मे व्यक्त किये हुए जन-समाज के उत्तमोत्तम विचार सगृहीत होकर साहित्य का रूप धारण करते हैं। साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत के सहित शब्द से हुई है। सहित का अर्थ है विविध वस्तुओं का एकीकरण। कुछ व्यक्ति इसका अर्थ कल्याण सहित मानते हैं। अतः सहित अर्थात् सग्रह के भाव को ही साहित्य कहते हैं। संस्कृत मे "सहितस्य-भावः साहित्यम्" लिखकर इसका व्युत्पत्तिमूलक विग्रह किया गया है। इसके अनुसार साहित्य वह रचना है जिसमें एक मे ही अनेक वस्तुएँ मीलित हो। इन वस्तुओं मे कलाकार या साहित्यकार के भाव या विचार समाहित हैं। इस प्रकार साहित्य साहित्यकार के भावो तथा विचारो की अभिव्यक्ति है।

संस्कृत में निरूपित साहित्य की परिभाषाएँ:—साहित्य को काव्य का पर्यायवाची माना गया है। वास्तव में साहित्य काव्य का व्यापकतम रूप है। संस्कृत के विद्वानो ने साहित्य की परिभाषा भिन्न-भिन्न रूपो में की है।

रुद्रधर:—रुद्रधर ने "श्राद्ध विवेक" मे साहित्य की व्याख्या इस प्रकार की है:—

"परस्परसापेक्षाणा तुल्यरूपाणा युगपदेक क्रियान्वियित्वं साहित्यम्" अर्थात् "परस्पर सापेक्षित तुल्य कोटि की वस्तुओं के संग्रह को साहित्य कहते है।" इस प्रकार साहित्य विभिन्न प्रकार के विविध विपयो पर लिखे गये ग्रन्थ समूह का नाम है।

शब्द शक्ति प्रकाशिका:—इस ग्रन्थ मे साहित्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है:—

"तुल्यवदेक क्रियान्वयित्वम् वृद्धि विशेष विषयित्वम् साहित्यम्"।

विल्हण:—विल्हण ने "विक्रमाङ्क देव चरित्र" मे साहित्य शब्द का प्रयोग भाषा विशेष के ग्रन्थ समूह के अर्थ में किया है। इस प्रकार संस्कृत के विद्वानों ने साहित्य शब्द को काव्य से व्यापक माना है।

कुन्तक.—वक्रोति जीवितकार कुन्तक ने साहित्य की व्याख्या निम्नलिखित शब्दो मे की है—

"साहित्यमनयो शोभाशालिनाम् प्रति काप्यसौ
अन्यूनानातिरिक्तत्वम् मनोहारिण्यवस्थिति."।

अर्थात् "साहित्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ दोनो की परस्पर स्पर्धामय मनोहारिणी श्लाघनीय स्थिति हो।" वास्तव मे "साहित्य में वाचक की वाचान्तर के साथ और वाच्य की वाच्यान्तर के साथ परस्पर एक की अपेक्षा दूसरे का अपकर्ष और उत्कर्ष न होकर; समान रूप में स्थिति होती है।"

राजशेखर:—राजशेखर ने साहित्य शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया है:—

"शब्दार्थयोर्यथावत्सह भावेन साहित्य विद्या"

अर्थात् वह विद्या जहाँ शब्द और अर्थ का यथायोग्य सहयोग रहता है साहित्य विद्या है।

भर्तृहरि:—भर्तृहरि ने कहा था कि जो व्यक्ति, संगीत, साहित्य तथा कला विहीन है वह पशु के समान है केवल उनके पूछ और सीग नही होते.—

"साहित्य सगीत कला विहीनः साक्षात्पशु. पुच्छ विषाण हीन.।"

इस प्रकार संस्कृत के विद्वानो ने साहित्य के स्वरूप को भिन्न-भिन्न रूप प्रदान किया है।

साहित्य के द्वारा ही हम शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने मे समर्थ होते हैं। साहित्य जिस प्रकार प्रेम, क्रोध, करुणा, घृणा आदि मनोवेगो या भावो पर सान चढाकर उन्हे तीक्ष्ण कर देता है, उसी प्रकार जगत के नाना रूपो और व्यापारो के साथ हमारा उचित सम्बन्ध स्थापित करता है। साहित्य पाठक या दृष्टा के मन का सस्कार एव परिष्कार कर उसकी रुचि को उदात्त बनाता है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना साहित्य के द्वारा ही आती है। साहित्य का अध्ययन करते-करते कभी-कभी पाठक रोने लगता है। जबकि वह जानता है कि साहित्य मे सकटग्रस्त व्यक्ति हमारा अपना कोई निकट सम्बन्धी नही है। फिर ऐसा क्यो होता है? केवल इसीलिए कि साहित्य अपनी रागात्मिका शक्ति के द्वारा मनुष्यमात्र को उस धरातल पर ले जाता है जहाँ वह "अयं निजो परोवा" की भावना से रहित अपने को केवल मनुष्य अनुभव करता है। वहाँ उसकी वृत्ति सात्विक रह जाती है और मानव मात्र के प्रति उसके हृदय मे सहानुभूति जागृत हो जाती है। उसकी भावनाएँ इतनी सुकुमार, हृदय इतना विशाल तथा उदार हो जाता है कि वह एक मानसिक समरसता का अनुभव करने लगता है।

साहित्य के पात्र उसे अपनी ही छाया प्रतीत होने लगते हैं। साहित्य की परिभाषा में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।

कवीन्द्र रवीन्द्र की साहित्य विवेचना:– रवीन्द्रनाथ ने "साहित्य" नामक ग्रन्थ मे साहित्य की व्याख्या इस प्रकार की है:– "सहित शब्द से साहित्य की उत्पत्ति हुई है, अतएव धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द मे मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा का भाषा के साथ, ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है, किन्तु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरंग मिलन साहित्य के अतिरक्त अन्य किसी से सम्भव नहीं।"

कवीन्द्र रवीन्द्र की उपर्युक्त परिभाषा संस्कृत मे प्राप्त साहित्य शब्द की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या से विशेष प्रभावित है।

हिन्दी विद्वानों द्वारा निरूपित साहित्य की परिभाषाएँ:— यहाँ हम केवल साहित्य की परिभाषाओ पर ही प्रकाश डालेगे। हिन्दी विद्वानो ने भी साहित्य की व्याख्या बहुत सुन्दर रूप मे की है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी.—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—"ज्ञान राशि के संचित कोष का नाम ही साहित्य है।" द्विवेदी की साहित्य-परिभाषा अत्यन्त व्यापक है।

श्यामसुन्दर दासः—डा० श्यामसुन्दरदास जी साहित्य की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"साहित्य के सहारे मनुष्य जीवन के दुःख और संकटों को क्षण भर के लिए भूल सकता है? वह आपदाओ से भरे हुए वास्तविक संसार को छोड़कर कल्पना और भावना के सुन्दर लोक में भ्रमण कर सकता है। वास्तव में साहित्य की सीमा के अन्तर्गत उन्ही पुस्तकों की गणना हो सकती है जो इस महान् उद्देश्य की पूर्ति करती है या इस पूर्ति के आदर्श को सामने रखकर लिखी गई है।"

श्यामसुन्दरदास जी ने साहित्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे किया है—

(क) छपी हुई रचना के अर्थ मे :—उनका विचार है कि—"बोलचाल की भाषा में हम किसी भी छपी हुई पुस्तक को साहित्य की सज्ञा" दे सकते हैं।

(ख) कलामय पुस्तको के रूप मे :—"उपयुक्त अर्थ से साहित्य से उन्हीं पुस्तकों का बोध होता है जिनमे कला का समावेश है।" इस प्रकार श्यामसुन्दरदास जी के मतानुसार कला क्षेत्र मे साहित्य शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे होता है।

मुन्शी प्रेमचन्द :—प्रेमचन्द जी ने साहित्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—"साहित्य की बहुत सी परिभाषायें की गई है, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा "जीवन की आलोचना है।" चाहे वह निबन्ध के रूप मे हो, चाहे कहानी के या काव्य के; उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।"

जयशंकर प्रसाद :—प्रसाद जी साहित्य की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया रहस्य खोलने में प्रयत्न-शील है।"

रामचन्द्र शुक्ल —शुक्ल जी ने "साहित्य" नामक लेख में साहित्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुये लिखा था कि वे साहित्य के अन्तर्गत—गद्य, पद्य, नाटक, उपन्यास, चम्पू तथा साहित्य सम्बन्धी आलोचनाओं को ही लेंगे। अन्य विषयों से साहित्य का भेद स्पष्ट करते हुए उन्होंने उसको दो कसौटी प्रस्तुत की हैं, जिनके द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि परीक्षित वस्तु साहित्य है या नही। ये दो कसौटी निम्न-लिखित हैं :—

(१) जो सुप्त भावों को जागृत कर सके।
(२) या जिसमे चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो।

उपरोक्त दोनो बातें साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट कर देती हैं। साहित्य में ही भावो की प्रेषणीयता तथा भाषा का कलात्मक चमत्कार होता है। साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी विषय मे ये बाते सम्भव नही।

गुलाबराय :—गुलाबराय जी ने साहित्य का विग्रह "हितेन सहसहितम् तस्य भावः साहित्यम्" कह कर किया है। उनका यह विग्रह संस्कृत की व्युत्पत्ति के आधार पर है।

गुप्त जी :—गुप्त जी ने साहित्य शब्द का प्रयोग साथ के अर्थ में किया है जो दृष्टव्य है—

"तदपि निश्चिन्त रहो तुम नित्य
यहाँ राहित्य नही साहित्य॥"

गुप्त जी ने कौशल के अर्थ मे भी साहित्य शब्द का प्रयोग किया है—

"नयी-नयी नाटक सज्जायें सूत्रधार करते हैं नित्य
और ऐन्द्रजालिक भी अपना भरते हैं नूतन साहित्य।"

डा० गोविंद त्रिगुणायत :—डा० त्रिगुणायत ने साहित्य की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए लिखा है–"साहित्य जीवन और जगत के गयात्मक सौन्दर्य की वह भावमयी झांकी है जिसके सहारे नित्य नवीन आनन्द और कल्याण का विधान होता है। उपचार के सहारे कभी-कभी उन वस्तुओं को, जिसमें इसकी प्रतिष्ठा की जाती है, साहित्य कहते हैं।"—शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त पृ० ६

अंग्रेजी में दी गई साहित्य की परिभाषायें :—अंग्रेजी विद्वानों ने भी साहित्य की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है।

मेथ्यू आर्नल्ड :—मेथ्यू आर्नल्ड ने साहित्य को जीवन की व्याख्या माना है।

हेनरी हडसन :—हेनरी हडसन ने "Study of Literature" नामक पुस्तक में साहित्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"Literature is only one of the many channels in which the energy of age discharges itself in its political movement, a religious thought, philosophical speculation and art. We have the same energy overflowing into other forms of expression." अर्थात् "विभिन्न साधनों में साहित्य ही एक ऐसा साधन है जिसमें काल विशेष की स्फूर्ति अपनी अभिव्यक्ति पा कर उन्मुक्त होती है। यही स्फूर्ति परिप्लावित होकर राजनैतिक आन्दोलन, धार्मिक विचार, दर्शन और कला के रूप में प्रकट होती है।"

एम० जी० भाटे :—एम. जी. भाटे ने "Litetarure and Literary Criticism" नामक पुस्तक मे साहित्य की विवेचना इस प्रकार की है—

"Literature is the music which streams out of the attempts of man attue himself to life on the keyboard of Language" अर्थात् "साहित्य वह संगीत है जो कि मानव के अन्तस्तल से इसलिए निसृत होता है कि वह भाषा के माध्यम से जीवन के साथ अपना सामंजस्य स्थापित कर सके।"

इन्साईक्लोपीडिया ब्रिटानिका की परिभाषा :—इस प्रामाणिक कोष के अनुसार "साहित्य एक व्यापक शब्द है जो यथार्थ परिभाषा के अभाव में सर्वोत्तम विचार की उत्तमोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति के लिए व्यवहृत हो सकता है।"

समस्त मतों की विवेचना तथा साहित्य का स्वरूप :—साहित्य शब्द बहुत ही व्यापक है। अत: साहित्य शब्द को परिभाषा के पाश मे बांधना दुष्कर है। यद्यपि भिन्न-भिन्न विद्वानो ने साहित्य की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से की है, किन्तु कोई भी परिभाषा पूर्ण नही कही जा सकती, यों सत्यांश तो सब में कुछ न कुछ है ही। साहित्य के जिस पक्ष पर विद्वानो की दृष्टि पडी उसी के अनुरूप उन्होंने साहित्य का रूप विधान करने की चेष्टा की है। वास्तव मे साहित्य मानवता का दर्पण है।

आज साहित्य शब्द अनेक अर्थ मे व्यवहृत होता है। अंग्रेजी मे "लिट्रेचर" (Literature) शब्द का जो अर्थ है हिन्दी मे वही अर्थ आज "साहित्य" देने लगा है।

साहित्य का स्वरूप "साहित्य की मूल प्रेरणाये तथा प्रयोजन" से और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

"साहित्य की मूल प्रेरणाएँ तथा प्रयोजन"

मनुष्य अनन्त होता हुआ भी शान्त है, पूर्ण होता हुआ भी अपूर्ण है। पूर्णता और अपूर्णता की स्थिति एक साथ नही रह सकती। इस अपूर्णता से पूर्णता का, बिन्दु से सिन्धु की साधना मे, साहित्य एक स्थायी सम्पत्ति के रूप में मानव को

मिला है। अतः साहित्य तथा जीवन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। वह जीवन से पृथक नही है, अपितु उसका ही मुखरित रूप है। वह मानव की विविध भावमयी सौन्दर्यशील, सास्कृतिक सम्पन्नता का ही विकसित रूप है। साहित्य हमारे विचारो का आगार है। साहित्य के द्वारा ही मानव जाति के विचार, आशा, आकाक्षाएँ तथा सकल्प प्रकाश मे आते हैं। साहित्य जीवन तरु का मधुमय तथा सुवासित पुष्प है। साहित्य जीवन के विकास का चरम सोपान है। जीवन से पृथक उसका अस्तित्व सम्भव नही। मानव के विकास की सभी क्रियाएँ साहित्य मे निहित हैं। "अंग अंगी से भिन्न गुण वाला नहीं होता। अतः जीवन की मूल प्रेरणाएँ ही साहित्य की मूल प्रेरक शक्तियाँ हैं। जो वृत्तियाँ जीवन की और सब क्रियाओं की मूल स्रोत हैं वे ही साहित्य को भी जन्म देती हैं।"—(श्री गुलाबराय एम॰ ए॰)।

इस विचार से साहित्य की मूल प्रेरणाओ से अवगत होने के लिए जीवन की मूल प्रेरणाओ पर एक विहगम दृष्टि डालना अप्रासगिक न होगा।

जीवन की मूल प्रेरणाएँ क्या हैं ? इसके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानो के "भिन्न रुचिर्हि लोकः" वाले सिद्धान्त के अनुसार भिन्न-भिन्न मत हैं। उपनिषद् मे पुत्रैषणा अर्थात् पुत्र की चाह, वित्तैषणा अर्थात् धन की चाह, लोकैषणा अर्थात् यश की चाह को साहित्य की "मूल प्रेरणाएँ" माना है।

यूरोप के मनोविश्लेषण शास्त्र का भी उद्भव इन्ही प्रेरणाओं के अध्ययन के फलस्वरूप हुआ। इस शास्त्र के मुख्य तीन सिद्धान्त हैं। जिनके पृष्ठपोषक क्रमशः फ्रॉइड, एडलर और युंग हैं।

फ्रॉइड के अनुसार मानव की सभी क्रियाओ की उत्पत्ति कामवासना द्वारा होती है। ये काम भावनाएं मानव के जीवन की सभी क्रियाओ की मूल प्रेरक शक्तियाँ हैं जो मानव के बाल्यकाल से अपना कार्य प्रारम्भ कर देती हैं। परन्तु ये काम भावनाएँ सामाजिक शिष्टाचार और नैतिकता के कारण हमारे उपचेतन मन में चली जाती हैं। वहाँ से वह हमारे दैनिक जीवन की क्रियाओ को प्रभावित करती रहती हैं। ये अवरुद्ध वासनाएँ स्वप्न, दैनिक भूलो, हँसी, व्यग, कला और काव्य के माध्यम से प्रसारित होती रहती हैं। जैसे निराश प्रेम का पर्युत्थान देश प्रेम मे हो जाता है वैसे ही ईश्वर प्रेम या प्रकृति प्रेम के रूप मे वह साहित्य में अपना स्थान ग्रहण करता है। फ्रॉइड के अनुयायियो का यही मत है।

एडलर महाशय ने किसी अभाव या क्षति की पूर्ति को जीवन की मूल प्रेरक शक्ति माना है। नवजात शिशु अपने बाल्यकाल से ही किसी शारीरिक, मानसिक तथा परिस्थिति सम्बन्धी अभाव का अनुभव करने लगता है। उसके मन मे Inferiority Complex (हीनता भाव) की एक गुत्थी बन जाती है। इसी भावना से प्रेरित होकर वह अपनी अपूर्णता को पूर्णता मे परिवर्तित करने के लिए अच्छे तथा बुरे साधनो को प्रयोग में लाता है। इस दृष्टिकोण से—"साहित्य निर्माण हमारी किसी क्षति की पूर्ति के रूप में ही होता है।" इस सम्बन्ध मे कुछ

उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अन्धे मनुष्यों की कल्पना नेत्र वालों की अपेक्षा अधिक प्रखर होती है। क्योंकि उसी के द्वारा वे अपनी क्षतिपूर्ति करते हैं। अक्षिहीन "सूरदास" तथा मिल्टन इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। अन्धे सूर ने वात्सल्य तथा शृंगार के क्षेत्र में अनेक मौलिक उद्भावनाएँ करके अपनी अद्भुत कल्पना शक्ति का परिचय दिया है। अक्षिहीन मिल्टन ने "Paradise Lost" जैसी उत्कृष्ट कृति विश्व साहित्य को भेंट की। कबीरदास जी में जुलाहेपन का हीनता भाव था और इसलिए सम्भवतः उन्हें कहना पड़ा है—"तू काशी का बाम्हन और मैं काशी का जुलाहा।"

जायसी में भी अपनी कुरूपता का हीन भाव था। इसलिए उन्होंने कहा है—

"चाँद जैसे जग विधि औतारा,
दीन कलक कीन्ह उजियारा।"

और इसी कारण वे हिन्दी साहित्य के जगमगाते रत्न हुए।

तुलसीदास जी मे भी अपनी स्त्री की इस फटकार से हीनता भाव की गुत्थी बन गई थी—

"लाज न लागत आपको, दौड़े आये साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहुँ मै नाथ॥"

तुलसीदास जी इस हीनता भाव को दूर करने के प्रयत्न में ही हिन्दी-भाषा के अद्वितीय महाकवि हो सके। महाकवि भूषण ने शिवाजी का आश्रय अपनी भावी का उपालम्भ पूर्ण करने के लिए ही लिया था। एडलर महाशय का कथन है कि परिवार का दूसरा लड़का जब अपने को जीवन की दौड़ में पिछडा हुआ पाता है तो वह अपनी बुद्धि और प्रतिभा के विलक्षण चमत्कार का प्रदर्शन कर आगे निकलने का प्रयत्न करता है। कविवर भूषण के सम्बन्ध मे यह बात बहुत सीमा तक ठीक है। एडलर महाशय ने अपने सिद्धान्त मे प्रभुत्व कामना पर बल दिया है। इस दृष्टिकोण से हमारे साहित्य का निर्माण इसी प्रभुत्व कामना के फलस्वरूप होता है। साहित्य, विज्ञान, इतिहास सभी मे प्रभुत्व कामना की यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

युंग ने कामवासना और प्रभुत्वकामना दोनो को जीवनधारा के भिन्न-भिन्न पहलू के रूप मे देखा था। इस दृष्टिकोण से उन्होने मनुष्यो को अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी इन दो प्रकारों में विभाजित किया था। अन्तर्मुखी व्यक्तित्व प्रधान प्रगति काव्य का उपासक होता है और बहिर्मुखी जगबीती का वर्णन करता है।

इस प्रकार युंग ने भारतीय दृष्टिकोण को अधिक अपनाया है। यद्यपि उपनिषदो मे अर्थ, काम, और यश को प्रेरक शक्तियाँ माना है तथापि उनको गौण रूप देकर आत्म प्रेम को सब क्रियाओ की प्रेरक शक्ति माना है। उनका विचार है कि स्त्री को आत्मा की कामना से पति प्रिय होता है। काम वासना और प्रभुत्व कामना का स्थान उन्होने आत्म-प्रेम के पश्चात् माना है।

हडसन ने साहित्य को जन्म देने वाली चार मूलभूत प्रवृत्तियाँ मानी हैं। ये क्रमशः इस प्रकार हैं :—

१. Our desire for self-expression अर्थात् आत्माभिव्यक्ति की कामना।

२. Our interest in people and their doings अर्थात् मनुष्य और उनके कार्यों के प्रति हमारा लगाव।

३. Our interest in the world of reality in which we live and in the world of imagination which we conjure into existence अर्थात् यथार्थ जगत के प्रति हमारा आकर्षण और कल्पना जगत के निर्माण की प्रवृत्ति।

४. Our love of form as form अर्थात् रूप विधान की कामना।

डा० नगेन्द्र ने अपने "विचार तथा विवेचन" में साहित्य की मूल प्रेरणा इस प्रकार मानी है।—"आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है।"

साहित्य को जन्म देने वाली एक प्रेरणा और है। ज्यो-ज्यों मानव सभ्य तथा सुसंस्कृत होता जाता है त्यो-त्यो उसकी अभिरुचि भी परिष्कृत तथा उदात्त होती जाती है। रुचि परिष्करण की यह भावना भी सत्साहित्य को जन्म देती है। मानव की सत्यनिष्ठा भी साहित्य-सर्जना मे योग देती है। साहित्य के द्वारा ही जीवन के चिरन्तन सत्य सौन्दर्य का परिधान धारण करके हमारे सम्मुख आते हैं।

तन्मयता भी साहित्योत्पत्ति का एक कारण है। जिस प्रकार विज्ञान के मूल में जिज्ञासा की भावना कार्य करती है उसी प्रकार साहित्य के मूल में तन्मयता का प्राधान्य रहता है। आदिमानव ने जब इस नानात्मक जगत मे सर्वप्रथम अभिनव पदार्थों को देखा होगा तो वह उन्हे देखकर विस्मयाभिभूत हुआ ही होगा। इसके पश्चात् उसकी बुद्धि तथा चेतना रमणीय या सुन्दर पदार्थो मे तन्मय हुई होगी। इस तन्मयता ने मानव को जो अनुभूतियाँ प्रदान की उनकी अभिव्यक्ति ही काव्य, नाटक, कहानी आदि विविध कलाकृतियाँ हैं। अतः तन्मयता की स्थिति मे उद्भूत भावनाओ की साकार अभिव्यक्ति ही साहित्य है।

साहित्य सर्जन मे एक और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति कार्य करती है। सुशिक्षित मानव परार्थ के आवरण में अपने स्वार्थों को व्यक्त करना चाहता है। साहित्य की रचना में मानव की यह प्रवृत्ति भी प्रच्छन्न रूप से कार्य करती है। इसलिए उसके द्वारा स्वार्थ और परार्थ दोनो की सिद्धि होती है।

साहित्य शास्त्र के विद्वानो ने काव्य के भिन्न-भिन्न प्रयोजन माने हैं। जिनमें से कुछ प्रेरणा रूप आन्तरिक हैं और कुछ प्रयोजन रूप बाह्य हैं। पीछे की ओर करने से प्रयोजन प्रेरणाएँ बन जाते हैं। कुछ विद्वानो ने आनन्द को मूल

प्रयोजन माना है। साहित्य दर्पणकार के मतानुसार काव्य के द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, कलाओं में कुशलता तथा कीर्ति और प्रसन्नता की प्राप्ति होती है :—

"धर्मार्थ काम मोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च
करोति प्रीतिं कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥"—भामह

यह सब वाह्य प्रेरक हैं।

काव्य प्रकाश मे जो काव्य के प्रयोजन उपदिष्ट हैं, उनसे यह कुछ अधिक व्यापक हैं। मम्मटाचार्य के अनुसार काव्य का निर्माण यश के अर्थ (यशसे) धन के लिए (अर्थकृते) व्यवहार जानने के लिए (व्यवहारविदे) अमङ्गल के नाश के लिए (शिवेतरक्षतये) शान्ति जन्य आनन्द देने के लिए (सद्यः परनिर्वृत्तये) और स्त्री के से मृदुल उपदेश देने के लिए (कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे) होता है।

"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥"

यश के लिए—साहित्य निर्माण में यश को प्रधान प्रेरक शक्ति माना गया है। भगवान कृष्ण ने गीता मे निष्काम कार्य की प्रवृत्ति को **"यशोलभस्व"** से पुष्ट किया है। रघुवशी भी यश प्राप्त करना चाहते थे। अंग्रेजी में भी एक कहावत है—"Fame is the last infirmity of noble minds."—"अर्थात् ख्याति बड़े आदमियों की अन्तिम कमजोरी है। यश प्राप्त करने की लालसा से ही कालिदास तथा भवभूति आदि महाकवियो ने काव्य की रचना की थी।

धन के लिए—काव्य के भौतिक प्रलोभनो मे प्रमुख स्थान अर्थ या धन का है। रीतिकाल के प्रायः सभी कवि राज्याश्रित थे। अतः रीतिकालीन कवियो ने प्रलोभन से काव्य रचना की है। बिहारी के सम्बन्ध मे तो यह प्रसिद्ध है कि महाराज जयसिंह उन्हे प्रत्येक दोहे पर एक अशर्फी भेंट किया करते थे। अंग्रेजी उपन्यासकार स्कॉट ने अपने ऋण से मुक्त होने के लिए ही उपन्यास लिखे थे। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सब कवि धन के प्रलोभन से काव्य रचना करते हैं। भक्त चूडामणि तुलसीदास जी ने तो अपनी रचना "स्वान्तः सुखाय" लिखी है। "स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा" और उन्होने प्राकृत जनो के गुणगान करने मे सरस्वती का अपमान समझा है।

"कीन्हे प्राकृत जन गुणगाना,
सिर धुनि गिरा लागि पछिताना ॥"

कुम्भनदास ने सम्राट अकबर के निमन्त्रण को अस्वीकार कर दिया था।

"संतन को कहा सीकरी सो काम,
आवत जात पन्हिया टूटो, बिसरि गयो हरिनाम ॥"

व्यवहार जानने के लिए—काव्य के द्वारा लोक व्यवहार का ज्ञान पाठक तथा सृष्टा दोनों को ही प्राप्त होता है। जहाँ पाठक काव्य के अध्ययन से लोक-

व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करता है वहाँ साहित्यकार उसका प्रतिपादन करने से पूर्व अपने ज्ञान की एक निश्चित रूपरेखा बना लेता है। काव्य के द्वारा ही मानव मात्र के साथ व्यवहार की क्षमता प्राप्त होती है। क्योंकि काव्य में मानव हृदय के भावों का उद्घाटन बड़े मनोवैज्ञानिक कौशल से किया जाता है। अतः उसके परिशीलन से मनुष्य को वह ज्ञान प्राप्त होता है जो वर्षों के पर्यटन से न प्राप्त होगा।

अनिष्ट निवारण के अर्थ—अमङ्गल के नाश हेतु भी काव्य की रचना की जाती है। काव्य प्रकाशकार ने मयूर कवि का उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिन्होंने सूर्य की स्तुति करके अपने कुष्टि रोग का नाश किया था। गोस्वामी तुलसीदास जी के सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि उन्होंने "हनुमान बाहुक" की रचना करके महामारी के रोग का निवारण किया था। आधुनिक युग में केवल वैयक्तिक कष्ट निवारण के लिए ही नही अपितु समाज या देश के अनिष्ट निवारण के लिए भी काव्य की रचना की जाती है। "प्रगतिवाद" की रचनाएँ इसी प्रकार की हैं।

शान्तिजन्य आनन्द देने के लिए—यह काव्य का मूल प्रयोजन है। काव्य के रसास्वादन से पाठक को तो आनन्द मिलता ही है, परन्तु इसमे वह आत्म सुख भी निहित हैं, जिसकी प्रेरणा से साहित्यकार साहित्य की रचना करता है। कविता को आनन्द प्रदान करने वाली माना गया है।

स्त्री के से मृदुल उपदेश के लिए—काव्य को उपदेशात्मक होना चाहिए या नही ? इस सम्बन्ध में विद्वानो मे विभिन्न मतभेद हैं। कुछ विद्वानो का विचार है कि काव्य नीति, सदाचार, उपदेश आदि बातों से परे है। साहित्य उपदेश का प्लेट-फार्म नहीं है। उपदेश देने का कार्य धर्मग्रन्थों का है, काव्य का नही। साहित्यकार और उपदेशक के दृष्टिकोण में अन्तर है। और इसी विभिन्नता का स्पष्टीकरण करने के लिए—"कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" अर्थात् स्त्री का सा मृदुल उपदेश कहा गया है। शास्त्र मे—१. प्रभुसम्मित, २. सुहृत्सम्मित, ३. कान्तासम्मित—ये तीन प्रकार के शब्द माने गये हैं। साहित्य कान्तासम्मित उपदेश के अन्तर्गत आता है।

इसमे रस का पूर्ण परिपाक रहता है। महाकवि विहारी के निम्न दोहे ने महाराज जयसिंह पर जो जादू का कार्य किया वह सैकड़ों सूखे उपदेश मिलकर नही कर सकते थे—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यह काल।
अली कली ही सों बंधो, आगे कौन हवाल ॥"

स्वान्त. सुखाय—तुलसी का काव्य स्वान्तः सुखाय था। धन और यश का प्रलोभन उन्हे बाँधने में असमर्थ था। वास्तव में सत्काव्य की रचना तभी हो सकती है जब वह स्वान्तः सुखाय लिखा जाय। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि वह पाठको के लिए नही होता। कवि काव्य की रचना अवश्य करता है परन्तु वह अपने विचारो को पाठक तक पहुँचाना चाहता है। तभी उसे आत्मसुख प्राप्त होता है। तुलसी ने यद्यपि अपनी रचना स्वान्तः सुखाय लिखी थी परन्तु उन्होंने

उसी कृति को श्रेष्ठ माना है जो सुरसरिता के समान लोक हितकारी हो—

"कीरति भणित भूति भलि सोई।
सुरसरि समसब कहँ हित होई॥"

कवि अपने काव्य के माध्यम से पाठक तथा श्रोताओं के साथ भाव-तादात्म्य का भी सुख प्राप्त करना चाहता है। अतः सामाजिकता को भी यदि काव्य का प्रयोजन माना जाय तो अनुचित न होगा।

पाश्चात्य साहित्य मे काव्य को कलाओं के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। कला के कई प्रयोजन माने गये हैं—जिनमे नौ मुख्य हैं। जो इस प्रकार हैं:—

१. Art For Art's Sake—"कला कला के लिए"
२. Art For Life's Sake—कला जीवन के लिए"
३. "कला जीवन से पलायन के अर्थ"
४. "कला जीवन मे प्रवेश के लिए"
५. "कला सेवा के अर्थ"
६. "कला आत्मानुभूति के अर्थ"
७. "कला आनन्द के अर्थ"
८. "कला विनोद के अर्थ"
९. "कला सृजन की आवश्यकता पूर्ति के अर्थ।"

इन सब प्रयोजनों के दृष्टिकोण मे भिन्नता है।

१—कला कला के लिए :—इस सिद्धान्त के पृष्ठपोषक कविता का अपनं सुख से भिन्न और कोई प्रयोजन नही मानते। यह सिद्धान्त कला निर्माण की अत्यन्त आवश्यकता वाले वाद से मिलता है। दोनो मे अन्तर केवल इतना है कि इसमे आत्मप्रेरणा की आवश्यकता को महत्व दिया गया है। इस सिद्धान्त के मानने वालों का विचार है कि कला का क्षेत्र नीति सदाचार आदि से परे है। जे० ई० स्पिनगार्न इस वाद के समर्थको मे से हैं। उनका कथन है कि—"शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुराचार ढूँढ़ना ऐसा ही है जैसा कि रेखागणित में समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण कहना।" श्री इलाचन्द्र जोशी जी ने भी एक स्थल पर कहा है—"विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का प्रकाश है। उसके भीतर नीति अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके मायाचक्र से हमारे हृदय की तन्त्री आनन्द की झंकार से बज उठती है। यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।"

२—कला जीवन के अर्थ :—इस सिद्धान्त के मानने वालो का विचार है कि कला तथा जीवन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। वह जीवन की गति को उचित दिशा देकर उसे मंगलमय बनाने का प्रयत्न करती है। कला का सम्बन्ध मनुष्य के

सम्पूर्ण जीवन से है। अतः नीति, सदाचार और उपयोगिता की अवहेलना नहीं की जा सकती। टालसटाय ने एक स्थल पर कला का कुछ ऐसा ही प्रयोजन माना है:—"कला का उद्देश्य वुद्धि के क्षेत्र से भाव के क्षेत्र में उस सत्य को ले जाना है जो यह वतलाता है कि मनुष्यो का कल्याण उनके एक होकर रहने में तथा ईश्वर की उस वादशाहत के स्थापित करने में है जो कि प्रेम पर आश्रित है और जिसको हम जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं।"

प्रेमचन्द्र जी ने साहित्य का प्रयोजन इस प्रकार माना है—"साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और सुन्दर वनाता है। दूसरे शब्दों में इसकी वदौलत मन का संस्कार होता है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है।"

साहित्य के द्वारा हमारी वृत्तियो का परिष्कार होता है। वह हमें ऐसी उच्च भावभूमि पर ले जाता है जहाँ हम स्वगतत्व एव परत्व की भावना से रहित होकर अपने को केवल मनुष्य अनुभव करते हैं, तथा मानव मात्र के साथ हमारा रागात्मक सम्वन्ध स्थापित हो जाता है। कला हमारे विचारो को संस्कृत, उन्नत एव परिष्कृत करती है। अत: स्पष्ट है कि कला का जीवन से भिन्न अस्तित्व सम्भव नही। काव्य मे अथवा कला मे शिवत्व की भावना स्वाभाविक रूप से रहती है। "वह मनुष्यों के मानसिक स्तर का उन्नयन कर उनमें देवत्व के गुणो की प्रतिष्ठा करती है।" इसलिए तो डा० मैथिलीशरण गुप्त ने "साकेत" मे कहा है.—

"मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ हैं।"

महात्मा गाँधी ने भी कला के प्रयोजन की व्याख्या करते हुए कहा था—"कला वह है जो जीवन को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाय। कला से जीवन का महत्व है। कला जीवन को वास्तविकता की ओर ले जाती है।" वास्तव मे महान कलाकार की कृति तो सत्यं, शिव, सुन्दरं का सुन्दरतम् निदर्शन होती है।

२---कला जीवन से पलायन के अर्थ:—इस सिद्धान्त के पृष्ठपोषक वे लोग हैं जो संसार की विषमता तथा संघर्ष का सामना करने मे असमर्थ हैं तथा काव्य और कला को सुवासित क्रोड़ मानते हैं। इन लोगो का विचार है कि संसार का सुधार करना असम्भव है। अत: उसके संघर्ष मे पडकर व्यक्तिगत सुख-शान्ति भंग करना व्यर्थ है। कला की आनन्ददायिनी गोद मे वे अपने दु.खो को भूलना चाहते हैं। ऐसे मनुष्य वास्तविकता की कठोर भूमि का परित्याग कर कल्पना के परो पर स्वप्न लोक में विचरण करना चाहते हैं। प्रसाद जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ इसी पलायनवाद की द्योतक हैं—

"ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे-धीरे।
जिस निर्जन सागर में लहरी,
अम्बर के कानो मे गहरी।

निश्चल प्रेम कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।"

निराला जी की निम्नलिखित पक्तियाँ इसी पलायनवाद की ओर संकेत करती हैं —

"हमें जाना है जग के पार
जहाँ नयनों से नयन खिले
ज्योति के रूप सहस्र खिले
सदा ही बहती नवरस धार
वही जाना इस जग के पार॥"

श्री बच्चन जी का "आकुल अन्तर" नामक काव्य-संग्रह इसी प्रकार के स्वस्थ पलायनवाद का उदाहरण है।

४--कला जीवन में प्रवेश के अर्थ :—कला का उद्देश्य जीवन से पलायन करना नही है, अपितु इस संघर्षमय जीवन मे प्रवेश कर सौन्दर्य की झाँकी देखना है। संसार के करुण क्रन्दन तथा दु.ख मे भी एक विशेष सौन्दर्य है—

"इस धरती के रोम-रोम मे भरी सहज सुन्दरता"

प्रसाद जी ने जीवन को जगाया भी है—

"अब जागो जीवन के प्रभात"

५--कला सेवा के अर्थ :—यह कला का अत्यन्त उच्च तथा मधुर पक्ष ह। इसी के द्वारा मनुष्य का जीवन उच्चता की भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित होता है। रोगियों के मनोरंजन के लिए अस्पतालो मे रोगियो को कविता, सगीत आदि सुनाई जाती है—यह कला का सेवापक्ष है।

६-७--कला आत्मानुभूति के अर्थ तथा आनन्द के अर्थ :—यह भारतीय आदर्श के अनुकूल है। कला के द्वारा हम आत्मानुभूति प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। कला में हमारे भाव तथा विचार भाषा का परिधान धारण कर मुखरित होते हैं। इस प्रकार हम अपनी आत्मा के दर्शन कर आत्मानुभव का आनन्द प्राप्त करते हैं।

८--कला विनोद के अर्थ :—कला का यह पक्ष निम्न श्रेणी का है। संक्षेप में काव्य की मूल प्रेरणायें आन्तरिक हैं।

इस प्रकार अनेक पक्ष-विपक्ष विवेचन करने के उपरान्त हम गुलाबराय जी के शब्दों में कह सकते हैं कि—**"काव्य के हृदय का ओज या उत्साह ही जो रस का ही रूप है उसको सृजन कार्य में प्रवृत्त करता है।"**

अरस्तू ने अनुकरण की प्रवृत्ति को काव्य की मूल प्रेरणा माना है। उनका कथन है कि जो प्रवृत्ति बालक को अपने माता पिता के व्यवहार, रीति, नीति तथा

भाषा का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करती है, वही प्रवृत्ति मानव को साहित्य-सृजन की प्रेरणा देती है।

दूसरे विद्वान् मानव के जन्मजात सौन्दर्य प्रेम को साहित्य की मूल प्रेरणा मानते हैं। उनका कथन है कि—"मानव आत्म-ज्ञान के चिर सौन्दर्य से उद्भासित है, उसी को वह विभिन्न रूप में व्यक्त करता रहता है। जिनमें सबसे प्रत्यक्ष और सहज रूप है साहित्य एवं कला।" साहित्य की प्रेरणा का यह सिद्धान्त भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य मे अत्यन्त लोकप्रिय एवं मान्य रहा है।

अन्त मे डा० नगेन्द्र द्वारा प्रस्तुत साहित्य की प्रेरणा के निष्कर्ष को हम इस प्रकार दे सकते हैं—

१—"काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की ही प्रेरणा है।"

२—"यह प्रेरणा व्यक्ति के अन्तरंग अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से ही उद्भूत होती है। कहीं बाहर से जान बूझ कर प्राप्त नहीं की जा सकती।"

३—"हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है, उनमें कामवृत्ति का प्राधान्य है। अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय है। चूंकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है। उसकी प्रेरणा में कामवृत्ति की प्रमुखता असदिग्ध ही है।"

साहित्य, विज्ञान और धर्म

इस संघर्षमय विश्व मे विचरण करता हुआ द्वेष तथा स्पर्धा की भावनाओ से प्रेरित मानव, विश्वासघात और प्रपचना से पीड़ित मानव, स्वार्थ और धोखे से आहत मानव, स्नेह और ममता जाल मे भटकता हुआ मानव, आनन्दमय तथा सौन्दर्य-मय विश्व को देखने की लालसा मे है। उसने अपनी इस लालसा को पूर्ण करने के लिए ही, इस जिज्ञासा-वृत्ति को शान्त करने के लिए ही साहित्य तथा विज्ञान को जन्म दिया है।

साधारणतः देखने से "विज्ञान", "धर्म" तथा साहित्य में परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होता है, और यह बात बहुत सीमा तक ठीक भी है। विज्ञान और साहित्य के दृष्टिकोण मे अन्तर है। विज्ञान केवल सत्य चाहता है। वैज्ञानिक सत्य को वस्तु के रूप मे ग्रहण करता है। वह केवल तथ्य का उपासक है। वह सत्य को रोचक तथा प्रिय बनाने का प्रयत्न नही करता। उसके लिए वीभत्स और सुन्दरता समान हैं, यदि किसी वस्तु का विश्लेषण कर सत्य का उदघाटन किया जा सके। पुष्प का संश्लिष्ट सौन्दर्य उसे सुहावना नही लगता, वह तो एक-एक पत्ती को पृथक-पृथक करके यह देखेगा कि इसका निर्माण किन तत्वों से हुआ। धार्मिक "सत्य" और "शिव" का पुजारी है। वह कोरे सत्य का उपासक नहीं वह सत्य के मगलमय रूप को ही ग्रहण करता है। वह आत्मा को परम् श्रेयस् की ओर ले-

जाता है। कवि "सत्यं" "शिवं" के साथ सुन्दरम् का भी उपासक है। वह प्रत्येक वस्तु को सौन्दर्य के आवरण में देखता है। साहित्यकार सत्य की कोरी नग्न वस्तु को भाव का परिधान पहनाकर उसे कपल्नागत आदर्श से पल्लवित, पुष्पित, हरा-भरा, एवं लहलहा कर देता है। विज्ञान ने पेन्सिलीन की भी रचना की है और हाइड्रोजन बम्ब को भी बनाया है। वह मनुष्य को भी प्रकृति के धरातल पर घसीट लाता है और गुण को भी परिमाण के ही रूप में देखता है।

"धार्मिक 'सत्यं' में 'शिवं' की प्रतिष्ठा करता है। वह लक्ष्मी जी का माङ्गलिक घटों से अभिषेक करता है। क्योंकि जल जीवन है, वह कृषि प्राण भारत का प्राण है और मानव मांगल्य का प्रतीक है। जिस प्रकार सरस्वती में "सत्यं" और "सुन्दरम्" का समन्वय है, उसी प्रकार लक्ष्मी में 'शिवं' और "सुन्दरम्" का सम्मिश्रण है। वेदो मे "शिव-संकल्पमस्तु" का पाठ पढाया जाता है। शिव कल्याण और मङ्गल के कारण ही, महादेव के नाम से अभिहित होते हैं। धार्मिक शिव के ही रूप में सत्य के भी दर्शन करता है। साहित्यकार सत्य और शिव की युगल मूर्ति को सौन्दर्य को स्वर्णावरण पहना कर ही उनकी उपासना करता है। 'तुलसी मस्तक जब नवै, धनुष बाण लेहु हाथ' साहित्यिक के हृदय मे रसात्मक उक्तियों का ही मान है।" —(गुलाबराय)

वैज्ञानिक आदर्श की ओर उन्मुख नही होता, उसके लिए जैसा है वैसा ही कह देना सत्य है।—"जैसा का तैसा" चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ, प्रिय हो अथवा अप्रिय। इसके लिए वैज्ञानिक चिन्तित नही। कलाकार आदर्श की ओर जाता है। वह साहित्य मे 'जो है' के साथ "जो होना चाहिए" का भी चित्रण करता है। यदि ऐसा न हो तो पाठक की दशा एक अन्धे के समान होगी, जिसको अपने गन्तव्य का पता न होगा। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने "साकेत" मे क्या ही उत्तम उक्ति कही है :—

"हो रहा है जो जहाँ, जो हो रहा
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ ?"

अतः कवि "सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रूयात न ब्रूयात सत्यमप्रियम्" का पृष्ठ पोषक है। वैज्ञानिक बावन तोले पाव रत्ती वाली यथार्थता को अपने जीवन का चरम ध्येय तथा आदर्श मानता है, उसके लिए यही सर्वस्व है। 'प्रियं ब्रूयात' से उसका कोई तात्पर्य नहीं। कवि हृदय की ग्राहकता को अपना सर्वस्व मानता है। वैज्ञानिक विश्व वैचित्र्य में अपनी विलक्षण बुद्धि द्वारा नियम और शृंखला का अन्वेषण कर उनके मानसिक बोध बनाता है। कवि विश्व की विविध वस्तुओं को अपने भावो और मनोवेगो के सुनहरे रंग में रंजित कर उसे और भी सुन्दर बना देता है। उसके पास कल्पना की सरस चासनी है, जिससे वह समस्त पदार्थों में सौन्दर्य

की मिठास घोल देता है। इस प्रकार एक का सम्बन्ध बुद्धि के बोधों से है, तो दूसरे का हृदय के भावों से "दार्शनिक का सत्य हमारे बौद्धिक जगत को प्रभावित करता है और वैज्ञानिक का सत्य भौतिक जगत को किन्तु हमारे भाव कल्पना जगत को आन्दोलित विकसित परिष्कृत एवं परिवर्तित करने वाला सत्य कवि का सत्य है।"

फिर क्या विज्ञान और साहित्य मे नितान्त विरोध है ? नही, जो विरोध है वह केवल इतना जितना समान वस्तुओ मे होता है। दोनो का ही वाङ्मय से सम्बन्ध है। दोनो ही मनुष्य जीवन के अनुभव, आशा और आकांक्षाओ की व्याख्या करते हैं। परन्तु दोनो की विश्लेषण पद्धति में अन्तर है। पद्धति मे अन्तर होते हुए भी दोनो को कल्पना का आश्रय लेना पडता है। दोनों ही मे आश्चर्य, चमत्कार, नवीनता, अन्वेषण, आनन्द और सलग्नता का पर्याप्त महत्व है। दोनों का ही अन्तिम तथा चरम लक्ष्य मानव मात्र का हित सम्पादन करना है। फिर विरोध कैसा ? जिस प्रकार कवि कल्पना से पृथक होकर पंगु है उसी प्रकार वैज्ञानिक भी कल्पना के बिना एक पग भी आगे नही बढ सकता। पग-पग पर कल्पना का ही कार्य है। न्यूटन ने पेड से फल गिरते देखा उसने इस बात का अनुभव किया कि जिस प्रकार फल पृथ्वी की ओर आकर्षित हुआ उसी प्रकार सौरमडल के पिंड एक दूसरे की ओर गुरुत्व के परिमाण मे आकर्षित होते हैं। वाट ने अपनी कल्पना का आश्रय लेकर ही तो, भाप के द्वारा ढक्कन के दृश्य से भाप के इंजन का निर्माण किया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साहित्य का जगत भावना और कल्पना जगत है और विज्ञान का जगत बुद्धि वैभव का जगत है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि विज्ञान मे भावना और कल्पना के लिए स्थान ही नही है अथवा साहित्य में बुद्धि वैभव की कोई आवश्यकता ही नही है। वास्तव मे दोनो का अन्यान्योश्रय सम्बन्ध है। साहित्य यदि मानव जीवन की विकसित बुद्धि का लाभ नहीं प्राप्त कर सकता तो अयोग्य ही समझा जायेगा। उसी प्रकार विज्ञान यदि विकसित होती हुई मानव भावनाओ के अनुरूप अपने को उपयोगी नही बना सकता तो हानिकारक ही सिद्ध होगा। सभ्य देशो के साहित्य और विज्ञान सदैव कंधे से कंधा मिला कर ही चलते देखे जाते हैं।

परन्तु इतना होते हुए भी साहित्य और विज्ञान अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये हुए हैं। वैज्ञानिक तो वस्तुओ के रूप, आकार, रचना, गुण, स्वभाव और सम्बन्ध पर विचार करता है, उन्हे परस्पर मिलाता है, उनका वर्गीकरण करता है तथा उन कारणो, क्रियाओ तथा तथ्यो का अन्वेषण करता है जिनके आधीन होकर वे अपना वर्तमान अस्तित्व बनाये हुए हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि "विज्ञान शास्त्री के क्रिया-कलाप में बौद्धिक अन्वेषण तथा सिद्धान्त निरूपण की प्रधानता होती है। दर्शन शास्त्र, रसायन, भूगर्भ आदि अनेक शास्त्र विज्ञान की ही कोटि में आवेंगे।

विज्ञान का प्रत्येक आचार्य जगत के रूप का विषयात्मक विचार करता है और एक-एक प्राकृतिक तत्व को मिला कर सादृश्य के आधार पर कई वर्ग स्थापित करता है। इस प्रकार वह सृष्टि में शृंखला, क्रमबद्धता स्थापित करने का सफल प्रयत्न करता है। विज्ञान का ध्येय पदार्थों तथा उनके रूपो की क्रमबद्ध बुद्धि सगत और सहेतुक व्याख्या करता है। जिसके अन्तर्गत उसके गुण, उद्भव, विकास और इतिहास की व्याख्या रहती है।" इसके अतिरिक्त जो कुछ शेष रह जाता है—उससे विज्ञान का न कोई सम्बन्ध है और न प्रयोजन। अत. कह सकते हैं कि—

"Science is a body of systematized knowledge. It is something which lays a relationship between a cause and on effect."

परन्तु इस व्याख्या के अनन्तर बहुत कुछ शेष रह जाता है और उससे साहित्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। हम ससार के नित्य व्यवहार मे देखते हैं कि पदार्थों या घटनाओ के वास्तविक रूप और उनके कार्य कारण से हम आकृष्ट तो अवश्य होते हैं, परन्तु यह आकर्षण केवल हमारी बुद्धि को ही प्रभावित नही करता वरन् हमारे मनोवेगो को भी उत्तेजित करता है। जब हम विज्ञान का अध्ययन करते हैं तब समस्त सृष्टि की प्राकृतिक घटनाओ को एक समष्टि रूप मे देखते हैं। जिनका अन्वेषण करना, वर्गीकरण करना तथा कारण ढूंढ निकालना हमारा कर्तव्य होता है। साराश यह है कि वैज्ञानिक का लक्ष्य कुछ सिद्धान्तो तक पहुँचना है। परन्तु साहित्य का लक्ष्य और ध्येय इससे भिन्न है। वास्तविक बात यह है कि सिद्धान्त निरूपण उसका कार्य नही है। जब विज्ञान वस्तुओ और घटनाओं के सम्बन्ध मे पूर्ण समाधान करने वाला कार्य कारण उपस्थित करता है तब भी हम उनकी अद्भुतता तथा सुन्दरता से प्रभावित होते ही हैं। यह साहित्य की भूमि है।

"साहित्य चिरनवीन भी है और चिरन्तन भी। हम उसे प्राचीन और नवीन का तारतम्य निरूपित करने में एकमात्र समर्थ पाते हैं। जातियों के वास्तविक इतिहास को सुरक्षित रखने का साधन साहित्य के अतिरिक्त और क्या है? राष्ट्रों के जीवन की उन्नति और अवनति, आशायें और आकांक्षायें साहित्य में ही चित्रित मिलती हैं। समष्टि रूप में साहित्य मानवता का दर्पण है। भिन्न-भिन्न जातियाँ उत्पन्न हुईं और नष्ट हुईं, आज उनकी कृतियो का पता तक नहीं है, परन्तु साहित्य में वे अब भी अपना अस्तित्व बनाये हुये हैं। विज्ञान का एक आविष्कार आज हुआ है, बस आज की बात कल भुला दी गई। परन्तु साहित्य में किसी का नाश नहीं होता साहित्य की यह सार्वभौमिकता कभी नहीं भुलाई जा सकती। मनुष्य समाज की यह अक्षय निधि नित्य प्रति हमारे व्यवहार के लिये खुली हुई है।"

—(डा० श्यामसुन्दर दास)

जब वैज्ञानिक वस्तुओ या घटनाओं से चमत्कृत या आश्चर्य चकित होता है तभी वह व्याख्या के लिए कल्पना का आश्रय लेता है। जब वह किसी एक सिद्धान्त

की कल्पना कर लेता है तभी वह निरीक्षण और प्रयोग द्वारा उसकी पुष्टि के लिए वस्तुओ का संग्रह करता है। कवियो की कल्पनायें भी वैज्ञानिक के नवीन आविष्कारो मे सहायक होती हैं। जो बात एक दिन पूर्व कल्पनामात्र थी वह आज सत्य का आवरण धारण कर लेती है। कल्पना के पखो पर उड़ने की इच्छा पहले कवियों के हृदय मे ही जागृत हुई थी उसको आज विज्ञान ने सफलतापूर्वक पूर्ण कर दिया। यदि वे कल्पनायें और भावनाये न होती तो सम्भवतः वायुयान भी न बने होते। कवि ने यदि मेघदूत का निर्माण किया है तो वैज्ञानिक ने विद्युत दूत का।

कवि विश्व की चित्र विचित्रता से चमत्कृत हो उसमे मानवी भावनाओ का आरोपण कर एक प्रकार का भाव साम्य स्थापित करता है। वैज्ञानिक उस चित्र विचित्रता में व्यापक निर्णयो का अन्वेषण कर एक बौद्ध साम्य का दिग्दर्शन करता है। दोनो ही प्रकृति के परम प्रेमी हैं। यदि एक उसके सौन्दर्य निरीक्षण मे मग्न हो कर अपने को कृतकृत्य समझता है तो दूसरा उसकी सेवा के द्वारा मेवा पाने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार उसने प्राकृतिक नियमो को अपने लाभ का हेतु बनाया है। विज्ञान यदि शुष्क है, नीरस है, दुरूह है तथापि उसमे भी उतना ही आकर्षण है, उतना ही आनन्द है, उतनी ही सलग्नता, उतनी ही सरसता तथा उतनी ही सरलता तथा उतनी तन्मयता आ जाती है जितनी कि काव्य मे। **"गगन मण्डल के तारागणों की गति में वैज्ञानिक एक अनुपम लास्य देखता है, उसी लास्य का लघुतम रूप वह परमाणुओं के विद्युत अणुओं में पाता है। मनुष्य कंकाल जो वैराग्य की भावना को उद्दीप्त करता है वैज्ञानिक मन में विकासवाद के रहस्यों का जो उसके लिये मुगल सम्राटो के राजमहलों के रहस्य से भी अधिक रुचिकर होते हैं उद्‌घाटन करता है। वह वीर योद्धा की भाँति गगन-चुम्बित भाल हिमालय के उच्चतम शिखर तक जाने मे वीर रस के स्थायी भाव उत्साह का पूर्ण परिचय देता है।"** जो सौन्दर्य कवि कानन के क्षुद्रतम कुसुम मे देखता है उसी को वैज्ञानिक-पुष्पों की जड़ो मे देखता है तथा परमात्मा की विलक्षण बुद्धिमत्ता की मुक्त कंठ से प्रशंसा करता है। यही पर धर्म तथा विज्ञान का समन्वय हो जाता है। विज्ञान ने परमात्मा के **'अणोरणीयन महतो महीमान'** रूप का उद्‌घाटन किया है। आकाश मंडल के व्यापक प्रसार को देख कर कल्पना के पग भी डगमगाने लगते हैं। खगोल मे दूरी की गणना मीलो से नही होती वरन् प्रकाश की गति से होती है। बहुत से तारागणो के प्रकाश को यहाँ तक आने मे सहस्रो वर्ष लग जाते हैं। विज्ञान हमको परमात्मा की विराट सत्ता का साक्षात्कार कराने मे सहायक सिद्ध हुआ है। विज्ञान के अन्वेषण द्वारा भव्य-भवन विश्व के नियम और शृंखलाबद्ध होने की आधारशिला पर खडे हुए हैं धर्म के द्वारा ही विश्व की नियमबद्धता पर विश्वास होता है। जहाँ विज्ञान ने हमें भौतिक बल प्रदान किया, वहाँ धर्म ने आध्यात्मिक बल देकर हमारे जीवन मे आशा तथा उत्साह का नवसचार किया है। **'सच्चा धर्म वैज्ञानिक होगा और सच्चा विज्ञान धार्मिक होगा'**।

वैज्ञानिक तथा कलाकार दोनो ही आश्चर्य चकित शिशु की भाँति सृष्टि के

रहस्य जानने के लिए भरसक प्रयत्न करते हैं। विज्ञान तथा धर्म दोनों एक गन्तव्य की ओर जा रहे हैं, किन्तु पृथक्-पृथक् मार्ग से। यदि धर्म ने हमारे हृदय की तुष्टि कर हमें आत्म सन्तोष प्रदान किया है तो विज्ञान ने हमारी जिज्ञासा वृत्ति को शान्त कर उसे उचित खाद्य प्रदान किया है। यदि एक ने प्राकृतिक शक्तियों को मानव हृदय प्रदान कर उसे मानव का सहचर बनाया है तो दूसरे ने उन शक्तियों को बुद्धि के द्वारा नियन्त्रित कर उनको अपना दास बनाया है। 'साहित्य' 'विज्ञान' और 'धर्म' के समन्वय में ही मानव समाज का कल्याण निहित है। यदि धर्म हमको मानवता का, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढायेगा तो साहित्य उसे ग्राह्य और रुचिकर बना कर उद्भ्रान्त मानवता के विमल अन्तस्थल मे सत्य की ज्योति जलायेगा। तथा आत्महतो को आत्म संजीवन प्रदान करेगा और विज्ञान उसे क्रियात्मक रूप देकर ऐसा वातावरण उपस्थित करेगा जिसमें मनुष्य मात्र सुख तथा शान्तिमय जीवन व्यतीत कर आनन्दपूर्वक रह सकें।

साहित्य और साहित्यकार का व्यक्तित्व

साहित्य का उदय मानव की आत्माभिव्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण हुआ। अतः साहित्य पर सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव साहित्यकार के व्यक्तित्व का होता है। साहित्यकार की रचना पर उसके अनुभव, विचारों और मनोभावों की स्पष्ट छाप रहती है। वह मानव मात्र की आकाक्षाओं, इच्छाओं और भावनाओं को अभिव्यक्त करता है, किन्तु उसकी यह अभिव्यक्ति उसकी रुचि के अनुसार होती है। साहित्यकार के जैसे विचार होते हैं वैसे ही उसकी कृति होती है। अतः साहित्यकार मे स्वानुभूति एक अत्यन्त आवश्यक गुण है। उच्चकोटि के साहित्यकार की रचना में एक विशेपता होती है जो वाह्य कारणों और परिस्थितियो से परे है। उसका सम्बन्ध लेखक के विचारों और जीवन से होता है। इसी विशेषता के द्वारा हम किसी साहित्यकार की कृति का परिचय प्राप्त करते हैं। तुलसीदास जी के साहित्य मे कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं जो उसी काल के अन्य कवियो में प्राप्त नहीं हैं। कालिदास के नाटक उस समय के दूसरे संस्कृत नाटककारों की रचनाओं से विभिन्न हैं। इस प्रकार की विशेषता, व्यक्तित्व की यह छाप आत्माभिव्यंजक साहित्य (जैसे कि मुक्तक) में अधिक स्पष्ट दिखाई पडती है। इसके विपरीत जब साहित्यकार किसी वाह्य पदार्थ अथवा घटना का वर्णन करता है तव हम लेखक के व्यक्तित्व का सीधा दर्शन नही कर पाते। इसका अभिप्राय यह नही है कि इन कृतियो में साहित्य-कार अपने को प्रकट ही नही करता। नाटक या वर्णनात्मक कथाओ या इसी प्रकार के दूसरे साहित्य मे भी लेखक के व्यक्तित्व की छाप रहती है, परन्तु वह सीधा हमारे सम्मुख नही आता।

वस्तुतः साहित्यकार बुद्धितत्त्व, भावतत्त्व और सौंदर्यतत्त्व के द्वारा साहित्य से अपना सम्बन्ध बनाये रखता है। साहित्य की सृष्टि साहित्यकार के विचारों के अनुरूप होती है। आदर्शवादी और सात्विक साहित्यकार की रचना में आदर्श और

सात्विक विचारो की अभिव्यक्ति मिलती है । उदाहरणार्थ:—शुक्ल जी की रचनाओं में उनके व्यक्तित्व की छाप पग-पग पर दिखाई देती है । आज का युग बुद्धिवादी है । अत: The poet and age react upon each other के अनुसार साहित्यकार भी बुद्धिवादी अधिक हो गये हैं । फलत: उसकी रचना मे उसके व्यक्तित्व की प्रधान विशेपता बुद्धिवादिता का पाया जाना स्वाभाविक है । इस प्रकार स्पष्ट है कि साहित्य का साहित्यकार की बुद्धि, मस्तिष्क और चिन्तना शक्ति से अन्यान्योश्रय सम्वन्ध है ।

साहित्यकार हृदय के माध्यम से भी साहित्य मे अपने व्यक्तित्व को व्यक्त करता है । सारांश यह है कि साहित्यकार की रचना उसकी बुद्धि, हृदय तथा उसकी अनुभूतियो से पूर्णतया प्रभावित होती है । महाकवि तुलसीदास जी ने भी काव्य सृष्टि के रूपक मे हृदय तथा बुद्धि दोनो को प्रधानता दी है :—

"हृदय सिन्धु मति सीप समाना, स्वाँती सारद कहहि सुजाना ।
जो बरसहि वर वारि विचारू, होहिं कवित्त मुक्तामणि चारू ॥"

तुलसीदास ने हृदय को सिन्धु और बुद्धि को सीप माना है । हृदय रूपी सिन्धु में उत्पन्न होने वाली बुद्धि-रूपी सीप में भाव-रूपी मोती प्रकट होते हैं और उन भाव-रूपी मोतियो से ही साहित्य का निर्माण होता है । अत: तुलसी ने भी परोक्ष रूप से साहित्य और साहित्यकार का घनिष्ठ सम्वन्ध माना है ।

अंग्रेज विद्वान् हडसन ने साहित्य और साहित्यकार के सम्वन्ध को इस प्रकार व्यक्त किया है—"For the intellectual emotional, and aesthetic qualities of any man's writing will rade themselves at bottom to all the personal qualities of his genius and character and thus the technical quality of his style become an aid of the undividuality embodied in his work. अर्थात् "शैली गत वौद्धिक भावात्मक और सौंदर्यात्मक सभी विशेषताएँ लेखक की प्रतिभा सम्वन्धी और चरित्र सम्बन्धी विशेषताओं से प्रच्छन्न रूप से सम्बन्धित रहती हैं ।" मरे नामक विद्वान् ने भी शैली के विध.न और लेखक के व्यक्तित्व मे घनिष्ठ सम्वन्ध माना है—"We must look for the origin of the true style in a mode of emotional and intellectual experience which is peculiar to each individual writer." अर्थात् "हमें शैली के विकास के लिए लेखक की भावात्मक और वौद्धिक अनुभूतियों के प्रकार पर दृष्टिपात करना चाहिए । क्योकि यह प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में पृथक्-पृथक् होता है ।" अत. स्पष्ट है कि साहित्य तथा साहित्यकार के व्यक्तित्व का घनिष्ठ सम्वन्ध है । आस्कर वाइल्ड ने भी साहित्य तथा साहित्यकार के व्यक्तित्व का घनिष्ठ सम्वन्ध माना है । जव साहित्यकार अपने व्यक्तित्व को साहित्य से दूर कर देता है तो उसकी साहित्यिक कृति असफल हो जाती है और उसका मूल्य कम

हो जाता है। यह ध्रुव सत्य है कि साहित्य साहित्यकार के व्यक्तित्व से अवश्य प्रभावित होता है।

साहित्य दर्शन

हमारे यहाँ के शास्त्रों में प्रत्येक जीव को आत्मभाव माना है। आत्मा की तीन वृत्तियाँ हैं—ज्ञान, इच्छा और क्रिया। जिस प्रकार प्रत्येक जीव मे आत्मभाव है उसी प्रकार प्रत्येक मे अनात्मभाव भी है। साख्य मे इसे मूल प्रकृति माना गया है। आत्म और अनात्म के सघात से ही जीव मात्र की सृष्टि हुई है। आत्म और अनात्म भाव के सघात की चर्चा उपनिपदो तथा कठोपनिपद् मे भी मिलती है। वेदों मे व्यक्त और श्वेताश्वतर उपनिषद् मे वर्णित दो पक्षियो की रूपात्मक कथा भी इसी आत्म और अनात्म के संघात की ओर संकेत करती है। इससे स्पष्ट है कि पुरुष और प्रकृति से उत्पन्न यह सृष्टि आत्म और अनात्ममयी है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इसे "जड़ चेतन की ग्रन्थि" कहा है। साहित्य जीवन और जगत की भावात्मक अनुकृति है। जब जीवन और जगत मे आत्म अनात्म भाव का सर्वत्र सघर्ष व्याप्त है तो साहित्य उससे विरहित कैसे हो सकता है। साहित्य में भी आत्म और अनात्म भाव के दर्शन होते हैं। किसी देश अथवा काल के साहित्य में आत्म भाव की प्रधानता रहती है और किसी मे अनात्म भाव की। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि साहित्य में किस भाव की प्रधानता है, इस बात का बोध कैसे हो। "जिस साहित्य में त्रिगुणात्मक संसार और मनुष्य तथा उससे सम्बन्धित बातो का वर्णन होता है उसे अनात्म भाव का साहित्य कहेंगे। किन्तु जिस साहित्य मे 'त्रिगुणातीत' भावो की प्रधानता होगी वह आत्मभाव का साहित्य कहलायेगा। भवभति ने "विन्देम देवताम् वाचम् आत्मनः कलाम्" लिख कर आत्म प्रधान साहित्य की ओर संकेत किया है।

हर्ष और विपाद, आकर्षण और विकर्षण, राग और विराग ये क्रमशः आत्मा और अनात्मा के विषय हैं और ये ही साहित्य के भी विषय हैं। साहित्य आत्म और अनात्म के सहित रहता है। आत्मभाव का साहित्य अलौकिक होता है और अनात्मभाव प्रधान साहित्य लौकिक होता है। लौकिक इच्छाएँ साहित्य मे भावना का रूप धारण करके परिष्कृत तथा उदात्त हो जाती हैं। साहित्य में लौकिक घटनाओं का वर्णन इस प्रकार से किया जाता है कि वे हमारे स्मृतिपटल पर अपना भावना-चिन्ह अंकित कर जाती हैं। और उनका आस्वाद अलौकिक होता है। यही कारण है कि साहित्य का प्रभाव साधारण जीवन की घटनाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक, तीव्र तथा गहरा होता है। वह प्रभाव, वह रस अलौकिक या ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। भावो के साथ रस के अलौकिकत्व की नियोजना करने से ही साहित्य का व्यक्तित्व प्रकाश मे आता है।

साहित्य के विभिन्न प्रकार

भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो ने साहित्य को कई भागों में विभाजित करने

का प्रयास किया है। सर्वप्रथम राजशेखर ने काव्य मीमांसा मे साहित्य के दो भेद किये—"शास्त्रं काव्यंचेति वाङ्मयं द्विधा" अर्थात् वाङ्मय या साहित्य शास्त्र या काव्य के दो भेद हुये। राजशेखर का यह विभाजन अग्रेज विद्वान डीक्वेंसी के साहित्य विभाजन से मिलता है। डीक्वेंसी ने साहित्य के दो प्रकार माने—

(१) Literature of Knowledge ज्ञान का साहित्य।
(२) Literature of Power शक्ति का साहित्य।

पाश्चात्य विद्वान् हडसन ने तीन प्रकार का साहित्य माना है:—

(१) The Literature of self expression (अर्थात् स्वानुभूति-मूलक साहित्य)—इस साहित्य में गीति काव्य का मुख्य स्थान है। कुछ वैयक्तिकता प्रधान निवन्ध भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं।

(२) The Literature in which the writer instead of going down of himself goes out of himself into the world of external human life and activity. अर्थात् वह साहित्य जिसमें कवि अपने हृदयस्थ भावों की अभिव्यक्ति के स्थान पर बाह्य जगत को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। इतिहास जीवनियाँ आदि इसके अन्तर्गत समाहित हैं।

(३) Literature of Description—वर्णन प्रधान सभी साहित्यिक विधाओं का इसमें प्रमुख स्थान है।

हडसन का यह विभाग साहित्य के (Subjective) आत्मपरक (Objective) संसारपरक विभाजन से समता रखता है। दोनों मे अन्तर केवल इतना है कि हडसन ने एक तीसरा विभाजन भी माना है।

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने साहित्य को तीन भागो में बाटा है:—

(१) भाव प्रधान साहित्य।
(२) विचार प्रधान साहित्य।
(३) कला और कल्पना प्रधान साहित्य।

डॉ० साहेब का यह विभाजन साहित्य के प्राणभूत उपादानों पर आधारित है।

कुछ विद्वानों ने साहित्य को कुछ संकुचित अर्थ में ग्रहण किया है और उसके दो भाग किये हैं:—

(१) Creative Literature सर्जनात्मक साहित्य।
(२) Critical Literature आलोचनात्मक साहित्य।

यह विभाजन भी समीचीन प्रतीत होता है।

संस्कृत के विद्वान भामह ने काव्य या साहित्य के चार विभाग किये हैं:—

(१) देवचरित शंसि।
(२) उत्पाद्य।

(३) कलाश्रय।
(४) शास्त्राश्रय।

साहित्य का यह विभाजन भी माननीय है। इसके द्वारा प्राचीन साहित्य के अध्ययन मे सहायता मिलती है। देवचरितशंसि के स्थान पर यदि धार्मिक शब्द का प्रयोग किया जाने लगे तो आज भी यह विभाजन स्वीकार किया जा सकता है।

संस्कृत के वैयाकरण पाणिनि ने साहित्य को छः भागो मे विभाजित किया है*:—

(१) **दृष्ट साहित्य**—वह साहित्य जिसे ऋषियों ने आत्मानुभूति के रूप में अभिव्यक्त किया हो। वैदिक संहिताएँ इस साहित्य के अन्तर्गत आती हैं।

(२) **प्रोक्त साहित्य**—गुरु और शिष्य के कथोपकथन के रूप मे व्यक्त आध्यात्मिक साहित्य को "प्रोक्त साहित्य" की संज्ञा दी गई है।

(३) **उपज्ञात साहित्य**—ऋषियों की भौतिक अन्वेषणो से परिपूर्ण विविध रचनाएँ इस साहित्य के अन्तर्गत आती हैं।

(४) **सूत्र साहित्य**—सूत्र साहित्य के अन्तर्गत गम्भीर सिद्धान्तों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति आती है। सस्कृत मे अनेक सूत्र ग्रन्थ प्राप्त हैं।

(५) **कृत साहित्य**—विवेचित विषय के आधार पर जिनका नामकरण होता है वह इस साहित्य के अन्तर्गत आते हैं।

(६) **व्याख्यान साहित्य**—इसके अन्तर्गत व्याख्यान प्रधान साहित्य आता है। व्याख्याएँ और टीकाएँ इसी कोटि मे आती हैं।

साहित्य का यह विभाजन अत्यन्त मौलिक तथा वैज्ञानिक है। आज भी विश्व के समस्त साहित्य को इन छः विभागो मे विभाजित किया जा सकता है।

साहित्य और समाज

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "हिन्दी साहित्य के इतिहास" मे लिखा है कि:—"प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है। तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।" शुक्ल जी के उक्त मत का समर्थन अन्य कई विद्वानो के द्वारा भी हुआ है। वास्तव में कलाकार या साहित्यकार अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसको अपने चतुर्दिक वातावरण से जैसी सामग्री प्राप्त होती है। उसी के अनुसार उसकी कृति भी होती है। कवि या लेखक अपने समय के वायुमण्डल मे घूमते हुए विचारो को सगृहीत कर उसे साहित्य का रूप देते हैं। वे समाज के मस्तिष्क और मुख दोनों होते हैं। साहित्यकार की वाह्य पुकार समाज की आन्तरिक पुकार होती है। साहित्यकार देश काल की परिस्थितियो के

---

* इण्डियन रोज़ नोन टु पाणिनि—वासुदेवशरण अग्रवाल पृ० ३१६।

अनुकूल बदलते हुए सामाजिक भावो को व्यक्त कर उन्हे, सजीव और शक्तिशाली बना देता है। साहित्यकार द्वारा निर्मित सामाजिक भावो की मूर्ति समाज की नेत्री बन जाती है। इस प्रकार कलाकार समाज के उन्नायक और इतिहास के विधायक होते हैं किन्तु उनकी भाषा मे हमे देश काल के भावो का सजीव चित्र मिलता है। कवि के माध्यम से ही हम समाज के हृदय तक पहुँचने में समर्थ हैं। केवल इतना ही नही हम साहित्य द्वारा देश काल की उन परिस्थितियो से भी अवगत हो जाते हैं ; जो समाज को प्रभावित कर वायुमण्डल में एक नवीन चेतना उत्पन्न कर देते हैं।

यह तो निर्विवाद है कि साहित्यकार ईश्वर द्वारा भेजा हुआ कोई अलौकिक प्राणी नही होता, वह तो समाज का प्रधान अङ्ग है। अत. जिस समाज में वह उत्पन्न होता है, उसकी तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होना स्वभाविक ही है। जिस प्रकार जातियो के साहित्य मे भेद होता है उसी प्रकार हम एक जाति के साहित्य में समय-समय की देशकाल की परिस्थितियो के अनुकूल भेद पाते हैं। साहित्य का इतिहास देशकाल की परिस्थितियों के इतिहास के साथ समानान्तर रेखाओ में चलता है। सत कबीरदास के समय मे कविवर बिहारीलाल नही हो सकते थे, और बिहारी के समय में कबीर का उदय नही हो सकता था। भक्तिकाल में निराश भारतीय जनता अपने पौरुष से हताश होकर विदेशी सत्ता का अनुमोदन कर रही थी। निराश तथा निरुपाय जनता परमात्मा की शरण मे आश्रय पाना चाहती थी, इसलिये यह सामयिक आवश्यकता थी कि देश में भक्ति सम्बन्धी रचनाओं का प्रणयन होता। भक्तिकाल मे सूर के पद, तुलसी की रामायण और मीरा की वेदना ने ही निराश जनता को आशा का आलोक दिखाया था। यदि भक्तिकाल मे साहित्यकार शृगार सम्बन्धी रचनाओ का सृजन करते तो वह देशकाल की परिस्थितियो के विरुद्ध तो होता ही, साथ ही साथ साहित्यकार के विद्रूप का कारण भी होता। साहित्य सदैव ही देशकाल की परिस्थितियो से प्रभावित रहता है।

भूषण में जो मुसलमानो के प्रति घृणा के भाव मिलते हैं सूर और तुलसी में नही हैं। क्योकि उनके समय मे मुसलमानी शासकगण हिन्दुओं को अपनाना चाहते थे। उस समय हिन्दुओ मे जागृति की प्रतिक्रिया का प्रारम्भ नही हुआ था। औरङ्गजेब की साम्प्रदायिक भावना ने हिन्दुओ में एक प्रकार की-जागृति उत्पन्न कर दी थी और महाराज शिवाजी उसके मूर्तिमान स्वरूप थे।

हिन्दी के आदिकाल का स्वागत रणभेरी के तुमुलनाद से हुआ उस समय राजपूत राजा आपस मे संघर्ष करते रहते थे। सम्पूर्ण देश मे वीरता की उमंग छाई हुई थी। उस काल के साहित्य का निर्माण स्याही की बूंदो से न होकर रक्त की धारा से हुआ था। उस काल के चारण और भाट युद्ध के प्रत्यक्षदर्शी थे। जो घर बैठकर ही कविता नही लिखते थे अपितु सेना के अग्र भाग मे रह कर असि ग्रहण करने वाले थे। यही कारण है कि युद्ध का जैसा सजीव चित्रण इस काल की तूलिका

से निसृत हुआ वैसा हिन्दी के किसी काल मे नही हुआ। चन्द्र का पृथ्वीराज रासो युद्ध वर्णन मे जितना सजीव बन पड़ा है, भाषा की दृष्टि से उतना सरस नही। अत. इस काल में वीर सम्बन्धी रचनाओं का ही सृजन हुआ है। शृंगार का चित्रण गौण मिलता है। शृंगार रस वीर रस का सहकारी बन कर आया है। पद्मावती के रूप सौंदर्य का वर्णन वास्तव मे शृगारिक है, किन्तु कवि का उद्देश्य सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होने का कदापि न था। वरन् वही सौन्दर्य पृथ्वीराज और अलाउद्दीन दोनों को ही वारम्वार युद्ध का मौन निमन्त्रण देता है।

रीतिकाल के प्रारम्भ होते होते देश मे यवनो का साम्राज्य पूर्णरूप से स्थापित हो चुका था। देश में सुख और शान्ति का वातावरण उपस्थित था। इस काल के अधिकाश कवि राज्याश्रित थे। अतः इस काल का साहित्य "स्वान्तः सुखाय" न होकर "राज्ञः सुखाय" था इस काल का हिन्दी काव्य राजदरबारो की विलास सामग्री बन गया था। शृगार का जो चित्रण इस काल की तूलिका से निसृत हुआ उसको इन राजाश्रित कवियों ने अश्लीलता की चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। नायक और नायिका को लेकर उन्होने शृगार के ऐसे नग्न चित्र उपस्थित किए कि स्वय अश्लीलता भी लज्जित हो जाए। बिहारी का एक-एक पद केशव का एक एक कवित्व, देव का एक-एक सवैया तथा घनानन्द की एक-एक पक्ति विलासिता के रंग मे रंजित है। बिहारी का एक दोहा देखिये:—

"राधा हरि, हरि राधिका, बनि आये संकेत।
दम्पति रति विपरीत सुख सहज सुरति हूँ लेत॥

देव दूर की कौड़ी लाने में प्रसिद्ध हैं फिर भला अश्लीलता की दौड़ में वे कैसे पीछे रह सकते थे।

"सखी के सकोच गुरु सोच मृगलोचनि
रिसानी पिय सो जो उन नेकु हंसी छुयो गात।
देव वै सुभाय मुस्काय उठि गये यहाँ
सिसकि सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात।
को जाने री वीर, विनु विरही विरह विथा,
हाय हाय करि पछिताय न कछु सुहात।
वड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि भरि ढरि,
गोरो गोरो मुख आज ओरो सो विलानो जात॥"

वर्तमान साहित्य मे जो एक अन्तर्वेदना और हृदय की कसक सुनाई पड़ती है वह देश के तत्कालीन भावों का ही प्रतिबिम्ब है। समाज मे दुख की समवेदना व्यापक सी बन गई है और उसी से दुख का महत्व बढ़ गया है। आज दुखी का आदर होने लगा है। दुख पवित्र माना जाता है (दुख की पवित्र झाँकी आजकल के कवियों मे विशेषकर महादेवी वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, और पत जी में खूब मिलती है। महादेवी वर्मा ने तो स्वयं ही स्वीकार किया है। "दुख मेरे निकट जीवन का

ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है।" देखिए पंत जी अश्रुओं के सम्बन्ध में कहते हैं—

"आह, यह मेरा गीला गान
वर्ण वर्ण मे उर की कम्पन,
शब्द शब्द है सुधि की दशन,
चरण चरण है आह,
कथा है कण कण करुण अथाह
बूंद मे है वाडव का दाह !
विरह है अथवा यह वरदान ।।"

यद्यपि इन कवियो मे राष्ट्रीयता व्यक्त नहीं है, तथापि यह अपने समय की परिस्थितियो के प्रभाव से मुक्त नही हैं। वर्तमानकाल का समस्त साहित्य राष्ट्रीय भावो से रजित है। शृगारी कवियो के अनुकरण करने वाले "रत्नाकर" जी मे भी राष्ट्रीय भावो की झलक मिलती है। मैथिलीशरण गुप्त जी की रचनाएँ भी राष्ट्रीय भावो से ओत-प्रोत हैं।

"हम कौन थे क्या हो गये और क्या होगे अभी
आओ ! मिलकर विचारें यह समस्याएँ भली ।।"

प्रसाद जी के नाटक, गुप्त जी का "वक-सहार", निराला का शिवा जी के पत्र इत्यादि में राष्ट्रीय स्वर प्रबल है :—

अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा ।।" प्रसाद

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी, और श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता मे भी राष्ट्रीय भेरी नाद सुनाई पडता है। नवीन जी एक नई तान ही गाने को कहते हैं।

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल पुथल मच जाय"

पंत जी जीर्ण, पुरातन को जीर्ण करने के लिए कहते हैं।

"गा कोकिल वरसा पावक कण, नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन ।"

देश के राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ राष्ट्रीय भावो की बाढ सी आगई थी। उपन्यास और आख्यायिका मे भी उसके दर्शन होते है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गोरा नामक उपन्यास का नायक गौर मोहन भी स्वेच्छा से जेल जाने में अपना गौरव समझता है। उपन्यास सम्राट मुन्शी प्रेमचन्द के उपन्यास "रगभूमि" में आधुनिक राजनीतिक युद्ध का सजीव चित्रण है, और प्रेमाश्रम के उपन्यास पट पर सन् १९२१ के भारतीय समाज का स्पष्ट चित्र है, और पीछे किसी भावी भारत की छाया है।

वैज्ञानिक युग की विचारधारा ने ही प्रसाद को "कामायनी" में इड़ा के सृजन

के लिए प्रेरित किया है। यही नहीं आधुनिक काल के संघर्ष को उन्होंने बहुत सुन्दर शब्दों मे व्यक्त किया है :—

"हाँ तुम ही हो अपने सहाय ?
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय,
जितने विचार, संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय।
यह, प्रकृति परम रमणीय अमित ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन,
तुम उसका पटल खोलने मे परिकर कस कर बन कर्म लीन ?"

साहित्य देश काल से सदैव प्रभावित होता रहता है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह भी है कि आज हमारा साहित्य पाश्चात्य सभ्यता से अधिक प्रभावित है। **"विचार और भावनाओं के साथ-साथ अंग्रेजी का प्रभाव, विचार करने की शैली और उद्रेक की प्रणाली पर पड़ा। शैली, कीट्स और बॉयरन का नीरव रोदन तथा कल्पना की उड़ानें हमारे वर्तमान हिन्दी कवियो को अपने से दूर बहा ले गई।"**

—श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय

पाश्चात्य साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह विदित होता है कि वहाँ भी युग के साथ लिखने की शैली बदली है। जहाँ कभी शेक्सपियर के नाटको का बोल बाला था वहाँ अब इब्सन की नाट्य शैली की धूम है। मिल्टन तथा वर्डस्वर्थ की कविता इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि युग परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य मे भी परिवर्तन होता है।

हरिजन आन्दोलन की ध्वनि भी भारतीय साहित्य मे मिलती है। युद्ध काल मे जिस साहित्य का निर्माण हुआ उसमे देशभक्ति और वीरता की छाप है। युद्ध की शान्तिमयी प्रतिक्रिया भी हम सियारामशरण जी के "उन्मुक्त" और डाक्टर बलदेव प्रसाद मिश्र के "साकेत संत" मे देखते हैं। आजकल के उपन्यासो मे बदले हुए नैतिक मापदण्डो की छाप है, और राहुल जी, अचल जी, यशपाल जी आदि लेखको के उपन्यासो की पार्श्वभूमि साम्यवादी है। बंगाल की अकाल पीड़ित जनता ने साहित्यकारो का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर "बंग दर्शन" को जन्म दिया। अग्रवाल जी का एक गीत देखिए—

"बाप बेटा बेचता है माँ अचेतन हो रही है,
भूख से बेहाल होकर, मूर्च्छना में रो रही है।
धैर्य धीरज प्राण खोकर, राम के निर्भय चरण पर
हो रही अनरीति बर्बर, राष्ट्र सारा देखता है।
बाप बेटा बेचता है॥"

सारांश यह है कि साहित्य की गति के द्वारा हम देश की गति से अवगत होते हैं। युग के साथ समाज बदलता है और समाज के साथ साहित्य।

हमारा साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब होने के साथ साथ उसका पथ-प्रदर्शक

या प्रकाश स्तम्भ है। यदि समाज में सुख शान्ति की स्थापना हो, नैतिक आदर्श और धर्म की प्रतिष्ठा हो, तब तो साहित्य जीवन का प्रतिविम्ब भले ही हो। परन्तु जब समाज अवनति के गर्त मे जा रहा हो, चारो ओर विश्रृंखलता का साम्राज्य हो, वह निराश और दु.ख की भावनाओ से परिपूर्ण हो, तो उस समय साहित्य को समाज के कल्याण के लिए शक्ति, जीवन, आशा और उन्नति का अमर सन्देश देना पडता है। प्रारम्भ से ही अमर साहित्य समाज तथा देश के कल्याण तथा उत्थान के लिए प्रयत्नशील रहा है। व्यक्ति का, जाति का, समाज का और राष्ट्र का निर्माण करने का श्रेय साहित्य को ही है।

साहित्य की अमोघ शक्ति तथा व्यापक प्रभाव किसी से छिपा हुआ नही है। महान् कलाकार अपनी रचनाओ में सत्य सदेश इस प्रकार रखते हैं, जिससे पाठको को आनन्द प्राप्ति के साथ-साथ उनका उत्थान भी हो सके। श्री मैथिलीशरण गुप्त जी ने भी कहा है—

"केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
किन्तु उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥"

साहित्य के उपदेश की सर्व प्रमुख विशेषता यह रहती है कि उसका उपदेश शुष्क और नीरस न होकर सरस होता है। इसलिए साहित्य हमारे मर्म पर सीधा आघात करता है। कहते हैं कि एक वार मिर्जा राजा जयसिंह अपनी छोटी रानी पर इतने अधिक आसक्त थे कि राज-काज भी भूल गये थे। तव विहारी के निम्न-लिखित दोहे ने उन्हे राज काज में प्रवृत्त किया:—

"नहिं पराग नही मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सो वंध्यो, आगे कौन हवाल॥"

महाराज जयसिह पर इस दोहे ने जो जादू का कार्य किया वह सैकड़ो सूखे उपदेश मिलकर नही कर सकते थे। साहित्य समाज का उचित मार्ग दर्शन कर उसकी सद्वृत्तियो को सजग करता है। साहित्य मे वह अमोघ शक्ति है जिसके द्वारा वह वज्रादपि कठोर को भी कुसुमादपि मृदु बना देता है। एक बार जयसिंह शाहजहाँ के पक्ष मे हिन्दुओ पर अत्याचार कर रहे थे तव विहारी के निम्न दोहे ने उनका नेत्रोन्मीलन किया·—

"स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखि विहग विचार।
वाज पराये पान परि, तू पछि न मार॥"

साहित्य में तलवार से भी अधिक शक्ति है। शिवाजी की विजय का श्रेय भूषण को ही है। भूषण ने अपनी ओजस्वी वीर रस से पूर्ण कविताओ के द्वारा मृतक मरहठो मे वीरता का संचार किया था। शिवाजी अत्याचार तथा अन्याय का दमन उसी अवस्था मे कर सके थे जब शिवाजी की तलवार के साथ भूषण की लेखनी का योग हो गया था। साहित्य के द्वारा जो क्रांतियाँ हुई हैं, वे तलवार के

द्वारा की हुई क्रान्तियों से कही अधिक स्थायी होती हैं। साहित्य समाज के ज्ञान को विस्तृत करके उसे वर्तमान के प्रति असन्तुष्ट बनाता है। वह समाज को उनकी हीन दशा का अवलोकन कराता है और दूसरों की उन्नत दशा की ओर सकेत करके उनका नेत्रोन्मीलन करता है। मजिनी के साहित्य ने इटली के राष्ट्रीय जीवन मे क्रान्तिकारी परिवर्तन करके अपनी अतुल शक्ति का परिचय दिया है। रूस के समाजवादी विचारो ने वहाँ के राज विप्लव को जन्म दिया।

फ्रान्स की राज-क्रान्ति बोलतेर और रूसो के विचारों का ही फल है। गत महासमर का उत्तरदायित्व नित्शे आदि दार्शनिकों के विचारो को है। यदि साहित्य न होता तो मानव समाज के विचार क्षणिक और अस्थायी होते। साहित्य केवल क्रान्तियो का ही विधायक नही है, अपितु वह मानव समाज को सुख, शान्ति तथा स्वातंत्र्य के भावो का भी दिव्य सदेश देता है। तुलसी के "रामचरित् मानस" ने न जाने कितने अन्धकारमय हृदयो को आलोकित किया होगा। तुलसी ने आशा, शान्ति और सन्तोष का जो अमर सन्देश दिया—वह गरीबो के जीर्ण-शीर्ण झोंपड़े। से लेकर धनिकों की अट्टालिकाओ तक प्रत्यावर्तन पा रही हैं। "मानस" के सम्बन्ध मे श्री शिवनन्दन सहाय जी लिखते हैं:—

"लाखों जन उसे अपना जीवन सर्वस्व समझते हैं। करोड़ों इसी का आश्रय कर कतिपय कुत्सित कर्मो से बचते हैं। कितने इसके पाठ से विरक्त साधु बन जाते हैं, एवं कितने पंडित और ज्ञानी कहलाने लगते हैं। सामाजिक व्यवहार, नीति, राज-नीति आदि नीतियों का शास्त्र कहलाने का यह ग्रंथ अधिकारी है।" कल्पना नहीं की जा सकती कि कबीर के 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ" वाले शब्दों ने कितने निराश व्यक्तियो को आशा का आलोक दिखाया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सच्चा साहित्य समाज का प्रकाश स्तम्भ होता है। वह समाज की भावनाओं का परिष्कार कर उसे उत्थान की ओर ले जाता है।

किन्तु साहित्य जहाँ समाज का प्रकाश स्तम्भ है वहाँ समाज के जीवन का शुद्ध प्रतिबिम्ब भी है। प्रत्येक युग का साहित्य अपनी युग भावनाओं से अवश्य प्रभावित होता है। पुष्प जैसी जड़ वस्तुएँ जब आवेष्टन या वातावरण के प्रभाव से मुक्त नही हैं, तो कवि जैसा भावुक प्राणी, जो अत्यधिक सवेदनशील है, कैसे मुक्त हो सकता है। ऋतुराज बसन्त मे जो पुष्प हरे भरे या लहलहे हो जाते हैं वे ही ग्रीष्म के प्रचंड ताप मे कुम्हला जाते है। कवि या लेखकगण अपने आवेष्टन या वातावरण से प्रभावित होकर ही काव्य की रचना करते हैं। क्योंकि वह सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय आकांक्षा, जातीय आदर्श अथवा प्रजा की वेदनाओं की स्वयम्भू मूर्ति है। यदि समाज मे अशान्ति का साम्राज्य हो वह दुख तथा निराशा की भावनाओ से ओतप्रोत हो तो उस समाज का प्रतिनिधि कवि कभी भी हर्ष के तराने नही गा सकता। कवि की लेखनी मे समाज की वाणी प्रस्फुटित होती है। यही कारण है कि प्रत्येक युग का साहित्य अपने तत्कालीन समाज के जीवन का प्रतिबिम्ब होता है।

"टाम काका की कुटिया" अपने समय की गुलामी प्रथा का सजीव चित्र है। तुलसी का मानस भी अपने समाज का शुद्ध प्रतिबिम्ब है। तुलसी ने मानस की रचना समाज के लिये की थी। माँ का पुत्र के प्रति, पुत्र का पिता के प्रति, भाई का भाई के प्रति, पत्नी का पति के प्रति जो कर्तव्य है उसी का वर्णन तुलसी ने किया है। इसलिये कवि की आत्मा विश्वात्मा मानी जाती है। उसका हृदय विश्व का हृदय और उसकी वाणी विश्व की वाणी बन जाती है। विश्व के महान् साहित्यकारो ने अपनी कृतियो मे—जहाँ अपने भावो तथा विचारो को प्रश्रय दिया है, वहाँ अपने समाज के सजीव चित्र भी उपस्थित किये हैं। गोर्की और प्रेमचन्द अपने युग के प्रतिनिधि साहित्यकार हैं उन्होने अपने साहित्य मे समाज के जीते जागते चित्र उतारे हैं।

साहित्य समाज के अव्यक्त भावो का स्पष्टीकरण कर उन्हे सजीव तथा शक्तिशाली बनाता है। साहित्य समाज के जीवन का शुद्ध प्रतिबिम्ब होता है, तभी तो प्रत्येक जाति के साहित्य का अपना निजी व्यक्तित्व है। उपनिषदो मे जिस त्याग तथा आत्मा के दर्शन होते हैं वह अन्य जातियो के धार्मिक साहित्य मे उपलब्ध नही होता। भारत के शुद्ध उज्ज्वल तथा उन्मुक्त तपोवनो ने जिन अनन्तता के भावों का प्रसार किया है उनका शुद्ध प्रतिबिम्ब उपनिषद् साहित्य मे प्राप्त होता है। समय की परिवर्तनशीलता के साथ-साथ ये भाव तथा विचार कुछ समय के लिये स्थगित अवश्य हो जाते हैं, किन्तु अवसर पाकर पुन. उदित हो जाते हैं। शेक्सपियर की तुलना कालीदास से की गई है। किन्तु इन महाकवियो की रचना अपने समाज के शुद्ध प्रतिबिम्ब हैं। कर्म और आवागमन के भाव जो कालिदास के काव्य मे मिलते हैं, वे शेक्सपियर में नही मिल सकते। देखिए :—

'कल्याण बुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शकनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाक विस्फूर्जथुर प्रसह्यः॥

× × × ×

साहं तपः सूर्य निविष्ट दृष्टिरूर्ध्वप्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जन्मान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥"

निर्वासित होने पर श्री सीता जी श्री लक्ष्मण जी से कहती हैं—"रामचन्द्र जी के सम्बन्ध में यह शंका भी नही कर सकती कि यह काम उन्होंने स्वेच्छाचार से किया, वरन् मेरे ही जन्मान्तर के किये पापों का फल है, और जो मुझको वज्र के समान असह्य हो रहा है। जब मैं इस प्रसूति कार्य से निवृत्त हो जाऊँगी तब सूर्य की ओर दृष्टि लगाकर तप करूँगी कि जन्मान्तर में भी वे ही पति मिलें और कभी वियोग न हो।" दोनो ही श्लोको मे हिन्दू धर्म द्वारा मान्य सूर्य के तप और आवागमन के सिद्धान्तों की झलक है।

मुसलमानी लोग मूर्तिपूजा के सिद्धान्तो के विरोधी थे। इसलिये उनके साहित्य मे नाटको का अभाव है। उनके विचारो मे कर्मवाद को प्रमुखता नही दी

गई है। (हिन्दुओं मे उनके कर्म ही भाग्य के नियामक माने जाते हैं, मुसलमानो में ईश्वर की इच्छा ही प्रधान मानी गई है।) भारतीय साहित्यकारो ने सम्मिलित परिवार के जैसे सुन्दर चित्र चित्रित किये हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं। शेक्सपियर प्रयत्न करके भी "रामचरित मानस" की रचना नही कर सकते थे। इसी प्रकार तुलसीदास जी मिल्टन (Milton) के 'पैरेडाईज लौस्ट' की कल्पना भी नही कर सकते थे। क्योकि Paradise lost मे ईश्वर के विरुद्ध शैतान के विद्रोह का वर्णन है। तुलसीदास जी मर्यादावादी कवि थे। अत. वह इसकी कल्पना भी नही कर सकते थे। हिंन्दू समाज स्वभाव से अधिकारो को मानने वाला है। हिन्दू समाज मे त्याग और अहिंसा के भावो की प्रधानता रही है। फलत. यहाँ के साहित्य मे मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र, त्यागी बुद्धदेव, सत्य परायण हरिश्चन्द्र, दानी शिवि और दधीचि के वर्णनो की प्रधानता है। जितना हत्याकाड उर्दू कवियो के प्रेम वर्णन मे मिलता है उतना हिन्दी कवियो मे नही। अतः प्रत्येक साहित्य मे उसकी जाति के भाव किसी न किसी रूप मे अवश्य प्रतिविम्बित होते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने हिन्दी साहित्य में लिखा है—**"कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्त-वृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है।"**

साहित्य ही देश के भावो को जीवित कर उन्हे अमरत्व प्रदान करता है। साहित्य का ध्येय जीवन के सम्पूर्ण पहलुओ की आलोचना है साहित्य का दृष्टिकोण एकाकी न होकर व्यापक है अतः साहित्य मे मानव जीवन की सस्थापना रहती है। साहित्यकार काव्य, नाटक, उपन्यास तथा आख्यायिका के रूप मे जीवन की आलोचना करता है।

साहित्य मानव के चेतना-मूलक जीवन का अभिन्न अग है। समाज का उत्थान, पतन, उसकी आशा, आकाक्षाए सभी कुछ अमर साहित्य में निहित रहती हैं। किसी भी देश की साहित्यिक रचनाये उस देश या जाति के वृत्तान्त का सुन्दरतम् निदर्शन हैं। जो जाति जितनी अधिक धर्मात्मा होगी उसका साहित्य उतना ही अधिक आध्यात्मिक होगा। वैदिक कालीन साहित्य पूत भावनाओ से ओत-प्रोत है। वैदिक काल में आर्यों का समाज था। वे पाक-यज्ञ आदि में प्रवृत्त होकर प्रकृति के उपकरणों को देवता तुल्य मानकर उन्हें अपनी श्रद्धाजली अर्पित करते थे। अत. उस समय जिस साहित्य का निर्माण हुआ वह वेदो का साहित्य था। जिसमें अग्नि, जल, वायु आदि देवताओ को आहुति द्वारा प्रसन्न करने के विभिन्न मन्त्रो का उल्लेख है। शनैः शनै जब समाज मे सभ्यता और सस्कृति का विकास हुआ और मनुष्य भावुकता का परित्याग कर तर्कशील होगये तथा आत्म तत्व का विश्लेषण ब्रह्म स्वरूप का विवेचन एव सृष्टि की उत्पत्ति के प्रश्न उनके जीवन के अभिन्न अग बन गये तो उपनिषद् और दर्शन साहित्य का निर्माण हुआ। उसी प्रकार जब निर्गुण निराकार की उपासना समाज के लिए दुरुह तथा कष्ट साध्य हो गई तो सुगम सगुण मार्ग का प्रादुर्भाव हुआ। उसी समय वैष्णव कवियों ने धार्मिक साहित्य की रचना की। साहित्य समाज से सदैव ही प्रभावित है। इसका

एक कारण यह भी है कि मानव मानव से अपना सम्वन्ध स्थापित करना चाहता है। मानव जीवन के समस्त रहस्य दुःख, सुख आदि समस्त अनुभूतियाँ साहित्य के माध्यम से ही प्रगट होती हैं। दूसरी बात यह है कि साहित्य सामाजिक संगठन और जातीय जीवन का भी वर्धक होता है। हम अपने विचारों को अमूल्य सम्पत्ति समझते हैं। उनका हम गौरव करते हैं।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास के क्रमिक विकास पर एक विहंगम दृष्टि निक्षेप करने पर यही भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब (Reflection) और साथ ही साथ समाज का दीपक अथवा प्रकाश स्तम्भ है जिसके द्वारा प्रसारित प्रकाश राशि मे ही समाज अपने प्रगति पथ पर निरन्तर अग्रसर होता रहता है। हमारा साहित्य समाज को एक संस्कृति और एक जातीयता के सूत्र मे बाँधता है। अन्त मे गुलाबराय जी के शब्दो मे कह सकते हैं—"कि हमारा साहित्य हमारे समाज का प्रतिबिम्ब ही नहीं, वह उसका नियापक और उन्नायक भी है।"

चौथा अध्याय

"कविता की व्याख्या"

कविता की सीमा पद्य-बद्ध साहित्य तक सीमित है। साहित्य शास्त्र की रचना करते समय शब्दो को पारिभाषिक रूप देना पड़ता है और इस दृष्टि से साहित्य का गद्य और पद्य मे विभाजन किया गया है। व्यवहारिक दृष्टि से गद्य और पद्य मे अन्तर भी दिखाई देता है। यद्यपि गद्य मे कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमे पद्य के समान अलकार और कल्पना का चमत्कार रहता है तथा कुछ पद्य भी ऐसे हैं, जिनकी सरल तथा निरलकार स्वाभाविकता गद्यवत् प्रतीत होती है तथापि गद्य की अपेक्षा पद्य मे सगीत कला की झलक अधिक स्पष्ट तथा प्रभावशाली होती है। पद्य मे कल्पना का प्राचुर्य अधिक होता है तथा उसकी रसमयता भी अधिक बलवती होती है। प्राय: पद्य का स्वर तालबद्ध होता है। अधिकाश मे भक्तो के पद्य सगीतमय होते हैं। गद्य मे मनुष्य की बुद्धि क्रिया प्रधान होती है पद्य में कवि की भावना बलवती होती है। पद्य मे चरण नृत्य करते हैं तथा यति आदि के नियमों मे बधे होते हैं।

विश्व का प्रारम्भिक साहित्य पद्यमय है। गद्य का विकास बाद में हुआ। मैकाले का विचार था कि सभ्यता के विकास के साथ साथ कविता का ह्रास हो गया। यद्यपि यह बात किसी सीमा तक ठीक है, किन्तु यह कोई अटल नियम या स्थायी निष्कर्ष नही कहा जा सकता। कुछ विद्वान पद्य को महत्व देते हैं और कुछ गद्य को। गद्य मनुष्य के व्यवहारिक भाव विनिमय का साधन होने के कारण अधिक स्पष्ट और नीरस है। उसकी नित्यप्रति की उपयोगिता उसे एक दृढता तथा पुष्ट शक्ति प्रदान कर रही है। कुछ मनुष्यों ने गद्य तथा पद्य के अन्तर को स्पष्ट करते हुए यह माना है कि गद्य सामाजिक वस्तु है। अतः वह सामाजिक सत्य, यथार्थवाद को अधिक मात्रा मे व्यक्त करता है, और पद्य मनुष्य की अलकृत भावना की सृष्टि, अत: वह उदात्त आदर्शों की व्यंजना है। कविता की कला अत्यन्त सूक्ष्म तथा मनोमुग्धकारी है। वह मानव की असाधारण सृष्टि होने के कारण साधारण लोक व्यवहार का वर्णन नही करती। कविता मानव हृदय की सूक्ष्म तथा गम्भीर वृत्तियो का प्रदर्शन करती है। यह मानव की सगीतमय मनोवृत्ति का उद्गार है अतः यह गद्य की अपेक्षा अधिक परिमार्जित तथा सुष्ठु होती है।

कविता की परिभाषा—कविता को परिभाषा के पाश मे बाधने वाले विद्वानो ने इसकी परिभाषा भिन्न भिन्न प्रकार से की है। संस्कृत के विद्वानो ने प्राय: काव्य और कविता को पयार्यवाची माना है। यहाँ हम संस्कृत विद्वानों द्वारा दी गई काव्य या कविता की परिभाषा देंगे।

मम्मट [illegible]ाशकार मम्मट न काव्य की परिभाषा मे शब्द और

अर्थ दोनो को प्रधानता दी है। वे लिखते हैं—"तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" ऐसे शब्द और अर्थ को कविता कहते हैं जिसमें दोष न हों, गुण हों, अलकार हो, और कभी कभी अलकार न भी हो।

विश्वनाथ—साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने कविता या काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" अर्थात रस से युक्त वाक्य ही काव्य है। इस परिभाषा मे रस को प्रधानता दी गई है। परन्तु रस एक ऐसा शब्द है जो स्वयं बोधगम्य नही और काव्य के समान ही विशिष्ट है।

जगन्नाथ—पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को कविता या काव्य माना है—

"रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दः काव्यम्"

तात्विक दृष्टि से इन तीनों परिभाषाओ मे कोई विरोध दृष्टिगोचर नही होता। परन्तु तीनो की अपनी अपनी विशेषताएँ हैं। विश्वनाथ की परिभाषा मे रस को प्रधानता दी गई है। यह साधारण विद्यार्थियों के लिए बोधगम्य नही। जब तक विद्यार्थी रस के पूरे सिद्धान्त से परिचित न होगा तब तक वह इस परिभाषा को समझ नही सकता। आचार्य मम्मट की परिभाषा इससे कुछ सरल है क्योंकि इसमे पहले कविता के दोष, गुण, अलंकार आदि को प्रधानता दी गई है। जगन्नाथ की परिभाषा भी सुन्दर कही जायेगी। इनकी परिभाषा साहित्य शास्त्र का निचोड है। इनकी परिभाषा मे "रमणीय" शब्द को प्रधानता दी गई है, और "रमणीय" की व्याख्या करना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार इन तीनों परिभाषाओ मे मम्मट की परिभाषा अधिक व्यवस्थित तथा व्यवहारोपयोगी है। मम्मट ने सर्वप्रथम यह बतलाया है कि शब्द और अर्थ दोनो मिलकर ही काव्य या कविता का रूप धारण करते हैं। इसीलिए उन्होंने "ध्वनि" को काव्य मानते हुए भी चित्रकाव्य को कविता का स्थान दिया है। यही उनकी व्याख्या की व्यापकता है। परोक्ष रूप से शब्द और अर्थ कविता के आधार होते हैं। इसलिए कविता के स्वरूप को जानने के लिए अभिधा, लक्षणा, और व्यजना—तीनो प्रकार की शब्द शक्तियो का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। शब्दार्थ की इसी व्याख्या के सहारे रस, ध्वनि, सौंदर्य, कलात्मक अनुभूति, साधारणीकरण आदि सभी की विवेचना होती है।

वामन—वामन ने काव्य की आत्मा रीति माना है—"रीतिरात्मा काव्यस्य" इस परिभाषा में केवल वर्णो का ही ध्यान रखा गया है, शब्द और अर्थ का नही। लेकिन काव्यानुभूति के लिए वर्ण की व्यवस्था ही पर्याप्त नही है।

आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है "काव्यास्यात्मा ध्वनिः"

जयदेव—ने चन्द्रलोक मे काव्य या कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

"निर्दोषा लक्षणवती सरीतिगुण भूषिता।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥"

अर्थात् "दोष रहित लक्षणों वाली, रीति तथा गुणों से गुँथी हुई, अलंकार और रसों वाली अनेक छन्दों से सम्पन्न वाणी ही काव्य की संज्ञा पा सकती है।"

कुन्तक—कुन्तक ने काव्य की व्याख्या इस प्रकार की है:—

"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् तद्विदाह्लादकारिणी॥"

अर्थात् "असाधारण कवि व्यापार से युक्त और असाधारण कवि कर्म का ज्ञान रखने वाले मनुष्यों को प्रसन्न करने वाली रचना में जो व्यवस्थित हितकर शब्द और अर्थ होते हैं उन्ही को काव्य कहते हैं।"

वाग्भट्ट—ने कविता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो कवि यश की कामना करता है उसे चाहिये कि सुन्दर शब्द और अर्थ के ऐसे समूह से काव्य की सृष्टि करे जो गुण तथा अलकारो से युक्त हो, जिसकी रीति स्पष्ट हो और जो रस से आप्लावित हो:—

'साधु शब्दार्थ सन्दर्भ गुणालङ्कार भूपितम्।
स्फुटरीतिरसोपेत काव्यं कुर्वीत कीर्त्तये॥"

विद्याधर—ने "एकावली" मे लिखा है—"शब्द और अर्थ ही उसके शरीर हैं इसलिए शब्द और अर्थ के शरीर वाली रचना ही काव्य की संज्ञा पायेगी।"—

"शब्दार्थौ वपुरस्य शब्दार्थवपुस्तावत् काव्यम्।"

अच्युतरायने—"साहित्यसार" मे अच्युतरायने काव्य या कविता की व्याख्या उस प्रकार की है:—

"तत्र निर्दोष शब्दार्थं गुणवत्त्वे सति स्फुटम्।
गद्यादिबन्धरूपत्व काव्यसामान्यलक्षणम्॥"

अर्थात् जो गद्य-पद्य आदि की सीमा में बंध कर, गुणों से सम्पन्न शब्द और अर्थ काव्य का साधारण लक्षण है।

धर्मसूरी—धर्मसूरी ने "साहित्यरत्नाकर" मे दोपहीन शब्द और अर्थ को काव्य की सज्ञा दी है:—

"सगुणालंकृति काव्यम् पदार्थौ दोषवर्जितौ।"

क्षेमेन्द्र—क्षेमेन्द्र ने काव्य की परिभापा इस प्रकार दी है:—

"काव्यं विशिष्ट शब्दार्थ—साहित्यसदलंकृति।"

अर्थात् वह विशिष्ट शब्द और अर्थ जो साहित्य शास्त्र मे वर्णित श्रेष्ठ (कवि कण्ठाभरण) अलकारो से सम्पन्न हो वह काव्य होगा।

न्यायवागीश—न्यायवागीश ने काव्य को इस प्रकार परिभापाबद्ध किया है—

"गुणालङ्कारसंयुक्तौ शब्दार्थौ रस भावगौ।
नित्य दोष विनिर्युक्तौ काव्यमित्यभिधीयते।" (अलकार चन्द्रिम)

अर्थात् गुण और अलंकार से सम्पन्न, भाव से पूर्ण, दोष से मुक्त शब्द और अर्थ को ही काव्य कहा जायेगा।

कुछ मनुष्यो ने अनुभाव विभाव के वर्णन को ही काव्य माना है:—

"अनुभावविभावानं वर्णनं काव्यमुच्यते"

इन सब मतो में एक दोप पाया जाता है। प्राय: सभी ने शब्द या शब्दार्थ की निर्दोषिता पर बल दिया है और निर्दोप रचना को ही काव्य माना है। किन्तु निर्दोष रचना का होना अत्यन्त कठिन है। यदि दोप और अलकार का ध्यान रखा जायेगा तो रचना की स्वाभाविकता नष्ट हो जायेगी। अलकारो से काव्य की शोभा बढ सकती है किन्तु उसकी उत्पत्ति नही हो सकती। अत्यधिक अलकारो के प्रयोग से सुन्दर वस्तु भी असुन्दर प्रतीत होती है। अत. बलपूर्वक अलकारों का प्रयोग नही होना चाहिए। दृश्य काव्य की दृष्टि से अलकारो की सदा आवश्यकता भी नही होती क्योकि इसका वाच्याश लोक-व्यवहार की बातचीत पर निर्भर होता है।

इस प्रकार संस्कृत के विद्वानो ने काव्य या कविता के स्वरुप को भिन्न-भिन्न रूप प्रदान किया है।

हिन्दी विद्वानों द्वारा दी गई कविता की परिभाषाएँ—हमारे हिन्दी विद्वानों ने भी कविता के सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखा है। इस सम्बन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का "कविता क्या है ?" शीर्षक लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी अपने "काव्य और कविता" शीर्षक लेख में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदी—द्विवेदी जी अपनी परिभाषा में मिल्टन की परिभाषा से अधिक प्रभावित हैं। द्विवेदी जी कविता मे असलियत पर विशेप बल देते हुए लिखते हैं—

"सादगी, असलियत और जोश (मिल्टन के बतलाये हुये तीनों गुण) यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता मे भी इनमे से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।"

असलियत शब्द को द्विवेदी जी ने संकुचित अर्थ मे नही लिया है। वे कविता मे इतिहास की शुष्कता नही चाहते। उन्होने कविता मे कल्पना को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उन्होने कविता का सबसे बडा गुण नवीन-नवीन बातों की उद्भावना माना है। इसके लिए कल्पना की अत्यन्त आवश्यकता है। द्विवेदी जी ने रागात्मक तत्व को जोश के रूप मे लेते हुए भी उसे विशेप महत्व नही दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—आचार्य शुक्ल जी ने अपनी परिभाषा में सत्य को

महत्व देते हुए रागात्मक तत्व को प्रधानता दी है। वे लिखते हैं:—

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की वह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय को इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते है। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष मानते है।"

हृदय की मुक्तावस्था की व्याख्या शुक्ल जी ने इस प्रकार की है:—

"जब तक कोई अपनी पृथक सत्ता की भावना को ऊपर किये हुए, इस क्षेत्र के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग-क्षेत्र, हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि से सम्बद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक सत्ता की धारणा से छूटकर अपने आपको बिल्कुल भूल कर विशुद्ध हृदय मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है।"

इस मुक्तावस्था पर पहुँचने से व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसके सम्बन्ध मे आचार्य शुक्ल लिखते हैं:—

"कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मंडल से ऊपर उठा कर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है······उस भूमि पर पहुँचते हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन किये रहता है।······इस अनुभूति योग के आभास से हमारे मनो-विकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"

शुक्ल जी ने भाव-जगत तथा बाह्य-जगत के समन्वय को महत्व दिया है। वे कोरे चमत्कारवाद के विरोधी हैं। उन्होने कला का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं माना है। उन्होने काव्य को लोक-हित से सम्बद्ध किया। द्विवेदी जी ने चमत्कारवाद को अधिक महत्व दिया है। इस सम्बन्ध मे वे क्षेमेन्द्र का मत देते हुए लिखते हैं:—

"शिक्षित कवियों की उक्तियों मे चमत्कार होना परमावश्यक है। यदि कविता मे चमत्कार नही, कोई विलक्षणता नही तो उससे आनन्द की प्राप्ति नही हो सकती। क्षेमेन्द्र की राय है—"नहि चमत्कार रहितस्य कवेः कवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्त्वम्" द्विवेदी जी ने रस को भी आवश्यक माना है। इस सम्बन्ध में उन्होने श्री कठ चरित के रचयिता का उदाहरण दिया है, जो दृष्टव्य है :—

"तैं स्तैरलकृति शतैरवतंसितोऽपि
रूठो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि।
नून विना घनरस प्रसराभिषेकं
काव्याधिराज परमर्हति न प्रबन्धः॥"

अर्थात् "सैंकड़ों अलंकारों से अलंकृत उच्चासन पर आरूढ़ होकर भी और

सब प्रकार का सौष्ठव धारण करके भी रसधारा के अभिषेक के बिना काव्याधिराज पदवी को नहीं प्राप्त होता।"

आचार्य शुक्ल जी ने भावप्रेरित चमत्कार वाद का समर्थन किया है। इस सम्बन्ध मे वे लिखते हैं:—"उक्ति की तह में उसके प्रवर्त्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अन्तवृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो, काव्य की समरसता बराबर पाई जायेगी।......ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौन्दर्य आदि) में लीन न होकर एक बारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह "काव्य" नहीं "सूक्ति" है। शुक्ल जी ने केवल चमत्कार को सूक्ति माना है। जिस कविता में भाव की स्वाभाविकता की अपेक्षा दूर की सूझ होगी उसे चमत्कार ही कहा जायगा।

जयशंकर प्रसाद :—प्रसाद जी ने काव्य या कविता को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति माना है। उनका कथन इस प्रकार है :—

"काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञान धारा है।...आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है। काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।" इस परिभाषा मे सत्य और सौन्दर्य के समन्वय में आत्मा की सहज वृत्ति पर जोर दिया गया है। प्रसाद जी की परिभाषा जॉनसन की परिभाषा से मिलती जुलती है। इस परिभाषा की सर्वप्रिय विशेषता यह है कि इसमें चारुता या सौन्दर्य को सत्य के मूल मे माना गया है। इसमें कवि को प्रधानता देकर पाठक तथा अभिव्यक्ति को गौण माना गया है।

सीताराम चतुर्वेदी :—सीताराम चतुर्वेदी ने "समीक्षा शास्त्र" मे कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है—"कविता उस लयवती अथवा छन्दोवती वाग्योजना को कहते है, जिसमें असाधारण अर्थारोप से किसी पदार्थ वर्णन या भावाभिव्यक्ति को सहृदय-हृदय किया जाय।"

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित् मानस के "बाल-काण्ड" मे काव्य की परिभाषा देने का प्रयत्न किया है—

> "सरल कवित्त कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।
> सहज वैर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥"

अर्थात् जो कविता सरल हो, जिसमें विमल कीर्ति वाले महापुरुष का वर्णन हो उसी कविता का विद्वान आदर करते हैं। वही कविता श्रेष्ठ होती है जिसकी प्रशंसा शत्रु भी करने लगें।

शान्तिप्रिय द्विवेदी ने "संचारिणी" में काव्य की इस प्रकार से व्याख्या की है--"काव्य, संगीत, चित्र तथा अन्यान्य कलायें हमारे जीवन-पोषक मनोरागों के साहित्यिक स्वरूप हैं जिन्हें एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी वसीयत के रूप में पाती चली जाती है। इसीलिए कला की उपेक्षा कर जीवन को एकमात्र शुष्क वास्तविकता पर केन्द्रित कर देना है, भावयोग का लक्ष्य नहीं हो सकता।"

कविता के सम्बन्ध में अंग्रेजी विद्वानों के मत :—पाश्चात्य विद्वानों ने भी कविता की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। सभी विद्वानों ने अपने ढंग पर कविता के स्वरूप का निरूपण किया है।

होरेस :—होरेस ने अपने "Art of Poetry" नामक निबन्ध में कवि और चित्रकार के कार्य को समान बताते हुए लिखा है—"Painters you say and poets have always had a reasonable licence to venture on what they will." इत्यादि

शेक्सपीयर :—शेक्सपीयर ने अपने *'A Mid Summer Night's Dream'* नामक नाटक में एक स्थल पर कविता के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त किये हैं। शेक्सपीयर ने कल्पना को प्रधानता दी है वे लिखते हैं—"कवि की कल्पना अज्ञात वस्तुओं को रूप देती है उसकी लेखनी वायवी नगण्य अस्तित्व शून्य पदार्थों को भी मूर्त बनाकर नाम और ग्राम प्रदान करती है।" शेक्सपीयर की यह पंक्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

> "As imagination bodies forth,
> The form of things unknown, The Poet's Pen,
> Turns them to shapes, and gives to airy nothing
> A local habitation and a name."

वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) :—वर्ड्सवर्थ ने भाव को प्रधानता देते हुए लिखा है—

"Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin from emotion recollected in tranquillity." अर्थात् कविता शान्ति के समय में स्मरण किये हुए प्रबल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह है।"

मिल्टन :—मिल्टन ने कविता में राग और वासनात्मक प्रवेश को महत्व दिया है। उन्होने कविता की प्रसादात्मकता तथा सरलता पर विशेष वल दिया है। "Essay on Education" में एक स्थान पर वे लिखते हैं—"Poetry should be simple, sensuous and impassioned." अर्थात् कविता को सादा, प्रत्यक्षमूलक तथा रागात्मक कहा है।

कॉलरिज (Coleidge) :—कॉलरिज ने अभिव्यक्ति को प्रधानता देते हुए

कहा है "Poetry is the best words in the best order." अर्थात् "कविता उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम विधान है।" कॉलरिज ने कविता को अनुपम वरदान माना है जो प्रत्येक वस्तु के आवृत्त सौंदर्यान्वेषण की तीव्र इच्छा प्रकट करता है।

"Poetry has been to me its own exceeding great reward, it has given me the habit of wishing to discover the good and beautiful in all that meets and surrounds me."

शेली :—शेली ने सरस काव्य में करुणा को प्रधानता दी है—"Our sweetest songs are those that tell of the saddest tale." उसने कविता को विषाद के क्षणों की व्यंजना माना है—"They learn in suffering what they teach in song."

कारलायल :—कारलायल ने कविता की संगीतमयता को प्रधानता दी है—

"Poetry we will call musical thought." अर्थात् "कविता मनोवेगमय और संगीतमय भाषा में मानव अन्तःकरण की मूर्त और कलात्मक व्यंजना करती है।"

मेथ्यू आर्नल्ड :—मेथ्यू आर्नल्ड ने कविता को जीवन की आलोचना कहा है—"Poetry is at bottom a criticism of life." इन्होंने कविता मे जीवन और विचारात्मक व्याख्या को अधिक महत्व दिया है। इस परिभाषा में भावात्मकता का कुछ अभाव है।

हडसन :—हडसन ने अपनी परिभाषा मे जीवन की व्याख्या, कल्पना और मनोवेग तीनो का समन्वय किया है—"Poetry is an interpretation of life through imagination and emotion." अर्थात् "कविता, कल्पना और मनोवेग द्वारा जीवन की व्याख्या करती है। इस परिभाषा मे अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का अभाव है।

जॉनसन :—जॉनसन ने अपनी परिभाषा मे प्रायः चारो तत्वो का समावेश किया है—"Poetry is the art of uniting pleasure with truths by calling imagination to the help of reason." अर्थात् कविता सत्य और प्रसन्नता के सम्मिश्रण की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिये कल्पना का प्रयोग किया जाता है।" कला शब्द मे अभिव्यक्ति भी आ जाती है।

मेकॉले :—मेकॉले ने कविता को शब्दो की चित्रकला मानी है—"By Poetry we mean the art of employing words in such a manner as to produce an illusion on the imagination the art of doing by means of words, what the painter does by means of colours."

रावर्टसन :—रावर्टसन ने कवि तथा रहस्यवादी के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"How different is the poet from the mystic—the former uses symbols, knowing they are symbols; the latter mistakes them for realities."

बैली:—बैली ने कविता को महान सत्य की अभिव्यक्ति माना है—"Poets are all who love and feel great truths, and tell them."

मिल :—मिल ने कविता में भावना पर बल दिया है।

विल्सन :—प्रो० विल्सन ने बुद्धि तथा भावना के सम्मिश्रण को कविता माना है—"Poetry is the intellect coloured by feelings."

सी० सिडनी:—सी० सिडनी ने कविता की व्याख्या करते हुए लिखा है—"कविता तो अनुकरण की कला है या इसे रूपक की भाषा में कहा जाय तो वह बोलता हुआ चित्र है जिसका उद्देश्य है शिक्षा देना और आनन्द देना।"

जौन ड्राइडन:—जौन ड्राइडन लिखते हैं कि—"यह सत्य है कि कवि का कार्य भली प्रकार अनुकरण करना है, किन्तु आत्मा को प्रभावित करना, भावों को उत्तेजित करना, और हमारी रीझ को उत्तेजित करने का काम केवल अनुकरण से नहीं हो सकता।"

जे० डेनिसने—जे० डेनिसने ने कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है—"अत्यन्त करुण तथा संख्यातीत शब्दों के द्वारा प्रकृति का अनुकरण ही काव्य है और तीव्र भाव ही काव्य का विशिष्ट चिन्ह है।"

जे० एच० न्यूमैन:—न्यूमैन ने कहा है कि अरस्तू के अनुसार आदर्श का प्रदर्शन ही कविता है और कविता का तत्व है कल्पना।"

ले० हन्ट:—ले० हन्ट ने कविता को परिभाषावद्ध करते हुए लिखा है—"कविता तो सत्य, सौंदर्य और शक्ति के तीव्र भा की अभिव्यक्ति है, जो अपने विचारों को कल्पना और भाव द्वारा स्पष्ट करती है।"

ऐडगर एलन पो:—ऐडगर एलन पो कविता की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"आनन्ददायक भाव के साथ संयुक्त संगीत ही कविता है और बिना संगीत का विचार ही गद्य है।"

वौट्स डन्टन:—डन्टन ने कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है—"भावात्मक तथा लयात्मक भाषा में मानव मस्तिष्क की प्रत्यक्ष और कलात्मक अभिव्यक्ति ही कविता है।"

केविल:—केविल ने कहा है—"पूर्ण कल्पना और अति संग्रहीत भावना का मुक्ति द्वार ही कविता है।"

रस्किन:—रस्किन लिखता है कि—"कल्पना के द्वारा उदात्त भावों के लिए

उदात्त भूमिका का जो संकेत मिलता है वही कविता है।"

कोर्टहोपः—कोर्टहोप लिखते हैं कि—"छन्दोमयी भाषा में काल्पनिक विचार और भावना का उचित अभिव्यजन करके आनन्द उत्पन्न करने की कला ही कविता है।"

क्रोचेः—क्रोचे का कविता के सम्बन्ध मे विचार हैं— "कविता अन्तः प्रेरणा है।"

फारमेडक्सः—फारमेडक्स साहित्य की परिभाषा देते हुए लिखते हैं—"साहित्य वह समष्टि है जो भावना भरित सस्कृति के उपलाभ के लिये, जो सभ्यता के लिए सुतरा आवश्यक है।"

हेजलिटः—हेजलिट ने अपने "Lectures on English Poets" में "कविता को कल्पना की भाषा कहा है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि कविता के भारतीय स्वरूप के जो लक्षण हैं, वही पश्चिमी विद्वानो को भी स्वीकृत हैं। केवल प्रतिपादन-शैली मे अन्तर है। पाश्चात्य विद्वानो के मतो को हम चार वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं :—

(१) कविता में कल्पना को मुख्यता देने वाला वर्ग। जिसे कल्पनावादी वर्ग कहेगे।

(२) कविता मे भावना, रागतत्व और सौन्दर्य तत्व को प्रधानता देने वाला वर्ग। भाववादी वर्ग।

(३) कविता मे बुद्धितत्व तथा भाव तत्व को महत्व देने वाला वर्ग। जीवन की विवेचना करने वाला वर्ग भी इसी के अन्तर्गत है।

(४) कविता मे कला एवं चित्र-विधायिनी शक्ति को प्रधानता देने वाला वर्ग।

इन वर्गो मे भी दो वर्ग प्रधान हैं। प्रथम वह जो कविता को जीवन से पृथक मानते हैं। द्वितीय वह जो कविता को जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं।

समन्वयः—पाश्चात्य विद्वानो ने अपनी परिभाषाओ मे भिन्न-भिन्न तत्वों को प्रधानता दी है। किसी ने कल्पना को महत्व दिया है, किसी ने भावतत्व को, किसी ने बुद्धि तत्व को और किसी ने शैली तत्व को। उपरोक्त सभी परिभाषायें अपूर्ण ही कही जायेंगी। कविता की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा तो वह होगी जिसमें उपर्युक्त चारो तत्वो का सुन्दर समावेश होगा। गुलाबराय जी ने अपनी परिभाषा में काव्य या कविता के चारो तत्वो को लाने का प्रयास किया है। उनकी परिभाषा इस प्रकार है :

"काव्य संसार के प्रति कवि की भावप्रधान किन्तु क्षुद्र वैयक्तिक सम्बन्धों से युक्त मानसिक प्रतिक्रियाओं की कल्पना के सांचे में ढली हुई श्रेय का प्रेय रूप

उद्‌घाटन करने वाली प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।"

इस परिभाषा में प्राय: सभी बातें आ गई हैं। प्रभावोत्पादक शब्द मे भाषा की शक्तियो और अलंकारादि के साथ पाठक का भी सकेत है।

कवि और कल्पना

"Imagination is a mentel manipulation."— (मैगडूगल)

कल्पना की तुलना उस पक्षी से की गई है, जो सुदूर आकाश में उड़ता हुआ भी पृथ्वी पर दृष्टि बाँधे रहता है। कल्पना चित्त अथवा चेतन की सबसे प्रधान और प्रमुख वृत्ति है। कल्पना अपने सर्जनशील चमत्कार के द्वारा समस्त वृत्तियों को अभिभूत करने मे समर्थ है। कल्पना के द्वारा ही मानव के मानस व्यक्तित्व का सम्पूर्णत्त्व प्रतिष्ठित होता है। कवि अपनी अद्‌भुत तथा विलक्षण कल्पना शक्ति के कारण ही ब्रह्मा की भाँति स्वतन्त्र सृष्टि का निर्माता समझा जाता है।

मनुष्य के विकास और उसके जीवन को सजीव तथा सरस बनाने का श्रेय कल्पना को ही है। काव्य की भूमि मानव कल्पना की भूमि है। कवियों ने अपनी विलक्षण कल्पना के द्वारा ही असंख्य कृतियो का निर्माण किया है। कवियों ने अनेक प्रकार से अपनी कल्पना का परिचय दिया है तथा ससार की विभिन्न वस्तुओ के विषय मे अपने उद्‌गार प्रकट किये हैं। प्रसाद जी ने कामायनी में जल-प्लावन का दृश्य चित्रित करते समय पृथ्वी का बहुत सुन्दर तथा सजीव वर्णन किया है जो उनकी विलक्षण कल्पना का परिचायक है:—

"सिन्धु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी,
प्रलय निशा हलचल स्मृति में
मान किये सी ऐंठी सी।"

बड़े-बड़े उपदेशकों तथा धर्माचार्यो के द्वारा उपदिष्ट शुष्क तथा नीरस उपदेशों को कल्पना का स्वर्णावरण पहना कर कवियों ने इतना सरस तथा सरल बना दिया है कि जनसमाज उनका परायण कर आनन्द का रसास्वादन करते हैं। जहाँ रवि की पहुँच सम्भव नही, वहाँ भी कवि की पहुँच है। "जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि" इस लोकोक्ति द्वारा कवि-कल्पना की गति स्पष्ट हो जाती है। "विज्ञान में जो बुद्धि है, दर्शन में जो दृष्टि है, वही कविता में कल्पना है।"

(डा० श्यामसुन्दर दास)

कल्पना वह शक्ति है जिसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष के मानसिक चित्र उपस्थित करने मे समर्थ होते हैं। कल्पना का अंग्रेजी पर्याय है Imagination. यह Image या मानसिक चित्र से बना है। संस्कृत मे कल्पना की व्युत्पत्ति क्लृप धातु से हुई है। जिसका अर्थ है सृजन करना। जिस प्रकार कल्पवृक्ष मनोवांछित फल को देने वाला है उसी प्रकार कल्पना भी इच्छित परिस्थिति का निर्माण करने

में समर्थ है। संक्षेप मे कल्पना का अर्थ है—"अप्रत्यक्ष का मानसिक प्रत्यक्षीकरण" कल्पना के द्वारा हम अप्रत्यक्ष वस्तुओ का मानसिक चित्रण कर मन में प्रत्यक्षीकरण कर सकते हैं, चाहे वह भूत की हो, और चाहे भविष्य की हो। वास्तव में कल्पना के द्वारा ही हमारी स्मृति भी सजीव होती है।

भारतीय साहित्य शास्त्र मे ही नही, अपितु विदेशी साहित्य शास्त्र मे भी कल्पना का विशेष महत्व तथा गौरव है। काव्य के चार प्रमुख तत्त्व माने गये हैं— उनमे कल्पना को सर्व प्रमुख माना गया है। संस्कृत के रसशास्त्र मे यद्यपि कल्पना का स्वतन्त्र रूप से विवेचन नही किया गया है, परन्तु उसके महत्व तथा सत्ता को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। एडलर महाशय ने "कल्पना" की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

"By imagination we mean the reproduction of a perception without the present of the object which gave rise to it."

भारतीय दर्शन के अनुसार अन्तःकरण के चार अग हैं।—"मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। मन को न्याय में संकल्प-विकल्पात्मक कहा है। सब प्रकार के संकल्प-विकल्पों का माध्यम हमारा मन ही है। संकल्प और विकल्प, ये शब्द कल्पना के सगोत्रीय अवश्य हैं, यद्यपि उनका सीधा सम्बन्ध उनसे नहीं है। प्रत्यक्ष इन्द्रिय ज्ञान (परिज्ञान) से जो हमारे अन्तःकरण पर प्रभाव प्रतिविम्बित होते हैं, उनका मन ही समीकरण करके उन्हें बुद्धि के समक्ष उपस्थित करता है। मन ही वकील के समान कोई बात ऐसी होनी चाहिए (संकल्प) अथवा इसके विरुद्ध वैसी है (विकल्प) इत्यादि कल्पनाओं को बुद्धि के सामने निर्णय के लिए पेश करता है। इसलिए इसे संकल्प विकल्पात्मक अर्थात् विना निश्चय किये कल्पना करने वाली इन्द्रिय कहा है।'
(डा० श्यामसुन्दरदास)

गीता मे भी यह रहस्य उपदिष्ट है और पाश्चात्य दार्शनिको के विचार से कल्पना का यह सबसे साधारण और प्रथम धर्म है। उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि मन ही हमारी कल्पना का आधार है।

इस विवेचना को कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए डा० श्यामसुन्दर दास जी आगे लिखते हैं— "दार्शनिकों ने सब प्रकार के ज्ञान की पांच अवस्थाएँ मानी हैं—परिज्ञान, स्मरण, कल्पना, विचार और सहज ज्ञान। सबसे पहले हमें बाह्य पदार्थों का ज्ञान अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता है। जब हम किसी मनुष्य के सामने जाते हैं तव हमारे नेत्रों के द्वारा उसका प्रतिबिम्ब हमारे मन पर पड़ता है।······ इस प्रकार के ज्ञान को परिज्ञान कहते हैं।······मान लीजिये उक्त मनुष्य एक अंग्रेज है। हमने एक सन्यासी को भी देखा है और हमें उस सन्यासी के रूप आकार तथा उसके वस्त्रों के रङ्ग का स्मरण है। अब हम चाहें तो अपने मन में उस अंग्रेज का सूट-बूट छीनकर उसे सन्यासी का गेरुआ वस्त्र पहना सकते हैं

और तब हमारी मानसिक दृष्टि के सामने एक अंग्रेज सन्यासी का चित्र उपस्थित हो जाता है।'''मन की एक विशेष क्रिया से स्मरण शक्ति द्वारा संचित अनुभवों को विभक्त कर और फिर उनके पृथक पृथक भागों को इच्छानुसार जोड़कर हमने मन में एक नवीन व्यक्ति की रचना कर ली जिसका अस्तित्व वाह्य जगत में नहीं है। मन की इस क्रिया को कल्पना कहते हैं।"

यह तो कल्पना का तात्विक दृष्टि से विवेचन है। परन्तु रस दृष्टि से इसकी पृथक रूप में विवेचना नही मिलती। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि रस-शास्त्र में कल्पना का महत्व न स्वीकार किया गया हो। वास्तव मे कल्पना के अभाव में तो काव्य-शास्त्र पंगु है। अन्तर केवल इतना है कि पाश्चात्य साहित्य में तो कल्पना को अनिवार्य तत्व माना है और भारतीय साहित्य मे अनिवार्य उपकरण। काव्य का निर्माण कल्पना के सहयोग से ही हुआ है। अंग्रेज आलोचक एडीसन के अनुसार चित्त को चमत्कृत करने वाली कल्पना ही है। यही नही बल्कि संस्कृत-साहित्य की आत्मा-ध्वनि का आधार भी कल्पना ही है। व्यंजना शत-प्रतिशत कल्पना पर ही आश्रित है। मन की जिस शक्ति के द्वारा हम किसी बात का अर्थ ग्रहण करते हैं वह वास्तव में कल्पना ही है। अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों में कल्पना का महत्व है। अलंकार, लक्षणा, व्यंजना सब कल्पना के ही विभिन्न रूप हैं।

कल्पना ही वह शक्ति है जो इतिहासकार तथा साहित्यकार के क्षेत्रों को पृथक-पृथक करती है। कवि की कला कल्पना मे ही निहित है। इतिहासकार ऐतिहासिक तथ्यों का ही उद्घाटन करता है। उसकी लेखनी बन्धनो में जकड़ी हुई है। वह निश्चित प्रमाणो के अभाव मे पगु है। वैज्ञानिक नियमो की कठोरता ने उससे वह शक्ति ही ले ली है, जिसके द्वारा वह अन्धकार मे भी आलोक बिखेर दे। धुंधले और अस्पष्ट चित्रो को स्पष्ट कर देने वाली भावुकता और कल्पना के प्रयोग का इतिहासकार को निषेध है परन्तु साहित्यकार कल्पना का अबाध प्रयोग करता है। इसलिए एक अग्रेज लेखक ने लिखा है:—**"उपन्यास (काव्य) में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और सब बातें सच्ची होती हैं। इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और कोई बात सच्ची नहीं होती।"**

श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों मे कल्पना का पुट मिलाकर इतिहास की शुष्कता तथा नीरसता दूर कर दी है। कवियो ने अपनी कल्पना के द्वारा ऐसे महान तथा उच्च आदर्शो से युक्त पात्रो की सृष्टि की है, जो मानव मात्र के हृदय पर शासन करते हैं और चिरन्तन करते रहेगे। उन्होने अपने शब्द जाल से न जाने कितनी कामिनियो का शृगार किया है। जिनका अध्ययन करके जन-समाज आनन्द का रसास्वादन करता है। कवि की कल्पना मानव-जीवन की उदात्त भावनाओं को जागृत करने मे सफल सिद्ध हुई है। डा० मैथिलीशरण गुप्त ने कल्पना के द्वारा ही कैकेयी के युग-युग के कलक को धो डाला। तुलसी ने जहाँ **"गाति गलानि कुटिल कैकेयी"** कह कर कैकेयी का चित्रण किया वहाँ गुप्त जी ने

उसको अभिनव रूप देकर जन-समाज की सहानुभूति जागृत कर दी। साकेत में कैकेयी के चरित्र को स्पष्ट करने वाले शब्दो को देखिये—

"पागल सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई,
सौ वार धन्य वह एक लाल की माई।
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई।"

कवि अपनी कल्पना के इंगित से मानव हृदय के सिंहासन पर आरूढ हो अपनी प्रभुता का विस्तार करता है और विश्व की श्रद्धांजलि उसकी प्रभुता का नित्य प्रति अर्घ्य देती हैं।

कवियों ने अपनी कल्पना के द्वारा प्रकृति का जो शृंगार किया, उसके सुन्दर दृश्यों का जो विधान बनाया, वह हिन्दी-साहित्य को उनकी अनुपम देन है। प्रसाद जी ने कामायनी में प्रकृति के रहस्यो का बड़ी सुन्दरता के साथ उद्घाटन किया है—

सध्या घन माला की सुन्दर
ओढे रंग-बिरंगी छीट
गगन चुम्बनी शैल श्रेणियाँ
पहने हुए तुषार किरीट॥"

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी कल्पना के द्वारा प्रकृति के विभिन्न रूपों का दिग्दर्शन करा, उसके अनुपम सौदर्य का रसास्वादन कराया है। तारागणो का सुन्दर वर्णन करते हुए वे कहते हैं:—

"हे अज्ञात देश के नाविक
हे अनन्त के हृत्कम्पन
नव प्रभात के स्फुट अंकुर
निद्रा के रहस्य कानन"

कवि कल्पना की जहाँ इतनी प्रभुता है वहाँ उसका उत्तरदायित्व भी महान् है। कल्पना का आधार सत्य होना चाहिए क्योंकि सत्य ही सौदर्य है। अंग्रेज कवि कीट्स ने इस बात को लक्ष्य करके कहा है—"सौंदर्य सत्य है, और सत्य सौदर्य है, यही जानना हमारे लिये सब कुछ है"—"Beauty is truth, truth is beauty, that is all." कवि को कल्पना का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए जिससे उसकी रचनायें लोक-हृदय की कंठमणि बन जायें। परन्तु इसका यह भी अभिप्राय नही है कि कवि अपनी कल्पना को कुंठित कर ले, और अपने अनुभवों तथा विचारो को पंगु बना दे। कवि अपनी कल्पना का अबाध प्रयोग करने के लिए स्वतन्त्र है। कवि ने अपनी कल्पना की स्वतन्त्र गति के द्वारा मनुष्य की भिन्न-भिन्न रुचि के लिए उचित खाद्य प्रदान किया है। कवि की कल्पना में मनुष्य की अनेकमुखी आकांक्षाएँ सुशोभित हैं।

कुछ मनुष्यों की यह धारणा है कि कल्पना प्रत्यक्ष अनुभव की विरोधी है।

परन्तु सत्य इसके विपरीत है। कल्पना सत्य की विरोधी हो ही नहीं सकती क्योंकि हम उस वस्तु की कल्पना भी नहीं कर सकते जिसका हमने प्रत्यक्षीकरण न किया हो। कल्पना के द्वारा हम भूत की बातों का प्रत्यक्षीकरण कर सकते हैं तथा वास्तविक दृश्यों का विश्लेपण, वर्गीकरण तथा सयोजन कर एक नवीन जगत का निर्माण कर सकते हैं। परन्तु दोनो प्रकार की दशाओ मे कल्पना का आधार वास्तविकता का होता है। प्रथम प्रकार की कल्पना आवृत्यात्मक कहलाती है तथा दूसरे प्रकार की सृजनात्मक। सृजनात्मक कल्पना की विश्वामित्री सृष्टि के कारण ही तो कवि को स्वयंभू (प्रजापति) कहा है :—

"अपारे काव्ये संसारे कविरेव प्रजापतिः
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥"

कवि अपनी कल्पना के द्वारा मानव हृदय की सुप्त कोमल भावनाओं को जागृत करता है। कल्पना के द्वारा ही कवि वर्ण्य वस्तु से तादात्म्य कर पाता है और इसीलिए कहानी; उपन्यास, नाटक या कविता पढते समय पाठक सोचता है—"अरे यह तो मेरा ही वर्णन कर दिया गया।" कला मे "जो हो रहा है" उसका ही वर्णन नही होता अपितु "जो होना चाहिए" का भी वर्णन रहता है। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने "साकेत" में कहा है :—

"हो रहा है जो जहाँ जो हो रहा
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहा
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ॥"

कवि जन-समाज का उचित मार्ग दर्शन करने के कारण यथार्थ में आदर्श का समावेश कर वास्तविकता मे परिवर्तन कर देता है। इसलिए कवि को (निरंकुशा कवयः) कहा गया है। "यद्यपि महाभारत मे दुष्यन्त ने शकुन्तला का परित्याग लोकापवाद के भय से किया था; परन्तु महाकवि कालिदास को अपने चरित्र नायक दुष्यन्त का व्यवहार आदर्श प्रेमी के विरुद्ध लगा अतः उन्होंने दुर्वासा के शाप और अँगूठी खो जाने की घटना की कल्पना कर शकुन्तला के परित्याग को सकारण बना दिया।"

इस प्रकार कल्पना के स्वरूप की व्याख्या करने के उपरान्त अब हम उसके काव्यगत विभिन्न प्रयोगो का वर्णन करेगे। अंग्रेजी आलोचक कॉलरिज तथा रिचर्ड्स ने इन रूपो की विशद व्याख्या की है।

सर्व प्रथम तो इसका प्रयोग मन पर प्रतिबिम्बित हुए प्रत्यक्ष पदार्थ चित्रों के सम्बन्ध मे होता है। हम इस संसार मे जिन वस्तुओं का अवलोकन करते हैं उनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भाव तरंगें हमारे मन-मानस मे तरंगित होने लगती हैं। मन उनको संवेद कर विभिन्न प्रकार के चित्रों के रूप में चित्रित कर देता है। वह उस चित्र का निर्माण अपने आदर्शों के अनुरूप करता है और इस प्रकार अपने

भावों तथा विचारों के अनुकूल वह उसमे परिवर्तन करता रहता है। इसी कं "विक्टर काजिन" ने—"अनजाने में प्रकृति की आलोचना कहा है।" "आगे चलक कल्पना का यही प्रयोग भाव विशेष पर केन्द्रित होकर प्रतीकों का सृजन करता है।"

कल्पना का द्वितीय प्रयोग अलकारो—अप्रस्तुत विधान मे किया जाता है साम्य-तथा वैषम्यमूलक—जितने प्रकार के अलकार हैं, वे कल्पना पर ही आश्रित हैं कल्पना के द्वारा ही वस्तु तथा भाव के उत्कर्ष का वर्णन सम्भव है। कल्पना ही व: प्रधान साधन है जिसके द्वारा उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि साम्यमूलक अलंकारों साम्य की स्थापना की जाती है तथा विषम विभावना आदि वैषम्यमूलक प्रयोगं में वैषम्य की धारणा की जाती है।

कल्पना का तृतीय प्रयोग कुछ संकुचित अर्थ मे किया गया है। जब को व्यक्ति यह कहता है कि—"मैं तो अमुक चित्र अथवा मूर्ति अथवा कविता में को नवीनता नहीं देखता" तो हम उसकी कल्पना को निर्धन मानते हैं। यहाँ पर कल्पन का अभिप्राय उस क्षमता से है जो कलाकार की मानसिक अवस्था का बोध कराने समर्थ है। शब्द शक्ति लक्षणा का सम्बन्ध कल्पना के इसी अर्थ से है।

इसके अतिरिक्त आविष्कार के अर्थ मे भी कल्पना का प्रयोग होता है। इ लिए वैज्ञानिक आविष्कर्त्ताओं को उत्कट कल्पनाशील कहा गया है। इस प्रकार कं कल्पना का प्रयोग काव्य में अद्भुत दृश्यो के चित्रण मे, असम्भाव्य घटनाओं विधान मे, अलौकिक स्त्री-पात्रो के निर्माण मे किया जाता है। हिन्दी उपन्या "चन्द्रकान्ता-सतति" इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

कल्पना के द्वारा रिक्त स्थानो की पूर्ति भी की जाती है। संसार की समस वस्तुएँ पूर्ण नही हैं, उनमें कुछ न कुछ दोष एव न्यूनताएँ हैं। वस यही पर कल्पन अपनी अवाध गति से उन न्यूनताओ को दूर करने का भरसक प्रयत्न करती है। इ प्रकार कल्पना लुप्त परन्तु उचित सम्वन्धो का पुनः निर्माण कर समस्त वस्तुओं कं एकता प्रदान करती है। इसी को रूप विधान की संज्ञा दी गई है। काव्यगत टेकनी में कल्पना का प्रयोग इसी अर्थ मे किया जाता है।

इसके अतिरिक्त कल्पना का सवसे अन्तिम एवं सशक्त प्रयोग और है, जि का विशद विवेचन अंग्रेजी समालोचक कॉलरिज ने वर्डस्वर्थ काव्य के प्रसंग मे सवर शब्दों मे किया है—'इस समन्वय और जादू की शक्ति के लिए ही मैं कल्पना शब्द का प्रयोग किया है। इसका धर्म है विरोधी या असम्वद्ध गुणों का एक दूसरे के साथ सन्तुलन अथवा समन्वय करना। अर्थात एकरूपता का अनेकरूपता के साथ, साधारण का विशेष के साथ, भाव का चित्र के साथ, व्यष्टि का समष्टि के साथ, नवीन का प्राचीन के साथ, असाधारण भावावेश का असीम संयम, अथवा अनुक्रम के साथ ....। इसी के वल पर कवि अनेकता मे एकता ढूंढ निकालता है और विभिन्न विचारों एवं भावों को एक विशेष विचार अथवा भाव से अन्वित कर देता है।" शेक्सपियर ने इसे ही स्वस्थ कल्पना की संज्ञा दी है। कल्पना का यह वह

रूप है जो कवि को गौरवता प्रदान करता है।

इसके अतिरिक्त अंग्रेजी मे कल्पना के लिए "फैन्सी" शब्द का भी प्रयोग होता है जिसका अर्थ कल्पना की "ललित-क्रीड़ा" माना गया है।

कल्पना मन और बुद्धि की जड़ता का नाश कर "अहं" को "परम" के "आनन्द" में और परम के आनन्द को "अह" के आगार मे डाल देता है तभी कवि रहस्यभेद न करते हुए अवाक् कह उठता है—

"हेरन हार हिरान समुद्र समानो बुन्द में"

अहं के द्वारा उसमे सौन्दर्य आता है परन्तु समष्टि का परम साहचर्य उसे आनन्द में लीन कर देता है यही कल्पना का यथार्थ पुरुषार्थ है।

भावपक्ष और कलापक्ष

काव्य मे प्रायः दो पक्ष माने जाते हैं :—(१) भावपक्ष, (२) कलापक्ष। भावपक्ष में काव्य के समस्त वर्ण्य विषय आ जाते हैं और कलापक्ष में वर्णन शैली के सब अंग सम्मिलित हैं। ये दोनों पक्ष एक दूसरे के सहायक तथा पूरक हैं। भाव काव्य का प्राण है और कला उसका शरीर है। भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कलापक्ष का सम्बन्ध आकार से है। वस्तु और आकार का सम्बन्ध अन्योन्याश्रय है। कोई वस्तु आकारहीन नही हो सकती और न आकार वस्तु से पृथक् किया जा सकता है। काव्य भावपक्ष के अभाव मे मूल्यहीन तथा निष्प्रभ है तथा कलापक्ष के विना निराधार और असुन्दर कहा जायेगा। वस्तुतः काव्य का सौन्दर्य दोनों की औचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति पर निर्भर है।

यद्यपि साहित्य के इन दोनो पक्षो मे बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनो के समुचित संयोग और सामंजस्य से ही साहित्य को स्थायित्व प्राप्त होता है तथा उसका सच्चा स्वरूप उपस्थित होता है, तथापि साधारण विवेचन के लिए इन दोनों पक्षों को पृथक्-पृथक् कर लिया गया है और भिन्न-भिन्न दृष्टियो से विचार किया गया है। भावपक्ष का सम्बन्ध मानव मन मे अंकित विभिन्न अनुभूतियों से है और और कलापक्ष का सम्बन्ध उस अनुभूति को अभिव्यक्त करने की प्रणाली विशेष से है। साहित्य में जब अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का उचित सन्तुलन हो जाता है तभी उच्चकोटि के साहित्य की सृष्टि होती है। इनमे से किसी एक तत्व की अपूर्णता और अपुष्टता साहित्य की उत्कृष्टता और प्रभविष्णुता को कम कर देती है। साहित्य भावो का अनन्त भण्डार है किन्तु ये भाव भाषा के ही माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। अतः साहित्य को उत्कृष्ट रूप भाव साधना और भाषा साधना से ही प्राप्त होता है।

साहित्य का भावपक्ष तथा कलापक्ष किन तत्वो से बनता है। उनका विवेचन करना अनुपयुक्त न होगा।

भावपक्ष :—साहित्य के इन दोनों अंगों मे से उसके भावात्मक अंग को

अपेक्षाकृत प्रधानता दी गई है और कलापक्ष को गौण स्थान दिया गया है। वास्तव में साहित्य में भावपक्ष ही सब कुछ है, कलापक्ष तो उसका सहायक तथा उत्कर्षवर्द्धक मात्र है। भावपक्ष की व्याख्या करने से पूर्व कवि के हृदय या भाव पर विचार कर लेना आवश्यक है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने "हृदय सिन्धु मति सीप समाना" लिखकर कवि के हृदय पक्ष के महत्व की ओर सकेत किया है। जैसे कवि के भाव होगे वैसा ही उसका काव्य होगा। कवि हृदय की कुछ निजी विशिष्टताएँ होती हैं। डा० त्रिगुणायत ने कवि हृदय की निम्नलिखित विशिष्टताएँ मानी हैं—

(१) सहृदय (कला साहित्यादि की अनुभूति पूर्व जन्म के संस्कारों से युक्त)
(२) सहानुभूति पूर्ण
(३) कोमल करुणार्द्र
(४) सतोगुण प्रधान
(५) विचार सयमित
(६) सुन्दर भावो की उद्भावना करने की क्षमता रखने वाला
(७) चमत्कार प्रिय
(८) चेतन और जागरूक।

उपर्युक्त विशिष्टताओ से सम्पन्न होने पर ही कवि हृदय भावुक कहा जायेगा अन्यथा नही।

भाव कोष की विवेचना करने के उपरान्त हम भावों की उत्पत्ति पर विचार करेंगे। प्रायः दो कारणों से भावो की सम्भूति होती है। कवि काव्य की सृष्टि या तो किसी सौन्दर्य से प्रभावित होकर करता है, अथवा जीवन-जगत की किसी वस्तु या घटना से प्रभावित होकर करता है। कवि के भाव सौन्दर्यमूलक होने पर ही काव्य को अधिक तन्मयकारक तथा प्रभावपूर्ण बना सकते हैं। भावो के स्वरूप पर हम पीछे विचार कर चुके हैं।

भावो की योजना विधियो पर भी विचार करना अनुपयुक्त न होगा। भावों की योजना विधियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं—

१—शुद्ध बौद्धिक।
२—काल्पनिक।

बुद्धि तथा कल्पना पर दोनों शक्तियाँ ही भावो का विस्तार तथा नियोजन करती हैं। अतः भावपक्ष का विवेचन करने के लिए इन दोनो बातों का होना आवश्यक है। आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल ने कल्पना तथा भावों का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हुए लिखा है—"किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक रूप को कांट-छांटकर प्रस्तुत करने लगती है, तब उसे सच्ची कवि कल्पना कहते हैं।" बुद्धि के द्वारा ही भाव क्षेत्र व्यवस्थित तथा नियन्त्रित होता है।

अब हम भावों के स्वरूप की व्याख्या करेंगे। साहित्य मनुष्य के भावों,

विचारों तथा कल्पनाओं का व्यक्त स्वरूप है। भावो के अभाव में साहित्य का स्वरूप सम्भव नही। भावनाये तो प्रायः सभी मनुष्यों में समान होती हैं। इसी कारण जब वे भाव साहित्य के माध्यम से प्रकाश मे आते हैं तब सभी मनुष्य समान रूप से उनका रसास्वादन करते हैं। हमारे यहाँ स्थायी भाव नौ माने गये हैं, जो साहित्य में नवरस के नाम से विख्यात हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) श्रृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त।

ये स्थायी भाव प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे वीज रूप में अंकित रहते हैं जो अज्ञान आवरण में ढके रहने के कारण सुषुप्तावस्था मे रहते हैं। परन्तु साहित्य के द्वारा स्थायीभाव जागृत हो जाते हैं और पाठक उसका आनन्द लेता है। साहित्य मे दुखात्मक अनुभूतियाँ भी सुखात्मक भावो का आलम्बन होकर आती हैं। यों तो भावो की संख्या असंख्य है किन्तु जो भाव सव मनुष्य के हृदय में समान रूप से रहते हैं उनकी संख्या ९ ही मानी गई है।

संचारी या व्यभिचारी भाव वे कहलाते हैं जो क्षण-क्षण में परिवर्तित होते रहते हैं उनमें स्थायित्व का गुण नही होता।

केवल भावों से ही साहित्य का निर्माण नही होता, उसके लिए अन्य बातों की भी आवश्यकता है। प्रतिभा इसमे सर्वप्रथम है। इसकी व्याख्या करना सरल नही। काव्य कौस्तुभ ने "प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता" कहकर प्रतिभा की व्याख्या की है। पण्डितराज जगन्नाथ का कथन है कि जिस शक्ति के द्वारा काव्य के अनुकूल शब्द और अर्थ कवि के मन मे जल्दी जल्दा आते हैं (काव्य घटानुकूल शब्दार्थोपस्थिति.) उसे प्रतिभा कहते है। वाग्भट्ट ने इन दोनों बातों का समन्वय कर दिया है.—

"प्रसन्न पद नव्यार्थ मुक्त्युद्बोध विधायिनी।
स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी॥"

अर्थात् सत्कवि की प्रसन्न पदो में अभिव्यक्ति की हुई नव्यार्थ से अर्थात् जिनकी पूर्व मे उद्भावना न की गई हो पूर्ण युक्तियो का उद्बोधन करने वाली सव ओर फैलने वाली चमत्कारयुक्त वुद्धि को प्रतिभा कहते हैं। प्रायः लोग प्रतिभा को सहज ही मानते हैं—"Poets are born and not made" भावपक्ष में प्रतिभा के साथ साथ और भी बातें आती हैं। कल्पना और निरीक्षण इनमें प्रधान हैं। कल्पना के द्वारा ही कवि विभिन्न वस्तुओं को सम्मिलित कर एक प्रभावशाली चित्र वनाता है। कल्पना का आधार सूक्ष्म निरीक्षण है। जिस कवि की कल्पना तथा निरीक्षण जितनी तीव्र तथा सूक्ष्म होगी उसका भावपक्ष उतना ही प्रवल होगा। अतः निरीक्षण कल्पना और स्वाभाविकता का मिश्रण ही कवि के भावपक्ष को सम्पन्न एवं प्रभविष्णु बनाते हैं कवि को उन्ही वस्तुओं का संग्रह करना चाहिए जो उसके भावपक्ष को सवल, मार्मिक तथा सुन्दर बनाते हैं।

भावपक्ष का सवसे मुख्य भाग रस है। रस तथा भाव का घनिष्ठ सम्वन्ध

है। अतः रस के अभाव मे भावपक्ष का विवेचन अपूर्ण ही कहा जायेगा। सच्चा कवि वह होता है जिसके भाव मार्मिक होते हैं तथा जिसमे प्रेषणीयता के गुण विद्यमान रहते हैं। कवि के भाव जगत तक पहुँचने के लिए उसकी अभिव्यंजना शैली पर भी विचार करना आवश्यक है।

समाज और व्यक्ति के संस्कार और विकास को प्रकाश मे लाने वाले भाव ही हैं जिनको परिष्कृत करना समाज की स्वाभाविक क्रिया है। इन संस्कृत तथा परिष्कृत भावो को धारण करने वाले, उत्तरोत्तर उन्नति को प्राप्त करने वाले समाज अपने काव्य में अपनी विकसित रुचि का दर्शन कराते हैं। यद्यपि हमारे यहाँ के प्राचीन आचार्यों ने साहित्य के भाव पक्ष का पृथक रूप से विवेचन नही किया है। तथापि उन्होने स्पष्ट कहा है कि साहित्यकार को विविध शास्त्रों का परिशीलन करने के उपरान्त अपनी लेखनी परिचालित करनी चाहिए। इसका अभिप्राय यही है कि उसे भावों का परिमार्जित तथा परिष्कृत रूप रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ काव्य को अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का विधायक माना गया है। इन सम्बन्ध में भामह का निम्नलिखित श्लोक दृष्टव्य है—

"धर्मार्थं काम मोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति प्रीति किर्तिश्च साधुकाव्य निवन्धनम्॥"

अतः यह आवश्यक है कि साहित्य का भावपक्ष शालीन तथा पूत भावनाओं से परिपूर्ण होना चाहिए। जिस साहित्य का भावपक्ष जितने निकृष्ट भावो से ओत-प्रोत होगा वह साहित्य उतना ही निकृष्ट कहा जायेगा। साहित्य का भावपक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अभाव में साहित्य का अस्तित्व सम्भव नही। भावो का चिरतन विकास होता है। मनुष्य की भौगोलिक, स्थिति, सामाजिक, संघटन, महापुरुषों के प्रभाव आदि के कारण देश और जाति के भावो मे परिवर्तन होते रहते हैं। कभी कभी एक देश की कविता दूसरे देश के लिए रुचि कर नही होती। यही कारण है कि भावो की धारणा भिन्न भिन्न होती है।

कलापक्ष—भावपक्ष के अनन्तर अब हम कला पक्ष पर विचार करेंगे। काव्य का शरीर उसका कलापक्ष है। साहित्य के इन दोनो अंगो में से उसके भावात्मक अंग की अपेक्षाकृत प्रधानता मानी गई है तथा कलापक्ष को गौण स्थान दिया गया है। आत्माभिव्यक्ति की इच्छा मानव मे स्वाभाविक है। यह उसकी सामाजिकता का फल है वह अपने विचारों को दूसरे तक पहुँचाना चाहता है। भावों तथा विचारों को मूर्तिमान होते देखकर मानव को प्रसन्नता होती है। यही कलाओं की प्रेषणीयता है। 'स्वान्तः सुखाय' रघुनाथ गाथा लिखने वाले गोस्वामी जी को भी वृद्धजनो के आदर की चिन्ता थी—

"भाग छोट अभिलाषु वड़ करो एक विश्वास।
पैहहिं सुख सुनि सुजन सब खल करिहहिं उपहास॥"

काव्य में कलापक्ष का भी वड़ा महत्व है, किन्तु वह उसका सर्वस्व नहीं है।

लौकिक कविता के लिए तो यह आवश्यक है किन्तु अलौकिक काव्य बिना कलापक्ष के ही मधुर और आनन्दप्रद होता है। संतो के काव्य में कलापक्ष गौण है किन्तु फिर भी उनका साहित्य उदात्त तथा महत्वपूर्ण है।

भावों के वाह्य आकार को सुन्दरतम बनाना कवि कला है। जिस प्रकार कवि में अपने भावो तथा विचारों को व्यक्त करने की स्वाभाविक लालसा होती है। उसी प्रकार वह उन भावों तथा विचारों को सुन्दरतम, श्रृंखलाबद्ध तथा चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए भी प्रयत्न करता है। इसी प्रयत्न के फलस्वरूप साहित्य सूक्ष्म, सरस और श्रृंखलाबद्ध हो पाता है। अब हम यह देखेंगे कि कलापक्ष का ढाँचा किन तत्वों से बनता है। कलापक्ष मे चार बातें आती हैं—

(१) भाषा, (२) छन्द, (३) अलंकार, (४) वर्णन।

(१) भाषा—भावों के अभिव्यंजन का साधन भाषा है, और भाषा के आधार शब्द हैं, जो वाक्यो में पिरोए जाने पर अपनी सार्थकता प्रदर्शित करते हैं। भाषा ऐसे सार्थक शब्द समूह का नाम है जो एक विशेप क्रम से व्यवस्थित होकर हमारे हृदय की बात दूसरे के मन तक पहुँचाने और उसके द्वारा उसे प्रभावित करने में समर्थ होते है। भाषा के द्वारा हमारे भाव दूसरे के हृदय तक उसी प्रकार पहुँच जाते हैं। जिस प्रकार टेलीफून की विद्युत तरंगों के द्वारा हमारी वाणी दूसरी जगह पहुँच जाती है या रेडियो द्वारा सब जगह पहुँच जाती है। विचार भाषा का परिधान पहन अथवा भाषा में मूर्तिमान हो समाज में आते है और सक्रिय हो समाज की गति निश्चित करते हैं। भाषा मे अवतरित होकर ही भाव या विचार अमरत्व प्राप्त करते हैं। उत्तम भाषा में व्यक्त किये गये उत्तमोत्तम विचार साहित्य का रूप धारण करते हैं। अतः साहित्य को उत्कृष्टता प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि भाषा भाव की अनुगामिनी हो। प्रौढ तथा परिष्कृत भाषा वही कही जाती है जिसमे कम से कम शब्दो मे अधिक से अधिक भाव व्यक्त किये जा सकें। महान् कलाकार केवल भाषा का प्रयोग ही नही करते अपितु उसका निर्माण भी करते हैं। भाषा के द्वारा ही भावो को तीव्रता तथा प्रेपणीयता प्राप्त होती है। अतः यह आवश्यक है कि भापा निर्दोप एव गुणयुक्त हो। कलापक्ष को रमणीय तथा साहित्यिक बनाने के लिए भापा का रमणीय तथा साहित्यिक होना आवश्यक है। अतः स्पष्ट है कि भाषा का साहित्य के सौन्दर्य विधान मे बहुत बड़ा योग है।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने महाकवियो की वाणी की विशेषता का उल्लेख करते हुए लिखा है—

> "प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
> एतत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥"

अर्थात् 'महाकवियों की वाणी मे ललना लावण्य सदृश कोई एक अनिर्वचनीय सौन्दर्य होता है।" यह अनिर्वचनीय सौन्दर्य ध्वनि ही है। इस ध्वनि की योजना व्यंजना पर निर्भर है। व्यंजना शब्द की ही एक शक्ति है, और शब्द भाषा

का प्रधान अंग है" अतः स्पष्ट है कि काव्य को आन्तरिक सौन्दर्य प्रदान करने के लिए भाषा का सशक्त होना आवश्यक है। भाषा के इस महत्त्व को ध्यान में रखते हुए ही संस्कृत के आचार्यों ने काव्य की अधिकांश परिभाषाओं मे उसके भाषागत सौन्दर्य को विशेष महत्त्व दिया है। भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र मे "मृदुललित पदाढ्यं गूढ शब्दार्थहीनं" लिखकर भाषागत सौन्दर्य के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। अग्निपुराण की परिभाषा में भी "काव्य को दोष रहित, अलंकार सहित और गुणयुक्त पदावली ऐसी पदावली जिसमें अभीष्ट अर्थ संक्षेप में भली प्रकार कहा जाय, को काव्य कहा गया है।" भामह ने तो "शब्दार्थौ सहितो काव्य" कहकर काव्य की भाषागत विशेषता की ओर संकेत किया है। वामन ने काव्य को अलकार प्रधान बतलाकर उसके भाषागत सौन्दर्य पर ध्यान दिया है। रुद्रट ने भामह की बात को "ननुशब्दार्थौ काव्यौ" लिखकर दोहराई है। इसी प्रकार सभी आचार्यो ने काव्य के स्वरूप निरूपण मे शब्द या शब्द अर्थ दोनो को ही महत्त्व दिया है। शब्द और अर्थ दोनो ही भाषा के अंग हैं। अतः स्पष्ट है कि साहित्य के सौष्ठव विधान के लिए भाषा अत्यन्त आवश्यक है।

भाषा के द्वारा ही साहित्य का स्वरूप प्रकाश में आता है। जिस युग में भाषा समृद्ध तथा कलापूर्ण होती है उस युग का साहित्य भी अधिक समृद्ध तथा कलामय होगा। जिस युग की भाषा अविकसित तथा असमृद्ध होती है उस युग का साहित्य भी कलाशून्य होगा। भाषा तभी सुन्दर कही जायेगी जब कि उसमें भावानुकूल अभिव्यंजना, सरसता, प्रांजलता, स्पष्टता तथा धारावाहिकता आदि कुछ साहित्योपयुक्त गुण हो। साहित्य की साहित्यिकता भाषा पर आश्रित है।

साहित्य तथा भाषा का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भाषा को परिभाषा बद्ध करते हुए डा० त्रिगुणायत लिखते हैं—"वह मनुष्य और मनुष्य के बीच भावों के आदान-प्रदान करने वाले सार्थक व्यक्त ध्वनि संकेतों को ही भाषा का अभिधान दिया जाता है।" संस्कृत आचार्यो ने साहित्य की परिभाषा मे शब्द और अर्थगत साहचर्य पर विशेष बल दिया है। जिसमें वक्रता के कारण विचित्र गुणो तथा अलकारों की शोभा हो। इस सम्बन्ध मे आचार्य कुन्तक की निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं :—

"शब्दार्थौ द्वौ सम्मिलितौ काव्यमिति स्थितम्। एवमस्थापिते द्वयोः काव्यत्वे कदाचिदेकस्य मनाऽमाज शून्यतयां सत्यां काव्य व्यवहारः प्रवर्तत इत्याह सहिताविति सहभावेन साहित्येन अवस्थितौ। ननु वाच्य वाचक सम्बन्धस्य विद्यमान त्वादेतयोर्न कथाचिदापि साहित्य विरह। सत्यमेतत्। किन्तु विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम् कीदृशम् ? वक्रता विचित्र गुणलकार सम्पदा परस्पर स्पर्धाधिरोहः।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि साहित्य का बहुत बड़ा सौन्दर्य भाषा पर अवलम्बित है। साहित्य तथा भाषा का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भाषा के बिना भाव साहित्य का रूप धारण कर ही नही सकते।

अब हम यह देखेंगे कि भाषा का निर्माण किन तत्वो से होता है। भाषा का निर्माण चार तत्वो से होता है—(क) शब्द शक्ति, (ख) गुण, (ग) रीति, (घ) वृत्ति।

(क) शब्द शक्ति—अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना—ये तीन शब्द शक्तियाँ मानी गई हैं। लक्षणा और व्यंजना भाषा की ऐसी शक्तियाँ हैं जिसमें भाषा सप्राण हो जाती है। इनका सम्बन्ध अर्थ से है, और इनके द्वारा अर्थ में चित्रोपमता और सजीवता आती है। अभिधा से साधारण अर्थ व्यक्त होता है। लक्षणा द्वारा अर्थ के विस्तार से भाषा मे रबड की भाँति खिचकर बढ जाने की शक्ति आती है, और लक्षणा के द्वारा भाषा में गतिशीलता आ जाती है। शैली में भाषा और भाव का सामंजस्य इन तीनों शक्तियों द्वारा होता है।

(ख) गुण—मुख्य रूप से गुण तीन माने गये हैं माधुर्य, ओज और प्रसाद। माधुर्य गुण संयोग, शृंगार, करुण, विप्रलम्भ और शांत में क्रमशः बढ़ता है, और ओज गुण वीर, वीभत्स और रौद्र में क्रमशः उत्कर्ष को प्राप्त होता है। प्रसाद तो सभी रचनाओं के लिए आवश्यक गुण है।

(ग) रीतियाँ—रीतियाँ तीन हैं—वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली। माधुर्य गुण के लिए वैदर्भी रीति, ओज के साथ गौड़ी तथा प्रसाद के साथ पांचाली उपयुक्त रहती है।

(घ) वृत्तियां—उपनागरिक, परुषा तथा कोमला हैं। इन सबके उचित सामंजस्य से भाषा सुन्दर तथा अत्यन्त प्रभविष्णु हो जाती है।

अलंकार—अलंकार भी भाषा की उत्कृष्टता में सहायक हैं। जिस प्रकार आभूषण शरीर की शोभा को बढा देते हैं, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं। उसका उत्कर्ष बढ़ाते और रस भाव आदि को उत्तेजित करते हैं।

अलंकार तीन प्रकार के माने गये हैं–शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार।

(१) शब्दालंकार के द्वारा शब्द में चमत्कार आता है।

(२) अर्थालंकार अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करते हैं।

(३) उभयालंकार, इनके द्वारा शब्द और अर्थ दोनों में चमत्कार आ जाता है।

(३) छन्द—काव्य तथा संगीत का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। क्योंकि दोनों ही गतिशील कलाएँ हैं। भावमयी भाषा मे जो स्वाभाविक गति आ जाती है छन्द उसी का बाहरी आकार है। छन्द भाषा को भावानुकूल बनाकर पाठक में एक विशेष ग्राहकता उत्पन्न कर देते हैं। छन्द के द्वारा ही कवि के भाषा ज्ञान की परीक्षा की जाती है। यदि छन्द में रसानुकूल गुण, वृत्ति और रीति का उचित संतुलन हो तो भाषा अत्यन्त सुन्दर तथा चमत्कारपूर्ण हो जाती है।

(४) वर्णन—वर्णन शैली भी सबसे आवश्यक तत्वों में से एक है। जिस प्रकार मनुष्य का व्यक्तित्व उसकी चाल-ढाल, वेष-भूषा और शारीरिक एवं वोलचाल की विशेषताओं में निहित रहता है उसी प्रकार वह उसकी लेखन शैली मे भी पुष्प में सौरभ की भाँति व्याप्त ही नही वरन् उसके द्वारा प्रकट होता है। तभी तो कहा गया है—"Style is the man" अर्थात् शैली ही मनुष्य है। वस्तु तथा शैली

का "गिरा अर्थ जल वीचि सम" अटूट सम्बन्ध है। यदि वस्तु है तो उनका कोई न कोई आकार होगा ही यदि आकार है तो उसका कोई न कोई पदार्थ होगा ही। "वस्तु से विच्छिन्न आकार रेखागणित की वस्तु चाहे हो किन्तु वास्तविक जगत में उसका अस्तित्व कठिन है।" अतः वस्तु तथा शैली का पार्थक्य सम्भव नहीं।

वस्तु तथा आकार के घनिष्ठ सम्बन्ध को प्रायः सभी ने स्वीकार किया है। बिना भाषा के भाव का अस्तित्व सम्भव नहीं। भाषा स्वयं ही भाव की मूर्ति है। कविता के भावपक्ष और कलापक्ष में अभेद सम्बन्ध है। भावो की साधना भाषा की साधना के साथ ही हो सकती है। किन्तु भावपक्ष तथा कलापक्ष के महत्त्व के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। तुलसी सदृश कवियो ने भावपक्ष को महत्व दिया है और केशव जैसे पडितो ने अलकार को काव्य का आवश्यक उपकरण माना है। यह तो ध्रुव सत्य है कि रचना का कौशल महत्त्वहीन वस्तु को भी महत्त्वपूर्ण बना सकता है। उत्तम कलाकार के हाथ मे महान वस्तु रामचरित मानस के समान मणि कांचन संयोग का उदाहरण हो जाती है।

डा० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है—"काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष का नित्य सम्बन्ध है, जहाँ एक का दूसरे से विछोह हुआ वहाँ काव्य की अन्तरात्मा का अपने को प्रकट करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती।" इनमें से किसी एक पक्ष की अपूर्णता एवं अपुष्टता साहित्य की सम्पन्नता एव प्रभविष्णुता के लिए घातक सिद्ध होती है। सुन्दर अभिव्यक्ति के बिना भाव पगु रह जाता है और विषय के सौन्दर्य के बिना कला का सौन्दर्य खोखला है।

कविता की व्यंजक शक्ति

कविता में एक ऐसी अपूर्व शक्ति है, जिसके द्वारा वह इन्द्रियगोचर सौंदर्य, मानव हृदय की अनुभूतियो, तथा प्रकृति के विविध रूपो के आध्यात्मिक भाव को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। कविता की सार्थकता इसी में है कि वह वस्तुओं के इन्द्रियगोचर सौंदर्य और उनके आध्यात्मिक भाव को इस प्रकार अभिव्यक्त करे जिससे हमारी कल्पनाएँ और भावनाएँ और भी उत्तेजित होकर हमें उसी की भाँति देखने, समझने तथा अनुभव करने मे समर्थ कर सके। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने अपनी कविता की परिभाषा मे रागात्मक तत्व को प्रधानता दी है। वे लिखते हैं:—'कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।" राग से अभिप्राय प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल मे रहने वाली अन्तःकरण वृत्ति से है। जिस प्रकार निश्चय के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिए भी कुछ विषयों का बाह्य या मानस प्रत्यक्ष अपेक्षित होता है। ये ही हमारें रागों या मनोवेगों के, जिन्हे साहित्य मे भाव कहते हैं, विषय हैं। कविता उन आदिम और मूल मनोवृत्तियो का व्यवसाय है जो सजीव सृष्टि के बीच सुख-दुःख की अनुभूति से विरूप परिणाम द्वारा अत्यन्त प्राचीन काल मे प्रकट हुईं और मनुष्य जाति आदिकाल से जिनके सूत्र से

शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव करती चली आ रही है। रागों या वेगस्वरूप मनोवृत्तियों का सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य स्थापित करके कविता मानव जीवन से व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करती है। यदि इन वृत्तियों को समेट कर मनुष्य अपने अन्तःकरण के मूल रागात्मक अश को सृष्टि के किनारे कर ले तो फिर उसके जड़ हो जाने मे क्या सन्देह रहा। यदि वह हरे-भरे खेतों और बनों, चट्टानो पर चादी की तरह झरते हुए झरनों, मंजरी से लदी हुई अमराइयों को देख कर क्षण भर लीन नही हुआ, यदि दीन-दुःखी का आर्त्तनाद सुन न दुखित हुआ, यदि अनाथो और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि हास्य की अनूठी उक्ति पर न हँसा तो उसके जीवन में रह ही क्या गया।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मकता प्रकृति का सामंजस्य ही कविता का लक्ष्य है। वह जिस प्रकार प्रेम, क्रोध, करुणा, घृणा आदि मनोवेगों या भावों पर सान चढा उन्हे तीक्ष्ण करती है, उसी प्रकार जगत के नाना रूपो और व्यापारो के साथ उनका उचित सम्बन्ध स्थापित करने का उद्योग करती है। कविता मे ऐसी रागात्मक शक्ति होती है कि वह हमारे तद्विषयक भावो को उद्दीप्त कर देती है। वह अपनी रागात्मक शक्ति के द्वारा हमारी सहानुभूति विस्तृत कर देती है और दूसरे के साथ भाव तादात्म्य करना सिखाती है। हमारे भावो का परिष्कार तथा सामंजस्य भी होने लगता है। शृंगार जो लौकिक अनुभव मे विषयानन्द का रूप धारण कर लेता है, काव्य मे परिष्कृत हो आत्मानन्द के निकट पहुँच जाता है। काव्यानुशीलन करने वाले की रति भी सात्विकोन्मुखी हो जाती है। कविता के अनुशीलन से व्यक्ति ऊँचा उठ जाता है और उसके जीवन में सन्तुलन आ जाता है। कवि कुछ काल के लिए हमारा हृदय सासारिक चिन्ताओं से मुक्त करके हमें अपने वर्णित विषय की सुन्दरता और मनोहरता की ओर आकृष्ट करता है और हमारे समक्ष ऐसी निधि लाता है जिसे हम अपने व्यस्त जीवन में भी हृदय से अनुभव करने को लालायित रहते हैं। कवि के समक्ष ईश्वरीय सृष्टि के रहस्य खुले हुए होते हैं। साधारण मनुष्य के हृदय पर सुन्दर तथा रमणीय स्थान का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु कलाकार की आँखें उस इन्द्रियगोचर सौन्दर्य को चट ग्रहण कर लेती हैं और उसको वह अपनी कला मे इस प्रकार व्यक्त करता है कि हम भी उसकी सुन्दरता की ओर आकृष्ट होते हैं। कवि ससार की वस्तुओ की मनोहरता, सुन्दरता तथा उनके आध्यात्मिक भाव को ललित भाषा मे व्यक्त कर हमारे लिए बोधगम्य बनाता है। इस प्रकार कविता केवल वस्तुओं की सुन्दरता का ही भाव प्रदान नही करती, वरन् हमे ऐसी दृष्टि प्रदान करती है जिसके सहारे हम जीवन की भिन्न अवस्थाओ को देख और समझ सकें तथा कवि की अलौकिक शक्ति का स्वयं अनुभव कर सके।

कविता केवल रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना नही करती अपितु पाठक या दृष्टा के मन का संस्कार एवं परिष्कार कर उसकी रुचि को उदात्त बनाती है। "बसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना कविता के द्वारा ही सम्भव है। कविता अपनी

रागात्मक शक्ति के द्वारा हमारे भावों को साधारणीकृत करके अलौकिक आनन्द की प्राप्ति कराती है। कविता में वर्णित संकट-ग्रस्त व्यक्ति का वर्णन पढ कर कभी-कभी पाठक रोने तक लगता है। जबकि वह जानता है कि संकट-ग्रस्त व्यक्ति हमारा कोई सगा सम्बन्धी नही है। इसका प्रधान कारण यही है कि कविता अपनी रागात्मक शक्ति के द्वारा मानव को ऐसी भाव-भूमि पर ले जाती है जहाँ वह 'अयं निजः परो वा" की भावना से मुक्त होकर अपने को केवल मनुष्यमात्र अनुभव करता है। और मानवमात्र के साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। उसके विचार इतने कोमल तथा हृदय इतना विशाल तथा उदार हो जाता है कि वह एक मानसिक समरसता का अनुभव करने लगता है। उसके लिए समस्त विश्व अपने पृथक अस्तित्व मे शेप नही रह जाता क्योकि अपने पराये की भावना समाप्त हो जाती है:—

"अयं निजः परोवेत्ति गणना लघु चेतसाम्
उदाचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" (नीति)

वसुधा भर को स्वकुटुम्ब समझ कर व्यवहृत होने वाली कविता सनातन विश्व-बन्धुता का सम्प्रेषक रहा है। उसने समाज मे प्रेम-भावना का संचार किया है। अपने पराये की भावना को निर्मूल करने वाली कविता ने मानव को मानव के अधिक समीप ला दिया।

यह कविता की रागात्मकता शक्ति का ही प्रभाव है कि पाठक ऐसे दृश्यों को वारम्बार पढ़ना चाहता है, जिन्हे वस्तु-जगत मे एक वार भी देखना नही चाहता। वस्तु जगत में यदि हम किसी दु खी व्यक्ति का आर्त्तनाद सुनते हैं तो हमारा हृदय इतना द्रवीभूत नही होता जितना कविता मे उसका वर्णन पढ़कर। कविता मे शोक से शोकपूर्ण स्थल भी सर्वाधिक लोकप्रिय हो जाते हैं।

अत स्पप्ट है कि कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि को साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।" इस सम्बन्ध में कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्द दृष्टव्य है:—

"साहित्य शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है, वह केवल भाव-भाव का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है, किन्तु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरग मिलन साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी से सम्भव नहीं।"

कवियों के महत्व का आदर्श

इस प्रकार कविता मानव जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से साम्य स्थापित करके ऐसे विषयो को ग्रहण करती है, जो उसे सरलता से अपना कर्तव्यपालन करने में सहायक हो सके। इस दृष्टि से तुच्छ से तुच्छ विषयो पर लिखी गई कविता जिसे कवि ने अपनी शक्ति से मनोहारिणी बना दिया है अपना महत्व अभिव्यक्त करती

है। कविता कल्पना और मनोवेगों के रूप में जीवन की व्याख्या है और इस दृष्टि से वह जीवन के महत्वपूर्ण और स्थायी विषयो का वर्णन करती है। कविता एक कला है। वह आत्मा की बाह्य मूर्ति है। कविता विचारों तथा भावों की वाहक है, उसका महत्व इसी बात मे है कि वह आत्मा के विचारो तथा भावो को अधिक मात्रा मे व्यक्त कर सके। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि कविता का उद्देश्य केवल आनन्द का उद्रेक करना है। कविता का उद्देश्य केवल आनन्द का उद्रेक करना ही नहीं है। वह तो जीवन से, जीवन की और जीवन के लिए है। इस भाव को लेकर जिन कवियों ने कविता लिखी हैं उसी के अनुसार उनका महत्व स्थापित हुआ है। मेथ्यू आर्नल्ड ने कविता को जीवन की आलोचना कहा है और उनका विचार है कि कवि का महत्व इसी मे है कि वह अपने उच्च विचारो का प्रयोग जीवन व्यवहार में इस प्रकार करे कि वह सौन्दर्य का अनुभव कराके प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हो। सदाचार तथा नीति की बाते धर्म-सम्प्रदायों द्वारा वर्णित होने पर शुष्क तथा नीरस हो जाती हैं किन्तु कविता के द्वारा प्रतिपादित होने पर ये विषय सुष्ठ तथा सुन्दर हो जाते हैं। सदाचार और नीति से विरहित होकर कविता का अस्तित्व सम्भव नही क्योकि सदाचार तथा नीति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। उनकी उपेक्षा करना जीवन की उपेक्षा करना है और उनके अभाव से सन्तुष्ट होना जीवन को नीरस बनाना है। अतएव यह स्पष्ट है कि कवि का महत्व उसके प्रतिपाद्य विषय, उसके धर्मभाव तथा उसके प्रभाव पर निर्भर है। कोई मनुष्य तब तक श्रेष्ठ कवि नही हो सकता जब तक कि वह अच्छा तत्वदर्शी भी न हो। परन्तु इसका अभिप्राय यह नही है कि प्रतिभाशाली कवि का उद्देश्य अपने धर्म भाव को प्रकट करना है या नीति तथा सदाचार का उपदेश देना है। यह कार्य कवि का न होकर उपदेशक या धार्मिक नेता का है। कवि का कार्य तो उत्तेजित करना, सजीव करना, उच्छ्वसित करना, शक्ति सम्पन्न करना और प्रसन्न करना है। बंकिमचन्द्र ने भी लिखा है कि—"कवि ससार के शिक्षक है किन्तु नीति की व्याख्या करके शिक्षा नहीं देते। वे सौंदर्य की चरम सृष्टि करके संसार की चित्त-शुद्धि करते है। यही सौंदर्य की चरमोत्कर्ष साधक सृष्टि काव्य का मुख्य उद्देश्य है।" "सत्य हरिश्चन्द्र" नाटक का उद्देश्य है सत्य बोलना, किन्तु कही भी लेखक ऐसा नही कहता किन्तु फिर भी उसका परिणाम यही निकलता है और दर्शक, पाठक तथा श्रोता पर इसका प्रभाव "सत्य बोलो" इससे कहीं अधिक पड़ता है।

कवि को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कविता अपने गुणों से विहीन न हो, अपनी सुन्दरता तथा मनोहरता को विनष्ट न करे। नीति तथा सदाचार आदि विषयों का प्रतिपादन करते समय कवि को कविता की सुन्दरता तथा मनोहरता पर दृष्टि अवश्य रखनी चाहिए नही तो कविता अपना अस्तित्व खो कर उपदेशमात्र रह जायेगी। तात्विक सिद्धान्तो की नीव पर कविता का भवन निर्मित करना श्रेयस्कर नहीं।

अतएव यह स्पष्ट है कि कवि का महत्व उसके विषय की महत्ता, उसके

विचारों की गहनता, उसकी नैतिक शक्ति तथा उसकी प्रभावोत्पादकता पर अवलम्बित है। कविता की व्याख्या करने के लिए कवि पर, उसके व्यक्तित्व पर, उसके सासारिक अवेक्षण पर, उसकी जीवन की व्याख्या पर, उसकी विशेषता पर विचार करना आवश्यक है। ये कविता के मूल सिद्धान्त हैं और इनकी उपेक्षा नही की जा सकती।

कविता और छन्द

विश्व का काव्य साहित्य एक बहुत बड़ी सीमा में छंदोवद्ध है और ये छद संगीत शास्त्र के नियमो के अनुसार बने हैं। पाश्चात्य देशो मे कविता तथा छंद का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया था। अमेरिका के आधुनिक कवि ह्निटमैन ने छन्दहीन कविता की रचना की थी, किन्तु उसका विरोध किया गया। पाश्चात्य समीक्षको की व्याख्या से यह स्पष्ट है कि उन्होने सगीत को कविता का अभिन्न अग माना है। कविता के सम्बन्ध में जॉनसन का विचार है—"कविता पद्यमय निवन्ध है।" कॉरलायल ने भी कविता की सगीतमयता पर विशेष वल दिया है—"कविता मनोवेगमय और संगीतमय भाषा में मानव अन्तःकरण की मूर्त और कलात्मक व्यंजना करती है।" इन सब व्याख्याओ मे स्पष्ट है कि कविता और पद्य (संगीत) का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

मानव जीवन के लिए संगीत अनिवार्य है, उसका महत्व सर्वविदित है। झरनों की कल कल ध्वनि मे, पत्तो के मर्मर शब्द मे, मेघों के गर्जन मे, मानव को संगीत सुनाई देता है। सगीत से विरहित होकर कविता का रूप, उसका प्रभाव और उसका महत्व बहुत कुछ कम हो जाता है, कविता मे सगीत का समावेश करने से कविता का प्रभाव तथा महत्व वढ जाता है, वह मधुर तथा मनोहारी हो जाती है तथा मानव हृदय में अलौकिक आनन्द का उद्रेक करने में समर्थ होती है। अतः कविता तथा सगीत को एक दूसरे से पृथक करना उसकी अलौकिक शक्ति का नाश करना है।

सगीत के इस व्यापक प्रभाव के विरुद्ध यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि छन्द के रूढि जड़ित बन्धन को स्वीकार कर लिया जायेगा तो कविता की भावव्यंजना मे अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि शब्द और स्वर (संगीत) मे विरोध उत्पन्न हो जाता है, ऐसी अवस्था में छन्द के नियमो की अवहेलना करनी पड़ती है क्योकि कविता का प्रथम आधार शब्द है। वह जितना शब्द को महत्व दे सकती है, उतना स्वर को नही।

ऐतिहासिको का विचार है कि प्रारम्भ में मनुष्यो ने अपने हृदयस्पर्शी भावो को संगीतमय भाषा में ही व्यक्त किया था। अतः कविता तथा सगीत का सम्बन्ध बहुत प्राचीन तथा स्थायी है। इस सम्बन्ध के द्वारा ही मनोवेग अधिक तीव्र भाव से उत्तेजित होते हैं। हमारे भावो मे परिवर्तन हो जाता है और हमारी कल्पना कवि की कल्पना का सहारा पाकर कविता का रसास्वादन करने लगती है।

नवीनतावादियो ने इसका खंडन किया है। उनका विचार है कि आदिम भाषा संगीतमय भले रही हो, किन्तु आज तो छद की भाषा अविकसित कही जायेगी। जैसे-जैसे मनुष्य की बुद्धि विकसित हुई, वैसे-वैसे उसने छन्दहीन भाषा का निर्माण किया। वर्तमानकाल मे गद्य की रचना ही अधिक हो रही है और भविष्य मे भी यही आशा है। छन्दहीन कविता नवीन युग की विशेषता है और उसकी निरन्तर प्रगति हो रही है। हो सकता है कि भविष्य मे सम्पूर्ण काव्य गद्य की भाषा मे ही प्रकाशित होने लगे।

हमारे यहाँ के कवियों को कविता मे संगीत को बनाये रखने के लिए शब्दों को तोड़ना मरोड़ना पड़ा है तथा ह्रस्व को दीर्घ तथा दीर्घ को ह्रस्व बनाना पड़ा है। संस्कृत में कविता सगीतमय है पर वह इस दोष से मुक्त है। यदि सगीत और कविता का उचित सम्मिश्रण हो तो वह श्रेयस्कर हो सकता है।

इस समय तो गद्य और पद्य की दोनों प्रणालियाँ अपना पृथक-पृथक व्यक्तित्व बनाये हुए हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से छन्द कविता के लिये आवश्यक नही है, किन्तु छन्दबद्ध कविता का ही अधिक प्रचार है और इस दृष्टि से यदि हम उसे काव्य की शाखा मानें तो अनुपयुक्त न होगा।

कविता के विभाग

कविता को मुख्य रूप से दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वह जिसमे कवि अपने व्यक्तिगत अनुभवो तथा भावनाओ से प्रेरित होकर विपय का प्रतिपादन करता है। दूसरा वह जिसमे वह सासारिक कृत्यों तथा रागों से प्रभावित होकर जो कुछ पाता है उसका वर्णन करता है। प्रथम विभाग को भावात्मक, व्यक्तित्व प्रधान अथवा आत्माभिव्यजक कविता कह सकते हैं। दूसरे विभाग को विषय-प्रधान अथवा भौतिक कविता कहते हैं।

व्यक्तित्व-प्रधान कविता की सर्वप्रथम विशेपता यह है कि उसमे कवि के भावो की अभिव्यंजना मिलती है। परन्तु भाव तो सम्पूर्ण मानव जाति के एक से हैं। अतः इस प्रकार की कविता का पठन करते समय पाठक के हृदय मे यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि यह अनुभव, विचार तथा उद्गार केवल कवि के ही नही है, किन्तु उसके भी है। इस प्रकार की कविता मे मानवी प्रवृत्तियों की सुन्दर झलक मिलती है। इस प्रकार की कविता में विचारणीय बात यह है कि कवि के भाव कैसे हैं तथा उसने किस प्रकार उन्हे अभिव्यक्त किया है। सफल कविता वही कही जायेगी जिसमे उच्च भावनाओं की व्यंजना स्वाभाविकतापूर्वक की गई हो तथा जिसकी भाषा तथा कल्पना मे सुन्दरता तथा विशदता का समावेश हो। शृंगार, नीति, स्तुति, निन्दा आदि की फुटकर कवितायें इसी के अन्तर्गत हैं।

वर्णन प्रधान अथवा बाह्य विषयात्मक कविता में कवि के विचारों और मनोभावों का प्रत्यक्ष रूप से वर्णन नही होता। उसके प्रतिपाद्य विषय सांसारिक भाव तथा कार्य होते हैं। भावात्मक कविता मे कवि अपनी अन्तरात्मा की पुकार

को वाणीवद्ध करता है, वह वाह्य जगत को अपने भावों से रंजित करता है। परन्तु वाह्य विषयात्मक कविता मे उसका प्रतिपाद्य विषय वाहरी जगत होता है। इस प्रकार की कविता मे कवि अपनी अन्तरात्मा को प्रच्छन्न रखता है। वह अपनी कविता सृष्टि में अदृश्य होकर उसकी रचना करता है। यहाँ उसका अनुभव प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष रूप मे होता है। भावात्मक कविता में कवि प्रत्यक्ष हो जाता है और वाह्य विषयात्मक कविता मे वह अन्तर्हित रहता है।

विषय प्रधान अथवा बाह्य विषयात्मक कविता के दो प्रधान भेद माने गये हैं, खण्डकाव्य और महाकाव्य। खण्डकाव्य में किसी प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध कथानक को मुख्य कथा का रूप दिया जाता है। खण्डकाव्य का उद्देश्य साधारण भी होता है तथा काल्पनिक घटना भी उसका आधार हो सकता है। परन्तु महाकाव्य का उद्देश्य महान होता है। संस्कृत के साहित्यशास्त्रो में महाकाव्य के लक्षण बडे जटिल तथा दुरूह माने गये हैं।

आत्माभिव्यजन-सम्वन्धी कविता गीतकाव्य के रूप मे प्रस्फुटित होती है। मधुर भावनापन्न गीत वहुत स्वाभाविक से प्रतीत होते हैं। ऐसे गेय पदो मे स्वर साधना तथा शब्द साधना का सुन्दर योग रहता है। इन गीतों मे कर्कशता नही होती। इनकी भावना कोमल तथा मधुर होती है। भक्त कवियो की लेखनी से इस प्रकार के गीत प्रचुर मात्रा मे निसृत हुए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्माभिव्यंजन सम्वन्धी कविता आत्मा के अधिक निकट है। इन गीतों मे अनुभूति की तीव्रता के दर्शन होते हैं। आल्ह खण्ड, वीसलदेव रासो आदि वीर गीत वस्तुवर्णन विषयक कविता के अन्तर्गत आयेंगे, उन्हे आत्माभिव्यंजन की श्रेणी में नही रक्खा जा सकता।

कवि तथा पाठक के त्रयात्मक व्यक्तित्व

यद्यपि कविता की सृष्टि कवि करता है परन्तु उसका रसास्वादन पाठक लेते हैं। संस्कृत के आचार्यों के मतानुसार कविता या काव्य का रसास्वादन सहृदय पाठक या दर्शक ही ले सकता है। "कविः करोति काव्यानि रसं जानति पंडितः" से भी यही बात स्पष्ट होती है। कवि के तीन व्यक्तित्व माने गये हैं—एक लौकिक और दूसरा साधारणीकृत सहानुभूति पूर्ण कलाकार का व्यक्तित्व, तथा तीसरा व्यक्तित्व है भावक का। लौकिक व्यक्तित्व मे कवि साधारण प्राणी के समान सुख से हंसता है तथा दुःख मे रोता है किन्तु उसका कलाकार का व्यक्तित्व उसके करुण क्रन्दन मे भी एक माधुर्य ला देता है। उसके निजी व्यक्तित्व का हर्ष-विषाद कलाकार को कुछ बल अवश्य देता है। लौकिक व्यक्तित्व मे देशकाल की सीमा रहती है तथा कवि के अनुभव में उपादेयता, हेयता, आकर्षण विकर्षण की निजी भावना का प्राधान्य रहता है। इस परिस्थिति में वह यह सोचता है कि यह अनुभव कुछ समय बना रहे या क्षण भर मे ही समाप्त हो जाये। जब कलाकार का व्यक्तित्व साधारणीकृत होता है तब वह निजत्व या परत्व से रहित होता है। वह अपने अनुभाव का शुद्ध रूप मे

आस्वाद करता है और अपने आनन्द को दूसरे तक पहुँचाना चाहता है।

क्रोचे ने "अभिव्यंजनावाद" पर विचार करते समय कलाकार के दो व्यक्तित्व माने हैं—एक लौकिक तथा दूसरा आदर्श।

कल्पना के मधुमय सजीवन रस के द्वारा ही कविता का अनुभव होता है। Wordsworth ने कहा है— "Poetry is the spontaneous overflow of emotion recollected in tranquillity." अर्थात् "काव्य शान्ति के समय स्मरण किये हुये मनोवेग का आत्मप्रेरित प्रवाह है।" कुछ कलाकार ऐसे हैं जिनका कलाकार का व्यक्तित्व उनके निजी व्यक्तित्व मे दबा रहता है, किन्तु कुछ लोगो में कलाकार का व्यक्तित्व प्रधान होता है और उनका निजी व्यक्तित्व कलाकार के व्यक्तित्व के पीछे होता है। कविरत्न सत्यनारायण जी प्राकृतिक सुषमा से प्रभावित होकर कविता करने मे इतने व्यस्त हो गये कि परीक्षा-भवन में ठीक समय पर पहुँचना ही भूल गये।

जब कवि प्रत्यक्ष रूप से अपने लौकिक अनुभव का वर्णन नही कर पाता तब उसकी रचना मे कल्पना की सरस चासनी उसके दुःखद अनुभव को सुखद बना देती है। कवि प्रत्यक्ष रूप से वर्णन तभी करता है जब उसका कलाकार का व्यक्तित्व सजग हो जाता है और लौकिक व्यक्तित्व का उस पर कोई प्रभाव नही होता। महर्षि बाल्मीकि का "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः" वाला श्लोक शोक से ही उत्पन्न हुआ है। शोक ने श्लोक का रूप इसीलिये धारण किया था कि उनके उस शोक मे कवि की सहानुभूति और लोकानुकम्पा का समावेश था। ये उद्गार वैयक्तिक न होकर विश्वपरक थे। श्रेष्ठ कलाकार का लौकिक व्यक्तित्व उसके कलाकार के व्यक्तित्व के पीछे रहता है।

कवि जब अपनी वैयक्तिक हानि का वर्णन करने लगता है तब उसमे भी उसके कलाकार का व्यक्तित्व प्रधान रहता है। महाकवि टेनीसन का "इन मेमोरियम" नामक शोक काव्य इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। टेनीसन ने इसकी रचना अपने मित्र की मृत्यु पर की थी। उसके व्यक्तिगत शोक ने कलाकार को बल प्रदान किया। किन्तु उसके क्रन्दन मे तथा साधारण मनुष्य के क्रन्दन मे अन्तर है। कवि की आह मे समाज की आह छिपी रहती है। कवि अपने तीसरे व्यक्तित्व के द्वारा अपनी कृति का रसास्वादन भी करता है।

पाठक या दर्शक के भी तीन व्यक्तित्व माने गये हैं। प्रथम तो उसका लौकिक व्यक्तित्व होता है जिसमें वह निजी हर्ष-विषाद शारीरिक चिन्ताओ आदि का अनुभव करता है। दूसरा रसास्वादन का साधारणीकृत व्यक्तित्व होता है जो देश-काल के बन्धनो से परे होता है। इस अवस्था मे पाठक अपने निजत्व तथा परत्व की भावना से रहित होकर अपने को केवल मनुष्य अनुभव करता है तथा मानवमात्र के प्रति उसकी सहानुभूति हो जाती है। लौकिक अनुभव मे भी रसास्वादन हो सकता है किन्तु यह तभी सम्भव है जब उसमें सात्विकता हो।

वीर मनुष्यो को भय के अवसर पर भी आनन्द की अनुभूति होती है। वे अपने निजी व्यक्तित्व को विस्मृत कर देते हैं। किन्तु यह आनन्द लौकिक ही कहा जायेगा। इससे हम लौकिक तथा रसानुभूति के मध्य की अवस्था मानेंगे। काव्यानन्द इससे भिन्न है। इसमे पाठक या दर्शक का साधारणीकृत व्यक्तित्व रहता है।

हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण के विविध रूप

प्रकृति का स्वरूप मानव को अनन्त काल से लुभाता चला आ रहा है उसका मन मनुष्यकृत उद्यानों मे इतना नही रमा, जितना कि प्रकृति के ऊवड़-खावड़ स्थलो में। इसका प्रमुख कारण यह है कि मानव सम्यता ने जब आँखे खोली होगी तब भी उसने अपने आप को प्रकृति की सुरम्य गोद मे पाया होगा। मानव ने नक्षत्रो से भरा आकाश, वर्षा ऋतु में दौड़ते हुए बादल और सतरगी इन्द्रधनुप को देखकर आश्चर्य प्रकट किया होगा। उसका वह आश्चर्य प्रकृति के प्रति प्रेम की वह भावना आज भी सामवेद मे सुरक्षित है। व्यक्ति जीवन पर्यन्त प्राकृतिक दृश्यों को देखता रहा है। बन, पर्वत, निर्झर, नदी, नाले, सध्या, प्रभात आदि प्रकृति के विभिन्न स्वरूपो तथा चित्रों के साथ मनुष्य के हृदय का रागात्मक सम्वन्ध है, निर्झर में उसे संगीत सुनाई देता है, गुलाब के पुष्प मे स्वास्थ्य और सौदर्य की द्योतक किसी रमणी की मुखश्री की आरक्त आभा दिखलाई देती है। प्राची की स्वर्ण आभा आशा का सन्देश लाती है। कलियाँ खिलकर प्रकृति के हृदयोल्लास का परिचय देती हैं। हिमकण उसके साथ रोते प्रतीत होते हैं। जमुना की तरंगो मे भावुक हृदय को अतीत की आकुलतान सुनाई देती है। इस प्रकार कवि हृदय प्रकृति के सुरम्य राग से स्पन्दित हो उठता है तभी तो वर्ड्स्वर्थ की वाणी फट पड़ी है।

"To me the meanest flower that blows can give thought that do often lie, too deep for tears." "कानन का क्षुद्रतम् कुसुम भी मेरे प्राणों में अश्रु के अतीत भाव ला देता है।"

प्रकृति मनुष्य के क्रीड़ा कलाप की चित्रमयी रंगस्थली है जिसके बिना मानव जीवन का नाटक अधूरा रह जाता है। ऐसी स्थिति मे उसके काव्य मे प्रकृति वर्णन न हो तो आश्चर्य का विषय है। संस्कृत साहित्य मे प्रकृति के सुरम्य चित्र सर्वत्र प्राप्त होते हैं। बाल्मीकि, कालीदास, भवभूति, माघ आदि कवियो के काव्य प्रकृति चित्रण से भरपूर हैं। अलंकारो का सम्पूर्ण क्षेत्र प्रकृति निरीक्षण से ही सम्बन्धित है।

हिन्दी काव्य मे प्रकृति मुख्यतः दो रूप मे आई है। (१) प्रस्तुत रूप मे, (२) अप्रस्तुत रूप मे।

प्रस्तुत रूप मे भी प्रकृति चित्रण के दो प्रकार मिलते हैं—(१) अर्थ ग्रहण मात्र। (२) बिम्ब ग्रहण मात्र। अर्थ ग्रहण मात्र को भी दो रूपो में विभाजित किया जा सकता है—

(क) नाम परिगणनात्मक। (ख) शुद्ध प्रकृति चित्रण।

बिम्ब ग्रहण के प्रकार को भी चार भागों मे विभाजित किया जा सकता है–

(क) शुद्ध प्रकृति वर्णन (ख) पृष्ठ भूमि के रूप मे प्रकृति वर्णन (ग) मानवीकरण के रूप मे प्रकृति वर्णन (घ) अलंकृत रूप मे प्रकृति चित्रण।

प्रकृति चित्रण के अप्रस्तुत रूप को चार भागों मे विभाजित किया जा सकता है १—उद्दीपन रूप मे प्रकृति चित्रण २—रहस्यवाद के रूप मे प्रकृति चित्रण, ३—उपदेश के रूप मे प्रकृति चित्रण।

इसके अतिरिक्त प्रतीक रूप मे तथा दूत रूप में भी प्रकृति का चित्रण काव्य में किया जाता है।

वीरगाथा काल से लेकर आज तक हमारे काव्य मे प्रकृति वर्णन होता आ रहा है, परन्तु उसका स्वरूप भिन्न है क्योकि समय के साथ भावनाएँ भी परिवर्तित हुआ करती हैं। वीरगाथा काल मे प्रकृति उद्दीपन मात्र ही रही। परम्परा पालन के रूप में ही प्रकृति के चित्रण उसमे मिलते हैं। विद्यापति की पदावली मे प्रकृति उद्दीपन के रूप मे ही ग्रहीत है बसन्त, पवन नायिका को कामोद्दीपित करती है, मोर, पपीहे, पिक सभी का उल्लेख उद्दीपन के रूप मे हुआ है।

देश की शोचनीय अवस्था के सूचक भक्ति काल मे भी प्रकृति वर्णन बहुत गौण रहा। उस समय के कवियो का कर्त्तव्य बड़ा कठिन था। प्रकृति के अनन्त सौंदर्य मे लीन न होने की अपेक्षा उन्हे जनता के मध्य भक्ति भावना का प्रचार करना था। थोड़ा बहुत प्रकृति चित्रण जो इस युग मे कवियो द्वारा किया गया वह सिद्धान्त अथवा भक्ति के रूप मे। तुलसी और कबीर दोनों ही इस श्रेणी मे आते हैं। कबीर में कहीं-कही अन्योक्तियो मे प्रकृति के चित्र अवश्य हैं। जैसे:—

"काहे री नलिनी! तू कुम्हलानी तेरे ही ताल सरोवर पानी।" आदि भक्त चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने मानस मे बाटिका बिहार का बड़ा चित्रोपम वर्णन किया है। देखिए :—

"लागे विटप मनोहर नाना, वरन् वरन् वर वेंलिविताना।
नवपल्लव फल सुमन सुहाये, जिन सम्पति सुरतरुहि लजाये।
चातक, कोकिल, कीर चकोरा, कूजत विहँग नचत कल मोरा।
मध्य बाग सर सोह सुहावा, मनि सोपान विचित्र बनावा।"

उपर्युक्त प्रकृति वर्णन मे उस आत्मीयता के भाव का अभाव है जो आज के युग मे हमे प्रकृति के प्रति दृष्टिगोचर होता है।

परन्तु तुलसीदास जी ने उसे नीरस नही होने दिया मानव भावनाओं से रंजित प्रकृति का चित्रण भी तुलसी ने किया।-सीता जी अशोक बाटिका मैं वंदी हैं। उन्हे प्रकृति के समस्त उपकरण दुखदायी प्रतीत होते हैं। तुलसीदास जी ने उपदेश रूप मे भी प्रकृति का वर्णन किया है।

"हरित भूमि तृण संकुलित, समुझि परै नहीं पंथ।
ज्यो पाखंड विवादते, लुप्त होइ सदग्रन्थ॥
महा वृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि स्वतन्त्र होई बिगरै नारी॥
छुद्र नदी भरि चलि उतराई। ज्यो थोरेहु धन खल बौराई॥
दामिनी दमकि रही घन माही। खल की प्रीति यथा थिर नाही॥

सूर ने भी प्रकृति वर्णन पर्याप्त किया है। वियोग के दृश्यो से तो भक्ति काल और रीतिकाल का काव्य भरा पड़ा है। प्रकृति पूर्वानुभूत सुखों की साक्षी बन कर हमारी स्मृति को सजीवता प्रदान करती है। विरह की दशा मे सुखद वस्तुएँ भी दुःखद प्रतीत होती हैं। सूर की गोपियां कहती हैं :—

"बिन गोपाल बैरिन भई कुजै।
तब ये लता लगति अति शीतल।
अब भई विषम ज्वाल की पुजै।"

सूर की गोपियां वर्षा ऋतु के उद्दीपनो पर अत्यधिक विश्वास करती हैं। वर्षा के घनश्याम को देखकर सादृश्य के कारण गोपियों को अपने घनश्याम का स्मरण हो आता है यह स्मृति उनके विरह को और भी उद्दीप्त कर देती है। उत्प्रेक्षा के सहारे बादलो मे कृष्ण के सब अग उतर आते हैं :—

"आज घनश्याम की अनुहारि।
उनै आए साँवरे सखि री! लेहि रूप निहारि।
इन्द्र धनुष मानो पीत बसन छवि दामिनी दसन विचारि।
जनु बगपाँत माल मोतिन की चितवन चित्त लेत है हारि॥"

सूर की गोपियों को प्रकृति उद्दीपन का ही साधन है गोपियाँ कहती हैं :—

"ऊधो कोकिल कजत कानन।"

सूर मे प्रकृति के मानवी करण की प्रकृति देखी जाती है सूर की गोपियाँ मधुवन से पूँछती हैं :—

मधुबन तुम कत रहत हरे।
बिरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढे क्यो न जरे।

वे मधुवन को अपने समान समझ कर उसे भी कृष्ण के वियोग में जला देना चाहती हैं। सूर ने प्रकृति के उन्ही उपादानो को लिया है जिनसे कृष्ण का रागात्मक सम्बन्ध था।

सूफी कवियों का प्रकृति के प्रति एक और दृष्टिकोण था। वे प्रकृति वर्णन करने मे इतने तन्मय हो गये हैं कि उनके वर्णनो में रहस्यात्मकता सहज ही मे आ गई है। देखिए जायसी कहते हैं :—

"देखि मानसर रूप-सुहावा, हिय हुलास पुरइन होइ छावा
गा अँधियार रैनमसि छूटी, भा मिनसार किरन रवि फूटी
अस्ति-अस्ति सब साथी बोले अन्ध जो अहै नैन विधि खोले"

प्रकृति में मानवी भावों के आरोप की प्रवृत्ति जायसी मे भी परिलक्षित होती है। उन्होने प्रकृति को मनुष्य के साथ रुलाया है।

"सरवर हिया फटत नित आई, टूक-टूक होइकै विहराई।

रीतिकाल में भी प्रकृति उद्दीपन के रूप में चित्रित की गई थी। जहाँ संयोग और विप्रलभ के युग कूलो मे से प्रकृति की मधुर मन्दाकिनी प्रवाहित हुई। रीति-कालीन कवियों के वर्णन मे तीव्रता है, उन्माद है। और उसके साथ ही है नायिका को उस सहज स्वाभाविक सौन्दर्य से बढकर लावण्यमयी दिखलाने की प्रवृत्ति। इस काल के कवियो ने अलंकार निरूपण तथा उक्ति वैचित्र्य के लिए प्रकृति वर्णन किया। इस काल के कवि केशव आदि तो प्रकृति चित्रण करते समय अलंकार आदि में इतने अधिक उलझ गये हैं कि उन्हें इतना स्मरण न रहा कि कौनसा पुष्प कौनसी ऋतु में होता है। कही-कही तो उन्होने वस्तुओं के नाम गिनाने मे ही प्रकृति वर्णन की सार्थकता समझी :—

"तरु तालीस तमाल ताल हिताल मनोहर।
एला लता लवंग संग पुजी फल सोहै।"

इस प्रकार का प्रकृति चित्रण निकृष्ट कोटि का होता है।

रीतिकालीन कवियों में एक सेनापति ही ऐसे हैं जिन्होने प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन करके अपने सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। क्वार के बादलों का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं :—

"रजत से राजत हैं पूरब को भाजत हैं,
गग-गग गाजत गगन घन क्वार के।"

इसी प्रकार शरदागम का वर्णन देखिए :—

"पाउस निकास लाते पायौ अवकास,
भयौ जोन्ह को प्रकास सोभा अति रमनीय कौं,
विमल अकास होत वारिज विकास।
सेनापति फूले काँस हित हँसन के होय कौ।"

परन्तु कहीं-कही अलकारो का लोभ सवरण न कर सकने के कारण इनके प्रकृति वर्णन मे अस्वाभाविकता भी आ गई है परन्तु :—

सीत कौ प्रबल सेनापति कोपि चढ्यौ दल,
निबल अनल गयौ सर सियराई कै।
हिम के समीर तेई बरसै विषम तीर।
रही है गरम पौन कोनन मे जाइ कै।"

अथवा

"भीसम तपत ऋतु ग्रीसम सकुचि तातें
सरिक छिपी है तहखानन मैं जाइ कै

मानौ सीत काल सीतलता के जमाइव को
राखे हैं विरचि नीच धरा में धराइ कैं ॥

सेनापति के इन पदो में जो नवीनता है वह अत्यन्त दुर्लभ है। प्राचीन परम्परा के अनुसार सेनापति ने प्रकृति वर्णन उद्दीपन के रूप में ही किया है। उन्होने वारहमासे के अधिकाश कवित्त उद्दीपन विभाव की दृष्टि से लिखे हैं किन्तु उनकी ऋतु सम्बन्धी रचना से यह विदित होता है कि प्रकृति के प्रति उनके हृदय में पर्याप्त अनुराग था।

यद्यपि परम्परा तथा सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियो के कारण वह बहुत संकुचित हो गया है। कई स्थलो पर वह प्रकृति के रम्य रूपो का चित्रण करने का उद्योग करते हैं पर परम्परा के कारण उद्दीपन की यह भावना अज्ञात रूप से आ जाती है। उद्दीपन विभाव से पूर्ण एक चित्र देखिए :—

"दूर जदुराई, सेनापति सुखदाई देखौ
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम पतियाँ
धीर जलधर की सुनत धुनिधर की है।
दर की सुहागिन की छोह भरी छतियाँ ॥"

सेनापति के पश्चात् प्रकृति वर्णन का श्रेय देव और विहारी को है परन्तु उन्होने अपने वर्णन मे प्राचीन परिपाटी का ही पालन किया है। विहारी ने ग्रीष्म का वड़ा सजीव वर्णन किया है:—

"कहलाने एकत वसत अहि मयूर मृग वाघ।
जगत तपोवन सो कियौ दीरघ दाघ निदाघ ॥

विरहावस्था मे विहारी की नायिका को शशि दग्ध कर रहा है—

"हौ ही वौरी विरह वस, कै वौरो सव गाँव।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीत कर नाँव"।

आधुनिक युग में कवियों का ध्यान प्रकृति की ओर उचित मात्रा में गया है। इस काल मे प्रकृति निर्जीव न रहकर चैतन्य हो गई है। वह मानव के अति निकट है। वह विश्व जननि है। वह सव का संहार तथा पालन करती है। कवि प्रकृति को इतना अधिक प्रेम करता है कि वह संसार को नही चाहता:—

"छोड़ द्रुमो की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी नाता
वाले तेरे वाल जाल मे कैसे उलझा दूँ लोचन
भूल अभी से इस जग को।"

कुछ कवियो ने प्रकृति में आध्यात्मिक भावनाओं का निरूपण किया है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य में वे एक रहस्य के दर्शन करते हैं। परन्तु कवि उसे समझाने में असमर्थ है। पत जी अपने कौतुहल मे विश्व सुन्दरी से प्रश्न करते हैं।

"न जाने नक्षत्रों के मिस कौन निमन्त्रण देता मुझ को मौन" ।

कवि प्रकृति में चेतना की भावना कर आत्मा और परमात्मा की एकरूपता और कभी जगत और ब्रह्म की एकता का वर्णन करता है । प्रसाद, महादेवी और निराला मे यह भावना स्पष्ट परिलक्षित होती है । कवि प्रकृति और मनुष्य दोनों की तह मे व्याप्त परमात्मा के दर्शन करता है । उसके आधार पर वह श्रेष्ठ सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है । महादेवी जी कहती हैं ।

"मै तुम से हूँ एक, एक हैं जैसे रश्मि प्रकाश"

महादेवी जी दीपक की ज्वाला और पुष्प के सौरभ मे एक ही अव्यक्त शक्ति की व्याप्ति के दर्शन करती हैं ।

"दोनों संगी एक किन्तु कब, दीप जला कब फूल खिला"

इसी प्रकार वे प्रश्न करती हैं ।

"जो चमक कर लोचनो को मूंदता तड़ित की मुस्कान में वह कौन है"

प्रसाद जी सम्पूर्ण प्राकृतिक सौन्दर्य को उस ईश्वरीय सत्ता का परिचायक मानते हैं । सागर के गान मे उसी विराट की झाकी है और वृक्ष उस अखण्ड चेतना के ही रस से सींचे हुए हैं यह सब देखकर कवि कह उठता है—

हे विराट हे विश्व देव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान—
मन्द गंभीर धीर स्वर सयुत
यही कह रहा सागर गान ।

प्रसाद जी सारी प्रकृति में एक व्यापक जिज्ञासा देखते हैं:—

"महा नील इस परम व्योम में अन्तरिक्ष मे ज्योतिर्मान ।
गृह-नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते है संधान ।"

प्रकृति उनके लिए जड नही है वरन् चेतन का शरीर है । इस प्रकार मनुष्य और प्रकृति एकात्म तत्त्व में मिलकर एकाकार बन जाते हैं । यही अध्यात्मवाद प्राकृतिक रहस्यवाद के रूप में हैं । प्रकृति पर्यवेक्षण पत जी की कविता की विशेषता है उनकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि ने प्रकृति के सूक्ष्म रूप की परख की है । वह उसके वाह्य और आभ्यान्तर दोनो पक्षो से सुपरिचित हैं । प्रकृति का कोई ऐसा गुह्य रहस्य नही है, जिसका प्रत्यक्षीकरण पत जी ने न किया हो । उन्होने शारद हासिनी चन्द्र ज्योत्स्ना को सोती हुई नायिका का रूप दिया है—

"नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद हासिनि
मृदु करतल पर शशि मुख धर नीरव, अनिमिप एकाकिनी ।"

प्रकृति का मानवीकरण करते हुए महादेवी जी ने भी वसन्त रजनी को वधु बनाकर उसको प्राकृतिक अलंकरणों से संवारा है.—

'तारकमय नव वेणी-बन्धन,
शशी फूलकर शशि का नूतन

रश्मि वलय सितघन अवगुण्ठन
मुक्ता हल अविराम बिछा दे
चितवन से अपनी
पुलकती आ वसंत रजनी।"

निराला जी ने कही जूही की कली को कटी शिथिल पत्रांक में सोती हुई नायिका के रूप में देखा है और मलयानिल उसके साथ अठखेलियां करता है:—

"विजन वन वल्लरी पर सोती थी सुहाग भरी,
स्नेह स्वप्न मग्न अमल कोमल तन तरुनी जुही की कली
दृग वन्द किए शिथिल पत्राक मे।"

कही उन्होंने सन्ध्या को सुन्दरी का रूपक दिया है जो आकाश से परी की भांति उतरती हुई प्रतीत होती है।

"दिवस का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है।
वह संन्ध्या सुन्दर परी सी
धीरे धीरे धीरे—

प्रसाद जी ने भी ऊषा को पनघट पर पानी भरने वाली नारी का रूप दिया है।

बीती विभावरी जागरी......
अम्बर पनघट मे डुबा रही, तारा घट उषा नागरी।
खग कुल कल सा बोल रहा, किसलय का अचल डोल रहा॥"

पन्त जी ने अपनी ग्राम श्री कविता में पीली सरसो का बड़ा कलापूर्ण वर्णन किया है :—

"उड़ती भीनी तीलावत गन्ध, फूली सरसों पीली-पीली।
लो हरित धरा से झांक रही, नीलम कलि तीसी पीली॥"

प्रकृति के कोमल रूप का ही वर्णन पंत जी ने अधिक किया है। दिगन्त व्यापी उल्कापात, ववंडर, भूकम्प और समुद्र की उत्ताल तरंगों के वर्णन मे कवि की अन्तः प्रवृत्ति रम ने नही पाई फिर भी अवस्था विशेष में प्रकृति के उग्र रूप का वर्णन किए विना वे न रह सके (परिवर्तन)।

पन्त जी ने अपनी रचनाओ मे पर्वत, झील और सन्ध्या के वड़े सुन्दर वर्णन उपस्थित किये हैं। एक पार्वत्य प्रदेश का वर्णन देखिए:—

"पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश, पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस दृग सुमन फाड़॥
अवलोक रहा है वार वार नीचे जन में निज महाकार।
जिनके चरणों में पला ताल दर्पण सा फैला है विशाल॥"

वास्तव में पन्त जी प्रकृति के सच्चे उपासक है। स्वयं शुक्ल जी ने लिखा है :—"छायावाद के भीतर भरे जाने वाले सब कवियों में प्रकृति के साथ सीधा प्रेम सम्बन्ध पन्त जी का ही दिखाई पड़ता है।"

प्रसाद का प्रकृति निरीक्षण पैना है। उन्होने अप्रस्तुत रूप मे प्रकृति को भव्य रूप दिया है। प्रसाद ने अप्रस्तुत वर्णन में सादृश्य और साधर्म्य दोनो का वर्णन अत्यन्त रोचक किया है उन्होने प्राचीन और नवीन, पौर्वात्य और पाश्चात्य विधियो का सुन्दर समन्वय किया है। उन्होने सन्ध्या का बड़ा सजीव वर्णन किया है :—

"सन्ध्या घन माला की सुन्दर,
ओढे रंग बिरगी छीट।
गगनचुम्बनी शैल श्रेणिया,
पहने हुए तुषार किरीट॥"

प्रसाद जी ने भवभूति की भाँति प्रकृति के सौम्य और विकराल दोनों रूपो का वर्णन किया है। प्रकृति के सौम्य रूपो का वर्णन तो प्रायः सभी प्रकृति प्रेमी कवियो ने किया है। किन्तु विकराल रूप के चित्रणो मे बिरले ही कौशल प्राप्त कर सके हैं। प्रसाद जी मे ऐसे चित्रण बहुत मिलते हैं :—

"उधर गरजती सिन्धु लहरियां, कुटिल काल के जालो सी,
चली आ रही फेन उगलती फन फैलाये व्यालो सी।
धसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निश्वास,
और संकुचित क्रमश' उसके अवयव का होता था ह्रास॥"

प्रसाद जी ने मनु और कामायनी के मिलन के समय का भावानुरूप प्राकृतिक रूप अंकित किया है :—

"सृष्टि हँसने लगी, आँखो मे खिला अनुराग,
राग रजित चन्द्रिका थी उड़ा सुमन पराग।
और हंसता था अतिथि मनु का पकड़कर हाथ,
चले दोनो स्वप्न पथ मे स्नेह सम्बल साथ॥"

प्रसाद जी ने रात्रि का मानवीकरण बड़ा चित्रोपम किया है :—

"पगली हाँ संभाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अचल।
देख बिखरती है मणि राजि अरी उठा वेसुध चचल॥"

प्रसाद जी ने श्रद्धा का जो अलंकृत वर्णन किया है उसमें उपमान प्रकृति से ही लिए हैं :—

'नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा था मृदु अधखुला अग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल मेघ बन बीच गुलाबी रग।"

प्रकृति सुन्दरी के यथा तथ्य रूप का चित्रण करने वाले उत्तमोत्तम कवि श्रीधर पाठक हैं, जिन्होने प्रकृति की नैसर्गिक सुषमा को वधु, का स्वरूप प्रदान किया

है देखिए—

"कांस के फूल दुकूल, खिले अरविन्दन मे मुख सुन्दरताई।
बोलन मत्त मरालन की कल नूपुर केरि करै समताई॥"

उपाध्याय जी की कल्पना तो इस विश्व से ऊपर उठकर क्षितिज के उस पार तक पहुँच जाती है। उन्होंने जिस वस्तु का वर्णन किया है उसका साकार रूप हमारे नेत्रो के समक्ष खड़ा कर दिया है :—

"दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु शिखा पर अब राजती थी
कुमुदिनी कुल, वल्लभ की प्रभा॥"

उन्होने किसी विशेष अलंकार की सहायता के बिना वृन्दावन का वर्णन कर सौन्दर्य सृष्टि की है :—

"हरीतिमा का सुविशाल सिन्धु सा
मनोज्ञता की रमणीय भूमि सा।
विचित्रता का शुभ सिद्ध पीठ सा
प्रशान्त वृन्दावन दर्शनीय था॥"

प्रकृति मे मानवी गुणो का आरोप भी हरिऔध जी ने किया है, कृष्ण के वियोग मे प्रकृति के साथ मनुष्य के सम्पर्क को अधिक स्वाभाविक और सरल बनाया गया :—

"चिन्ता की सी कुटिल उठती अंक मे जो तरंगें
वे थी मानो प्रगट करती भानुजा की व्यथायें।"

यही नही कृष्ण गमन पर यशोदा का विलाप इतना करुण था कि स्वयं रात्रि भी ओस के बहाने चुपचाप आँसू बहा रही थी।

"विकलता लख कर ब्रज देविकी
रजनी भी करती अनुताप थी
निपट नीरव मिस ओस के
नयन से गिरता बहु वारि था॥"

गुप्त जी को प्रकृति वर्णन में अपूर्व सफलता मिली है। उनका "पंचवटी" काव्य अपूर्व प्राकृतिक दृश्यो से भरा पड़ा है। आरम्भ मे ही इतना आकर्षक प्राकृतिक चित्रण करते हैं कि हमारी उत्सुकता बढती जाती है। पंचवटी के वातावरण का दिग्दर्शन भी बहुत ही आकर्षक है। आरम्भ मे ही आप कहते हैं :—

"चारु चन्द्र की चंचल किरणें
खेल रही हैं जल थल में"

इसी प्रकार सीता के वर्णन मे :—

"कुछ कुछ अरुण सुनहली कुछ कुछ
प्राची की अब भूषा थी ।।"

गुप्त जी का यह कथन हमारे नेत्रों के सामने सीता के साथ-साथ ऊषा का साकार रूप उपस्थित कर देता है ।

पंत जी तो प्रकृति से शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं :—

"बन की सूनी डाली पर ।
सीखा कलि ने मुस्काना ।।
पर मैं सीख न पाया अबतक ।
सुख से दुख को अपनाना ।।"

गुरु भक्तसिंह नैपाली, दिनकर आदि ने भी प्रकृति के सुरम्य रूपों का उद्घाटन किया है ।

चित्रात्मक वर्णन के साथ-साथ आधुनिक कवि संवेदनात्मक प्रणाली का भी प्रयोग करते हैं । सवेदनात्मक प्रणाली प्राकृतिक पात्र के सन्देश मानवता तक पहुँचाने में समर्थ है । अतः रामकुमार वर्मा के निम्नलिखित आराकान के वर्णन में शुजा के व्यथित मस्तिष्क की झलक मिलती है :—

"ये शिला खण्ड काले कठोर वर्षा के मेघो के करुण,
दानवता से बैठे, खड़े या कि अपनी भीषणता मे अनूप ।
ये शिलाखण्ड मानो अनेक पापो के फैले हैं समूह,
या नीरसता ने चिर प्रवास के लिए रचा है एक व्यूह ।।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक कवियो के प्रकृति चित्रण का आधार मनोवैज्ञानिक है । इन कवियों ने कल्पना रजित प्रकृति सुन्दरी को मानवीय भावनाओ का परिधान पहनाया जिसके कारण मानव उसकी उपेक्षा न कर उसे अपनी समवयस्यिका समझने लगा । यद्यपि प्रगतिवाद के इस युग मे प्रकृति का स्थान गौण होता जा रहा है । वह "तोड़ती पत्थर" कृषक बाला चमारो के नाच आदि के नग्न चित्रण मे व्यस्त हैं तथापि कवि प्रकृति से पृथक नही है । "करील" 'तार" "सप्तक" "प्रलय" "सजृन" इसके उदाहरण हैं ।

पाँचवा अध्याय

गद्य काव्य का विवेचन (क)

काव्य के भेद

काव्य की परिभाषा पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। यहाँ दृश्य काव्य का विवेचन करने से पूर्व काव्य के विभाजन पर एक विहंगम दृष्टि डालना अनुपयुक्त न होगा। काव्य के दो भेद माने गये हैं—एक दृश्य और दूसरा श्रव्य। दृश्य काव्य को रूपक या नाटक कहते हैं। रूपक के दस भेद माने गए हैं।

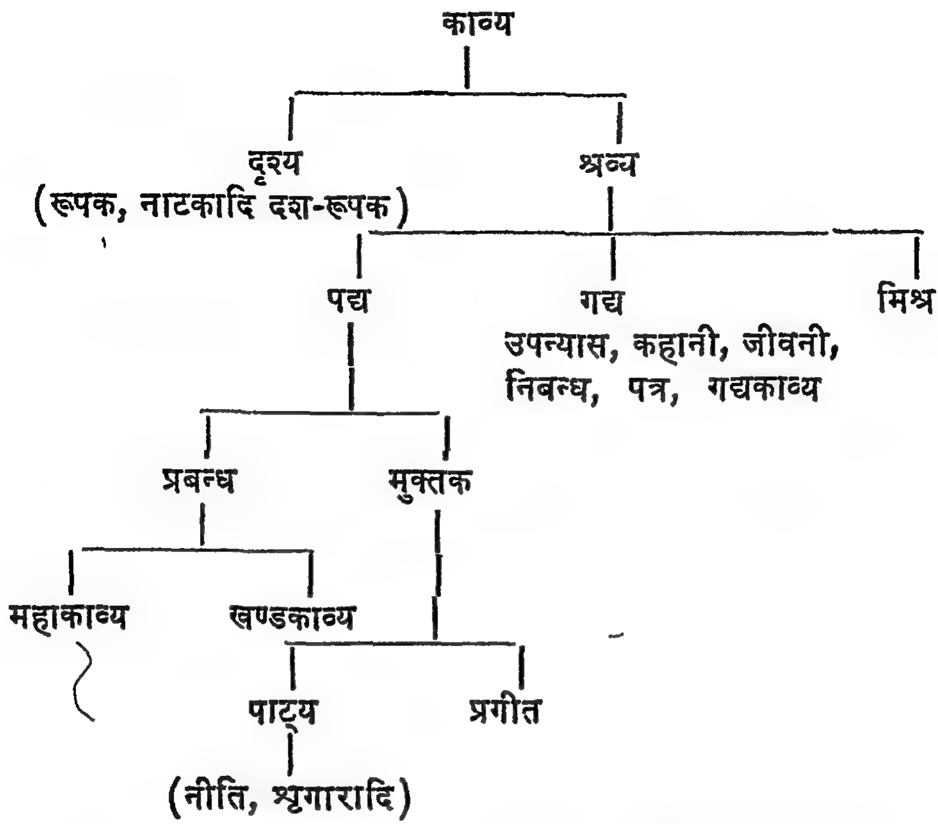
आकार के आधार पर श्रव्य-काव्य के तीन विभाग किए गये हैं—गद्य, पद्य और मिश्र। गद्य की अपेक्षा पद्य मे सगीत और आकार सम्बन्धी भेद में अभेद की मात्रा अधिक रहती है। आज पद्य में नियम और नाप-तोल का विशेष मान नहीं रहा। छन्द लय के ढाचे मात्र हैं। पन्त जी तथा निराला जी ने छन्द के विना भी लय की साधना की है। गद्य की अपेक्षा पद्य मे भाव का बाहुल्य अधिक रहता है। गद्य का सम्बन्ध गद् धातु से माना है, यह नित्य व्यवहार की स्वाभाविक भाषा है। पद्य का सम्बन्ध पद से होने के कारण उसमे नृत्त की सी गति होती है और उसमे भाव की गति और शक्ति का भी समावेश होता है।

बन्ध की दृष्टि से काव्य के दो भेद किए गए हैं—एक प्रबन्ध काव्य और दूसरा मुक्तक काव्य। प्रबन्ध काव्य मे तारतम्य रहता है, मुक्तक काव्य उससे मुक्त होता है। मुक्तक का प्रत्येक छन्द स्वतः पूर्ण होता है। प्रबन्ध के भी दो भेद किये गए हैं—महाकाव्य और खण्डकाव्य। महाकाव्य का आकार विशाल होता है तथा इसमे उदात्त भावनाओ की प्रधानता रहती है। बाल्मीकि रामायण, रघुवंश, कामायनी आदि सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य हैं। खण्डकाव्य जीवन की किसी एक घटना के आधार पर लिखा जाता है। कालीदास का मेघदूत, गुप्त जी का अनघ और जयद्रथ-वध, रामनरेश त्रिपाठी के "स्वप्न और मिलन" खण्डकाव्य के अच्छे उदाहरण हैं।

मुक्तक मे स्फुट कवितायें होती हैं। मुक्तक के दो भेद हैं—पाठ्य और प्रगीत। बिहारी के दोहे, निराला जी की "तुम और मैं" शीर्षक कविता पाठ्य के अन्तर्गत आयेंगी। सूर के पद, महादेवी, पन्त, प्रसाद, निराला के गीत प्रगीत काव्य की कोटि मे आयेंगे।

वैयक्तिक तत्व की दृष्टि से गद्य के विभागो को इस प्रकार श्रेणीबद्ध किया जा सकता है—उपन्यास, कहानी, जीवनी, निबन्ध, पत्र, गद्यकाव्य। ये सब रूप गद्यकाव्य के तो हैं ही, किन्तु गद्यकाव्य के नाम की विधा विशेष रूप से गद्यकाव्य है।

निम्नलिखित चक्र से काव्य का विभाजन और भी स्पष्ट हो जायेगा—



इस अध्याय मे हम काव्य के इन भेदों पर पृथक-पृथक रूप से विचार करेंगे।

दृश्य काव्य (नाटक)

महत्व:—साहित्य का क्षत्र बड़ा व्यापक है। उसके अन्तर्गत गद्य, पद्य, नाटक, उपन्यास, चम्पू तथा साहित्य सम्बन्धी समालोचनाएँ सब कुछ आ जाती हैं। अतः नाटक साहित्य के प्रधान अंगों में से है। उसमे जीवन का शुद्ध प्रतिविम्ब निहित है। वास्तव मे नाटक मे जीवन की अवस्थाओ का ही अनुकरण होता है। संस्कृत के विद्वानों ने "अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते" कह कर नाटक तथा उसी के दूसरे नाम रूपक की परिभाषा की है। जो काव्य अभिनीत होकर देखा जाय उसे दृश्य-काव्य कहते हैं। दृश्य-काव्य मे नेत्र तथा श्रवण दोनों इन्द्रियों का कार्य रहता है। परन्तु श्रव्य-काव्य केवल कानो से ही सुना जाता है। साहित्य के अन्य अंगो की अपेक्षा नाटक में प्रभावोत्पादक शक्ति अधिक होती है क्योकि अमूर्त से मूर्त का प्रभाव अधिक व्यापक तथा प्रभावशाली होता है। नाटककार जिन भावों को भाषा मे व्यक्त करने मे असमर्थ रहता है, वह नटो या अभिनेताओ की भावभंगी से स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए कहा गया है—"काव्येषु नाटकं रम्यम्"। नाटक जनता के अधिक निकट है। दृश्य-काव्य का आनन्द जनसाधारण भी ले सकते हैं। इसलिए उसे पाँचवा वेद कहा गया है क्योकि इसमें शूद्र अर्थात् अल्पबुद्धि के लोगों का भी अधिकार माना गया है—

"न वेद व्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात् सृजापरंवेदं पञ्चमं सर्ववार्णिकम्॥ —नाट्यशास्त्र

नाटक केवल निम्नकोटि के मनुष्यो की ही वस्तु नही है अपितु इसमें लोकहित तथा लोकरञ्जन की क्षमता भी विपुल रूप मे रहती है। नाटक का आस्वादन एकान्त मे नही किया जा सकता। अतः इसमे सामाजिकता अधिक है। शास्त्रो और कलाओ की दृष्टि से भी नाटक का महत्व अनुपमेय है। स्थापत्य कला, (इमारत बनाने की कला), मूर्तिकला, चित्रकला, सगीतकला, नृत्यकला, काव्य, इतिहास, समाज-शास्त्र, वेश-भूषा की सजावट, वस्त्रो का रंगना आदि सभी शास्त्रो तथा कलाओ का समावेश नाटक मे सहज ही हो जाता है। भरतमुनि ने ठीक ही लिखा है—

"न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्वं शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च॥"

अर्थात् "भोग, कर्म, सारे शास्त्र और विविध कार्यों में कोई ऐसा नहीं है जो नाटक में न पाया जाय।" नाटक की सर्वप्रिय विशेषता यह है कि इसमें जीते-जागते साधनो द्वारा वास्तविकता का अनुकरण किया जाता है। नाटक की घटनाएँ वर्णित न होकर घटित होती हैं। नाटक मे काव्य की भावुकता तथा रग-बिरगे दृश्य-विधानो का समावेश होने के साथ-साथ पात्रो की क्रियाशील सजीवता का भी सुन्दर योग होता है इसलिए नाटक मे सुन्दरता अधिक आ जाती है।

नाटक के द्वारा ही श्रमिक उच्चवर्ग के जीवन से परिचित हो जाता है और उच्चवर्ग श्रमिक के जीवन से परिचय प्राप्त करने में समर्थ होता है क्योकि नाटक मे भिन्न २ श्रेणी और अवस्था के मनुष्यो का अनुकरण रहता है।

नाटक की मूलभूत मानसिक प्रवृत्तियाँ:— नाटक में मानवमात्र के कल्याण की भावना रहती है। मानव मे अनुकरण की प्रवृत्ति जन्मजात होती है। मनुष्य मे अनुकरण की प्रवृत्ति इसलिए होती है कि वह अपनी आत्मा का विस्तार देखना चाहता है। आत्मा के विस्तार से मनुष्य को एक प्रकार का सुख प्राप्त होता है। किसी भी मनुष्य का जीवन पूर्ण नही कहा जा सकता वह दूसरे के जीवन से पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास करता है। नाटक मे जीवन की पूर्णता अभिनेता तथा दर्शक दोनो को ही होती है। नाटक देखने मे वही आनन्द आता है जो इतिहास के अध्ययन मे आता है क्योंकि इसमें भिन्न २ श्रेणी और अवस्था के मनुष्यो का अनुकरण रहता है।

मानव को सभी अवस्थाएँ एक साथ प्राप्त नही हो सकती। पात्रों को अनुकरण मे तथा दर्शको को नाटक देखने मे अपने भावों को प्रकाश मे लाने का सुअवसर प्राप्त हो जाता है। अतः नाटक की चार मूल मनोवृत्तियाँ मानी गई हैं:—

(१) अनुकरण।
(२) पारस्परिक परिचय द्वारा आत्मा का विस्तार।
(३) जाति की रक्षा।
(४) आत्माभिव्यक्ति।

इनमें अनुकरण की प्रवृत्ति को प्रथम स्थान दिया गया है। अरस्तू ने कला को जीवन की अनुकृति माना है। कला का यह लक्षण नाटक पर पूर्ण रूप से घटित होता है। भारतीय विद्वानों ने ही नहीं, बल्कि पाश्चात्य विद्वानों ने भी नाटक मे अनुकरण को प्रधानता देते हुए उसे जीवन का शुद्ध प्रतिबिम्ब माना है। पाश्चात्य विद्वान निकल ने अपने *Theory of Drama* मे नाटक की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

"Drama is a copy of life, a mirror of custom, a reflection of truth."

यही अनुकरण जब कलात्मक रूप धारण कर लेता है तब हमारे समक्ष अभिनय के नाम से आता है। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में दो स्थलों पर नाटक की परिभाषा दी है वे लिखते हैं:—

"यस्मात्स्वभावं संहृत्य साङ्गोपाङ्ग गतिक्रमैः।
अभिनीयते गम्यते च तस्माद्वै नाटकं स्मृतम्॥"

(नाट्यशास्त्र इक्कीसवें-अध्याय से)

"क्योंकि इसमें सब अंगों, उपाङ्गों और गतियों को क्रम से व्यवस्थित करके उसका अभिनय किया जाता है अर्थात् दर्शकों तक पहुँचाया जाता है इसलिए इसे नाटक कहते हैं।"

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय मे नाटक की पूर्ण व्याख्या की है:—

"मृदुललित पदार्थं गूढशब्दार्थहीनं।
बुधजन सुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यमं॥
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षयकाणाम्॥"

(जो कोमल ललित पद और अर्थ से युक्त हो, गूढ शब्दार्थ हों, जो विद्वानों को सुख प्रदान करने वाला हो, बुद्धिमान जिसका अभिनय कर सकें, अनेक रसो के लिए स्थान हो, सब सन्धियो के जोड़ ठीक हो वही प्रदर्शनो के लिए श्रेष्ठ नाटक होता है।)

अभिनव भरत ने नाटक की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

"किसी प्रसिद्ध या कल्पित कथा के आधार पर नाट्यकार द्वारा रचित रचना के अनुसार नाट्य प्रभोक्ता द्वारा सिखाये हुए नट जब जनता के सम्मुख अभिनय, संवाद तथा संगीतादि के द्वारा प्रेक्षकों के मन में रस उत्पन्न करके उनका मनोविनोद करते हैं तथा उस विनोद से उपदेश और मनःशान्ति प्राप्त करते हैं तब वह सम्पूर्ण प्रयोग ही नाटक या रूपक कहलाता है।"

नाटक के तत्व

यहाँ हम नाटक के पाश्चात्य एव पौर्वात्य दोनो प्रकार के तत्वो का विश्लेषण कर उसमे साम्य तथा अन्तर देखने का प्रयत्न करेगे। पाश्चात्य नाटको मे कुछ ऐसी बातें हैं जो पूर्व और पश्चिम के नाटको मे मौलिक अन्तर उपस्थित करती हैं। उदाहरणार्थ भारतवर्ष मे नाटको का उद्देश्य रस निष्पत्ति अर्थात् आनन्द माना गया है। हमारे यहाँ नाटक अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का विधायक माना गया है। नाटककार इनमें से किसी को भी अपना उद्देश्य बना सकता है। भारतवर्ष की संस्कृति आध्यात्मिक रही है। इसीलिए दुःखान्त नाटक भारतीय सस्कृति के विरुद्ध माने गए हैं। फलत. भारतीय नाटको की कथावस्तु का विकास भारतीय सस्कृति के अनुकूल हुआ है। पाश्चात्य नाटक घटना प्रधान होते हैं इसलिए उनकी कथावस्तु की प्रगति बिल्कुल दूसरे ढग से हुई है। वास्तव में पाश्चात्य एवं पौर्वात्य नाट्यकला मे यही मौलिक अन्तर है कि पाश्चात्य नाट्यकला घटना और उसके विकास पर आधारित है और भारतीय नाट्यकला उद्देश्य एव उसकी प्राप्ति पर।

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक के चार तत्व माने गए हैं:—(१) वस्तु, (२) पात्र, (३) रस, (४) अभिनय। वृत्ति को भी पाँच तत्व कह सकते हैं। ये एक प्रकार की क्रिया शैलियाँ हैं, जो अभिनय के अन्तर्गत आ जाती हैं।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनुकुल नाटक के छः तत्व माने गए हैं—

(१) कथावस्तु, (२) पात्र, (३) कथोपकथन, (४) देश काल, (५) उद्देश्य, (६) शैली।

वस्तु—नाटक की रचना जिस कथानक या आख्यान को लेकर लिखी गई है उसे वस्तु कहते हैं। अग्रेजी मे इसी को प्लॉट (Plot) कहा जाता है। वस्तु दो प्रकार की होती है—(१) अधिकारिक अर्थात् मुख्य और (२) प्रासगिक या गौण। अधिकारिक कथावस्तु मे कथा का मुख्य उद्देश्य निहित रहता है। इसका सम्बन्ध केवल नायक से रहता है। अधिकारिक कथा का सूत्र प्रारम्भ से फल-प्राप्ति तक रहता है। प्रासगिक कथावस्तु का सम्बन्ध नायक और नायिका के अतिरिक्त अन्य पात्रों से होता है। प्रासगिक कथावस्तु के तीन उद्देश्य होते हैं:—

(१) अधिकारिक कथावस्तु की सौदर्य-वृद्धि करना।

(२) मूल कार्य या व्यापार के विकास मे सहायता देना।

(३) नाटक की फल प्राप्ति मे सहायक होना। अत. प्रधान वस्तु के साधक इतिवृत्त को प्रासगिक वस्तु कहते हैं। जैसे रामायण में रामचन्द्रजी का चरित्र अधिकारिक वस्तु और सुग्रीव का चरित्र प्रासगिक वस्तु है। इसी प्रकार श्री राधाकृष्णदास जी के नाटक "महाराणा प्रताप" मे गुलाबसिंह और मालती की कथा प्रासंगिक कथा है। गुलाबसिंह का उद्देश्य मालती को प्राप्त करना है। इसमें उसे सफलता मिलती

है। वह महाराणा प्रताप का अनुचर है। प्रासंगिक कथावस्तु के दो भेद होते हैं—(१) पताका, (२) प्रकरी।

(१) पताका—जब कथावस्तु सानुबन्ध होती है अर्थात् अधिकारिक कथा के साथ अन्त तक चलती है तब उसे पताका कहते हैं।

(२) प्रकरी—जब प्रासगिक कथावस्तु थोड़े काल तक चल कर रुक जाती है या समाप्त हो जाती है तब उसे प्रकरी कहते हैं। जैसे शकुन्तला नाटक के छटे अंक मे दास और दासी की बातचीत है।

भारतीय नाटकों में कथा की ऐतिहासिकता के आधार पर इसके तीन भेद किये गए हैं—(१) प्रख्यात, (२) उत्पाद्य, (३) मिश्र।

(१) प्रख्यात—वह कथा जो इतिहास, पुराण या लोक प्रसिद्ध हो।

(२) उत्पाद्य—जो कथा लेखक की कल्पना प्रसूत हो।

(३) मिश्र—जहाँ कल्पना और ऐतिहासिकता का मिश्रण हो। इसमे कल्पना के लिए कवि को पर्याप्त स्थान होता है, किन्तु वह एक निर्दिष्ट सीमा का अतिक्रमण नही कर सकता। वह इतिहास की मूल बातो मे परिवर्तन नही कर सकता। कथा को रोचक बनाने के लिए वह प्रासगिक बातो में परिवर्तन कर सकता है। किन्तु नाटककार सूरदास को औरङ्गजेब का समकालीन नही वना सकता।

नाटककार अपने भाव को ठीक रूप से व्यक्त करने के लिए तथा अपने नायक को दोष से मुक्त करने के लिए कल्पना का प्रयोग कर सकता है। जैसे—महाभारत मे दुष्यन्त ने शकुन्तला का परित्याग लोकापवाद के भय से किया था किंतु कालिदास ने अपने विशेष नायक को दोष से मुक्त करने के लिए दुर्वासा के शाप तथा अगूठी के खो जाने की कल्पना कर डाली।

अवस्थाएँ—भारतीय नाटक का उद्देश्य निश्चित होता है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष मे से किसी एक फल की प्राप्ति उसे अभीष्ट है। इसलिए कथावस्तु का विकास भी उस फल की प्राप्ति की सभावना, प्राप्ति मे कठिनाई, प्राप्ति की आशा आदि के अनुसार होता है। भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार कार्य व्यापार की निम्नांकित अवस्थाएँ मानी गई हैं:—

(१) प्रारम्भ—प्रारम्भ नाम की अवस्था मे किसी फल की इच्छा होती है। जैसे—दुष्यन्त को शकुन्तला देखने की इच्छा। यह कथा का प्रारम्भ है।

(२) प्रयत्न—उस फल की प्राप्ति के लिए जो व्यापार होता है वह प्रयत्न कहलाता है। यथा—दुष्यन्त का अपने मित्र माधव से शकुन्तला के विषय में परामर्श करना।

(३) प्राप्त्याशा—आगे चलकर उस फल की प्राप्ति की आशा होने लगती है, जिसे प्राप्त्याशा कहते हैं। यथा—"शकुन्तला नाटक" मे विघ्न उपस्थित करने वाले दुर्वासा के शाप की शान्ति होने पर प्राप्त्याशा आरम्भ होती है पूर्ण आशा नही।

(४) नियताप्ति—इसके पश्चात् विघ्नो का नाश हो जाता है और फल क प्राप्ति निश्चित हो जाती है। जिसे नियताप्ति कहते हैं। जैसे—अंगूठी मिलने प शकुन्तला के मिलने की आशा।

(५) फलागम—फलागम नाम की अवस्था में फल की प्राप्ति हो जाती है जैसे—दुष्यन्त और शकुन्तला का मिलन।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र मे संघर्ष को प्रधानता दी गई है। अतः उनके यह भी उनके अनुकूल पाँच अवस्थायें मानी गई हैं।

(१) आरम्भ—इसमे विरोध उत्पन्न करने वाली कुछ घटनाएँ होती हैं।

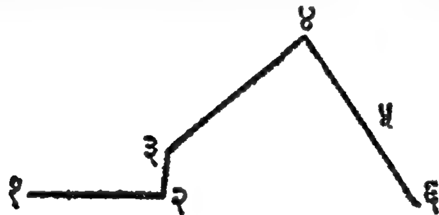
(२) विकास—जिसमे विरोध और झगडे बढते है।

(३) चरमसीमा—जहाँ से किसी एक पक्ष की विजय का आरम्भ होत है।

(४) उतार या निगति—जिसमें विजयी दल की विजय निश्चित हो जात है।

(५) अन्त या समाप्ति—जिसमे उस विरोध या झगडे का अन्त हो जात है।

(६) कैटेस्ट्रोफी—यह अन्तिम अवस्था है जिसमे कार्य हो जाता है। यह अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। परन्तु अधिकतर यह फल बुरा ही होत है। नाटक के उतार चढाव को इस प्रकार इंगित किया जा सकता है।



भारतीय नाटक की अवस्थाओ का साकेतिक निरूपण इस प्रकार है—



(१) एक से प्रारम्भ होकर (२) दूसरी मे प्रयत्न शुरू होता है। फि कोई विघ्न उपस्थित हो जाता है। गिरी हुई रेखा विघ्न की द्योतक है। (३) प्राप्त्याशा में विघ्न समाप्त होने की आशा हो जाती है। (४) नियताप्ति मे फ का निश्चय हो जाता है। (५) फलागम मे फल की प्राप्ति हो जाती है।

अर्थ प्रकृतियाँ—कथावस्तु के वे चमत्कारपूर्ण अग जो कथानक को प्रधान फल की प्राप्ति की ओर अग्रसर करते है अर्थ प्रकृति कहलाते हैं। दश रूपंक के टीकाकार धनिक ने अर्थ प्रकृतियो को "प्रयोजन सिद्धि हेतवः कहा है। यह भी पांच

हैं:—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य।

बीज इसमें नाटक के फल की सम्भावना रहती है। यह प्रारम्भ नाम की अवस्था से प्राप्त होती है।

बिन्दु वह है जो निमित्त बनकर समाप्त होने वाली अवांतर कथा को आगे बढ़ाती है और प्रधान कथा को अविच्छिन्न रखती है।

पताका और प्रकरी इनमे ऐसी छोटी छोटी कथाएँ होती हैं जो मूल कथा को बढ़ाने में सहायक होती है। जब प्रासांगिक कथावस्तु बराबर चलती रहती है तब उसे पताका कहते हैं और जब वह थोड़े काल तक चलकर रुक जाती है तब उसे प्रकरी कहते हैं। जैसे शकुन्तला नाटक के छटे अंक मे दास और दासी की बातचीत है। प्रासागिक वस्तु मे चमत्कारपूर्ण धारावाहिकता लाने के लिए "पताका-स्थापक" का प्रयोग किया जाता है। कार्य से अभिप्राय उस घटना से है जिसकी सिद्धि के लिए सब सामग्री इकट्ठी की गई है।

इस प्रकार इन पांचो बातों का वस्तु विन्यास से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

संधि—सधि मेल या जोड़ को कहते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास जी संधि की व्याख्या करते हुए लिखते है—"कथात्मक पूर्वोक्त पांच अवस्थाओं के योग से अर्थ प्रकृतियों के रूप में विस्तारी कथानक के पाँच अश हो जाते हैं। एक ही प्रधान प्रयोजन के साधक उन कथानकों का मध्यवर्ती किसी एक प्रयोजन के साथ सम्बन्ध होने को सन्धि कहते हैं।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अर्थ प्रकृति और अवस्थाओं के मेल को सन्धि कहते है। इसके पांच भेद है—

(१) मुख सन्धि, (२) प्रतिमुख सन्धि, (३) गर्भ सन्धि (४) विमर्श सन्धि, (५) निर्वहण सन्धि।

(१) प्रारम्भ नाम की अवस्था के साथ योग होने से जहाँ अनेक अर्थों और रूपों के व्यंजक बीज (अर्थ प्रकृति) की उत्पत्ति हो वह 'मुख सन्धि' है। हम पहले लिख चुके है कि व्यापार शृखला मे प्रारम्भ उस अवस्था का नाम है जिसमे किसी फल की इच्छा होती है और बीज उस अर्थ प्रकृति को कहते है जिसमे मुख्य प्रयोजन की सिद्धि के लिए सकेत रूप से स्वार्थ निर्दिष्ट कथा भाग क्रमशः विस्तृत होता है। इसी प्रकार 'मुख सन्धि मे ये दोनो बातें अर्थात् प्रारम्भ अवस्था और बीज-अर्थ-प्रकृति का सयोग होकर अनेक अर्थ और रस व्यजित होते हैं।

(२) प्रतिमुख सधि उसे कहते हैं जहाँ नाटकीय प्रधान फल का साधक इतिवृत्त कभी गुप्त और कभी स्पष्ट हो। जैसे "रत्नावली" में उदयन और सागरिका के समागम के हेतु इन दोनो के पारस्परिक प्रेम को, जो प्रथम अंक में सूचित कर दिया गया था सुसगता और विदूषक ने जान लिया। यह तो उसका लक्ष्य होना हुआ। फिर वासवदत्ता चित्र वाली घटना से उसका केवल अनुमान करती है, इससे उसे कुछ अलक्ष्य भी कह सकते हैं। प्रतिमुख सधि "प्रयत्न" अवस्था और "बिन्दु" अर्थ

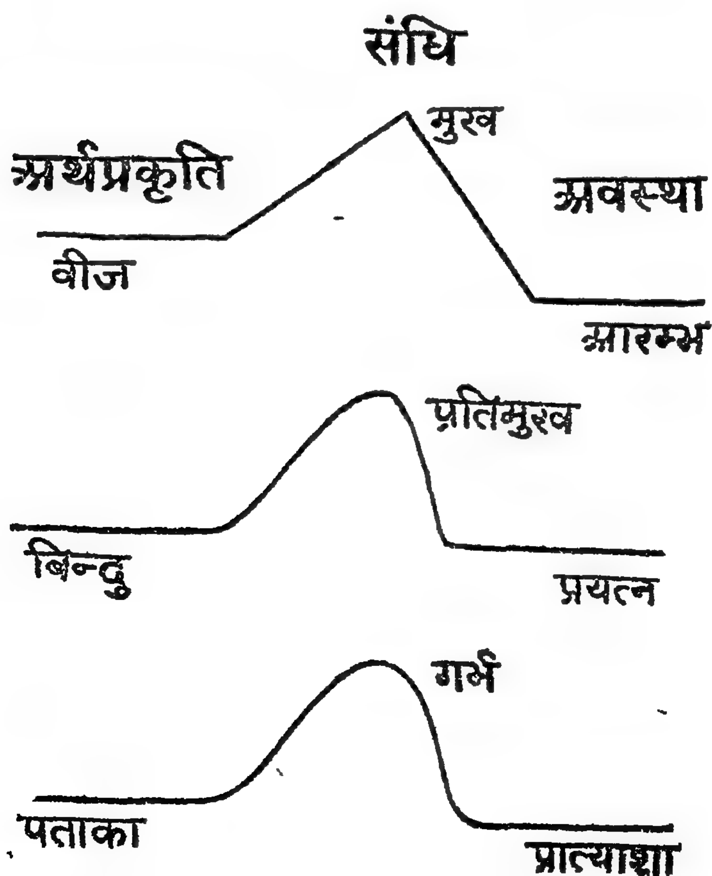
प्रकृति के समान शृँखला को आगे बढाती है। प्रयत्न अवस्था मे फल प्राप्ति के लिए शीघ्रता से प्रयास होता है, बिन्दु अर्थ प्रकृति मे कथा अविच्छिन्न रहकर आगे बढती है तथा प्रतिमुख सधि मे मुख सधि मे दिये हुए प्रधान फल का किंचित्‌मात्र विकास होता है।

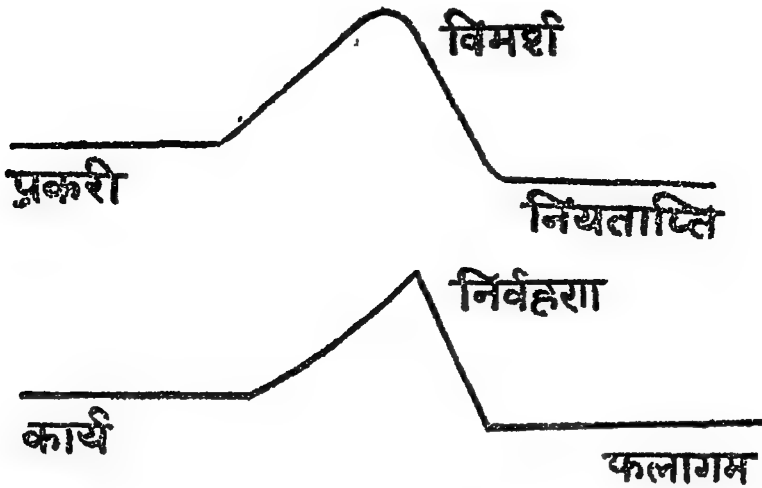
(३) गर्भ सधि मे प्रतिमुख सधि मे किंचित् प्रकाशित हुए बीज का बार-बार आविर्भाव तथा तिरोभाव तथा अन्वेषण होता है। इस सधि मे प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थ प्रकृति रहती है। यदि इस सधि मे पताका अर्थ प्रकृति न हो तो प्राप्त्याशा अवस्था भी उत्पन्न नही हो सकती।

(४) अवमर्ष या विमर्श सधि तब होती है जब गर्भ सधि की अपेक्षा बीज का अधिक विस्तार होने पर उसके फलोन्मुख होने मे शाप, क्रोध विपत्ति या प्रलोभन के कारण विघ्न उपस्थित होता है। इसमे नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थ-प्रकृति होती है।

(५) निर्वहण सधि मे वर्णित चारो सधियो मे यथास्थान कथित अर्थों का प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिए समाहार हो जाता है, और मुख्य फल की प्राप्ति भी हो जाती है। इसमे फलागम अवस्था और कार्य अर्थ प्रकृति आती है।

संधियो का चित्र इस प्रकार दिया जा सकता है :—





यद्यपि इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न विचारों से किया जाता है और तीनो के पाँच-पाँच भेद होते हैं तथापि वे एक दूसरे के सहायक तथा अनुकूल होते हैं। अतः उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि **"अर्थ प्रकृतियाँ के वस्तु तत्वों से अवस्थाएँ कार्य व्यापार से और संधियाँ रूपक रचना के विभागों से सम्बन्ध रखती हैं।"** (डा० श्यामसुन्दरदास) तीनों ही बातें एक ही अर्थ की सिद्धि करती हैं। परन्तु तीनों के नामकरण और विवेचन तीन दृष्टियो से किये गये हैं। एक मे कार्य का, दूसरे में वस्तु का और तीसरे में नाटक रचना का ध्यान रक्खा गया है। नाट्य शास्त्र में अवस्था, अर्थ प्रकृति तथा सधि का वही स्थान है जो साहित्य में काव्यागो का है। इनके प्रयोग से नाटक को केवल पूर्णता ही प्राप्त नही होती अपितु रोचकता भी बढ़ जाती है। इन नियमो का पालन करने से रंगमंच तथा नाटक दोनो पूर्णता को प्राप्त करते हैं।

अर्थोपक्षेपक—कथावस्तु मे दो प्रकार की सामग्री होती है :—

(१) दृश्यकाव्य—वह जो मच पर घटित दिखाई जाती है।

(२) सूच्य—जिसकी सूचना मात्र पात्रों को दी जाती है।

हमारे यहाँ मृत्यु, राष्ट्रविप्लव, स्नान, भोजन आदि के दृश्य रंगमंच पर दिखाने वर्जित हैं। इस प्रकार के दृश्य विधान से रस मे बाधा पडती है। ऐसे दृश्यों को विरोधक कहते हैं। कुछ दृश्य ऐसे होते हैं जो अभिनीत नही होते किन्तु कथा की शृँखला बनाये रखने के लिए उनका होना आवश्यक है। जो कथानक रंगमंच पर दिखाई जाती है वह अंको और दृश्यों मे विभक्त की जाती है।

अर्थोपक्षेपक सूच्य वस्तु की सूचना देने वाले साधन हैं। ये पाँच होते हैं—

विष्कम्भक—यह वह दृश्य है जिसमे प्रथम तथा बाद मे घटित होने वाली घटनाओं की सूचना दी जाती है। यह एक प्रकार से दो पात्रो का कथोपकथन होता है। ये पात्र प्रधान पात्रो के अतिरिक्त होते हैं। यह नाटक के अथवा आरम्भ में दो अंकों के मध्य में आ सकता है। यह दो प्रकार का होता है (१) शुद्ध और दूसरा

संकर। शुद्ध वह कहलाता है जिसमें पात्र संस्कृत भाषी होते हैं तथा उत्तम श्रेणी के होते हैं। संकर मे पात्र मध्यम श्रेणी के होते हैं तथा संस्कृत के साथ प्राकृत बोलते हैं।

आधुनिक युग मे ऊँच-नीच का भेद समाप्त हो गया है। अत. यह विभाजन निरर्थक है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका महत्व कुछ अवश्य है।

(२) चूलिका :—कथानक का वह भाग जिसकी सूचना पर्दे के पीछे से दी जाती है उसे चूलिका कहते हैं।

(३) अङ्कास्य :—अंक के अन्त मे जहाँ बाहर जाने वाले पात्रो द्वारा अगामी अंक की कथा सूचित की जाय उसे अंकास्य कहते हैं।

(४) अङ्कावतार :—जहाँ पात्रों में परिवर्तन किये बिना पहले अंक की ही कथा आगे बढाई जाय वहाँ अंकावतार होता है। पात्र वे ही रहते हैं। पहले अंक के पात्र बाहर आकर फिर वापिस आ जाते हैं।

"मालविकाग्निमित्र" के प्रथम अंक के राजा, योगिनी, आदि पात्र दूसरे अंक में ही रहते हैं।

(५) प्रवेशक :—घटनाओं की सूचना प्रवेशक के द्वारा दी जाती है। यह दो अंको के बीच मे आता है। इसके पात्र नीची श्रेणी के होते हैं तथा प्राकृत बोलते हैं। "शकुन्तला नाटक" में सिपाही और मछली बेचने वाले की बातचीत प्रवेशक का उदाहरण है।

नाटक मे चूलिका, विष्कम्भक आदि से घटनाओ का विवरण दिया जाता है।

२—कथोपकथन :—भारतीय नाट्यशास्त्र मे कथोपकथन को कथावस्तु का एक भाग माना गया है क्योंकि नाटक की कथावस्तु कथोपकथन अथवा संवाद के रूप में ही प्रकाश में आती है। कथोपकथन दर्शकों के लिए तो श्राव्य हैं ही किन्तु कुछ बातें ऐसी हैं जिनके सुनने से कुछ पात्र वंचित रहते हैं, इस आधार पर कथोपकथन को तीन भागो मे विभाजित किया गया है—

१—श्राव्य, २—अश्राव्य, ३—नियत श्राव्य।

(१) श्राव्य या सर्वश्राव्य :—जो सबके लिए हो। इसे प्रकट या प्रकाश भी कहते हैं।

(२) अश्राव्य :—जो अन्य पात्रों के सुनने के लिए न हो। इसी को सस्वर विचार या Loud thinking भी कहा जाता है। आजकल इसका प्रयोग स्वाभाविकता के विरुद्ध समझा गया है और इसे निकालने का भी प्रयत्न किया गया है। परन्तु कही-कही इसके प्रयोग से स्वाभाविकता की वृद्धि हो जाती है। भावावेश मे पात्र स्वगत बोलने लगता है। परन्तु यह अधिक लम्बा न होना चाहिए। आजकल नाटककार स्वगत के स्थान पर एक विश्वासपात्र की मंच पर सृष्टि करता है। जिस के समक्ष पात्र अपने मनोगत भावों को व्यक्त करता है। इस प्रकार श्राव्य विश्लेषण

अच्छा हो जाता है।

(३) नियत श्राव्य :—जो कुछ निश्चित पात्रों के सुनने के लिए होता है। इसके दो प्रकार हैं—एक अपवारित और दूसरा जनान्तिक। अपवारित उसे कहते हैं, जिसमें जिस पात्र से बात गोपनीय रखनी हो उसकी ओर से मुँह फेर कर बात की जाती है। जनान्तिक में तीन अँगुली को मुँह पर रखकर उसकी ओर से एक या दो पात्रो को छोड़कर अन्य पात्रों से वार्तालाप किया जाता है।

आकाश भाषित भी कथोपकथन का ही एक भेद है। इसमें पात्र आकाश की ओर मुख करके किसी कल्पित पात्र से बोलता हुआ दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'विषस्य विषमौषधम्' आकाश भाषित मे ही है।

पाश्चात्य नाटको मे घटनाओ को अत्याधिक महत्व दिया गया है। उनके यहाँ यह अनिवार्य नही है कि नायक धर्म का ही प्रतिनिधि हो और सदैव ही उसकी विजय निश्चित हो। पाश्चात्य नाटकों मे जो नायक पराजय या मृत्यु के साथ समाप्त होता है उसे 'ट्रेजडी' और जो विजय के साथ समाप्त होता है उसे "कौमेडी" कहते हैं।

पात्र:—पाश्चात्य नाट्यशास्त्र मे नायक कोई भी व्यक्ति हो सकता है। चाहे वह साधारण व्यक्ति हो और चाहे असाधारण। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य नाटकों के नायक परिस्थितियो के चक्र मे फँसे रहते हैं। हमारे यहाँ के नाटक सुखान्त होते हैं। इसलिए नायक की विजय दिखाना अनिवार्य है। विजय जिस नायक के लिए आवश्यक हो वह असाधारण एवं प्रतापी तो होगा ही। नायक प्रधान पात्र को कहते हैं। नायक या नेता शब्द 'नी' धातु से बना है जिसका अर्थ है ले चलना। अतः नायक वह है जो नाटकीय कथा की शृंखला को अग्रसर करता हुआ अन्त तक ले चलता है।

हमारे यहाँ के नाटको मे नायक को सम्पूर्ण उच्च एव उदार गुणो से सम्पन्न होना आवश्यक माना गया है। धनंजय के अनुसार नायक मे निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है—

"नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंश स्थिरो युवा॥
वुद्ध युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकला मानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥"

अर्थात् नेता को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, शुचि, रक्तलोक, रूढ़वश, स्थिर चित्तवाला, युवा, बुद्धिमान, साहसी, स्मृतिवाला, प्रज्ञावान, कलाकार, शास्त्रचक्षु, आत्मसम्मानी, शूर, दृढ, तेजस्वी तथा धार्मिक होना चाहिए।

हमारे यहाँ नायक को नम्र होना आवश्यक माना गया है परन्तु उसकी नम्रता दौर्बल्य का नही बल्कि उच्च संस्कृति और शील का लक्षण माना गया है। हमारे

नायक को उदार चरित वाला इसलिए दिखलाया जाता है जिससे जनता के नैतिक विचार उन्नत हो तथा वह सुसस्कृत हो। जनता लोक प्रतिष्ठित नायक की ओर सहज में ही आकृष्ट हो जाती है। पाश्चात्य तथा भारतीय दृष्टिकोण मे एक अन्तर यह भी है कि हमारे यहाँ स्वभाव भेद से नायक चार प्रकार के माने गये हैं—

(१) धीरोदात्त, (२) धीरललित, (३) धीरप्रशान्त, (४) धीरोद्धत।

हमारे यहाँ के नाटको मे नायक को श्रेष्ठ गुणो से सम्पन्न होना वाछनीय है। इसलिए ये सभी नायक धीर होते हैं। धीर नायक ही वीर हो सकता है। श्री रामचन्द्र जी धीरता के आदर्श थे ही—

"प्रसन्नता या न गताभिषेकतस्तया न मम्लौ वनवासदु.खित.।
मुखाम्वुज श्री रघुनन्दस्यमेथसदाऽस्तुसामजुल मगलप्रदा॥"

अर्थात् "श्रीरामचन्द्र जी के मुख रूपी कमल की शोभा जो राज्याभिषेक मे न प्रसन्नता को प्राप्त हुई और न वनवास के दुःख से मलिन हुई सदा मेरे लि मंगल देने वाली हो।"

१—धीरोदात्त—यह उदार चरित वाला होता है। शक्ति, क्षमा तथा आत्मगौरव के साथ विनयी होता है। अधिकतर इस प्रकार का नायक राजा या देवता होता है। दशरूपक मे धीरोदात्त नायक का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

"महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्पन.।
स्थिरो निगूढाहकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥"

अर्थात् धीरोदात्त नायक वह है जो शोक क्रोधादि से अविचलित है, अत्यन्त गम्भीर, क्षमावान, आत्मश्लाघा न करने वाला, अहकार शून्य तथा दृढव्रती हो। धीरोदात्त नायक के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण श्री रामचन्द्र जी तथा युधिष्ठर हैं। श्री रामचन्द्र जी शील के आगार है। "उत्तररामचरित" मे लक्ष्मण जी चित्रपट को दिखाते हुए जब परशुराम जी की ओर इगित करते हैं तो राम उस दृश्य से आगे बढने को कहते हैं। "नागानन्द" नाटक के नेता जीमूतवाहन भी धीरोदात्त नायक हैं। वे नाग की रक्षा के हेतु गरूड़ जी को अपना शरीर खाने के लिए दे देते हैं और कहते हैं—

"शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्त मद्यापि देहे मम मासमस्ति।
तृप्ति न पश्यामि तवैव तावत्कि भक्षणात्त्व विरतोगुरुत्मन्॥"

अर्थात् मेरी नाड़ियो से रक्त वह रहा है और मेरे शरीर मे अभी मास शेष है। हे महान्! जब तक तुम्हारी तृप्ति न हो तब तक तुम खाते रहो।

२—धीरललित नायक :—यह कोमल स्वभाव का विलासी नायक होता है। धीरललित नायक का लक्षण है—"निश्चिन्तो धीर ललितः कलासक्तः सुखी मृदुः" अर्थात् धीरललित नायक सुखान्वेषी, कलाविद् और निश्चित होता है।

"शकुन्तला नाटक" का नायक दुष्यन्त धीरललित नायक है। दुष्यन्त में उपरोक्त सभी गुण विद्यमान हैं। वे कुशल चित्रकार थे। उन्होंने शकुन्तला का बहुत सुन्दर चित्र चित्रित किया था। ऐसे नायक अपना राज्यकार्य मन्त्रियो को सौप देते हैं और उनकी प्रजा सुख से रहती है। संस्कृत के नाटक "रत्नावली" का नायक उदयन भी धीरललित है। इनके लिए कहा गया है—"सम्यक्पालन लालितः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः।'

३—धीर प्रशान्त :—यह शान्त स्वभाव का होता है जो प्रायः ब्राह्मण या वैश्य होता है। धीर प्रशान्त नायक का लक्षण है—"सामान्यगुणमुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः"। "मालती माधव" में माधव धीरप्रशान्त है।

४—धीरोद्धत नायक :—यह बड़ा मायावी, अपनी प्रशंसा चाहने वाला, स्वभाव का उग्र, विश्वासघाती तथा चालाक होता है। यह अहकार और दर्प की मूर्ति होता है। इसका लक्षण है :—

"दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥"

मेघनाद, परशुराम, रावण आदि इसके उदाहरण हैं। "महावीर चरित" में परशुराम की उक्ति दर्शनीय है :—

"जीति त्रिलोक जो गर्वित होय महेस समेत पहार उठावा।
सो दसकंधर को अभिमान जो खेल सों आवन सौह नसावा।
ऐसहुँ हैहय के बलवान नरेस को कोपि जो मारि गिरावा।
कोटि के डार से बाहु हजार जो पेड़ के ठूँठ समान बनावा।
घूमिकै भूमि पै बार इकीस जो छत्रियबस समूल सहारा।
राइ बनाइ जो हंसन के हित बानन फोरि फोरि कै क्रौच पहारा।
भृंगि हेरम्ब सहाय समेत जो तारक के रिपुहूँ को पछारा।
सो सुनि कै गुरुचाप को भंजन आवत है करि कोप अपारा॥"

इन चारों के पत्नियों के सम्बन्ध के आधार पर चार उपभेद और किये गये हैं—(१) अनुकूल, (२) दक्षिण, (३) शठ और (४) धृष्ठ।

१. अनुकलः—नायक जब तक एक पत्नी मे अनुरक्त रहता है तब तक वह अनुकूल रहता है—

"जो पर वनिता तें बिमुख, सानुकूल सुखदानि।"

श्री रामचन्द्र जी अनुकूल नायक हैं जिनके सम्बन्ध मे "तोषनिधि" लिखते हैं:—

"नैनन ते सीय रूप सिवाय चितौत न भूलेहुँ चित्र की वामे।"

श्री रामचन्द्र जी ने सीता की अनुपस्थिति मे राजसूययज्ञ के अवसर पर सीता की स्वर्णमुखी मूर्ति से काम किया था—

मैथिली समेत तौ अनेक दान मैं दियो।
राजसूय आदि दै अनेक यज्ञ मैं कियो।
सीय-त्याग पाप ते हिये सु हौं महा डरो।
और एक अश्वमेध जानकी विना करो॥"

× × ×

करिये युत भूषण, रूपमयी। मिथिलेश सुता एक स्वर्णमयी।
ऋषिराज सबै ऋषि वोलि लिये। सुचि सो सब यज्ञ विधान किये॥"

२—दक्षिण :—दक्षिण नायक व्ह होता है जो एक से अधिक पत्नियाँ रखत हुआ भी अपनी ज्येष्ठा नायिका से पूर्ववत् प्रेमाचरण करता है—

"जु वहु तियन को सुखद सम, सो दच्छिन गुनखानि।"

दक्षिण नायक प्रधान महिषी से अपना अन्य स्त्री प्रेम छिपाता है। शकुन्तल नाटक का नायक दुष्यन्त "रत्नावली" के उदयन तथा "मालविकाग्निमित्र" वे 'अग्निमित्र" इसी प्रकार के नायक हैं। दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र अप्सरा सानुमत से छिपाते हैं। इस पर भानुमति कहती है।

"इन्होने दूसरे को हृदय दे डाला है सही, पर ये अपनी पहली रानी के प्रे को भी ठेस नहीं लगने देना चाहते।"

३. शठः—शठ नायक निर्लज्ज नही होता, किन्तु उसका अन्य स्त्रियो वे प्रति प्रेम प्रकट रहता है।

"सहित काज मधुरै मधुर, वैननि कहै वनाइ।
उर अन्तर घट कपटमय, सो शठ नायक आइ॥"

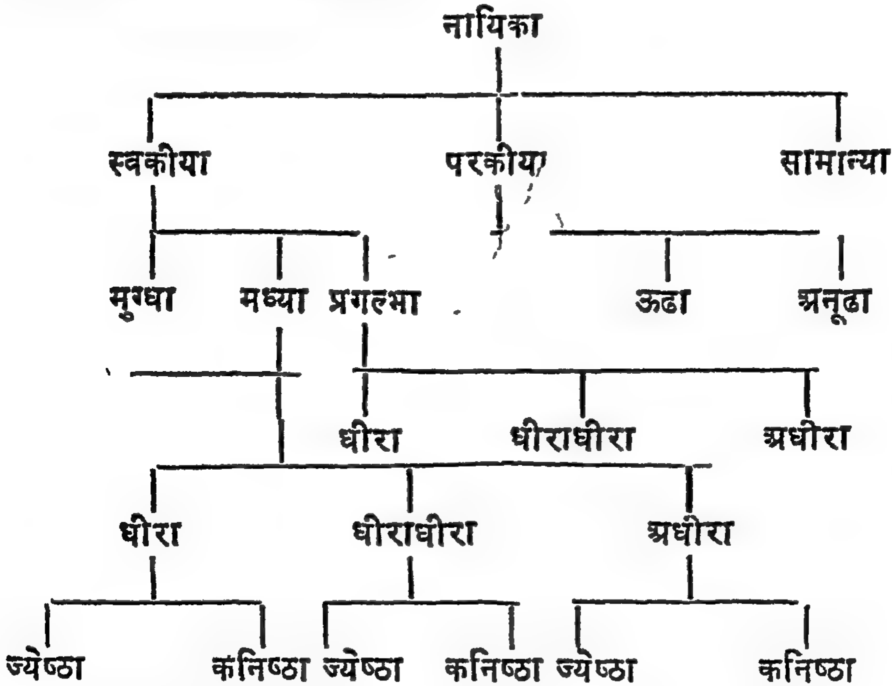
४. धृष्ट—धृष्ट नायक निर्लज्ज तो होता ही है और दुराचारी भी होत है। वह अपनी प्रधान महिषी का हृदय दुखित करता रहता है और उसकी ताड़ना की उपेक्षा करता है। लक्षण है—

"वरज्यो न मानत हौ बार-बार बरज्यौ मैं,
कौन काम मेरे इत भौन मैं न आइयै।
लाज को न लेस, जग हाँसी को न डर मन,
हँसत हँसत आनि बात न वनायै॥
कवि मतिराम नित उठि कलिकानि करौ;
नित झूठी सौहैं करौ नित बिसराइयै।
ताके पद लागौ निसि जागि जाके उर लागे,
मेरे पग लागि उर आगि न लगाइयै॥"

नायक के प्रतिद्वन्द्वी को प्रतिनायक कहते हैं। यह धीरोद्धत होता है प्रासंगिक कथावस्तु मे नायक के सहायक को पीठमर्द कहते हैं। जैसे मालती माधव" में मकरन्द।

विदूषक:—संस्कृत नाटको मे नाटक का समस्त हास्य तत्व विदूषक मे केन्द्रीभूत रहता था। विदूषक ब्राह्मण होता था और पेटू होना इसकी विशेषता थी। प्रसाद जी के "स्कन्द गुप्त" नाटक मे मुद्गल नाम का विदूषक आता है। वह राजा का विश्वासपात्र तथा सलाहकार भी होता था। उसका अन्त.पुर मे प्रवेश था और राजा के प्रेम कार्य मे मन्त्री होता था। राजा उसको "वयस्य" या मित्र कहता था।

नायक की प्रिय पत्नी नायिका कहलाती है। नायिका मे भी नायक के सामान्य गुण होने चाहियें। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में नायिकाओं के चार भेद माने हैं:—दिव्या, नृपतिनी, कुलस्त्री और गणिका परन्तु आज ये भेद अधिक मान्य नही हैं। धनजय ने दशरूपक में नायिका के तीन भेद किये हैं—स्वकीया, परकीया, सामान्या, सामान्या का दूसरा नाम वेश्या भी है। निम्नलिखित सारिणी से यह भेद स्पष्ट हो जायेगा :—



इनके अतिरिक्त नायिका के व्यवहार और दशाभेद के आधार पर नायिका के आठ भेद और हैं—१. स्वाधीन पतिका, २. वासक सज्जा, ३. विरहोत्कंठिता, ४. खण्डिता, ५. कालहांतरिता, ६. विप्रलब्धा, ७. प्रोषितपतिका, ८. अभिसारिका।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र मे नायक तथा नायिकाओं के इस प्रकार के कोई भेद नहीं किये गये हैं।

भाव का संघर्ष पहले नाटकों मे भी रहता था। इस विधान में इसे संघर्ष न मान कर भावसन्धि कहा गया है। पात्रों में मानवीय दुर्बलता आती है और फिर वह उसे दूर कर देता है। उत्तररामचरित में राम शम्बूक के वध करते समय दया से अभिभूत हो जाते हैं किन्तु शीघ्र ही अपनी दुर्बलता पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

चरित्र-चित्रण :—चरित्र-चित्रण नाटक का प्राण है। नाटककार का प्रधान उद्देश्य मानव मनोवृत्तियों का यथावत् एवं सूक्ष्म विश्लेषण है। नाटककार अपने पात्रों के चरित्र में मानव हृदय की विभिन्न अनुभूतियों, जीवन की विविध दशाओं तथा अनेक लोकादर्शों का समावेश करता है। मिस्टर हेनरी आर्थर जोन्स ने ठीक ही लिखा है—

"Story and incident and situation in theatrical work are, unless related to character comparatively childish and unintellectual." अर्थात् जब तक नाटकीय कथानक घटनायें और परिस्थितियाँ चरित्र से सम्बद्ध नहीं होगी तब तक कोई भी नाटक अपेक्षाकृत दृष्टि से बुद्धिहीन बल प्रयास ही माना जायेगा। वास्तव में नाटक की महत्ता और सौन्दर्य चरित्र-चित्रण में ही है। चरित्र-चित्रण नाटकों का स्थायी और अनिवार्य तत्त्व है। शेक्सपियर के नाटक अंग्रेजी साहित्य की अमर निधि है। उनके नाटकों का स्थायित्व तथा महत्व उनके नाटकों के कथानकों की मनोरञ्जकता के कारण नहीं है, वरन् चरित्र चित्रण के कारण है।

उपन्यास मे चरित्र-चित्रण विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष रूप में होता है किन्तु नाटक मे चरित्र-चित्रण परोक्ष या अभिनयात्मक रूप में होता है। नाटक में या तो पात्र स्वयं अपने चरित्र का उद्घाटन करता है या नाटक के पात्र एक दूसरे के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। ये पात्र सच्चाई से एक दूसरे के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। स्वगत कथन के द्वारा भी चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। पात्र अपने घनिष्ठ मित्र से जब अपने हृदयगत भावों को प्रकट करता है तब भी चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। स्वगत कथन मे स्वाभाविकता कम होती है किन्तु चरित्र के उद्घाटन मे सहायक होने के कारण इसका महत्व अवश्य है।

यहाँ हम तीनो प्रकार के अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण के उदाहरण "स्कन्द-गुप्त" से उद्धृत करते हैं।

१—स्वयं पात्र द्वारा अपने चरित्र पर प्रकाश—स्कन्दगुप्त स्वगत कथन द्वारा अपने सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है—

"इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति! परिवार में अशान्ति! केवल मेरे अस्तित्व से? ······केवल गुप्त सम्राट वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया-कलाप में संलग्न रक्खा है।"

२—दूसरे पात्रो द्वारा चरित्र पर प्रकाश बन्धुवर्मा स्कन्दगुप्त के सम्बन्ध मे कहता है—

"उदार-वीर-हृदय, देवोपम सौन्दर्य, इस आर्य्यावर्त्त का एकमात्र आशास्थल इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्रलिपियों से अङ्कित है। अन्तःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखों में एक जीवन-पूर्ण ज्योति है।"

३—कार्य-कलाप द्वारा चरित्र-चित्रण—स्कन्दगुप्त अपने कार्य-कलाप द्वारा भी अपने चरित्र पर प्रकाश डालता है। वह भटार्क से कहता है—

स्कन्दगुप्त :—भटार्क ! मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की। लो आज इस रणभूमि में पुरुगुप्त को युवराज बनाता हूँ। देखना, मेरे बाद जन्मभूमि की दुर्दशा न हो।
(रक्त का टीका पुरुगुप्त को लगाता है)।

मनुष्य के कार्य उसके चरित्र के सच्चे परिचायक होते हैं।

कथोपकथन की सार्थकता इसी मे है कि वह कथा को आगे बढाए तथा पात्रों के चरित्र पर अच्छा प्रकाश डाले। कथोपकथन यथासम्भव इतना होना चाहिए जो पात्रो के चरित्र पर भली प्रकार से प्रकाश डाल सके। नाटक की कथावस्तु के समान उसका चरित्र-चित्रण भी सक्षिप्त होना वाछनीय है। नाटक मे नायक तथा अन्य प्रधान पात्रो के उन्ही गुणो तथा विशिष्टताओं का प्रदर्शन होना चाहिए जिनका सम्पूर्ण नाटक पर विशेष प्रभाव पडता हो। उपन्यास की अपेक्षा नाटक के चरित्र-चित्रण मे विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है।

नाटक मे कथावस्तु बहुत कुछ चरित्र-चित्रण पर ही आश्रित होती है। अनेक स्थलो पर कथावस्तु के द्वारा ही पात्रो के नैतिक और मानसिक गुणो का परिचय मिलता है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियो में पड़कर ही पात्रो के स्वभाव, प्रवृत्तियाँ उद्देश्य तथा विचार प्रकाश मे आते हैं। वस्तुतः कथावस्तु या उनकी घटनाये एक प्रकार से चरित्र के विकास का दूसरा ही रूप हैं। चरित्र-चित्रण और घटनाक्रम इस प्रकार का होना चाहिए जिससे दर्शको को सब बातो का ज्ञान हो जायें, उसे अभिनय अथवा कथोपकथन का आश्रय न लेना पड़े।

रस और उद्देश्य:—भारतीय नाट्य-शास्त्र मे जिसे रस माना गया है अग्रेजी मीमांसा साहित्य मे उसे उद्देश्य कहा गया है। नाटककार नवरसों मे से किसी एक रस को लेकर नाटक की रचना करता था, अतः भारतीय नाट्य-शास्त्र में रस ही चरम लक्ष्य माना गया है, परन्तु पश्चिम की नाट्यकला बिलकुल इसके विपरीत है। वहाँ घटनाओ के लिए ही नाटक लिखा जाता है। पाश्चात्य नाटकों का उद्देश्य या तो केवल मनोरंजन है या किसी राजनैतिक या सामाजिक समस्या का प्रदर्शन करना उनका उद्देश्य होता है। आजकल के समस्यात्मक नाटको मे नाटककार स्वयं जो कहना चाहता है उसे स्वय न कह कर पात्रो द्वारा कहला देता है। भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो नाटको का उद्देश्य मानव सहानुभूति का विस्तार करना है।

उपन्यास की भाँति नाटक का उद्देश्य जीवन की व्याख्या या आलोचना करना है। परन्तु यह व्याख्या नाटककार किस रूप मे करता है यह विचारणीय है। उपन्यासकार मानव-जीवन की व्याख्या प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार से कर सकता है परन्तु नाटककार केवल प्रत्यक्ष रूप मे ही करता है। नाटक का क्षेत्र अत्यन्त सकुचित है उसे स्वयं कुछ कहने का अधिकार नही। उपन्यासकार जीवन की व्याख्या स्वयं करता है। परन्तु नाटक मे दर्शक तथा पाठक को जीवन की व्याख्या समझनी पड़ती है।

नाटक मे नाटककार पात्र के माध्यम से हमारे समक्ष आता है, ऐसी स्थिति में दर्शकों को ही उसका उद्देश्य समझना पड़ता है। नाटक का उद्देश्य पात्रों के कथनो का आपस मे मिलान करने से प्राप्त होता है। सम्पूर्ण नाटक पर एक साथ विचार करने से नाटक का उद्देश्य या नैतिक महत्व प्रकाश में आता है। नाटककार नाटक की सृष्टि करता है अतः नाटक मे हमे नाटककार के भावो, विचारो, आदर्शों आदि की भी स्पष्ट झलक मिलती है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार ने संसार को किस दृष्टि से देखा है और उसके नैतिक आदर्शो को कहाँ तक महत्व प्रदान किया है। नाटककार जिस रूप मे जीवन और जगत को लेता हैं, उसका वैसा ही चित्रण नाटक में करता है। हमारे प्राचीन नाटकों का उद्देश्य बहुत ऊँचा था क्योकि जीवन की व्याख्या करना ही उन्हे अभीष्ट था। उन नाटकों का उद्देश्य नैतिक आदर्शों को उपस्थित करना था। अंग्रेज कवि शैली ने नाटक के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

"काव्य का समाज के कल्याण के साथ जो सम्बन्ध है, वह नाटक में सबसे अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। इस बात में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती थी जो समाज जितना ही अधिक उन्नत होता है, उसकी रंगशाला भी उतनी ही उन्नत होती है यदि किसी देश में किसी समय बहुत ही उच्चकोटि के नाटक रहे हों और पीछे से उन नाटको का अन्त हो गया हो, अथवा उनमें कुछ दोष आ गए हों, तो समझना चाहिए कि इसका कारण उस देश का उस समय का नैतिक पतन है।"

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटको का सबसे बड़ा उद्देश्य नैतिक उन्नति और सामाजिक कल्याण है। अत इसी उपयोग को ध्यान मे रखकर नाटककार को नाटक की रचना करनी चाहिए। नाटको मे ऐसे दृश्यों का विधान नही होना चाहिए जिससे समाज का नैतिक पतन हो। अतः नाटककार को नाटक में उच्च आदर्शो और सामाजिक विचारो की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। जिससे देश और समाज की उन्नति हो। हमारे यहाँ के प्राचीन आचार्यों ने नाटक मे धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि आवश्यक मानी है। जिस नाटक मे इनमे से किसी एक की भी सिद्धि न हो वह नाटक व्यर्थ है। धर्म, अर्थ अथवा काम की सिद्धि से अभिप्राय यह है कि मनुष्यो के विचार उन्नत हो वह धार्मिक तथा नीतिवान हो। शुद्ध आचरण वाले हो तथा योग्यतापूर्वक जीवन निर्वाह कर सकें। यूरोपीय तथा भारतीय उद्देश्य की विभिन्नता को स्पष्ट करते हुए डा० श्यामसुन्दरदास जी लिखते हैं—"हमारा उद्देश्य आदर्शचरित्र उपस्थित करना और यरोप वालो का वास्तविक स्थिति का परिचय देना है अर्थात भारतीय यह दिखाना चाहते हैं कि जीवन कैसा होना चाहिए और यूरोप वाले यह दिखाना चाहते हैं कि जीवन कैसा है।"

अभिनय :—अभिनय नाटक की आत्मा है, नाटक की अभिनय योग्यता उसकी उत्तमता की कसौटियो मे से है। वह नाटक सफल कहा जा सकता है, जिसका अभिनय रंगमंच पर सफलतापूर्वक हो सके। वास्तव मे यह नाटक का प्रधान अग है।

नाट्य-शास्त्र के आचार्य भरतमुनि ने अभिनय की बड़ी विशद व्याख्या की है। अभिनय शब्द "रागाम्" धातु से बना है जिसका अर्थ है पहुँचाना। अभिनय के द्वारा ही नाटक की सामग्री की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है।

अभिनय चार प्रकार का होता है।—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक।

"आङ्गिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्विकस्तथा।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकल्पितः : ॥

आङ्गिकः—आङ्गिक के भी तीन भेद होतेहैं—शारीर, मुखज और चेष्टाकृत। आङ्गिक अभिनय मे अंग प्रत्यगों के संचालन के विभिन्न प्रकार बतलाये जाते हैं। इस अभिनय का सम्बन्ध अनुभावो तथा परिस्थिति के अनुकूल गतियो से है। इसमें यह बतलाया जाता है कि किन परिस्थितियो में कैसे सिर हिलाना चाहिए तथा रसों के अनुकूल दृष्टियाँ किस प्रकार होनी चाहियें। भिन्न-भिन्न रसो की दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। वीर को अपनी दृष्टि सामने रखनी चाहिए, लज्जावान पुरुप को अपनी दृष्टि नीची कर लेनी चाहिए। भयभीत व्यक्ति को अपनी दृष्टि चारो ओर घुमानी चाहिए। इस सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न प्रकार के नृत्य का भी वर्णन है। तैरने, घोडे की सवारी आदि का अभिनय भी आङ्गिक अभिनय के अन्तर्गत आ जाता है। हाथो के टटोलने का अभिनय करने से अन्धकार का वोध करा दिया जाता था। इस प्रकार अभिनय का मुख्य भाग आङ्गिक अभिनय मे समाहित है।

वाचिक—वाचिक (वाणी) अभिनय से आङ्गिक अभिनय स्पष्ट हो जाता है। आधुनिक नाटको में भी मूक अभिनय का विधान मिलता है जैसे (वरमाला मे) भरतमुनि ने वाणा के अभिनय मे स्वरशास्त्र, व्याकरण तथा छन्दःशास्त्र का भी ज्ञान कराया है जिससे पात्रो को स्वरादि का बोध हो जाय। किस प्रकार से पाठ करना चाहिए तथा किस प्रकार से बोलना चाहिए इसका भी वर्णन है। छन्द तथा राग रसों के अनुकूल होने चाहियें।

भरतमुनि ने वाणी के अभिनय में प्राकृत के प्रयोग का उल्लेख किया है। नाटक मे स्वाभाविकता लाने के लिए प्राकृत का प्रयोग किया जाता था। जिस प्रकार आधुनिक नाटको मे ग्रामीण तथा शहरी भाषा का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार प्राचीन नाटको मे संस्कृत तथा प्राकृत भाषा का प्रयोग होता था।

प्राचीन नाटकों में भिन्न-भिन्न श्रेणी के मनुष्य भिन्न-भिन्न नामो से सम्बोधित किए जाते थे। राजा को नौकर "देव" कहते थे और ऋषि लोग "राजन्" कहते थे। विदूषक लोग राजा का 'वयस्य' और रानी को "भवति" कह कर सम्बोधित करते थे। भरतमुनि ने नाटकीय पात्रो के नामो का भी उल्लेख किया है। क्षत्रियों के नाम के आगे विजयवोधक शब्द लगाना अनिवार्य था। इसी प्रकार वैश्यों के नाम के आगे दत्त और वेश्याओ के नाम के आगे दत्ता, मित्रा, सेना आदि लगाने का निर्देश है। हमारे यहाँ कथोपकथन सम्बन्धी सब आदेश वाचिक अभिनय के अन्तर्गत आ जाते हैं।

आहार्य—आहार्य अभिनय में विभिन्न आभषणो तथा वस्त्रों का भी वर्णन किया गया है। भिन्न-भिन्न जाति के मनुष्यो के लिए भिन्न-भिन्न रंग वतलाये गये हैं। उस समय देवता तथा उच्चश्रेणी के मनुष्यो का रग गौर होता था और उनको सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। —"ये चापि सुखिनो मर्त्याः गौराः कार्यास्तु ते बुधैः।" भिन्न-भिन्न मनुष्यो को किस प्रकार के बाल तथा मूंछे रखनी चाहिएँ इसका भी वर्णन मिलता है। बच्चो तथा नौकरो के तीन चोटियाँ होती थी। कभी कभी बाल कटे भी रहते थे। अवन्ती की स्त्रियो के बाल घुंघराले होते थे, मुकुट भी धारण किये जाते थे। युवराज तथा सेनापति आधे मुकुट धारण करते थे। इससे विदित होता है कि उस समय की सभ्यता पर्याप्त विकसित अवस्था मे थी।

सात्त्विक अभिनय—सात्त्विक अभिनय की व्यख्या करते हुए भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी लिखते हैं—"स्तम्भ स्वेद, रोमाञ्च कम्प और अश्रुप्रभृति द्वारा अवस्थानुकरण का नाम सात्त्विक अभिनय है।" कुछ मनुष्यो का कथन है कि कायिक अभिनय से होते हुए सात्त्विक अभिनय को स्वतन्त्र स्थान क्यो दिया गया? इसका उत्तर केवल यही है कि जिस प्रकार अनुभावो के रहते हुए सात्त्विक भावो को प्रश्रय दिया गया है उसी प्रकार कायिक अभिनय के होते हुए भी सात्त्विक अभिनय को स्थान दिया गया है। इसका सम्बन्ध भावो से है। सात्त्विक अभिनय मे भावो को मुख्यता दी जाती है। कायिक अभिनय मे गतियो का भी अभिनय किया जाता है।

वृत्तियाँ—अग्रेजी नाट्य साहित्य मे जिसे शैली माना गया है। भारतीय नाट्य शास्त्र मे उसे वृत्तियाँ कहते हैं। वृत्तियो का महत्व अनुपमेय है। ये सम्पूर्ण नाटक की गति-विधि से सम्बन्ध रखती है। इन्हे नाटक की माताएँ माना गया है—"नाट्यमातरः"। ये पात्रो के चलने फिरने के ढग से अपना सम्बन्ध रखती है। ये वृत्तियाँ चार प्रकार की हैं—कौशकी, सात्वती, आरभटी और भारती।

१—कौशकी वृत्ति—यह बड़ी कोमल वृत्ति है जिसका सम्बन्ध कोमल रसो, शृंगार तथा हास्य से है। इसमे नृत्य गीत की प्रधानता रहती है। इसकी उत्पत्ति सामवेद से मानी गई है, क्योकि यह गीत प्रधान है। कौशकी वृत्ति नाना प्रकार के विलासो से सम्पन्न है।

२—सात्वती वृत्ति—इसमे वीरोचित कार्य का बाहुल्य रहता है। इसकी उत्पत्ति यजुर्वेद से मानी गई है। इसमे रौद्र तथा अद्भुत रस का भी समावेश रहता है। इस वृत्ति का सम्बन्ध शौर्य, दान, दया तथा दाक्षिण्य से है। यह आनन्द प्रदान करने वाली है। इसमे उत्साह प्रदान करने वाली वाग्भंगी वर्तमान रहती है।

३—आरभटी वृत्ति—इस वृत्ति की उत्पत्ति अथर्ववेद से मानी गई है। यह रौद्र रस के उपयुक्त है। इसमे सग्राम, सघर्ष, क्रोध, माया, इन्द्रजाल आदि का प्रदर्शन रहता है।

४—भारती वृत्ति—भरतमुनि ने इस वृत्ति की उत्पत्ति ऋग्वेद से मानी है। इसमें स्त्री पात्र वर्जित हैं। इसका सम्बन्ध केवल पुरुष नटो या भरतों से माना

गया है। इसलिए इस वृत्ति को भारती कहा गया है। शब्दो से इसका सम्बन्ध विशेष रूप से है। साहित्य दर्पणकार का कथन है कि भारतीवृत्ति सब रसो मे काम आती है। भरतमुनि ने इस वृत्ति का सम्बन्ध अद्भुत तथा करुण रस से माना है। भारतेन्दु जी का मत है कि यह केवल वीभत्स मे ही काम आती है। नाटक के प्रारम्भिक कार्यो से भी भारती वृत्ति का सम्बन्ध है।

देशकाल—देशकाल का तत्व अनिवार्य तत्व नही माना गया है। भारतीय नाटय शास्त्र मे उपरूपक के १८ भेद किये हैं। प्रत्येक भेद मे उन्होने पात्रों की संख्या एवं समय पर प्रतिबन्ध रखा है। कितने समय का किस विषय का कौनसा नाटक होता है। इसका स्पष्ट विवेचन भारतीय नाट्य शास्त्र मे मिलता है।

पहले अग्रेजी नाटको मे सकलनत्रय (Unity of time, unity of place, and unity of action) का ध्यान रखा जाता था। परन्तु अब यह बन्धन तोड़ दिया गया है। शेक्सपीयर जैसे सुप्रसिद्ध नाटककार ने इनकी अवहेलना की है। यहाँ पर देशकाल का विवेचन करते समय प्रसगवश सकलनत्रय पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

संकलनत्रय—प्राचीन नाटको में स्थल, काल और कार्य की एकता की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। उनका अभिप्राय था कि नाटक मे जो घटनाएँ दिखाई जायँ, वे एक ही स्थान से सम्बन्धित हो। यह नही—कि एक दृश्य बम्बई का हो और दूसरा लाहौर का। इसी को यूनानी आचार्य स्थल की एकता (Unity of place) कहते थे। दूसरी बात यह थी कि जो घटना नाटक मे दिखाई जाय वह उतने समय की हो जितना कि नाटक के अभिनय मे लगता हो। यह Unity of time कहलाता था। तीसरी बात यह थी कि कथावस्तु एक रस होनी चाहिए अतः प्रासगिक कथाओ को स्थान नही मिलना चाहिए। इस नियम को कार्य की एकता (Unity of action) कहते थे।

ये तीनो बातें यूनानी रंगमंच के अनुकूल थी। आजकल इन नियमों के अनुसार यदि नाटक रचे जायँ तो उनका कुछ भी महत्व न होगा। प्राचीन यूनानी नाटक बहुत सादे होते थे तथा उनमे तीन या पाँच ही पात्र होते थे। उन नाटको मे इन नियमो का पालन-सरलता से हो सकता था। परन्तु आजकल के नाटक तथा रंग-मंच प्राचीन नाटको तथा रगमच की अपेक्षा अधिक उन्नत हैं। अत. अब इन नियमो का तद्वत पालन नही हो सकता। अच्छे ऐतिहासिक, सामाजिक तथा राजनीतिक नाटको मे इन नियमो का पालन वांछनीय नहीं। यदि लेखक इन नियमो का पालन करने लगे तो उनकी कृति अस्वाभाविक हो जायेगी तथा वह अपनी सामग्री का उचित उपयोग नही कर सकता। हाँ नाटककार को इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि आदि से अन्त तक कथा का निर्वाह समान होना चाहिए। गौण कथावस्तु का समावेश इस प्रकार से होना चाहिए कि वे पृथक से न जान पड़े। पारसी नाटक मंडलियो के उर्दू नाटकों मे यह बड़ा भारी दोष पाया जाता है कि वे मूल कथावस्तु

में हास्य रस प्रधान एक ऐसी कथावस्तु का समावेश कर देते हैं जिनका मूल कथा-वस्तु से कुछ भी सम्बन्ध नही होता। प्रासगिक कथावस्तु का उद्देश्य अधिकारिक कथावस्तु की सौन्दर्य वृद्धि करना है। अतः प्रसगिक कथा का विस्तार उतना ही होना चाहिए जितना अधिकारिक कथा को अग्रसर करने मे सहायक हो।

वस्तु या कार्य की एकता वैसे तो नाटक की प्रधान आवश्यकता है। इससे नाटक उच्छृखलता के दोष से मुक्त हो जाता है। परन्तु यूनानी नाटककारो ने इस नियम का अनुचित रीति से पालन किया है। यह नियम उनके अनुकरण प्रधान आदर्श के अनुकूल था। किन्तु कला केवल अनुकरणमात्र नही है, उसमें चुनाव का होना आवश्यक है। घटनाओ को प्रभावशाली बनाने के लिए उन्हे व्यवस्थित रूप देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त घटनाओ को स्पष्ट करने के लिए पूर्व घटित बातो का भी विवरण देना पड़ता है।

काल सकलन—वस्तु के सकलन के पश्चात् समय का संकलन आता है। काल संकलन का अभिप्राय यह लिया जाता था कि जो कृत्य जितने समय में हुआ हो, उसका अभिनय भी उतने ही समय मे होना चाहिए। यह नियम भी प्राचीन यूनानी नाटको के लिए ही ठीक था। प्राचीन यूनानी नाटक दिन दिन और रात रात भर होते थे। सर्वप्रथम अरस्तू ने यह नियम बनाया कि चौबीस घण्टो (एक दिन और एक रात) में जो घटनाएँ हो, उन्ही का समावेश एक नाटक में होना चाहिए। अरस्तू के पश्चात् एक फ्रासीसी नाटककार ने यह नियम बनाया था कि २४ नही बल्कि तीस घण्टो में जो कृत्य हो उनका समावेश नाटक में होना चाहिए। परन्तु यह नियम भी ठीक प्रतीत नही होता। नाटक साधारणतः तीन चार घण्टे में समाप्त हो जाता है। अतः तीन चार घण्टे मे ३० घण्टे का कृत्य दिखाने से भी काल संकलन का पालन नही हो सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि यूनानियो ने यह नियम नाटकों की बिल्कुल प्रारम्भिक अवस्था में बनाये थे और बाद में बिना समझे इसका पालन होता रहा। यदि आजकल काल संकलन का यूनानी अर्थ लेकर नाटको की रचना की जाय तो नाटक सफल नही हो सकते। घटनाएँ चाहे एक दिन की हों, चाहे एक वर्ष या उससे अधिक समय की हो, काल संकलन को उसमें बाधा नही डालनी चाहिए। हाँ नाटक मे इस बात का ध्यान विशेष रूप से रखना चाहिए कि पूर्व घटित घटनाओं का उल्लेख बाद मे घटित होने वाले दृश्यों के पीछे न हो। दूसरी बात यह है कि दो घटनाओ के मध्य में जो समय व्यतीत हुआ हो उसकी ओर दर्शको का ध्यान न जावे। मान लीजिए कि प्रथम अक के प्रथम दृश्य में जो घटना दिखलाई गई है, उसके दो चार महीने अथवा एक या दो वर्ष पश्चात की घटना नाटककार दिखलाना चाहता हो तो, उसे अगले ही दृश्य मे वे घटनाएँ नही दिखा देनी चाहिएँ बल्कि बीच मे दो तीन दृश्य रखकर बाद में दिखानी चाहिएँ और इन बीच के दृश्यो में या तो बीच की कुछ घटनाएँ दिखलानी चाहिएँ अथवा कोई प्रासगिक कथावस्तु का विधान होना चाहिए जिससे दर्शक यह न समझें कि यह समय कैसे व्यतीत हो गया। तीसरी बात यह है कि दो चार वर्षों की घटनाएँ तो नाटक में सहज समाहित हो सकती हैं परन्तु

इससे अधिक वर्षों की घटनाओं का समावेश करने के लिए नाटककार को रचना सम्बन्धी विशेष कौशल तथा चातुर्य की आवश्यकता होती है। उसे इस प्रकार का कौशल दिखलाना चाहिए जिससे, दर्शक इस बीते हुए समय को न जान पायें तथा उन्हे यह बताने की आवश्यकता न पड़े कि कितना समय बीत गया।

हमारे संस्कृत नाटको मे भी काल संकलन का ध्यान रखा जाता था। शकुन्तला नाटक के प्रथम अंक मे राजा दुष्यन्त की शकुन्तला से भेट होती है। तृतीय अंक में प्रथम मिलाप और वाद मे दोनो का वियोग होता है। इसके पश्चात् बीच का जो समय बीता उस पर दर्शको की दृष्टि नही जाती और सातवें अंक मे दुष्यन्त अपने पुत्र को सिंह से खेलता हुआ पाते हैं। अतः इसमे कही अस्वाभाविकता नही आती और दर्शक रसमय हो जाते हैं।

हमारे यहाँ यह नियम था कि एक दिन से अधिक की घटना एक अंक मे न दिखानी चाहिए तथा दो अंको के बीच एक वर्ष से अधिक का व्यवधान नही होना चाहिए। "उत्तर रामचरित" मे भवभूति ने इस नियम की अवहेलना की है। उन्होंने बारह वर्ष का व्यवधान प्रथम तथा दूसरे दृश्य के बीच में ही रख दिया है। परन्तु यह व्यवधान नाटककार ने बड़े कौशल से दिखलाया है। आत्रेयी द्वारा बालको का बारह वर्ष का होना बतलाया है। श्री रामचन्द्र जी भी पूर्वानुभुत दृश्यो को देख कर कहने लगते हैं कि ये गिरि, पर्वत, नदियाँ आदि तो वे ही हैं। इस उक्ति से भी समय का व्यवधान कम सा प्रतीत होता है।

हमारे यहाँ कई दृष्टियो से काल संकलन का ध्यान रखा गया है। रूपक के दस भेद माने गये हैं। उसमे छठा भेद व्यायोग के लिए यह नियम है कि वह एक अंक का होना चाहिए तथा उसमें केवल एक दिन का ही चरित्र होना चाहिए। रूपक का सातवाँ प्रकार समवकार है। उसके लिए यह नियम है कि वह तीन अंकों का होना चाहिए। उसके प्रथम अंक मे बारह घड़ियो का चरित्र, दूसरे मे चार घड़ियों का वृत्तान्त तथा तीसरे अंक मे दो घड़ियो का वृत्तान्त होना चाहिए। इसी दुमल्लिका (जो उपरूपक का पन्द्रहवाँ भेद है) में चार अंक होते हैं। इसमे प्रथम अंक की क्रीड़ा तीन घडी की होती है तथा यह नियम है कि दूसरे अंक में विदूषक का चरित्र पाँच घडी का तीसरे अंक मे पीठमर्द का विलास छः घड़ी का और चौथे अंक में नायक का वृत्तान्त दस घडी का होना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि भारतीय नाटकों में काल सकलन का ध्यान विशेष रूप से दिया गया था।

स्थल सकलन—तीसरा संकलन स्थल या देश का कहलाता है। स्थल संकलन से अभिप्राय यूनानियों का यह था कि नाटक की रचना इस प्रकार से की जानी चाहिए जो एक स्थल मे, एक ही दृश्य में, दिखाया जा सके। इस नियम के अनुसार अभिनय तथा रंगभूमि के दृश्यो मे कोई परिवर्तन नही किया जाता था। यूनानियों ने यह नियम इसलिए बनाया था कि उनके नाटकों के दृश्य वदले नहीं जाते थे। उनके नाटको मे सम्मिलित कोरस (Chorus) का प्रयोग होता था जो एक

अंक की समाप्ति तथा दूसरे के आरम्भ का प्रतीक होता था। उनके नाटको में अंक, गर्भांक आदि होते ही नही थे, अतः नाटक के बीच मे कही भी विश्राम नहीं होता था। जितनी देर तक गाने वाले गाते रहते थे, दर्शको का विश्राम हो जाता था। रगमच पर किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता था। दूसरे यूनानी नाटको की रचना इतनी सरल तथा साधारण होती थी कि उनमे स्थल के दृश्यो में परिवर्तन करने की आवश्यकता ही नही थी उनके नाटक दो तीन घण्टे के नही होते थे। वह सारे-सारे दिन चलते थे। इसलिए वह समय की काट छाँट को महत्त्व नहीं देते थे। कुछ दृश्य नाटक मे ऐसे होते हैं जो कुछ विशेप पात्रो के लिए होते ही हैं। परन्तु यूनानी नाटको मे ऐसे प्रयोग सब पात्रो के समक्ष होते थे। यह व्यवस्था नाटकीय दृष्टि से अस्वाभाविक तथा कला की दृष्टि से दूपित ही कही जायेगी। परन्तु यहाँ इस प्रकार के नियम ग्रहण नही किये गये हैं।

आज के सघर्ष प्रधान युग मे जीवन की समस्याएँ बढ गई हैं। अतः स्थल की एकता का पालन करना अत्यन्त कठिन हो गया है। आज के स्थलैक्य को अविक महत्त्व नही दिया गया है। संस्कृत नाटको मे भी स्थलैक्य को अधिक महत्त्व नही दिया गया। शेक्सपियर ने टेम्पेस्ट (Tempest) के अतिरिक्त अन्य किसी नाटक में इन नियमो का पालन नही किया, मिल्टन ने यूनानी आदर्शों का पूर्ण निर्वाह अपने सेम्सन एगनोस्टीस (Samson Agonistes) नाटक मे किया है। संस्कृत नाटककार स्थल बदलने के लिए नाटक के अन्दर ही पर्याप्त व्याख्या कर देते थे। "उत्तर रामचरित" मे राम अनायास ही दण्डक वन नही चले जाते। उन्हे दण्डक वन पहुँचाने के लिए नाटककार शम्वूक की कथा लाता है।

प्रत्येक युग के नाटको के लिए कार्य की एकता आवश्यक तत्व है। भरत मुनि ने भी एक अंक मे वहुत से कार्यो को लाने का निषेध किया है। यह कार्य की एकता ही है।

> एकाङ्केन कदाचित् वहूनि कार्याणि योजयेद्धीमान्।
> आवश्यकाविरोधेन् तत्र काव्यानि कार्याणि ॥"

रोमान्टिक युग के लोगो ने स्थल और समय की एकता की उपेक्षा की है परन्तु उन्होने कार्य की एकता को महत्त्व दिया है। अभिनव प्राचीनतावादियो ने सस्कृत नाटककारो की भाँति मृत्यु आदि के भीषण दृश्य रगमच पर दिखाने वर्जित किये हैं। उनकी सूचना पात्रो द्वारा दिला दी जाती है। परन्तु रोमान्टिक लोग ऐसे दृश्यो को रगमच पर दिखा देते हैं। शेक्सपियर ने अभिजात वर्ग के जीवन को अपने नाटको का विषय बनाया। वह रोमाटिक विद्रोहियों में से था। उसने ट्रेजडी, कौमेडी दुखान्त सुखान्त की विभाजन रेखा को समाप्त कर दिया। उसने अपने नाटकों द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि ट्रेजडी के साथ कौमेडी का योग हो सकता है तथा सुखान्त नाटकों मे करुणात्मक दृश्यो का समावेश किया जा सकता है।

इस प्रकार पाश्चात्य एव पौर्वात्य नाट्यकला का विश्लेपण करने से यह

स्पष्ट है कि भारतीय नाट्य कला पाश्चात्य नाट्य कला की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक तथा विकसित है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के तत्व नवीन नही हैं और भारतीय नाट्य शास्त्र के वर्गीकरण में सहज समाहित हो जाते हैं।

आधुनिक नाटक—अब हम आधुनिक नाटकों के सम्बन्ध में कुछ शब्द लिखेंगे। शेक्सपियर के पश्चात् नाट्य साहित्य मे कुछ विशष परिवर्तन हुए। नार्वे निवासी इब्सन का आधुनिक नाटको पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इब्सन के द्वारा नाटकीय आदर्शों मे पाँच मुख्य परिवर्तन हुए। प्रथम नाटको का विषय ऐतिहासिक न होकर वर्तमान सामाजिक समस्याएँ हो गया। मानव जीवन की समस्याएँ शाश्वत हैं। जीवन की समस्याएँ युग परिवर्तन के साथ-साथ बदलती रहती हैं। दूसरी बात यह है कि अब अभिजात वर्ग ही नाटक का विषय नही है। नीची श्रेणी के लोगो के जीवन भी नाटको के विषय बन गये हैं क्योकि इनके जीवन से सामाजिक समस्याओं का चित्रण बहुत सुन्दर रूप से हो जाता है। तीसरी बात यह है कि आज व्यक्ति-व्यक्ति मे द्वेष न दिखाकर, सामाजिक सस्थाओ के विद्रोह का प्रदर्शन किया जाता है। चौथी बात यह है कि आज बाह्य सघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष को महत्त्व दिया गया है। पाँचवी बात यह है कि आज नाटक मे स्वाभाविकता की वृद्धि अधिक हो गई है, और स्वगत कथन आदि कम हो गये हैं।

प्रसिद्ध नाटककार बर्नर्ड शॉ (Bernard Shaw) तथा (Garlswarthy) गाल्सवर्दी ने अपने नाटक इसी प्रकार लिखे हैं। नाटकों में परिवर्तन होने से रंगमच भी अधिक उन्नत हो गये हैं तथा उनमे स्वाभाविकता आ गई है। इब्सन का प्रभाव हमारे यहाँ के नाटककारो पर भी पडा। लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, भुवनेश्वर प्रसाद, रामकुमार वर्मा, पंत जी के नाटको में हमे उपरोक्त पाँचो बातें मिलती हैं।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियाँ भी नाट्य साहित्य को प्रभावित कर रही हैं। यथार्थवाद की प्रतिक्रिया चल रही है। आज मानव की चिरन्तन तथा मौलिक समस्याओ को विशेष महत्व दिया जा रहा है। कवित्व और प्रतीकवाद (Poetry and Symbolism) की ओर भी ध्यान आकृष्ट हो रहा है। अन्योक्ति पद्धति का भी आश्रय लिया गया है। इनमे प्राकृतिक घटनाएँ मानवीय समस्याओं की प्रतीक हो जाती हैं। आज के नाटको मे आध्यात्मिक विषयो का भी गम्भीर विवेचन मिलता है। बहुत से नाटक कल्पना प्रधान भी हैं। श्री पन्त जी की ज्योत्सना मे कल्पना की सुन्दर उड़ान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक नाटको का विषय अधिक विस्तृत, सुन्दर तथा स्वाभाविक है उसमें जीवन की वास्तविकता के दर्शन होते हैं।

पहले नाटक इतने बडे होते थे कि रात-रात भर लोग उन्हें देखते रहते थे। परन्तु आज जीवन की समस्यायें बहुत बढ गई हैं। आज के व्यस्त जीवन मे मानव के पास इतना समय नही है कि वह मनोरजन के लिए अधिक समय दे सके। सिनेमा के प्रचार से अल्प समय मे ही मनुष्यो का मनोरंजन हो जाता है। अतः अधिक व्यय-

साध्य तथा अधिक समय-साध्य की ओर लोगो की रुचि नहीं रही। रेडियो के द्वारा भी बहुत कुछ मनोरजन हो जाता है। रेडियो पर अच्छे-अच्छे श्रव्य नाटक आते हैं। अतः आज के नाटको को सरल और अल्प समय साध्य बनाने की ओर विशेष रुचि है। आज इस बात पर बल दिया जा रहा है कि नाटक ढाई घण्टे मे ही समाप्त हो जाना चाहिये, अधिक से अधिक चार घण्टे लगें। नाटक में पात्रो की सख्या कम हो जिससे उनकी वेश-भूषा, नेपथ्य कार्य तथा शिक्षा मे अधिक सामग्री तथा समय न लगे। नाटक मे दृश्यो का भी कम समावेश होना चाहिए, जिससे दृश्य-विधान में अधिक व्यय न हो। इस प्रकार से नाटको की व्यवस्था करने मे भी अधिक कठिनाई नहीं होती तथा थोडे समय मे ही व्यस्त रहने वाले का मनोरजन हो जाता है। चलचित्र के समान एक दिन में दो-दो, तीन-तीन नाटक दिखाये जा सकते हैं।

अतः अब नाटको को श्राव्य तथा अभिनेय दोनों प्रकार के लिखने की ओर प्रवृत्ति हो रही है। अब इस बात को महत्व दिया जा रहा है कि नाटक में एक ही प्रधान कथा होनी चाहिए। उसका अन्त सुखपूर्ण हो। उसके दृश्य अश्लील तथा विनाशात्मक नही होने चाहियें। उसके सम्वाद गद्यात्मक हो तथा गीतो की योजना उपयुक्त स्थल पर होनी चाहिए। सम्वाद सर्वमान्य होने वांछनीय हैं। नाटक प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कुतूहल को जाग्रत करने वाला हो। पात्रो तथा दृश्यों की संख्या कम हो जिससे कुछ समय में ही उसका अभिनय हो सके।

"नाटको का वर्गीकरण"—पाश्चात्य तथा पौर्वात्य देशों मे जो नाटक मिलते हैं, उन्हें सामान्यतः छः वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। (१) कथा प्रधान—जिसमें नाटककार किसी प्रधान कथा को उपस्थित करता है। (२) चरित्र-प्रधान—इसमें नाटककार का उद्देश्य किसी विशेष नायक या नायिका के गुणो का विकास प्रदर्शित करना होता है। अथवा किसी की निन्दा करके उसके अवगुणो का उद्घाटन किया जाता है। (३) व्यापार प्रधान—इसमें घटनाओ तथा क्रियाओं का अधिक मात्रा में सन्निवेश होता है। सम्वाद कम होते हैं तथा कार्यो के परिणामस्वरूप कोई विशेष स्वाभाविक तथा अनिवार्य फल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के मौलिक नाटक श्रेष्ठ होते हैं और वास्तविक नाटकीयता तथा नाट्यकौशल इसी प्रकार के नाटको मे मिलते हैं। (४) सगीत प्रधान—इसमे गीत, वाद्य, नृत्य आदि के द्वारा नाट्य व्यापार दिखाया जाता है। (५) उद्देश्य प्रधान—जिसमे किसी विशेष उद्देश्य का प्रतिपादन किया जाय। (६) सम्वाद प्रधान—इसमे सवाद के द्वारा नाटकीय प्रभाव व्यक्त होता है और भाषा शैली पर विशेष बल दिया जाता है।

रूपक

"रूपक काव्य की विशेष दिशा है जिसमें लोक-परलोक की घटित-उघटित घटनाओं का दृश्य दिखाने का आयोजन किया जाता है और इस कार्य के लिए अभिनय की सहायता ली जाती है।" शास्त्रीय परिभाषा मे नाटक को रूपक कहते हैं। रूप के आरोप के कारण उसे रूपक की संज्ञा दी गई है—"तद्रूपारोपात्तु रूपकं"

नट पर दुष्यन्त या राम का आरोप करने से रूपक बनता है। अवस्था अनुकरण को नाट्य कहते हैं—"अवस्थानुकृतिर्नाट्यं"। यह नाट्य रूप कहलाता है। वही नाट्य रूप रूपक भी कहलाता है। "रूपकं तत्समारोपात्"—क्योंकि इसमें आरोप पाया जाता है। जैसे—रूपक अलंकार में हम देखते हैं कि मुख पर चन्द्रमा का आरोप कर दिया जाता है—"मुखचन्द्रः"। वैसे ही नाट्य में नट पर रामादि पात्रों की अवस्था का आरोप किया जाता है। अतः इसे रूपक भी कहते हैं। जिस तरह इन्द्र, पुरन्दर, शक्र तीनों नामों से पुकारते हैं वैसे ही एक ही अर्थ में नाट्य, रूप तथा रूपक तीनों शब्दों का प्रयोग होता है।

अभिनय को ही नाटक कहते हैं। नाट्य नृत्त और नृत्य से आगे की वस्तु है। नाट्य या रूपक रसों पर आश्रित हैं जबकि नृत्य भाव पर आश्रित हैं। अतः वे दोनों भिन्न-भिन्न हैं। नाट्य रसाश्रित है. 'त्य भावाश्रित। इसलिए इनमें विषय भेद है। नृत्य शब्द की व्युत्पत्ति "नृत्" धातु स हुई है जिसका अर्थ है "गाज विक्षेप", जिसका तात्पर्य आंगिक अभिनय की बहुलता है (जबकि नाट्य में चारों तरह ". अभिनय पाये जाते हैं साथ ही नृत्य केवल देखने भर की चीज है, वहाँ श्रवणीय कुछ भी नहीं होता, कथोपकथन का वहाँ अभाव रहता है। लौकिक व्यवहार में 'यहाँ प्रेक्षणीयक (दृश्य) है' ऐसा प्रयोग नृत्य के लिए पाया जाता है। इसलिए नाटकादि रूपकों से नृत्य सर्वथा भिन्न वस्तु है।

रसों पर आश्रित होने के कारण रूपक के दस प्रकार होते हैं—

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यकेहामृगा इति ॥

अर्थात् नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथि, अङ्क, ईहामृग यह रूपक के दस भेद हैं।

(१) नाटक—यह रूपकों में मुख्य है और जातिवाचक शब्द बन गया है। इसकी वस्तु में पाँच सन्धियाँ, चार वृत्तियाँ, चौसठ सन्ध्यङ्ग माने गए हैं। इसमें पाँच से दस तक अङ्क होने चाहिएँ, जिससे कि पाँचों सन्धियों का पूर्ण समावेश हो सके। इसका विषय कथित न हो। इसका नायक धीरोदात्त. प्रतापी होना चाहिए, वह राजा, राजर्षि अथवा कोई अवतारी पुरुष होता है। इसमें शृंगार, वीर अथवा करुण रस की प्रधानता रहती है। शकुन्तला नाटक इसका सुन्दर उदाहरण है।

इस कसौटी से आज के बहुत से नाटक इस संज्ञा से बाहर हो जायेंगे। उस समय की परिभाषा आज अधिक उपयुक्त नहीं हो सकती।

(२) प्रकरण—प्रकरण का इतिवृत्त कल्पित तथा लोकसंश्रय होता है। इसका नायक मन्त्री, ब्राह्मण या वनिये में से कोई एक हो सकता है। यह नायक धीर-प्रशान्त कोटि का होता है तथा विघ्नों से मुक्त होता है। यह नायक धर्म, अर्थ तथा काम में तत्पर होता है। इसके अन्दर सन्धि, प्रवेशक तथा रसादि का समावेश ठीक

नाटक की तरह का होता है। प्रकरण की नायिका कुलीन तथा गणिका हो सकती हैं। "मालती माधव" तथा "मृच्छकटिक" इनके उदाहरण हैं।

(३) भाण—भाण वह रूपक है जहाँ कोई अत्यधिक चतु तथा बुद्धिमान विट अपने द्वारा अनुभूत अथवा किसी दूसरे के द्वारा अनुभूत वृर्त- .रित का वर्णन करे। यहाँ पर कोई दूसरा पात्र नही होता। वही विट आकाश-भाषित के द्वारा किसी से भाषण या कथोपकथन करता दिखाया जाता है। इसमे भारती वृत्ति की प्रधानता पाई जाती है, तथा एक ही अक की योजना की जाती है। इसकी कथावस्तु कवि कल्पित होती है। इसमे मुख तथा निर्वहण मे दो ही सन्धियाँ होती हैं। भारतेन्दु का "विपस्य विषमौपधम्" इसका उदाहरण है।

(४) व्यायोग—व्यायोग की कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध होती है तथा किसी प्रसिद्ध पौराणिक व्यक्तित्व पर आश्रित होती है। इसमे गर्भ तथा विमर्श ये दो सन्धियाँ नही होती। इसमे युद्ध वर्णित होता है पर वह युद्ध स्त्री जाति की प्राप्ति के कारण नही होता। व्यायोग की कथा एक दिन की होती है तथा उसमें एक ही अंक होता है। इसके पात्रो में अधिक सख्या पुरुष पात्रो की होती है। उदाहरण—भारतेन्दु कृत "धनन्जय विजय"।

(५) समवकार—इसकी कथा देवताओ व दैत्यो से सम्बद्ध प्रसिद्ध होती है। इसमे विमर्श सन्धि नही होती। कौशिकी से भिन्न वृत्तियाँ पाई जाती हैं। इसके नेता पात्र-देवता व दानव होते हैं। ये नायक इतिहास प्रसिद्ध होते हैं तथा संख्या मे १२ होते हैं। इन सबका फल भिन्न-भिन्न होता है ये सभी नायक वीर-रस से पूर्ण होते हैं। इसमें तीन अक होते हैं। इसके पहले अक में मुख व प्रतिमुख ये दो सन्धियाँ होनी चाहियें तथा इसकी कथा २४ घडी की होनी चाहिए। बाकी के दो अङ्को मे क्रमशः चार तथा दो घडी की कथा होनी चाहिए। नाट्यशास्त्र मे लिखित "अमृत-मंथन" इसका उदाहरण है।

(६) डिम—डिम नामक रूपक की कथावस्तु प्रसिद्ध रामायणादि से ग्रहीत होती है। इसमें सात्वती, आरभटी व भारती वृत्तियाँ होती हैं। इसमे नेता, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग आदि मर्त्येतर जाति के होते हैं। अथवा भूत, प्रेत, पिशाच, आदि पात्रो का भी समावेश होता है। इसके पात्र सख्या मे सोलह होते हैं। इसमें शृंगार तथा हास्य के अतिरिक्त बाकी ६ रसों का समावेश होता है। इसमे माया, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध, आदि चेष्टाओ तथा चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण का दृश्य दिखाया जाता है। इसके केवल चार अङ्क होते हैं तथा विमर्श सन्धि के अतिरिक्त बाकी चार सन्धियाँ पाई जाती हैं।

(७) ईहामृग—इसकी कथा मिश्रित, प्रख्यात व कल्पित का मिश्रण होती है। इसमे चार अङ्क होते हैं तथा तीन सन्धियाँ अर्थात् गर्भ व आमर्श नही होती। नर तथा देवता के नियम से इसमें नायक व प्रतिनायक की योजना होती है। ये दोनों इतिहास प्रसिद्ध तथा धीरोदात्त होते हैं। इसमें नायक हिरन की तरह—किसी

अलभ्य नायिका को प्राप्त करने की इच्छा करता है।

(७) अङ्क—इसका इतिवृत्त इतिहास प्रसिद्ध होता है। इसका स्थायी रस करुण होता है, तथा इसके नेता-पात्र प्राकृत मनुष्य होते हैं। इसमे केवल मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती है। भारती वृत्ति पाई जाती है। एक अङ्क होता है। करुणा रस होने के कारण इसमे स्त्रियो का रुदन होना चाहिये। इसके पात्रो मे वाग्युद्ध की एव जय तथा पराजय की योजना की जानी चाहिए।

(९) वीथी—यह रूपक भेद मार्ग की तरह है अतः वीथी कहलाता है। इसमें एक अङ्क होता है। मुख तथा निर्वहण ये दो सन्धियाँ होती हैं। इसका सूच्य रस शृंगार होता है। इसमें कौशिकी वृत्ति होती है।

(१०) प्रहसन—यह हास्ययुक्त होता है। इसके पात्र हैं—ब्राह्मण, पाखडी, नौकर और नौकरानियाँ आदि। इसके शुद्ध, विकृत तथा सङ्कर तीन भेद होते है। भारतेन्दु जी के "अन्धेर नगरी" "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" प्रहसन ही है। प्राचीन परिभाषा मे प्रहसन एकांकी ही होता था। भाण, वीथी आदि भी एकाकी ही होते थे।

उपरूपक के अठारह भेद हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य रासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, सलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीस और भाणिका।

आजकल हिन्दी नाटकों में इन भेदों का कोई उपयोग नही है। आजकल विषय के अनुसार नाटकों के भेद किये गए है—ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक। सुखान्त-दुखान्त का भी भेद किया जाता है। यथार्थवाद तथा आदर्शवाद का भी भेद माना जाता है। वस्तु प्रधान और भाव प्रधान का भी भेद होता है। कुछ नाटक कल्पना प्रधान भी हैं। जैसे—पन्त जी की ज्योत्सना। इनके अतिरिक्त एकाकी, गीत, नाट्य आदि भी भेद हैं।

"रङ्गमंच"

नाटक की पूर्ण सफलता उसके अभिनय मे है। हिन्दी का अपना स्वतन्त्र रगमंच नही है। अत. नाटककार अभिनेयत्व पर अधिक ध्यान नही देते। आधुनिक युग मे नाटककारो ने अभिनेयत्व की ओर विशेष ध्यान दिया है। सस्कृत के नाटको मे अभिनेयत्व को विशेष महत्व दिया गया था। अधिकाश सस्कृत नाटको का अभिनय सफल पूर्वक किया जा सकता था। उत्तर रामचरित जैसे क्लिष्ट नाटक की प्रस्तावना से विदित होता है कि वह भी अभिनय के लिए लिखा गया था।

भरतमुनि ने नाट्य शास्त्र मे अभिनय तथा रङ्गमच पर भी ध्यान दिया है। भरतमुनि के अनुसार प्रेक्षागृह (रङ्गशाला) तीन प्रकार के होते थे।

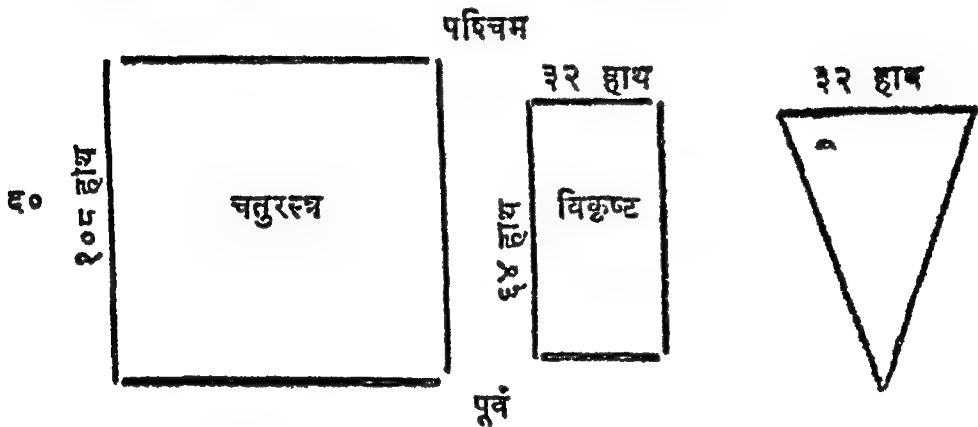
१. विकृष्ट.—विकृष्ट प्रेक्षागृह सबसे उत्तम माना गया है। इसकी लम्बाई चौड़ाई से दूनी होती थी। इसके भी तीन भेद होते थे। ज्येष्ठ की लम्बाई १०८,

मध्यम की लम्बाई ६४ हाथ और कनिष्ट की लम्बाई ३२ हाथ होती है। विकृष्ट मनुष्यो के लिए होता था।

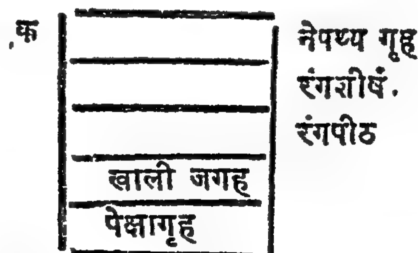
२. चतुरस्त्रः—इनकी लम्बाई चौड़ाई बराबर होती थी। ज्येष्ठ १०८ हाथ का, मध्यम ६४ हाथ का तथा कनिष्क ३२ हाथ का होता था। चतुरस्त्र देवताओं के लिए होता था।

३. त्र्यस्यः—यह त्रिकोण या त्रिभुजाकार होता था। इसमें केवल आपस के कुछ मित्र या परिचित बैठकर नाटक देखते थे।

उस समय की नाट्यशाला का चित्र इस प्रकार है.-



नाट्यशाला के भागः—नाट्यशाला के दो सम भाग होते थे। आगे का आधा स्थान दर्शकों के लिए तथा पीछे का आधा स्थान अभिनय तथा पात्रों के लिए होता था, नेपथ्यगृह, रंगशीर्ष तथा रंगपीठ होते थे। नेपथ्य गृह मे नट लोग अपनी वेश भूषा सजाते थे तथा यदि कुछ सुनाना होता था तो इसी में से सुनाया जाता था। नेपथ्य गृह से मिले हुए भाग को रगशीर्ष और उसके आगे के भाग को रंगपीठ कहते थे। रंगशीर्ष और रंगपीठ के मध्य जवनिका रहती थी। निम्नलिखित चित्र से यह स्पष्ट हो जायेगा।



नाना प्रकार की चित्रकारी रंगशीर्ष में ही दिखाई जाती थी। पर्दे भी रहते थे। लकडी के खम्बो पर चित्रकारी रहती थी। नीचे की भूमि चिकनी रहती थी प्रेक्षकगण रंगपीठ से चार हाथ की दूरी पर,बैठते थे। आरम्भिक पूजा आदि रंगशाला में दिखाई जाती थी। रंगशीर्ष मे असली अभिनय दिखाया जाता था रंगपीठ में ऐसे ऊपरी कार्य दिखलाये जाते थे जो दृश्य परिवर्तन के समय होते हो।

नृत्य आदि भी इसमें होते थे। प्रारम्भिक सूचनाएँ सूत्रधार यही से देता था।

आगे भाग जो दर्शकों के लिए होता था उसमे सोपानाकार बैठकें बनी होती थीं। प्रत्येक वर्ग के मनुष्यो के लिए यह बैठकें भिन्न-भिन्न होती थीं। बैठको के मध्य में खम्बे लगे रहते थे, उनके रंग से यह विदित हो जाता था कि यह बैठक किस वर्ण के लिए है। नेपथ्य गृह और रंगशीर्ष के मध्य मे दो द्वार होते थे। इन में से ही अभिनेता आया जाया करते थे। घोड़े रथ आदि दिखाने के लिए बाँसों, कपडों तथा चमड़े आदि का भी सामान रहता था।

नाटक और अभिनेयत्वः—अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या नाटक को अभिनय योग्य होना आवश्यक है? नाटक की सार्थकता उसके अभिनय में है। नाटक रूपक आदि शब्द अभिनय से संबंधित हैं। "नट या अभिनेता से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु नाटक कहलाती है"। किन्तु कालान्तर मे नाटक अभिनय के लिए न लिखे जाकर कथानक और शैली के लिए लिखे जाने लगे। जो नाटक अभिनय की दृष्टि से लिखे जाते हैं उनके लिए रंगमंच की आवश्यकताओं तथा प्रभाव का भी विशेष ध्यान रखना पड़ता है। अभिनेयत्व के अभाव में भी नाटक श्रेष्ठ हो सकता है। जो नाटक श्राव्य होते हैं उन्हें (Clozet Drama) कक्ष नाटक कहते हैं। अनुकरण नाटक का प्राण है। अनुकरण नाटक की एक ऐसी विशिष्टता है जो उसे अन्य साहित्यिक विद्याओं से पृथक करती है। यदि नाटक के मूल उद्देश्य में अभिनेयत्व हो और अच्छी साहित्यिक शैली में रचित हो तो अभिनय का अभाव दूर हो सकता है तथा कल्पना के सहारे गीत, शब्दावली के द्वारा उचित वातावरण और दृश्य विधान भी उपस्थित हो सकता है। इस प्रकार के नाटको से साहित्यिक नाटकों का विशेष महत्व हो जाता है। इस प्रकार के नाटक दृश्य तथा श्रव्य के बीच के रहेंगे। कुछ मनुष्यों का कहना है कि साहित्यिक नाटक रंगमंच के लिए नही होते तथा जो नाटक रगमंच के लिए लिखे जाते हैं वे साहित्यिक नही हो सकते। राधेश्याम के नाटक साहित्यिक नही हैं, वे रङ्गमंच के लिए हैं। यह बात उचित नही है। श्रेष्ठ नाटक वही है जो साहित्यिक भी हो तथा अभिनय के योग्य भी हो। नाटक को अभिनेयत्व प्रदान करने के लिए रंगमंच श्रेप्ठ होना चाहिए।

नाटकीय प्रभावः—आजकल के नाट्य प्रभोक्ताओं ने जनता को आकृष्ट करने के हेतु कुछ रंग प्रभावो का आयोजन किया है। ये रंग प्रभाव तीन प्रकार के हैं:—

१. **"आलोक प्रभावः"**:—इसका अभिप्राय यह है कि ऋतु, काल, प्रदेश, रस, भाव तथा वेला के अनुकूल रंगीन प्रकाश रंगपीठ पर दिया जाता है। कभी-कभी एक ही दृश्य में भिन्न-भिन्न प्रकार के रंगीन प्रकाश का आयोजन प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता है।

२. **"वाद्य-प्रभाव या नेपथ्य वाद्य"** :—अर्थात् नाट्य परिस्थिति के प्रभाव को तीव्र करने के लिए परिस्थिति के अनुकल वाद्य बजाये जाते हैं।

३. दृश्य प्रभाव :—नाटक मे ऐसे दृश्यों का समावेश किया जाता है जिसमे नाटकीय व्यापार अधिक वास्तविक तथा कुतूहलपूर्ण प्रतीत हो ।

इनके अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के प्रभावो का भी उल्लेख मिलता है। १. वेश-प्रभाव और २. वर्णन प्रभाव । ये दोनों आहार्य अभिनय में आ जाते हैं।

यह नाट्य प्रभोक्ता की सफलता है कि वह प्रकाश, वाद्य और दृश्य की योजना तीनो व्यवस्थापको से भली प्रकार कराये ।

मौन प्रयोग :—इसी का एक पक्ष है "रगमंच पर मौन" । मौन प्रयोग के द्वारा नाटक के दृश्य का प्रारम्भ भी किया जा सकता है । आगे आने वाले दृश्य का सकेत भी किया जा सकता है और किसी विशेष क्षण पर मौन के आयोजन द्वारा संवाद रोक कर या सवाद के स्थान पर केवल अभिनेताओ की मुखाकृति से और उनकी चेष्टाओ से बहुत सा अर्थ अभिव्यक्त किया जा सकता है। श्री सीताराम जी चतुर्वेदी ने मौन प्रयोग के निम्नलिखित लाभ बताये हैं :—

(१) "मौन से दर्शक के मन में एक तनाव उपस्थित होता है और आगे क्या होने वाला है, इसका कुतूहल जागृत होता है ।"

(२) "दर्शक की भावना और मानसिक वृत्ति को मौन गम्भीर कर देता है। सफक्लेस के नाटक के अन्त में "अन्धा ओडियस" राजभवन की सीढ़ियों से धीरे धीरे उतरता है तो जनता उसके दुर्भाग्य के अपरिहार्य विधान से विकम्पित हो उठती है। + + + + रंगमंच पर बहुत से लोगो का साथ साथ मौन होकर प्रवेश करना या मुँह ढके हत्यारो का प्रवेश करना अत्यन्त प्रभावशाली होता है।"

(३) "मौन में स्वाभाविकता होती है। नाटको में मौन व्यापार केवल यही हो सकता है कि रंगमंच पर एक ओर से दूसरी ओर टहला जाय, बैठा जाय, किसी खिड़की को खोला या बन्द किया जाय । ··· ··· ··· ··· ध्यान से किसी को देखा जाय, मुँह फेर लिया जाय या हाथ उठा भर दिया जाय । इन सब मौन क्रियाओ से नाटक में चेतना उपस्थित की जा सकती है। इसलिए कभी-कभी तो नाट्य प्रयोक्ता या अभिनेता ही नाटक का सम्वाद छोड़कर उनके बदले मौन व्यापार का प्रयोग कर लेते हैं।"

(४) "मौन से उन बातो की मनोवैज्ञानिक समझ उत्पन्न होती है—(क) जो लेखक के केवल निर्दिष्ट भर की हो और जिन्हें वह शब्दो मे प्रदर्शित न करना चाहता हो । (ख) जो अभिनेता द्वारा प्रयुक्त हो और जो मौन क्रिया से इस प्रकार लोगो को वशीभूत कर सके कि वह प्रभाव शब्दो द्वारा प्रकट करने में अधिक प्रभावशाली न हो सके। ··· ·· ··· जब से इब्सन के यथार्थवादी नाटक खेले जाने लगे हैं तब से मौन का महत्व नाट्य प्रभोक्ताओ और अभिनेताओं दोनों ने समझ लिया है।"

(५) "इस मौन से नाटक आगे बढ़ता चलता है। मानसिक सघर्ष, प्रसन्नता और सन्देह केवल शब्दो में ही नहीं कहे जा सकते वरन् मौन से व्यक्त हो सकते हैं।"

(६) "सुनकर जो मौन धारण किया जाता है वह रंगमंच को भर देता है अर्थात् किसी दूत द्वारा समाचार सुनकर सुनने वालों का विशेष मुद्रा से उस पर मौन हो जाना बड़े महत्व का होता है।"

(७) "मौन के नाटक का चरमोत्कर्ष भी सधता है।" (समीक्षा-शास्त्र से)

हिन्दी रंगमंच

यहाँ पर हिन्दी रंगमंच के सम्बन्ध मे विचार करना अप्रासगिक न होगा। जिस समय हिन्दी नाटको का प्रणयन प्रारम्भ हुआ था, उस समय यहाँ उर्दू का प्रभाव था। पारसी थिएट्रिकल कम्पनियाँ कार्य कर रही थी। समाज की रुचि भी परिष्कृत न थी। वे अभिनेताओ के रंग-बिरंगे कपड़ो तथा तड़क-भड़क के पर्दो को देख कर तथा विचित्र गानो को सुनकर ही प्रसन्न हो जाते थे। "गुलबकावली" तथा "इन्द्रसभा" जैसे नाटक खेले जाते थे। यदि कभी हिन्दी नाटक खेले भी जाते थे तो न तो दृश्यो का ही उचित विधान हो पाता था और न पात्र ही हिन्दी के शब्दो का उचित उच्चारण कर सकते थे। वेश-भूषा का भी उन्हे उचित ज्ञान न था। वेश-भूषा में देश काल का ध्यान नही दिया जाता था। भगवान कृष्ण को बिरजिस पहिना देते थे। उस समय पारसी नाटक मण्डलियों का प्रभाव इतने व्यापक रूप में था कि अन्य नाटक मण्डलियाँ भी उससे प्रभावित हुए बिना न रह सकी। पारसी थिएट्रिकल कम्पनियो द्वारा खेले हुए नाटको के सम्बन्ध मे भारतेन्दु जी के विचार दृष्टव्य हैं—

"काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त (धीरललित) नायक दुष्यन्त खेमटे वालियों की तरह कमर पर हाथ रख कर मटक-मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थीबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान यह कह कर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता, वे लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।"

भारतेन्दु जी ने अपने नाटको का अभिनय सफलतापूर्वक किया है। भारतेन्दु जी ने "सत्य हरिश्चन्द्र" का अभिनय बलिया मे सफलतापूर्वक किया। धीरे-धीरे नाटको मे तो साहित्यिकता का समावेश हो रहा था किन्तु रगमच का विकास न हो सका।

भारतेन्दु युग मे नाटको को उन्नत बनाने का प्रयास किया गया। प० शीतला प्रसाद त्रिपाठी कृत "जानकी मंगल" नाटक बनारस थियेटर्स मे बडी सफलता के साथ खेला गया। "रणधीर प्रेममोहिनी" तथा "सत्य हरिश्चन्द्र" का अभिनय कानपुर मे बड़ी धूम-धाम के साथ किया गया किन्तु इनके द्वारा रगमच का विकास न हो सका। कुछ शिक्षित लोगो की रुचि के कारण हिन्दी रंगमच अपना अस्तित्व बनाए आ रहा था, लेकिन वह जन-साधारण की वस्तु न हो सका। पारसी नाटक कम्पनियो ने रगमच का प्रचार तो खूब किया किन्तु वे एक सजीव सस्था का निर्माण नहीं

कर सके कथावाचक श्री राधेश्याम जी तथा बेताब जी ने कुछ नाटक रंगमंच के अनुकूल लिखे, जैसे—वीर अभिमन्यु, महाभारत आदि। सम्भवतः रंगमच का विकास होता किन्तु सिनेमा के प्रादुर्भाव के कारण उसकी प्रगति रुक गई।

श्री व्याकुल जी की भारत नाटक-मण्डली ने हिन्दी नाटको के अभिनय में योग देने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु वह अधिक दिन तक अपना अस्तित्व न रख सकी। वैयक्तिक रुचि तथा साहित्यिक संस्थाओ ने हिन्दी रंगमंच को जीवित रखने का प्रयत्न किया। कुछ नाटक-मण्डलियाँ राजा रईसो के मनोरंजन के लिए अपना अस्तित्व बनाए रही। डी० एल० राय, प्रसाद, उग्र आदि के नाटकों का अभिनय स्कूल, कालेज आदि मे किया गया। श्री माखनलाल चतुर्वेदी के कृष्णार्जुन युद्ध का भी सफलतापूर्वक अभिनय किया गया। पंडित वद्रीनाथ भट्ट की "चुगी की उम्मीदवारी" का भी सुन्दर अभिनय हुआ।

आधुनिक युग में एकाकी नाटकों के प्रादुर्भाव के कारण रंगमंच का कुछ विकास हुआ। नाटको की अपेक्षा एकाकियो मे सामान तथा साज-सज्जा की कम आवश्यकता होती है। श्री रामकुमार वर्मा के "अट्ठारह जुलाई की शाम," श्री जगदीश शरण माथुर के "भोर का तारा", "कलिंग विजय" आदि एकाकियों का सुन्दर अभिनय कालेजो में किया गया तथा इन्होने जनता का अच्छा मनोरंजन किया। आजकल नाटककारो का झुकाव नाटको को संक्षिप्त तथा भाषा को सरल बनाने की ओर बराबर जा रहा है। प्रसाद जी के नाटक अभिनय के योग्य नही हैं। प्रसाद जी के नाटको का अत्यधिक विस्तार तो नाटको मे बाधक है ही, किन्तु उनकी सस्कृत गर्भित दार्शनिक प्रधान भाषा भी जन-साधारण को बोध-गम्य नही। प्रसाद के नाटकों का अभिनय तभी सफलतापूर्वक हो सकता है जब दर्शक और अभिनेता दोनो ही सुसंस्कृत हो तथा नाटक के अनुकूल रगमंच हो। भाषा की क्लिष्टता के सम्बन्ध में प्रसाद जी का मत है कि यदि अभिनेता अच्छे हो तो भाषा दुरूह हो ही नही सकती। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय प्रसाद जी का मत दृष्टव्य है :—

"रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिये लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो व्यवहारिक है। हाँ रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है।"

प्रसाद जी का विचार था कि हिन्दी रंगमच को तभी सफलता मिल सकती है जब उसे स्त्री पात्रों का सहयोग प्राप्त हो क्योकि स्त्री पात्रो का अभिनय स्त्री पात्रों द्वारा ही सफलतापूर्वक हो सकता है। संयुक्त प्रान्त में सगीत शास्त्र का विशेष प्रचार नही है, इस कारण भी नाट्य-कला को प्रोत्साहन न मिल सका।

हिन्दी रंगमंच तभी उन्नति कर सकता है जब पन्त, निराला, उदयशंकर भट्ट आदि उसके विकास में पर्याप्त योग दें। शिक्षित युवक तथा युवतियाँ नाटकों के अभिनय में क्रियात्मक भाग लें। नाटक इस प्रकार के होने चाहियें जिनमें जीवन की

स्वाभाविकता के साथ-साथ रंगमंच की आवश्यकताओ की ओर पर्याप्त ध्यान दि
गया हो तथा साहित्यिक शौष्ठव और शालीनता का भी समावेश हो।

सिनेमा और रंगमंच

आज सिनेमा ने जनता के मनोरंजन के लिए रंगमंच का स्थान ले लिया है। सिनेमा को कुछ ऐसी सुविधायें प्राप्त हैं जो रंगमंच को नही है। रंगमंच पर लड़ती हुई रेलगाड़ी, डूबते हुए जहाज तथा आधुनिक युग के दृश्य नहीं दिखाये जा सकते, किन्तु सिनेमा के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है। उसे नाटक मण्डलियों के समान लम्बे चौड़े स्टेज बनाने की आवश्यकता नही होती। यह सब कुछ होते हुए भी सिनेमा रंगमंच का स्थान नही ले सकता। वास्तव मे सिनेमा छाया है। वस्तु और छाया में अन्तर है। सिनेमा देखते समय दर्शको को यह स्मरण रहता है कि हम छाया चित्र देख रहे हैं। नाटक वास्तविकता का अनुकरण है और सिनेमा अनुकरण का भी अनुकरण है। सिनेमा में जो भूलें हो जाती हैं उनमें सुधार नही हो सकता। इङ्गलैण्ड, अमरीका आदि देशों में सिनेमा की विशेष उन्नति होते हुए भी नाटकों का महत्व कम नही है।

श्रव्य और नाटक (रेडियो प्ले या फ़ीचर)

आजकल रेडियो पर भी बहुत से नाटक सुनवाए जाते हैं, जिन्हें पूर्णतः श्रव्य कहेंगे। इन नाटकों मे पात्रो की सख्या बहुत कम होती है, घटनाचक्र सीमित होता है तथा सम्वाद स्वाभाविक होते हैं। इन नाटकों की अवधि भी आध घंटे की होती है। इन नाटको में बीच की कथा, कथा प्रसंग की उद्घोषणा द्वारा करा दी जाती है। इन नाटकों के चार अंक होते हैं, १—सूचना, २—सम्वाद, ३—ध्वनियुक्त व्यापार योजना, ४—संगीत। इन रेडियो नाटक मे सम्वाद के अतिरिक्त अन्य सब कार्यों की सूचना सूचक के द्वारा दी जाती है। सूचक की भाषा काव्यमय तथा प्रभावशाली होते हुए भी इतना सरल होती है कि वह उसे पढते समय वाचिक स्वर उतार चढाव द्वारा पात्रों के भावों तथा विचारो को अभिव्यक्त करता चलता है। इन नाटकों मे संवाद की योजना इस प्रकार से की जाती है जिससे अधिक मात्रा में वाचिक अभिनय का अवसर मिल सके। रेडियो नाटक ध्वनियुक्त व्यापार योजना पर अधिक ध्यान दिया जाता है। जो नाटक रंगमच पर दिखाए जाते हैं उनमे तो यह सुविधा रहती है कि अभिनेताओं की समस्त क्रियायें प्रत्यक्ष हो जाती हैं। किन्तु श्रव्य नाटको मे यह सब क्रियाएँ नही दिखाई जा सकती और न प्रत्येक क्रिया की सूचना ही दा जा सकती है। क्योकि इससे भावों की शृखला टूटने का भय रहता है। इसलिए इसमें ध्वनियुक्त व्यापारो की योजना की जाती है जिससे श्रोता समस्त क्रिया-कलाप को श्रवण से सुन कर जान सकें। जैसे प्याले का धोना, थाली गिरना, किवाड़ की भड़भड़ाहट, घड़ी की टिकटिक, तलवार की झनझनाहट, हाथी की चिंघाड़ें, घोड़ों की टापों आदि। अन्य नाटकों के समान इसमें भी संगीत होता है। किन्तु इसमें यह इङ्गित करना पड़ता है कि कहाँ किस राग, किस ताल और किस लय में

कउ के साथ नृत्य या गीत है या केवल वाद्य या नृत्य है।

क्या भारतीय अभिनय कला पाश्चात्य रंगमंच की ऋणी है ?

कुछ विद्वानो का कथन है कि 'भारतीय अभिनय कला पाश्चात्य रगमच की ऋणी है।' उनकी यह धारणा हास्यास्पद तो है ही साथ ही ऐतिहासिक अनभिज्ञता की भी सूचक है। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जव भारतीय नाट्यकला पूर्ण उन्नति की अवस्था मे थी, उस समय योरुप के निरावरण श्वेताग महाप्रभु वाक्यो के समुचित प्रयोग तक से अपरिचित थे। योरुपीय नाटको मे या तो अश्लील गानो की भरमार थी, या भयानक घटनाओ की। भारत मे प्रथम ही यह व्यवस्था वन गई थी कि मृत्यु, हत्या और उत्पीडन के भयानक दृश्य रगमंच पर न दिखाये जायँ। इसका परमोत्कृष्ट प्रभाव यह हुआ कि यहाँ के नाटक वर्वर और असभ्य प्रदर्शन से वच गये और लोकरजनकारी वने रहे। भारतीय नाटककारो ने देश, काल और पात्र का यथोचित ध्यान रखा है। भिन्न-भिन्न पात्रो से उनके अनुरुप संस्कृत अथवा प्राकृत भाषा का व्यवहार कराया है। चमत्कार उत्पन्न करने की दृष्टि से भारतीय नाट्य शास्त्र मे वस्तु विकास सम्वन्धिनी अनेक ज्ञातव्य शैलियाँ निश्चित की गई थी। जिसका प्रयोग उस काल के नाटको मे बड़ी सफलता के साथ किया गया था। रगमच भी उस समय सम्पन्न तथा विकसित थे। नेपथ्य, आकाश, भाषित, स्वगत आदि की विधियाँ ईसवी पूर्व शताव्दियो से व्यवहार में लाई जाती थी जो इस तथ्य की साक्षी हैं कि यहाँ की नाट्य कला उन्नति की चरम सीमा मे थी। अभिनय की जो सूक्ष्म और मार्मिक व्यवस्थाएँ भारतीय नाट्यकला के उस पुरातन काल मे प्रचलित थी उनका ठीक-ठीक परिचय यूरोप को सोलहवी और सत्रहवी शताब्दियों में भी प्राप्त नही हो सका था। उसमे से कुछ तो ऐसी है जिनकी पूर्ण जानकारी उन्हे अभी तक नही है। योरुप के अश्लील और अभद्र उछल कूद को नाट्य और अपरिष्कृत काष्ठ पटो को रगमच की सज्ञा नही दी जा सकती। अत. भारतीय अभिनय कला को पाश्चात्य रंगमंच की ऋणी मानना न्यायसगत नही।

इससे पूर्व कि यह प्रमाणित किया जाय कि भारत का अपना रंगमंच था और उसके अपने सिद्धान्त थे। भारत के नाट्य साहित्य की प्राचीनता पर एक विहंगम दृष्टि डालना अनुपयुक्त न होगा।

भारत की सस्कृति आध्यात्मिक रही है अतः यहाँ प्रत्येक वस्तु का अन्त सुखात माना गया है। दुखान्त काव्य लिखना हमारी सस्कृति के विरुद्ध रहा है। योरुप के नाटक घटना प्रधान हैं और दुखान्त होते हैं। यही वह मौलिक भेद है जो कि भारतीय नाट्य कला को पाश्चात्य नाटको से विलकुल भिन्न एव अप्रभावित सिद्ध करता है। दूसरी वात यह है कि यश से वचने की भावना से प्रेरित होकर यहाँ के अधिकांश कवियो ने अपने सम्वन्ध मे अधिक नही लिखा है। अतः वहिर्साक्ष्य के अभाव मे अन्तः साक्ष्य से काम लेना पड़ता है। हिन्दी के नाटको मे निश्चित तिथियो का सर्वथा अभाव है। परन्तु अन्तःसाक्ष्य के आधार पर जो सामग्री प्राप्त होती है।

उससे भारतीय नाट्य कला की प्राचीनता सिद्धि में कोई विशेष बाधा उपस्थित होती। पाणिनि ने ईसा से लगभग ४०० वर्ष पूर्व व्याकरण जैसे शास्त्र का सृजन किया था जिसमे भाषा की शक्ति और उसके विकास का वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। अतः उस समय नाटकों का लिखा जाना सम्भव प्रतीत होता है। पाणिनि ने अपने सूत्रो मे 'कृशाश्व' तथा 'शिलालिन्' नाम के दो नटो का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त पातजलि के महाभाष्य मे भी कस वध तथा वलि वन्धन नामक दो नाटको का वर्णन मिलता है।

विनय पिटक नामक प्राचीन शास्त्र ग्रन्थ मे रगशाला तथा नाटक का उल्लेख किया गया है।

इसी प्रकार ईसा से प्रायः २०० वर्ष पूर्व जैन कल्प सूत्रो मे नटो तथा नटियो का वर्णन मिलता है।

भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र मे कुछ प्राचीन आचार्यों का उल्लेख किया है जिन्होने नाट्य शास्त्र पर लिखा है। लक्षण ग्रन्थो का प्रणयन तब होता है जब लक्ष्य ग्रन्थो का निर्माण हो चुकता है।

संस्कृत भाषा के नाटककार कालिदास की प्राचीनता अभी तक निश्चित नही हो सकी है। किसी ने उन्हे चौथी ईसवी सदी का माना है और किसी ने ईसा पूर्व तक का। डा० पेटर्सन का विचार है "Kalidas stands near the beginning of Christian era indeed, he does not over top it."

सुरगुजा रियासत की रामगढ पहाड़ी मे दो गुफाये प्राप्त होती हैं जिसमें अकित लेखो से स्पष्ट है कि वे नटो के विश्राम स्थल के रूप मे प्रयोग में आती थी। ये गुफाये ३२० ई० पूर्व की मानी जाती हैं। अतः स्पष्ट है कि हमारे यहाँ भगवान् बुद्ध से पूर्व भी नाट्यकला थी।

जब भारतीय नाट्य साहित्य का स्वर्ण युग था तब योरुप की नाट्य कला बहुत पिछड़ी अवस्था मे थी। वहाँ के रंगमंच पर प्रभावोत्पादन के विचार से बहुत से अद्भुत और भीषण प्रदर्शन किये जाते थे। प्रत्येक पात्र एक दूसरे के प्रश्नो का उत्तर कविता की भाषा मे देते थे। प्रत्येक प्रकार के नाटक कविता से पूरित थे। दृश्यकाव्य और गीतिकाव्य के वास्तविक भेद को उस समय तक नही समझ सके थे। योरुप मे अरस्तू ही सर्वप्रथम ऐसा कलाशास्त्री था जिसने नाटक, महाकाव्य और गीति-काव्य के अन्तर को स्पष्ट किया। परन्तु अरस्तू के दो हजार वर्ष बाद तक योरुप मे कोई ऐसा प्रतिभा सम्पन्न कलाविद नही हुआ जो इनके अन्तर को व्यावहारिक रूप से स्पष्ट कर सकता और तीनो का पृथक्करण करने मे प्रवृत्त होता। योरुप मे अभी सौ वर्ष पूर्व तक साधारण बातचीत जिसमे कविता की लेशमात्र आवश्यकता नही है, गाकर की जाती थी। भारतीय नाट्य साहित्य की तुलना मे योरुपीय नाट्य साहित्य तथा उसकी दशा को स्पष्ट करने वाले डा० श्यामसुन्दर दास जी के विचार द्रष्टव्य हैं :—

'उस पुरातन काल की बात जाने दीजिए जब यूनानी अभिनेता बैलगाड़ियों पर बैठकर अभिनय करने निकलते थे अथवा जुलूस निकाल कर अश्लील दृश्यों का प्रदर्शन करते थे। अभी तीन सौ वर्ष पहले तक—शेक्सपियर के समय तक—नकाबपोश पात्र रंगमंच पर आकर अपना बेढंगा रूप दिखाया करते थे। परदे गिराने और चढ़ाने का इतना भद्दा ढंग प्रचलित था कि अभिनय में स्वाभाविकता आ ही नहीं सकती थी। आदमियों को लगकर इधर से उधर परदा खींचना पड़ता था। नाटकों के दृश्य दिखाने के लिए परदों पर जो चित्रकारी की जाती थी वह भी यथार्थता की अनुरूपता नहीं उत्पन्न कर सकती थी। थिएटर इतना बड़ा और विशालकाय होता था कि रंगमंच में प्रवेश करते ही अभिनेता बिल्ली बन जाता था। उसकी स्वाभाविक गति में वहीं से विक्षेप पड़ने लगता था और वह स्वयं ही एक कृत्रिम वातावरण का अनुभव करने लगता था। परन्तु दर्शकों के लिए तो अभिनय का सम्पूर्ण व्यापार और भी मिथ्या रूप धारण कर लेता था। यदि कोई पात्र रंगमंच में प्रवेश कर किसी कमरे में आता है जिसमें पुरानी रीति के अनुसार एक खिड़की और कुछ कुर्सियाँ पड़ी हुई हैं और फिर वह इस कमरे के आगे बढ़कर स्टेज के किनारे तक पहुँच जाता है जहाँ रोशनी हो रही है और जहाँ से आगे के दर्शक उसकी पीठ मजे से देख सकते हैं तो यह अस्वाभाविकता की हद होगई। इसके उपरान्त तो यदि वह पात्र अपने मन में कुछ बड़बड़ाए स्वगत का बहाना करके अपने चरित्र, विचारों और इच्छाओं का परिचय देने लगे तो भी दर्शकों को अधिक नहीं खटक सकता क्योंकि वे तो इसके पहले ही सबसे अधिक अस्वाभाविक और खटकने वाली बात का सामना कर चुके हैं। वह जितना चाहे बके-झके अब तो उसके लिए सब कुछ ज्ञतव्य है। ये सब विचित्रताएँ उस समय यूरोप में प्रचलित थीं जिस समय शेक्सपियर जो संसार साहित्य का शिरोमणि कहलाता है, अपने नाटकों की रचना कर रहा था।"

अतः स्पष्ट है कि शेक्सपियर के समय तक योरुप में यह ज्ञान न था कि रंगमंच कैसा हो, नाटक कैसा हो, नाटक घर कैसा हो। जब स्वयं ही उनके पास कुछ नहीं था तब वे भारत को क्या ऋण दे सकते थे। भारत में तो बहुत पहले ही नाटक का रंगमंच का नाटक घर का तथा पात्रों का पूर्ण वैज्ञानिक विश्लेषण एवं वर्गीकरण हो चुका था। भारतीय नाट्यशाला और नाट्यकला में योरुपीय नाट्यकला निकृष्ट ही कही जायेगी। डा० श्यामसुन्दरदास जी लिखते हैं :—

'रंगमंच पर कौन से दृश्य चित्र की सहायता से दिखाये जाने चाहिएँ, दृश्य वास्तविक वस्तुओं द्वारा दिखाए जा सकते हैं और किन दृश्यों की सूचना केवल परदा गिरा कर देनी चाहिए। यह अब से दो सौ वर्ष पहले इंगलैंड को विदित नहीं था।'

भारतवर्ष में नाटकों का इतना गम्भीर तथा वैज्ञानिक विश्लेषण, विभाजन तथा वर्गीकरण हुआ है कि आज यह देखकर आश्चर्य होता है। भारतीय नाट्य

शास्त्र एवं रंगमंच बहुत पहले ही समुन्नति को प्राप्त हो चुके थे ।

भरतमुनि के अनुसार प्रेक्षागृह (रंगशाला) तीन प्रकार के होवे थे :—

(१) विकृष्ट :—विकृष्ट प्रेक्षागृह सबसे उत्तम माना गया है। इसकी लम्बाई १०८ हाथ होती थी।

(२) चतुरस्त्र :—इसकी लम्बाई ६४ हाथ तथा चौड़ाई ३२ हाथ होती थी यह प्रेक्षागृह मध्यम कोटि का होता था।

(३) त्र्यस्त्र :—यह त्रिकोण या त्रिभुजाकार होता था। इसमे केवल आपस के कुछ मित्र या परिचित बैठकर नाटक देखते थे। प्रेक्षागृहों का आधा स्थान दर्शकों के लिए और आधा अभिनय तथा पात्रों के लिए नियत रहता था। नेपथ्यगृह तथा रग शीर्ष भी होते थे।

इसी प्रकार अभिनय, वस्तु तथा पात्र आदि का वैज्ञानिक तथा गम्भीर विश्लेषण एवं वर्गीकरण मिलता है।

यो तो संस्कृतियो मे आदान-प्रदान होता रहता है। परन्तु एक को ऋणी और दूसरे को दानी कहना एक का उपहास करना है कुछ बातो मे भले ही पाश्चात्य रंगमंच से प्रभावित हो किन्तु अधिकाश बातो मे तो भारतीय रंगमंच विल्कुल अप्रभावित है। उसका सब कुछ अपना है। उसने पश्चिम से इस सम्बन्ध मे कुछ भी नही लिया है।

भारत मे नाटक अको मे विभाजित किए गए हैं परन्तु यूनानी नाटकों मे सम्मिलित कोरस का प्रयोग होता है। वही एक अंक की समाप्ति तथा दूसरे के आरम्भ का प्रतीक होता था।

स्वगत कथन दोनो देशो की नाट्यकला मे मिलते हैं।

भारतीय नाटक सुखान्त होते थे किन्तु योरुपीय नाटक ट्रेजडी प्रधान हैं।

कुछ विद्वानो ने 'यवनिका' शब्द को लेकर भारतीय अभिनय कला को पाश्चात्य रंगमंच की ऋणी माना है।

किन्तु यह तर्क भ्रमपूर्ण है क्योकि हमारे संस्कृत नाटको मे जवनिका शब्द का उल्लेख मिलता है।

कुछ विद्वानो ने पाश्चात्य ऋण स्वीकार करते हुए कहा है कि 'शकुन्तला' पर इसकी छाया है और 'रत्नावली' पर अमुक की। यह तर्क भी मिथ्या है क्योंकि भाव तो सम्पूर्ण विश्व मे एक से हो सकते हैं। अतः ऐसा भाव साम्य साहित्य मे नवीन नही है।

वस्तुतः भारतीय अभिनय कला को पाश्चात्य रंग मंच की ऋणी मानना किसी प्रकार न्यायसंगत नहीं।

यह भ्रम प्रकाश में क्यों आया तथा वस्तुस्थिति क्या है इस सम्बन्ध में डा० श्यामसुन्दरदास जी के विचार अत्यन्त सुन्दर हैं।

"दु:ख है कि अभिनय की प्राचीन उन्नत कला हमें विस्मरण हो गई है और हम नए सिरे से जो शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। वह पश्चिम को हमें कह कर दी जा रही है। इसमें सन्देह नही कि आधुनिक भारतीय रंग मच पश्चिम की शैली पर ही गठित हो रहा है और अभिनय का प्रकार भी अधिकतर पाश्चात्य ही है। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि इन दिनो हम पश्चिम से जो कुछ ग्रहण कर रहे हैं वह सर्वथा नवीन और नवाविष्कृत नहीं है। इसका बहुत कुछ अंश किसी न किसी रूप में पूर्व की देन है। यदि अपने साहित्य और इतिहास का अध्ययन अधिक मनोनिवेश के साथ किया जाय तो निस्सन्देह बहुत सी कलायें और विद्यायें जिन्हे हम पश्चिमीय समझ रहे है अपने ही देश की सिद्ध होगी। आज हम एक शताब्दी पूर्व के यूरुप के रंगमंच की नकल करके अपने को बहुत अधिक विकास प्राप्त और उन्नत मानते है परन्तु यदि हम बीस शताब्दी पूर्व के भारतीय रगमंच के नकल करने की योग्यता प्राप्त कर सकें तो हम देखेंगे कि आज की अपेक्षा हम पिछड़े हुए नही है। पर कठिनाई यह है कि वह योग्यता प्राप्त करने की न तो हमें सुविधा ही प्राप्त है न हमारे अन्तःकरण में इस विषय की कोई दृढ़ प्रेरणा ही होती है। हमारी चेतना मन्द हो रही है और जो हमें सुगमता से मिल जाता है उसे ही हम आँख मूँद कर अपना लेते हैं। हमें इन दिनो एक शताब्दी या कम से कम पचास वर्ष पूर्व का यूरोपीय रंगमंच मिल गया है तो हम उतने ही से प्रसन्न और रीझे हुए हैं।"

यदि आज हम अपने साहित्य का उचित अध्ययन करे तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि पश्चिम ने पूर्व से ही सब कुछ लिया है, बाइबिल ने भी इस सत्यता को स्वीकार किया है—"Light was brought from the East"

मैक्समूलर ने भी कहा है—"यदि कोई मुझसे यह बात पूछे कि वह देश कौन और कहाँ है जहाँ मनुष्यो ने इतनी मानसिक उन्नति की है कि वह उत्तमोत्तम गुणों की वृद्धि कर सका हो और जहाँ मानव सम्बन्धी बड़ी बड़ी गूढ़ बातो पर विचार किया गया हो तो मैं यही उत्तर दूँगा कि वह देश भारतवर्ष है।"

इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए श्री D. O Brown (ब्राउन) ने भी कहा है—"यदि हम पक्षपात रहित होकर भली-भाँति परीक्षा करें तो हम को स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दू ही सारे संसार के साहित्य, धर्म और सभ्यता के जन्मदाता हैं।"

यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अन्य विषयो की भाँति रंग मंच भी भारत का अपना है। अतः भारतीय अभिनय कला को पाश्चात्य रंगमच की ऋणी मानना न्यायसंगत नही।

भारतीय नाटक की उत्पत्ति—मानव मे अनुकरण की प्रवृत्ति अत्यन्त स्वाभाविक तथा अनादि है। नाटक इसी अनुकरण प्रवृत्ति के फलस्वरूप प्रतीत होते हैं। नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे दो दृष्टिकोण हैं—(१) भारतीय दृष्टिकोण

(२) पाश्चात्य दृष्टिकोण।

सर्वप्रथम पाश्चात्य दृष्टिकोण पर विचार करेंगे। पाश्चात्य विद्वानों ने यूनान में (जो योरुप का सर्वप्राचीन नाटकों का देश है) नाटको की उत्पत्ति 'मेपोल' नामक उत्सव मे होने वाले नृत्य से मानी है। यूनान के एल्यूसिस नामक स्थान में सायनतुला के समय एक बहुत बडा उत्सव हुआ करता था जिसमें धान्य की देवी डेमिटर की पूजा होती थी। उस अवसर पर कुछ थोड़ा सा धार्मिक उत्सव भी होता था। पाश्चात्य विद्वानो का विचार है भारतीय नाटकों की उत्पत्ति भी इसी प्रकार के 'इन्द्रध्वज' नामक महोत्सव से हुई है। इसके लिए उन्होने भरत मुनि के नाट्य शास्त्र का उल्लेख किया है जहाँ कि इन्द्रध्वज का वर्णन है—

'अयं ध्वज मह ! श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्त्तते।
अवेदानीमय वेदों, नाट्य संज्ञा प्रयुज्यताम् ॥'

आज भी नैपाल मे यह उत्सव मनाया जाता है। नाटक की उत्पत्ति केवल नृत्य से ही नही मानी जा सकती। नाटक के मूल मे तो अनुकरण की प्रवृत्ति वर्तमान है। नाटक का आकार नृत्य, अभिनय एवं अनुकरण के मिश्रण से बनता है। 'मेपोल' या 'इन्द्रध्वज' केवल मात्र उत्सव हैं। उनमे अनुकरण के तत्व का अभाव है। अतः उनके द्वारा नाटकों की उत्पत्ति मान लेना न्यायसंगत नही।

प्राचीनकाल मे जिस प्रकार धन-धान्य आदि के लिए देवताओ का पूजन होता था उसी प्रकार बडे बड़े वीरों तथा ऐतिहासिक पुरुषो का भी पूजन होता था। डाक्टर रिजवे का विचार है कि यूनानी ट्रेजडी का मूल वीरपूजा है, वीरो के शव सुरक्षित रख लिए जाते थे और प्रति वर्ष उनकी स्मृति मे उन मृतकों के वीरता-पूर्ण कृत्यों का अभिनय करते थे। उन नृत्यो मे कही कही जैसे जापान और जावा आदि देशों मे कुछ कथोपकथन भी होते थे जिससे उनको एक प्रकार से नाटक का ही रूप प्राप्त हो जाता था। डा० रिजवे का विचार है कि भारतीय नाटको की उत्पत्ति भी वीरपूजा ही से हुई है। उन्होने वीरपूजा की ओर संकेत करते हुए कृष्णलीला तथा रामलीला आदि को भारतीय नाटको का जन्म माना हैं।

डा० कीथ ने ऋतु परिवर्तन को नाटकों का मूल माना है। यह युक्तियुक्त प्रतीत होता है क्योकि संसार के प्रत्येक देश मे ऋतु परिवर्तन के अवसर पर समाज मे सामूहिक नृत्य गीत हुआ करते थे। उनकी धारणा है कि यही नृत्य गीत आदि नाटको के जन्मदाता हैं। उन्होने अपने इस मत की पुष्टि के लिए 'कस-वध' नामक नाटक की ओर सकेत किया है जिसका उल्लेख पातजलि के महाभाष्य मे आता है। 'कंस-वध' मे लिखा है कि कंस और उनके अनुयायियों ने नीले वस्त्र धारण किए थे और कृष्ण तथा उनके अनुयायियो ने लाल वस्त्र धारण किए थे। डा० कीथ ने इसका अर्थ यह बतलाया कि यह शिशिर ऋतु पर ग्रीष्म ऋतु की विजय का रूपक है किन्तु डा० कीथ का मत युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान पिशेल ने नाटको की उत्पत्ति कठपुतलियो के नाच से

मानी है। उन्होने कहा है कि आज के नाटक कठपुतलियो के उस नाच के विकसित रूप हैं। उन्होने प्रमाणस्वरूप दो शब्दो का विशेष रूप से उल्लेख किया है। पहला शब्द है सूत्रधार दूसरा स्थापक।

ये कठपुतलियाँ सूत्रों मे बाँध कर नचाई जाती थीं जो व्यक्ति पर्दे के अन्दर से उन सूत्रों का संचालन करता था वह सूत्रधार कहलाता था। कठपुतलियों को यथा-स्थान रखने वाला स्थापक कहलाता था। संस्कृत नाटक जब अपने विकसिततम रूप में था उस समय भी ये दोनो शब्द ज्यों के त्यो प्रयोग मे आते रहे। पिशेल का यह विचार है कि दोनों शब्द उसी समय के हैं जब कठपुतलियाँ नचाई जाती थीं और भावसाध के कारण सस्कृत नाटकों मे इसका प्रयोग होता रहा। संस्कृत साहित्य में कठपुतलियों के नृत्य का वर्णन मिलता भी है। महाभारत में लिखा है कि जिस समय कौरवों से युद्ध करने के लिए अर्जुन जा रहे थे उस समय उत्तरा ने अर्जुन से अच्छी अच्छी कठपुतलियाँ या गुड़ियाँ लाने को कहा था। कथा सरित्सागर में लिखा है कि असुर यम की कन्या सोमप्रभा ने अपने पिता के द्वारा बनाई हुई बहुत सी कठपुतलियाँ रानी कलिंग सेना को दी थी। उनमें से एक कठपुतली पानी भरती थी, एक नाचती थी और एक बातचीत करती थी। गुणाढ्य की बृहत्कथा तथा राजशेखरकृत बाल-रामायण में कठपुतलियों का उल्लेख मिलता है।

पिशेल साहब ने अपने कथन की पुष्टि के लिए जिस शब्द का प्रयोग किया है वह है सूत्र शब्द। यहाँ सूत्र शब्द विचारणीय है राज लोग मकान नापने के धागे को सूत्र कहते हैं। व्याकरण तथा दर्शन आदि के भी सूत्र होते हैं। इस सम्बन्ध में प्रसाद जी का मत दृष्टव्य है—'कठपुतलियों से नाटक प्रारम्भ होने की कल्पना का आधार सूत्र धार शब्द है। किन्तु सूत्र के लाक्षणिक अर्थ का ही प्रयोग सूत्रधार और सूत्रात्मा जैसे शब्दों में मानना चाहिए, जिसमें अनेक वस्तु ग्रथित हों और जो सूक्ष्मता से सब में व्याप्त हो; उसे सूत्र कहते हैं। कथावस्तु और नाटकीय प्रयोजन के सब उपादानों को जो ठीक-ठीक संचालित करता हो वह सूत्रधार आजकल के डाइरेक्टर की तरह ही होता था। सम्भव है कि पटाक्षेप और जवनिका आदि के सूत्र भी उसके हाथों में रहते हों।

डा० ल्यूडर्स ने छाया नाटको से भारतीय नाटकों की उत्पत्ति मानी है और प्रमाणस्वरूप दूतागत नामक संस्कृत के छाया नाटक का उल्लेख किया गया है।

कुछ विद्वानो ने भारतीय नाटक कला को पाश्चात्य रंगमंच की ऋणी माना है। उन्होने अपने भ्रम की पुष्टि यवनिका शब्द से की है। यवनिका उस पर्दे को कहते हैं, जो नाटक प्रारम्भ होने से पूर्व तथा उसकी समाप्ति पर गिराया जाता है। संस्कृत नाटको में जवनिका शब्द का प्रयोग ढकने वाला पर्दा के अर्थ में हुआ है। अतः यवनिका शब्द को यवन से जोड़ना न्यायसंगत नहीं।

हमारे यहाँ नाटकों का विकास बहुत प्राचीन काल मे ही हो गया था अतः भारतीय नाटको को यूनानी नाट्यकला का ऋणी मानना ऐतिहासिक अनभिज्ञता

को प्रगट करना है। विक्रम से सौ वर्ष पूर्व लिखी गई "पाणिनि" की "अष्टाध्यायी" में कृशाश्व तथा शिलालिन् नामक नट सूत्रकारो का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त दूसरा मौलिक अन्तर यह है कि यूनान में नाटकों के ट्रेजडी और कोमेडी के दो भेद किये गए हैं। परन्तु भारतीय नाटकों मे यह विभाजन नहीं मिलता। हमारे यहाँ की संस्कृति आध्यात्मिक रही है इसलिए यहाँ के नाटक सुखान्त हैं।

वास्तव में वेद ही नाटकों के जनक हैं। महेन्द्र आदि देवताओं की प्रार्थना करने पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर पाँचवे वेद के रूप में नाट्य वेद की रचना की:—

"जग्राह पाठ्यमृगवेदात् सामम्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥"

शिवजी ने इसके लिए ताण्डव नृत्य दिया तथा पार्वती ने इसे लास्य से विभूषित किया। अभिनय का कार्य भरत मुनि को दिया गया जिसको भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रों के द्वारा पूर्ण कराया।

आज विद्वानों ने यह स्वीकार कर लिया है कि भारतीय नाटकों की उत्पत्ति धार्मिक कृत्यों से हुई है।

प्रोफेसर मैक्समूलर, लेवी, डा० हर्टेल ने नाटकों की उत्पत्ति वैदिक ऋचाओं के गान से मानी है। उनका विचार है कि जहाँ ऋचाओं में सम्वाद आते थे वहाँ उन्हें स्पष्ट करने के लिए दो पक्ष उन्हें उत्तर प्रत्युत्तर के रूप में पढ़ते थे। उन्होंने प्रमाण-स्वरूप इन्द्र और मारुतो के सम्वाद तथा सोम विक्रय सम्बन्धी घटनाओं का उल्लेख किया है। कालान्तर मे कृष्ण पूजा सम्बन्धी यात्राओं मे इसका रूप और भी प्रकाश में आ जाता है। धार्मिक ग्रन्थो में लिखा है कि धार्मिक अवसरों पर रात्रि में गीत नाट्य का आयोजन होता था।

वेद ही सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय के जनक हैं। अतः ज्ञान के अनन्त आगार वेद ही नाटक के उदय के मूल मे हैं।

"नाटक तथा उपन्यास में साम्य तथा अन्तर"

नाटक तथा उपन्यास के मूल तत्व एक ही हैं किन्तु नाटककार तथा उपन्यास लेखक को जिन-जिन परिस्थितियों में काम करना पड़ता है, वे सर्वथा भिन्न होती हैं इसी भिन्नता के कारण नाटक तथा उपन्यास मे बहुत बड़ा अन्तर होता है। नाटककार को रंगशाला के प्रतिबन्धो के अनुसार नाटक की रचना करनी पड़ती है। उपन्यास में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नही। नाटक कुछ ऐसे नियमों से जकड़ा रहता है जिससे उपन्यास पूर्णतया स्वतन्त्र है किन्तु नाटक में उपन्यास से एक विशेषता यह है कि नाटक अभिनय के कारण अधिक सजीव और प्रत्याक्षानुभव की छाया से संयुक्त होता है। यह बात उपन्यास मे नही होती।

नाटक दृश्य काव्य होने के कारण अपनी कुछ विशेपतायें रखता है। उपन्यास

की रंगशाला तो उसी मे निहित है पर दृश्यकाव्य की रगशाला अलग होती है। नाटक की रचना रगशाला में अभिनय के लिए होती है। अतः बहुत सी बातें उनमें तब तक ज्ञात नही होती जब तक हम उसे रगशाला मे अभिनय होते न देख लें। नाटक को केवल पढकर ही उसका पूर्ण रसास्वाद हम नही प्राप्त कर सकते। हमें पढ़ते समय कुछ अभाव खटकता है बिना अभिनय के वह अधूरा रहता भी है। हम बिना अभिनय के लेखक की वास्तविक योग्यता से अपरिचित रहते हैं। पात्रों के विचार, भाव तथा उद्देश्य तब तक पूर्ण रूपेण प्रकाशित नही होते जब तक हम उन्हें अभिनय करते न देख लें, केवल पढकर यह बात ज्ञात नही होती। नाटक में नाटककार को स्वय कुछ कहने का अधिकार नही होता, वह जो कुछ कहलावेगा किसी पात्र के द्वारा ही कहलावेगा। वास्तव मे अभिनय ही नाटक का प्राण है उसके बिना नाटक मे कभी सजीवता नही आ सकती।

कथावस्तु के दृष्टिकोण से नाटक तथा उपन्यास मे पर्याप्त अन्तर है। उपन्यास मे विस्तार के सम्बन्ध में कोई नियम नही। लेखक उसे बड़े से बड़ा तथा छोटे से छोटा बना सकता है और मनमानी सामग्री का उपभोग भी कर सकता है। पर नाटककार को यह सुविधा नही। न तो वह नाटक के शरीर को स्थूल रूप दे सकता है और न मनमानी सामग्री का उपयोग कर सकता है। उपन्यास पढने की वस्तु होने के कारण कई दिन क्या कई महीनो में भी पढ़ी जा सकती है, पर नाटक एक बैठक मे ही समाप्त हो जाना चाहिए। अतः नाटककार को अपनी रचना मे विस्तार का ध्यान विशेष रूप से रखना पड़ता है। यदि नाटक लम्बा हो गया तो वह चाहे कितना ही आकर्षक क्यो न हो पाठको की ऊब को दूर न कर सकेगा। अत. नाटककार को अपनी कथावस्तु का चुनाव बडी सावधानी से करना चाहिए और उसमें उन्ही बातो को स्थान दे जो महत्वपूर्ण हो, सार्थक हो। जो बातें नितान्त आवश्यक न हो उन्हे छोड़ देना चाहिए। इसीलिए कथावस्तु के दो भाग प्राचीन आचार्यो ने किए थे—दृश्य तथा सूच्य। उपन्यासकार को इन प्रतिबन्धो का सामना नही करना पडता। वह अपने उपन्यास का कलेवर चाहे जितना विस्तृत कर सकता है।

कथावस्तु के समान ही चरित्र चित्रण के क्षेत्र में भी नाटककार को सीमा के भीतर ही काम करना पड़ता है। वह अपने चरित्र-चित्रण को विस्तृत नही कर सकता क्योकि उसको जिस चित्रपट पर यह सब दिखाना है वह अत्यन्त सकुचित है। उसे थोड़े से ही दृश्यो मे चरित्र चित्रण भी करना पड़ता है, और कहानी भी कहनी पड़ती है। अतः नाटको के कथोपकथन का एक भी शब्द निरर्थक न हो उसके प्रत्येक अंग का नाटक से कुछ विशेष सम्बन्ध हो। उसके प्रत्येक पात्र का स्वरूप ऐसा हो कि जो सारी कथावस्तु को देखते हुए समीचीन और उपयुक्त जान पड़े।

नाटककार को इस क्षेत्र मे एक विशेष कठिनाई का सामना करना पडता है। जिससे उपन्यास लेखक मुक्त है। चरित्र-चित्रण के दो उपाय होते हैं—विश्लेषात्मक

तथा अभिन्यात्मक। विश्लेषात्मक प्रणाली में लेखक समय-समय पर आप ही पात्रों के भावों तथा विचारों की व्याख्या करता चलता है। उनके कार्यों पर टीका टिप्पणी करता चलता है, और इस प्रकार वह पाठक के मस्तिष्क पर जिस प्रकार का प्रभाव डालना चाहता है डाल सकता है। परन्तु नाटककार इस विपय में स्वतन्त्र नहीं। वह अपनी ओर से एक शब्द भी नही कह सकता। उसे केवल अभिन्यात्मक प्रणाली की ही शरण लेनी पड़ती है जिसमे वह स्वयं अलग होकर पात्रों के कथोपकथन, टीका टिप्पणी तथा सम्मति से ही चरित्र-चित्रण होने देता है। इसलिए नाटक के चरित्र-चित्रण मे उपन्यास के चरित्र-चित्रण की अपेक्षा विशेष योग्यता की आवश्यकता है। उपन्यास और नाटक दोनों मे कथावस्तु बहुत कुछ चरित्र-चित्रण पर आश्रित होती है। अनेक अवसरो पर तो हमें कथावस्तु से ही पात्रों के नैतिक और मानसिक गुणो का परिचय मिलता है।

उपन्यास तथा नाटक दोनो मे कथोपकथन का महत्व चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ही है। उपन्यासों मे भी प्रायः किसी विषय की व्याख्या या स्पष्टीकरण के लिए कथोपकथन का ही सहारा लिया जाता है और लेखक की टीका टिप्पणी अपेक्षाकृत कम हो जाती है। पर नाटकों मे तो लेखक अपनी ओर से कुछ कह नहीं सकता। अतः कथोपकथन ही एकमात्र हथियार है। उपन्यासों में कथोपकथन से सजीवता आ जाती है। आधुनिक उपन्यासों मे लेखक की टीका टिप्पणी को हेय दृष्टि से देखा जाता है। तथापि जो काम उपन्यास मे लेखक अपनी टीका टिप्पणी से निकाल लेता है उसको नाटककार स्वगत कथन द्वारा ठीक कर लेता है। उपन्यासकार पात्र के आन्तरिक विचारो, भावों, मनसूबो तथा उद्देश्यो से पाठक को अपनी ओर से लिखकर अवगत करा देता है, नाटककार स्वगत कथन द्वारा। स्वगत कथन के समय मानो पात्र एकान्त मे अपने मन मे कुछ सोचता है और बड़बड़ाने लगता है। यद्यपि यह अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है किन्तु नाटक मे कुछ विशेष परिस्थितियों मे इसकी आवश्यकता पड़ती है।

देशकाल के सम्वन्ध मे जिन बातो का ध्यान उपन्यासकार को रखना पड़ता है, उन्ही का नाटककार को। नाटक जिस काल और जिस देश का हो उसी काल तथा देश के पात्रो की वेप-भूषा, आचार-व्यवहार तथा बातचीत हो। यदि ऐतिहासिक नाटक है तो देशकाल पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। क्योंकि वह किसी युग विशेप का चित्रण है। यदि इस बात का ध्यान न रखा गया तो वह हास्यास्पद हो जावेगा। रगमच के जो दृश्य हो वे भी देश तथा काल के अनुसार हो। गुप्तकालीन दृश्य दिखाते हुए आधुनिक बंगला का चित्रपट न हो, मोटर तथा वायुयान का उल्लेख न हो अपितु उसी काल के आचार विचार, रहन-सहन, वेप-भूषा, भापा आदि का प्रयोग हो। अतः देश काल के सम्वन्ध में नाटक तथा उपन्यास मे कोई अन्तर नही होता। अन्तर केवल उनकी अभिव्यक्ति की प्रणाली में है। जहां नाटककार रंगमंच पर उन वस्तुओं का संकलन करेगा वहां उपन्यासकार केवल वर्णन से ही काम निकाल लेगा।

उपन्यास तथा नाटक दोनो में उद्देश्य का अर्थ है जीवन की विवेचना से। उपन्यसकार तो प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनो रूपो मे जीवन की व्याख्या करता चलता है। वह अपने विचार स्वय अपने शब्दो में भी तथा किसी पात्र के मुख से भी कहला सकता है। पर नाटक मे लेखक को जो कुछ कहना है वह स्वयं आकर नही कह सकता बल्कि पात्र के मुख से भी कहलवा सकता है। नाटक में जीवन की व्याख्या समझने का भार पाठक के ऊपर पड़ता है। दर्शकों को या पाठकों को भिन्न-भिन्न पात्र की उक्तियो का मिलान करके और उनका ठीक ठीक अभिप्राय समझकर नाटक के उद्देश्य का निर्णय करना पडता है। नाटक मे दोनों प्रकार के पात्र होते हैं जिनके साथ आपकी सहानभूति हो और जिनसे आप उदासीन हो नही सहानुभूति तो लेशमात्र भी नही रखते। अधिकतर सहानुभूतिमय पात्र के मुख से वर्णित उक्तिया लेखक के हृदय से निकले हुए उद्गार प्रतीत होते हैं। परन्तु हमें केवल एक पात्र के कथन को ही देख कर अपना मत स्थिर नही करना चाहिए।

इसलिए हमे सारे नाटक पर एक साथ विचार करके नाटक का उद्देश्य या नैतिक महत्व समझना चाहिए।

हिन्दी नाटक का विकास :—सस्कृत साहित्य में नाटकों का विकास प्रचुर रूप में हुआ। योरुप वालो का ध्यान नाटको के द्वारा ही संस्कृत की ओर आकृष्ट हुआ था। जर्मन विद्वान् गेटे (Coethe) ने शकुन्तला नाटक की मुक्तकंठ से प्रशसा की है। मानव की अनुकरण प्रकृति ने ही नाटको को जन्म दिया। सस्कृत के सर्वप्रथम नाटककार भास, कवि कुल चूडामणि कालिदास, महाकवि हर्ष, करुण-रस के प्रधान कवि भवभूति, कविवर विशाखदत्त तथा कुशल कवि भटनारायण आदि ने संस्कृत में नाटको की रचना करके अमर यश को प्राप्त किया। कालिदास का "अभिज्ञान शाकुन्तला" भवभूति का "उत्तर रामचरित्र" रत्नभास का "स्वप्न वासवदत्ता" आदि संस्कृत साहित्य की विश्व साहित्य को अमूल्य देन है। किन्तु दुख का विषय है कि हिन्दी बहुत काल तक इस अतुल सम्पत्ति का उपयोग नही कर सकी इसके कई कारण थे। सर्वप्रथम हिन्दी का जिस काल मे उदय हुआ था वह सामाजिक उथल-पुथल तथा राजनैतिक अशान्ति का युग था। अतः ऐसे अशान्ति ने युग में नाटक का विकास सम्भव न था। यद्यपि मुसलमानी राज्य में शान्ति स्थापित हो चुकी थीं किन्तु मुसलमानी सभ्यता मे नाटक को प्रोत्साहन न मिल सका। मुसलमान लोग मूर्ति पूजा के घोर शत्रु थे। इसीलिए उनके यहाँ किसी प्रकार के अनुकरण श्लाघ्य दृष्टि से नही देखे जाते थे।

इसके अतिरिक्त नाटको के लिए गद्य की अत्यन्त आवश्यकता है, और उन्नीसवी शताब्दी से पूर्व हिन्दी गद्य का रूप भी प्रतिष्ठित न था।

अतः हिन्दी में नाटको का इतिहास बहुत प्राचीन नही है। साहित्य के अन्य अगो की भाँति नाटको का सूत्रपात भी भारतेन्दु युग मे ही हुआ। भारतेन्दु जी हिन्दी साहित्य के लिए वरदान के रूप मे आये थे। वास्तव मे वे ही हिन्दी नाटको के

जन्मदाता हैं। यद्यपि भारतेन्दु से पूर्व भी कुछ नाटक मिलते हैं परन्तु उनमे नाटकत्व का अभाव है। "देवजी" का "देवमाया प्रपंच" नामक नाटक उपलब्ध होता है। किन्तु वह एक प्रकार की आध्यात्मिक कवितामात्र है। यह नाटक प्रसिद्ध देव कवि का नही माना जाता। ठीक यही बात ब्रजवासी दासकृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक के सम्बन्ध मे है। इसके अतिरिक्त बनारसीदास जी जैन का 'समय सार' नामक नाटक मिलता है इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ आज भी आगरे के दो जैन मन्दिरो में सुरक्षित हैं।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पूर्ववर्ती नाटकों मे नेवाज कृत 'शकुन्तला नाटक' 'हृदय रामकृत' 'हनुमन्नाटक' उल्लेखनीय हैं। महाराज विश्वनाथसिंह का ब्रजभाषा में लिखा हुआ "आनन्द रघुनन्दन" नामक नाटक मिलता है परन्तु इसमे भी नाटक के समस्त नियमों का पालन नही हुआ था। इसमे छन्द का प्राधान्य था।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु बाबू के पिता श्री गिरिधरदास कृत 'नहुष नाटक' ब्रजभाषा में प्राप्त होता है। यह नाटक मौलिक कहा जाता है, तथा इसमे नाटक के नियमो का भी उचित रूप से पालन किया गया है। इसमें इन्द्र तथा नहुष की कथा है।

समय के क्रमानुसार नाटक रचना मे दूसरा नाम राजा लक्ष्मण सिंह का आता है। उनका 'शकुन्तला नाटक' खड़ी बोली गद्य में लिखा हुआ है। यद्यपि यह नाटक अनूदित है तथापि इसमे मूल का सा सौन्दर्य है। इसमे कालिदास के भावों की पूर्णतः रक्षा की गई है। अनुवाद के रूप में यह नाटक अत्यन्त सफल है। भारतेन्दु जी से पूर्व जो नाटक लिखे गये वे प्रायः अनूदित थे तथा ब्रजभाषा पद्य मे लिखे गये थे। इसके अतिरिक्त इन नाटको मे भावो का सन्तुलन, व्यक्तित्व का परिचय और सुरुचि का अभाव है।

इसके पश्चात् हिन्दी नाटक साहित्य मे भारतेन्दु का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। उन्होने एक प्रकार के नाट्यकला को पुनर्जीवन दिया। उन्होने कई सस्कृत नाटकों का अनुवाद किया और स्वतन्त्र नाटक लिखे। भारतेन्दु जी ने देशकाल की आवश्यकताओ को अनुभव करके नाटकों द्वारा युग भावना को व्यक्त करने का प्रयत्न किया। उन्होने संस्कृत, बगला तथा अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया था। इनके नाट्य साहित्य मे इन्हीं तीनों भाषाओ के साहित्य का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। पर उन्होने किसी भी साहित्य या साहित्य शास्त्र का अन्धानुकरण नही किया। अपने विवेक और विवेचन शक्ति के आधार पर युग के अनुरूप जिस विषय और शैली की आवश्यकता समझी उसी को अपनाया। यही इनकी नाटक रचना शैली की विशेषता है। भारतेन्दु जी ने पाश्चात्य तथा भारतीय दोनो ही नाट्य शास्त्रों के उपयोगी तत्वों को लेकर अपने नाटको का प्रणयन किया। भारतेन्दु जी ने अपने नाटको मे प्रस्तावना आदि प्राचीन चीजो को अपनाया था परन्तु कथावस्तु के सन्धि आदि अगो पर उन्होने विशेष ध्यान नही दिया। भारतेन्दु बाबू के कितने नाटको में भरत वाक्य भी मिलेगा जैसे 'सत्य हरिश्चन्द्र' में।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों द्वारा एक ओर हास्य की सृष्टि की, और दूसरी ओर सामाजिक कुरीतियो का भी दिग्दर्शन कराया तथा स्वेदशानुराग उत्पन्न किया। अंग्रेज शासन के परिणामस्वरूप देश मे नवीन विचारो की एक लहर सी दौड़ गई थी। नवीन भावनाएँ यत्र-तत्र बिखरी हुई पड़ी थी परन्तु कोई ऐसा न था जो उनको एकत्रित कर सुश्रृंखलित कर देता। भारतेन्दु जी ने इस महान् कार्य को सम्पन्न किया और हिन्दी साहित्य मे उन समस्त भावनाओ को पिरोया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है :—

"साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नये-नये या बाहरी भावों को पचाकर इस ढंग से मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन और नवीन के उस सन्धि-काल मे जैसी शीतल और मृदुल कला का मधुर संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल और मृदुल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ इसमें सन्देह नहीं।"

भारतेन्दु के बीस नाटक उपलब्ध होते हैं। उनके तीन विभाग हो सकते है १. अनुवादित २. रूपान्तरित ३. मौलिक। मौलिक नाटकों को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है। १. सामाजिक तथा राजनैतिक (जैसे 'भारत दुर्दशा' 'नील देवी' 'वैदिकी हिंसा न हिंसा भवति", विषस्य-विषमौषधम) २. पौराणिक (सती प्रताप) ३. प्रेम तत्व से पूर्ण (चन्द्रावली), भारतेन्दु जी के नाटको में 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'मुद्रा राक्षस', 'नील देवी', 'भारत दुर्दशा', 'अंधेर नगरी' आदि प्रमुख हैं। इन नाटको मे से कुछ इनके समय में खेले भी गये।

भारतेन्दु के समय से ही लेखको ने नाटको को अपनाना प्रारम्भ कर दिया था और पर्याप्त संख्या मे नाटक लिखे भी गये। उस काल के नाटको मे बाबू तोताराम का "केटोकृतात" ; श्री निवासदास के "तप्ता सवरण" और "रणधीर प्रेम मोहनी" "सयोगिता स्वयवर"। बाबू केशोराम भट्ट कृत "संज्जाद सबुल" और "शमशाद फैसौन"; गदाधर भट्ट कृत "मृच्छकटिक" बाबू बदरीनारायण चौधरी का "वरांगना रहस्य" अंबिकादत्त व्यास की "ललिता" नाटिका, "भारत सौभाग्य" और "गो संकट" और बाबू राधाकृष्णदास के "दुखिनी बाला", "पद्मावती", और "महाराणा प्रताप" मुख्य हैं। इस युग मे किशोरीलाल गोस्वामी के भी तीन नाटक उपलब्ध होते हैं। 'मयक' 'मंजरी', "नाट्य सम्भव" और एक "चौपट चपेट" प्रहसन है। नाटकीय गुणो की दृष्टि से "नाट्य सम्भव" सुन्दर बन पड़ा है। इनके नाटक सामाजिक सुधार की दृष्टि से लिखे गये हैं।

इन नाटकों के विकास मे दो बातें स्मरणीय हैं प्रथम तो जैसे जैसे समय बढता गया वैसे वैसे देवता, राक्षस, यक्ष आदि दैवी पात्रो का अभाव होता गया दैवी चमत्कार के स्थान पर मनुष्य की बुद्धि का चमत्कार और उसके भावो का संघर्ष पर्याप्त मात्रा में दिखाया जाने लगा। फलतः नाटक का मनुष्य जीवन से विशेष सम्बन्ध हो गया। दूसरी बात यह है कि क्रमशः पद्य के स्थान मे गद्य का प्रवेश होने

लगा। नाटको से पद्य का महत्व दूर करने मे द्विजेन्द्रलाल राय के नाटको के अनुवादों ने हिन्दी नाटककारों पर अच्छा प्रभाव डाला। ये अनुवाद पडित रूप-नारायण पाडेय ने सफलतापूर्वक किये है। श्री गोपालराय गहमरी जी ने रविन्द्र बाबू की "चित्राङ्गदा" का बहुत सुन्दर अनुवाद किया।

वर्तमान युग में रायबहादुर लाला सीताराम जी ने संस्कृत के बहुत से नाटको का हिन्दी में अनुवाद करके हिन्दी साहित्य का बहुत बड़ा उपकार किया। संस्कृत नाटकों का अंग्रेजी मे तो अनुवाद हो चुका था परन्तु हिन्दी इस गौरव से वंचित थी। इस सम्बन्ध मे सीताराम जी ने भगीरथ प्रयत्न किया था। पं० सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति कृत "उत्तर राम चरित" और मालती माधव का अत्यन्त सरस तथा सुन्दर अनुवाद कर भव-भति की ख्यातिको हिन्दी में प्रसारित किया।

इसी समय शेक्सपीयर के नाटको का हिन्दी मे अनुवाद किया गया। गंगाप्रसाद एम. ए. ने बहुत से नाटको का अनुवाद किया। उपन्यास सम्राट मुन्शी प्रेमचन्द जी ने गाल्सवर्दी के नाटकों का अनुवाद किया। परन्तु उनमे वह माधुर्य नही जो उनके उपन्यासों मे है। इस काल मे राय देवीप्रसाद पूर्ण ने एक 'चन्द्रकला भानुकुमार' नामक नाटक लिखा।

धार्मिक नाटककारो मे कथावाचक पं० राधेश्याम और नारायणप्रसाद बेताब के नाम चिरस्मरणीय रहेंगे। पं० राधेश्याम के नाटकों मे "श्री कृष्ण अवतार", "रुक्मणी मंगल" और "वीर अभिमन्यु" विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं बाबू नारायण प्रसाद के नाटकों मे "रामायण" तथा "महाभारत" मुख्य हैं। ये नाटक रंगमच की दृष्टि से तो उपयुक्त है। परन्तु साहित्यिक दृष्टि से इनका कोई मूल्य नही है। इस दृष्टि से इन नाटको का महत्व अवश्य है कि इनके द्वारा हिन्दी को रंगमंच पर स्थान मिल गया और उर्दू के नाटको की प्रधानता कम हो गई।

हिन्दी साहित्याकाश को प्रसाद जी ने अपनी सर्वोतोमुखी प्रतिभा के प्रभा पुज से आलोकित कर दिया। साहित्यिक दृष्टि से नाटको के क्षेत्र मे स्वनामधन्य जयशंकरप्रसाद जी का कार्य सराहनीय है। 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'अजातशत्रु', 'विशाख', 'जनमेजय का नाग यज्ञ' आदि उनके उच्चकोटि के नाटक हैं। जो किसी भी साहित्य के लिए गौरव की वस्तु है। इन नाटकों में उन्होंने अपनी गवेषणा शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। इनके नाटक क्लिष्ट हैं और साधारण रंगमंच के योग्य नही हैं। प्रसाद का नाट्य साहित्य शुद्ध लौकिक है तथा प्रत्यक्ष को लेकर चलने वाला है। उनमे लोक संग्रह का प्रयत्न है, राष्ट्र के उद्बोधन की आकांक्षा है।

विषय के विचार से प्रसाद जी के नाटक ऐतिहासिक हैं। वे ऐतिहासिकता के धरातल पर प्रस्फुटित हुए हैं। प्रसाद जी के हृदय मे अतीत के प्रति मोह था। काव्य मे वह क्षितिज की ओर और नाटको मे अतीत की ओर वे कुछ पाने की आशा से दौड़ते हैं। प्रसाद जी ऐतिहासिक नाटक लिखना ही क्यों चाहते थे? इसे उन्होने स्वयं स्पष्ट किया है।

"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है ...... क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे वढ़कर और कोई आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नही—इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है।...... मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंग में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होने कि हमारी वर्तमान स्थिति को वनाने का वहुत कुछ प्रयत्न किया है।"

प्रसाद जी ने १३ नाटक लिखे। काल क्रमानुसार उनके नाम इस प्रकार हैं :—१. सज्जन, २. कल्याणी परिणय, ३. करुणालय, ४. प्रायश्चित, ५. राज्यश्री, ६. विशाख, ७. अजातशत्रु, ८. कामना, ९. जनमेजय का नाग यज्ञ, १०. स्कन्दगुप्त, ११. एक घूंट, १२. चन्द्रगुप्त, १३. ध्रुवस्वामिनी।

प्रसाद जी ने महाभारत काल से लेकर हर्षवर्धन तक के इतिहास को अपने नाटकों के कथानक का कौशेय पट वनाया और इसमे सन्देह नही कि आज का दरिद्र भारत अपने उस स्वर्ण युग से वहुत कुछ सीख सकता है। पुरातन युग के इतिहास के सम्वन्ध मे प्रसाद जी की खोजें बहुमूल्य सिद्ध हुई हैं। उन्होने "लुप्त" इतिहास का पुन. निर्माण किया है। युगो की सन्धियो पर प्रकाश डाला है। इतिहास के अध्ययन मे उन्होने भारतीय साहित्य, पुराण और स्मृतियो से प्रामाणिक आधार सगृहीत किये हैं। इस प्रकार विशुद्ध अध्ययन का प्रेम इनके मूल में निहित है। प्रसाद जी के नाटक अपनी राष्ट्रीयता और स्वदेश प्रेम के लिये सर्वाधिक मूल्यवान् हैं। प्रसाद के नाटको मे हमारी जातीय सवलतायें और दुर्वलतायें दोनों ही व्यक्त हुई हैं। इनके नाटको मे राष्ट्रीयता का यथार्थ और व्यावहारिक स्वरूप हृदयङ्गम होता है। नाटको मे अत्यन्त प्रभावशाली राष्ट्रगीतो की योजना भी प्रसाद जी की अनुपम देन है। प्रसाद जी के नाटको मे अन्तर्द्वन्द्वो के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। उन नाटकों के गीत और सूक्तियाँ साहित्य की एक विशेष निधि हैं इनके गीत अधिकतर प्रेम की पीड़ा से स्पन्दित और यौवनमद के सौरभ मे सुवासित अति मनोहर वन पाये हैं। इसके साथ डा० नगेन्द्र के शब्दों में "प्रसाद के नाटकों के सव पात्र अपने सृष्टा के कवित्व के भागी हुए हैं। चाणक्य के कर्म कठोर व्यक्तित्व में भी वाल्यकाल की स्मृतियाँ भावरियाँ ले रही हैं।"

प्रसाद जी ने अपने नाटको मे ऐसे पात्रो की सृष्टि की है जो अमर हैं और जो युग-युग तक मानव हृदय पर शासन करते रहेंगे। अतः हम डा० नगेन्द्र के इस कथन से पूर्णतया सहमत हैं कि प्रसाद के "पात्रों में प्राण फूंक देने वाली प्रतिभा की सजीवता अद्वितीय थी।" वास्तव मे प्रसाद जी ने हिन्दी नाट्य साहित्य को प्रौढता प्रदान की। उन्होने अपनी उदीयमान प्रतिभा-पीयूष से साहित्योद्यान को सींच कर पल्लवित एवं पुष्पित किया। प्रसाद की प्रौढ नाट्यकला के परिमलमय पराग से हिन्दी नाट्य साहित्य सदैव सुवासित रहेगा। उनके नाटको में प्रतिभा और पाण्डित्य

का मणि काचन योग है। पं० जगदीश नरायण दीक्षित का प्रसाद के नाटकों के सम्बन्ध मे यह कथन सर्वथा समीचीन एवं सम्मान्य है :—

"प्रसाद के नाटक हिन्दी साहित्य के अनुपम रत्न हैं। उनमें कथानकों की विशेषता, मनोहर दृश्य विधान, संस्कृति और आदर्शों का सम्यक् निदर्शन भावपूर्ण कथोपकथन तथा सरस संगीत आदि के अतिरिक्त सबसे बड़ी आकर्षण एवं प्रभाव की वस्तु सजीव चरित्र चित्रण है।"

(प्रसाद के नाटकीय पात्र)

प्रसाद की दुखान्त भावना भी नाटक साहित्य परम्परा मे एक नवीन देन थी। विषय की नूतनता के भी प्रसाद अग्रदूत थे। डा० नगेन्द्र ने प्रसाद के नाटको पर उपसंहार का वाक्य बहुत ही उपयुक्त कहा है :—

"इन नाटकों का महत्व असम है। एक ओर पाठक उनके दोषों को देखकर विक्षुब्ध हो उठता है। दूसरी ओर उनकी शक्ति और कविता से अभिभूत हुए बिना नही रह सकता। ये नाटक अगों में कितने महान है, सम्पूर्ण रूप में उतने नहीं।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ जीवन की संकुलता बढती गई और अनेकानेक समस्याओ का प्रादुर्भाव हुआ इन समस्याओ को नवीन लेखकों ने अपने नाटकों में व्यक्त किया। आधुनिक नाटककारो पर इब्सन तथा जार्ज बरनार्डशा का प्रभाव अधिक लक्षित होता है। आज के प्रमुख नाटककार हैं :—

माखनलाल चतुर्वेदी, गोविन्द बल्लभ पन्त, पाण्डेय, बेचन शर्मा, उग्र, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, पं० उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, चतुरसेन शास्त्री, जी० पी० श्रीवास्तव, रामकृष्ण बेनीपुरी, राघेय राघव, वृंदावनलाल वर्मा आदि। ये लेखक विभिन्न प्रकार के कथानक लेकर नाटक रचना में व्यस्त हैं। प्रेमी जी ने मुगल काल को और भट्ट जी ने पौराणिक काल को अपनाया है। श्री वृन्दावन लाल वर्मा ने हिन्दी नाटक क्षेत्र मे प्रवेश कर कितने ही सामाजिक तथा ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं।

समयाभाव के कारण तथा रंगमंच के अभाव के कारण अग्रेजी के one act play के आधार पर एकांकी नाटको का सृजन भी हिन्दी मे नवीन है। आधुनिक युग मे हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्ददास, डा० रामकुमार वर्मा आदि नाटक साहित्य के मुख्य स्तम्भ हैं। हरिकृष्ण प्रेमी के विषपान रक्षाबन्धन, शिव साधना, स्वप्नभंग, मन्दिर और आहुति नाटक प्रसिद्ध हैं। उदयशंकर भट्ट पौराणिक धारा के प्रमुख नाटककार हैं। इनके नाटकों मे सगर विजय, विश्वामित्र, राधा, विक्रमादित्य अधिक प्रसिद्ध हैं। अश्क जी के एकांकी नाटक जीवन के रंगो से ओत-प्रोत हैं। साथ ही साथ सामाजिक विषमता का नग्न चित्र उपस्थित करते हैं। आपका अधिकार का रक्षक, उडान, आपस का समझौता, पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर रहे हैं। सेठ गोविन्द दास के "सप्तरश्मि, पंचभूत, "चतुष्पथ" आदि एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। डा० रामकुमार वर्मा

एकांकी नाटकों के जन्मदाता हैं। अभिनय की दृष्टि से आपके नाटक पूर्ण हैं।

पृथ्वीराज की आँखें, चारुमित्र, विपति और सप्तकिरण नाम से आपके एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

इन नाटककारों के अतिरिक्त गणेशप्रसाद द्विवेदी चन्द्रगुप्त विद्यालंकार कैलाशनाथ भटनागर, सुमित्रा नन्दन पन्त आदि अनेक नाटककार हिन्दी की उचित सेवा कर रहे। यद्यपि आज के सिनेमा जगत ने तथा रेडियो के ध्वनि रूपक ने नाटकों की उपादेयता तथा महत्व को कुछ कम कर दिया है। किन्तु आज भी योरुप मे सिनेमाओं की अपेक्षा नाटको का महत्व पूर्ण स्थान है। भारतीय नाटक साहित्य का भविष्य उज्जवल है। इसमे सन्देह नही।

एकांकी नाटक

वर्तमान युग में एकांकी नाटको का जन्म हुआ। प्रारम्भ में नाटक समय की पूर्ति के लिए खेले जाते थे। नाटक देखने के लिए वहुत से मनुष्य देर से आया करते थे। अत' जो लोग पहले आ जाते थे उनका समय व्यतीत करवाने के लिए प्रधान नाटक मे आरम्भ के पूर्व कुछ नाटकीय दृश्य दिखलाये जाते थे। लोगो का इनसे अच्छा मनोरजन होता था। अतः इनके प्रति लोकरुचि वढने लगी। आधुनिक एकांकी नाटको का जन्म इन्ही से हुआ। ये नाटक समय की वचत करने मे पूर्णतः सफल हुए।

यद्यपि संस्कृत मे भी रूपको के प्रकारो मे एकांकी नाटक प्राप्त होते हैं। तथापि वर्तमान हिन्दी एकांकी नाटकों ने पश्चिमी एकांकी नाटको से प्रेरणा प्राप्त की है हिन्दी के एकांकी नाटक पश्चिम से अधिक प्रभावित हैं। किन्तु इसका अर्थ नही है कि हमारे नाटक पश्चिमी नाटको के अन्धानुकरण हैं। जिन प्रवृत्तियों से योरुपीय नाटककार प्रभावित हैं उन्ही से हिन्दी नाटककार भी प्रभावित हो रहे हैं। स्वाभाविकता से प्रभावित होना कोई आश्चर्य की वात नही है। पश्चिमी नाटककारो के उदाहरण से हिन्दी नाटककारो का कार्य अवश्य सरल हो गया है। किन्तु हमारे यहाँ के नाटककारो की सभी वाते देशी प्रभाव से अनुप्राणित हैं।

नाटक तथा एकांकी—दो कारणो से हिन्दी मे एकाकी नाटकों का महत्व अधिक वढ़ गया है। प्रथम तो इसके द्वारा समय की वचत होती है। दूसरे नाटक की अपेक्षा इसमें अभिनय की सुलभता होती है। जो सम्बन्ध उपन्यास का छोटी कहानी से है वही नाटक तथा एकांकी का है। एकांकी भी कहानी की भाँति जीवन की झलक है। नाटक के पढ़ने के लिए वहुत समय चाहिए किन्तु एकांकी एक वैठक मे ही समाप्त हो जाता है। नाटक की अपेक्षा एकाकी मे सामग्री की कम आवश्यकता होती है। नाटक मे चरित्र-चित्रण के लिए क्षेत्र विस्तृत होता है, किन्तु एकांकी में चरित्र-चित्रण के लिए स्थान कम होता है। एकांकी मे वने वनाये चरित्रो पर ही प्रकाश डाला जाता है। किन्तु कुछ एकांकी इसके अपवाद भी हैं। डा० रामकुमार

वर्मा ने "अठारह जुलाई की शाम" तथा "रेशमी टाई" मे चरित्र परिवर्तन सुन्दर ढंग से किया है। श्री रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर प्रसाद सुदर्शन, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचन्द्र माथुर, उदयशंकर भट्ट, गणेशप्रसाद द्विवेदी तथा भगवतीचरण वर्मा आदि ने सुन्दर एकांकियों की रचना की है।

आजकल नाटक और एकांकी का भेद समझा जाता है और एकांकी को पृथक नाट्य स्वरूप स्वीकार किया गया है। यह भ्रम ही कहा जायेगा। वास्तव मे एकांकी नाटक को न तो नाटक का छोटा रूप मानना चाहिए और न नाटक का अंग ही स्वीकार करना चाहिए। वह तो अपने मे पूर्ण एक नाटक है। जिसमें नाटककार किसी एक घटना मे आये हुए पात्रो के द्वारा एक निश्चित भाव या परिणाम उपस्थित करता है। और उसे वह बाह्य द्वन्द्वों की अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व द्वारा अधिक व्यक्त करता है। एकाकी नाटककार को एक विशेष भाव, नीति, सिद्धान्त या परिणाम दिखाना अभीष्ट होता है। किन्तु नाटककार अनेक प्रकार के भाव, सिद्धान्त आदि का प्रदर्शन करने मे पूर्ण स्वतन्त्र है। एकाकी नाटक की अवधि दस मिनट से लेकर पौन घन्टे तक की ही हो सकती है। यदि इससे अधिक की भी हो तो भी उसके नाट्कत्व मे अन्तर नही होता।

एकांकी नाटको को बराबर प्रोत्साहन मिल रहा है, उसका भविष्य उज्जवल है इसमे सदेह नही।

एकाङ्की नाटक का विकास—पाश्चात्य साहित्य मे बोलपट के आविष्कार की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप एकाकी नाटको का जन्म हुआ। जो मनुष्य संस्कृत नाट्य साहित्य से अपरिचित हैं उनकी धारणा है कि वैज्ञानिक आविष्कारों की भाँति एकांकी नाटको का जन्म भी बीसवी शताब्दी मे हुआ। किन्तु एकांकी नाटको का प्रारम्भ ईसा से बहुत पूर्व भास के द्वारा हो चुका था। "मध्यम व्यायोग" इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। योरुप के लिए भी यह छोटे सम्बद्ध तथा कलात्मक नाटक नवीन नही है। प्राचीन यूनान और इतालिया मे छोटे प्रहसन स्वतन्त्र रूप से लिखे गये थे और यह छोटे छोटे प्रहसन पन्द्रहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक "कौमीदिया दे लार्ते" के नाम से इतालिया मे तथा दूसरे पाश्चात्य देशों मे प्रचलित हो गये थे।

रहस्यात्मक नाटक (मिस्टरीज) अलौकिक नाटक (मिरेकिल प्लेज) और गर्भाङ्क नाटक (इन्टरल्यूड्स) भी लिखे गये थे—ये सभी एकाकी नाटक थे। अट्ठारहवी तथा उन्नीसवी शताब्दी मे भी "पर्दे उठाऊ" (कर्टेन रेजर्स) या पुछल्ले नाटक (आफ्टर पीसेज) कहलाने वाले बहुत से एकाकी नाटक व्यवसायिक रगशालाओं पर खेले जाने के लिए लिखे गये। यद्यपि और भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं किन्तु इसका अभी कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता कि एकाकियो का विकास या विस्तार कब से क्रमबद्ध हुआ। किन्तु यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बीसवी शताब्दी में एकाकी नाटकों का निर्माण इंगलैण्ड, फ्रांस, रूस

इतालिका मे फिर से हुआ। इसको महत्व दिया गया नाटकीय रूप की ओर ट से इसका आदर हुआ। पाश्चात्य देशो में इसका प्रचार बराबर ही है।

एकांकी नाटक का सिद्धान्त—एकांकी नाटक की रचना के सम्बन्ध मे टाल्वोट ने दो सिद्धान्त बताये—(१) एकाकी नाटक में यदि चरित्र-चित्रण सुन्दर हो तो नाटक कभी असफल नही कहा जा सकता है। (२) यदि एकांकी में विनोद न हो तो उसे नाटक नही कहा जा सकता। टाल्वोट ने प्रचार नाटक तथा भावपूर्ण नाटको की उपेक्षा की। क्योकि इनका उद्देश्य अत्यन्त सत्यता दिखाना तथा किसी विशेष मत या सिद्धान्त का प्रचार करना है।

टाल्वोट का विचार है कि—"उन नाटकों को भी नाटकों में सम्मिलित कर लेना चाहिए जो रूढ़ि में ढले नही होते अर्थात् जिनके व्यापार रंगमच के उपयुक्त नहीं होते और जिनके चरित्र भी रूढ़िगत नाटकों के चरित्रो के समान नहीं होते।" एकांकी के सम्बन्ध में टाल्वोटं का दूसरा सिद्धान्त है कि "उन तथाकथित तीव्र नाटकों अथवा विनोद रहित गम्भीर नाटको और प्रचार नाटकों का बहिष्कार करना चाहिए जो अत्यन्त अस्वाभाविक रूप से प्रभावशाली बनाये जाते हैं।" उसका विचार था कि—"त्रासद में भी कुछ हंसी विनोद होना ही चाहिए, कुछ तो मानसिक भावो तथा भावावेशों को शान्ति देने के लिए और कुछ तुलना द्वारा उस पर बल देने के लिए। जो नाटककार विनोद से ऊपर उठा रहता है वह ऐसा लगा रहता है मानो उसमें अनुपात की बुद्धि ही नहीं है। क्योकि विनोद एक प्रकार का दार्शनिक उन्माद है जो केवल नाटको में ही नहीं बल्कि इस रूखी दुनिया के लिए भी आवश्यक हैं।

योरुप मे एकांकी नाटक पर्याप्त मात्रा मे लिखे गये। भारतीय तथा पाश्चात्य दोनो देशो मे एकाकी नाटको की रचनाएँ साधारण दृश्य मात्र से लेकर नाटक के सभी तत्वो से पूर्ण छोटे नाटक तक के रूप मे लिखी गई हैं। इन एकाकी नाटको को प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न किया है। इन नाटकों की भाषा सरल है। इनमें घटनाओ, पात्रो अथवा स्थितियो का परिवर्तन दिखलाकर उन्हे सरल बोधगम्य, कुतूहलपूर्ण तथा प्रभावपूर्ण बनाया गया है। इनकी रचना के दो रूप प्राप्त होते हैं—प्रथम कोटि में वे आयेंगे जिसमे केवल एक दृश्य ही रहता है। द्वितीय वे होते हैं जो एक अंक में तो समाप्त होते हैं किन्तु उनमे कई दृश्यो का समावेश होता है। श्री सीताराम चतुर्वेदी लिखते हैं कि—"वास्तविक एकांकी वही है जिसमें एक ही कार्य एक ही स्थिति में एक ही भाव उत्पन्न करे।"

"हिन्दी एकांकी का उद्भव"

हिन्दी एकाकी के उद्भव के सम्बन्ध मे विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान एकाकी नाटक को पश्चिम की देन मानते हैं। सर्वश्री प्रो० अमरनाथ गुप्त, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा डा० एस० पी० खत्री इसी मत के समर्थक हैं। इन विद्वानो का विचार है कि एकाकी नाटक पश्चिम से आई हुई नवीनतम वस्तु है। प्रो० अमरनाथ गुप्त एकाकी के जन्म के विषय मे लिखते हैं—"एकांकी नाटक हिन्दी

में सर्वथा नवीनतम कृति है। इसका जन्म हिन्दी-साहित्य में अंग्रेजी के प्रभाव से कुछ ही वर्ष पूर्व हुआ है।"[१] प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त का विचार है कि—"महासामर कुछ वर्ष पूर्व जब अंग्रेजी रंगमंच लगभग एक शताब्दी की गहरी निद्रा से आँखें मल कर उठ रहा था तो एक नए ढंग के छोटे नाटक का जन्म हुआ और शीघ्र ही वह लोकप्रिय हो गया।"[२] इस सम्बन्ध मे डा० एस० पी० खत्री का मत है—"कुछ आलोचक एकांकी का उद्गम संस्कृत साहित्य मानते है। परन्तु एकांकी लेखन जब बीसवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ तो स्पष्ट है कि उस पर अंग्रेजी का प्रभाव है, न कि संस्कृत का।"[३]

इसके विपरीत कुछ आलोचक एकाकी नाटक को संस्कृत नाट्य शास्त्र से उद्भूत मानते हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत डा० सरनामसिंह शर्मा, प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल और प्रो० सदगुरुशरण अवस्थी का स्थान है। डा० सरनामसिंह शर्मा लिखते हैं—"यह मानना नितान्त भ्रामक होगा कि हिन्दी एकांकी के सामने कोई भारतीय आदर्श ही न था।"[४] प्रो० ललिता प्रसाद सुकुल का मत है—"नाटक रूपक और उपरूपकों के जितने भेद प्रभेद हमारे यहाँ प्राचीन काल से स्थिर रहे हैं उतने शायद ही किसी अन्य देश में प्राप्त हो सकें।" श्री सदगुरुशरण अवस्थी का विचार है कि "यह न समझना चाहिए कि भारतवर्ष में एकांकी थे ही नहीं।"[५] प्रो० ललिताप्रसाद सुकुल लिखते हैं—"हमारे यहाँ मानव जीवन का व्यापक अध्ययन कलात्मक अभिव्यजना और नाट्य विधान के अनेक रूप मिलते हैं। जहाँ एक ओर ग्यारह अंकों के वृहत्काय नाटक लिखे गये, वहीं विविध रूप और प्रकार (Types) के एकांकी और कही कहीं तो केवल तीन दृश्यो तक के लघुरूपक लिखने की परम्परा मिलती है"[६] यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि परिभाषा तथा उपभेद के रूप मे अनेक प्रकार (Types) एकाकी नाटको के समान हैं। परन्तु यह दृढता से नही कहा जा सकता कि आज के युग मे एकांकी नाटक का जिस रूप मे निर्माण हो रहा है, प्राचीन काल में भी वैसा होता होगा। पूर्व युग की नाट्यकला का रूप कुछ और ही था, भले ही वह आधुनिक एकाकी की परिमाण वाह्यशिल्प तथा उसके तत्त्वों से कुछ समानता रखता हो। प्रो० शिवनाथ भी लिखते हैं कि "वर्तमान युग के एकांकी नाटकों का मूल भारत में प्राचीन काल में ढूंढना ठीक नहीं है।" वस्तुतः अर्वाचीन एकाकी नाटक की कला प्राचीन कला से नितान्त भिन्न है।

भारतीय नाट्य शास्त्र मे उपरूपक के अनेक भेद माने गये हैं, इन्हें हम

१—प्रो० अमरनाथ गुप्त "एकाकी नाटक" पृष्ठ १।

२—प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त "छः एकाकी भूमिका, पृष्ठ १।

३—डा० एस० पी० खत्री "नाटक की परख" पृष्ठ १७७१।

४—"तपस्विनी" पृष्ठ १।

५—"नाटक और नायक" पृष्ठ ४।

६—भारतीय नाट्य परम्परा के मूलतत्व हिन्दुस्तान १८ जुलाई ५४।

एकांकी की संज्ञा दे सकते हैं। व्यायोग, भाण, प्रहसन, वीथी, नाटिका, गोष्ठी, सहक, नाट्य सहक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेखण, श्रीगदित, विलासिका, प्रकरणिका, हल्लीण, भाणिका, अक आदि एकांकी के ही विभिन्न प्रकार हैं। "दशरूपक" तथा "साहित्य दर्पण" मे प्राचीन एकांकियो के अनेक लक्षण उपलब्ध होते हैं, और संस्कृत नाटकों में इन प्रकारो के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं।

अतः स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य में प्राचीनकाल से ही एकाकी नाटकों की परम्परा चली आ रही है। संस्कृत एकाकियो का रचना-शिल्प अत्यत दुरुह तथा जटिल था। आधुनिक हिन्दी एकांकी की सभी प्रचलित शैलियाँ कुछ परिवर्तन के साथ इनमे सहज समाहित की जा सकती हैं। रस, कथानक, पात्रो के चरित्र, अभिनय की विधि, वृत्त सधि तथा नृत्य आदि के आधार पर पृथक-पृथक सीमाएँ निश्चित हो गई थी, जिनके उदाहरण आज भी प्राप्त होते हैं। यद्यपि एकाकी का पृथक अस्तित्व न था, या प्रयोगो की दृष्टि से इनका विशेष महत्व है।

डा० सरनामसिंह शर्मा का विचार है कि प्राचीन भारतीयो के पास पर्याप्त अवकाश था, अतः छोटे एकाकी का लिखा जाना सम्भव न था। परन्तु यह बात उपयुक्त प्रतीत नही होती, क्योकि साहित्य के छोटे रूप भी बड़े रूपों के साथ विकसित होते रहते हैं। कदाचित् संस्कृत भाषा की दुरुहता तथा तत्कालीन जनता की अभिरुचि के कारण एकाकी नाटको की प्रगति न हो सकी। वह युग एकाकियो की स्वतन्त्र उपयोगिता से अपरिचित रहा। अतः नाटको का विकास होता रहा और एकाकी न पनप सके। प्राचीन परम्परा पर ही नाट्यकारो ने नाटकों की सृष्टि की। नवीन भेदो में एकाकी को स्थान देने के लिए ही कदाचित इनका जन्म हुआ।

हिन्दी एकांकी संस्कृत नाटको से विशेप प्रभावित है। आधुनिक एकांकी के शिल्पविधान मे कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है, परन्तु यह नितान्त भ्रामक है कि भारत मे एकाकी नाटक थे ही नही। एकाकी के नाम रूप और उदाहरण प्राचीन नाट्य साहित्य में बराबर उपलब्ध होते हैं। आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल का तो विचार है कि नाटको की अपेक्षा उपरूपको की संख्या अधिक रही है। वे लिखते हैं—"यह कहना गलत है कि प्राचीनकाल में सर्वांगपूर्ण नाटक अधिक लिखे जाते थे। इतिहास सिद्ध कर देगा कि सर्वांगपूर्ण नाटक उपरूपकों की अपेक्षा सदा ही कम लिखे गये।"[1] वस्तुतः हमारे यहाँ एकांकी का नितान्त अभाव नही रहा है।

हिन्दी में एकाकी के विभिन्न तत्वों, जैसे—कथोपकथन, रंगमच, अभिनय, आदि की प्रगति धीरे-धीरे हुई। हिन्दी एकाकी ने हिन्दी कवियो से कथोपकथन तथा संस्कृत से रचना विधान तथा समाज मे प्रचलित लोकनाटको से अभिनय और रंगमंच को ग्रहण करके अपना विकास किया है। हमारे प्रारम्भिक एकांकी गीतिनाट्यो के रूप मे ही प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं।

"आधुनिक एकांकी का रचना शिल्प (Technique) तथ परिभाषा"

हिन्दी एकांकी के तत्वों के विकास की ओर आधुनिक एकाकीकार पर्याप्त ध्यान दे रहे हैं। अतः आधुनिक एकांकी नाटको की टेकनीक पर्याप्त उन्नत हो चुकी है। एकांकी की रचना-शिल्प के सम्बन्ध में विद्वानो मे मत-वैभिन्य है। आलोचको तथा एकांकीकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से एकांकी की परिभाषा निर्धारित की है तथा तत्वों का विवेचन किया है।

उनके विचारों को हम दो भागो में विभक्त कर सकते हैं—(१) आलोचकों द्वारा निर्धारित मत, (२) एकाकी नाटककारो द्वारा स्थापित मत। प्रथम वर्ग में हम डा० सत्येन्द्र, प्रो० अमरनाथ गुप्त, डा० एस० पी० खत्री तथा डा० नगेन्द्र को रख सकते हैं, तथा द्वितीय वर्ग मे उपेन्द्रनाथ अश्क, सद्गुरुशरण अवस्थी, सेठ गोविन्ददास, डा० रामकुमार वर्मा का नाम उल्लेखनीय है।

सर्वप्रथम हम आलोचको द्वारा निर्धारित एकाकी की परिभाषाओं तथा तत्व-विवेचन पर विचार करेंगे। डा० नगेन्द्र के विचार से एकाकी मे जीवन का एक पहलू, जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना, किसी विशेष परिस्थिति का दिग्दर्शन, एक अंक, कहानी के समान उसका विस्तार, एकता, एकाग्रता तथा आकस्मिकता का समावेश, संकलन-त्रय का निर्वाह, प्रभाव तथा वस्तु का ऐक्य होना वाछनीय है।

प्रो० अमरनाथ गुप्त की दृष्टि मे एकाकी एक बैठक में समाप्त हो जानी चाहिए। वे एकांकी को ऐसी लघुकृति मानते हैं जो एक ही बार और समय मे समाप्त हो जाय। उनके विचार से एकाकी की गति द्रुत होनी चाहिए। उसका कथानक सरल हो, एक ही विषय या घटना का वर्णन हो, उसका क्षेत्र सकुचित तथा प्रभावशाली होना चाहिए साथ ही विषय और समय की मितव्ययता भी आवश्यक है। साधारण घटनाएँ मुख्य घटनाओ से सम्बद्ध होकर आये।

डा० एस० पी० खत्री ने एकाकी के तत्वों का विश्लेषण बड़े गम्भीरपूर्ण दृष्टिकोण से किया है। उन्होने अपने मत अग्रेजी एकाकियो को दृष्टि मे रखकर स्थापित किया है। उन्होने एकाकी मे सक्षिप्तता, समय की मितव्ययता और सीमा की संकुचितता पर विशेष बल दिया है। उन्होने कथावस्तु, अभिनयशीलता तथा एक ही भावना का चित्रण आदि तत्वो को विशेष आवश्यक माना है। डा० खत्री ने कथानक और वस्तु मे अन्तर माना है। उनका विचार है कि एकांकीकार अपने कथानक का निर्माण किसी सामाजिक समस्या, लोकगाथा, दैनिक जीवन की किसी घटना अथवा मानवीय भावो को लेकर कर सकता है। परन्तु उसे कथानक का रूप-विधान इस प्रकार से करना चाहिए जिससे नाटकीय उद्देश्य की पूर्ति हो सके। उनके विचार से कथानक को संवारने के वाद ही वस्तु का निर्माण होता है। उनका

१—"भारतीय नाट्य परम्परा" "हिन्दुस्तान" १८ जु० ५४।

विचार है कि वस्तु का विन्यास इस प्रकार होना चाहिए जिससे पाठकों में कुतूहल एवं जिज्ञासा बनी रहे। सामजस्य और समन्वय के साथ उसका अन्त विस्मयपूर्ण होना चाहिए। चरित्र-चित्रण स्वाभाविक, निष्पक्ष एवं सहानुभूतिपूर्ण हो तथा संवाद पात्रो के अनुकूल होने चाहिएं। डा० खत्री ने डा० रामकुमार वर्मा के समान संकलनत्रय के निर्वाह पर विशेष बल दिया है। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं:—

"यदि किसी एकांकी में अनेक स्थलों, अनेक भावों, अनेक चित्तवृत्तियों का सम्मिश्रण है, तो वह एकांकी कला के प्रमुख तत्वों की रक्षा नहीं करता और उसमें एकांकी लेखक कला पूर्णरूप से प्रस्फुटित न हो पायेगी। एकाकी की महत्ता इसी में है कि वह केवल एक ही भावना अथवा चित्तवृत्ति का उत्तेजनापूर्ण, विस्मयपूर्ण तथा रोचक प्रदर्शन करे, यदि वह इस आदर्श से गिरता है, तो वह किसी भी दृष्टि से सफल नहीं हो सकता।"

"कलाकार को एकांकी में एक भावना के फलस्वरूप एक ही प्रभाव प्रकट करने में संलग्न रहना चाहिए। एक भावना के फलस्वरूप जो प्रभाव प्रकट किया जायेगा उससे दर्शक के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ेगा और यदि प्रभाव में अनेक रूपता हुई, तो एकांकी अपने आदर्श से गिर जायेगा।"

डा० सत्येन्द्र ने एकांकी को स्वतन्त्र टेकनीक वाला साहित्य का एक भेद माना है। उन्होंने भी संकलन त्रय के निर्वाह को विशेष महत्व दिया है। उसका प्रारम्भ बहुत छोटा और यदि पात्रो का परिचय देना हो तो शीघ्र ही वस्तु दिखाई देने लगे। वस्तु में गति होना वाछनीय है। डा० सत्येन्द्र का विचार है कि पात्रों में नायक के साथ प्रतिनायक भी हो सकता है। एकाकी में पात्रो की सख्या अल्प होनी चाहिए। डा० सत्येन्द्र ने गौण पात्रो को भी स्थान दिया है। वे लिखते हैं—

"नायक प्रतिनायक की कल्पना से रहित एकांकियों में विविध गौण पात्रो के गमनागम और कुछ घटनाओ के घटित होने से एकांकी में गति आ जाती है। ये गौण पात्र उत्तेजक, माध्यम सूचक अथवा प्रभाव व्यजना का कार्य कर सकते हैं।"[1] आगे वे लिखते हैं—"उत्तेजक के कोई कोई भी उद्दीपक सामग्री हो सकती है, कोई पदार्थ भी हो सकता है। ये गति के साधन हैं।" एकांकी के लिए गति आवश्यक है, आरम्भ के पश्चात् ही गति में तीव्रता वांछनीय है। इस गति के दो मुख्य आधार हैं— संघर्ष तथा विकास। अनवरत संघर्ष तथा अनेक उपादानों को प्राप्त करता हुआ, विकास गति प्राप्त करता हुआ चरमोत्कर्ष की ओर जाता है। और वहीं पर एकांकी समाप्त हो जाता है। समाप्ति पर या तो घटना का फल प्राप्त होता है या किसी रहस्य का उद्घाटन होता है।" डा० सत्येन्द्र चरमोत्कर्ष को अनिवार्य नही मानते। वे लिखते हैं—"कला की दृष्टि से एकांकी की टेकनीक के लिए चरमोत्कर्ष कोई अनिवार्य तत्व नहीं।"

द्वितीय वर्ग में हम एकांकीकारो द्वारा निरूपित मत तथा परिभाषाएँ ले

१. हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास से—लेखक डा० रामचरण महेन्द्र

सकते हैं। प्रथम मत श्री उपेन्द्रनाथ "अश्क" का है। "अश्क" जी ने एकांकी के प्रथम उपकरण उसका छोटा कैनवस (canvas) माना है। यद्यपि उन्होंने दृश्यों की अनेक रूपता को स्वीकार किया है, किन्तु श्रेष्ठ एकांकियो के लिए उन्होने एक अंक और एक दृश्य को महत्व दिया है। "अश्क" ने एकाकी की अवधि पर विशेष बल दिया है। एक दृश्य अथवा तीन दृश्यों के एकाकी को भी आध घन्टे से लेकर पैंतालीस मिनट तक मे समाप्त हो जाना आवश्यक है। वे लिखते हैं—"मेरा नाटक "सूखी डाली" तीन दृश्यों का होकर भी एकाकी है, परन्तु "आदि मार्ग" का "भंवर" तीन दृश्यो का होकर भी पूरा नाटक है। "अश्क" जी ने एकांकी के लिए रंग-सकेत, कार्यगति, अभिनय सवाद, वातावरण, चरित्र-चित्रण, प्रकाश तथा छाया का उचित प्रयोग अनिवार्य माना है। उनका विचार है कि एकाकी की सबसे बड़ी विशेषता संकलन-त्रय के निर्वाह मे है। जितने समय की घटना हो उतने समय में ही रगमच पर उसका अभिनय होना चाहिए।

"अश्क" जी की परिभाषा मे एकाकी के तीन तत्वो पर विशेष रूप से प्रकाश पड़ता है—(१) अवधि की लघुता (३५ मिनट से ४५ मिनट तक का समय) (२) अभिनय (३) रग सकेतो की स्पष्टता। यद्यपि ये तत्व एकांकी के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, किन्तु एकांकी मे मूल विचार, प्रभाव, समस्या, सन्देश या चिन्तन आदि भी कम महत्वपूर्ण नही हैं। "अश्क" जी ने कलापक्ष को प्रधानता दी है। वे एकाकी में संकलन-त्रय का कठोरता से निर्वाह करने के पक्षपाती हैं। उन्होने एकांकी का अभिनयशील होना भी आवश्यक माना है।

इस वर्ग में दूसरा मत प्रो० सदगुरुशरण अवस्थी का है। उनके विचार से एकांकी का एक सुनिश्चित सुकल्पित लक्ष्य होना चाहिए उसमे किसी विशेष घटना, परिस्थिति अथवा समस्या का दिग्दर्शन होना चाहिए साथ ही उसका प्रवाह वेग सम्पन्न तथा चातुर्य से सबका निर्वाह वांछनीय है। उनका विचार है कि एकाकियो के कथोपकथन छोटे-छोटे तथा दृश्यो की सख्या कम आवश्यक है, वर्णन की बहुलता तथा चरित्र विकास के लम्बे प्रयोग एकाकी के लिए अवांछनीय हैं। वे लिखते हैं—"हम कला की परम्परा वाली मन को डुबा देने वाली परिपाटी कभी भी अधिक काल तक स्वीकार नहीं कर सकते। दीर्घकाय नाटको के लम्बे कथोपकथन, उनकी भद्दी अभिव्यंजना, दृश्यो की सजावट की अतिशयता, विषमान्तरता तथा वर्णन बाहुल्य कथा विकास तथा चरित्र-विकास की लपेट में काव्य विकास का लम्बा प्रयोग, औत्सुकय प्रधानता के लिए उलझी कल्पनाएँ, ये बातें युगो से सबको परेशान किए हैं, एकांकी में हम उनकी छाँह भी देखना पसंद नहीं करते।"[1] एकाकी में आकार के केन्द्रीगत प्रभाव तथा वैयक्तिक और स्थानिक विशेषताओ की केवलता का विशेष महत्व है। एकांकी मे विषय प्रतिपादन की निष्ठा, पक्षपात रहित समीक्षा तथा तार्किक मौलिकता भी अनिवार्य है। वास्तविकता की स्थापना के लिए एकांकी मे भावुकता तथा मानसिकता का उचित सन्तुलन होना

१. " पृ० ६।

हैं। एकांकी के विषय के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"राजा रानी की कहानी लेकर जातक कथाएँ हितोपदेश तथा "पंचतन्त्र की कहानियाँ" फेयरी टेल, सहस्र रजनी चरित्र, इत्यादि सभी कथाएँ समझदारी से एकांकी में गूँथी जा सकती हैं।"[1] अवस्थी जी का विचार है कि एकांकीकार "केवल कतिपय उज्ज्वल पृष्ठों में वह जीवन का जाज्वल्य खण्ड उपस्थित कर देता है।" अवस्थी जी ने एकांकी को अपनी पृथक सत्ता रखने वाला साहित्य का एक अंग माना है। वे लिखते हैं—"वह बलि को छलने वाला बावन अंगुल का मनुष्य नहीं और न चक्र सुदर्शन सहित विष्णु का हाथ है। वह न किसी का लघु संस्करण है और न किसी का खण्ड अवतार। वह अपनी निजी सत्ता रखने वाला साहित्य का एक अंग है।"[2]

एकांकी की सार्थकता तथा उसकी अभिनयशीलता के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"यदि किसी एकांकी में जीवन की ऊँची गतिविधि के साथ साथ कला का पूर्ण स्वरूप और सच्चे साहित्य की सारी आकांक्षाएँ विद्यमान हैं, तो कोई सहृदय समालोचक इसलिए उसका अनादर न करेगा कि वह अनभिनेय है और नाटककार रंगमंच की एकांगी विशेषताओं से अनभिज्ञ है। हम उसको पढ़कर आनन्द ले सकते हैं।" उन्होंने एकांकी में ऊँची चिन्तना को भी विशेष महत्व दिया है। वे लिखते हैं :—"आज का युग तो चिन्तनाओं के संघर्ष से ही प्राण ग्रहण करता है। उसके बिना नाटक ही का सारा काव्य केवल हँसने और रोने वाली वस्तु रह जायेगा।"

अवस्थी जी की विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने एकांकी में लक्ष्य की एकता तथा घटना अथवा परिस्थिति का लक्ष्य सिद्धि की ओर वेग सम्पन्न होना आवश्यक माना है। उन्होंने चातुरी से उसकी अभिव्यंजना को भी विशेष महत्व दिया है। उन्होंने अभिनयशीलता के स्थान पर ऊँची चिन्तना तथा साहित्यिकता को विशेष महत्व दिया है। उन्होंने स्वयं अपने एकांकियों में इन नियमों का पालन किया है। उनके एकांकी ऊँची चिन्तना, दार्शनिकता और गम्भीर तर्क वितर्क से परिवेष्ठित हैं। किन्तु बुद्धिवादी दृष्टिकोण तथा ऊँची चिन्तना के फलस्वरूप उनके एकांकी नीरस, शुष्क, जटिल, तर्कपूर्ण, संवाद बोझिल, लम्बे मानसिक ऊहापोह से परिपूर्ण हैं। रंगमंच की दृष्टि से उनके एकांकी सफल नहीं हैं। वे केवल अध्ययन की वस्तु हैं। अवस्थी जी ने एकांकी में पात्रों के आन्तरिक संघर्ष कथानक की कुतूहलता और एक प्रभावशीलता और मनोरंजकता आदि तत्वों को स्थान नहीं दिया। अतः उनकी परिभाषा पूर्ण नहीं कही जा सकती। रंगमंचीय एकांकियों के लिए उनकी परिभाषा अपूर्ण और एकांगी है।

सेठ गोविन्द दास ने एकांकी में सर्वप्रथम किसी एक मूल विचार (Central idea) को अनिवार्य माना है। उनका विचार है कि एकांकी में जीवन की किसी समस्या का विश्लेषण होना चाहिए। उसके विकास के लिए बाह्य या आन्तरिक

---

१. वही पृ० १०।

२. "नाटक और नायक" पृ० १०।

संघर्ष अनिवार्य है। उन्होंने एकांकी में आन्तरिक संघर्ष को विशेष महत्व दिया है क्योकि इसके द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को सहारा मिलता है। एकांकी की श्रेष्ठता के लिए महान् विचार, तीव्र संघर्ष, संगठित एवं मनोरंजक कथा, विशद चरित्र-चित्रण एवं स्वाभाविक कथोपकथन को उन्होंने आवश्यक माना है। सम्पूर्ण नाटक में एकता का निर्वाह आवश्यक है।

विषय की दृष्टि से सेठ जी तथा अवस्थी जी के मत में समानता है। जिस तत्व को सेठ जी ने विचार माना है, अवस्थी जी ने उसे "ऊँची चिन्तना" कहा है। उनका विचार है कि नाटक के स्थायित्व के लिए विचार (उद्देश्य या समस्या) का महान् होना वांछनीय है। सेठ जी ने आन्तरिक संघर्ष को विशेप महत्व दिया है। उन्होने कथानक के संगठन के साथ-साथ मनोरंजकता तथा चरित्र-चित्रण की विशदता को भी अनिवार्य माना है, जहाँ सेठ जी ने कथोपकथन में स्वाभाविकता को प्रधानता दी है अवस्थी जी ने गम्भीरता तथा दार्शनिक तर्क को महत्व दिया है। सेठ जी ने संकलनत्रय के निर्वाह को भी विशेष महत्व दिया है। वे लिखते हैं :—

"पूरे नाटक के लिए सकलनत्रय जो नाटय कला के विकास की दृष्टि से बडा भारी अवरोध है, वही संकलनत्रय कुछ फेरफार के साथ एकांकी नाटक के लिए जरुरी चीज है। संकलनत्रय में भी संकलन एक्य अर्थात् नाटक एक ही समय की घटना तक परिमित रहना तथा एक ही कृत्य से सम्बन्ध में होना तो एकांकी के लिए अनिवार्य है।"

उनके विचार से एकांकी छोटे और बड़े दोनों प्रकार के हो सकते हैं। वे लिखते हैं :—"जो यह समझते है कि पूरे नाटक और एकांकी नाटक का भेद केवल बड़ाई छुटाई है, मेरी दृष्टि में वे भूल करते हैं, एकांकी छोटे ही हों, यह जरूरी नहीं है।" वे एकाकी में दृश्यो की अनेकता को भी महत्व देते हैं। उन्होने स्थल-सकलन की अपेक्षा काल संकलन को अधिक महत्व दिया है। वे इस सम्बन्ध में लिखते हैं :— "एकांकी में एक से अधिक दृश्य भी हो सकते हैं, पर यह नहीं हो सकता कि एक दृश्य आज की घटना का है और दूसरा पन्द्रह दिन के बाद की घटना का, तीसरा कुछ महीनों के पश्चात् का और चौथा कुछ वर्षों के अनन्तर।"

अतः स्पष्ट है कि सेठ जी ने अपनी परिभापा मे संकलनत्रय के महत्व तथा उसमें एक ही समय की घटना तथा एक ही कृत्य की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। उन्होंने काल सकलन की उपेक्षा की है। सेठ जी ने अपनी परिभापा मे एकांकी के केवल मुख्य अंगो, एक ही समय की घटना, एक पहलू का निदर्शन तथा पात्रों की परिमित संख्या पर विशेष बल दिया है। सेठ जी की परिभाषा भी अपूर्ण कही जायेगी क्योंकि उन्होने रंग-संकेत तथा अभिनयशीलता का उल्लेख नही किया है।

डा० रामकुमार वर्मा ने एकांकी की रचना-शिल्प पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। वर्मा जी ने भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों को ही समान रूप से महत्व दिया है। निम्नलिखित उदाहरणों से उनके विचार स्पष्ट हो जाते हैं :—

"एकांकी में एक घटना होती है और वह नाटकीय कौशल से ही कौतूहल का संचय करते हुए चरम सीमा (Climax) तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसग नहीं रहता···विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कलि की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित होती है। उसमें लता के समान फैलने की उच्छृंखलता नहीं।"[1]

"जीवन की प्रमुख संवेदना को लिए हुए एक ही पात्र या एक ही परिस्थिति बादलों की भाँति नीचे से उठकर घटनाओं के झोंको में ऊपर जाकर चन्द्रमा और सूर्य को ढक ले और चरमसीमा की विद्युत से आलोकित होकर जीवन के सत्य की बूँदो में बरस पड़े।"[2]

"हमारे जीवन के चारों ओर घटनाओं का अविराम प्रवाह बहता रहता है, जिनमें प्राणों के तत्व का अत्यन्त रहस्यमय संकेत रहता है। इन घटनाओं को सजीव दृष्टि से देखकर उनकी व्यंजना में कथावस्तु का निर्माण कर लिया जावे। कला-चातुर्य इसमें है कि घटनाओ को अधिक से अधिक घनीभूत कर उन्हे कार्यकारण की मनोरंजक शृखला में कस लिया जावे।"[3]

"नाटक का प्राण उसके सघर्ष में पोषित होता है। यह संघर्ष जितना अधिक नाटककार की विवेचन शक्ति मे होगा, उतना ही जिज्ञासामय उसका नाटक होगा।"

"मेरे सामने एकांकी नाटक की भावना वैसी ही है जैसे एक तितली फूल पर बैठकर उड़ जाय। उसकी घटना वस्तु से जीवन मनोरंजन के साथ निखरे रूप में आ जाय···समझने में न तो प्रयास की ही आवश्यकता हो, न थकावट ही। जीवन का एक पृष्ठ उलट जाय और उसके उलटाते हुए आपके मुख पर सतोष और सुख हो।"

एकांकी का यही कौशल है कि विना समय का विस्तार वढ़ाये और विना स्थानों के वदले, वह कौतूहल का सचय कर मनोविज्ञान में क्रान्ति उपस्थित करदे। यह क्रान्ति चाहे यथार्थ में हो या आदर्श व्यक्ति मे हो, चाहे घटना में।

यदि एकांकी दृश्यों में वट जाये और दिनों या महीनो की अवधि पा ले, तो फिर इसमें प्राचीन संस्कृति के अंक रूपक में अन्तर ही क्या रहा? चरित्र और घटना का दिग्दर्शन एक ही दृष्टि में करा सकने की क्षमता आधुनिक एकांकी में है।"

डा० रामकुमार वर्मा के उपर्युक्त उद्धरणो से एकांकी के सव तत्वो पर पूर्ण रूप से प्रकाश पड जाता है। डा० रामकुमार वर्मा के एकाकी सम्वन्धी विचारो का निष्कर्ष डा० रामचरण महेन्द्र ने अपनी पुस्तक "हिन्दी एकांकी उद्भव और

---

१ डा० रामकुमार वर्मा कृत "पृथ्वी राज की आँखे" भूमिका।

२ डा० रामकुमार वर्मा कृत "रजत रश्मि" पृष्ठ १०।

३ डा० रामकुमार वर्मा कृत "रेशमी टाई" भूमिका-पृष्ठ ७।

विकास" में बहुत सुन्दरता से व्यक्त किया है। उनके निष्कर्ष इस प्रकार हैं :

१—"एकांकी में आधार रूप से एक ही मुख्य घटना या जीवन की प्रमुख संवेदना होनी चाहिये जिसका विकास कौतूहल और जिज्ञासापूर्ण नाटकीय शैली में होना चाहिये। चरम सीमा पर पहुँच कर एकांकी का अन्त होना चाहिये।"

२—"एकांकी में अभिव्यंजित घटनाओं का चुनाव दैनिक जीवन से हो तथा उसमें यथार्थवाद एवं मनोरंजन के तत्वों का उचित समावेश होना चाहिये।"

३—"दो विरोधी पात्रों के वर्गों या मनुष्य के दो प्रकार के भावों में संघर्ष होने से नाटक का ताना बाना बनता है। संघर्ष (Conflict) एकांकी का प्राण है। इसकी अभिव्यंजना का आधार मनोवैज्ञानिक होना चाहिये।"

४—"एकांकी के कथानक में कौतूहल (Suspense) तथा जिज्ञासा (Curiosity) क्षिप्रगति और चरम सीमा (Climax) में परिणित होनी चाहिये।"

५—"यथार्थवाद की रक्षा के लिये सहज स्वाभाविक चित्रण रहे, किन्तु आदर्शवाद की ओर संकेत हो सकता है।"

६—"कलापक्ष में एकांकी की स्वाभाविकता और जीवन से निकटता बनाये रखने के लिये संकलन-त्रय (Three unities) का कठोरता से पालन होना चाहिये। आकार छोटा रहे और अवधि कम लगे। इसमें पात्रों के चरित्र अथवा घटना को संक्षेप में प्रकट कर देने की क्षमता होनी चाहिए।"

उपर्युक्त विश्लेषण से डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी के सभी मूल तत्व स्पष्ट हो जाते हैं। वर्मा जी ने एकांकी के सभी मूल तत्वों का व्यापक रूप से विश्लेषण किया है। डा० रामकुमार वर्मा ने प्रभाव साम्य (Unity of effect) और संकलन-त्रय पर विशेष बल दिया है।

वास्तव मे एक लम्बे दृश्य में ही समाप्त हो जाने वाले एकांकी का दर्शकों पर एक विशेष अन्तिम प्रभाव (Final impression) पड़ता है, पर ऐसे भी सफल एकांकी उपलब्ध होते हैं जिनमें काल, भेद और वर्षों का अन्तर होने पर भी प्रभाव की एकता और संवेदना का बड़ा मार्मिक चित्रण मिलता है। श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी का सफल एकांकी "सोहाग-बिन्दी" इस तथ्य का सुन्दर उदाहरण है। रेडियो एकांकी के समान अनेक दृश्यो और काल की अनेकता होने पर भी कोई भावना सुन्दरता से व्यक्त हो सकती है। चरमोत्कर्ष को डा० वर्मा ने विशेष महत्व दिया है। चरमोत्कर्ष का विशेष महत्व होते हुए भी, बहुत से ऐसे एकांकी उपलब्ध होते हैं जिनके सभी भागो मे समान उत्सुकता और उत्साह बना रहता है। प्रो० नगेन्द्र का भी विचार है कि बिना चरम सीमा वाले एकांकी भी सफल एकांकी हो सकते हैं जैसे सेठ गोविन्द दास का "स्पर्धा"। फिर भी वर्मा जी के विचार आदरणीय हैं और सभी आधार तत्वो का उद्घाटन कर देते हैं।

ए १] इस प्रकार अनेक पक्ष-विपक्ष विवेचन के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि का.की न तो बड़े नाटक का संक्षिप्त रूप है, न कहानी या संभाषण ही।"[1]

एकांकी के आधारभूत मूल तत्व

एकांकी के आधारभूत मल तत्व इस प्रकार माने गये हैं—

१—मूल विचार, प्रभाव, समस्या या सन्देश :—एकांकी मानव जीवन या समाज के किसी एक पहलू को प्रस्तुत करता है। उसकी रचना किसी विशेष परिस्थिति, विशेष समस्या, मुख्य विचार अथवा किसी लक्ष्य को लेकर होती है। इस प्रकार किसी घटना, विषय या परिस्थिति से प्रारम्भ होकर उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ पूर्ण विकास को प्राप्त होता है और अपना एक विशेष प्रभाव छोड़ जाता है।[2] एकांकी मे केवल एक घटना ही फैल कर दर्शकों के हृदय पर अपना विशेष प्रभाव साम्य छोड़ जाती है।[3]

एकांकी में अनेक पात्रों, घटनाओं या जीवन के विभिन्न पहलुओं के लिए स्थान नही होता। उसमे अन्यावश्यक घटनाओं, गौण-प्रसंगो तथा व्यर्थ के पात्रो का समावेश न होना चाहिए। पात्र या चरित्र प्रधान एकांकी मे एकांकीकार को मुख्य पात्र या पात्रवर्ग के चरित्र की विशेषताओं को भलीभांति प्रकाशित कर दे।[4] एकांकीकार का उद्देश्य चाहे गम्भीर, हास्यप्रधान, कारुणिक या प्रचारात्मक हो, पर उसके एकांकी में कोई न कोई उद्देश्य या विचार वांछनीय है। इसी के द्वारा एकांकीकार प्रभाव की एकता उपस्थित करता है। एकांकी का विषय कुछ भी हो सकता

१—डा० रामचरण महेन्द्र

२—"The one act play by its nature and the rigid restrictions of medium, has to confine itself to a single episode or situation and this situation, in turn has to grow and develop out of itself."

(Water Prichard Eaton)

३—"It should aim at making a single impression, should possess singleness of situation, and should concentrate its interest on a single character or group of characters,"—Sydney Box. The Technique of one act Play.

४—"Nor is he at liberty to display the Manysidedness of character by evolving various situations which will test the relations of his characters. The One Act Play form is not one which lends itself easily to much subtlety of characterization. It is essentially concentrated and single of purpose; and for this reason imposes the strictest discipline upon the playwright who makes use of it"

—*Ibid.*

है। एकांकीकार समाज, इतिहास, राजनीति, मानवी भाव, पुराण, धर्म, स[illegible]क जीवन, साहित्य या जीवन-चरित्र आदि किसी भी क्षेत्र से मुख्य विचार (Ce[illegible] idea) लेकर अपनी कथावस्तु (Plot) की रचना कर सकता है। उसे एकता तथा सक्षिप्तता का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। एकांकीकार जीवन के जिस पक्ष का उद्घाटन करे, उसी ओर कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, अभिनय-शीलता तथा वातावरण पर प्रकाश डालें। एकांकी में वस्तु-भेद नही होना चाहिए। एकांकी में एकता से तात्पर्य यही है।

दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है एकांकी की सीमा की सक्षिप्तता अल्प समय में पूर्ण प्रभाव उपस्थित करना, घटना को स्पष्ट करना, अथवा चरित्र विश्लेषण में ही एकांकी की सफलता है। समय का ध्यान रखना एकांकीकार के लिए अत्यन्त आवश्यक है।[१] एकांकी में जीवन का वास्तविक चित्र होना चाहिए, वह चित्र काल्पनिक सा प्रतीत न हो। एकांकी की सफलता इसी बात में है कि वह अल्प समय में ही किसी विशेष परिस्थिति, उद्दीप्त क्षण अथवा जीवन की एक सजीव झाँकी प्रस्तुत कर दे।

२. कथावस्तु :—एकांकीकार अपनी कथावस्तु का निर्माण मानवीभाव, जीवन-चरित्र, समाज, राजनीति, लोक गाथा, धर्म, पुराण, इतिहास आदि किसी भी क्षेत्र से ले सकता है। पर उसका आधार वास्तविक होता है। एकांकी का कथानक चाहे सुखान्त हो अथवा दुखान्त, पर उसमे विस्मय, रोचकता तथा उत्तेजना अवश्य होनी चाहिए। कथानक को काट-छाँट कर वस्तु का विन्यास इस प्रकार करना चाहिए कि उसमें नाटकीयता का समावेश हो जाय। दर्शकों का पात्रों के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाय तथा वे उसमे रुचि लेने लगे।[२]

वस्तु के विकास के पाँच भाग हैं—१. प्रारम्भ, २. नाटकीय स्थल, ३. द्वन्द्व, ४. चरमसीमा, ५. परिणति। प्रायः रंगमंचीय सूचना द्वारा ही प्रारम्भ हो जाता है तथा वस्तु का रूप तब उपस्थित होता है जब आधी से अधिक घटना समाप्त हो जाती है। अतः एकांकी को सफल बनाने के लिए उसका प्रारम्भिक वाक्य कौतूहल तथा जिज्ञासा की शक्ति से परिपूर्ण होना वांछनीय है। शीघ्र ही बीती हुई घटनाओ को व्यक्त करके वस्तु को द्रुतगति से नाटकीय स्थिति की ओर अग्रसर होना वांछनीय है। दो विरोधी पात्रों, भावो या स्थितियो मे द्वन्द्व होना चाहिए। प्रत्येक भावना

---

१. "The time factor is important, while the speed of action may be accelerated or retarded, it must not be so far from that of real life that it is wholly rejected"—Percival Wilde. Construction of the one Act Play.

२. "The chief perhaps the only quality of short play's opening is that it must capture the audience's interest."—Sydney Box. The Technique of one Act Play, P. 10.

...उभारती हुई कौतूहल के साथ चरम सीमा में पूर्ण प्रकाशित हो उठती है। ...विन अथवा वर्षो की सुखान्त अथवा दुखान्त घटनाएँ एक घन्टे के संघर्ष मे ...की जाती हैं। इस सम्बन्ध मे श्री सत्येन्द्र शरत् का विचार है कि—"यदि ...की नाटक के अपने आप में पूर्ण होते हुए भी समाप्त होने पर पाठक या दर्शक के मन में नाटकीय पात्रो की आगामी परिस्थितियो के प्रति उत्सुकता पैदा हो जाती है और मन मे यह विचार उठता है कि कितना अच्छा होता यदि नाटक और आगे चलता तथा सब चीजें पूरी तरह समाप्त हो जाती, तो उस एकांकी की सफलता मे सन्देह नही किया जा सकता। वह अपना कार्य पूरी तरह कर चुका है।"[1]

वास्तव मे सफल एकाकी को अपने मे पूर्ण होना आवश्यक है। नाटककार को समाप्ति ऐसी स्थिति मे करनी चाहिए जहाँ कुछ कहने को शेष न रह जाय। वस्तु मे आश्चर्य, कौतूहल और जिज्ञासा (Thrill and Suspense) के तत्व अत्यन्त आवश्यक हैं।

३. संघर्ष (Conflict) :—एकांकीकार एकांकी की रचना दो विरोधी पात्रो, नायक अथवा खलनायक के सघर्ष को लेकर करता है। किसी किसी एकांकी में किसी पात्र विशेष के भावो का अन्तः संघर्ष होता है। ऐसे एकाकी अधिक प्रभावशाली होते हैं, क्योकि इनमें किसी पात्र का चारित्रिक द्वन्द्व या मानसिक तूफान का विश्लेषण रहता है। वास्तव मे सघर्ष ही एकाकी मे प्राप्त प्रतिष्ठा करता है तथा एकाकी में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक गति लाता है। एकाकीकार मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर मानसिक अन्तर्द्वन्द्वो का उद्घाटन करता है। डा० रामकुमार वर्मा तथा कुछ अन्य एकाकीकारो के ऐसे सफल एकाकी भी उपलब्ध होते हैं, जिनमे पात्रो के मानवीय भावो का सुन्दर अन्तर्द्वन्द्व दिखाया गया है।

४. संकलनत्रय (Three Unities) :—एकांकी में कार्य संकलन, काल-संकलन तथा स्थल सकलन का निर्वाह भी आवश्यक है। इस नियम के अनुसार एक सम्पूर्ण कार्य एक ही अवधि में तथा एक ही स्थान मे होना अनिवार्य है। एकाकी में स्वाभाविकता लाने के लिए किसी पात्र के जीवन की एक ही परिस्थिति का वर्णन होना चाहिए। घटनाओ के वर्णन मे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उस घटना को उतने ही समय मे दिखाना चाहिए जितना दैनिक जीवन मे उस घटना को घटित होने मे लगता है। एकाकी के अन्तिम प्रभाव मे एकाग्रता और एकता अनिवार्य है। प्रभाव और वस्तु के एकत्र के लिए अनावश्यक घटनाओ का समावेश नही होना चाहिए। इस सम्बन्ध मे प्रोफेसर G. P. Vyas, लिखते हैं कि :—"The total effect of the play should give an impression of a unified whole. Nothing should be said or done anywhere in the play which might appear fissiparous in its effect."[2]

---

१. सत्येन्द्र शरत् "तार के खम्बे" पृ० १३६.

२. Ten Selected Plays, P 21.

५. पात्र तथा चरित्र-चित्रण—एकाकीकार एकाकी की रचना कुछ पात्रों को लेकर करता है। ये पात्र वास्तविक जीवन के प्रतीक होने चाहिएं। पात्रों की भावनाएँ, विचार, गुण-दोष, समस्याएँ हमारी जैसी ही होनी चाहिएँ। प्रधान पात्र के अतिरिक्त गौण पात्रो को भी एकांकी मे स्थान दिया जा सकता है, परन्तु उनके द्वारा प्रधान पात्र के चरित्र परिस्थिति, तथा वातावरण को स्पष्ट करना चाहिए। गौण पात्र के स्थान पर किसी वस्तु का भी निर्माण किया जा सकता है। पात्रो की सख्या अल्प होना वांछनीय है। व्यर्थ के पात्रो से एकाकी को नही भरना चाहिए। पात्र एकांकीकार के हाथो की कठपुतली न होकर सच्चे जीवन और मानवोचित-संवेदनाओं से परिपूर्ण होने चाहिएँ। एकाकीकार को कथोपकथन द्वारा पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त पात्रो के अपने विषय में विचार गौण पात्रों के उनके सम्बन्ध मे उद्‌गार रंग-सूचनाओं मे वर्णित गुण-दोष या व्यक्तिगत विशेषताएं पात्रों के अभिनय द्वारा स्पष्ट हो जाती हैं। सारांश यह है कि पात्रों का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व होना आवश्यक है, उन्हे एकाकीकार की इच्छाओं का दास नही होना चाहिए।

६. कथोपकथन:—एकाकी का प्राण कथोपकथन मे निहित है। कथासूत्र को आगे बढाने का श्रेय कथोपकथन को ही है। अतः कथोपकथन को सजीव, सुन्दर तथा प्रभावशाली होना आवश्यक है। जिससे पात्रो के चरित्र सम्बन्धी गुण-दोष, आचार-व्यवहार, मनोभाव, आदते, सामाजिक स्थिति, नाटकीय परिस्थिति, नाटक का वातावरण और पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाये। वस्तु मे तनाव तथा विरोधी पात्रो के द्वन्द्व को प्रकट करने के लिए भी कथोपकथन अनिवार्य हैं। सवादो में स्वाभाविकता तथा सजीवता के साथ-साथ संक्षिप्तता, मर्मस्पर्शी वाग्वैदग्ध्य तथा पात्रों की चारित्रिकता को स्पष्ट करने का भी गुण होना वाछनीय है। वस्तुतः एकाकी कथोपकथनो द्वारा समस्त गति और शक्ति को प्राप्त करता हुआ चरमसीमा पर पहुंचता है। एकांकी परिधि अत्यन्त सक्षिप्त होती है, अतः उसका प्रत्येक शब्द नपा-तुला होना चाहिए। एकाकीकार पूर्व घटनाओं, अतीत स्मृतियों को रंगमंच पर स्पष्ट करता है तथा अपनी संकेतमय भाषा द्वारा भविष्य का आभास दे देता है। एकांकी के प्रत्येक शब्द का निजी महत्व है।[२]

एकांकीकार को अल्प शब्दों मे अधिक भावो को व्यक्त करना पड़ता है। वातावरण का चित्रण करने, स्थानीयता की सूचना देने, नाटकीय परिस्थिति और मूल भावना को व्यक्त करने के लिए एकांकीकार को कम से कम शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। नाटक के वास्तविकता प्रदान करने के लिए पात्रो द्वारा ऐसी भाषा

२—You have a pain fully small number of words with which to accomplish a large effect, for events must in general be large on the stage., therefore every word must count"

—Walter Prichard Eaton, Technique, P. 54

...। कराना चाहिए, जो सरल, स्वाभाविक तथा उनकी स्थिति, वय, शिक्षा ...रित्र के अनुकूल हों। पात्रों की भाषा में मार्मिकता, गतिशीलता और ...हित्यकता का गुण भी अपेक्षित है। टेलीफोन, जड पदार्थ अथवा पशु-पक्षियों के ...ाध्यम से यदि पात्रों के मन्तव्य स्पष्ट करा दिये जायें तो कोई हानि न होगी।

७. अभिनयशीलता.—एकाकी भी दृश्य काव्य के अन्तर्गत है। अतः अभिनय की दृष्टि से भी उसे पूर्ण होना चाहिए। कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जिनको केवल रगमंच पर ही प्रभावशाली रूप में चित्रित किया जा सकता है। अभिनय में ही एकांकी की सफलता है। अभिनय के द्वारा अभिनेता अपने मनोभावों, हाव-भाव, मुखमुद्रा तथा विविध कार्यों का प्रभावशाली प्रदर्शन कर सकता है। एकांकीकार को रगमचीय साधनो का उपयोग इस प्रकार से करना चाहिए जिससे सुन्दर वातावरण का निर्माण हो और उसकी पृष्ठभूमि आकर्षक हो सके। अभिनय की सजीवता मार्मिक कथोपकथनो पर भी निर्भर है।[१] एकांकी में केवल संवाद ही सवाद नही होने चाहिएँ। इस सम्बन्ध में प्रो० गोपीनाथ तिवारी लिखते हैं—"यह जो हिन्दी-ससार मे भ्रम फैल गया है कि कथोपकथन के रूप में जो कुछ भी हो वह नाटक या एकाकी है, दूर होना चाहिए। इसमे एकाकी एवं संवादमात्र संवाद प्रधान कहानी मे अन्तर समझकर एकाकियो पर विचार करना चाहिए।" सफल एकाकी के लिए अभिनयशील सवादो, उपयुक्त गति अभिनयशीलता, उपयुक्त नाटकीय स्थिति तथा कौतूहल का समावेश वांछनीय है। रंगमंच की सुविधा के अनुसार दश्यो का विधान होना चाहिए। संवाद छोटे तथा चुस्त भाषा का प्रयोग भी आवश्यक है। प्रो० जयनाथ नलिन "हिन्दी के नाटककार" नामक पुस्तक में लिखते हैं—"नाटकीयता, आकस्मिकता, अनाशितता भी अभिनय में बड़ी सहायक होती है। इसमें अचानक दर्शक उल्लास से उछल पड़ता है। रोमांच से फूल जाता है, कौतूहल से चकित हो जाता है और आशातीत प्रसन्नता मे डूब जाता है।" एकाकी का प्रारम्भ इस ढंग से हो कि दर्शक की उत्सुकता अन्त तक बनी रहे। "The opening must capture the audience's interest" एकांकीकार को कम से कम शब्दो मे अधिक से अधिक भाव व्यक्त करने तथा नाटकीयता कला से परिचित होना चाहिए।

८. रगमच निर्देश—"इनकी सहायता से नाटकत्व का रूप प्रतिष्ठित,

१—Since the stage does certain things superbly well, it is the duty of the craftsman to make use of its capabilities from one end of the key board to the other, to appeal to emotions, since that is its *natural gesture;* to be vivid powerful and direct. He has to close the play from because it can cope with his material. It is for him to exploit it."

—Percival Wilde—The Construction of one-Act Play p. 20.

प्रभाव उद्दीप्त, पात्रों की रूप कल्पना स्थिर, और रंगमंच की सम्पू... पाठकों या निर्देशकों को समझा दी जाती है। आधुनिक एकांकीकार प्रारं... सूचनाओं से समस्या, स्थिति, पूर्वकथा, या पात्रो की मुद्राएँ अभिव्यक्त कर एकां... के उद्‌घाटन या प्रारम्भ का कार्य लेता है। रंगमंच की व्यवस्था स्पष्ट करने के लि, कहीं-कही अत्यन्त विस्तृत योजनाएँ एकांकी के प्रारम्भ में दी जाती हैं।"[1] पूर्व घटि... घटनाओं का इतिहास भी देना पड़ता है। पाश्चात्य एकाकीकार रंगमंच की व्यवस्थ... का मानचित्र भी प्रस्तुत कर देते हैं। कुछ एकाकियो में प्रभाव-व्यंजक सकेतो का प्रयोग भी किया जाता है। इनके द्वारा एकाकी के अभिनय में सफलता मिलती है।

९. प्रभाव ऐक्य—एकाकीकार अपने दर्शकों पर एक विशेष प्रभाव डालना चाहता है। इसके लिए वह सुन्दर वातावरण का निर्माण करता है तथा विशेष भाव व्यंजना द्वारा निर्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त करता है। एकांकी की सफलता इस बात पर निर्भर है कि एकांकीकार अपने उद्देश्य की पूर्ति कहाँ तक कर सका है।



एकांकी तथा नाटक में अन्तर

एकांकी तथा नाटक में वही भेद है जो कहानी अथवा उपन्यास में है अथवा खण्डकाव्य तथा महाकाव्य मे है। नाटक की परिधि अत्यन्त विस्तृत है, उसकी सीमा में जीवन का विस्तृत क्षेत्र निहित है। एकाकी की परिधि अत्यन्त संकुचित है। उसमे अल्प समय मे ही जीवन के किसी एक पहलू का चित्रण किया जाता है। यदि नाटक समुद्र की भाँति विशाल है तो एकाकी विन्दु की भाँति सक्षिप्त। नाटक में मानव जीवन की अनेक जटिलताओ को प्रस्तुत किया जा सकता है। एकाकी मे मानव-जीवन की एक झाकी मात्र रहती है एकाकीकार को अल्प समय मे ही किसी विशेष पहलू को चित्रित करना पड़ता है। नाटक मे जीवन की वहुज्ञता, अनेकरूपता तथा घटना-बाहुल्य के दर्शन होते हैं, एकाकी मे जीवन का एक उद्दीप्त क्षण, एक पहलू, एक समस्या अथवा एकरूपता रहती है। एकाकी की सफलता संक्षिप्तता मे है। नाटक का कथानक दुरूह होता है उसमें अनेक गौण घटनाओ का समावेश रहता है। एकाकी का कथानक सरल, सूत्रवद्ध तथा एकाग्रता से परिपूर्ण होता है। उसमे एक घटना, एक महत्वपूर्ण पहलू अथवा परिस्थिति विशेष का चित्रण रहता है। नाटक की गति मन्द होती है और एकांकी की गति वेगसम्पन्न। एकाकी संघर्ष स्थल से प्रारम्भ होकर क्षिप्रगति से चरम सीमा की ओर जाता है।

नाटक मे पात्रो की संख्या कितनी भी हो सकती है। उसमें मुख्य पात्र के साथ गौण पात्रो को भी स्थान दिया जा सकता है। एकाकी मे पात्रो की संख्या अल्प होती है। नाटक का कथोपकथन लम्बा, तथा विवेचन प्रधान होता है। किन्तु एकांकी का कथोपकथन संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी तथा चरित्र की विशेषताओं पर प्रकाश डालने वाला होना चाहिए। नाटक मे स्वगत कथन का भी महत्व है, एकांकी में स्वगत को

[1] हिन्दी एकाकी : उद्‌भव और विकास—ले० डा० रामचरण महेन्द्र

कथोपकथन एकांकी का प्राण है, उसके द्वारा एकांकी के कथानक का ... परिस्थिति और वातावरण की सृष्टि होती है। नाटक के लिए अत्यधिक ...ओं, विस्तृत चरित्र-चित्रण, विस्तृत कार्य, व्यापार तथा अधिक समय अपेक्षित ... किन्तु एकाकी के सकुचित क्षेत्र में यह सब कार्य होते हैं।

एकाकी मे सकलन-त्रय का निर्वाह अनिवार्य है। इसकी सहायता से ही वह ...वन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। बडे नाटक मे संकलनत्रय का निर्वाह अनिवार्य नही है। वस्तुतः नाटक तथा एकाकी के शिल्प-विधान मे मौलिक भेद है।

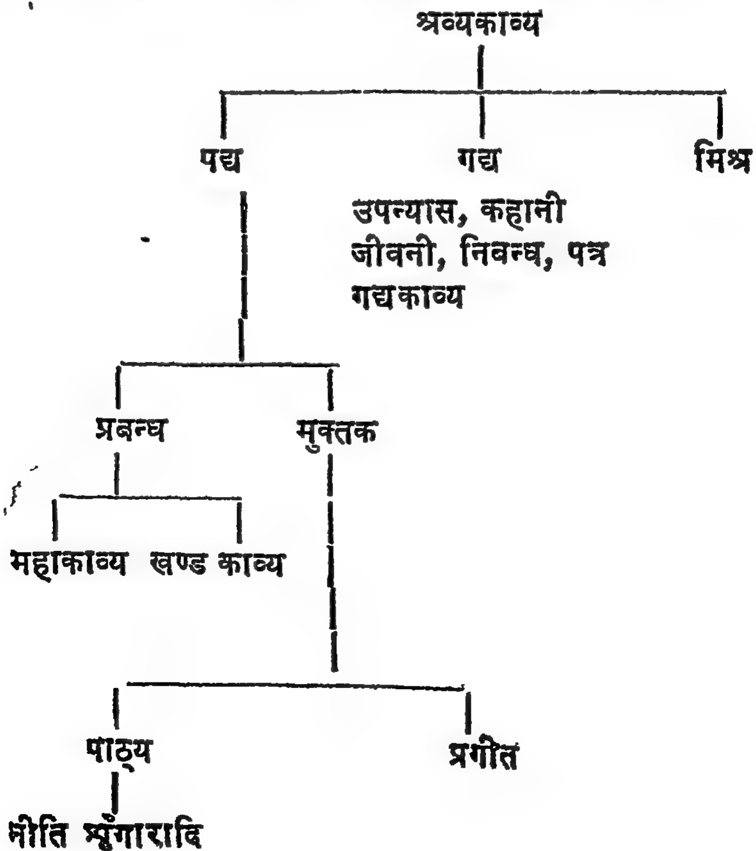
पाँचवाँ अध्याय (ख)

श्रव्य काव्य पद्य प्रबन्ध

श्रव्य का विभाजन

जो काव्य केवल पढे जाये उन्हे श्रव्य काव्य कहते हैं। प्रकार के आधार पर श्रव्य काव्य के गद्य, पद्य और मिश्र तीन भेद किये गये हैं। बन्ध की दृष्टि से श्रव्य काव्य के दो विभाग किये गये हैं--एक प्रबन्ध और दूसरा मुक्तक। प्रबन्ध काव्य वह है जिसमे पूर्वापर का तारतम्य रहता है तथा छन्द एक दूसरे से कथानक की शृंखला मे जकड़े हुए रहते हैं। उनके क्रम को आगे पीछे नही किया जा सकता। वे एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं। मुक्तक छन्द इस बन्धन से सर्वथा मुक्त हैं। वे स्वतन्त्र होते हैं तथा अपने मे ही पूर्ण होते हैं। साहित्य दर्पणकार के मतानुसार दो-दो और तीन-तीन छन्दो के भी मुक्तक हो सकते हैं। मुक्तक में तो कवि को प्रत्येक छन्द पर विशेप ध्यान देना पड़ता है और प्रबन्ध काव्य मे सम्पूर्ण काव्य पर।

प्रबन्ध काव्य के दो भेद माने गये हैं—एक महाकाव्य और दूसरा खण्ड-काव्य। महाकाव्य का विषय होता विस्तृत है। उसमे मानव जीवन की सम्पूर्ण घटनाओ का वर्णन रहता है। खण्डकाव्य जीवन की किसी एक घटना पर आश्रित होते हैं। महाकाव्य तथा खण्डकाव्य की प्रवृत्ति गद्य के कथात्मक साहित्य तथा नाटक मे भी परिलक्षित होती है। निम्नलिखित सारिणी से उपर्युक्त विभाजन स्पष्ट हो जायगा:—



ए....हाकाव्य की परिभाषा—महाकाव्य में जीवन दर्शन की महनीय ... को कलात्मक रूप दिया जाता है। "विराट विश्व के हिरण्य गर्भ कवियों ...जिस महान् सत्य, शिव और सुन्दर को मानव जीवन के लिए व्यवस्थित सुसम्बद्ध ...तान् काव्य-कथा रूप में प्रस्तुत किया वह महाकाव्य है। उसकी अभिव्यक्ति का ...ग प्रबन्ध काव्य शैली है। महाकाव्य की रचना जातीय संस्कृति के किसी महाप्रवाह ...भ्यता के उद्गम, संगम, प्रलय किसी महत् चरित्र के विराट उत्कर्ष अथवा आत्म-तत्व के किसी चिर अनुभूत रहस्य को प्रदर्शित करने के लिए प्रबन्ध काव्य शैली में की जाती है।"

श्री गुलाबराय जी महाकाव्य की परिभाषा देते हुए लिखते हैं—"महाकाव्य वह विषय प्रधान काव्य है जिसमें अपेक्षाकृत बड़े आकार में जाति में प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा जातीय भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं का उद्घाटन किया जाता है।

महाकाव्य के लक्षण—हिन्दी साहित्य में महाकाव्य के वे सभी लक्षण मान्य हैं जो संस्कृत भाषा में संस्कृत महाकाव्यों के लिए मान्य हैं। संक्षेप में महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार हैं.—

(१) महाकाव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण होना वांछनीय है—खल निंदा या सज्जन-संकीर्तन होना आवश्यक है। जैसा कि तुलसी के रामचरित्मानस में है।

यह तो निर्विवाद है कि भारत की संस्कृति आध्यात्मिक रही है। आध्यात्मिक दृष्टि से ईश वंदना आवश्यक मानी गई है। काव्य शक्ति भी ईश्वर प्रदत्त है। इसलिए उनकी वंदना का विशेष महत्व है। भारतीय कवि अपनी कृति को ईश्वरीय देन समझता है। सामाजिक उपादेयता के लिए खल निंदा एव सज्जन संकीर्तन आवश्यक है।

(२) कथा सर्गों में बंधी हुई होनी चाहिए तथा ८ से कम सर्ग न हों—इसमें प्रबन्ध सौष्ठव की ओर संकेत किया गया है। महाकाव्य को विस्तृत तो होना चाहिए ही। फिर कथा के सर्गबद्ध होने से उसमे सुचारुता आ जाती है। कथा के रूप विधान को पुष्ट एवं व्यवस्थित करने के लिए यह नियम बनाया गया है।

(३) ख्यातवृत हो तथा प्रासंगिक कथाओं का भी समावेश हो—इसका अर्थ यह है कि महाकाव्य के लिए ख्यातवृत्त (जिससे समाज भली भाँति परिचित हो) होना चाहिए जिससे वह जनसाधारण के लिए बोधगम्य हो सके। ख्यातवृत्त लेने से एक लाभ यह भी है कि यदि उसमे अलौकिक अगो का समावेश होगा भी तो समाज उसे अस्वाभाविक न समझेगा, तथा उससे और भी अधिक प्रभावित होगा। इस प्रकार समाज सम्माननीय गुणों से भली प्रकार परिचित हो जायेगा।

प्रासंगिक कथाओं के दो उद्देश्य होते हैं—एक तो इसके द्वारा अधिकारिक कथा के मुख्य या प्रधान पात्र का चरित्र विकास होता है, दूसरे यह कथा में उचित

मोड़ या परिवर्तन लाकर उसे सुन्दर बना देता है।

(४) नायक धीरोदात्त तथा सदवंशजात होना चाहिए—महाकाव्य के नायक धीरोदात्त, कुलीन तथा सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिए। उसे धार्मिक, महान्, प्रतापी, सत्यवादी तथा एक पत्नीवृत होना आवश्यक है। ऐसा नायक अपने देश की संस्कृति का प्रतीक होता है। नायक के लिए असाधारण तथा महान् होना वांछनीय है जिससे जनसाधारण उसके आदर्शों का पालन कर सकें। नायक शक्तिशाली, अपराजित, अलौकिक शक्तियों से युक्त तथा धर्म रक्षा में तत्पर होना चाहिए। महाकाव्य के नायक को शक्तिशाली तथा सामर्थ्यवान् होना इसलिए आवश्यक है जिससे समाज उससे शिक्षा ग्रहण कर सके। हमारे यहाँ फल की सिद्धि आवश्यक मानी गई है। इसलिए नायक की विजय दिखाना आवश्यक है। दूसरे नायक सद-वृत्तियों से सम्पन्न होता है। अतः धर्म की जय तथा पाप की पराजय दिखलाई जाती है। ऐसे नायक के साथ समाज का हृदय होता है और उसकी जय धर्म की जय होती है। सत्य का पतन दिखाने से समाज का मानसिक स्वास्थ्य खराब होता है।

नायक का सद्वंशजात होना इसलिए आवश्यक है जिससे वह सभी श्रेणी के मनुष्यों के लिए श्रद्धा का पात्र हो सके तथा सम्मानीय गुण उसमें सहज ही समाहित हो जायं। अतः नायक को असाधारण प्राणी होना चाहिए। वह साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक महान् तथा आदर्शवादी होता है। महाकाव्य का लक्ष्य जीवन का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करना है। नायक का जीवन विविधता से पूर्ण होना चाहिए। यदि नायक धीरोदात्त तथा सद्वशंजात होगा तो उसका जीवन विविधता से संयुक्त होगा ही।

(५) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक फल की सिद्धि आवश्यक है—हमारे यहाँ नायक के लिए फल की प्राप्ति आवश्यक मानी गई है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक फल की सिद्धि उसे अभीष्ट है। महाकाव्य में प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति का विधान धर्म के माध्यम से माना गया है। साहित्य का उद्देश्य समाज की उन्नति करना है तथा उनकी वृत्तियों को उदात्त तथा परिष्कृत बनाना है। महाकाव्य इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। कुछ मनुष्यो की धारणा है कि इस प्रकार से महाकाव्य में अस्वाभाविकता आती है तथा वह मानव जीवन से दूर की वस्तु हो हो जाती है। परन्तु यह धारणा गलत है। संसार में जीवन की कुरूपता जैसी है, वैसी ही यदि काव्य मे वर्णित की जायेगी, तो वह जनसमाज के लिए कभी भी कल्याणकारी नही हो सकता। जीवन का परिष्कृत रूप ही साहित्य के लिए वांछनीय है। यदि अश्लीलता का नग्न प्रदर्शन साहित्य में किया जायेगा तो वह उच्चकोटि का साहित्य नहीं हो सकता। इसीलिए हमारे यहाँ के साहित्य शास्त्रियों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्राप्य रूप मे रक्खे थे।

(६) शृंगार, वीर, शान्त में से कोई रस प्रधान होता है अन्य रस सहायक होते हैं—हमारे यहाँ के साहित्य शास्त्रियों ने इन रसों को ही प्रधानता क्यों दी

का भी कुछ कारण है। शृंगार रस को रसराज माना गया है। शृंगार के दो पक्ष होते हैं—संयोग शृंगार और विप्रलम्भ शृंगार। जीवन की सुख दुःखमयी अनुभूतियाँ जितनी शृंगार रस मे वर्णित की जा सकती हैं उतनी अन्य रसों में नहीं। जीवन की विविधता शृंगार रस मे ही अच्छी प्रकार चित्रित की जा सकती है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण सचारी भावों का समावेश शृंगार रस में हो जाता है। रौद्र, भयानक, वीभत्स आदि इसके विरोधी हैं, परन्तु अन्य रस सहायक रूप मे इसके साथ आ सकते हैं।

महत्व की दृष्टि से शृंगार के पश्चात् वीर रस का स्थान आता है। वीर रस सहायक रूप में भी शृंगार रस के साथ आ सकता है। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है जिसके बिना कोई रस रह ही नही सकता। वीर रस में दया, क्षमा, परोपकार आदि की उदात्त भावना भी स्वयमेव ही आ जाती है।

इस प्रकार महाकाव्य के लिये शृंगार तथा वीर रस प्रधान रस माने गये हैं तथा अन्य रस सहायक रूप में आते हैं। यह ठीक है, मानव जीवन में समय-समय पर सब प्रकार के भावों का उदय होता रहता है। इसलिये महाकाव्य मे उनकी अभिव्यक्ति अनिवार्य है क्योकि महाकाव्य जीवन का सर्वाङ्गी चित्र है।

(७) महाकाव्य के एक सर्ग में एक छन्द होना चाहिए और अन्त में उसमें परिवर्तन होना चाहिये। अन्तिम छन्द में अगले सर्ग की सूचना होनी चाहिये। महाकाव्य की कथा में प्रवाह लाने के लिये एक सर्ग में एक ही छन्द की व्यवस्था की गई है। अधिक छन्द परिवर्तन से रस में बाधा उपस्थित होती है। केशवदास ने इस नियम का उल्लंघन किया है। उनकी रामचन्द्रिका "छन्दों का अजायबघर" है। महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में नवीन छन्द होने से कवि के भाषा तथा पिंगल शास्त्र का ज्ञान प्रकाश में आ जाता है।

सर्ग के अन्तिम छन्द से अगले सर्ग का आभास मिल जाता है। इससे पाठको की उत्सुकता निरन्तर बढती रहती है और महाकाव्य मे भी रोचकता आ जाती है।

(८) महाकाव्य मे प्रेम, नगर, यात्रा, युद्ध, आखेट, वन, पर्वत, ऋतु, सध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि आदि का विवरण रहता है। इनके अतिरिक्त अन्य वर्णन भी महाकाव्य में हो सकते हैं। इस प्रकार के विवरण से महाकाव्य मे रोचकता आ जाती है।

(९) सामाजिक समस्याओं पर विचार :—कवि अपने युग की सृष्टि भी है और सृष्टा भी है। वह अपनी युग भावनाओ से प्रभावित हुये बिना नही रह सकता। "The poet and age react upon the each other." वह समाज का मुख तथा मस्तिष्क दोनो होता है। कवि के सम्पर्क में जो वस्तुयें आती हैं उन्हे वह उनके सुन्दरतम रूप मे प्रस्तुत करता है। कवि का उत्तरदायित्व महान होता है। जहाँ वह युग-भावनाओ को व्यक्त करता है, वहाँ अपने समय की सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक समस्याओं को भी हल करने का प्रयत्न करता है। महाकाव्य मे कवि

सामाजिक समस्या प्रकाश डालता है। तुलसी के रामचरितमानस में की अनेक शाश्वत समस्याओं का समाधान बहुत सुन्दर रूप मे किया गया है।

आधुनिक युग मे आकर महाकाव्य के लक्षणों मे कुछ परिवर्तन हो गया। प्राचीन नियम शिथिल हो गये। अब मंगलाचरण इत्यादि की आवश्यकता नही रही है। आज दुखान्त और सुखान्त का भी भेद समाप्त कर दिया गया है। महाकाव्य के प्राचीन लक्षण के अनुसार महाकाव्य को सुखान्त होना आवश्यक है परन्तु अब दुखान्त काव्य भी लिखे जा रहे हैं।

इसके अतिरिक्त प्राचीन नियम के अनुसार महाकाव्य का नायक उच्च वंश का होना चाहिये परन्तु आज यह आवश्यक नही है। आज नीची श्रेणी का व्यक्ति (मजदूर, घास खोदने वाला) भी महाकाव्य का नायक हो सकता है। आज दीन-दुखी का आदर होने लगा है। आज के कवियो ने किसान मजदूरों के जीवन का चित्रण बहुत स्वाभाविक रूप में किया है। अब यह भी आवश्यक नही है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष मे से किसी एक फल की प्राप्ति नायक को हो। आज के महाकाव्य में समस्या प्रधान होते हैं। आज का लेखक किसी सामयिक समस्या को लेकर उसे काव्य का परिधान पहिनाता है।

प्राचीन महाकाव्य कथा प्रधान होते थे, आज के महाकाव्य चरित्र-चित्रण प्रधान होते हैं। आज महाकाव्यो मे द्वन्द्व तथा मनोवैज्ञानिक संघर्ष को प्रमुखता दी जा रही है। आज के महाकाव्यो की प्रधान विशेषता यह भी है कि उनमें मानव जीवन के लिये कोई न कोई सन्देश अवश्य रहता है। आज महाकाव्य का अभिप्राय है— "महान कथानक तथा महान काव्यत्व"। आधुनिक महाकाव्यो में गीतो का भी प्रयोग होता है। "कामायनी", "साकेत", "वैदेही बनवास" गीत प्रधान महाकाव्य हैं। इन गीतों में आत्माभिव्यक्ति होती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि आज महाकाव्य के प्राचीन लक्षणों की मान्यता कम हो गई है समयानुकूल लक्षणो को मान्यता दी जा रही है। ये नवीन लक्षण साहित्य को और भी आकर्षक बना रहे हैं।

पाश्चात्य महाकाव्य के लक्षण—पौर्वात्य महाकाव्य के लक्षणों पर विचार करने के उपरान्त अब हम पाश्चात्य महाकाव्य के लक्षण सक्षेप में देंगे। पाश्चात्य महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) वह एक महाकाव्य वर्णन प्रधान काव्य है।

(२) वैयक्तिक भावों की अपेक्षा इसमें जातीय भावों की प्रधानता रहती है।

(३) इसका विषय लोकप्रिय तथा परम्परा से प्रतिष्ठित होना चाहिये।

(४) इसके पात्र शौर्य से सम्पन्न होने चाहियें। इनका सान्निध्य देवताओ से भी रहता है। देवताओं तथा नियति के द्वारा उनके कार्यों का संचालन होता है।

(५) कथा की शृंखला नायक के साथ चलती है।

(६) इसकी शैली मे एक विशिष्ट शालीनता तथा उच्चता होनी चाहिये।

(७) केवल एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिये।

भारतीय तथा पाश्चात्य महाकाव्य की तुलना—महाकाव्य के भारतीय तथा पाश्चात्य आदर्शों में कोई विशेष भेद नही है। दोनों देशों के महाकाव्यो में नायक की शालीनता तथा महानता पर विशेष वल दिया गया है। पाश्चात्य महाकाव्य का नायक जातीयता का प्रतिनिधित्व करता है। उसमें वैयक्तिकता की अपेक्षा जातीय भावो की प्रधानता होती है। इसमें लोक भावना की क्षमता विपुल मात्रा में रहती है। हमारे यहाँ इस गुण का प्रत्यक्ष रूप मे तो वर्णन नही मिलता, किन्तु परोक्ष रूप में यह गुण विद्यमान रहता है। नायक को लोकप्रिय, इतिहास प्रसिद्ध तथा श्रेष्ठ गुणो से सम्पन्न होना चाहिये। अतः उसमें जातीय गुण तो स्वयमेव ही आ जाते हैं। बाल्मीकि रामायण में रामचन्द्र जी के जिन गुणो का वर्णन है वे भारत की जातीय मनोवृत्ति का अच्छा प्रतिनिधित्व करती हैं। रघुवंश महाकाव्य में रघुवंशी राजाओ के जिन गुणों का वर्णन है वह भारतीय मनोवृत्ति का द्योतक है। प्रसाद जी ने कामायनी में श्रद्धा और बुद्धि के समन्वय द्वारा भारतीय आदर्श को प्रस्तुत किया है। "साकेत" के 'राम' तथा "प्रियप्रवास" के "कृष्ण" में लोक-संग्रह का भाव प्रबल है। गुप्त जी के राम आर्यों का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं:—

"मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन सम्मुख धन को तुच्छ बताने आया।
सुख शान्ति हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया,
विश्वासी का विश्वास बचाने आया।
मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन शापित हैं।

× × × × × ×

मैं आया जिसमें बनी रहे मर्यादा,
बच जाय प्रलय से, मिटै न जीवन सादा।

× × × × × ×

सन्देश यहाँ मैं नही स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"

"प्रियप्रवास" के कृष्ण भी भारतीय आदर्श को प्रस्तुत करते हैं। वे राधा से कहते हैं:—

"जी से प्यारा जगत हित और लोक सेवा जिसे है,
प्यारी सच्चा अवनि तल में आत्मत्यागी वही है।

× × × × × ×

जो होता है न वश इसके आत्म उत्सर्ग द्वारा,
ऐ कान्ते है सफल अवनी मध्य आना उसी का।

× × × × × ×

इच्छा आत्मा परमहित की युक्ति ही उत्तमा है।
बांछा होती निशद उससे आत्म उत्सर्ग की है।"

प्राचीन महाकाव्यों में खलनिंदा या सज्जन-संकीर्तन होता था उसम भी जातीय आदर्शों की छाप थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय तथा पाश्चात्य आदर्शों मे विशेष अन्तर नही है। दोनो ही देशो के महाकाव्य के नायक उच्चकुलोद्भव तथा उदात्त वृत्तियों से सम्पन्न होते है तथा उसके द्वारा जातीय, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान होता है। भारतीय तथा पाश्चात्य आदर्शों के अनुकूल महाकाव्य की शैली और विषय गौरवपूर्ण होने चाहिये। महाकाव्य के कार्यों के संचालन मे दैव या नियति का भी हाथ रहता है। दैव या नियति के सम्बन्ध में दोनों देशो के आदर्शों में अन्तर है। पश्चिमी महाकाव्य मे दैवी सत्ता को क्रूर दिखलाया गया है। यह सत्ता मानव को कष्ट मे देखकर प्रसन्न होती है। परन्तु हमारे यहाँ तो भगवान को करुणानिधान माना गया है। वे व्यक्ति से सहानुभूति प्रत्येक अवस्था में रखते है। भारतीय सस्कृति के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार सुख दु:ख भोगता है। रामचरित मानस में लिखा है:—

"कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा"।

कामायनी में भी लिखा है :—

"यह नीड मनोहर कृतियों का,
यह विश्व कर्म रंगस्थल है।
है परम्परा लग रही यहाँ,
ठहरा जिसमें जितना बल है॥"

हमारे यहाँ कर्म करना मनुष्य का अधिकार है फल से कोई प्रयोजन नहीं। गीता मे लिखा है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

इस दृष्टि से भगवान का दण्ड अकारण नही होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय तथा पाश्चात्य महाकाव्य के आदर्शों मे काफी समानता है।

पाश्चात्य महाकाव्य—पाश्चात्य देशो में भी उच्चकोटि के महाकाव्य लिखे गये। होमर का 'इलियड' और 'ओडेसी', वर्जिल का 'इनियड' तथा मिल्टन का 'पैराडाइज़ लॉस्ट' आदर्श महाकाव्य माने जाते हैं। 'इनियड' मे रोम्यूलस के पिता के वीरतापूर्ण कृत्यों की कथा है। 'पैराडाइज लॉस्ट' मे ईश्वर के विरुद्ध शैतान के विद्रोह का वर्णन है तथा पतन की ओर गये हुए मनुष्य का ईश्वर किस प्रकार

…रता है इसकी कथा मिलती है।

संस्कृत के महाकाव्य :—संस्कृत साहित्य मे जो महाकाव्य मिलते हैं वे …हुत ही सुन्दर हैं उनमे स्वाभाविकता तथा कलात्मकता का सुखद सम्मिश्रण है। महाभारत इतिहास होते हुए महाकाव्य है। यह भारतीय मस्कृति का आगार है। महाभारत के सम्बन्ध मे लिखा गया है—"यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ।" कालिदास के महाकाव्य सस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि हैं। संस्कृत साहित्य मे माघ का नाम बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। उन्हे तीनो गुणो से सम्पन्न माना गया है—

> उपमा कालिदासस्य भारवेर्थगौरवम् ।
> दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणा. ॥

कालिदास का रघुवश सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमे १६ सर्ग हैं। इसमे दिलीप, रघु और राम के उदात्त चरित्र का विशद वर्णन है। साथ ही भिन्न भिन्न देशो के राजाओ का सुन्दर वर्णन है।

'रघुवंश' के पश्चात् भारवि के 'किरातार्जुनीय' का नाम उल्लेखनीय है। इसमें १८ सर्ग हैं। इसका कथानक महाभारत से लिया गया है। 'किरातार्जुनीय' मे अर्जुन तथा किरातवेशधारी महादेव जी के साथ युद्ध का वर्णन है तथा भगवान शंकर के द्वारा पाशुपत अस्त्र दिये जाने का वर्णन है।

संस्कृत साहित्य मे माघ के 'शिशुपाल वध' की विशेष ख्याति है। इसका कथानक भी महाभारत का है। इसकी कथा बीस सर्गों मे है। इसमे धर्मराज युधिष्ठर के राजसूत्र यज्ञ में श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल के वध किये जाने का वर्णन है। नैषध चरित्र का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। इसमे महाराज नल का आख्यान है।

सस्कृत में और भी बहुत से महाकाव्य हैं जिनका उल्लेख स्थानाभाव के कारण नही किया गया है।

हिन्दी के महाकाव्य

यहाँ हम हिन्दी साहित्य के पृथक-पृथक काल में यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि किस-किस काल मे कौन कौन से महाकाव्य लिखे गये। हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभाजित किया गया है—

(१) आदिकाल या वीरगाथा काल।
(२) भक्ति-काल ।
(३) रीति-काल।
(४) वर्तमान काल।

वीर गाथा काल :—आदिकाल मे दो प्रकार की रचनाएँ हुई एक प्रबन्ध काव्य के साहित्यिक रुप में और दूसरी वीर गीतों के रूप मे, उस समय के कवि

राज्याश्रित थे। भारत खण्ड राज्यों मे विभक्त था। राजपूत राजा पारस्परिक द्वेष की ज्वाला में जल रहे थे? अतः उस समय के कवियो का उद्देश्य अपने आश्रयदाता राजा महाराजाओं का गुण वर्णन करना तथा उन्हे युद्ध के लिए प्रस्तुत करना था। चन्द्रवरदाई उस समय का सर्वश्रेष्ठ कवि है जिसने 'पृथ्वीराज रासो' की रचना की।

पृथ्वीराज रासो :—'पृथ्वीराज रासो' को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त है। यद्यपि इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे विद्वानो में मतभेद है। यह विशालकाय महाकाव्य ढाई हजार पृष्ठों का है तथा ६९ समयो मे विभाजित है। इसमे युद्धों का सजीव वर्णन मिलता है। वीर भावना के साथ शान्त और श्रृगार को भी प्रश्रय दिया गया है। सास्कृतिक दृष्टि से भी इसका महत्व है इसमे देवताओं की स्तुति की गई है। पृथ्वीराज के युद्धो, विवाहों, आखेट आदि का सजीव वर्णन तो इसमे मिलता ही है साथ ही चौहान वश की उत्पत्ति की कथाएँ भी विस्तारपूर्वक मिलती हैं।

कहते हैं कि इसके अन्तिम भाग की रचना चन्द्रबरदाई के पुत्र जल्हन ने की। यद्यपि इस ग्रन्थ मे प्रक्षिप्त अशो का समावेश है तथापि यह ग्रन्थ तत्कालीन भावनाओं तथा जातीय आदर्शों का सच्चा प्रतिबिम्ब है।

भक्ति-काल :—भक्तिकाल मे देश में भक्ति की लहर फैल रही थी। जीवन से निराश्रित जनता भगवान् की ओर उन्मुख हो रही थी। इस समय कबीर आदि निर्गुण कवियो ने मुक्तकगीत लिखे। 'पद्मावत' तथा 'रामचरित मानस' इस समय के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य हैं।

पद्मावत :—प्रेममार्गी शाखा के जगमगाते रत्न जायसी ने इसकी रचना की है। इन्होंने 'पद्ममावत' की रचना मसनवी शैली में की है। लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की व्यंजना जायसी की सर्वश्रेष्ठ विशेषता है। यह रूपक काव्य है। इसमें प्रेम कथा भी है और रूपक के द्वारा पारमार्थिक तत्वों की व्यंजना भी है। जायसी मुसलमान होते हुए भी भारतीय संस्कृति से पूर्णतया परिचित थे। 'पद्मावत' में भारतीय अन्तर कथाओ तथा धार्मिक परम्पराओं का भी सुन्दर वर्णन है। प्रबन्ध सौष्ठव की दृष्टि से भी यह ग्रथ महत्वपूर्ण है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक शैली तथा भाषा की एकरसता विद्वान् है। कथावस्तु का निर्वाह सफलतापूर्वक किया गया है। प्रासगिक कथाएँ अधिकारिक कथाओं को अग्रसर करने मे सहायक हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पद्मावत को समासोक्ति कहा है क्योकि इसमे कथानक के साथ रूपक भी चलता है।

रामचरित मानस :—यह हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। तुलसी ने इसकी रचना "स्वान्तः सुखाय" लिखी थी किन्तु "स्वान्तः सुखाय" होते हुए भी "क्वचिदन्यतोऽपि" है। इसके नायक मर्यादा पुरुषोत्तम राम हैं। शक्ति, शील और सौन्दर्य से समन्वित भगवान् राम का रूप लोकोपकारी है। तुलसी का काव्य मस्तिष्क काव्य है। उनका सम्पूर्ण ग्रन्थ समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और

...ऐ ... समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, गार्हस्थ और वैराग्य का समन्वय, ...और तत्व ज्ञान का समन्वय, शैव्य और वैष्णव का समन्वय, भाषा और संस्कृत ...ा समन्वय, रामचरित मानस में मिलता है। यही कारण है कि गरीबों की जीर्ण शीर्ण झोपड़ी से लेकर धनिकों की अट्टालिकाओ तक में रामचरित मानस का समान रूप से आदर है। उनके काव्य मे कोई भी ऐसी पक्ति नही है जो लोक विरोधनी हो। शृगार का सयत तथा लोक हितकारी रूप तुलसी ने प्रस्तुत किया। रामचरित मानस सत्य शिव सुन्दरम् का सुन्दरतम निदर्शन है। यह अवधि भाषा मे लिखा गया है। अंग्रेजी मे ताजमहल के सम्बन्ध मे जो निम्नलिखित उक्ति कही गई है वह रामचरित मानस पर भी चरितार्थ होती है। "उन्होंने दानवों की भाँति वृहदाकार में उसका निर्माण किया और जौहरियों की भाँति एक एक फूलपत्ती की पच्चीकारी की—(They built like giants and finished like jewellers) नन्ददास जी तो केवल गढिया ही थे, तुलसी जडिया और गढिया दोनो थे। राम चरित मानस के सम्बन्ध मे भी शिवनन्दन सहाय जी लिखते हैं :—

"लाखों जन इसे अपना जीवन सर्वस्व समझते हैं। करोड़ो इसी का आश्रय कर कतिपय कुत्सित कर्मों से बचते हैं। कितने इसके पाठ से विरक्त साधु बन जाते हैं एव कितने पडित और ज्ञानी कहलाने लगते हैं। सामाजिक व्यवहार नीति, राजनीति आदि नीतियो का शास्त्र कहलाने का यह ग्रन्थ अधिकारी है।"

रामचन्द्रिका :—केशवदास जी ने रामचन्द्रिका प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखी थी किन्तु इसमें मुक्तक की सी स्फुटिता है। कथा के वर्णन मे कवि की रुचि इतनी अधिक नही रमी जितनी अलकरण तथा पाडित्य प्रदर्शन की ओर रही। उनकी कथाओ मे शृङ्खला का अभाव है। केशवदास को कवि हृदय नही मिला था। उन्हे मार्मिक स्थलो की भी पहचान नहीं थी। राम के वन गमन के अवसर पर रामचन्द्र जी द्वारा कौशल्या को पातिव्रत धर्म का उपदेश देना सर्वदा अस्वाभाविक है। राम कौशल्या के पुत्र थे अतः वह अपनी माता को क्या उपदेश दे सकते थे? केशव की अलकरण तथा पाडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति ने रामचन्द्रिका के प्रवाह को कुठित कर दिया। केशवदास जी का तो विश्वास था :—"भूषन बिन न राजई, कविता बनिता मित्त।"

इसी आदर्श को सम्मुख रख कर उन्होने अपने काव्य की रचना की। रामचन्द्रिका में अलकारो की भरमार है। ग्राम बनितायें सीता के मुख की समता चन्द्रमा से करती हैं। देखिए केशव की अलंकरण प्रवृत्ति :—

"वासो मृग अंक कहै तो सो मृगनैनी सब,
वह सुधाधर तुहूँ सुधाधर मानिए।
वह द्विजराज तेरे द्विजराजि राजै,
वह कलानिधि तुहू कलाकलित बखानिए॥"

तुलसी और केशव के दृष्टिकोण मे अन्तर है। तुलसी को अपनी कवित्व

शक्ति पर गर्व न था—"कवित्व विवेक एक नहीं मोरे; सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे।" वे तो अपनी कृति को रघुनाथ जी की कृपा मानते थे—

"एहि महँ रघुपति नाम उदारा,
अति पावन पुरान-स्तुति सारा।"

किन्तु केशवदास जी को अपने कवित्व पर गर्व था। वे लिखते हैं :— "रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णत हौं बहु छंद।" तुलसी ने प्राकृत जनों के गुणगान में सरस्वती का अपमान समझा था, परन्तु केशवदास जी राज्याश्रित थे। रामचन्द्रिका भक्तिकाव्य होते हुए भी शैली के अनुसार रीतिकाव्य है।

रीतिकाल :—रीतिकाल मे देश में मुसलमानों का राज्य पूर्णरूप से स्थापित हो चुका था। कविगण राजाओं के आश्रयदाता थे। राजा विलासी थे अतः "यथा राजा तथा प्रजा" की उक्ति क्यों न चरितार्थ होती? कविता सुरा और सुन्दरी के क्षेत्र मे विचरण करने लगी। ऐसी स्थिति में प्रबन्ध काव्य का लिखा जाना सम्भव न था, कवियो ने मुक्तक लिख कर ही सन्तोष किया। शिवाजी भी प्रबन्ध काव्य न लिख सके।

आधुनिक काल :—भारतेन्दु युग मे भी कोई प्रबन्ध काव्य न लिखा गया। भारतेन्दु तथा उनके साथियो ने मुक्तक को ही अपनाया। इस युग के कवियों का ध्यान देशभक्ति, समाज सुधार तथा नाटकों के उत्थान की ओर अधिक रहा।

द्विवेदी युग मे भारत के प्राचीन गौरव का गुणगान होने लगा। गुप्त जी की "भारत-भारती" में भारत के प्राचीन आदर्शों को अंकित किया गया। साकेत के 'राम' तथा प्रियप्रवास के 'कृष्ण' में लोकोत्तर भावों की प्रधानता थी।

प्रियप्रवास :—खड़ी बोली के प्रारम्भिक काल में हरिऔध जी ने अतुकान्त छन्दों में प्रियप्रवास की महाकाव्य के रूप मे रचना की। इस महाकाव्य में करुण विप्रलम्भ शृंगार और वात्सल्य के वियोग पक्ष का प्राधान्य है। हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण जी का जैसा चित्रण किया है उससे हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्य के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हो जाती है। उनमें लोकसंग्रह का भाव प्रबल था। उन्होंने महावृष्टि से व्रज की रक्षा की थी—

"तुरत थे करते वह नाश भी
प्रथित वीर समान विपत्ति का॥"

अग्नि की ज्वाला में ग्वालो को भस्म होता देख कर उन्होंने जातीय-प्रेम के भावों को जगाया था :—

"विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का
सहाय होना असहाय जीव का
उबारना संकट से स्वजाति को
मनुष्य का सर्वप्रधान कृत्य है।"

ए कृष्ण का उद्देश्य लोकहित था। गोपियों को प्रवोध करते हुए ऊधो ने श्री कृष्ण की इस प्रकृति का परिचय इन शब्दों मे दिया था—

"वे जी से हैं जगत जन के सर्वथा श्रेयकामी
प्राणो से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा।

प्रियप्रवास के श्रीकृष्ण मे मानवता का समावेश यथेष्ट मात्रा मे हुआ है।

राधा के चरित्र मे भी लोकसग्रह का भाव प्रवल है। उनका लोकोपकारी रूप देख कर हम मुग्ध हो जाते हैं। उनका वैयक्तिक प्रेम विश्व प्रेम में परिणत हो जाता है—

"प्यारे जीवे जगत हित करें गेह चाहे न आवें।"

अब वे साधारण स्त्री नही देवी हैं। वे सम्पूर्ण विश्व की प्रेमिका हो जाती हैं—

"आराध्या थीं अवनि व्रज की प्रेमिका विश्व की थीं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि राधा के हृदय का स्वाभाविक विकास हुआ है। वेदना के मार्ग का अवलम्ब करके उन्होने विश्वप्रेम और ईश्वर भक्ति के मन्दिर में प्रवेश किया है।

प्रियप्रवास मे वात्सल्य की भी पावन झांकी मिलती है। यशोदा का चित्त बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। वे कृष्ण के वियोग मे पागल हैं। उनकी वेदना से रात्रि भी द्रवित हो जाती है—

"विकलता लखि के व्रजदेवी की
रजनी भी करती अनुताप थी
निपट नीरव मिस ओस के
नयन से गिरता बहु वारि था।"

प्रियप्रवास राधा और कृष्ण की वियोगान्त प्रणयकथा है। वियोग की सृष्टि द्वारा हरिऔध ने प्रणय के माधुर्यपूर्ण और उन्नायक स्वरूप के दर्शन कराये हैं। प्रियप्रवास मे कृष्ण के लोकप्रिय चरित्र का उद्घाटन गोप गोपियो के विरह-वर्णन द्वारा होता है। श्रीकृष्ण जी स्वयं नही आते। इसलिए कुछ लोग इसे महाकाव्य न कह कर विरह काव्य कहते हैं। प्रियप्रवास मे सर्गो और छंदो की दृष्टि से महाकाव्य का पूर्ण निर्वाह हुआ है। इसमे प्रायः महाकाव्य के सभी वर्ण्य विषय आ गये हैं। इसका सन्देश भी महान है। हरिऔध जी ने प्रियप्रवास द्वारा हिन्दू जाति को समाज सेवा, स्वार्थ त्याग, विश्व प्रेम, परोपकार, देश सेवा आदि उदात्त वृत्तियो का सन्देश दिया है। विषाद और विरह की पृष्ठभूमि पर इन उदात्त और मंगलमय वृत्तियो के जैसे सुन्दर चित्र कृष्ण और राधा के रूप में उतारे हैं, वह अपने में महान और काव्य सौष्ठव के प्रतीक हैं। शुक्ल जी का कथन था कि "खड़ी बोली में इतना बड़ा काव्य आज तक नहीं लिखा गया। बड़ी भारी विशेषता इस काव्य की यह

है कि यह संस्कृत के वर्ण वृत्तों मे है। उपाध्याय जी का संस्कृत पद विन्यास ही चुना हुआ और काव्योपयुक्त होता है। यह काव्य अधिकतर वर्णनात्मक है। वर्णन कहीं-कहीं बहुत मार्मिक है जैसे कृष्ण के चले जाने पर ब्रज की दशा का वर्णन। विरह वेदना से क्षुब्ध वचनावली के भीतर जो भाव की धारा अनेक बल खाती बहुत दूर तक लगातार चली चलती है।"

कृष्णायन :—कृष्णायन महाकाव्य मे श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने कृष्ण के पावन चरित्र को मूर्तिमान किया है। उन्होने भगवान कृष्ण के ब्रज, मथुरा, द्वारिका के जीवन को कथा के रूप मे बांधा है। इसमें कृष्ण के जीवन की अनेकरूपता है। मिश्र जी ने अपने महाकाव्य की रचना अवधी भाषा मे की है। दोहा, सोरठा, चौपाई, छन्दों का प्रयोग किया है। इस काव्य मे भी कृष्ण के लोकोपकारी रूप के दर्शन होते हैं। कृष्ण के बाल जीवन की भी सुन्दर झाँकी मिलती है। सम्पूर्ण कृष्ण-चरित्र को एक स्थल पर वर्णित करने की दृष्टि से यह महाकाव्य चिर स्मरणीय रहेगा।

साकेत :—राम काव्य की परम्परा मे गुप्त जी के साकेत का विशिष्ट स्थान है। इसमे तुलसी जैसी भक्ति-भावना का सूत्रपात हुआ है। गुप्त जी के द्वारा राम कथा को एक नवीन दिशा मिली। बाल्मीकि के राम की मानवीयता गुप्त जी के विश्व बन्धुत्व से मिल कर एक नवीन सृष्टि की ओर उन्मुख हुई। गुप्त जी के राम विश्व व्यापी हैं, ईश्वर हैं और ससार का भार उतारने के लिए उन्होंने मनुष्य का अवतार लिया है। वे स्वर्ग का सन्देश नही लाते अपितु "इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने के लिए अवतरित होते हैं"। कुछ चरित्रो मे मर्यादा का उल्लघंन अवश्य हो गया है (जैसे लक्ष्मण के चरित्र मे) पर राम सीता का चरित्र आदर्श है। सबसे विशेष बात है कैकयी का वनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण। कैकयी के चित्रण में मानव हृदय की दुर्बलता और पश्चात्ताप का सफल अकन मिलता है। तुलसीदास जी ने तो कैकेयी के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा है—

"कुटिल रानि पछितानी अघाई"

किन्तु गुप्त जी की कैकेयी का पश्चात्ताप पूर्ण रूप से मुखरित होता है—

"युग युग तक चलती रहे कठोर कहामी—
रघुकुल मे भी थी एक अभागी रानी।

गुप्त जी की राष्ट्रीयता तथा विश्व बन्धुत्व ने प्राचीनता तथा नवीनता का मधुर एव विवेकपूर्ण सामंजस्य दिखाई देता है। भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि होने के कारण साकेत मे हिन्दू- [illegible] आदर्श और अनार्य सभ्यता के प्रतीक रावण के ऊपर आर्य सभ्यता के [illegible] जय दिखाई दी।

राम को मानव [illegible] ने के कारण गुप्त जी ने उनके ग्रहस्थ जीवन का भी [illegible] है। पारिवारिक जीवम के

एव ... जक तथा राजनीतिक जीवन भी मर्यादाओ की सीमा मे बँधकर आदर्श उपस्थित करता है। यदि राम मर्यादा और धर्म के प्रतीक हैं तो लक्ष्मण पुरुषार्थ तथा कर्त्तव्य के और उर्मिला त्याग की साक्षात् मूर्ति। इतना होते हुए भी साकेत के चरित्र मानव हैं। मानेवत्तर नही।

साकेत मे करुण रस ही प्रधान है। श्रृंगार उसका उपकारक या सहायक बनकर आया है। उर्मिला के विरह वर्णन को चित्रित करने की प्रेरणा कवि ने रवीन्द्र से प्राप्त की और उपेक्षिताओ का बडा ही मनोवैज्ञानिक और मर्मस्पर्शी चित्रण किया है, प्रवन्धात्मकता की दृष्टि से भी यह सफल काव्य है क्योकि महाकाव्य के सब आवश्यक नियम एव लक्षण इसमे मिलते है। नवम सर्ग मे उर्मिला का आवश्यकता से अधिक रुदन उसके इस महत्व को अवश्य कम कर देता है। अलकारो को भाव प्रकाशन के साधन रूप मे ही ग्रहण किया गया है यद्यपि कुछ स्थलो पर तुक के आग्रह ने कविता को कुरूप बना दिया है तथापि अनेक स्थलो पर उनकी कोमलकान्त शब्दावली प्रसाद गुण से युक्त है।

राम कथा जैसे पिष्ट-पष्टित विषय को चित्ताकर्षक बनाने का कारण गुप्त जी की मौलिक उद्भावनाएँ हैं जो उन्होने अपने काव्य मे की है। उसने युग का प्रतिनिधि होने के कारण कवि के दृष्टिकोण मे परिवर्तन हुआ है और यही दृष्टिकोण की विभिन्नता कथा मे कुछ मौलिकता लेकर आई है। उपेक्षित चरित्रो का मनोवैज्ञानिक चित्रण आज के मनोविज्ञान के प्रभाव का फल है। इधर-उधर बिखरी राष्ट्रीय भावनाएँ, सत्याग्रह के प्रसग की अवतारणाएँ, तत्कालीन राजनैतिक हलचल का परिणाम है। लक्ष्मण उर्मिला का वागविनोद रमणीय गार्हस्थ चित्र, लक्ष्मण का उग्र रोष, इत्यादि आधुनिक युग की मानवीयता की देन है। इस प्रकार कवि ने युग के साथ पग बढ़ाते हुए अपने काव्य को आकर्षक बनाने की चेष्टा की है।

गुप्त जी की सीता प्रजा की कल्याण कामना के लिए सजग दिखलाई देती है।

साकेत की उर्मिला भी गुप्त जी की मौलिक उद्भावना है। पूर्व के राम काव्यो में उर्मिला का नाम भर आता है। किन्तु गुप्त जी ने काव्य की उपेक्षित उर्मिला का चित्रण बहुत सुन्दर किया है। काव्य के प्रारम्भ मे उर्मिला लक्ष्मण के मधुर प्रेमालाप द्वारा कवि ने युगल दम्पत्ति के प्रेम का मुखर शाब्दिक चित्र खीचने का प्रयास किया है। साकेत मे सयोग के सुखद क्षण वियोग की तीव्रानुभूति कराने में सहायक हुए हैं।

यद्यपि गुप्त जी का उद्देश्य उर्मिला के चरित्र को उभारना था, तथापि वे रामचरित को भी गौण स्थान न दे सके। प्राचीन मर्यादा को प्रतिष्ठित रखने के लिए ही गुप्त जी ने इसका नाम साकेत रखा जिससे परम्परा से जो राम का महत्व चला आ रहा है वह कम न हो। नामकरण का दूसरा कारण यह भी है कि इस महा-

काव्य का समस्त घटनाक्रम साकेत में ही केन्द्रित है। जो घटनाए प्रत्यक्ष रूप से साकेत में नही हुई हैं उन्हें भी वह दूसरे मे साकेतवासियो के सम्पर्क में ले आये हैं। विवाह से पूर्व जनकपुर की कथा को उर्मिला अपने विरह म कह देती है। वन की समस्त घटनाएँ हनुमान जी वर्णित कर देते हैं। कुछ घटनाएँ वशिष्ठ जी अपनी योगदृष्टि के द्वारा साकेतवासियो को दिखा देते हैं। कथा के प्रवाह वर्णनों के सौष्ठव और सास्कृतिक पक्ष की बहुलता के कारण साकेत प्रबन्ध काव्य के आदर्श के अधिक निकट है। आधुनिक युग गीत प्रधान है। अत: गुप्त जी भी इस प्रभाव से मुक्त न रह सके हैं। साकेत में यत्र-तत्र सुन्दर गीत मिलते हैं। जैसे :—

"निज सौध सदन मे उडज पिता ने छाया,
मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया ॥"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गुप्त जी से पूर्व भी रामकाव्य का विकास बहुत कुछ स्तर तक हुआ पर खड़ी बोली मे अपनी भावुकता और कल्पना के बल पर उसे नवीन मोड देकर गुप्त जी ने अपना सराहनीय कार्य किया। क्या भावपक्ष, क्या मार्मिक घटनाओ का चयन, क्या पात्रो का चरित्र-विकास सभी दृष्टि से साकेत रामचरित मानस के पश्चात् रामकाव्य धारा मे द्वितीय स्थान रखता है।

कामायनी :—"मानस" के पश्चात् कामायनी को ही हिन्दी साहित्य में महत् काव्य ग्रन्थ कहा जा सकता है। वह इस युग की महान कृति है। स्वर्गीय प्रसाद जी महान लोकनायक तुलसी के सदृश गहरे जीवन दृष्टा थे। कामायनी मे मानस जैसा जीवन का बहुव्यापी एवं सश्लिष्ट विश्लेषण तो नही है क्योकि आदि पुरुष का जीवन इतना उलझा हुआ नही हो सकता और न उस समय जीवन सम्बन्ध इतने व्याप्त और जटिल ही हो सकते थे। तथापि जो चित्र प्रसाद की चित्रमयी तूलिका से निसृत हुआ है वह पूर्ण सत्य एव चिरन्तन हैं। प्रसाद जी ने जीवनोदधि से जिन अमूल्य रत्नो को बड़े अनुसन्धान एवं शोध के पश्चात् प्राप्त किया उन्हीं की उत्कृष्ट भेंट कामायनी महाकाव्य है। प्रसाद जी प्राचीन काल के उपासक थे। समन्वयवाद भारतीय सस्कृति और साहित्य की मुख्य विशेषता है। यही कामायनी का मूल स्वर है। कामायनी में समरसता के सिद्धान्त का प्रतिपादन विभिन्न स्थलों तथा क्षेत्रों मे सास्कृतिक, मानसिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक समन्वय स्थापित करने की भावना की अभिव्यक्ति के द्वारा हुआ है।

कामायनी का मुख्य विषय श्रद्धा और मनु के सयोग से अभिनव मानव सृष्टि का विकास दिखाना है। उन्होने भारतीय परम्परा एवं संस्कृति के रक्षा के के साथ अभिनव भावनाओ (राष्ट्र भावना, गृह उद्योग आदि) का समावेश कर मध्यपथ का अनुसरण किया है। वैसे भी कामायनी मे दर्शन और इतिहास, वाच्यार्थ तथा सांकेतिक अर्थ का भी सुन्दर सम्मिश्रण समन्वय है। कामायनी की महत् सामंजस्य, समन्वय भावना आनन्दवाद मे आधुनिक युग के आर्तस्वर का प्रत्युत्तर भी व्यंग रूप मे छिपा है। यदि आज का विश्व प्रसाद जी के इस चिरन्तन, शाश्वत

एँ ध-समरसता के महान जीवन सन्देश को ग्रहण करे तो विश्व कल्याण होना निस्सन्देह है। कामायनी प्रसाद जी की अत्यन्त प्रौढ रचना है तथा चिन्ता, ईर्ष्या, आशा, प्रेम, क्षमा, आनन्द आदि सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक भावनाओं को समेटने के कारण प्रभातकालीन वायु की भाँति इसका रस नित्य नवीन रहेगा।

कामायनी मे प्रवन्ध निर्वाह भी अच्छा हुआ है। कामायनी में कवि की वृत्ति मानव हृदय की भावनाओं के सघर्ष मे ही अधिक रमी है। प्रकृति चित्रण के साथ-साथ कवि मानसिक परिस्थिति का चित्रण करता है तथा रसात्मक प्रकरणो का रसास्वाद करता चलता है। फिर भी कवि ने वड़े चातुर्य से कथापंटों को एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न किया है। मर्मस्पर्शी स्थलो के चित्रण मे कवि पूर्ण रूपेण सफल हुआ है, और यह हैं भी कितने ही—देव वैभव के नाश के संस्मरण, श्रद्धा तथा मनु का प्रथम प्रेम, उनका वियोग, मनु का घायल होना आदि। एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वात जो महाकाव्य के लिए आवश्यक होती है वह यह है कि काव्य की घटनाएँ कार्य की सम्पन्नता मे सहायक हैं या नही। कोई ऐसी घटना तो नही जो कथा की एक सूत्रता मे वाधा डाले या जिसका अस्तित्व काव्य मे विल्कुल निरर्थक हो। इस दृष्टि से कामायनी पूर्ण रीति से सफल काव्य है। श्रद्धा तथा ज्ञान की देवी इसके समन्वय से तो आनन्द की ही प्राप्ति होती है। युद्ध से मनु को निर्वेद होता है जो उन्हे इस आनन्द की खोज मे प्रेरित करता है। किलात तथा आकुलि मनुष्य के भीतर देह प्रेम, देह पालन के प्रतीक हैं। स्वार्थ तथा मोह के प्रतीक हैं जिनका नाश आनन्द साधन के लिए परम आवश्यक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कथा की अन्वती सव प्रकार से पूर्ण है। कामायनी मे अनेक रसो का समावेश भी वड़ी कुशलता के साथ किया गया है। रस सम्वन्धी महाकाव्य का लक्षण कामायनी में सफल रूप से घटित हुआ है।

प्रकृति चित्रण भी कामायनी में अनुपम हुआ है। प्राकृतिक दृश्यो का चित्रण कामायनी में चार रूप से हुआ है। निरपेक्ष भाव से, अन्य वर्णनों तथा विवरणों के परिस्थिति स्वरूप, प्रकृति में मानव के अपने स्वरूप तथा अपनी भावनाओ के चित्र देखने में तथा अलंकारिक रूप में। कही वह निरपेक्ष भाव से प्रकृति का चित्रण करता हुआ हिमालय तथा प्रलय का वर्णन करता है तो कही मनु तथा अन्य चरित्रो की भावनाओ का प्रकृति में आरोप कर देता है। मनु के हृदय में आशा का संचार होते ही प्रभात का वर्णन कितना सजीव है—

"उषा सुनहले तीर वरसती, जय लक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित काल रात्रि भी, जल मे अन्तर्निहित हुई।"

कामायनी एक रूपक दृष्टान्त है। इस वात का सकेत कवि ने स्वय किया है। इसके अतिरिक्त कामायनी के पात्रों का प्रतीकमय साकेतिक व्यक्तित्व उसकी मुख्य घटनाओ का श्लेष गर्भित गूढार्थ दोनो ही उसे रूपक काव्य वनाने में सहायता पहुँचाते हैं। कामायनी की व्यक्त कथा है आदिम पुरुष और आदिम नारी के संयोग से मानव सृष्टि का विकास। उसका अप्रस्तुत अर्थ है अहकार की क्लेशमयी स्थिति

से समरसता की आनन्दमयी स्थिति तक पहुँचना। यदि कथा का प्रस्तुत पक्ष ऐतिहासिक है तो अप्रस्तुत पक्ष मनोवैज्ञानिक। एक पौराणिक है,तो दूसरा दार्शनिक। पुरातन प्रेमी प्रसाद ने कामायनी की मूल भित्ति तो ऐतिहासिक ही रखी है पर उसमे रूपक तत्व व मानवता के विकास का सुन्दर भवन निर्मित हुआ है। डॉक्टर नगेन्द्र लिखते हैं—कामायनी की व्यक्त कथा यहाँ आदिम पुरुष मनु और उसकी आदि सहचरी कामायनी के संयोग से मानव सृष्टि के उद्भव और प्रसार का इतिहास उपस्थित करती है वहीं उसकी अव्यक्त धारा अहंकार की क्लेशमयी स्थिति से समरसता की आनन्दमयी स्थिति तक मनोमय कोश से आनन्दमय कोश तक का क्रम-विकास उपस्थित करती है।

साकेत संत:—पंडित बलदेव प्रसाद मिश्र ने अपने "साकेत संत" मे भरत के चरित को प्रधानता दी है। "रामचरित मानस" मे गोस्वामी तुलसीदास जी ने भरत के चरित को विशेष महत्व दिया है। वह भ्रात भक्ति के आदर्श हैं। उन्हें राजमद छू तक नही गया।

"भरतहि होइ न राजमद, विधि हरि-हर पद पाइ।
कबहुं कि कॉजी सीकरनि, धीर-सिंधु बिनसाइ।"

मिश्र जी ने अपने काव्य मे भरत जी के पावन चरित की झाँकी दिखाई है। भरत जी भारतीय मर्यादा के सजीव आदर्श हैं। उन्होने भारतीय मर्यादा के अनुसार राज्य वैभव को ठुकरा दिया। इसमें मथरा की कथा वर्णन नही की गई है। केवल इतना ही सकेत मिलता है कि भरत जी के मामा युधाजित चलते समय मंथरा को सकेत दे जाते हैं कि वह भरत तथा उनकी माता के हित का ध्यान रखे। युधाजित बाद मे कहते हैं—

"है धन्य मथरा ही वह, यद्यपि दासो की दारा।
जो समझ गई सब बाते, पाकर बस एक इशारा॥"

भरत जी अपने मामा के आग्रह पर अपनी ननिहाल जाते हैं—"जीत मामा की हुई विशेष" इससे दशरथ जी पर किसी प्रकार का लांछन नही आता। मिश्र जी के काव्य मे और भी बहुत सी मौलिक उद्भावनायें मिलती हैं। इस काव्य में केवल भरत के चरित को ही महत्व नही दिया गया है, अपितु माण्डवी की महत्ता भी दिखलाई है। वह त्याग और तपस्या की मूर्ति है—

"विकसा प्रभा प्रभाकर की है,
पर न कमलिनी मोद मनाये।
था बसन्त आंखो के आगे,
पर कीलित ही पिक का स्वर था।
अहह! माण्डवी को तो आहो,
का भरना भी वर्जिततर था॥

जो है दूर उसकी आशा;
रखकर मन समझाया जाये,
समझ सराहूँ मैं उस मन को,
पास रहे पर पास न आये।"

भरत जी समस्त राजसी ठाठ-बाट से मुक्त होकर वन में राम से मिलने जाते हैं तथा अपने इस प्रकार आने का भी कारण स्पष्ट कर देते हैं जिससे लक्ष्मण जी को उत्तेजित होने का अवसर प्राप्त नही होता। राम को भरत के आगमन की सूचना वन के कोल देते हैं। इसके अतिरिक्त मिश्र जी ने एकान्त मे पहले राम तथा भरत की भेंट करा दी है। उसके बाद भरत एकत्रित सभा मे आते है। मिश्र जी ने भारत की अखंड सांस्कृतिक एकता का प्रतिपादन भी किया है। मिश्र जी गाँधीवाद के विचारों से भी प्रभावित हैं।

शत्रु पर विजय नैतिकता तथा सदव्यवहार के द्वारा प्राप्त करनी चाहिए। राष्ट्र को एक सूत्र मे बाँधने के लिए हृदय से हृदय का मेल आवश्यक है—

"बनेंगे दक्षिण उत्तर एक, उरो का हो जब हो उर से मेल।"

कवि ने आदर्श समाज के निर्माण का वर्णन किया है। साम्राज्य को जीवित रखने के लिये संस्कृति की रक्षा आवश्यक है।

"सभी निज संस्कृति के अनुकूल,
एक हो रचें राष्ट्र उत्थान।
इसलिये नही कि करें सशक्त,
निर्बलो को अपने में लीन—
इसलिये कि हो विश्व-हित-हेतु,
समुन्नति-पथ पर सब स्वाधीन॥"

यह महाकाव्य विचार प्रधान होते हुये भी भावुकता तथा कवित्व से परिपूर्ण है।

कुरुक्षेत्र:—आधुनिक युग के महाकाव्यो मे कुरुक्षेत्र का नाम भी उल्लेखनीय है। इसमें दिनकर जी ने प्राचीन कथानक के सहारे युद्ध की अनिवार्यता पर विचार किया है। उन्होने अहिंसा का महत्व भी प्रतिपादित किया है। किन्तु यह भी सिद्ध किया है कि अहिंसा को सफलता उसी अवस्था में मिल सकती है जब संसार उसके योग्य हो—

"युद्ध को तुम निंद्य कहते हो, मगर
जब तलक है उठ रही चिनगारियाँ
भिन्न स्वार्थों के कुलिष्ठ संघर्ष की,
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।"

लेखक ने यह भी चित्रित किया है कि साम्यवादी आधार पर ही शान्ति मिल सकती है—

"शान्ति नही तव तक जब तक,
सुख भाग न नर का सम हो।
नही किसी को बहुत अधिक हो,
नही किसी को कम हो।"

इन महाकाव्यों के अतिरिक्त और महाकाव्य भी आधुनिक युग में लिखे गये हैं। ब्रजभाषा मे लिखा हुआ हरदयालसिंह का दैत्यवंश महाकाव्य मिलता है। इसमे बहुत से राजाओं का चरित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग में महाकाव्य को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला।

"खण्ड काव्य"—साहित्य दर्पण में खण्ड काव्य की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च"

अर्थात् "खण्डकाव्य के एक देश या अंश का आजकल की भाषा में एक प्रधान घटना का अनुसरण करता है।"

खण्डकाव्य में महाकाव्य के समान जीवन की विविधता नहीं होती। महाकाव्य का क्षेत्र विस्तृत होता है और खण्डकाव्य का सीमित। इसमें प्रबन्ध काव्य का सा तारतम्य नही होता। कहानी तथा एकाँकी की भाँति खण्डकाव्य भी किसी एक प्रधान घटना को लेकर लिखे जाते हैं।

हिन्दी में खण्डकाव्य भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गये। सुदामा चरित, जयद्रथ-वध, पंचवटी, अनघ, आदर्श खण्डकाव्य कहे जा सकते हैं। अंग्रेजी में खण्ड-काव्य का पृथक नाम नही है। उसे Narrative Poetry (प्रकथनात्मक काव्य) के अन्तर्गत स्थान दिया गया है।

हिन्दी में ऐतिहासिक तथा पौराणिक आख्यानों को लेकर अनेक खण्डकाव्य लिखे गये। गोस्वामी तुलसीदास जी के "जानकी मंगल", "पार्वती मंगल", "रामललानहछू" जटमल की "गोरा बादल की कथा" नरोत्तमदास का "सुदामा चरित", गुप्त जी का "अनघ", "जयद्रथ-बध" "नहुष", "कावा और कर्बला", रत्नाकर जी का गङ्गावतरण, उद्धवशतक, नन्ददास की "रासपञ्चाध्यायी", "भ्रमर गीत", तथा हरिश्चन्द्र खण्डकाव्य के अच्छे उदाहरण हैं। इनकी रचना इतिहास, पुराण तथा जनश्रुति के आधार पर की गई है। कुछ खण्डकाव्य कल्पना के आधार पर लिखे गये हैं। जैसे रामनरेश त्रिपाठी का पथिक, मिलन, स्वपन सियाराम शरण जी गुप्त का उन्मुक्त आदि।

एकार्थ काव्य—श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने महाकाव्य तथा खण्डकाव्य के बीच की एक स्वतन्त्र सुविधा मानी है। जिसे एकार्थ काव्य कहते हैं। उनका मत है कि "महाकाव्य में कथाप्रवाह विविध भंगिमाओं के साथ मोड़ लेता हुआ आगे बढ़ता है किन्तु एकार्थ काव्य में कथा प्रवाह के मोड़ कम होते हैं।" उन्होंने

प्रवास, कामायनी, साकेत तथा वैसे ही वनवास को एकार्थ काव्य माना है। परन्तु उनका यह मत ठीक नही है। प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी को महाकाव्य न मानना इस युग के साथ अन्याय करना है।

वस्तुत: एकार्थ काव्य मे न तो महाकाव्य की पंचसन्धियाँ होती है, न उनका विस्तार होता है। इसमें कथा का कोई उदिष्ट पक्ष होता है। इसका कथाप्रवाह सरल होता है और कवि की वृत्ति वर्णन करने या भावव्यंजना की ओर विशेष रहती है। रत्नाकर जी का "गङ्गावतरण" एकार्थ काव्य है।

श्रव्य काव्य (पद्य)

"मुक्तक"

मुक्तक काव्य वह काव्य है जिसका प्रत्येक पद अपने में पूर्ण रहता है। इसमे पूर्वा पर क्रम की आवश्यकता नही। तारतम्य के बन्धन से मुक्त होने के कारण ही मुक्तक काव्य की व्याख्या "मुक्तेन मुक्तकम्" कहकर की गई है। इसका अभिप्राय यह नही है कि मुक्तक मे तारतम्य या क्रम-न्यास नही होता। गोस्वामी तुलसीदास जी की गीतावली तथा सूर सागर के पदों मे हमे क्रम-न्यास मिलता है। किन्तु उनका प्रत्येक पद स्वत: पूर्ण है तथा वह एक दूसरे की अपेक्षा नही करता। मुक्तको के पाठ्य और गेय दो भेद माने गये हैं। मुक्तको का यह विभाजन अस्थायी तथा अवैज्ञानिक है। पाठ्य सामग्री भी गेय हो सकती है, किन्तु कुछ पद विशेष रूप से गेय ही लिखे जाते हैं। आजकल गेय और पाठ्य विषयी प्रधानता तथा विषय प्रधान के रूप में बदल गये हैं। गेय पदों में कवि का निजी भावाधिक्य अधिक होता है, और पाठ्य मे वह निरपेक्ष दृष्टा के रूप मे किसी बात का वर्णन करता है। सूक्तियाँ पाठ्य मुक्तक के अन्तर्गत आती हैं। ऐसे मुक्तक मे नीति, शृंगार तथा वीरता का वर्णन रहता है। भक्ति तथा नीति के पाठ्य मुक्तको के सुन्दर रूप हमे गोस्वामी तुलसीदास जी की दोहावली, कबीर, रहीम, वृन्द आदि के दोहे मे मिलती है। गिरधर की कुण्डलियाँ तथा दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ पाठ्य मुक्तको के अच्छे उदाहरण हैं। शृंगार परक मुक्तको के अन्तर्गत 'बिहारी सतसई' 'हाल सप्तशती, 'दुलारे-दोहावली' आते हैं। वियोगी हरि की "वीर सतसई' वीरता विषय मुक्तक का अच्छा उदाहरण है। इनके अतिरिक्त बहुत सी कविताएँ जो स्फुट रूप मे लिखी जाती हैं मुक्तक के अन्तर्गत आयेगी। साहित्य दर्पणकार ने दो-दो मुक्तकों के समूहों को युग्मक, तीन-तीन मुक्तको के समूह को सदानितक तथा चार-चार और पांच-पांच मुक्तको को क्रमश: कपालक और कुलक नाम दिया है।

प्रगीत काव्य

इसे गेय मुक्तक कहते हैं। अंग्रेजी में इसे लिरिक (Lyric) कहते हैं। लिरिक शब्द का सम्बन्ध (Lyre) नामक वाद्य यन्त्र से है। कुछ मनुष्यो ने 'लिरिक' का "वैणिक" अनुवाद किया है। "वैणिक" का प्रगीत काव्य से कुछ भी सम्बन्ध

नहीं है। प्राचीन समय में एक प्रकार के चित्रों को "वैणिक" कहा जाता था। इस प्रकार 'लिरिक' या "वैणिक" शब्द का सम्बन्ध वीणा से माना जाता है।

प्रगीत काव्य मे व्यक्तिगत सुख दुःखों की सहजानुभूति स्वतः द्रवीभूत होकर रागात्मक होती है। इसमे भावातिरेक का आधिक्य रहता है। अतः भावातिरेक प्रगीत काव्य का मूल तत्व है। संगीत भावातिरेक का माध्यम है। प्रगीत काव्य से सगीत का सम्बन्ध स्वाभाविक है। भावातिरेक का स्रोत सगीत की स्वर लहरी मे ही स्वाभाविक रूप से बह सकता है। भावातिरेक यदि गीतिकाव्य की आत्मा है तो सगीत उसका वाह्य शरीर। हमारे हृदय में सुख-दुःख के भावों का जो सागर लहराता है वह भापा के माध्यम से प्रवाहित होता है। साधारण तथा तीव्र आवेग मानव मस्तिष्क की चहारदिवारी में रहना नही चाहते। गीत के द्वारा भावों को प्रकाश मिल जाता है। गीति काव्य में कवि के व्यक्तित्व की छाप रहती है। प्रगीत काव्य की सृष्टि कवि अपने निजी दृष्टिकोण से करता है। इसमें निजीपन तथा रागात्मकता की प्रधानता रहती है। यह रागात्मकता आत्मनिवेदन के रूप में प्रस्फुटित होती है। रागात्मकता मे तीव्रता लाने के लिए उसमे संक्षिप्तता का होना आवश्यक है। संक्षिप्तता के साथ-साथ भाव की एकता भी अनिवार्य है। गीतकाव्य में एक ही केन्द्रीय भाव को पुष्ट करने के लिए विविधता भी होती है। यह केन्द्रीय भाव टेक का काम करता है तथा प्रभाव को घनीभूत करने के लिए बार-बार दोहराया जाता है।

यद्यपि गीतिकाव्य का मल स्रोत करुण रस माना गया है तथापि हम उसका पृथक लक्षण देखते हैं। पाश्चात्य आलोचक के अनुसार गीतिकाव्य वेदना का स्फोट है। गीतो का रचियता सर्वप्रथम वियोग की वेदना का ही अनुभव करता है। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त जी के शब्दों में गीतिकाव्य का प्रस्फुटन उस समय होता है जब :—

"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमडकर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान॥"

गीतिकाव्य की विवेचना करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है—"गीतिकाव्य की आत्मा है भाव, जो किसी प्रेरणा के भाव से दबकर एक साथ गीति में फूट निकलता है। स्वभाव से ही उसमें हार्दिकता का तत्व वर्तमान रहता है। उसमें एक प्रकार की एकसूत्रता तथा सुसंगठित एकता होती है जो समस्त कविता को अन्वित किये रहती है। वह एक सख्त क्षणिक एवं तीव्र मनोवेग का परिणाम होती है।

उपरोक्त परिभापा के अनुसार गीतिकाव्य के आवश्यक तत्व इस प्रकार हैं :— १. संगीतात्मकता तथा उसके अनुकूल सरस प्रवाहमयी कोमल कान्त पदावली २. आत्माभिव्यंजना ३. [illegible] की इकाई (जो आत्मनिवेदन के रूप मे व्यक्त होती है) ४ [illegible]ना, ५. वेदना तत्व, ६. लयात्मक अनुभूति, ७. संक्षिप्तता।

ए. गुलाबराय जी गीतिकाव्य की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"यह काव्य कों अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक अन्तः प्रेरित होता है, और इसी कारण इसमें कला होते हुए भी कृत्रिमता का अभाव रहता है।"

सँवेये गेय होने के कारण प्रगीत काव्य का रूप हो सकता है, लेकिन इसका मुख्य रूप गीत ही है। सुश्री महादेवी वर्मा प्रसिद्ध गीतिकार हैं। वे गीतिकाव्य की परिभाषा इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

"साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके। अनुभूति को तीव्र रखने के लिए तथा उसे दूसरों तक पहुँचाने के लिए भाव की अभिव्यक्ति पर कुछ संयम आवश्यक है।

गीत और इतिवृत—अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब रागात्मक आत्म निवेदन को गीतिकाव्य का आवश्यक तत्व माना गया है तो गीतावली तथा सूर सागर के कथा सम्बन्धी पदो का क्या स्थान होगा। क्या उन्हें प्रगीत काव्य के अन्तर्गत स्थान नही दिया जा सकता। जब भक्त तन्मय होकर अपने आराध्य का गायन करता है तब वहाँ आत्मनिवेदन स्वतः ही आ जाता है। यह रागात्मक आत्म-निवेदन सूर तथा तुलसी के पदो में पूर्ण रूप से प्राप्त होता है। सूरदास जी अपने प्रत्येक पद के अन्त मे "सूर के ठाकुर" या "सूर के प्रभु" लिखकर अपना निजी सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। सुश्री महादेवी वर्मा लिखती हैं :—

"मिट्टी के भरे पात्र में जैसे रजकण ही अपने भीतर पानी के लिए जगह बना देते हैं वैसे ही यथार्थ के लिए भाव में ऐसी स्वाभाविक स्थिति चाहिए जो भाव ही से मिल सके। इससे अधिक इतिवृत्त गीत में नहीं समा पाता।"

अतः गीतिकार को बहुत सी बातों का परित्याग करना पडता है। गीतिकाव्य की कोमल सीमा में रौद्र, भयानक तथा वीभत्स रस को स्थान नही। यही कारण है कि तुलसी ने गीतावली मे युद्ध का वर्णन नही किया।

लोकगीत और साहित्यिक गीत—हिन्दी मे लोक तथा साहित्यक दोनो प्रकार के गीत उपलब्ध होते हैं। लोक गीतो में उसके रचियताओं के नाम नही मिलते किन्तु किसी-किसी में मिलते भी हैं। बुन्देलखण्ड के ईसुरी कवि के लोक गीतो मे उनके नाम व्यक्त हैं।। लोकगीतों की रचना करते समय कवि अपने भावो को लोक-भावना में समाहित कर देता है। लोक गीतों में निजीपन होने के साथ-साथ साधारणी-करण की विपुल क्षमता होती है। वे वैयक्तिक रस उत्पन्न करने की अपेक्षा जनरस अधिक मात्रा में उत्पन्न करते हैं। इन गीतों में गायक तथा श्रोता का तादात्म्य हो जाता है। होली विवाह, जन्मोत्सव आदि के अवसरों पर लोकगीत गाये जाते हैं। साहित्यिक गीतों में उसके रचियता का निजीपन विशेष रूप में रहता है। साहित्यिक गीतों के समान लोक गीतों मे भी कल्पना का प्रचुर प्रयोग होता है। पडित रामनरेश त्रिपाठी ने अपने संग्रह में एक लोकगीत दिया है। देखिए :—

"मचिये बैठि कौशल्या रानी हरिनी अरज करइ।
रानी! मसवा त सिझहि रोसाइयाँ खलरिया हमे देतिउ॥
पेडवा से टँगतिउँ खलरिया न हेरिफेरि देखितिउँ।
रानी देखि-देखि मन समझाइन जनुक हरिना जीतइ॥
जाहु हरिनी घर अपने खलरिया नाही देबइ।
हरिनी! खलरीक खँझड़ी मिड़अबइ न राम मोर खेनिहँइ।
जब जब बाजइ खँजडिया सबद सुनि अनकइ।
हरिनी ठाढि ढंकुलिया के नीचे हरिन का बिसूरइ॥"

इस गीत मे करुण रस की धारा प्रवाहित हो रही है। इसका भाव यह है कि एक हरिणी जिसके पति आखट खेलते समय राजा दशरथ ने मार दिया था—रानी कौशिल्या के पास जाती है। पीढ़े पर बैठी कौशिल्या रानी से हरिणी प्रार्थना करती है कि हिरन का मास तो रसोई मे बन रहा है, उसकी खाल मुझे दे दो। मै उसकी खाल को पेड़ पर टाँग कर उसे देखकर यह माना करूँगी कि हिरन जीवित है। माता कौशिल्या उत्तर देती हैं कि तुम अपने घर जाओ मै खाल नही दूंगी। इससे तो मेरा राम खँजड़ी बनवाकर खेलेगा, जब-जब खँजड़ी बजती थी, उसका शब्द सुनकर हिरन के लिए ढाक के वृक्ष के नीचे खड़ी होकर हिरनी रोती थी।

एक वियोगिनी नायिका का पति विदेश से आने वाला था। निम्नलिखित पक्ति में नायिका की उत्साहमयी मनोदिशा का वर्णन किया गया है:—

"आज अऔ मोरे चन्दा जुन्हैया आगन लीपै,
झिलमिल होहि तरइयाँ तो मोनिन चौक धरे॥"

जातीय साहित्य से सामग्री लेकर भी लोकगीतों की रचना होती है। अनेक लोकगीत रामायण तथा महाभारत से सम्बन्ध रखते हैं।

साहित्यिक गीतो के अनेक प्रकार होते हुए भी दो मुख्य है—(१) शुद्ध सवेदनात्मक, (२) कथाश्रित। कबीर तथा मीरा के गीत तथा तुलसी की विनय-पत्रिका के पद शुद्ध सवेदनात्मक कहे जायेंगे। शुद्ध सवेदनात्मक गीतो मे कवि आत्म-निवेदन करता है। वह अपने निवेदन में दूसरो को भी भाग दे वह दूसरी बात है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि तुलसी अपने विनय के पदो में लोक का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। (२) सूर के लीला सम्बन्धी पद कथाश्रित गीत के अन्तर्गत आयेंगे। साहित्यिक का उद्भव लोकगीतो से ही होता है। श्री गुलाबराय जी ने महाकाव्य को लोकगीतो का विकसित तथा संगठित रूप माना है। लावनी आदि लोकगीतों के अनुकरण पर बहुत से साहित्यिक गीतो की रचना हुई है।

लोकगीत—लोकगीत प्रायः दो प्रकार के होते हैं:—

(१) **देश भक्ति सम्बन्धी**—इन गीतों की रचना प्रसिद्ध लेखकों ने की है। और मनुष्य मिलकर इसे गाते हैं।

(२) मौखिक गीत—ये गीत लोगो में प्रचलित होते हैं, और घूम-घूम कर मनुष्य इसकी प्रसिद्धि करते हैं।

साहित्यिक कवियो की रुचि भी अब लोकगीतो की ओर हो गई है और इन गीतों में वे जनता की भावना तथा जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारे यहाँ के चारण और भाट ऐसे गीतो को बहुत गाते थे। ये गीत प्रायः पाट्य होते थे।

कथात्मक लोकगीत—प्रारम्भ मे प्रायः सभी देशो मे कथात्मक लोकगीतो का प्रचलन था। अब भी रामायण, महाभारत, भर्तृहरि की कथाएँ गाई जाती हैं। रूस मे ऐसा कथात्मक लोकगीत वाइलिना या स्तारिनो था, जिसमे प्राचीन पौराणिक वीरो की कला तथा कवि के राजदरबारियो की कथाएं हैं।

अंग्रेजी में गीतिकाव्य के रूप तथा उनके अनुकरण—मानव के भावो की कोई निश्चित सीमा निर्धारित नही की जा सकती। अतः गीतिकाव्य के भी अनेक रूप होते हैं। अंग्रेजी मे गीतिकाव्य के चार प्रकार मिलते हैं—(१) सॉनेट अर्थात् चतुर्दशपदी, (२) ओड (Ode) अर्थात् सम्बोधन गीत, (३) ऐलिजी (Elegy) अर्थात् शोकगीत; (४) सेटाइर (Satire) अर्थात् व्यङ्ग्य् गीत; (५) रिफ्लेक्टिव (Reflective) अर्थात् विचारात्मक; (६) उपदेशात्मक। सॉनेट मे आकार की प्रधानता होती है तथा अन्य प्रकारो में विषय की। हिन्दी में इन प्रकारों के अनुकरण पर बहुत से गीत लिखे गये। प्रभाकर माचवे ने सॉनेट लिखे हैं। इनमें चौदह पंक्तियाँ होती हैं। माचवे जी का एक सॉनेट देखिए :—

"मैंने जितना नारी, तुम को याद किया है, प्यार किया है,
तुमने भी क्या कभी भूल से सोचा था कैसा है यह मनु ?
मैंने क्या अपराध किया जो तुमने यो इसरार किया है ?
जाने कैसे विद्युत्कण से परसित है तन-मन अणु-अणु ?
तुम मेरे मानस की संगिनि, चपल विहगिनि, नीड़ की शाखा ?
तुम मेरे मन की राका के एकमात्र नक्षत्र--विशाखा,
तुम हो मृगा या कि आर्द्रा हो ? नही रोहिणी, तुम अनुराधा,
तुम छायापथ, ज्योति शिखा तुम, तुम उल्का आलोक शलाका।
सशय के सघनान्धकार मे विद्युत्माला अयि अचुम्बिते ?
तुम हरिणी, मालिनी, शिखरिणी, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बिते।
तुम छन्दो की आदि प्रेरणा, प्रथम श्लोक की पृथुल वेदना,
तुम स्रग्धरा या कि मन्दाक्रान्ता, ओ आर्या, गीत सम्मिते।
मैं गतिहारा 'यति-साग्रह' से शून्य प्रभाकर मैं वैनायक,
तुम रागिनी और मैं गायक, तुम हो प्रत्यञ्चा मैं सायक ?

भावात्मक होना और छोटा होना ही सॉनेट, का प्रधान गुण है। कवि लोग ऐसे प्रगीतो को प्राय गाकर पढते है।

हिन्दी में ओड (Ode) या सम्बोधन गीत भी पर्याप्त मात्रा मे लिखे गये

हैं। प्रसाद जी के किरण, बसन्त दीप, निराला जी के खण्डर के प्रति, भिक्षुक, शेफालिका, पन्त के आंसू, छाया, बापू के प्रति, अन्धकार के प्रति आदि शीर्षक कविताएँ सम्बोधन गीतों के अन्तर्गत आयेंगी। पन्त जी का निम्नलिखित "अन्धकार के प्रति" गीत-सम्बोधन गीत का अच्छा उदाहरण है :—

अब न अगोचर रहो सुजान।
निशानाथ के प्रियवर सहचर।
अन्धकार स्वपनो के मान।
किसके पद की छाया हो तुम ?
किसका करते हो अभिमान ?
तुम अदृश्य हो, दृग अगम्य हो,
किसे छिपाये हो छविमान ?

हिन्दी में शोकगीत भी लिखे गये हैं। अंग्रेजी में ग्रे की ऐलिजी (Gray's Elegy) का विशेष महत्व है। श्री मैथिलीशरण गुप्त जी ने ग्रामीण विलाप के नाम से इसका सुन्दर अनुवाद किया है। सूर के गीतों में उपालम्भो के रूप में व्यङ्ग्य् गीत मिलते हैं। भारतेन्दु काल मे कुछ व्यङ्ग्य् गीतो का प्रणयन हुआ था। भारतेन्दु जी का "देखी तुम्हारी काशी" व्यङ्ग्य् गीत का अच्छा उदाहरण है। पन्त जी के गुंजन के गीत तथा प्रसाद जी के कुछ गीत विचारात्मक के अन्तर्गत आयेंगे। कबीर, सूर, तुलसी आदि ने उपदेशात्मक गीतों की भी रचना की है।

गीतिकाव्य का इतिहास

"व्यक्तिगत सुख दुःखों की सहजानुभूति जब स्वतः द्रवीभूत होकर रागात्मक होती है तो उसे गीति कहा जाता है।" गीति में भाव और स्वरो का संगठित रूप होता है। गीत शब्द का महत्व श्रीमद्‌भगवद् गीता में मिलता है। गीता का अर्थ है जो गाया गया हो। स्वयं वेदों के गायको ने उसे गीत कहा है। ऋग्वेद का मनीषी गाता है—"गीर्भि वरुण सीमहि"—अर्थात् हे वरशीला मै तुम्हे गीत में बाँधता हूँ। किन्तु फिर भी गीतिकाव्य जिस समवेदन सिंचित भूमि पर पल्लवित हुआ है वह उस आदि युग मे तैयार नही हो पाई थी।

वैदिक साहित्य के बाद बौद्ध साहित्य की थेर गाथाओ का स्थान आता है। इनमें वैराग्य के प्रति विशेष प्रेम तथा उत्साह के दर्शन होते हैं। सुश्री महादेवी वर्मा के गीतकाव्य शीर्षक लेख से हम एक उदाहरण देते हैं।

"सुनीला सुसिखा सुपेखुणा सचित्तपत्तच्छदना विहङ्गमा,
सुमञ्जु घोसत्व निताभिगज्जिनो ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि झायिनं ॥"

अर्थात् "जब तुम बन में ध्यानस्थ बैठे होंगे तब गहरी नीली ग्रीवा वाले सुन्दर सुन्दर शिखा शोभी तथा शोभायमान चित्रित पंखों से युक्त आकाशचारी पक्षी अपने सुमधुर कलरव द्वारा, का अभिनन्दन करते हुए तुम्हें आनन्द देंगे।"

वस्तुत' गाथा शब्द का अर्थ भी गीत है। वैदिक साहित्य मे ऋक और गाथा मे अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ऋक में ईश्वर की स्तुति होती है और गाथा मे मनुष्यो और राजाओ का वर्णन रहता है।

संस्कृत साहित्य मे गीत काव्यो का अत्याधिक प्रचलन था। क्रौंच वेदना से आहत करुणार्द्र ऋषि के गीले स्वर ने सम्भवतः प्रथम बार गीतिकाव्य का स्वर सन्धान किया :—

"मः निपाद, प्रतिष्ठा त्वमग शाश्वतीः समाः ।
यत्कौंच मिथुनादे कमवधीः काममोहितम ।।"

तत्पश्चात् संस्कृत नाटको एवं प्राकृत साहित्य में प्राप्त गीत लोकगीत ही कहे जायेंगे, साहित्यिक गीत नही।

निस्सन्देह गीतकाव्य के उद्गम मे करुण रस ही प्रधान रूप से सहायक है। संसार मे सुख और दुःख इन दो प्रकार के भावो की ही प्रधानता है। प्रसाद जी ने भी कहा है :—

"मानव जीवन वेदी पर, परिणय है विरह मिलन का,
सुख दु.ख दोनो नाचेंगे, है खल आँख का मन का ।।"

परन्तु सुखमय अनुभूति की अपेक्षा दुःखपूर्ण भाव हमारे मर्मस्थल को अधिक स्पर्श करते हैं। शैली ने ठीक कहा है—"Our sweetest songs are those which tell us sadest thought" अर्थात् शोकतम अवस्थाओ के सूचक गीत ही मधुरतम होते हैं। कवि का भावुक एवं कोमल हृदय जितना करुण रस से अप्लावित होता है सम्भवतः अन्य रस से नही। भवभूति ने तो करुण रस को ही प्रधान रस माना है—"एको रसः करुण एव स"

हिन्दी गीतिकाव्य का इतिहास उस सरिता का इतिहास है जो भरपूर लहरा कर बीच मे सूख गई। शृंगार काल मे जो सामाजिक मरुस्थल मिला उसी मे समाकर वह बीच-बीच में अपने पूर्व अस्तित्व का आर्द्र-परिचय कवित्त और सवैयो मे देती रही। आधुनिक युग में वह फिर एक स्वतन्त्र सरिता के रूप में फट पड़ी मानो उसे अनुकूल भूमि मिल गई हो।

जयदेवः—हिन्दी साहित्य मे गीतिकाव्य की परम्परा जयदेव के "गीत गोविन्द" को आदर्श मानकर चल पड़ी। जयदेव के गीत-गोविन्द मे ही सर्वप्रथम काव्य और संगीत पृथक रूप से पल्लवित हुए थे। उन्होने अपने गीतो मे यमक और अनुप्रास से जो भाव.व्यजना की है वह अन्यत्र दुर्लभ है। जयदेव ने अपने दृष्टिकोण को इस प्रकार व्यक्त किया है।

"यदि हरि स्मरणें सरसं मनो, यदि विलासु कलासु कुतूहलम् ।
मधुर कोमल कान्त पदावली, शृणु, तदा जयदेव सरस पदम् ।।"

जयदेव के गीत मधुर कोमल कान्त पदावली से संयुक्त हैं। एक उदाहरण देखिए—

बसन्त राग, यतितालाभ्यां गीयते ।

ललित लवङ्ग-लता परिशीलन कोमल मलय समीरे ।

मधुकर-निकर करम्बित कोकिल-कूजित कुज कुटीरे ।।

विहरति हरि रिह सरस बसन्ते ।

नृत्यति युवति जनेन समं सखि विरहि जनस्य दुरन्ते ।।

जयदेव के इस संगीतमय आदर्श को हिन्दी के सरस कवि विद्यापति ने अपनाया था ।

दुर्भाग्य से जिस काल मे हिन्दी साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ था वह गीतो के लिए उपयुक्त न था । वह मारकाट, विप्लव और अशान्ति का युग था । राज्य क्रान्ति, युद्ध लिप्सा तथा भौतिक अशान्ति के ऐसे वातावरण मे अभ्यन्तर के प्रकाशन का न तो अवसर ही था, न रुचि । अतः हिन्दी के आदिकाल मे गीतो का सृजन न हो सका । बीसलदेव रासो, आल्हाखंड मे जो वीरगीत उपलब्ध होते हैं वे संगीतात्मक तो थे परन्तु गीतात्मक नही । अमीर खुसरो ने अपनी रचना मनोरंजन के लिए लिखी थी इसलिए कुछ गीत उनकी रचना मे मिलते हैं ।

विद्यापतिः—विद्यापति ने गीत गोविन्द के अनुसरण पर अपनी पदावली की रचना की । उसमे अवश्य ही हिन्दी काव्य का सर्वप्रथम गीतिकाव्य प्राप्त हुआ । विद्यापति की पदावली सगीत के स्वरो मे गूंजती हुई राधा कृष्ण के चरणों में समर्पित हुई । विद्यापति के गीत अत्यन्त सुन्दर स्निग्ध और भावुकता से पूर्ण हैं । वे हृदय के अन्यतम भागो को स्पर्श करते है और मन हठात्-मुग्ध हो जाता है । गीतिकाव्य की विशेषताएँ हैं—सगीत की प्रधानता, भावो की एकता, अनुभूति की गहराई, सुव्यवस्थित रूप, अत्यन्त परिचित मूर्तिमत्ता । विद्यापति के गीतो मे य सभी विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं । जयदेव के पदो के समान विद्यापति के पद कोमल हैं । विद्यापति भी सगीत के उतने ही ऊँचे धरातल पर उठे प्रतीत होते हैं जितने जयदेव ।

"नव वृन्दावन नविन तरुगन नव नव विकसित फूल ।

जीवन बसन्त, जीवन मलयानिल, यातल नव अलि कूल ।।"

विद्यापति प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं । इसलिए उन्होने आधार बनाया राधा और कृष्ण को । विद्यापति की पदावली मे शृंगार रस की अविरल धारा प्रवाहित है । सयोग और वियोग की जितनी परिस्थितियाँ हो सकती हैं और उन परिस्थितियों मे प्रेम विभोर युवक और युवतियो के हृदय मे जितने प्रकार के भाव उठ सकते हैं उन सबका विद्यापति जैसा सश्लिष्ट वर्णन हिन्दी के अन्य किसी कवि ने नही किया । विद्यापति के पदो मे पद-लालित्य, सरस राग, हृदय का रस और उक्ति वैचित्र्य सभी हैं । विद्यापति मे प्रेम का मानसिक पक्ष प्रबल है । राधा कहती है—

"सखि कि पूछसि अनुभव मोय ।

सोहो पिरिति अनुराग बखानइत तिल-तिल नूतन होय ।।

जनम अवधि हम रूप निहारलनयन न तिरपित भेल ।
सोहो मधुर-बोल स्वजनहिं सुनल स्रुति पथ सरस न गेल ।
कत मधु-जामिनिय रमस गमग्रोल न बूझल कइसन केल ।
लाख-लाख युग हिम-हिम राखल तहम्रो हिम जुडन न गेल ॥"

विद्यापति शृंगारी कवि हैं किन्तु उनकी रचनाएँ भक्ति स्त्रोतस्विनी के सरस तरंगायित प्रवाह की कलकल ध्वनि से पूर्णतः परिपूर्ण दिखाई पड़ती हैं। अपने आराध्यदेव शिव के रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

"पंच वदन तिन नयन विशाला,
वसन विहुन ग्रोढन बघछाला ।
सिर वहे गङ्ग तिलक सोहे चन्दा ।
देखल सरूप मेटल दुख दन्दा ।

विद्यापति के गीतो में व्रजभापा का सा माधुर्य है। रसराज के उपासक अन्त में भगवान की शरण मे जाते हैं और कहते हैं—

करम धरम तप हीने, पडलहुँ पाप अधीने ।
बेड मसल मँझधारे, भैरव धरु करू पारे ।"

× × × ×

भन विद्यापति मारे भोलानाथ ।
गति देहु-अभय वर मोहिं ॥"

विद्यापति के गीतो में एक विचित्र सौदर्य है। छन्द की सुन्दर सुगठित योजना मे विद्यापति सूरदास से होड़ करते हैं। अनुभूति की गहराई प्रकट करने में तो विद्यापति के गीत अद्वितीय हैं। रूप सौन्दर्य, रचना सौन्दर्य और भाव सौन्दर्य सभी दृष्टि से विद्यापति के गीत हिन्दी-गीति साहित्य के कंठहार हैं। उनका शब्द सौन्दर्य चण्डीदास से भी अधिक उत्कृष्ट है।

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल गीतिकाव्य के लिए सर्वोत्तम काल था। सन्तो का काव्य जीवन हृदय स्थित रागात्मक अनुभूतियो मात्र के प्रकाशन के रूप में ही विकसित हुआ था। फलतः कबीर आदि सन्तो; सूरदास, नन्ददास आदि अष्टछाप के भक्तो, तुलसी मीरा आदि के द्वारा हिन्दी गीतिकाव्य का चरम विकास हुआ।

कबीर—गीतिकाव्य के रचियताओ मे कबीर का नाम आदर से लिया जाता है। कबीर महात्मा तथा प्रेरक सुधारक के रूप मे तानपूरे के तारों को झंकृत करते हुए जनता के समक्ष आये थे। तभी तो जुलाहे के ताने बाने पर बुने गीत धरती के व्यक्त और दर्शन के गहन अव्यक्त को समान अधिकार दे सके है। उनके संगीतमय गीतो मे अनुप्रास एवं माधुर्य गुण का मणि-कांचन योग है। उनकी कविता मे सगीतात्मकता की झलक स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

"झीनी झीनी बीनी चदरिया,
काहे का ताना काहे का भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया ।
इंगला पिंगला ताना भरनी, सुषमन तार से बीनी चदरिया ॥"

कबीरदास जी ने निर्गुण को अपनी प्रेम साधना का विषय बनाया था। उन्होने अपने उपास्य को अपना पति तथा अपने को "राम की बहुरिया" माना है ? कबीर की कविता में ज्ञान, प्रेम और भक्ति का अद्भुत समन्वय था। जहाँ उनका हृदय शक्तिशाली हो जाता है वहाँ वे इतनी अनुभूतिमयी वाणी को जन्म देते है कि अलकार उसमे स्वमेव आ जाते हैं। देखिए—

"आखिनि की करि कोठरी पुतरी पलंग बिछाइ ।
पलकन की चिक डारिके पिऊँ को लेऊँ रिझाइ ॥"

कबीर के गीतो मे एक प्रभावोत्पादक शक्ति है जो सीधे हमारे मर्म पर आघात करती है। हार्दिक उमंग की लपेट में जो सहज विदग्धता उनकी उक्तियो मे आ गई है वह अत्यन्त भावापन्न है। कबीर का अनुभति पक्ष अत्यन्त प्रबल है। प्रियतम का प्राप्त करना सरल नही, कबीर इसे भली प्रकार जानते थे—

हँसि हँसि कन्त न पाइये, जिमि पाया तिनी रोइ ।
जो हँसि ही हरि मिलें, तो न दुहागिनी कोइ ॥"

कबीर की विरहिणी आत्मा उस प्रियतम के वियोग मे कैसे धैर्य रख सकती है जबकि विरह मे उनकी यह दशा हो गई थी ।

"सब रंग तंत्र, खाव तन, विरह बजावे नित्त ।
और न कोई सुन सके; कै साँई के चित्त ॥"

फलतः कबीर की विरहिणी आत्मा प्रेम विह्वल होकर प्रत्येक पथिक से अपने प्रियतम का सदेशा पूँछती है। देखिए कबीरदास जी कितने मार्मिक शब्दो मे अपनी अनुभति को व्यक्त करते हैं—

"एक सबद कह पीऊ कौ कबरे मिलेगे आइ ।"

कबीरदास जी की कविता का वह पक्ष शुष्क तथा नीरस है जहाँ उनकी प्रकृति उपदेशात्मक रही है। परन्तु जहाँ उन्होंने अपने हृदय की आवेशमयी अनुभूति को वाणी दी है वह अत्यन्त सरस एव मधुर है। डा० हजारीप्रसाद जी लिखते हैं—"कविता करना उनका लक्ष्य नहीं था, फिर भी उनकी उक्तियों में कवित्व की ऊँची से ऊँची चीज प्राप्य है। दोहे और पद उन्होंने पूर्ववर्ती साधकों से अपनाये थे पर अपनी छाप डाल दी। वे साधना के क्षेत्र में युग युग गुरू थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के सृष्टा। संस्कृत के कूपजल को छुड़ाकर उन्होंने भाषा के बहते नीर में सरस्वती को स्नान कराया। उनकी भाषा मे बहुत सी बोलियों का मिश्रण है क्योंकि भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और अनजान में ही वह भाषा की सृष्टि कर रहे थे।

कबीर महान कवि थे। कलापक्ष की अपेक्षाकृत न्यूनता होते हुए भी भावपक्ष की पूर्णता एवं पुष्टता के कारण कबीर हिन्दी साहित्य मे प्रथम स्थान के अधिकारी हैं। वे वाणी के उन वरद पुत्रो मे से हैं जिनकी प्रतिभा के प्रकाश से हिन्दी साहित्याकाश चिर आलोकित रहेगा।

सूरदास—सन्त कवियो के पश्चात् भक्त कवियो मे सूरदास ने अपनी समस्त रचना गीतो मे करके भगवान कृष्ण के चरणो में अर्पित की। उनके समस्त गीत आकार में छोटे किन्तु सगीत के सुर ताल मे खरे उतरने वाले हैं। लीला विषयक पदो को सूरदास ने गीतो मे न लिखकर लम्बे लम्बे पदो में लिखा है जिनमें चौपाई, रोला, दोहा आदि छन्दों का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह है कि सूरदास के गीतकाव्य और सगीत दोनो के उचित सामजस्य से गीतिकाव्य के श्रेष्ठ रूप बन गये हैं-। सूर के गीतो मे इतना माधुर्य था कि महाकवि वल्लभाचार्य जी भी आनन्द सागर मे निमग्न हो जाते थे। गीतिकाव्य की शैली आत्नाभिव्यंजन की अतीव उत्कृष्ट शैली है। सूर ने इसी शैली मे हरि लीला का गायन किया है। कहा जाता है कि सूर के गीत एसी राग-रागिनियो मे हैं जिनमे से कुछ के लक्षण आज उपलब्ध भी नही हैं। वास्तव मे काव्य और संगीत का प्रकृत रूप से समन्वय यदि कोई कर सकता है तो वह सूर ही है। जहाँ तुलसी की संस्कृत पदावली सगीत के माधुर्य को कम कर देती है, वहाँ सूर की स्वत. प्रसूत शब्द लहरी, स्वाभाविकता, सादगी, अल्हडपन को लिए आगे वढती है। सूर की काव्य कौमदी संगीत सौंदर्य के साथ जगमगा रही है। सूर के आराध्य भगवान श्रीकृष्ण थे। आराध्य देव के प्रति आत्मनिवेदन के उल्लास मे सूर की रचना गेय हो गई—

> "चरन कमल बन्दौ हरिराई।
> जाकी कृपा पगु गिरि-लघै, अन्धे को सब कुछ दरसाई ॥"

सूर ने अपनी रचना गेय पदो मे की है। सूर ने जिस युग मे अपनी रचना प्रारम्भ की थी उस समय गीतिकाव्य मे भी माधुर्य और प्रसाद के साथ ओज का भी समावेश हो गया था। सूर की रचना यद्यपि प्रधान रूप से प्रसाद गुण सम्पन्न एवं माधुर्य भाव मडित है तथापि उसमें ओज की पर्याप्त मात्रा है। सूर को यह गीति शैली जयदेव, गोवर्धनाचार्या विद्यापति और कबीर से धरोहर के रूप में प्राप्त हुई थी। सूरदास की भाषा शुद्ध व्रजभाषा है। इनकी भाषा ललित तथा श्रुति मधुर है। भाषा चलती हुई और स्वाभाविक है। हृदयपक्ष तथा कलापक्ष का पूर्ण सामंजस्य है। उनकी रचनाओ मे व्यग, सजीवता, स्वाभाविकता, चित्रमयता एव भाव-गाम्भीर्य पद प्राप्त होते हैं।

सजीवता—"मो आगे को छोहरा जीत्यो चाहे मोय"
प्रवाहमयी—"व्रज के लोग उठे अकुलाइ"
शब्दो के साथ क्रीडा—"मुख पर चन्द्र डारो वारि।"
हास्यप्रियता—"निर्गुण कौन देश को वासी।"

चित्रमयता—"नटवर भेष धरे व्रज आवत।"
सूर की बड़ी भारी विशेषता है नवीन प्रसंगो की उद्भावना।
प्रसगोद्भावना करने वाली ऐसी प्रतिभा हम तुलसी मे नही पाते—
"नैन करे सुख हम दुःख पावे"

सूर का विषय परिमित है, पर इस परिमित विषय पर सहस्रों पद बना लेना सरल नही है। स्वर्गीय शुक्ल जी के शब्दों में सूरदास जी में "जितनी सहृदयता और भावुकता है प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता भी है। किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढे सीधे ढंग उनेको मालूम थे। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसे इतना स्पष्ट तथा सर्वाङ्गपूर्ण बना दिया है कि पाठक के हृदय में उसके सम्बन्ध में जानने के लिए कोई जिज्ञासा ही नहीं रहने दी। भ्रमर गीत जरा सी बात है।

सूरदास जी ने जीवन की दो वृत्तियाँ ली हैं—वालवृत्ति और यौवन वृत्ति। वात्सल्य तथा शृगार के क्षेत्रो का जितना अधिक विश्लेषण सूर ने किया उतना अन्य किसी कवि ने नही। इन क्षेत्रो का वे कोना कोना झाँक आये। हिन्दी साहित्य मे शृगार रस का रस राजत्व यदि किसी ने पूर्ण किया है तो सूर ने। उन्होने केवल कृष्ण का वाल स्वभाव ही वर्णन नहीं किया, राधिका की वाल केलि को भी समान रूप से आकर्षक वनाया। सूरदास की रचना इतनी प्रचुर प्रगल्भ तथा काव्यागपूर्ण है कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्ति जूठी जान पड़ती है। सूरदास जी कभी सखा वनकर कृष्ण की वाललीला का अवलोकन करते हैं तो कभी यशोदा के हृदय मे वैठकर वात्सल्य सुख ,का आनन्द लेते हैं। सूरदास जी भी यशोदा के साथ वात्सल्य सुख का आनन्दानुभव करते हैं—

"हरि अपने आगे कुछ गावत।
तनक तनक चरनन सो नाचत, मनहि मनहि रिझावत।
बाँह उचाइ कजरी धौरी गैयनि टेर बुलावत॥"

× × × ×

कबहू चितै प्रतिबिम्ब खंभ मे लौनी लिये खवावत।
दुरि देखति जसुमत यह लीला, हरखि आनन्द बढावत॥
सूर श्याम के वाल चरित नित ही नित देखत मन भावत॥"
सूर ने गोपियो के विरह का भी बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—
"बिनु गुपाल बैरिन भई कुंजे।
तब यह लता लगति अति शीतल अब भई विषम ज्वाल की पुजै।
वृथा बहति जमुना, खग वोलत, वृथा कमल फूलै, अलि गुजै॥

× × × ×

सूरदास प्रभु को मग जोवत, अँखियाँ भई बरन ज्यों गुंजे॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि रस का पूर्ण परिपाक तथा काव्य के शास्त्रीय गुणो का सन्निवेश सूर में पूर्णता को पहुँच गया है। सूखे, नीरस, दार्शनिक विपयो तक को सूर ने अपनी कल्पना के वल से सरस और मनोरम वना दिये हैं।

तुलसी—सूर के समान तुलसी ने भी अपने उपास्य को आराधना गाकर ही की थी। उन्होने विनयपत्रिका की रचना आत्माभिव्यक्ति के रूप मे की है। परन्तु कही कही विचारो की महानता, दार्शनिकता और भाषा की जटिलता के कारण गीतो का सहज नाद-सौंदर्य नष्ट सा हो गया है। तुलसी ने विनयपत्रिका का प्रारम्भ गाकर ही किया है—

"गाइये गणपति जगवन्दन, शंकर सुवन भवानी नन्दन।
ऋद्धि सिद्धि गज वदन विनायक, कृपा सिन्धु सुन्दर सब लायक॥

विनयपत्रिका हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ गीति काव्य की कोटि में रखी जा सकती है। विनयपत्रिका के पदो से तुलसी की दैन्यपूर्ण भक्ति पर विशेष प्रकाश पड़ता है तुलसी कहते हैं—

"तू दयाल दीन हौ तू दानि हौं भिखारी।
हौ प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुँज हारी॥"

विनय भावना के ऐसे सुन्दर पद तो सूर साहित्य मे भी नही मिलेंगे। तन्मयता, आत्मविस्मृति, भाव संगठन और गीतात्मकता गीतकाव्य के प्रधान गुण हैं और तुलसी के इस ग्रन्थ मे प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं। उनके सबसें सुन्दर अनुभूतपूर्ण पद वे हैं जिनमे उन्होने सूर के विनय पदो की भाँति सरल, ग्रामीण, व्रज मे साहित्यिकता को पीछे छोड़ते हुए अपनी साधना को रूप देने की चेष्टा की है। इस शैली का सबसे मार्मिक पद सीता की स्तुति है—

"कबहुँ अम्ब अवसर पाइ, कछु करुण कथा चलाई।"......

परन्तु इस शैली मे भी कही कही तुलसी कलाकार के रूप मे प्रतिष्ठित दीखते हैं। वहाँ वह मौलिक शक्ति देने के लिए नई ध्वनि, नई लय, नया छन्द खोजते दिखलाई देते हैं। जैसे—"राम कवहुँ प्रिय लागि हौं जैसे नीर मीन कों ? केवल संगीत और छन्द ही नही, भाषा, अलकार, व्यंजना. काव्य के सभी क्षेत्रों के अनेक नये प्रयोग विनय-पत्रिका मे मिलेंगे। अत. स्पष्ट है कि विनय-पत्रिका का साहित्यिक पक्ष भी उतना ही पुष्ट है जितना उसका आध्यात्मपक्ष।

मीरावाई :—मीरावाई की समस्त पदावली आत्माभिव्यक्ति के रूप मे हुई है। सगीतात्मकता की दृष्टि से भी वे निर्दोप हैं। मीरा का गीतिकाव्य सगीत के अधिक निकट है और काव्य के कम। गीतिकाव्य की दृष्टि से मीरा की कविता आदर्श है, उन्होने भारतीय जीवन के कण-कण को सगीत से अप्लावित कर दिया। उनके हृदय में निर्झर के समान भाव आये और अनुकूल स्थल पाकर गीतो मे वह निकले।

"मैं तो साँवरे के रँग राँची।
साजि सिंगार बाँधि पग घुँघरु, लोक लाज तजि नाची॥

हृदयस्थ अनुभति जान्ह्वी के समान कलकल ध्वनि करती हुई आई और मीरा के कठस्थ सरस्वती की सगीतधारा मे मिल गई और वह अपने गिरिधर गोपाल का गान तन्मयता से करने लगी।

"मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरो न कोई,
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई।
छाँडि दई कुल की कानि, कहा करिहे कोई,
सतन ढिग बैठि बैठि लोक-लाज खोई॥"

मीरा ने अपने गीतो मे अनेक राग रागिनियों का प्रयोग किया है। मीरा को गीतिकाव्यमयी भावना के लिए रागो की उपयुक्तता अत्यन्त आवश्यक थी। मीरा ने अपने सगीत के द्वारा ही अपने गिरिधर गोपाल को प्रसन्न किया था। मीरा केवल मधुर लय से गाती ही नही थी अपितु अपने इष्टदेव के समक्ष मादक नृत्य भी करती थी। उनके संगीत एव नूपुरो की मधुर ध्वनि आज भी भारतीयो के हृदय को झंकृत कर देती है—

"पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे।
मैं तो मेरे नारायण की, आपहि हो गई दासी रे।
लोग कहे मीरा भई बावरी न्यात कहे कुलनासी रे।
विष का प्याला राणा जी भेज्या, पीवत मीरा हाँसी रे।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर; सहज मिले अविनासी रे।"

हिन्दी गीत सरिता जो भक्तिकाल मे भरपूर जल से लहरा रही थी, एकाएक रीतिकालीन मरुस्थल मे पड़कर सूख गई। कवित्त और सवैयो के स्वरो मे किसी प्रकार अपना अस्तित्व बनाये रही, हाँ आधुनिक काल में अनुकूल भूमि पाकर वह पूर्ववत् हरी-भरी एव लहलही हो गई। रीतिकाल मे गीतो की रचना नही हुई। यद्यपि उस काल मे परिस्थितियाँ गीतो के बहुत प्रतिकूल नही थी। रीतिवद्ध रचना की लोकप्रियता के कारण गीतिकाव्य को प्रोत्साहन न मिल सका। गीतिकाव्य स्वच्छन्द भावधारा है। रीतिवद्ध होकर वह फल-फूल नही सकता। जब तक कविता को बन्धनविहीन, मुक्त वातावरण और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि न मिली गीत काव्य को अवसर न मिल सका।

आधुनिक युग :—आधुनिक काल में रीति की प्रतिक्रिया के उदय होते ही गीतिकाव्य को स्वरूप प्राप्त हो गया। हरिश्चन्द्र युग मे नाटकों मे गीत झलकने लगे। प्रसाद के नाटको मे गीतो को विकास मिला और फिर प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, राजकुमार वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन आदि के गीतो से हिन्दी काव्य पुनः लहलहा उठा। इन गीतो से स्वरताल, शब्द वर्ण योजना, अलकरण और टेकनीक सब में आमूल परिवर्तन हुआ। आधुनिक युग में गीतिधारा

के वेगवती होने के प्रमुख कारण हैं—परम्परा त्याग और स्वच्छन्दता, अंग्रेजी गीतिकाव्य का सम्पर्क, प्रकृति प्रेम, अभाव या असन्तोष की भावना आदि। इसी समय श्रीधर पाठक ने भारत स्तवन सम्बन्धी सरस गीत लिखे। द्विवेदीयुग मे चरित्र निर्माण, राष्ट्रीयता, इतिवृत्तात्मकता विषयक सुन्दर और व्यंग्यात्मक गीतों की रचना हुई। गुप्त जी की 'भारत-भारती', 'साकेत', 'यशोधरा' आदि मे सुन्दर एव उत्तम गीत उपलब्ध होते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :—भारतेन्दु युग मे देश प्रेम के आधार पर बहुसंख्यक शुद्ध गीतिकाव्यो की रचना हुई। आधुनिक युग के गीतिकाव्य मे भारत के प्राचीन गौरव का गुणगान किया गया तथा वर्तमान दुर्दशा पर शोक प्रकट किया गया है। यह विवशता और निराशा की भावना देशगत होते हुए भी कवि की व्यक्तिगत भावना के रूप मे व्यक्त हुई। भारतेन्दु जी ने भारत के प्राचीन गौरव का गुणगान करते हुए वर्तमान स्थिति पर क्षोभ प्रकट किया :—

कहाँ परीक्षित कहँ जनमेजय कहँ विक्रम कहँ भोज।
नन्द वंश कहँ चन्द्रगुप्त कहँ हाय! कहाँ वह ओज।
काल विवश जो गए नृपति वे तो क्यो उनके बालक।
भए न उनके सम काकी अज्ञा उपजे कुल घालक।
हाँ कबहूँ वह दिन फिर ऐ हैं वह समृद्धि वह शोभा।
कै अब तरसि-तरसि मसूसि कै दिन जै है सब छोया॥"

× × ×

"आवहु रोवहु सब मिलि भारत भाई।
हा हा भारत दुर्दशा देखी न जाई॥"

देश-प्रेम की यह भावना भारतेन्दु के अतिरिक्त उनके समकालीन कवियो मे भी थी। श्री प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, बद्रीनारायण चौधरी, रामचरण गोस्वामी, श्रीधर पाठक आदि ने देश-प्रेम से ओत-प्रोत होकर सुन्दर गीतों का सृजन किया। श्री राधाचरण गोस्वामी ईश्वर से भारत के उद्धार की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

"प्रभु हो पुनि भूतल अवतरिए।
अपने या प्यारे भारत के पुनि दुख दारिद हरिए।
महा अविद्या राक्षस ने या देसहि बहुत सतायो।
साहस पुरुषारथ उद्यम धन सब ही विधि न गँवायो।
जो कोई हित की बात कहत तौ कोपै सब ही भारी।
धरम बहिरमुख मूरख नास्तिक कहि-कहि देवै गारी॥"

इन गीतो मे जागरण की पुकार है।

श्रीधर पाठक :—श्रीधर पाठक के राष्ट्रीय गीत भी महत्वपूर्ण हैं। एक उदाहरण देखिए :—

"जय जय शुभ्र हिमालय शृंगा,
कलरव निरत कलोलित गंगा।
भानुप्रताप चमत्कृत अंगा,
तेज पुंज तप वेश।
जय जय प्यारा भारत देश॥"

मैथिलीशरण गुप्त :—राष्ट्रीयता ने जो प्राचीन गौरव की भावना को प्रोत्साहन दिया, उसके कारण उस समय के गीतो में शक्ति और भावुकता का समावेश हो गया। भारत-भारती इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। भारत-भारती में भारत का प्राचीन गौरव मुखरित हो उठा—

भूलोक का गौरव प्रकृति का पुण्य लीला स्थल कहाँ ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगा जल जहाँ।
सम्पूर्ण देशो से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषि भूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है।

गुप्त जी ने 'झंकार' मे छायावादी गीतों की रचना की 'झंकार' मे रहस्यात्मक शुद्ध मुक्तक गीत के दर्शन होते हैं। देखिए :—

"तेरे घर के द्वार वहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं।
सब द्वारों पर भीड खड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं॥" (झंकार)

गुप्त जी की "साकेत" तथा "यशोधरा" मे भी गीतो के दर्शन होते हैं—यशोधरा के गीत नारी गौरव से परिपूर्ण हैं—

"सखि वे मुझ से कह कर जाते,
कह तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ? —यशोधरा

उर्मिला के विरह-गीत भी दर्शनीय हैं :—

"शिशिर, न फिर गिरि वन मे।
जितना माँगे पतझड दूँगी मै इस निज नन्दन मे,
जितना कम्पन तुझे चाहिए ले मेरे इस तन मे।" —साकेत

दिनकर—दिनकर जी ने देश प्रेम की भावना से प्रभावित होकर सुन्दर गीत लिखे। उनके गीतो मे गम्भीरता कला एव सौन्दर्य का सुन्दर योग है। दिनकर की हिमालय के प्रति लिखी गई कविता इस बात का सुन्दर उदाहरण है :—

"मेरे नगपति ! मेरे विशाल।
साकार, दिव्य गौरव विराट ! तू पूँछ अवध से राम कहाँ ?
पौरुष के पूँजीभूत काल ! वृन्दा बोलो घनश्याम कहाँ ?
मेरे जननी [illegible] ीट ! ओ मगध कहाँ मेरे अशोक !
मेरे [illegible] ल ! वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?"

आगे [illegible] जागरण का सिंहनाद करने को

"ले अंगडाई उठ हिले धरा तू मौन त्याग कर सिंहनाद।
कर निज विराट स्वर मे निनाद रेतपी! आज तपकान काल।
तू शैल राट् ! हुँकार भरे नवयुग शंख ध्वनि जगा री।
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद! तू जाग जाग मेरे विशाल।
मेरी जननी के हिम किरीट! मेरे भारत के दिव्य भाल।
नवयुग शंखध्वनि जगा रही जागो नगपति ! जागो विशाल।"

नरेन्द्र—जागरण गीतो के अन्तर्गत नरेन्द्र की "प्रभात फेरी" कविता भी आ जाती है। कवि ने "बन्दी" को भारतीय मानव का प्रतीक माना है। कवि उसे मुक्त करने के लिए कहता है :—

"आओ हथकडियाँ तड़का दूँ, जागो रे नत शिर बन्दी।
उन निर्जीव शून्य श्वासो मे, आज फूँक दूँ लो नवजीवन।
भर दूँ उन में तूफानो का, अगणित भूचालो का कम्पन।
प्रलयवाहिनी हो, स्वतन्त्र हो तेरी साँसें, बन्दी।
जागो पहचानो अपने को मानव हो समझो निज गौरव।
अन्तस्थल की आँखें खोलो देखो निज अतुलित बल वैभव।
अहंकार औस्वाधिकार दो पृथक पृथक पथ हैं, बन्दी।"

यहाँ पर कवि व्यग्र होकर ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन करना चाहता है जिससे मानव स्वतन्त्र होकर अपने अधिकार प्राप्त कर सके।

नेपाली—नेपाली ने सुन्दर गीतों मे प्रकृति के प्रति अपना आकर्षण व्यक्त किया है। वे प्रकृति के भीतर सजीवता के दर्शन करते हैं। भोर का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं :—

"हँसा कर डाल-डाल में फूल-फल मे हँसते हो सुकुमार।
उडाकर काले-काले भृंग, बसाते फलो का ससार॥
भृग का रूप तुम्हारी सूझ, फल के रग तुम्हारे खेल।
खिलाकर फूल उड़ाकर धूल, मिलाते तुम जीवन का मेल।
झुरमुटो में छिपकर चुपचाप, हिलाते तुम प्राणो के पात।
मारकर तुम किरणो के बान, खिलाते नयनो के जलजात।"

वर्तमान युग मे गीतिकाव्य का अत्यधिक प्रचलन देखकर ही सुश्री महादेवी वर्मा जी ने आधुनिक युग को "नवीन गीत प्रधान युग" कहा है। "यामा" की भूमिका मे वे लिखती हैं :—

"हिन्दी काव्य का वर्तमान युग गीत प्रधान ही कहा जायेगा। हमारा व्यस्त और व्यक्ति प्रधान जीवन हमें काव्य के अतिरिक्त किसी और अंग की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही देना नहीं चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक सांस का इतिहास लिखना चाहते हैं। अपनी प्रत्येक कम्पन

को अंकित कर लेने के लिए उत्सुक है और प्रत्येक स्वप्न का मूल पा लेने के लि विकल है।"

गीतकाव्य को आध्यात्मिक भावभूमि पुनः इस युग मे प्राप्त हुई। भाषा में मधुरता, लालित्य और सुकुमारता आ गई। प्रणय, उल्लास और वेदना के गीत प्रत्येक कवि की हृदय-तन्त्री, पर झंकृत हो उठे। आजकल के छायावाद और रहस्यवाद के गीतों मे स्थूल दृश्य की उपेक्षा की गई है। इन गीतो मे बाह्य प्रकृति का चित्रण अधिकतर अन्तःरूप से ही होता है। इसमे वस्तु को कटी-छटी सीमाओ मे न देखकर उनका वायवीकरण कर दिया जाता है। आचार्य शुक्ल जी ने रहस्यवाद को छायावाद का विषयगत पक्ष माना है। शुद्ध छायावाद में शैलीगत विशेषताओं की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। शुक्ल जी ने छायावाद का सम्बन्ध अंग्रेजी शब्द 'Phantasmata' अर्थात् छायाभास से माना है। प्रसाद जी ने इसका सम्बन्ध मोती मे रहने वाली तरलता से माना है जिसे संस्कृत की पारिभाषिक शब्दावली मे छाया कहते हैं। इस सम्बन्ध मे उनका मन दर्शनीय है :—

"मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है। वैसे ही कान्ति की तरलता अङ्ग में लावन्य कही जाती है। इस लावन्य की संस्कृत साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा लोगों ने निरुपित किया था। अन्त में वे इसका सम्बन्ध वक्रोति और ध्वनि से स्थापित कर उसको प्राचीन परम्परा के अन्तर्गत ले आते हैं।" प्रसाद जी के साथ यह मानते हुए भी कि यह प्रवृत्ति भारत के लिए नयी नहीं हमको यह मानना पड़ेगा कि यद्यपि इसका सूत्रपात स्वतन्त्र रूप से गुप्त जी और मुकुटधर पाण्डेय की कविताओं से हो गया था तथापि उसको विशेष संवल अंग्रेजी और बंगला से मिला किन्तु उसने उस संवल और सामग्री को भारतीय रूप दे दिया है।"

महादेवी वर्मा ने रहस्यवाद को छायावाद की दूसरी मजिल माना है। छायावाद तथा रहस्यवाद मे भावना का प्राधान्य होने के कारण वे गीति काव्य के लिए उपयुक्त विषय हैं। श्री महादेवी वर्मा इन रहस्यवादी गीतों के सम्बन्ध में लिखती है :—

"आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे है वह इन सब की विशेषताओं से मुक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भावसूत्र में बाँधकर एक निराले स्नेह सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका। उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।"

छायावाद तथा रहस्यवाद की स्निग्ध गोद मे अनेक गीतों की सृष्टि हुई इन गीतो का वर्गीकरण हम इस प्रकार कर सकते हैं :—

१. प्रकृति सम्बन्धी गीत—छायावाद ने प्रकृति को अभिनव रूप प्रदान किया । उसमे मानवी शृंगार और हर्ष, विषाद, प्रेम, करुणा आदि मानवी भावो की सुन्दर व्यंजना मिलती है तथा उनसे प्रेरित अश्रु, पुलक, हास, नर्तन आदि अनुभवों का आरोप किया है। इनमे कुछ प्राकृतिक रहस्यवाद के गीतो का भी समावेश है।

२. जीवन मीमांसा सम्बन्धी गीत—छायावाद तथा रहस्यवाद मे भावुकता का आधिक्य होने पर भी बुद्धितत्व का प्रभाव है। इन गीतों में जीवन के आदर्शों तथा सुख-दुःख, आशा-निराशा के भावों की व्यंजना मिलती है।

३ आध्यात्मिक विरह मिलन के गीत—आध्यात्मिक विरह मिलन के गीत रहस्यवाद की मुख्य विशेषता है। इन गीतो मे भगवान के साथ मिलन के सुख तथा विरह की वेदना के दर्शन होते हैं। इनमे विरह गीतो की प्रधानता है।

४. गांधीवाद से प्रभावित राष्ट्रीय गीत—इनमें राष्ट्रीय गीतो का वाहुल्य है। इन राष्ट्रीय गीतो में उच्च आदर्शों तथा उदात्त भावनाओ के दर्शन होते हैं। इन गीतो पर गाँधीवाद का पूर्ण प्रभाव है। इन गीतों मे करुणा की अजस्त्र धारा मिलती है।

५. लौकिक प्रेम गीत :—छायावाद ने प्रेम तथा शृंगार का परिमार्जित रूप प्रस्तुत किया है। उन्होने प्रेम के मानसिक पक्ष की अधिक विवेचना की है। इन सौन्दर्यपूर्ण गीतों में स्थूलता की अपेक्षा वायवी दिव्यता के अधिक दर्शन होते हैं। छायावादी प्रेम गीतो की पार्श्वभूमि में चाहे लौकिकता हो किन्तु उनमे हमें भव्यता तथा दिव्यता का आभास मिलता है।

जयशंकर प्रसाद :—छायावाद के प्रवर्त्तक श्री जयशंकर प्रसाद जी ने गीतों के नवीन रूप उपस्थित कर काव्य क्षेत्र में क्रान्ति कर दी। पन्त की भाँति प्रसाद में शव्द साधना का आग्रह अधिक है। प्रसाद के गीतो मे भावुकता और भावात्मकता प्रारम्भ से ही विद्यमान है। प्रसाद जी के गीतो का मुख्य विषय है—प्रेम ! गीति-काव्य मे वेदना का वीज वपन करने का क्षेत्र प्रसाद जी को ही है। प्रसाद जी ने अपने गीतो में प्रकृति की माधुरी के दर्शन कराये हैं। प्रसाद जी ने उषानागरी और लतिका का मानवीकरण करके उन्हे जल भरती हुई नायिका के रूप मे देखा है—

"बीती विभावरी जाग री !
अम्वर पनघट में डुबो रहीं
ताराघट ऊषा नागरी
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा
किसलय का अचल डोल रहा
लो यह लतिका भर लाई
मघु मुकुल नवल रस गागरी।"

प्रसाद जी ने आध्यात्मिक विरह मिलन के गीत भी गाये हैं। प्रसाद जी के

निम्नलिखित गीत मे मिलन की प्रसन्नता के दर्शन होते हैं। देखिए—

"मिल गये जीवन हमारे मिल गये
यह अलस जीवन सफल अब हो गया
कौन कहता है जगत है दुःखमय
यह सरस संसार सुख का सिंधु है।"

प्रसाद जी के राष्ट्रीय गीतों में एक विशेष कोमलता तथा शालीनता है। इनमें देश के प्रति गौरव की भावना मिलती है। "चन्द्रगुप्त नाटक" में यूनानी सेनापति की पुत्री कोर्नीलिया का निम्नलिखित गीत छायावाद की राष्ट्रीय प्रवृत्ति का परिचायक है—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर-नाच रही तरु शिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर—मंगल कुङ्कुम सारा।
लघु सुर धनु से पंख पसारे—शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग, जिस ओर मुंह किये—समझ नीड निज प्यारा
बरसाती आँखों के बादल—बनते जहाँ भरे करुणा जल,
लहरें टकराती अनन्त की—पा कर जहाँ किनारा।

इस गीत में देश की शान्ति तथा विश्रामदायिनी शक्ति का स्तवन किया गया है।

इसी प्रकार प्रसाद जी के निम्नलिखित अभियान गीत में जातीय गर्व, ओज और शालीनता के दर्शन होते हैं तथा स्वयं स्वतन्त्रता शैल शृंग से पुकारती हुई दृष्टिगोचर होती है।—

"हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढे चलो बढे चलो॥"

"प्रसाद जी के नाटकीय गीत यद्यपि एक विशेष सन्दर्भ में बंधे हुए है और इस कारण वैयक्तिक भी हैं तथापि वे ऐसे हैं कि उनकी ताल-लय पर प्रत्येक प्रेमी हृदय स्पन्दित होने लगता है।"

स्कन्दगुप्त की देवसेना की निराशा और करुणा गीत में प्रकाशित होती है। देवसेना को शान्ति निराशा में मिलाती है—

आह! वेदना मिली विदाई।
मैंने भ्रमवश जीवन संचित
मधुकरियों की भीख लुटाई।

× × ×

चढ़कर अपने जीवन रथ पर,
प्रलय चल रहता अपने पथ पर।
मैंने निज दुर्बल पद बल पर, उससे हारी होड़ लगाई
लौटा लो अपनी यह थाती
मेरी करुणा हा–हा खाती
विश्व ! न संभलेगी यह मुझ से, इसने मन की लाज गँवाई।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद के गीत अत्यन्त सुन्दर, स्निग्ध तथा भावुकता से पूर्ण हैं। भाव सौन्दर्य, शब्द योजना और माधुर्य में उनके गीत बेजोड़ हैं। वे हृदय के अन्यतम भागों को स्पर्श करते हैं और मन हठात् मुग्ध हो जाता है। उनके गीतों में—संगीत की प्रधानता, भावों की एकता, अनुभूति की गहराई, सुव्यवस्थित रूप, अत्यन्त मूर्तिमत्ता आदि सभी तत्व उपलब्ध होते हैं। प्रसाद के गीत मानव हृदय की रह रह कर उठती हुई प्रकृत भावनाओं के स्वाभाविक चित्र हैं जिनमें कभी सुख है, कभी दुःख है, कभी आशा है कभी निराशा। वे अन्तःकरण के उच्छ्वास हैं और युग की प्रतिध्वनि के साकार चित्र। प्रसाद के गीतों में जहाँ निराशा का घनघोर अँधेरा है वहाँ प्रकाश की उज्जवल रेखा आशा भी। यही आशा उनके गीतों का महान् सन्देश है। भक्तिकाल के गीतों में भक्तिभावना से आत्मा को परम प्रकाश और पारलौकिक शान्ति मिली, किन्तु प्रसाद जी के गीतों में विकल जीवन को आशा का सन्तोष और आनन्द का दिव्य सन्देश मिलता है। मनुष्य के लिए निराशा एक अभिशाप है और आशा दिव्य प्रोत्साहन। इसी के सहारे मानव जीवित है और उसका विश्व भी। आधुनिक युग में इस सजगता का श्रेय प्रसाद जी को ही है और वह भी उनके दुर्दिन में बरसे "आंसू" में। वैभवशाली अतीत की स्मृति में कवि व्यथित हो उठता है। निराशा उसे विभ्रान्त कर देती है। तब अनन्त की चाह में विरह वेदना से पीडित होकर वह रो रोकर अपनी करुण कहानी सुनाने लगता है—

रो रोकर, सिसक सिसक कर
कहता मैं करुण–कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजाती।"

आंसू कवि के अन्तर्जगत का पूर्ण चित्र है अपने विरह की अत्यन्त तीव्र वेदना में कवि विश्व के कण-कण में व्याप्त परम ज्योति के दर्शन कर लेता है। आंसू का एक-एक पद अनुपम है। काव्य सौन्दर्य का सागर है, भाव जगत का चित्रण है और संगीत की सरल माधुरी है। भावों को विरह में जो मृदुलता मिली है वह सुकुमार भाषा पाकर और भी मधुर हो गई है। आधुनिक गीति काव्य में "आंसू" सर्वश्रेष्ठ गीतिकाव्य है।

लहर प्रसाद जी के स्फुट गीतों का संग्रह है जिसमें मुक्त छन्द की कुछ

ऐतिहासिक सुन्दर कविताएँ भी हैं। गीतिकाव्य की दृष्टि से लहर भी आँसू के समकक्ष है।

कामायनी के कुछ गीत मार्मिकता तथा मधुर व्यंजना के द्योतक हैं—

चिर विषाद विलीन मन की
इस व्यथा के तिमिर वन की
मैं उषा सी ज्योति रेखा

कुसुम विकसित प्रात रे मन।"

अतएव प्रसाद में जहाँ आत्माभिव्यक्ति है, भाव व्यंजना है वहाँ संवेदना भी है। गीतों में कल्पना, भावना और अनुभूति का अनुपम मिश्रण है। प्रसाद जी आधुनिक गीतिकाव्य में सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं। श्री रामनाथ सुमन के शब्दों में—"इस कवि में जो मस्ती है, भावना एवं अनुभूति की जो मृदुता है और मानव जीवन के उत्कर्ष का जो गौरव है उसे देखते हुए उसकी प्रतिभा गीतिकाव्य की रचना के अत्यन्त उपयुक्त थी। + + + + गीतिकाव्य के लिए कवि में सौन्दर्यवृत्ति होनी चाहिए, वह कवि प्रसाद के जीवन में ओतप्रोत थी। इस प्रकार के काव्य के लिए स्वानुभूति दूसरा अनिवार्य गुण है जिसकी मात्रा प्रसाद में पर्याप्त है।"

निराला :—महाकवि निराला ने तो गीतों के स्वर सामंजस्य मे महान क्रान्ति उपस्थित की है। निराला के गीत शक्तिशाली प्रपातों के सदृश हैं। उनकी "गीतिका" के गीत अर्थ, जटिलता और सामासिक पदावली से इतने गूढ हो गए हैं कि वे सरल गीतो की कोटि में नही रखे जा सकते। निराला के गीतो मे सगीत का अक्षुण्ण प्रवाह मिलता है। निम्नलिखित पंक्तियाँ उनकी अभिनव स्वर लहरी की परिचायक हैं। इसमें सन्ध्या सुन्दरी का शान्त, स्तब्ध तथा स्वर्णिम आभामय चित्र चित्रित किया गया है—

"दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या सुन्दरी परी सी
धीरे-धीरे-धीरे !
तिमिराँचल मे चंचलता का नही कही आभास
मधुर मधुर हैं दोनो उसके अधर—
किन्तु जरा गम्भीर—नही है उनमे हास-विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुघराले काले-काले वालों से
हृदय राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।

इस कविता मे छायावाद की अस्पष्ट, धूमिल, अन्तरिक्ष मे मिल जाने वाली छाया के दर्शन होते हैं। यह कविता हमारे समक्ष एक चित्र सा उपस्थित कर देती है। निराला जी ने अपनी कला के सम्बन्ध में लिखा है कि उन्होने ब्रजभाषा की स,

ं, ल वाली प्रकृति को अपनाया है। किन्तु निराला जी "म" का निर्वाह सत्र ह नही कर पाये हैं। निराला जी के प्रकृति सम्बन्धी गीतों में रूपक तिरोहित इता है। प्राकृतिक दृश्यो में नायिका का रूप उभर आता है--

"सखी वसन्त आया।
भरा हर्ष वन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।

× × ×

आवृत सरसी-उर सरसिज उठ,
केशर के केश कली के छूटे,
स्वर्ण शस्त्र-अचल
पृथ्वी का लहराया।

इस गीत में "श" और "व" के होने पर भी अनुप्रास के कारण मधुरता आ गई है। इसमे लतिका और सरसी दोनों में नारी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है।

आध्यात्मिक गीत भी निराला की रचना में मिलते हैं। निराला जी अब इस इस संसार में रहना नहीं चाहते—

"हमें जाना है जग के पार
जहाँ नयनो से नवन खिले
ज्योति के रूप सहस्र खिले
सदा ही बहती नवरस धार—
वही जाना इस जग के पार।"

निराला जी अपने अस्तित्व को उसमे मिला कर समाप्त करना चाहते हैं:-

"एक दिन थम जायगा, रोदन तुम्हारे प्रेम अंचल में।"

महादेवी वर्मा :—गीतिकाव्य के क्षेत्र मे जिस वेदना के वीज का वपन प्रसाद जी ने किया, महादेवी जी ने उसे पूर्ण रूप से पल्लवित कर चरम सीमा पर पहुँचा दिया। उनके गीतो में वह भावुकता विद्यमान है, जो पाठक या श्रोता को तन्मय कर देती है। गीतिकाव्य के क्षेत्र मे महादेवी जी साक्षात् वीणावादिनी सरस्वती के सदृश अवतीर्ण हुईं। उन्होने अपने गीतो मे स्वर माधुर्य का अनन्त स्रोत प्रवाहित किया है। उनके गीतो में करुणा की धारा आदि से अन्त तक प्रवाहित है। प्रत्येक शब्द वेदना मे भीगा हुआ कवियत्री के वैराग्य का स्मरण कराता है—

"नही गाया जाता अब देव
थकी अगुली, ढीले हैं तार
विश्व वीणा मे अपनी आज
मिला दो मेरी भी झंकार॥"

महादेवी जी के गीत आत्मनिवेदन मात्र हैं। "माया" की भूमिका में उन्होंने

स्वयं स्वीकार किया है—"मेरे गीत आत्मनिवेदन मात्र हैं। अनेक विषय में कह सकना मेरे लिए उपयुक्त नहीं। उन्हें मैं अपनी अकिंचन भेंट के अतिरिक्त [illegible] नहीं मानती।"

महादेवी जी ने प्रकृति का मानवीकरण कर सुन्दर छायावादी गीतो [illegible] सृजन किया है। उनका "आ बसन्त रजनी" वाला गीत इसका सुन्दर उदाहरण है—

"धीरे धीरे उतर क्षितिज से आ बसन्त रजनी !
तारकमय नव वेणी बन्धन,
शीश-फूल कर शशी का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन अवगुंठन,
मुक्तादल अविराम बिछा दे चितवन से अपनी !
पुलकित आ बसन्त-रजनी।"

महादेवी ने विराट भावना से प्रेरित होकर भी प्रकृति सम्बन्धी गीत लिखे हैं। उन्होने अपने निम्नलिखित गीत मे परमात्मा को प्रकृति नारी के रूप मे देखा है और उसका शृंगार प्राकृतिक विभूतियो से किया है। इसमे रहस्यवाद की प्रधानता है। देखिए—

"लय गीत मदिर गति ताल अमर
अप्सरि तेरा नर्त्तन सुन्दर !
आलोक तिमिर सित-असित चीर
सागर गर्जन रुनझुन मंजीर
उड़ता झंझा मे अलक-जाल,
मेघो मे मुखरित किंकिण स्वर !
रवि शशि तेरे अवतंस लोल,
सीमन्त जटित तारक अमोल।
चपला विभ्रम, स्मित इन्द्र-धनुष,
हिमकण बन झरते स्वेद-निकर।
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर ॥"

महादेवी ने प्रकृति के कण-कण मे दैवी सत्ता के दर्शन किये हैं। प्रकृति में आध्यात्मिक सत्ता की झलक मिलने पर ही उसमें मानवी भावो का आरोप हो सकता है। श्री महादेवी वर्मा "सान्ध्य गीत" की भूमिका मे इस आध्यात्मिक आधार के सम्बन्ध मे लिखती हैं :—

"प्रकृति के लघुतृण और महान वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलायें अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़ अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत रेखा, मानव की लघुता-विशालता, ... और मोह ज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विकार से उत्पन्न सहोदर हैं। जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में, कवि ने ऐसे तारतम्य को खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर असीम

और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक-एक एक अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा।"

महादेवी वर्मा के गीतो में पीड़ा की कसक है। उनका जीवन तो "विरह का लजात" है जहाँ आँसुओं का अखड राज्य है—

"विरह का जलजात जीवन विरह
वेदना मे जन्म, करुणा में मिला आवास
अश्रु चुनता दिवस इसके अश्रु गिनती रात
जीवन विरह जलजात।"

पीड़ा और निराशा के ससार मे ही महादेवी की साधना जगती है, सोती है.—

"विश्व होगा पीडा का राज निराशा जब होगी वरदान,
साथ लेकर मुरझाई साध बिखर जायेग प्यासे प्राण।"

महादेवी को पीडा इतनी प्रिय है कि अज्ञात से निवेदन करती है कि तुम मुझसे मिलना मत, नही तो मेरे विरह का संसार ही अपनी सम्पूर्ण पीडा सहित समाप्त हो जायेगा।

द्रुत पखो वाले नभ को तुम अतहीन नभ होना।
युग उड़ जाये उड़ते ही परिचित हो एक न कोना॥
तुम अमर प्रतीक्षा हो मै पग विरह पथिक का धीमा।
आते जाते मिट जाऊँ पाऊँ न पथ की सीमा।
तुम हो प्रभात की चितवन मै विधुर निशा बन जाऊँ।
काटूँ वियोग पल रोते सयोग समय छिप जाऊँ।

उस अज्ञात से अपना सम्बन्ध बताती हुई महादेवी जी लिखती है—

जन्म ही जिसको हुआ वियोग।
तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्‌वास॥
चुरा लाया जो विश्व समीर।
वही पीड़ा की पहली साँस॥"

वे उस अज्ञात से मेल करने के लिये चिन्तित है—

"अलि कैसे उनको पाऊँ,
वे आँसू बनकर मेरे इस कारण ढुल-ढुल जाते।
इन पलको के बन्धन मे मै बाँध-बाँध पछताऊँ॥

महादेवी का निम्नलिखित गीत बहुत प्रसिद्ध है—

"बीन भी हूँ मै तुम्हारी रागिनी भी हूँ,
नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण-कण में।

प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में,
प्रलय मे मेरा पता पद चिन्ह जीवन मे,
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन मे,
कूल भी हूँ कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ ।"

महादेवी के गीतों मे दुःख की प्रधानता है। वे स्वयं लिखती है—"... मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो समग्र संसार को एक सूत्र मे बाँध रखने क्षमता रखता है।" आँसुओं से गीली कुछ पक्तियाँ देखिये:—

"घुल गई इन आँसुओं में देव जाने कौन हाला।
झूमता है विश्व पी-पी घूमती नक्षत्र माला।"

महादेवी ने पीड़ा को वरदान के रूप मे ग्रहण किया है—

"चिर ध्येय यही जलने का ठंडी विभूति बन जाना।
है पीड़ा की सीमा यह दुःख का चिर सुख हो जाना।"

सुमित्रानन्दन पन्त :—पन्त जी ने ग्रामीण तथा मूक जनता को अपने गीतों का मुख्य विषय बनाया है। उनके गीतो में भावना और कल्पना का मिश्रण प्रकृति की पृष्ठभूमि पर हुआ है। ऐसे चित्र हिन्दी काव्य के लिये गौरव की वस्तु हैं। पन्त जी तो प्रकृति के कवि हैं। उन्होने ज्योत्स्ना मे अनेक प्रकृति सम्बन्धी गीतो की रचना की है। पन्त जी ने प्रकृति से तादात्म्य स्थापित किया है जिससे वे प्रकृति से आदान-प्रदान करते प्रतीत होते हैं—

बिजन वन मे तुमने सुकुमारि, कहाँ पाया यह मेरा गान,
मुझे लौटा दो विहग कुमारि, सजल मेरा सोने सा गान।

पन्त जी ने प्राकृतिक दृश्यो द्वारा निराकार-साकार की दार्शनिक गुत्थियो का समाधान करने का प्रयत्न किया है। देखिये:—

"प्रथम रश्मि का आना रंगिणि ! तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बालविहंगिन। पाया तूने यह गाना ?
निराकार तम मानो सहसा ज्योति पुंज मे हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत जाल मे धर कर रूप नाना।
खुले पलक फैली सुवर्ण छवि, जगी सुरभि, डोले मधुवाल।
स्पन्दन, कम्पन औ" नव जीवन सीखा जग ने अपनाना।"

इसमे प्रभात होते ही जितने दैनिक कार्य प्रारम्भ हो जाते हैं उसका एक साथ प्रस्फुटन सा हो जाता है। तथा हृदय में एक नवीन जागृति तथा आनन्द की प्रतिध्वनि होने लगती है।

पन्त जी के "ज्योत्सना" नामक नाटक मे भी सुन्दर गीत उपलब्ध होते हैं। निम्नलिखित गीत मे लहरों की आत्मकथा वर्णित है, जो मनुष्य के जीवन-मरण तथा पुनर्जन्म से समानता रखती है। ऐसा साम्य विश्व मे एक सूत्रता का भाव स्थापित

...कता है—

"अपने ही सुख से चिर चंचल,
हम खिल खिल पड़ती हैं प्रतिपल।
चिर जन्म मरण को हँस-हँस कर,
हम आलिंगन करती पल–पल,
फिर-फिर असीम से उठ-उठकर,
फिर-फिर असीम से हो ओझल।'

पन्त जी भावुक होने के साथ-साथ दार्शनिक भी है। उन्होने सुख दुःख का सन्तुलन करने का प्रयास किया है—

जग पीडित है अति दुख से,
जग पीडित रे अति सुख से,
मानव जग मे बंट जावे,
दुःख सुख से, औ सुख दुख से।"

पन्त जी ने बन्धन मे ही मुक्ति मानी है—

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्ववेदना मे तप प्रतिपल,
जगजीवन की ज्वाला मे गल,
बन अकलुष, उज्जवल औ कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन।
तेरी मधुर मुक्ति हो बन्धन,
गन्धहीन तू गन्ध युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप मन।
मूर्तिमान बन, निर्धन।
जल रे जल निष्ठुर मन !

पन्त जी की जीवन के प्रति भी आस्था है। वह उससे पृथक होना नही ...ाहते—

अस्थिर है जग का सुख-दुःख,
जीवन ही नित्य चिरन्तन,
सुख-दुख से ऊपर मन,
जीवन ही रे अवलम्बन॥"

पन्त जी ने भावी पत्नी के प्रति जो गीत लिखे हैं उनमे कल्पना का सुखद-...श्रण है। इसमे वासना की अपेक्षा कल्पना की सौन्दर्योपासना, कोमलता तथा ...जीवता के दर्शन अधिक होते हैं—

"प्रिये प्राणों की प्राण ।
न जाने किस गृह में अनजान,
छिपी हो तुम, स्वर्गीय विधान ।
नवल कलिकाओं की सी वाण,
बाल रति सी अनुपम, असमान—
न जाने कौन, कहाँ अनजान,
प्रिये प्राणों की प्राण !

उपरोक्त चित्र में कवि ऐन्द्रिकता की अपेक्षा सौन्दर्य से अधिक प्रभावित है। यह सौदर्य दूसरों को गतिशील बनाने वाला है। निम्नलिखित गीत में प्रकृति तथा नव मानव का अदान प्रदान है :—

"चूम लघु पद चंचलता प्राण !
फूटते होंगे नवजल स्रोत,
मुकुल बनती होगी मुस्कान,
प्रिये, प्राणो की प्राण।"

इसमें प्रकृति को मानव का अनुगामी बनाकर प्रतीप अलंकार लाया गया है। पन्त जी के गीत कुछ ऐसे हैं जिनमें वासना की अधीरता है :—

"आज रहने दो यह गृह काज;
प्राण रहने दो यह गृह काज !
आज जाने कैसी वातास,
छोड़ती सौरभ-श्लथ उच्छ्वास,
प्रिये लालस-सालस वातास,
जगा रोओ मे सौ अभिलाष।"

पन्त जी के सभी गीतो मे हमे उनकी लजीली प्रकृति, सौदर्य, प्रेम तथा गम्भीर उल्लास के दर्शन होते हैं।

गीतिकाव्य का उद्गम अन्तर ज्वाला से है। यह ज्वाला Wordsworth मे शान्त और गम्भीर, बायरन मे तीव्र तथा शैली मे विस्फोट के रूप मे हैं। परन्तु पन्त का अन्तर्दहन शान्त है।

"मूक पलको मे प्रिया के ध्यान को, थाम ले अब हृदय इस आह्वान को।"

लयात्मक अनुभूति पन्त का अपना क्षेत्र है। उनकी अनुभूति मानो मूलतः ही लय संयुक्त है। उनके काव्य की अनुपम शब्द-मैत्री, भाव सामंजस्य एवं अजस्त्र स्वर धारा इसी लयात्मक अनुभूति की ओर 'सकेत' करती है। संक्षिप्तता की दृष्टि से वह और भी अधिक सफल हैं। सारांश यह है कि पन्त जी एक सफल गीति कवि हैं क्योकि उनमें गीतिकाव्य के सभी आवश्यक तत्वो का समावेश है। यदि कही पर रस का अभाव है, अथवा मन को तन्मय करने वाली शक्ति की कमी है, तो उसका

ण के कारण उनकी अनुभूति की कमी 'चिन्तन प्रधानता' तथा बौद्धिकता है। इसकी कटु आलोचना पन्त के सभी आलोचकों ने की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीतिकाव्य में प्राय: सभी गीतिकारों ने माधुर्य भावना का निर्वाह किया है। गीतिकाव्य का विषय शृंगार, शान्त, करुण, वात्सल्य आदि रसों में प्रस्फुटित हुआ है।

प्रगतिवाद :—जीवन की समस्याओं से संघर्ष करना एवं नूतनता की कल्पना ही प्रगतिवाद है। यदि छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है, तो प्रगतिवाद सूक्ष्म के प्रति स्थूल का विद्रोह छायावाद जहाँ वस्तु को उसकी कटी छटी सीमा में न देखकर उसको भाव की स्वर्णिम आभा से विभूषित करता था वहाँ प्रगतिवाद उसे नग्न रूप में देखना चाहता है। संक्षेप में छायावाद के वायवीपन और सूक्ष्मता की स्थूल भौतिकवाद में, पलायन वृत्ति की संघर्ष और क्रान्ति में, कल्पनात्मकता की यथार्थवाद में, अत्यधिक कलात्मकता की अत्यधिक सरलता में निराश और दुःखवाद की आशा और उत्साह में प्रतिक्रिया ही प्रगतिवाद की विशेषताएँ हैं।

संक्षेप में प्रगतिवादी गीतों के मुख्य विषय हैं—किसान, मजदूर, ग्रामीणों से सहानुभूति तथा पूँजीवादियों तथा शोषकों के प्रति घृणा। २—राजनीतिक सिद्धान्त विशेष का पद्यानुवाद। ३—रूस तथा लाल सेना का यशोगान। ४—उद्बोधन गीत। ५—प्रेम गीत। (६) देश की तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति जागरूकता।

किसान मजदूर :—प्रगतिवादी कवियों ने शोषक वर्ग के अत्याचारों, चूसे गये किसानों और श्रमिकों की मानसिक दशा का चित्रण बड़ी सफलता के साथ किया है। पंडित ज्ञानी, दानी आदि जिन लोगों को पिछली संस्कृति में मान दिया जाता था, वे सब प्रतारक और प्रवंचक हैं। जीवन की वास्तविकताओं का चित्रण करने के कारण प्रगतिवाद यथार्थवाद की ओर झुका हुआ है। इसलिए वह वीभत्सता तथा कुरूपता में भी सौंदर्य देखता है। ग्रामीणों की दीन दशा को चित्रित करने वाली श्री भगवती चरण वर्मा की "भैंसा गाड़ी" शीर्षक कविता काफ़ी प्रसिद्धि पा चुकी है :—

> "उस ओर क्षितिज के आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर।
> भू की छाती पर घोड़े से, हैं उठे हुए कच्चे घर।
> मैं कहता हूँ खण्डर, उसको, पर वे कहते हैं उसे ग्राम।
> जिसमें भर देती निज धुँधलापन, असफलता की सुखद शाम।
> पशु बन कर नर पिस रहे जहाँ, नारियाँ जन रही हैं गुलाम।
> पागल होना फिर मर जाना यह है उन लोगों का एक काम।"

दिनकर जी ने भव्य भवनों के वैभव की तुलना में भारत की दरिद्रता का बड़ा हृदय द्रावक चित्र चित्रित किया है—

> "श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
> माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़ों की रात बिताते हैं,

युवती की लज्जा वसन बेच, जब ब्याज चुकाने जाते हैं,
मालिक जब तेल फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं।
पापी मटलों का अहकार, देता मुझको तब आमन्त्रण।"

"अंचल" जी के करील में इसी प्रकार के चित्र देखने को मिलते हैं। करा सामाजिक शोषण का प्रतीक है।

पं० उदयशंकर भट्ट ने मजदरो की दशा का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। उनकी अन्तिम पँक्तियाँ वड़ी करुणा पूर्ण हैं :—

"मेरी बरसाते आँसू रे, मेरा बसन्त पीला शरीर,
गरमी झरनो सा स्वेद, मेरे साथी दुःख दर्द पीर,
दिन उनको मुझको रात मिली, श्रम मुझे, उन्हे आराम मिला,
वलि दे देने को प्राण मिले, हन्टर को सूखा चाम मिला।"

किसानो तथा मजदूरो की हृदयद्रावक दशा को देखकर कवि को क्षोभ मिश्रित आश्चर्य होता है कि ऐसी विषम परिस्थितियो मे वह समाज में जीवित कैसे है। अतः वह ऐसे समाज को नष्ट भ्रष्ट कर देना चाहते हैं। "अंचल" जी कहते हैं —

"हो यह समाज चिथड़े-चिथड़े, शोषण पर जिसकी नीव पड़ी।"

इतना ही नहीं वह परमात्मा जिसने उत्पीड़ित मानवता की रक्षा नही की, क्षुधातरो की भूख नही मिटाई, अत्याचारी शोषको का सहार नही किया—उसका नाश कर देना चाहता है।

राजनीतिक सिद्धान्त विशेष का पद्यानुवाद :—समाज मे सामन्तशाही, पूँजीवाद फासिज्म और साम्राज्यवाद की शक्तियाँ हैं, उनके समूल नाश करने मे ही प्रगतिवाद समाज का कल्याण समझता है। प्रगतिवाद वर्ग संघर्ष द्वारा वर्गहीन समाज स्थापित करने के पक्ष मे हैं। युगवाणी मे पन्त जी ने उस समाज का आदर्श इस प्रकार बतलाया है :—

"रूढ़ रीतियाँ नही, हम हों आराधित
श्रेणी वर्ग में मानव नहीं विभाजित
धन बल से हो जहाँ न जन श्रम शोषण
पूरित नव जीवन में निखिल प्रयोजन।"

× × ×

"संस्कृत वाणी, भाव, कर्म, संस्कृत मन,
सुन्दर हों, जन वास, वसन, सुन्दर तन,
ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित,
नव मानव संस्कृति किरणों से ज्योतित।"

प्रगतिवाद व्यक्ति की प्रेम पीडा को सुनकर समष्टि का क्षुधा पिपासा प्रेरित सुनने को उत्सुक रहता है। इसलिए दिनकर जी कहते हैं कि अब उनकी ा न तो नीलकुँज मे स्वप्न खोजेगी और न चन्द्रकिरणों से चित्र बनायेगी।

"आज न उडके नील कुँज मे स्वप्न खोजने जाऊँगी।
आज चमेली मे न चन्द्र किरणो से चित्र बनाऊँगी॥"

रूस और लाल सेना का यशोगान—प्रगतिवाद दर्शन और धार्मिक विश्वासों मे मार्क्सवाद के भौतिकवाद पर आधारित है। राजनीतिक आदर्श भी उसने सोवियत रूस से ग्रहण किये हैं। कविताओ मे भी रूस का गुणगान करने में उनका मन अधिक रमा है। इस विषय मे "सुमन जी" का एक गीत देखिए—

युगो की सड़ी रूढियो को कुचलती,
जहर की लहर सी मचलती,
अन्धेरी निशा मे मसालो सी जलती,
चली जा रही है लाल सेना।
समाजी विषमता की नीवें मिटाती,
गरीबो की दुनियाँ मे जीवन जगाती,
अमीरो की सोने की लंका जलाती,
चली जा रही है बढी लाल सेना।

इन गीतों मे गीत माधुर्य तो पर्याप्त है, परन्तु इन गीतों से जनता का हृदय स्पन्दित नही होता क्योकि सब मनुष्य प्रगतिवादियो के साथ एक स्वर मे रूस को ही ससार की स्वतन्त्रता का प्रतीक नही मान सकते—

"लाल रूस है ढाल साथियो, सब मजदूर किसानो का
लाल रूस का दुश्मन साथी, दुश्मन सब इन्सानो का
दुश्मन है सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानो का
वह राज है पंचायत का, वहाँ नही है बेकारी॥"

प्रगतिवाद सौंदर्य, बोध, मधु, पराग, सुमनो, आयु मंजरियो और अलि वालाओ मे नही देखता, अपितु साधारण वस्तुओ में देखता है। वह दीन और अल्प को ही महान मानता है।

"पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके, कंकर पत्थर,
कूडा करकट सब कुछ भू पर, लगता सार्थक सुन्दर।"

उद्बोधन गीत—प्रगतिवादी कवियो की अभिव्यक्ति का माध्यम सरल तथा सुबोध है। यही कारण है कि उनकी वाणी सर्व साधारण तक पहुँचने मे समर्थ है। प्रगतिवाद ने हिन्दी को उर्दू के बहुत निकट लाने का प्रयत्न किया है, परन्तु संस्कार-वश प्रगतिवाद कवि सस्कृति गर्भित हिन्दी मे कविता करते रहे हैं। उनके उद्बोधन

गीतो मे सरलता, प्रवाह और पूरी ज्ञेयता विद्यमान है जिसमे ओजस्वी वलियाँ गुफित हैं। "नरेन्द्र जी" का निम्नलिखित गीत देखिए:—

"हाथ हथौड़ा लिए हुए सम्मुख आ सकता है कौन
लोहे की दीवार हमारी, हमें हिला सकता है कौन
सुनो ! साथियो ! अमरीका के शहर शिकागो की है बात
ओलों सी गोलियाँ चली थी, हुई खून की सी बरसात
फिर आवाज बुलन्द करो सब ही "इन्कलाब जिन्दाबाद।"

इन गीतों की सामयिक आवश्यकता तो है, परन्तु यह काव्य की स्थायी सम्पत्ति नही हो सकती।

प्रेमगीत—प्रगतिवाद सिद्धान्त रूढ़ियों का घोर शत्रु है और उसमें उन्मुक्त प्रेम को अधिक प्रश्रय दिया गया है। नवीन, नरेन्द्र, तथा अंचल के प्रेम गीतों में रूढियो के प्रति विद्रोह का स्वर स्पष्ट ध्वनित हो रहा है। निम्नलिखित गीत में वासना की गन्ध पर्याप्त है किन्तु उसकी लौकिकता मानसिक सीमा का स्पर्श करती हुई प्रतीत होती है।

"ठहर जाओ घड़ी भर और तुमको देखलें आँखें।
अभी कुछ देर मेरे कान में गूँजे तुम्हारा स्वर।
बहे प्रति रोम से मेरे सरस उल्लास का निर्झर।
बुझा दिल का दिया शायद किरण सा खिले उठे जलकर।
ठहर जाओ घड़ी भर और तुमको देखलें आँखें।"

पन्त जी ने नारी को जो युग-युग की रूढियों की शृंखलाओं में जकड़ी हुई है, तथा जिसे समाज ने अपनी वासना पूर्ति का एकमात्र साधन माना है मुक्त करना चाहते हैं।

"क्षुधा काम वश गत युग ने
पशु बल से कर जन शासित
जीवन के उपकरण सदृश
नारी भी कर ली अधिकृत।

× × × ×

अब—

"मुक्त करो नारी को मानव,
चिरवन्दिनी नारी को
युग युग की बर्बर कारा से
जननी सखि प्यारी को।"

× × × ×

"मुक्ति करो जीवन संगिनी को
जननी देवी को आहत
जग जीवन में मानव के सग
हो मानवी प्रतिष्ठित ।"

हिन्दू मुसलिम ऐक्य की भावना—प्रगतिवाद ने राजनीति में भाग लेकर हिन्दू-मुसलिम ऐक्य की ओर यथाशक्ति प्रयत्न किया है। प्रगतिवाद धर्म से उदासीन है। अतः वह दोनो धर्मों मे समता देखने की अधिक क्षमता रखता है। "नरेन्द्र जी" की निम्नलिखित कविता में मानवता के पूर्ण दर्शन होते हैं:—

"मैं हिन्दू हूँ तुम मुसलमान,
पर क्या दोनो इन्सान नही।
मैं तुम्हे समझता रहा मलेच्छ,
तुम मुझे वणिक और दहकानी।
सदियो हम दोनो साथ रहे,
यह बात न अब तक पहचानी।
दोनो ही धरती के जाये,
हम अनचाहे मेहमान नहीं।
मैं हिन्दू हूँ तुम मुसलमान
पर क्या दोनो इन्सान नही ?

हैं अलग-अलग हम दोनो के
व्यवहार मान जीवन दर्शन,
सास्कृतिक स्रोत दोनो के दो
करने दो भावो का सिंचन,
पर दो होकर भी मिल न सके,
तो दोनो का कल्याण नही।
मैं हिन्दू हूँ, तुम मुसलमान,
पर क्या दोनों इन्सान नही ?

देश की तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति जागरूकता—तत्कालीन समस्याओ के प्रति जागरूकता प्रगतिवादियों की सबसे बड़ी विशेपता है। गत महायुद्ध, मंहगाई बंगाल का अकाल, हिन्दू मुसलिम समस्या सभी विषयो पर प्रगतिवादियो ने अपनी लेखनी परिचालित की है। युद्ध के समय रूस पर प्रगतिवादियो की दृष्टि केन्द्रित रहती है क्योकि उनकी जय-पराजय पर मानव समाज का भविष्य निर्भर दिखाई देता है। रूस पर अनेक रचनाएँ हुई हैं। इतना ही नही उस पर "अजेय खण्डर" नामक एक खण्ड काव्य की रचना हुई है। मास्को के घिर जाने पर प्रगतिवादी आशावादी कवियो ने अनेक गीत लिखे। "सुमन जी" की "मास्को अब भी दूर है" इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

"ऐसा हुआ यह दुर्ग नही, यह मजदूरों का प्यारा।
यह इस युग के सघर्षों का सबसे प्रबल प्रतीक है।
लाल फौज ने लाले खून से आज बनाई तस्वीर है।
इस जागृति के स्वर मे जन जन कण कण आज शरीर है।
दस हफ्ते दस साल बन गये "मास्को अब भी दूर है।"

अग्रवाल जी ने बंगाल के अकाल की करुणाजनक स्थिति का बड़ा हृदय द्रावक वर्णन किया है:—

"बाप बेटा बेचता है, माँ अचेतन हो रही है।
भूख से बेहाल होकर, धैर्य धीरज प्राण खोकर।
हो रही अनरीत बर्बर, राष्ट्र सारा देखता है।
बाप बेटा बेचता है।

माँ अचेतन हो रही है,
मूर्च्छना में रो रही है।
दम्भ के निर्भय-चरण पर।
प्रेम माथा टेकता है,
बाप बेटा बेचता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य क्षेत्र मे प्रगतिवाद शब्द दो अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है—एक तो सामान्य राष्ट्रीय और सामाजिक कविताओ के लिए दूसरे मार्क्सवादी विचारो से अनुप्राणित रचनाओ के लिए। प्रथम प्रकार की कविताओं के अन्तर्गत देशभक्ति के उद्गार, अतीत और वर्तमान के देश भक्तो एवं राष्ट्रनायकों की प्रशस्तियाँ तथा देश की तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक पतन का उद्घाटन करने वाली शुष्क मनोदशा से पूर्ण रचनाएँ आती हैं। दूसरे प्रकार की रचनाओं में अतीत की सम्पूर्ण व्यवस्था के प्रति असन्तोष की अभिव्यक्ति करने वाली मार्क्सवादी विचारों से अनुशासित पद्यानुवाद रखकर सहानुभूति प्रदर्शित करने वाली तथा रूस और मार्क्स की मुक्तकंठ से प्रशंसा कर उनके सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने वाली कविताएँ ही प्रगतिवाद की कविताएँ हैं। प्रगतिवादी कविताओं का सम्बन्ध जन समूह है, इसलिए उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम सरल है। प्रगतिवादी कवियो ने छायावाद की दुरारूढ कल्पना और दुरुह-कलात्मकता का परित्याग कर सरलता के मार्ग का अनुसरण करते हुए बड़े मार्मिक साहित्य की सृष्टि की है। प्रगतिवाद ने हमारे जीवन का मुख जीवन की ओर मोड़ा। जीवन की विषम परिस्थितियों की की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। समाज के निम्न वर्ग का उत्थान कर साम्य भावना को प्रमुखता दी। प्रगतिवादी कलाकारो ने हिन्दू और मुसलमानो के बीच की सम्प्रदायिक खाई को पाटने का भी सफल प्रयत्न किया है। प्रगतिवाद स्वार्थ-परायण व्यक्तिवाद से हटाकर व्यक्ति को समष्टिवाद की ओर ले गया है। उसने लेखकों को शैय्या सेवा अकर्मण्य नही रखा है। वास्तव में प्रगतिवाद की कतिपय

प्रशंसनीय है ।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की बाढ में गीतिकाव्य की भावना कुछ निर्बल नी है। परन्तु आध्यात्मिकता और गान भारतीय संस्कृति के मूल गुण हैं। इनके रहते हुए गीतिकाव्य की भावना कभी नष्ट नहीं हो सकती। गीतिकाव्य भविष्य उज्ज्वल है। एक लेखक ने ठीक ही लिखा है—"आदि शक्ति ने संगीत की जिस माधुरी से सकल सृष्टि की उत्पत्ति की थी, उस माधुरी को पुनः संजीवन करके भारत वसुन्धरा पर सुख शान्ति का साम्राज्य स्थापित करने का उत्तरदायित्व हिन्दी गीतिकाव्य पर ही निर्भर है।"

"उपन्यास"

(श्रव्य काव्य)

उपन्यास श्रव्य काव्य के अन्तर्गत आता है। श्रव्य काव्य के इस अंग की इतनी अधिक उन्नति तथा प्रसार हुआ है कि अब यह काव्य साहित्य में स्वतन्त्र रूप से अपना अस्तित्व दृढ किये हुए है तथा इसने अपनी एक पृथक कोटि बना ली है। उपन्यास में साधारणतः कल्पना प्रसूत वह सम्पूर्ण कथा साहित्य आ जाता है जो गद्य की रीति से अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार उपन्यास एक ओर तो वास्तविक जीवन चरित्र से, चाहे वह पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा सामयिक व्यक्तियों का हो— भिन्नता रखता है, दूसरी ओर पद्य की प्रणाली का त्याग करके कविता की सूक्ष्म सीमा से बाहर होता है। उपन्यास वस्तुओं, व्यक्तियों तथा व्यापारों को सुन्दर मूर्तिमत्ता प्रदान करता है। वह अपनी कथा को कल्पना के रंग से रंजित करके उसको अत्यन्त स्वाभाविक तथा रोचक बना देता है। प्रारम्भ मे उपन्यासकार को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वह अपनी इच्छानुसार तथा कला की सुविधानुसार काल्पनिक कथा की सृष्टि करें। परन्तु जब वह अपनी कथा को जन्म दे देता है तब उसे घटना, परिस्थिति चक्र तथा व्यापारों की श्रृखला बनानी पड़ती है और मनुष्य जीवन की समस्त वास्तविकतायें उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती हैं। उस समय उपन्यासकार की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है और वह अपने द्वारा निर्मित औपन्यासिक सृष्टि मे बँध जाता है। उपन्यास के पात्र सजीव होकर अपने जीवन को प्रारम्भ कर देते हैं, उपन्यासकार उनके जीवन में कोई व्यवधान उपस्थित नही करता। केवल नियति का वेग, समाज का प्रभाव, या समय का परिवर्तन व्यक्त करके ही वह अपने पात्रों को कुछ नियन्त्रित कर सकता है। नहीं तो उपन्यास के पात्र अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करते रहते हैं। उपन्यास की सीमा इसी में है कि वह कुछ व्यक्तियों की घटनाओं को क्रम से घटित करता है तथा वे समस्त व्यापार जीवन की वास्तविकता से प्रतीत होते हैं।

उपन्यास की व्युत्पत्ति—उपन्यास को अंग्रेजी में नॉविल (Novel) कहते हैं जिसका अर्थ है नवीन। अग्रेजी "नॉविल" शब्द इतावली "नॉवेला" से निकला है जिसका अर्थ है ऐसे समाचार या नई घटनाये जो सद्यःजात और सत्य हों। फ्रांसीसी में रोमाँ कहते हैं। मराठी मे नॉविल शब्द के आधार पर "नवल कथा" शब्द गढ लिया गया है। मराठी में उपन्यास को "कादम्बरी" कहा गया है। आज उपन्यास का जिस अर्थ में प्रयोग होता है वह प्राचीन है। संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों में उपन्यास शब्द का उल्लेख

है। संस्कृत में उपन्यास

सँघेरना, सँघेरनो—क्रि. स. [हिं. संग+करना] पशु के दो

सँचार रहन नहिं दियो—

व्याख्या दो प्रकार से की गई है—प्रथम व्याख्या "उपन्यासःप्रसादनम्" अर्थात् प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं—कह कर की गई है। दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—"उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः संकीर्तितः" अर्थात् "किसी अर्थ को युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करना उपन्यास कहलाता है। सम्भवतः इन्ही विशेषताओं के कारण ही कथात्मक रचनाओं को उपन्यास की संज्ञा दी गई। वस्तुतः आजकल के उपन्यास शब्द तथा नाटक के उपन्यास शब्द मे केवल नाम का ही साम्य है। उपन्यास का शब्दार्थ है—सामने रखना। उपन्यास शब्द का इतिहास चाहे कुछ भी हो किन्तु आज साहित्य की यह विधा अत्यन्त लोकप्रिय है।

कथा और आख्यायिका—प्राचीन काल मे पर्याप्त मात्रा मे कथात्मक साहित्य की रचना हुई थी। किन्तु गद्य मे कथाएँ अल्पमात्रा में लिखी गईं। उपन्यास के ढग पर बडी कहानियो के कुछ ही ग्रन्थ लिखे गये। कादम्बरी, दशकुमार चरित, वासवदत्ता इसके अच्छे उदाहरण हैं। छोटी कहानियाँ जातक कथाओं, वृहत्कथा, हितोपदेश, पचतन्त्र आदि मे मिलती हैं। कथा और आख्यायिका नाम अत्यन्त प्राचीन हैं। दण्डी ने कथा और आख्यायिका का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—"आख्यायिका वह है जो केवल नायक द्वारा कही जाय और कथा नायक के अतिरिक्त और दूसरे किसी के द्वारा भी कही जा सकती है।" वह यह भी कहते हैं कि वक्ता के आधार पर कोई भेद करना उचित नही—"अन्योवक्ता स्वयंवेति कीदृग्वा भेद कारणम्।"

उपन्यास की परिभाषा—उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार से दी है। डा० श्यामसुन्दर दास जी उपन्यास की परिभाषा देते हुए लिखते हैं—"उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।"

उपन्यास सम्राट् मुन्शी प्रेमचन्द जी ने उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र माना है, वे लिखते हैं—"मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों का खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।" "New English Dictionary" मे उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

"A Licticious prose tale or narrative of considerable length, in which characters and actions professing to represent those of real—life are portrayed in a plot". अर्थात् एक लम्बे आकार की काल्पनिक कथा या काल्पनिक प्रकथन है जिसके द्वारा एक कार्य कारण शृंखला में बँधे हुए कथानक में वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों और कार्यों का चित्रण किया गया हो।"

एक लेखक ने उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार दी है—

व्यक्तिगत घरेलू सम्बन्ध स्थापित करता है और जिसमें अपने अनुभव को सीधे पाठक के पास पहुँचाने की प्रबलतम सम्भावनाएँ उपस्थित रहती हैं।" इस परिभाषा में शैली की अपेक्षा विषय-सामग्री को महत्व दिया गया है।

कुछ मनुष्यों का विचार है कि—"उपन्यास वह कल्पित गद्य कथा या वर्णन है जिसमें पुरुषों या स्त्रियों के वास्तविक जीवन तथा भावावेगों का चित्रण हो।" किन्तु यह परिभाषा पूर्ण नहीं कही जा सकती। आज बहुत से ऐसे उपन्यास मिलते हैं जिनमें व्यक्ति की अपेक्षा स्थान का अधिक महत्व है। जैसे—"एटेल ऑफ टू सिटीज", लास्ट डेज ऑफ पौम्पिआई" आदि।

व्यापक दृष्टि से उपन्यास की परिभाषा यह हो सकती है—"उपन्यास वह गद्य कथा है जिसमें विशेष कौशल से कुतूहल उत्पन्न करके कोई ऐसी सत्य या कल्पित कथा कही जाती है जिससे मनोविनोद होता हो या किसी विषय या नीति का परिचय और प्रचार किया जाता है।"

श्री गुलाबराय जी ने उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार दी है—"उपन्यास कार्य कारण शृंखला में बँधा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक वा काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव जीवन में सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।"

उपन्यास की यह परिभाषा पूर्ण कही जा सकती है। इसमें उपन्यास के सभी अंगों का समावेश हो जाता है।

उपन्यास और इतिहास—बीते हुए दिनों को प्यार की ललचाई आँखों से देखना मानव हृदय की अत्यन्त कोमल वृत्ति है। जो बात बीत चुकी है और अब आने की नहीं, प्रसंग आने पर हम मोह के साथ सदा उसका स्मरण किया करते हैं। समय एक रेशमी घूंघट है और ऐसा घूंघट जिसे खोलने का कोई उपाय नहीं। 'यत्न करने पर केवल उसके झीनेपन के भीतर झाँका जा सकता है। अवगुंठनवती ी काया है—वह सुरूप हो या कुरूप, स्त्री हो या पुरुष—देखने वाले सुन्दर स्त्री के प मे ही कल्पना किया करते हैं। युगों की जो सुदूरता है मानो वही सौन्दर्य प्रदान रती है। अतीत के सत्य का उद्घाटन करने वाले इतिहास और भूले आनन्द का विर्भाव वाले उपन्यास हृदय की इसी वृत्ति के कारण हमको सदा से मोहते आये । परन्तु जहाँ पर इतिहास भी काव्य में छनकर आता है वहाँ तो सोने में सुगन्ध समझना चाहिए।

उपन्यासकार का महत्व तथा क्षेत्र केवल वैज्ञानिक सत्य को अपनाने वाले ाहासकार की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत होता है। इतिहासकार की कलम बँधी नी है। वह निश्चित प्रमाणो के विना एक पग भी आगे नहीं रख सकता। संसार वह उतना ही देख सकता है, जितना उसे मिला है। यदि दो युगों के बीच की

कड़ी टूटी हुई मिले तो इतिहासकार प्रायः निरुपाय हो जाता है। उसे अपनी टूटी माला ही प्रस्तुत करनी पड़ती है। वैज्ञानिक नियमो की कठोरता ने उससे वह शक्ति ही ले ली है जिसके द्वारा वह अन्धकार मे भी प्रकाश फैला दे। विशृंखलता में भी शृंखला बाँध दे। धुँधले और स्पष्ट चित्रो को स्पष्ट कर देने वाली भावुकता और कल्पना के प्रयोग का इतिहासकार को निषेध है। बल्कि यह कहना चाहिए कि चित्रण तो उसका ध्येय ही नही। उसका ध्येय तो है तथ्य का कथन। इसीलिए किसी अतीत युग की राजनीति, आचार-विचार, रहन-सहन, रंग-ढग, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति आदि का जो विशद सजीव एवं हृदयग्राही चित्र एक सफल उपन्यासकार दे सकता है वह अनेक इतिहासकार मिलकर भी नही दे सकते। हमारे देश के अनेक युग ऐसे हैं जिनके विषय मे इतिहास का ज्ञान बहुत थोड़ा है। इन युगो का पुनः निर्माण प्रतिभ उपन्यासकार की सफल कल्पना ही कर सकती है। अनेक छोटी घटनाएँ जिन्हे साधारण समझकर इतिहास आँखें फेर लेता है, उन्ही का चयन कर उपन्यासकार समसामयिक जीवन का जीता-जागता चित्र खड़ा कर सकता है। ऐतिहासिक उपन्यासों के अस्तित्व का यही महत्व है और यही उनकी सफलता का मापदण्ड।

उपन्यास मानव जीवन का चित्र है। उपन्यासकार मानव जीवन को निकट से देखता है, वह अपनी दिव्य दृष्टि के द्वारा अपने पात्रो के मनोविकारों तथा विचारों को प्रकाशित करता है। वास्तविक जीवन के महाराणा प्रताप या तेजसिंह के सम्बन्ध मे हमे इतिहास भी उतना नही बतला सकता जितना कि उपन्यासकार अपनी कल्पना के बल से वर्णन करता है। मानव समाज के वर्णन में इतिहास और उपन्यास मे समानता है। यद्यपि उपन्यास तथा इतिहास दोनो ही भूत का चित्रण करते हैं, किन्तु दोनो के दृष्टिकोणो मे अन्तर है। उपन्यासकार मानव के अव्यक्त जीवन को भी व्यक्त कर सकता है, किन्तु इतिहासकार व्यक्त मे से केवल उतना ही भाग लेगा जितना कि राष्ट्र और जाति के उत्थान पतन से सम्बन्धित है। इतिहासकार वाह्य घटनाओ को प्रमुखता देता है। वह उन आन्तरिक भावनाओं को लेता है जो वाह्य घटनाओ से पूर्णतः सम्बद्ध हो। उपन्यासकार पात्रो के रहस्यों मनोभावो का विश्लेषण ही नही करता, अपितु उनके रहस्यो का उद्घाटन भी करता है। उपन्यासकार के लिए व्यक्ति मुख्य है। किन्तु इतिहासकार के लिए राष्ट्र सब कुछ है और व्यक्ति गौण है। उपन्यासकार ऐतिहासिक पात्रो का वर्णन करते समय उनके व्यक्तित्व की ओर अधिक ध्यान देता है। समाज तथा राष्ट्र को वह पृष्ठ भूमि के रूप में लेता है। इतिहासकार केवल यही लिखेगा कि अमरसिंह महाराणा प्रताप के साथ भोजन के समय अपमानित हुए थे, उस अपमान के द्वारा उनके हृदय पर क्या प्रभाव पडा—इसकी ओर सकेत करना उसे अभीष्ट नहीं। उपन्यासकार उनके भावो के उत्थान-पतन का पूर्ण चित्र उपस्थित करता है। वह इस बात को महत्व नही देगा कि शिवाजी किस किले मे बन्दी हुए थे, उसके लिए तो भाव तथा विचार मुख्य हैं। किन्तु इतिहासकार ऐतिहासिक तथ्यो की उपेक्षा नही कर सकता।

उपन्यासकार की अपेक्षा इतिहासकार का क्षेत्र सीमित है। वह मनुष्य को राष्ट्र के दृष्टिकोण से देखता है, और उपन्यासकार पात्रो को मनुष्य के सम्बन्ध से देखता है।

इतिहासकार केवल अन्वेषण करता है, परिस्थिति तथा घटनाओं को चित्रित करता है, उसका निर्माण नही करता। उपन्यासकार नवीन परिस्थितियों की सृष्टि करता है सामाजिक प्रयोग भी करता है। यह बात इतिहासकार के क्षेत्र से परे है। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने "ऐतिहासिक उपन्यास" नामक निबन्ध मे लिखते हैं—"**उपन्यास में इतिहास मिल जाने से एक विशेष रस संचारित हो जाता है, उपन्यासकार एकमात्र उसी ऐतिहासिक रस के लालची होते हैं। उसके सत्य की उन्हें कोई विशेष परवाह नहीं होती।...काव्य में जो भूलें हमें ज्ञात होंगी, इतिहास में हम उनका संशोधन कर लेंगे। किन्तु जो व्यक्ति काव्य ही पढ़ेगा और इतिहास को पढ़ने का अवसर नहीं पायेगा, वह हतभाग्य है और जो व्यक्ति इतिहास को ही पढ़ेगा और काव्य के पढ़ने के लिए अवसर नहीं पायेगा, सम्भवतः उसका भाग्य और भी मन्द है।**"

एक अंग्रेज लेखक ने उपन्यास तथा इतिहास की प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"**उपन्यास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और सब बातें सच्ची होती है, इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और कोई बात सच्ची नहीं होती है।**" उपन्यास मे तिथियो की अपेक्षा हृदय के सत्य को अधिक महत्व दिया जाता है। इतिहास मे नामो तथा तिथियो का विशेष महत्व है। इतिहासकार को किसी एक तिथि के निश्चित करने में पन्ने के पन्ने लिखने पड़ते हैं, किन्तु उपन्यासकार इस श्रम से दूर है। उपन्यासकार की दृष्टि मे भावना का विशेष महत्व है।

यह सत्य है कि उपन्यास आदि से अन्त तक वास्तविक अथवा सच्ची घटनाओ पर आधारित नही होता, उसकी अधिकाश बाते लेखक की कल्पना प्रसूत होती हैं। इतना होने पर भी उपन्यास मे गूढ तथा व्यापक सत्यता वर्तमान रहती है जो अधिक प्रभावशालिनी तथा शिक्षाप्रद होती हैं। उपन्यासकार कुछ सच्ची अथवा सभावित घटनाओ को तोड़-मरोडकर किसी नये ढग से प्रस्तुत करता है। उपन्यास मे सत्यता, वास्तविकता तथा कल्पना का मेल रहता है। उपन्यासकार सत्य की उपेक्षा न करता हुआ अपने आदर्शो के अनुसार उपन्यास की रचना करता है। वह कल्पना के द्वारा कथा को अधिक रोचक तथा प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न करता है। उपन्यासकार घटना के सत्य से नियन्त्रित नही होता। वह सगति और सम्भावना पर विशेष बल देता है। उपन्यास जीवनी और काव्य के मध्य की वस्तु है। वह सत्य को सुन्दरम् के परिधान में देखता है। श्री गुलाब राय जी ने "**काव्य के रूप में**" उपन्यास की चार सीमाएँ निर्धारित की हैं :—"**एक ओर वह इतिहास या जीवनी की सी वास्तविकता का अनुकरण करता है, दूसरी ओर उसमें काव्य का सा कल्पना का पुट भावों का परिपोषण और शैली का सौन्दर्य रहता है। इसके साथ**

यदि एक ओर उसमें दार्शनिक की सी जीवन-मीमांसा और तथ्योद्घाटन की प्रवृत्ति रहती है तो दूसरी ओर उसमें समाचार पत्रों की सी कौतूहल वृत्ति और वाचालता भी रहती है।"

उपन्यास की प्राचीन तथा नवीन प्रवृत्तियाँ :— उपन्यास, कहानी आदि मानव के अनन्त कौतूहल की शान्ति करते हैं। आजकल के उपन्यास पुरानी कहानी से कई बातो में विभिन्नता रखते हैं। कौतूहल के वंश परम्परागत गुण आज के उपन्यासों में भी मिलते हैं। वर्तमान उपन्यास की कथा प्राचीन की अपेक्षा अधिक संगठित है। आजकल के उपन्यासो में कार्यकरण शृंखला स्पष्ट रूप से विद्यमान रहती है। आजकल के उपन्यासों में कौतूहल के साथ-साथ बुद्धितत्व और भावतत्व की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। आधुनिक उपन्यासो मे जीवन का क्षेत्र पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। आज उपन्यासो का क्षेत्र देवी देवताओ से हटकर मानव जीवन के विस्तृत क्षेत्र मे केन्द्रित हो गया है।

आजकल उपन्यासकार प्राचीन साहसपूर्ण कार्यों और अद्भुत यात्राओ का वर्णन न करके प्रतिदिन घटित होने वाली घटनाओ का वर्णन करते हैं। इसीलिए आज के उपन्यासो मे वाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष को प्रधानता दी गई है। आज कथावस्तु की अपेक्षा चरित्र-चित्रण पर अधिक ध्यान दिया जाता है— हेनरी जेम्स ने लिखा है—चरित्र क्या है ? घटनाओ का परिणाम। घटना क्या है ? चरित्र की व्याख्या।" इसीलिए आज के उपन्यासों मे सामाजिक या नैतिक दृष्टि से बहुत ऊँचे वर्ग के पात्र नही लिये जाते। आज उपन्यास के पात्र हमारे दैनिक जीवन के अति निकट हैं।

उपन्यास के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे भी मान्यताएँ बदल गई हैं। उपन्यास को सजीवता प्रदान करने के लिए उसकी रचना मे आज कितनी बातें आवश्यक मानी गई हैं।—उपन्यास में सत्यता या सत्यतुल्यता होनी चाहिए, न्याय होना चाहिए, मनोवैज्ञानिक क्षण, उत्कण्ठा और परिस्थिति का कुतूहलपूर्ण संयोग होना चाहिए, स्थानीय चित्रण होना चाहिए, चरमोत्कर्ष के स्थल का निर्वाह होना चाहिए और भविष्यवाणी होनी चाहिए।"—"इसमें जनसाधारण का चित्रण हो, दलितों और पीड़ितों के साथ सहानुभूति दिखाई जाय और शिक्षा भी दी जाय, जिसे मनुष्य आत्मचेतन होकर विश्व में अपना स्थान निश्चित करें।"

"उपन्यास के तत्व"

उपन्यासकार को प्रत्येक उपन्यास में जीवन सम्बन्धी अपने विचारों को परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप मे व्यक्त करना पड़ता है। इसके हेतु उसे अपने विचारो के अनुसार घटनाओ का क्रम, स्थापन, पात्रो के राग भाव आदि का प्रदर्शन तथा वस्तुनिर्देश इस प्रकार से करना पड़ता है जिसमे वह अपने सासारिक भाव और जीवन के लक्ष्य प्रकट कर सके। अतएव उपन्यास के सात तत्व माने गये हैं—(१) कथावस्तु,

(२) पात्र और चरित्र-चित्रण, (३) कथोपकथन. (४) वातावरण, (५) विचार और उद्देश्य, (६) रस और भाव, (७) शैली।

हिन्दी में उपन्यास के तत्व अंग्रेजी ग्रन्थों के आधार पर निश्चित किये गए हैं किन्तु इनके विवेचन में अन्तर पाया जाता है। यहाँ हम उपन्यास के प्रत्येक तत्व पर पृथक-पृथक विचार करेंगे।

कथावस्तु:—उपन्यास का महत्व बहुत कुछ उसकी कथावस्तु पर निर्भर है। काव्य मानव-जीवन की व्याख्या है। अतएव एक अच्छे उपन्यास का महत्व इस बात में है कि वह मनोरंजन के साथ-साथ उन बातो पर भी अधिक बल दे जो जीवन को उत्साहपूर्ण, उद्योगी, दृढ और शिक्षामय बनाती है। श्रेष्ठ उपन्यास वह है जो उन बातो को अपना आधार बनाता है जो मनुष्यमात्र के जीवन संग्राम और उसकी सम्पत्ति विपत्ति की घटनाओ से सम्बन्ध रखने के कारण हमारे मर्म को स्पर्श करने वाली हो। जो उपन्यास इस उद्देश्य को सिद्ध करते हों और उच्च कोटि के आनन्द का उद्रेक करते हुए हृदय को शान्ति और उत्साह से सम्पन्न करते हैं, वे अवश्य अच्छे उपन्यासों मे गिने जाने योग्य हैं। उपन्यास का प्रारम्भ या तो (१) स्थान, काल, युग आदि का वर्णन करके करना चाहिए, (२) या कुछ व्यक्तियों के संवाद से अथवा (३) आकास्मिक घटना की सूचना देकर करनी चाहिए। उपन्यासों मे प्रायः प्रथम प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। किन्तु सबसे अधिक प्रभावशाली प्रणाली वह है जिसके द्वारा किसी आकास्मिक तथा सहसा हृदय को आकृष्ट करने वाली घटना से प्रारम्भ किया गया हो, जिससे प्रारम्भ से ही पाठक को उपन्यास पढ़ने मे रुचि हो जाय।

वस्तु के गठन एवं उसके सुनियोजन के लिए उपन्यासकार को सतर्क रहना चाहिए। उसे अपनी वस्तु में उन घटनाओं तथा परिस्थितियों का वर्णन नही करना चाहिए जो अनावश्यक हों तथा उपन्यास की कुरूपता एवं अरोचकता का कारण बने। व्यर्थ के वर्णनो से लेखक को कथावस्तु का कलेवर नही बढाना चाहिए। उपन्यासकार जीवन की जिन घटनाओ तथा स्थितियों की काल्पनिक सृष्टि करता है उनसे पूर्णतः परिचित होना चाहिए। अनुभव की गम्भीरता एव सूक्ष्म निरीक्षण के अभाव मे उपन्यास सफल नही हो सकता। उपन्यास की वस्तु में उन्ही घटनाओ का समावेश हो जो स्वाभाविक लगें तथा जोड़ी हुई प्रतीत न हों। सक्षेप मे अच्छे कथानक के गुण इस प्रकार दिये जा सकते हैं—मौलिकता, कौशल, संभवता, सुसंगठितता तथा रोचकता।

मौलिकताः—प्रायः सभी उपन्यासों मे किसी प्रेमी तथा प्रेमिका की कथा होती है। उस प्रेम मे जो-जो बाधाएँ आती हैं तथा उन बाधाओं के कारण दोनों ओर जो नैराश्य फैल जाता है उसका वर्णन रहता है। कभी-कभी तो प्रेम की असफलता पर मृत्यु तक हो जाती है तथा कभी उपन्यास, समाज सेवा आदि का व्रत लेकर नैराश्य को विस्मृत किया जाता है। किसी मे त्याग की भावना का प्राबल्य

होता है तो किसी मे स्वार्थपरता का। कुछ में साहसिक कार्यों का उल्लेख रहता है और कुछ मे डाका, हत्या, चोरी आदि की खोज दिखाई जाती है। यद्यपि आज जीवन की जटिलताओं के बढ जाने के कारण उपन्यास का विषय क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है तथा उसमें विचार तथा विश्लेषण का अधिक मात्रा मे समावेश हो गया है तथापि अधिकांश उपन्यासो में इनमें से कोई न कोई वात अवश्य रहती है। इन वातो को किस प्रकार वर्णित किया जाय इसमे ही लेखक की मौलिकता है। एक ही वात को भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित किया जा सकता है। जैसे कही पर सम्पत्ति का त्याग दिखाया जा सकता है, कही सिद्धान्तों का और कही महत्वकाक्षाओं का। इसी प्रकार प्रत्येक उपन्यासकार नायक तथा नायिकाओ का प्रथम दर्शन भी भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखाया जा सकता है। श्री जयशंकरप्रसाद ने 'कंकाल' उपन्यास में नायक तथा नायिका का प्रथम दर्शन तीर्थ-यात्रा मे कराया है। कवीन्द्र रवीद्र ने अपने उपन्यास "नौका डूबी" में दुर्घटना के अवसर पर परिचय कराया है। ये सव प्रकार प्रत्येक देश की सभ्यता और सस्कृति के अनुसार होते हैं। भारत तथा यूरोप की सामाजिक समस्याओ मे वहुत अन्तर है। अत. हमारे यहाँ वह उन्मुक्त प्रेम नहीं दिखाया जा सकता जो पश्चिमी देशो के उपन्यासों मे। इन्ही सामाजिक परिस्थितियो की विभिन्नता के कारण प्रत्येक लेखक वर्णन का नवीन ढग अपना सकता है। आजकल अछूतो, वैश्याओ के उद्धार, पूंजीपतियो का मजदूरों पर अत्याचार, राजा प्रजा के सम्वन्ध, देश-विदेश की साहसपूर्ण यात्राओ आदि विषयो की ओर हिन्दी उपन्यासकार विशेष रूप से आकृष्ट हो रहे हैं। यदि उपन्यास में विषय की नवीनता हो तो सवसे ही अच्छा है, किन्तु वर्णन का प्रकार अवश्य नवीन होना चाहिए और यही उपन्यासकार की मौलिकता है।

आजकल के उपन्यासो का विषय केवल प्रेम ही नही है। आजकल जीवन की समस्याएँ वहुत जटिल हो गई हैं, इसलिए मौलिकता के लिए पर्याप्त स्थान है। फ्रायड से प्रभावित लोगो ने मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी लिखे हैं। श्री इलाचन्द जोशी, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्र, यशपाल आदि ने इस प्रकार के उपन्यास लिखे हैं। हिन्दी उपन्यासो मे गाँधीवाद तथा मार्क्सवाद के सापेक्षित महत्व को भी स्थान दिया जाने लगा है।

कौशल—कथावस्तु मे कौशल से अर्थ सम्वन्ध-निर्वाह और उसकी गुत्थियो को सुलझाने की चतुरता से है। कौशल को हम कथावस्तु का प्रधान अग नही मान सकते। यद्यपि इससे उपन्यास मे चमत्कार अवश्य आ जाता है। इस प्रकार के कौशल से वुद्धि तथा कौतूहल की शान्ति तो हो जाती है किन्तु भावतत्व तथा रागात्मिकता वृत्ति को प्रोत्साहन नही मिलता। जिन उपन्यासो के कथानक अधिक पेचीदा होते हैं उनके लिए कौशल की अत्यन्त आवश्यकता है।

सम्भवता:—सम्भवता एक अच्छे कथानक का अत्यन्त आवश्यक गुण है। उपन्यासकार को असम्भाव्य घटनाओ का समावेश नही करना चाहिए। नही तो

उपन्यास की रोचकता समाप्त हो जायेगी। उपन्यास में सम्भवता ही सत्य की कसौटी है। अतः उपन्यास में लेखक को सम्भवता का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान युग बौद्धिक प्रधान है। आज दैवी सहायता पर से लोगो का विश्वास हट गया है। आज मानवी साधनों द्वारा ईश्वर की सहायता प्राप्त होती है। अतः उपन्यासकार को मानवी साधनो का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। उपन्यासकार को कथानक की गुत्थियो को बौद्धिक उपकरणो द्वारा सुलझाने की चेष्टा करनी चाहिए। इस प्रकार से पात्र का महत्व बढ जाता है तथा उपन्यास मे पाठको की रुचि बढ़ जाती है।

उपन्यास का घटना-क्रम इस प्रकार से होना चाहिए कि कथानक के विकास के साथ-साथ सब बाते स्पष्ट होती चली जायें। पाठकों के हृदय मे किसी प्रकार की जिज्ञासा न रहे कि ऐसा क्यो हुआ। उपन्यास के पात्रो के उद्देश्य तथा लक्ष्य जीवन के पात्रो से अधिक स्पष्ट होते हैं। इसलिए उपन्यासकार को लोक और शास्त्र का व्यवहारिक ज्ञान वाँछनीय है। उसे उपन्यास लिखते समय देश तथा काल का ध्यान रखना चाहिए। ऐतिहासिक उपन्यासो के लिए तो यह और भी आवश्यक है। सम्भावना के साथ-साथ औचित्य का भी ध्यान रखना आवश्यक है। पात्रों की वेश-भूषा तथा परिस्थितियों का वर्णन देश-काल के अनुसार होना चाहिए।

उपन्यास में सम्भवता ही सत्य की कसौटी है। अतः उपन्यासकार को सत्य का सुन्दर रूप से उद्घाटन करना चाहिए। उसमे ऐसी घटनाओ का समावेश हो जो सम्भव प्रतीत हों। "असम्भाव्य न वक्तव्य प्रत्यक्षमपि दृश्यते" उपन्यास की काल्पनिक घटनाएँ भी सत्य की छाया सी प्रतीत हो। उपन्यास की विशेषता यही है कि उसमें कल्पना वास्तविकता के साथ चलती है।

संगठितता:—उपन्यास की कथावस्तु मे सगठन, क्रम और संगति का होना अत्यन्त आवश्यक है। उपन्यास मे सगठन से अभिप्राय यह है कि उसमे न तो अनावश्यक घटनाओ का समावेश हो और न कोई आवश्यक बात रहे। घटनाएँ कार्यकारण-शृंखला मे बँधकर क्रमागत रूप में रखी जाये—यह भी आवश्यक है। कार्यकारण-शृँखला में बधकर ही घटना-चक्र को कथावस्तु का रूप दिया जाता है। बहुत से कथानको में अनेक घटनाओं का समावेश रहता है तथा बहुत-से में दो कथाएँ साथ-साथ चलती हैं। अतः उपन्यासकार का कौशल इसी बात मे है कि वह घटनाओं का संगठन इस प्रकार करे कि वे सब घटनाएँ एक दूसरे के साथ कार्यकारण शृँखला मे बंधी हुई साथ-साथ चलें, उनकी शृंखला टूटी हुई प्रतीत न हो। परन्तु आजकल इस गुण को अधिक महत्व नही दिया जा रहा है। वहुत से उपन्यासो मे कथानक की एक सूत्रता केवल इसी बात मे रहती है कि वे एक ही पात्र से सम्बन्धित हो। जैसा कि अज्ञेय जी के "शेखर एक जीवनी" नामक उपन्यास में है।

संगठन के साथ क्रम और संगीत का होना भी वाछनीय है। घटनाये कार्यक्रम अथवा स्थानक्रम से ही सुन्दर लगती हैं। क्रम के द्वारा वर्णन के सौष्ठव तथा कथानक

के समझने की सुविधा रहती है और संगीत कथावस्तु की एकता तथा पात्रों के व्यक्तित्व को बनाये रखने मे सहायक होता है। किन्तु इन गुणों का मर्यादा मे होना ही वाँछनीय है। मर्यादा का अतिक्रमण करने से कथावस्तु मे कृत्रिमता आ जाती है। अतः सगठन, क्रम और सगति का प्रयोग ठीक मात्रा मे होना चाहिये। कथानक मे जीवन की सी स्वच्छन्दता तथा स्वाभाविकता होना आवश्यक है किन्तु उसको उच्छृंखल नही होना चाहिये। उपन्यासकार को मध्यम मार्ग का अनुसरण ही वाँछनीय है।

रोचकता:—उपन्यास को रोचक होना आवश्यक है। उपन्यास की सफलता उसकी रोचकता मे है। यदि पाठको को उपन्यास से अरुचि हो जायेगी तो वह उसे पढना भी नही चाहेगे और उसकी बिक्री भी बन्द हो जायेगी। उपन्यास को रोचक बनाने के लिये कौतूहल तथा नवीनता का होना आवश्यक है। यदि पाठक के हृदय मे यह कौतूहल बना रहा कि आगे क्या होगा, तो वह उसे समाप्त करके ही उपन्यास का पीछा छोड़ेगा। नवीनता के द्वारा ही उपन्यास मे सुन्दरता आती है। जो क्षण-क्षण, में नवीनता धारण करे वही सुन्दर है, फिर नॉविल शब्द का अर्थ ही नवीन है। उपन्यासकार के लिये यह वाछनीय है कि वह उपन्यास में घटनाओं को शृंखलाबद्ध रखते हुये भी, कथानक मे आकस्मिक और अप्रत्याशित को स्थान दे। वह अप्रत्याशित ऐसा हो जो कार्य कारण शृंखला की सीमा में हो तथा पाठक की कल्पना से परे हो। उपन्यासकार को क्रमागत रूप मे अपने पात्रो का परिचय कराना चाहिये। उपन्यासकार का कौशल इस बात में है कि वह कोई ऐसी बात न भूल जाये जो घटनाओ के समझने मे व्यवधान उपस्थित करे या एक साथ सब बातें न कह दे जिससे पाठको की उत्सुकता समाप्त हो जाय। उसे घटनाओ का वर्णन इस प्रकार करना चाहिये जिससे पाठकों की उत्सुकता जाग्रत होती रहे। उपन्यास मे बहुत से आकस्मिक सयोग दिखाने पड़ते हैं और ठीक अवसर पर वाछित व्यक्ति आकर सहायता पहुँचाता है। किन्तु हर समय उपन्यासकार को आकस्मिक सयोग नही दिखाना चाहिये, क्योकि इसके बाहुल्य से उपन्यास मे कृत्रिमता आ जायेगी। रोचकता लाने के लिये न तो अधिक ब्यौरा ही होना चाहिए और न उसकी अवहेलना ही होनी चाहिये। "वैचित्र्य में एकता का गुण शैली का ही प्राण नही है वरन् रचना मात्र का जीवन रस है।"

उपन्यास का अन्त या परिणाम वर्णित घटनाओं के अनुकूल होना चाहिये तथा कथा या वस्तु का समाहार पूर्वा पर विचार से ठीक-ठीक होना चाहिये।

कुछ मनुष्यो का विचार है कि "उपन्यास का अन्त नाटकीय ढँग से सहसा हो जाय जिसे पढ़कर पाठक "हाय" या "वाह" कह उठे।" इस प्रकार के को नाटकीय या आकस्मिक अन्त कहेगे। कुछ आचार्यों का विचार है कि "उपन्यास का अन्त संघर्ष के पश्चात् पूर्णत शान्त रूप में हो, जिसे स्थिर अन्त कहते हैं।" कुछ का विचार है कि "उपन्यास के अन्त में जो परिणाम दिखाया जाय, उसका विवेकपूर्ण

समर्थन करके पाठकों को यह विश्वास दिला दिया जाय कि जो परिणाम दिखाया गया है वह न्याय की दृष्टि से तथा घटना संयोग की दृष्टि मे पूर्णतः संगत और उचित है।"

उपन्यास की वस्तु की श्रेष्ठता का मूल्याकन उपयुक्त गुणो के आधार पर ही होना चाहिये। यदि ये गुण उपन्यास में मिल जाये तो यह समझना चाहिए कि उपन्यास की वस्तु का विन्यास भली भाति किया गया है।

वस्तु विन्यास के विचार से उपन्यास के दो प्रकार माने जाते हैं—(१) भाव-प्रधान, (२) घटना-प्रधान।

(१) **भाव प्रधान:**—भावप्रधान उपन्यास वे होते हैं जिनमे घटना घटना के लिये नही होती अपितु किसी उद्देश्य या चरित्र की व्याख्या करने के लिये घटनाओं की कल्पना की जाती है। इसमे एक घटना दूसरी घटना पर आश्रित नहीं होती। उपन्यास का नायक इन घटनाओ को एक सूत्र मे बांधे रहता है और उसी के विशिष्ट चरित्रों को लेकर उपन्यास के भिन्न-भिन्न अवयवों का ढाँचा निर्मित होता है। ऐसे उपन्यासों की वस्तु को असम्बद्ध या शिथिल कथात्मक कहा जायेगा।

(२) **घटना प्रधान:**—घटना प्रधान उपन्यासो मे बहुत सी चित्रित घटनाओं का वर्णन एक सूत्र मे रहता है। इसमें घटनाएँ एक दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध रहती हैं कि साधारणतः एक दूसरे से पृथक नही की जा सकती तथा सब अन्तिम परिणाम या उपसंहार की ओर जाती हैं। यदि इन घटनाओ को एक दूसरे से पृथक कर दिया जायेगा तो उपन्यास की महत्ता ही नष्ट हो जायेगी। ऐसे उपन्यासों की रचना एक व्यापक विधान के अनुसार होती है और उनकी सफलता घटना समूहो पर अवलम्बित रहती है। ऐसे उपन्यासो की वस्तु को सम्बद्ध घटनात्मक कहा जाता है। ऐसे उपन्यासो का उद्देश्य पाठक को आश्चर्य मे डालकर उपन्यास के प्रति रुचि बनाय रखना है। चन्द्रकान्ता संतति, भूतनाथ आदि उपन्यास इसी प्रकार के घटना प्रधान उपन्यास है। ऐसे उपन्यासो मे किसी प्रकार का सन्देश नही होता।

कथानक के रूप:—उपन्यास का कथानक लिखने के तीन प्रकार हैं.—

(१) प्रथम मे उपन्यासकार दृष्टा की भाँति वर्णनीय कथा को अपने से पृथक रखकर वस्तु विधान का उद्घाटन करता हुआ पाठको को अपने साथ लेकर अन्तिम परिणाम पर पहुँचता है तथा अपना अभिप्रेत प्रभाव पाठको पर छोड़ जाता है। जैसे—प्रेमचन्द जी का "सेवासदन"

(२) आत्मकथा के रूप मे:—इसमें उपन्यासकार नायक का आत्मचरित्र उसके मुँह से अथवा किसी गौण पात्र के द्वारा कराता है। जैसे—सियाराम शरण जी का "अन्तिम आकाक्षा" नामक उपन्यास।

(३) इसमे प्रायः पत्रों के रूप मे कथा का उद्घाटन किया जाता है। उग्र जी का "चन्द हसीनो के खतूत" तथा अनूपलाल मंडल का "समाज की वेदी पर" इसका अच्छा उदाहरण है।

प्रथम प्रकार के उपन्यासों मे उपन्यासकार को अपना कौशल दिखाना पड़ता है। यह ढंग उपन्यासो मे वहुत काम मे लाया जाता है। आत्मकथा के रूप में जो उपन्यास लिखे जाते है उनमे लेखक को अपनी ओर से कुछ नही कहना पड़ता। इस प्रकार के उपन्यासों में यह गुण अवश्य आ जाता है कि नायक अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में उतना ही कहता है जितना कि साधारण व्यक्ति जीवन में दूसरे व्यक्तियो के सम्बन्ध मे जानते है। आत्मकथा के रूप में तथा पात्रों के रूप में जो उपन्यास लिखे जाते है उसमे लेखक अपनी समस्त सामग्री का उपयोग नही कर सकता।

पात्र और चरित्र-चित्रण—जो उपन्यासकार अपने पात्रो को जीवन के जितने निकट से चुनेगा उसका उपन्यास उतना ही सफल होगा। उपन्यासकार के पात्रो को सजीव स्त्री पुरुषों की भाँति अपनी भूमिका सम्पादित करनी चाहिये और अपनी मानवी-स्थिति का भाव हमारे मन पर अकित कर देना चाहिये। उपन्यास के पात्र ऐसे होने चाहिये जिन्हे पाठक जानते हो। प्रेमचन्द जी के पात्र इतने यथार्थ हैं कि वे हमारे जीवन के ही अंश प्रतीत होते हैं। लेखक को अपनी अपनी अनुभूति एवं सूक्ष्म निरीक्षण के द्वारा पाठकों को यथावत् चित्रण करना चाहिये। उपन्यासकार को अनावश्यक ऐसे पात्रो का सृजन नही करना चाहिये जिनको जवरदस्ती अन्त मे मारना पड़े।

आधुनिक युग में चरित्र-चित्रण उपन्यास या कहानी का सर्वप्रमुख तत्व माना गया है। वहुत से उपन्यास तो चरित्र-चित्रण प्रधान होते हैं। प्राचीन समय में जो उपन्यास लिखे गये थे उनमें पात्रों पर विशेष ध्यान नही दिया गया है। यदि कोई पात्र खराव है तो वह यावज्जीवन खराव ही रहेगा। यदि कोई श्रेष्ठ गुणो से सम्पन्न है तो वह जीवन पर्यन्त श्रेष्ठ ही रहेगा। यह अस्वाभाविक है क्योकि मनुष्यों के विचारो मे परिवर्तन होता रहता है। कभी वह सुकृत्य भी करता है और कभी कुकृत्य भी। आज के उपन्यास अधिकतर चरित्र-चित्रण प्रधान होते हैं। ठीक भी है, क्योकि चरित्र के द्वारा ही एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से पृथक किया जाता है। चरित्र में मनुष्य के वाह्य तथा आन्तरिक दोनो व्यक्तित्व आ जाते हैं। वाह्य व्यक्तित्व में मनुष्य का आकार-प्रकार उसकी चाल-ढाल, वेष-भूषा, रहन-सहन, आचार-विचार वार्तालाप के ढंग तथा अन्य कार्य आ जाते हैं। उसके आन्तरिक आपे के अन्तर्गत मनुष्य की महत्वाकाक्षाएँ, वाह्य-परिस्थितियो के प्रति सवेदनशीलता, अन्धविश्वास, पक्षपात, मानसिक सघर्ष, दया, करुणा, उदारता, ममता आदि उदात्त वृत्तियो का वर्णन रहता है। पात्र अपने गुणो तथा दुर्वलताओ के सहित समाज के रगमंच पर आता है। चरित्र-चित्रण की अच्छाई या वुराई चरित्र को सजीव वनाने उसे विशिष्टता तथा व्यक्तित्व प्रदान करने तथा उसकी उन्नति और पतन दिखाने मे है। उसकी नैतिक अच्छाई वुराई दिखाने मे नही। उपन्यासकार जव एक बार पात्रो को जन्म दे देता है तो वह अपनी चारित्रिक विशेषताओ के अनुसार ही कार्य करते हैं। फिर यदि उपन्यासकार उन पात्रो को अपनी इच्छा से चलाना चाहेगा तो पात्रो की

सजीवता नष्ट हो जायेगी। सजीव पात्रों को कठपुतली की भाँति नचाया नही जा सकता।

आधुनिक युग मे मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी लिखे गये हैं जिनमें कथा तो सूक्ष्म होती है और उन मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का विश्लेपण प्रधान होता है जो मानव के कार्य व्यापार का संचालन करती हैं।

चरित्रों के प्रकार:—विभिन्न दृष्टिकोणो से चरित्र के विभिन्न प्रकार होते हैं। जो पात्र अपनी जाति के प्रतिनिधि होते हैं उन्हे वर्गगत या प्रतिनिधि प्राप्त कहेगे। जैसे "गोदान" मे राव साहब—ये अपनी जाति अर्थात् जमीदारो के प्रतिनिधि हैं। बड़े जमीदार इसी प्रकार के होते हैं। प्रतिनिधि पात्रो के प्रतिरूप बहुत से हो सकते हैं। जो पात्र अपनी निजी विशेपता लेकर आते हैं वे व्यक्तित्व प्रधान पात्र कहलाते हैं। वे साधारण मनुष्यो से भिन्न होते हैं। जैनेन्द्र के हरिप्रसन्न या सुनीता अज्ञेय जी का शेखर ऐसे ही पात्र हैं। किसी भी पात्र को हम न तो नितान्त सामान्य ही कह सकते हैं और न नितान्त व्यक्तित्व प्रधान। व्यक्ति जिन गुणो को समाज से प्राप्त करता है उन्हें सामान्य गुण कहते है और जो उसके स्वयं के होते है वे विशेष गुण होते है। चरित्र-चित्रण की सफलता सामान्यता तथा विशेष गुणों के सफल सम्मिश्रण मे है।

चरित्रो का दूसरा विभाग स्थिर और गतिशील या परिवर्तनशील का है। स्थिर चरित्रों में परिवर्तन नही होता तथा गतिशील चरित्रो मे उत्थान-पतन होता रहता है। जैनेन्द्र के हरिप्रसन्न तथा सुनीता और प्रेमचन्द के होरी स्त्री पात्र हैं। "सेवासदन" के सुमन और सदन गतिशील पात्र हैं, इनके चरित्र में विकास होता रहता है।

चरित्र चित्रण की विधियाँ—चरित्र-चित्रण प्रायः दो प्रकार का होता है। एक को विश्लेषणात्मक या साक्षात् दूसरे को अभिनयात्मक या परोक्ष कहते हैं। विश्लेषणात्मक चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वयं अपने शब्दों मे करता है। वह पात्रो के भावों, विचारों, प्रकृतियों और रागद्वेपों की व्याख्या करता है, उनके कारण बताता है और प्रायः उन पर अपना विवेचनापूर्ण मत भी देता है। अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण मे लेखक स्वयं अलग हो जाता है और स्वयं पात्रो को अपने कथन और व्यापार से तथा उसके सम्बन्ध मे दूसरे पात्रों की टीका-टिप्पणी तथा सम्मति से अपना चरित्र चित्रण करने देता है। आजकल अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण का अधिक प्रचलन है। अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण में पाठक को पात्रों के चरित्र के समझने तथा उनका मूल्यांकन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है तथा उसके पात्र भी स्वतन्त्र रहते हैं। विश्लेषात्मक पद्धति कभी-कभी गुत्थियों को सुलझाने मे सहायक होती है किन्तु उसका बाहुल्य ठीक नही। क्योकि उपन्यासकार के बार-बार आने से कथा प्रवाह मे बाधा पड़ती है और पाठक भी स्वयं कथा का आस्वाद नही ले पाते। पाठक उपन्यास के पात्रों के क्रिया कलाप तथा वार्तालाप के द्वारा ही

उनका परिचय प्राप्त करना चाहता है। अतः उपन्यास का वार्तालाप तथा कार्य इस प्रकार के होने चाहिएँ जिससे चरित्र पर पूर्ण प्रकाश पड़ सके।

उपन्यासों के चरित्र चित्रण के सम्बन्ध में एक विचारणीय बात यह भी है कि उपन्यासकार को अपने पात्रों के सम्बन्ध में सब कुछ एक ही समय में नही कह देना चाहिए, उसे यथास्थान पहले अपने पात्र के चरित्र के विषय में मुख्य-मुख्य बातें कह देनी चाहिएँ और तब उसे छोड देना चाहिए। जिससे वह दूसरे पात्रों के प्रभाव अपनी स्थिति और अपने अनुभव के अनुसार अपने चरित्र को क्रमशः प्रस्फुटित करता रहे। जिससे भिन्न-भिन्न स्थितियों मे मनुष्य की मानसिक अवस्था के अनुसार रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियो का जो प्राबल्य होता है उसका सुन्दर और जीता जागता चित्र पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जा सके।

अब हम दोनों प्रकार के चरित्र-चित्रण के उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

विश्लेषात्मक विधि का उदाहरण—उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द भी 'गोदान' में मिस्टर खन्ना तथा मिर्जा खुर्शेद के चरित्र के सम्बन्ध मे अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

"मिस्टर खन्ना भी साहसी आदमी थे, संग्राम में आगे बढने, दो बार जेल हो आये थे। किसी से दबना नही जानते थे। खद्दर पहनते हैं और फ्रास की शराब पीते थे। अवसर पड़ने पर बड़ी बड़ी तकलीफ झेल सकते थे ... ... मगर रणक्षेत्र में आने वाला रथ भी तो बिना तेल के नही चल सकता। उनके जीवन मे थोड़ी रसिकता लाजिमी थी।"

× × × ×

मिर्जा खुर्शेद के लिए भूत और भविष्य सादे कागज की भाँति थे। वह वर्तमान मे रहते थे। न भूत का पछताना था न भविष्य की चिन्ता। जो कुछ सामने आ जाता था उसमें जी जान से लग जाते थे। मित्रों की मडली मे वह विनोद के पुतले थे। कौन्सिल मे उनसे उत्साही मेम्बर कोई न था ... ... गुस्सेवर भी ऐसे थे कि ताल ठोककर सामने आ जाते थे। नम्रता के सामने दण्डवत करते थे, लेकिन जहाँ किसी ने शान दिखाई यह हाथ धोकर उसके पीछे पड़े। न अपना लेना याद रखते थे और न दूसरो का देना। शौक था शायरी और शराब का ... ...।"

मिर्जा साहब के बाह्य व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द जी लिखते है :—

"मिर्जा खुर्शेद गोरे-चिट्टे आदमी थे। भूरी-भूरी मूँछें, नीली आँखें, दुहरी देह, चाँद के बाल सफाचट। छकलिया अचकन, और चूड़ीदार पजामा पहनते थे। ऊपर से हैट लगा लेते थे। वोटिंग के समय चौक पड़ते थे और नेशनलिस्टो की तरफ से वोट देते थे। सूफी मुसलमान थे। दो बार हज कर आये थे, लेकिन शराब खूब पीते थे।"

अभिनयात्मक चरित्र-चित्रण का उदाहरण—इस प्रकार के चरित्र-चित्रण

में दो प्रकार के उदाहरण प्राप्त होते हैं। प्रथम में पात्र स्वयं अपने चरित्र का उद्‌घाटन करता है। दूसरा वह जिसमे दूसरे पात्र किसी के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करते हैं। यहाँ हम 'गोदान' से दोनों प्रकार के चरित्र चित्रण के उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

(१) रायसाहब स्वयं अपने विषय मे कहते हैं :—

"मेरी ओर देखो मैं उस रसिक समाज से बिल्कुल बाहर हूँ मिस्टर खन्ना! सच कहता हूँ। मुझमे जितनी बुद्धि, जितना बल है, वह इस इलाके के प्रबन्ध में ही खर्च हो जाता है। मेरे सारे भाई शराब कबाब में मस्त थे। मैं अपने को रोक न सका। जेल गया और लाखों रुपये की जेर बारी उठाई, और अभी तक उसका तावान दे रहा हूँ। मुझे उसका पछताना नही है, बिल्कुल नही। मुझे उसका गर्व है। मैं उस आदमी को आदमी नही समझता जो देश और समाज की भलाई के लिए उद्योग न करे और बलिदान न करे। मुझे क्या यह अच्छा लगता है कि निर्जीव किसानो का खून चूंस और अपने परिचय वालो की वासनाओं की तृप्ति के साधन जुटाऊँ मगर करूँ क्या? जिस व्यवस्था मे पला और जिया, उससे घृणा होने पर भी उसका मोह त्याग नहीं सकता।"

(२) रायसाहब तथा खन्ना जी के वार्तालाप में मेहता जी के चरित्र पर कुछ प्रकाश पड़ता है :—

बोले:—"यह मेहता कुछ अजीब आदमी है, मुझे तो कुछ बना हुआ सा मालूम होता है।"

बोले:—"मैं तो उन्हें केवल मनोरंजन की वस्तु समझता हूँ। कभी उनसे बहस नही करता और करना भी चाहूँ तो इतनी विद्या ही कहाँ से लाऊँ। जिसने जीवन के क्षेत्र में कभी कदम भी नही रखा वह अगर जीवन के विषय में कोई नया सिद्धान्त अलापता है, तो मुझे उस पर हँसी आती है।"

"मैंने सुना है चरित्र का अच्छा नही है।"

"बेफिक्री में चरित्र अच्छा रह ही कैसे सकता है। समाज में रहो और समाज के कर्त्तव्यों और मर्यादाओं का पालन करो तब पता चले।"

वस्तु और पात्र का सम्बन्ध—उपन्यास में वस्तु और पात्र दोनो का सम्मिश्रण अनिवार्य है। उपन्यास प्रायः दो प्रकार के हाते हैं। एक तो वह जिसमें पात्रों की प्रधानता रहती है, और व्यापार शृंखला को गौण स्थान दिया जाता है। दूसरे वे जिसमें व्यापार शृंखला को मुख्यता दी जाती है और पात्रों का उपभोग घटना को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए होता है। वे उपन्यास उत्तम श्रेणी के होते हैं जिनमें चरित्र चित्रण का अधिक ध्यान रखा जाता है। वस्तु तथा पात्र का उचित सामंजस्य आवश्यक है। क्योंकि जहाँ वस्तु को प्रधानता दी जायेगी वहाँ पात्रों को वस्तु के अनुकूल कार्य करना आवश्यक हो जायेगा और ऐसा करने से चरित्र मे असगता का दोष आ जायेगा और जहाँ केवल चरित्र-चित्रण की ओर ध्यान रहेगा

वहाँ चरित्र के क्रमशः विकसित होने और उसके अनुकूल घटना चक्र के विकसित होने से कथानक मे संगठन तथा अन्विति का अभाव हो जायेगा। उपन्यास को सफलता तभी मिल सकती है जब वस्तु विधान और चरित्र चित्रण एक दूसरे के आश्रित होकर अपने अपने उद्देश्य की सिद्धि करते हैं। वस्तु को प्रधानता देने से पात्रों को अपनी प्रकृति के प्रतिकूल कार्य करना पड़ता है। उपन्यासकार के प्रति हिन्दी लेखकों ने उपन्यास के पात्रो द्वारा विद्रोह कराया है। इस सम्बन्ध में हम डा० नगेन्द्र की "विचार और अनुभूति" नामक पुस्तक में "वाणी के न्याय मन्दिर" शीर्पक वार्तालाप से एक उदाहरण देते हैं, जिसमे "प्रेमाश्रम" का पात्र ज्ञान शंकर सरस्वती के "न्याय मन्दिर" में प्रेमचन्द के प्रति अभियोग लगाता है। देखिए :—

"मेरा अन्तिम और सबसे बडा अभियोग यह है कि उन्होंने मुझे वरवस आत्म-हत्या के घृणित अभिशाप का भागी बनाया जो मेरे प्राणवान व्यक्तित्व के सर्वथा प्रतिकूल है। मेरे हृदय में जीवन के प्रति असीम अनुराग है ; जीवन के उपयोग के लिए मेरे मन मे सदैव अदम्य उत्साह रहा है। मैंने एक पुरुपार्थी की भाँति जीवन की विपमताओ को पदाक्रान्त किया है। जीवन मे एक वार भी मैंने उनके सम्मुख मस्तक नही झुकाया। वस इसलिये मेरे जन्मदाता ने मुझे जाकर गंगा मे डवो दिया क्योंकि मैं उनकी इच्छाओं का दास नही हो सका।"

ज्ञानशंकर की शिकायतो का अभिप्राय यह है कि उसे प्रेमचन्द गांधीवादी नीति का शिकार होना पड़ा। प्रेमशकर को ऊँचा उठाने के लिए प्रेमचन्द जी ने ज्ञानशंकर के चरित्र को गिरा दिया। ज्ञानशकर के अभियोग से चरित्र चित्रण सम्वन्धी कई महत्व-पूर्ण बातो पर प्रकाश पड़ता है। उपन्यासकार को किसी पात्र विशेप से अनुचित प्रेम न रखना चाहिए उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह दूसरे पात्रों के साथ अन्याय न करे।

वस्तुतः कथावस्तु का निर्माण पात्रो द्वारा होता है और पात्रों को जन्म उपन्यासकार देता है। उपन्यासकार कथावस्तु के द्वारा ऐसी परिस्थितियो को जन्म देता है जो चरित्र का उद्‌घाटन स्वाभाविक रूप से कर सके। इन परिस्थितियो का निर्माण पात्र अपने क्रियाकलाप द्वारा करते हैं। श्रेष्ठ उपन्यास मे कथानक की परिस्थितियो तथा पात्रों के व्यक्तित्व में घनिष्ठ सम्वन्ध रहता है तथा वे एक दूसरे को आदान-प्रदान करते रहते हैं तथा एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। स्थिर पात्रो के चरित्र मे विकास नही होता किन्तु गतिशील पात्र परिस्थितियों से प्रभावित होते रहते हैं। उपन्यासकार को पात्रो को इतनी स्वतन्त्रता दे देनी चाहिए जिससे वह अपनी प्रकृति के अनुकूल चल सकें तथा निजी प्रेरणाओं के द्वारा कार्य करते रहे। कथानक के पूर्व निर्धारित क्रम के लिए पात्रों के व्यक्तित्व को नष्ट करना उनके प्रति अन्याय करना है। यदि वस्तु के लिए किसी पात्र को कोई ऐसा कार्य कराने के लिये वाध्य किया जाय जो उसके चरित्र तथा स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल है तो यह असगत, अनुपयुक्त तथा अस्वाभाविक होगा। यह वस्तु और पात्र के पार-

स्परिक सम्बन्ध के सर्वथा विरुद्ध है। यदि प्रारम्भ मे कोई पात्र दुष्ट तथा नीच दिखाया जाय और अन्त में वह सज्जन हो जाये तो उपन्यासकार को इस अद्भुत परिवर्तन का सन्तोषजनक कारण बताना चाहिये। ऐसा करने से ही पात्र तथा वस्तु का उचित सामंजस्य हो सकता है। बिना कारण बतलाये चरित्र में परिवर्तन नही करना चाहिये। चरित्र की घटनाओं तथा परिस्थितियों से पूर्ण संगति आवश्यक है। "गबन" की घटनायें रमा के चरित्र के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती हैं। चरित्र में जितनी ही संकुलता तथा गुत्थियाँ होंगी उतनी ही उसमें संगति कम होगी।

चरित्र-चित्रण में संगति के साथ सजीवता और स्वाभाविकता भी आवश्यक है। स्वाभाविकता से अभिप्राय यही है कि जो कार्य हों वे चरित्र और परिस्थितियों के अनुकूल हों। 'गोदान' मे मेहता का खान बनना अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है। यद्यपि इससे दृश्य में सजीवता अवश्य आ गई है परन्तु मेहता जैसे दार्शनिक व्यक्ति के स्वभाव के विरुद्ध यह बात लगती है।

कथोपकथन :—कथोपकथन उपन्यास का सबसे रोचक तत्व है, जो उपन्यास की आकर्षण शक्ति को बहुत कुछ बढ़ा देता है। कथोपकथन का सम्बन्ध कथावस्तु तथा पात्र दोनो से है। कथोपकथन के द्वारा ही पात्रों का व्यक्तित्व प्रकाशित होता है तथा कथा क्रम के विकास में भी सहायता मिलती है। कथोपकथन वह ही उपयुक्त माना जायेगा जो कथानक को अग्रसर करने तथा चरित्र पर प्रकाश डालने में समर्थ हो।

कथोपकथन स्वाभाविक, उपयुक्त तथा अभिनयात्मक होना चाहिये। साथ ही कथोपकथन सरस, स्पष्ट, सुबोध तथा मनोहर होना चाहिये। कथोपकथन में स्वाभाविकता तथा सजीवता तभी आ सकती है जब उसकी भाषा पात्रानुकूल हो। प्रेमचन्द जी ने इस बात का पूर्ण ध्यान रखा है। उनके उपन्यासों की भाषा पात्रानुकूल है। बख्शी जी ने इस पर आपत्ति प्रकट की है। उनका कथन है कि यदि कोई पात्र चीनी होगा तो क्या प्रेमचन्द जी उससे चीनी भाषा में बुलवायेंगे ? प्रेमचन्द जी के पुलिस पात्रों की भाषा उर्दू है जो कही-कही दुरुह भी हो गई है। इसके विपरीत प्रसाद के सभी पात्र एक सी भाषा बोलते हैं। "कंकाल" के सभी पात्र संस्कृतगर्भित भाषा बोलते हैं। कथोपकथन के द्वारा पात्र के मानसिक पक्ष का उद्‌घाटन बड़ी सरलता से हो जाता है। वस्तु विकास और चरित्र चित्रण का गम्भीर उत्तरदायित्व कथोपकथनों पर ही है जिनके ऊपर उपन्यासों का आकार निर्मित किया जाता है। अतः कथोपकथन स्वाभाविक तथा सजीव होने चाहियें। कथोपकथन का विषय भी पात्रों के विचारों के अनुसार होना चाहिए। पात्रानुकूल भाषा होने के साथ-साथ कथोपकथन में स्वाभाविकता, सार्थकता, सजीवता तथा सक्षिप्तता का होना भी आवश्यक है।

वातावरण :—उपन्यासकार जिस देश अथवा काल का चित्रण अपने उपन्यास में कर रहा हो वह उसके अनुकूल ही होना चाहिये। यदि उपन्यास ऐति-

हासिक काल की घटनाओं के आधार पर लिखा गया हो तो उस काल के विचारों भावों, व्यवहारों और परिपाटियों आदि का उसमें ठीक-ठीक और पूरा-पूरा वर्णन होना चाहिए। यदि वह ऐसा न करेगा तो वह उस युग का उचित वातावरण उपस्थित करने मे सफल नही हो सकता। देश और काल का ऐतिहासिक ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। आजकल देशकाल का महत्व बहुत बढ गया है। उपन्यासकार चाहे जिस अवस्था का चित्र खीचे, पर यह स्पष्ट है कि उसे चरित्र-चित्रण में देश, काल और परिस्थिति आदि का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये। ऐतिहासिक उपन्यासो मे इन बातो का ध्यान रखना अत्यन्त वांछनीय है क्योंकि इसमे उपन्यास-कार को किसी विशिष्ट युग अथवा काल का चित्र अंकित करना पड़ता है। कुछ उपन्यास तो ऐसे होते हैं जो बिल्कुल ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध होते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जिनके कथानक का इतिहास से कुछ सम्बन्ध होता है। इसमे ऐतिहासिक काल के किसी सामाजिक का जीवन चित्रित रहता है। यदि किसी ऐतिहासिक उपन्यास की रचना केवल वर्तमानकाल की घटनाओं तथा परिस्थितियो आदि के आधार पर की जाये तथा उन्ही घटनाओं और परिस्थितियो का उस ऐतिहासिक काल मे आरोप-मात्र करके छोड़ दिया जाये तो वह उपन्यास ऐतिहासिक दृष्टि से सफल नही कहा जा सकता है। ऐतिहासिक उपन्यास की सफलता तो इसी में है कि उसमे किसी प्राचीन काल के जीवन का पूर्ण और विस्तृत वर्णन किया जाये जिससे पाठको के समक्ष उस काल का सजीव चित्र उपस्थित हो जाये और यह तभी सम्भव है जब लेखक को उस काल का सम्यक् ज्ञान हो। ऐतिहासिक उपन्यास की विशेषता इसी बात मे है कि वह इतिहास की शुष्कता तथा नीरसता को दूर कर उसे सरस तथा सजीव बनाये। वही ऐतिहासिक उपन्यास सफल कहा जायेगा जिसमे किसी विशिष्ट अतीत काल का बिल्कुल सच्चा, जीता-जागता और साथ ही मनोरंजक वर्णन हो।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास की कसौटी पर खरे उतरते हैं। उन्होने "गढ कुडार" मे बुन्देलखंड का चित्रण ऐतिहासिक तत्वों के आधार पर किया है। स्टीविन्स ने लिखा है—"Certain daık gardens cry aloud for murder, certain old houses demand to be haunted, certain coasts are set apart for ship-wrecks." अर्थात् "कुछ अन्धकारमय उपवन हत्या का आवाहन करते प्रतीत होते हैं, कुछ पुराने मकान भूत-प्रेतों के अस्तित्व की मांग करते हैं और कुछ भयानक समुद्रतट जहाजों के टकराने के लिए पहले से ही निर्धारित कर दिए गए हैं।"

घटनाओं को उपस्थित करने मे स्थल का विशेष महत्व है। जो वस्तु जहाँ की हो उसे वही दिखाना चाहिए नही तो देश-काल का दोष आ जायेगा। किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यासो मे देश-काल का दोष मिलता है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल लिखते हैं—

"गोस्वामी जी के ऐतिहासिक उपन्यासों से भिन्न-भिन्न समयों की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था का अध्ययन और संस्कृति के स्वरूप का अनुसधान नहीं सूचित होता। कहीं-कहीं तो काल दोष तुरन्त ध्यान में आ जाते हैं--जैसे जहाँ-जहाँ अकबर के सामने हुक्के या पेचवान रखे जाने की बात कही गई है।"

देशकाल के चित्रण मे इस बात का स्मरण रखना भी आवश्यक है कि उस का वर्णन सीमा से बाहर न हो। नहीं तो पाठको को अरुचि हो जायेगी और वे कथासूत्र को खोजने लगेंगे। कथानक को स्पष्ट करने के लिए देशकाल का वर्णन होना चाहिए उसकी गति मे व्यवधान डालने के लिए नही।

देशकाल तो वातावरण का वाह्य स्वरूप है। वातावरण मानसिक भी माना जा सकता है। मनुष्य के क्रिया-कलाप समाज के अनुसार होते हैं। प्राकृतिक चित्रण के द्वारा भी पात्रों की मानसिक स्थिति निश्चित होती है। प्रकृति और पात्रों की मानसिक स्थिति का सामंजस्य उपन्यास को काव्यत्व प्रदान करता है तथा उसे प्रभाविष्णु बना देता है। जैसे किसी की मृत्यु के अवसर पर दीपक का बुझ जाना, सूर्यास्त होना आदि वातावरण मे अनुकूलता उत्पन्न कर देते हैं। प्रेमचन्द जी ने "निर्मला" उपन्यास में निर्मला की मृत्यु के समय का वातावरण बहुत सुन्दर चित्रित किया है।

"उसी समय जब पशु-पक्षी अपने-अपने बसेरे को लौट रहे थे, निर्मला का प्राण पक्षी भी दिनभर शिकारियों के निशानो, शिकारी चिड़ियो के पंजों और वायु के प्रचण्ड झोंकों से आहत और व्यथित अपने बसेरे की ओर उड़ गया।"

कभी-कभी प्रतिकूलता के द्वारा भी वातावारण मे सजीवता आ जाती है—"जैसे इधर सूर्य का उदय हो रहा था उधर उसकी जीवन-प्रभा विलीन हो रही थी।" किन्तु आजकल इन सामग्रियो का प्रयोग कम मात्रा में होता है। उपन्यास के वर्णन न तो बहुत विस्तृत होने चाहियें और न संक्षिप्त।

विचार और उद्देश्य :—प्रत्येक उपन्यास में उसके पात्रो के भाव तथा विचार अवश्य रहते हैं। उपन्यास के पात्रो के विचार लेखक के विचारों की ही प्रतिछाया होते हैं। उपन्यासकार अपने दृष्टिकोण से जीवन की व्याख्या करता है और उसी के अनुसार उसके विचार होते हैं। उपन्यास में यत्र-तत्र फैले हुए विचारों का भी एक क्रम होता है। उपन्यास मे यद्यपि विचार तो बहुत होते हैं किन्तु प्रधानता उन विचारो को ही अधिक दी जाती है जो लेखक के निजी दृष्टिकोण के अनुसार होते हैं। विचारों में अधिकतर लेखक तथा पात्रो का तादात्म्य हो जाता है।

उपन्यास का उद्देश्य जीवन की व्याख्या या आलोचना है। प्रायः सभी उपन्यासों में पुरुषो और स्त्रियो के भाव, विचार तथा पारस्परिक सम्बन्ध चित्रित किये जाते हैं तथा किन-किन कारणो तथा प्रवृत्तियो से प्रेरित होकर वे कार्य करते हैं, अपने प्रयत्नो मे उन्हे कितनी सफलता अथवा विफलता मिलती है तथा इन सब के फलस्वरूप उनमे कैसे-कैसे मनोविकार उत्पन्न होते हैं—इन सबका वर्णन करना

लेखक का उद्देश्य होता है। उपन्यास में उद्देश्य निरूपण के भी दो प्रकार होते हैं। प्रथम विश्लेपात्मक—जिसमें लेखक अपने दृष्किोण से स्वयं जीवन की व्याख्या करता है। द्वितीय नाटकीय—जिसमे वह जीवन की झाँकी देता है। उसके कुछ विचार तो पात्रो द्वारा अभिव्यक्त हो जाते हैं और कुछ जीवन सम्वन्धी घटनाओं की स्थापना तथा कथा के परिणाम द्वारा व्यक्त होवे है। कुछ मनुष्यों का विचार है कि उपन्यास अवकाश के समय मनोरंजन की वस्तु है किन्तु यह वात नही है। उसमें जीवन सम्वन्वी गूढ सिद्धान्तों तथा तत्वों का भी समावेश रहता है।

यह अवश्य है कि जीवन के सम्वन्ध मे उपन्यासकार के जो विचार तथा आदर्श होते हैं उन्ही के अनुसार वह उपन्यास का वस्तु विन्यास तथा उसके पात्रो का चरित्र-चित्रण करता है। परन्तु उसका यह कार्य गौण रहता है। उसका मुख्य उद्देश्य तो जीवन सम्वन्धी वास्तविक घटनाओं तथा कार्यों का निर्देशन तथा निरूपण करना है। उपन्यासकार जीवन का चित्र इस रूप में अंकित करता है जिससे मनुष्य शिक्षा ग्रहण करते हुए कुछ नैतिक सिद्धान्त तथा आदर्श स्थिर कर सके। उपन्यास-कार के जीवन सम्वन्धी तथा सूक्ति रूप में उपन्यास मे यत्र-तत्र विखरे रहते हैं। जैसे:—(प्रेम केवल हृदयों को मिलता है, देह पर उसका वश नही"—प्रेमाश्रय) ("अनुराग स्फूर्ति का भंडार है"—गवन) ("कायरता भी वीरता की भाँति संक्रामक होती है"—कर्मभूमि) ("निराशा मे प्रतीक्षा अन्धे की लाठी है")। गोदान मे भी इसी प्रकार की सूक्तियाँ मिलती हैं—(डरपोक प्राणियो में सत्य भी गूंगा हो जाता है) (रूप अपमान सह नही सकता) ("परीक्षा गुणो को अवगुण, सुन्दर को असुन्दर वनाने वाली चीज़ है, प्रेम अवगुणों को गुण वनाता है और असुन्दर को सुन्दर")। कभी कभी यह तथ्य मे व्यजित ही रहते हैं।

विश्लेषण प्रधान उपन्यासों में जीवन सम्वन्धी इस प्रकार के तथ्य नही मिलते। उपन्यास में शिक्षाएँ इस प्रकार से मिली रहनी चाहिएँ कि वे समय-समय पर आप ही व्यक्त होती रहे। नैतिक शिक्षाएँ और उपदेश देने के लिए लेखक को उपदेशक या प्रचारक नही होना चाहिए। उपन्यास का वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण इस प्रकार से होना चाहिए जो जीवन के शिक्षा प्रद अंगो से सम्वन्ध रखता हो तथा पाठक के हृदय पर उत्तम, स्थायी और अभीष्ट प्रभाव डालते हो। एक विद्वान् का विचार है—

"यदि हम साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डाले तो हमे पता चलेगा कि जिस साहित्य अथवा कला से लोगों की मानसिक उन्नति अथवा नैतिक भलाई नहीं होती उसका अन्त मानव जाति आत्मरक्षा के विचार से ही कर देती है। जो भाव या विचार आदि मानव जाति की उन्नति के सिद्धान्तो के विरोधी अथवा विपरीत होते हैं, उनको वह अधिक समय तक प्रचलित नहीं रहने देती और शीघ्र ही नष्ट कर देती है। अतः किसी कला के महत्व के लिए यह आवश्यक है कि उसमें नैतिक मानसिक उन्नति के भाव भी वर्तमान हों। यों तो कला मात्र का उद्देश्य

आनन्द मात्र का उद्रेक करना है, पर प्रत्येक कला से मन में कुछ न कुछ भाव, कुछ न कुछ विचार उत्पन्न होते हैं। इसलिए कला का महत्व इसी में है कि उससे हमारे भावों और विचारों में कुछ उन्नति हो, उसका कुछ परिमार्जन हो। मानव जाति की वास्तविक उन्नति उसकी नैतिक उन्नति में ही मानी जाती है और इसलिए मानव जाति सारा उद्योग नैतिक उन्नति के लिए ही करती है और यही कारण है कि जो कला कुशल महत्व प्राप्त करना चाहते हैं, वे न तो नीति के विरुद्ध चल सकते हैं और न उसकी उपेक्षा कर सकते है।" जो लेखक इस तथ्य को अपनाकर रचना करेंगे उन्हे अवश्य ही सफलता मिलेगी। जब उपन्यास का सम्वन्ध जीवन से है तो वह नीति की उपेक्षा कैसे कर सकता है। नीति के साथ उसका जितना सम्बन्ध होगा उतना ही वह महत्वपूर्ण होगा।

उपन्यास के कथानक मे विचार और भाव का समावेश यथोचित मात्रा मे होना चाहिए। प्रसाद जी ने अपने ऐतिहासिक प्रेम का परिचय 'कंकाल' मे अपने पात्रों द्वारा गम्भीर और ऐतिहासिक समस्याओं पर विचार करा कर दिया है। परन्तु इस प्रकार से पात्रो पर एक भार सा लद जाता है। उपन्यास का उद्देश्य केवल नोरंजन तथा कौतूहल की तृप्ति करना ही नही है। उपन्यास के उद्देश्य के सम्बन्ध शी प्रेमचन्द जी लिखते हैं—

"हमारा ख्याल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करें जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे। कला के लिए कला का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति-भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों से जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है उधर दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखलाई देते हैं, विपत्ति का करुण-क्रन्दन सुनाई देता है तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारणीय प्राणी का हृदय न दहल उठे।"

उपन्यास को स्वाभाविक तथा सरस बनाने के लिए यह वाँछनीय है कि उपन्यासकार अपने विचारों को परोक्ष रूप से अभिव्यक्त करे। कलाकार का उद्देश्य सौन्दर्य की सृष्टि करना है। अतः उपन्यासकार को सत्य, शिव और सौन्दर्य का स्मरण रखते हुए जीवन की व्याख्या करनी चाहिए। उपन्यासकार का उद्देश्य कान्ता का सा मधुर और प्रेमपूर्ण उपदेश देना है। उपन्यास मे नीति आदि की बातें सुन्दरम् का परिधान पहिनकर आती है।

सामयिक तथा शाश्वत समस्याएँ:—उपन्यास के उद्देश्य के सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या उपन्यासकार को सामयिक समस्याओं (जैसे—मिल मालिक और मजदूरो का संघर्ष, अछूतोद्धार, दहेज प्रथा, ग्राम सुधार आदि का ही वर्णन करना चाहिए अथवा जीवन की शाश्वत समस्याओं जैसे दाम्पत्य प्रेम, वात्सल्य आदि) पर प्रकाश डाले। कुछ आलोचकों की यह धारणा है कि उपन्यास मे सामयिक समस्याओ पर विचार नही करना

चाहिए क्योंकि उन समस्याओं के समाप्त हो जाने पर लोकरुचि भी समाप्त हो जाती है। "टाम काका की कुटिया" अपने समय की गुलामी प्रथा का चित्र है। आज गुलामी प्रथा के समाप्त हो जाने से उसके प्रति लोकरुचि भी कम हो गई है। इसी प्रकार "दहेज प्रथा" सम्बन्धी उपन्यासों का प्रचलन भी कम है। परन्तु यह बात नही है सामयिक समस्याएँ भी शाश्वत समस्याओं के ही परिवर्तित रूप हैं। अतः उपन्यासकार को चाहिए कि वह सामयिक समस्याओं को शाश्वत समस्याओं से सम्बन्धित कर दे।

आजकल के उपन्यासो से यह आशा की जाती है कि वह समस्याओं का वर्णन करने के साथ-साथ समाज की गुत्थियों को गुलझा कर पाठक के गन्तव्य को निश्चित करे। बहुत सी समस्याओं के हल आदर्शवाद से सम्बन्धित हैं। आज विचारों की दृष्टि से उपन्यास दो प्रकार के होते हैं—(१) यथार्थवादी, (२) आदर्शवादी। कुछ विद्वान यथातथ्य अनुकृति को महत्व देते हैं और कुछ मनोनुकूल परिवर्तन करने के पक्ष मे हैं। प्रेमचन्द जी ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है। वे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के बहुत बड़े पृष्ठपोषक थे। उन्होंने 'जो है' के साथ 'जो होना चाहिए' का भी चित्रण किया है। (यथार्थवाद तथा आदर्शवाद के सम्बन्ध में आगे विचार करेंगे)।

भाव और रस :—पाश्चात्य देशों में उद्देश्य को प्रधानता दी गई है, किन्तु हमारे यहाँ रस को महत्व दिया गया है। उपन्यास भी काव्य की कोटि में आते हैं। अत. उपन्यासो मे भी इसके संचार की अत्यन्त आवश्यकता है। उनके अभाव में उपन्यास नीरस तथा प्रभाव शून्य हो जायेंगे। उपन्यास मे रस तथा भाव को प्रधानता देकर विचार की उपेक्षा नही की जा सकती क्योंकि विचार प्रायः भाव-प्रेरित होते हैं। काव्य मानव के भावो तथा विचारो का ही आगार है। उपन्यास में भी शृंगार, वीर, करुण, हास्य, अद्भुत आदि रसो का समावेश रहता है। प्रारम्भिक काल के उपन्यास अधिकतर जासूसी तथा तिलिस्मी होते थे। अतः उनमें अद्भुत रस का प्राधान्य था। आजकल के राजनीतिक उपन्यासो मे करुण तथा वीर का सम्मिश्रण है। वर्तमान युग की करुणाजनक दशा पर क्षोभ प्रकट करके तथा उसको दूर करने के लिए उत्साह का सचार किया जाता है। करुण मे वीर का समावेश स्वाभाविक रूप से हो ही जाता है। जिन उपन्यासों मे पूँजीवाद के प्रति घृणा मिलती है उनमे वीभत्स रस का प्राधान्य होता है।

उपन्यासकार को रसो के प्रयोग मे औचित्य का ध्यान रखना चाहिए। उसे रसो का प्रयोग इस प्रकार से करना चाहिए जिससे पाठकों के हृदय मे हास्य, करुणा, अथवा शोक आदि के विकार उत्पन्न हो सके। परिहास प्रतिभा की सबसे बड़ी देन है इसके द्वारा उपन्यास का सौन्दर्य बहुत बढ जाता है। अतः लेखक को चाहिए कि वह परिहास को अश्लीलता की सीमा पर पहुँचाकर उसका दुरुपयोग न करें। बे मौके परिहास हास्यास्पद ही कहा जायेगा। लेखक यदि सतर्क तथा विचारशील होगा तो

वह परिहास का ऐसा रूप प्रस्तुत करेगा जिससे दूसरों के आचरण सुधरें तभा दुर्गुण दूर हों। उपन्यास का परिहास बे मौके, अश्लील, तथा निर्दयतापूर्ण न होना चाहिए और उसमे शुद्ध विनोद की मात्रा अधिक होनी चाहिए। करुण, शोक आदि रसों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। हमारे यहाँ बहुत से ऐसे करुण-रस प्रधान ग्रन्थ हैं, जिनके विशिष्ट अंशो को पढ़ने से आज भी हमारे नेत्रों में आँसू आ जाते हैं। हरिश्चन्द्र के श्मशान प्रवास तथा रामचन्द्र के वन-गमन का वर्णन पढकर हमारे नेत्रों से अश्रुपात होने लगता है। परन्तु अयोग्य लेखक इन रसों की दुर्दशा कर देते हैं। लेखक को रसों का प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए। किसी साधारण दुःखमय घटना का इतना अत्युक्तिपूर्ण और विस्तृत वर्णन नही होना चाहिए कि पाठक का चित्त अत्यन्त व्याकुल तथा दुःखी हो जाय। बंगाली लेखक अपने पात्रों को इतना अधिक रुलाते हैं कि पाठकों के मन में करुण रस का तो संचार होता नही उल्टे एक प्रकार की अरुचि हो जाती है। यदि किसी उपन्यास की समाप्ति पर पाठक आवश्यकता से अधिक क्षुब्ध तथा चिन्तित होता है तो वह उपन्यास प्रशंसनीय नही कहा जा सकता।

उपन्यास मे मनोभावों का चित्रण भी स्वाभाविक रूप मे रहता है। 'गबन' मे रमाकान्त के कलकत्ते जाते समय भय की मनोवृत्ति का अच्छा विश्लेषण मिलता है। 'गोदान' में बनावटी खान के आ जाने से शहरी मनुष्यों की कायरता पर होरी का साहस तथा उत्साह देखने योग्य है। 'रंगभूमि' मे सूरदास का वीरोत्साह भी प्रशंसनीय है। उपन्यास को समय का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

शैली:—उपन्यास मे शैली से अभिप्राय कथावस्तु को प्रतिपादित करने की प्रणाली विशष से है। वही उपन्यास सफल कहा जायगा जिसमे कथावस्तु को सुन्दर शैली मे व्यक्त किया गया हो। उपन्यास की सार्थकता कथा की मौलिकता तथा रोचकता पर ही अवलम्बित नही है, अपितु शैली पर भी है। पद-पद पर प्रसन्नता प्रदान करना तथा उत्सुकता को बनाये रखना भी कथावस्तु का प्राण है—बहुत कुछ शैली पर ही निर्भर है। कथावस्तु के अन्य गुण संगठन, क्रम, संगति आदि का सम्बन्ध भी शैली के आन्तरिक पक्ष से है।

समाज के मनोरंजन की दृष्टि से आज उपन्यास नाटक की अपेक्षा अधिक महत्व रखता है। उपन्यास के द्वारा सामाजिक तथा ऐतिहासिक तथ्य जनता तक सहज में ही पहुँचाये जा सकते हैं। अतः इसकी शैली मे प्रसाद गुण का होना अत्यन्त आवश्यक है। माधुरी तथा ओज का भी समावेश विषयानुकूल यथास्थान होना वाछनीय है। भाषा को सुबोध तथा प्रसादमय बनाने के लिए मुहावरों का प्रयोग भी अपेक्षित है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि के चमत्कार से भी उपन्यास की शैली आकर्षक तथा रोचक हो जाती है। इनकी सहायता से सफल व्यङ्ग्म् भी किये जा सकते हैं। उपन्यास मे लक्षणा-व्यंजना का महत्व भी कम नही। उपन्यास की शैली कौतूहलपूर्ण होनी चाहिए। उपन्यास की मुख्य कला कल्पना को सत्य का

रूप प्रदान करना है। उपन्यास की भाषा की कई शैलियां होते हुए भी दो मुख्य हैं—एक चलती शैली जैसी प्रेमचन्द जी की है। दूसरी संस्कृत गर्भित शैली—जैसी प्रसाद जी तथा हृदयेश जी की है। उपन्यास मे व्यास शैली के लिए अधिक स्थान है। उपन्यास की कथा कहने की तीन शैलियाँ हैं जिनका उल्लेख हम कथावस्तु में कर चुके हैं।

विशेष:—उपन्यास गतिशील वस्तु है। उसमे निरन्तर विकास हो रहा है। अत. आज इन तत्वो की परम्परा का अधिक महत्व नही रहा है। अव न तो **"कथानक में व्यवस्था और शृंखला का पहला सा मान रहा और न चरित्र-चित्रण में सगति और सम्बद्धता का आग्रह है।"** आजकल मनोविज्ञान का प्रभाव बढ़ जाने के कारण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को प्रधानता दी जाने लगी है। यद्यपि आज उपन्यास के बन्धन शिथिल हो गये हैं परन्तु फिर भी उसके नियमों तथा तत्वो में बहुत कुछ सार है। आज उपन्यास की परीक्षा आधुनिक युग के विचारों की कसौटी पर करनी चाहिए, तभी उपन्यासकार के साथ न्याय किया जा सकता है। भविष्य मे उपन्यास का क्या रूप होगा, उसे हम टौमसमान के शब्दो मे कह सकते हैं:— **"मध्यवर्गीय और व्यक्तिगत से वे विशेष मानव श्रेणी के चित्रक और पौराणिक हो जायेंगे।"** यह भी आशा है कि प्रतीकात्मक कौशल और आदर्शात्मक प्रवृत्ति वाले लेखक भी उपन्यास की प्रगति मे योग देंगे। यह तो मानना पड़ेगा कि उपन्यास के द्वारा प्राचीन सभ्यता के शाश्वत स्मारक, संस्मरण, माननीय आचार विचारों और कलाकृतियो का सुन्दर सम्मिश्रण प्राप्त हुआ है।

उपन्यास में यथार्थवाद तथा आदर्शवाद

भारतीय संस्कृति के अनुसार श्रेष्ठ साहित्य वह है जिसमें श्रेय और प्रेय का सुन्दर समन्वय हो, क्योकि साहित्य की सार्थकता जीवन को सुसम्पन्न, सतत प्रयत्नशील और चिर मंगलमय वनाने में है। जो काव्य आन्तरिक और वाह्य सौन्दर्य का सम्पादन कर जीवन को सार्थकता प्रदान करने मे सहायक होगा वही जन-समाज के लिए वांछनीय है। इसीलिए कलाकार को मानव जीवन की व्याख्या करनी पड़ती है। यह व्याख्या किस रूप मे की जाय यह उसके समक्ष एक समस्या रही है। उपन्यासकार संसार को किस सीमा तक जैसे का तैसा चित्रित करता है और कहाँ तक उस पर अपने भाव और विवेक का आरोप कर उसे अपने आदर्श के अनुकूल निर्मित करने के लिए परिवर्तित कर देता है—इस आधार पर साहित्य जगत में दो वादो को जन्म मिला। कुछ विद्वान् यथातथ्य अनुकृति को महत्व देते हैं और कुछ उसमे मनोनुकूल परिवर्तन करने के पक्ष मे हैं। साहित्य के क्षेत्र मे यह दोनो ही प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। एक को यथार्थवाद कहते हैं, और दूसरे को आदर्शवाद।

जीवन की विविधता और एकता की अभिव्यक्ति के लिए काव्य ने यथार्थ और आदर्शवाद की रूप में भिन्न पर प्रेरणा में एक शैलियाँ अपनाई हैं। जीवन मे प्रत्यक्ष जैसा है और हमारा परिपूर्ण कल्पना मे जैसा है यही हमारा यथार्थ और

आदर्श है। और इस रूप में तो वे दोनों जीवन के उतने ही दूर पास हैं, जितने जल की आर्द्रता से मिले रहने के कारण एक ओर उसे मर्यादित रखने के लिए भिन्न नदी के दो तट उनमे से केवल एक जीवन को घेरने का प्रयास ही बन कर रह सकता है। उसे सफलता की संज्ञा देना कठिन होगा।

यथार्थवादी उपन्यास में वे घटनाएं चित्रित की जाती हैं जो हमारे दैनिक जीवन में नित्य प्रति घटित होती रहती हैं। उसमे पाप, पुन्य, धूप-छाया और दुःख सुख के भाव निहित रहते हैं। यह सामान्य भाव-भूमि के समतल रहता है और वर्त्तमान की वास्तविकता मे सीमाबद्ध रहता है। यथार्थवाद उपन्यास संसार के कोलाहल और करुण-क्रन्दन का यथातथ्य वर्णन करता है। वह कठोर सत्य का उद्घाटन करने मे पीछे नही रहता। वह साहित्यिक न्याय में विश्वास नही करता, वह व्यक्ति की दुर्बलता के कारणों का अन्वेषण करता है और इसके लिये वह सामाजिक रूढियो को दोषी ठहराता है। वह वास्तविकता का पुजारी है। अतः मनुष्य के पाप और दोष का वर्णन करने में वह संकुचित नही होता। इसीलिए यथार्थवादी उपन्यास वेदना से द्रवित होकर जन समाज के अभाव और उनकी वास्तविकता दशा तक पहुँचने का प्रयास करता है। वह अस्थिवसा चर्म के भीतर छिपे हुए समाज के नग्न कंकाल को अनावृत करके दिखा देता है। वह संसार की कलुष-कालिमा पर भव्य आवरण नही डालना चाहता। इस प्रकार यथार्थवादी उपन्यासकार लेखक कम और आलोचक अधिक होता है, एक सच्चे यथार्थवादी उपन्यासकार की कृति में :—

"Every truth is lined up with every thing else. Each phenomenon shows the polyphony of many components the intervenement of the individual and the social of the physical of private interest and public affairs."

जिस प्रकार शरीर आत्मा का माध्यम है। उसी प्रकार यथार्थ आदर्श का माध्यम है। वह आदर्श के स्पष्टीकरण के लिए अनिवार्य है। यदि आदर्श जीवन के निरपेक्ष सत्य का बालक है तो यथार्थ जीवन की सापेक्ष सीमा का जनक। अतः उसकी अन्योनाश्रित स्थिति न ऊपर से कभी प्रकट हो सकती है, और न भीतर से कभी मिट सकती है। अतः जब तक यथार्थ को न लिया जायेगा, तब तक आदर्श का मूल्यांकन नही किया जा सकता।

यथार्थवादी उपन्यासकार मानव जीवन की आवश्यकताओं का यथातथ्य वर्णन करता है। उन आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए मनुष्य जो कार्य करता है। अथवा (इसी सम्बन्ध में जो विचारधाराएँ उसके मस्तिष्क को आलोड़ित विलोड़ित करती हैं) उनका प्रत्यक्षीकरण कराना यथार्थवाद का ध्येय है।

यथार्थवाद का दृष्टि विन्दु-वस्तुगत है। आदर्शवाद के समान भावगत नही। उसका केन्द्रीय विचार वेदना है। दुःख से आहत अभाव से ग्रसित समाज का नग्न

चित्रण ही उसे अभीष्ट है।

प्रगतिशील समालोचको ने यथार्थवाद को चार वर्गों में बाँटा है :—

(१) समाजवादी यथार्थवाद।
(२) मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद।
(३) आदर्शोन्मुख यथार्थवाद।
(४) भाव प्रधान यथार्थवाद।

(१) **समाजवादी यथार्थवाद**—यह धारा मार्क्स तथा गाँधीवाद से विशेष प्रभावित है। इसमें तीन भावनाएँ मिलती हैं—(१) राजनैतिक प्रचार, (२) भावनाओं का चित्रण, (३) राष्ट्रीयता। राजनैतिक प्रचार के अन्तर्गत कविता की प्रवृत्ति उपदेशात्मक रही है। वर्ग विहीन समाज की स्थापना पर बल दिया गया है। इसमे जनता के दुःखो का वर्णन मिलता है।

भावनाओं के चित्रण मे कविता का यथार्थ स्वरूप प्राप्त होता है। इस प्रकार की कविता का उद्देश्य वस्तु का शिष्ट एवं प्रभावोत्पादक वर्णन करना है तथा मानवता का उद्धार करना है। पन्त, निराला तथा दिनकर की रचनाएँ इसी प्रकार की हैं :—

"गा कोकिल बरसा पावक कण, नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।
अग्नि पग धार आवे नूतन, हो पल्लवित नवल मानव पन॥"

राष्ट्रीयता—इसमें देश की स्वतन्त्रता की भावनाएँ हैं। माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त तथा रामधारी सिंह दिनकर इस धारा के प्रवर्तक हैं :—

यह सुनो आकाश वाणी हो रही,
नाश पाता जाएगा जब तक विजय।
वीर ! ना धार्मिक ! नही सत्कवि ? नही,
देश मे पैदा न हों जब तक हृदय॥ —एक भारतीय आत्मा

(२) **मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद**—फ्रायड से प्रभावित होकर इस धारा में कवियो ने समाज को ज्यों का त्यो चित्रित किया है। श्लीलता तथा अश्लीलता का यह ध्यान नही देते।

(३) **आदर्शोन्मुख यथार्थवाद**—इसमे आदर्श तथा यथार्थ का समन्वय है। यह विश्वबन्धुता का संप्रेषक तथा श्रद्धा एवं प्रेम द्वारा मानवता का पोषक है।

आदर्शवादी उपन्यासकार स्वप्न दृष्टा होता है। इस संसार में ईश्वरी न्याय और सत्य की दिव्य विजय देखना चाहता है। वह संघर्ष मे भी साम्य देखने के लिए लालायित रहता है। वह पृथ्वी को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करता है। यदि वर्तमान दुःखमय है तो वह उज्ज्वल भविष्य की कल्पना में गोते लगाता रहता है। **"वह आशावादी होता है, और आशा के एक बिन्दु से सुख के सागर की सृष्टि कर लेता है।"**

इन वादों के सम्बन्ध में विद्वानों मे अनेक मतभेद हैं। 'श्री नन्ददुलारे बाजपेयी' के मतानुसार :—

"ये दोनों साहित्य की चित्रण शैली के दो स्थल विभाग मात्र हैं। दोनों ही शैलियाँ लेखक के दृष्टिकोण पर अवलम्बित हैं। कला की सौन्दर्य सत्ता की ओर दोनों का झुकाव रहता है। आदर्शवाद मे विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित होता है। यथार्थवाद में सामान्य या अभीष्ट के चित्रण द्वारा इष्ट की व्यंजना होती है।

यहाँ पर बाजपेयी जी ने इन दोनो वादों के प्रयोग का पूर्ण भार लेखक पर ही छोड़ दिया है। इस दृष्टिकोण से कोई भी लेखक दोषी नही ठहराया जा सकता।

स्वर्गीय प्रसाद जी ने यथार्थवाद को "जीवन की अभिव्यक्ति माना है।" उनके विचारानुसार 'अभावों की पूर्ति' ही आदर्शवाद है।

श्री शिवदानसिंह जी ने आदर्शवाद को पलायनवाद के अन्तर्गत माना है। उन्होने गोरखपुर मे अध्यक्षपद से 'कथा साहित्य' पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि—"पलायन का साहित्य और चाहे जो कुछ हो प्रथम कोटि का नहीं हो सकता।" परन्तु यह बात असगत सी प्रतीत होती है। स्वर्गीय प्रसाद जी तथा प्रेमचन्द जी की कृतियाँ आज के यथार्थवादी लेखकों से अब भी महान् हैं। भावो की गहराई, अनुभूति की तीव्रता और व्यंजना की धूप-छाँह के लिए आज भी हम ऐसे साहित्यों की शरण मे जाते हैं।

इन दोनो वादो के अपने अपने क्षेत्र तथा सीमाएँ हैं। गुण तथा अवगुण दोनों मे ही विद्यमान हैं। आदर्शवाद के अनेक गुण हैं। इसमे चुनाव, पूर्णता, सामंजस्य, सुव्यवस्था, परिष्कार, औचित्य एवं भूत, भविष्य और अव्यक्त की ओर झुकाव रहता है। प्रत्येक समय की परिस्थितियाँ अपने आदर्शों का निर्माण स्वयं करती हैं। हिन्दी तथा अन्य देशों के साहित्य इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। हमारे प्रायः सभी प्राचीन महाकाव्य आदर्शवादी हैं। 'महाभारत' और 'रामचरित मानस' अनेक आदर्शों के समन्वय ग्रन्थ हैं। अपने-अपने चरित्रादर्शो की लम्बी सूची हैं। इन महाकाव्यों मे ऐसे आदर्श तत्व निहित हैं। जिनका अनुगमन करके मनुष्य इस लोक को तो क्या परलोक तक को बना सकता है।

परन्तु आदर्श मे कुछ न्यूनताएँ भी हैं जो इसमे दोष उत्पन्न कर देती हैं। कभी कभी यह क्लिष्ट, अस्वाभाविक और यथार्थता पूर्ण हो जाता है। धार्मिक सकीर्णता, प्रत्पक्ष उपदेश की प्रवृत्ति और वर्तमान जीवन से पृथक हो जाने पर आदर्श की महत्ता लुप्त हो जाती है।

दूसरी ओर यथार्थवाद के भी अपने गुण दोष हैं इसमे यथार्थता, स्वाभाविकता सरलता, सुस्पष्टता, पूर्णता और वर्तमान जीवन से प्रेम विद्यमान रहता है। परन्तु इसके

लिए नग्न चित्रण आवश्यक नही। यदि यथार्थ का चित्रण इसलिए किया जाता है कि उससे आदर्श का स्पष्टीकरण हो तब तो न्याय-संगत है। परन्तु यथार्थ, यथार्थ के लिए कोई लाभ नही दे सकता। नग्न यथार्थ कभी भी ग्राह्य और रुचिकर नहीं हो सकता। अन्य उपन्यासों को छोड़कर 'गोदान' मे प्रेमचन्द जी यथार्थवादी हैं। परन्तु यह यथार्थ समाज के लिए लाभप्रद है।

क्योकि यह आदर्श के द्वारा यह संकेत करता है कि हमे ग्राम्य समस्या का हल करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव ने भी लिखा है कि "कभी कभी यथार्थवादी लेखक तुच्छ से तुच्छ और अनावश्यक बातों का भी ऐसा चित्रण करता है कि काव्य का प्रभाव फीका पड़ जाता है।" वास्तव मे अंग्रेजी साहित्य के यथार्थवादियो की भाँति यहाँ के यथार्थवादियो ने कुछ विकृत वस्तुओं का वर्णन किया है। उनके साहित्य मे वास्तविकता का तो अभाव है परन्तु उस वास्तविकता का प्रदर्शन प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होता है यह प्रदर्शन प्रवृत्ति साहित्य के लिए घातक है—

'The Literature which stands upon the actual and the real feelings is a literature to be appreciated, but if there is only propaganda of that 'inner feeling' it will die soon.'

इस सघर्ष प्रधान विश्व में व्यक्ति अपने जीवन मे यथार्थवाद और दुख से इतना अधिक आक्रान्त है कि साहित्य मे उसकी पुनरावृत्ति देखकर अपने मन को भाराक्रान्त नही करना चाहता। आदर्शवाद दुखित जीवन को सुखद मार्ग का अवलोकन कराता है। यदि साहित्य मे जो है के साथ जो होना चाहिए का चित्रण न हो तो पाठक की दशा अन्धे के समान हो जायेगी। इसलिए साहित्य में जो है के साथ जो होना चाहिए का चित्रण रहता है। अरस्तु ने भी कहा है--

"It is not the junction of the poet to relate what has happened but what may happen......poetry transforms it's fact into truth. The truth of poetry is not a copy of reality what to be, not what is."

डा० मैथलीशरण गुप्त जी ने भी 'साकेत' मे कहा—

"हो रहा है जो जहाँ, जो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ ?
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ ?

इस प्रकार इन दोनों वादो के गुणों और दोषो की विवेचना करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपन्यास को उत्कृष्टता प्रदान करने के

लिए इन दोनो वादों का समन्वय आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

प्रसाद जी के शब्दों में—"कुछ लोग कहते हैं कि साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए और सिद्धान्त से आदर्शवादी धार्मिक प्रवचन कर्त्ता बन जाता है और यथार्थवादी सिद्धान्त से इतिहासकार ही सिद्ध होता है। क्योंकि वह चित्रित करता है कि समाज कैसा होता है और कैसा था ? किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकार है और न धर्मशास्त्र प्रणेता। दुःख दग्ध जगत और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकाकीकरण ही साहित्य है। इसलिए साहित्य में आदर्श और यथार्थ घुले मिल रहते हैं।"

वास्तव मे यथार्थ और आदर्श दोनों एक दूसरे को पूर्णता प्रदान करते हैं। रस्किन ने भी कहा है—"One completes the other and is completed by the other."

आदर्श यथार्थ को ऊँचा उठाता है, और यथार्थ आदर्श को खोखला होने से बचाता है। प्रोफेसर श्री रेजन ने कहा है–

"दोनों तत्व ही साहित्य अभियान के दो पहिये हैं......उनमें से एक के अभाव में साहित्य कोरा शरीर अथवा निराधार प्राण ही रह जायगा।"

सुश्री महादेवी वर्मा ने एक स्थान पर लिखा है कि—"जिन युगों में हमारी यथार्थ दृष्टि को यथार्थ का आकार मिला है और स्वप्न दृष्टि को यथार्थ दृष्टि से सजीवता, उन्हीं युगों मे हमारा सृजनात्मक विकास सम्भव हो सका है। ध्वंसात्मक अन्धकार के युगों में या तो वायवी और निष्प्राण आदर्श का महा शून्य हमारी दृष्टि को दिग्भ्रान्त करता रहा है। या विषम और खण्डित यथार्थ के नीचे गर्त तथा ऊँचे टीले हमारे पैरों को बांधते रहे हैं।

हमारे प्राचीन आदर्शवादी महाकाव्य में भी दोनों वादो का यथोचित समन्वय है। उनमें आदर्श के साथ-साथ मानवीय दुर्बलताएं भी चित्रित की गई हैं। "उत्तर रामचरित में राम-सीता का परित्याग आदर्श की स्थापना के हेतु करते हैं। परन्तु वही राम साधारण कोटि में आ जाते हैं। जब वे सीता के विरह से दग्ध होते हैं। जब आदर्श की प्राप्ति हो जाती है। तब वही यथार्थ का रूप ग्रहण कर लेता है। वही पूर्णता है जहाँ हमारे भावो को विश्राम मिले। कविवर प्रसाद जी ने भी कहा है:—

"जहाँ हमारी कल्पना आदर्श का नीड़ बना कर विश्राम करे वही स्वर्ग है।" आदर्श की प्राप्ति ही चरम सुख है।

उपन्यास सम्राट मुन्शी प्रेमचन्द जी कोरे यथार्थवाद का विरोध करते थे। वे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के पोषक थे। यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है। उनका पात्र चन्द्रधर "कायाकल्प" में कहता है—"यथार्थ का रूप अत्यन्त भयंकर होता है और यदि हम यथार्थ को ही आदर्श मान लें तो संसार नरक तुल्य हो जाय।"

वास्तव मे साहित्य का चरम उद्देश्य है—मनुष्य का उत्थान पतन नहीं। आज के प्रगतिवादी आलोचक, प्रेमचन्द जी की इस प्रवृत्ति को "पलायन" मानते हैं, क्योंकि वह यथार्थ का सामना करने मे असमर्थ रहे। परन्तु उनके उपन्यास के पात्र आमरण कर्म युद्ध मे संलग्न रहे। निःसन्देह प्रेमचन्द जी मे यथार्थ और आदर्श का पूर्ण समन्वय था। वह लिखते हैं :—

"यथार्थ यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति मात्र हैं, जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।"

आदर्श की रेखाएँ कल्पना के सुनहले रंगों से तब तक रंजित नहीं की जा सकती, जब तक उन्हे जीवन के स्पन्दन से न भर दिया जाय। और दूसरी ओर यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने से पूर्व उसे आदर्श के कूलो का सहारा देना आवश्यक है। यथार्थ के बिना आदर्श गतिहीन है और आदर्श के बिना यथार्थ जीवन रहित, जीवन मे वह यथार्थ जिसके पास आदर्श का स्पन्दन नही, केवल शव है। और वह आदर्श जिसके पास यथार्थ का शरीर नही प्रेत मात्र है।

आज के युग मे निर्माण का जैसा विस्तृत और अनेक रूपात्मक क्षेत्र है। उसे देखते हुए ऐसे उपन्यासो के निर्माण की आवश्यकता है जो आदर्श की सीमा का स्पर्श करता हुआ भी जीवन की वास्तविकता की उपेक्षा न करे। जिसके वर्तमान अभाव के पीछे भावी का सुन्दर निर्माण निहित हो। **"कला या साहित्य न तो हमारी ठोस भौतिक आवश्यकता की प्रतीक है और न काल्पनिक आदर्श की छायामात्र।"** वह तो जीवन के 'श्रेय' और प्रेय का सुन्दर सुयोग है। अतः उपन्यास को उत्कृष्टता प्रदान करने के लिए उपन्यासकार को मध्यम मार्ग का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है। प्रसाद जी ने भी 'कामायनी' मे कहा है :—

"छोड़ कर जीवन का अतिवाद,
मध्य पथ से लो सुगति सुधार।"

उपन्यास के कोटिक्रम

उपन्यास चार प्रकार के माने गये हैं—(१) घटना प्रधान, (२) सामाजिक अथवा व्यवहार सम्बन्धी उपन्यास (३) अन्तरग जीवन के उपन्यास (४) देशकाल सापेक्ष और निरपेक्ष उपन्यास।

(१) घटना प्रधान :—उपन्यास की कथा में कुछ घटनाएँ होती हैं और वह एक विशेष क्रम से घटित होती हैं। घटना प्रधान उपन्यास पात्रो के कौतूहल को आदि से अन्त तक जगाते रहते हैं। मनुष्यो की आदिम कहानियो का इसे रूप समझना चाहिए। इस प्रकार के उपन्यास की घटनाएँ विस्मयकारिणी

होती है। इनकी निश्छल सरलता ही एकमात्र कला है। घटना प्रधान उपन्यास में उपन्यासक़ार किन्ही महत्वपूर्ण रहस्यों को पाठकों तक प्रभावशाली रूप में पहुँचाता है। इसकी कथाएँ हास्य विनोदमयी होती हैं। हिन्दी में "चन्द्रकान्ता सन्तति" इसी प्रकार का उपन्यास है। वह कौतूहल की सृष्टि करता हुआ, प्रतीक्षा, आशा, आशंका, भय आदि सवेदनात्मक भावों को भी उदित करता है। इस उपन्यास की प्रेमी-प्रेमिकायों की योजना और प्रेम सम्बन्धी चर्चाएँ कौतूहल के साथ-साथ हृदय को भी स्पर्श करती हैं।

इस कोटि के उपन्यास का उद्देश्य चाहे वे तिलस्मी हों, या जासूसी या खूनी केवल आश्चर्यजनक घटनाओं को कौतूहलवर्द्धक रीति से वर्णन करना है तथा प्रेम, अपराध, अथवा गुप्त नीति से रस उत्पन्न करना है। इस कोटि के उपन्यास मनुष्य जीवन के असाधारण और विरल अंश से सम्बन्धित होते हैं। ऐसे उपन्यास प्रायः सुखान्त होते हैं और इनमे घटना चक्र की समाप्ति पर नायक की विजय दिखाई जाती है। नायक की विजय की कुंजी किसी तहखाने, किसी गुप्त पत्र तथा किसी ऐसे स्थान में होती है जिसके प्राप्त होते ही उपन्यास का रहस्य खुल जाता है और उसका सुखमय अन्त हो जाता है।

(२) सामाजिक अथवा व्यवहार सम्बन्धी उपन्यास :—ऐसे उपन्यासों को सामाजिक अथवा व्यवहार सम्बन्धी उपन्यास कहेंगे जिनमें समाज के नर-नारियों के क्रिया कलाप तथा पारस्परिक व्यवहार का वर्णन रहता है। सामाजिक उपन्यासो में पात्रों, उनके पारस्परिक व्यवहारों तथा उस समाज की रीति-नीति आदि पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। ऐसे उपन्यासों का क्षेत्र अधिक विस्तृत तथा समाज व्यापी होता है। इस उपन्यास के पात्र विरलता की भूमि पर खडे हुए नहीं होते। उनका सम्बन्ध सामूहिक जीवन के क्षेत्र से है। इस कोटि के उपन्यासों की मुख्य कला सामाजिक रमणीय योजना तथा पात्रों में स्वाभाविकता का निर्वाह करते हुए सामाजिक अंगों को स्पर्श करना है। संस्कृत का "दशकुमार चरित" इस प्रकार के उपन्यास का अच्छा उदाहरण है।

उपन्यासकार अपने विषय के अनुरूप देश-काल का प्रयोग करता है। सामाजिक अथवा व्यवहार सम्बन्धी उपन्यासों में उपन्यासकार का ध्यान परिस्थितियों की योजना पर विशेष रहता है। ऐसे उपन्यास प्रायः अपने समसामयिक समाज का प्रतिबिम्ब होते हैं।

(३) अन्तरंग जीवन के उपन्यास :—इस कोटि के उपन्यासो में काल या समय की गति को प्रधानता देते हुए पात्रो के दुखः-सुख पूर्ण एक स्मृति पट चित्रित किया जाता है। इन उपन्यासो में काल के प्रवाह मे पड़े हुए मनुष्य का नैसर्गिक वर्णन रहता है। इन उपन्यासों में व्यक्ति का जीवन चिरन्तन मनुष्य जीवन का प्रतीक होता है। इनमें समय की परिवर्तनशीलता के साथ व्यक्तियो के चित्र

सम्पूर्ण आकृति से इंगित रहते हैं। सामाजिक उपन्यासों के पात्रों का स्वभाव आदि से लेकर अन्त तक एक सा रहता है। और उनके स्वभाव के अनेक रूप परिस्थितियों के पटल को रंजित करते रहते हैं। किन्तु अन्तरंग जीवन के उपन्यासों में व्यक्ति का शरीर उसकी आत्मा तथा बुद्धि की एक साथ झाँकी मिलती है। इन उपन्यासों को कला सम्बन्धी अद्वितीय पूर्णता प्राप्त होती है। ऐसे उपन्यासो मे पात्रो तथा घटनाओ की संख्या थोडी होती है और घटनास्थल संकीर्ण होता है। इसी संकीर्णता में उपन्यासो का तीव्र प्रभाव रहता है। इस सम्बन्ध में यह उपन्यास नाटकीय रचनाओं के समान है जिनमें छोटे से रंगस्थल पर प्रभूत प्रभाव उत्पन्न किया जाता है। जीवन के सुखमय तथा दु:खमय दोनों पहलू ऐसे उपन्यासों में रहते हैं। भावना की तीव्रता होने पर ऐसे उपन्यासो में कवित्व के भी दर्शन होते हैं।

(४) **देशकाल-सापेक्ष और निरपेक्ष उपन्यास :**—उपन्यासो की चौथी कोटि वह होती है जिसमें देश और काल दोनो ही समान रूप से ध्यानस्थ रखे जायें या दोनो ही समान रूप से विस्मृत कर दिये जायें। महाकवि वाण की "कादम्वरी" देशकाल निरपेक्ष उपन्यासो की कोटि मे आयेगी। कादम्वरी की कथा में यद्यपि घटनाए सरोवर तट, राजग्रह आदि स्थान विशेष तथा संध्या, चाँदनी रात, युवावस्था, आदि समय विशेष में घटित होती हैं परन्तु कवि की अत्यधिक कवित्वमयी वर्णन शक्ति से सजीव होकर उन्होने अपनी समय तथा स्थान की संज्ञा छोड़ दी है। इस उपन्यास में वस्तुओ की एक एक क्रिया, भाव की एक-एक मुद्रा इतनी सुन्दर है कि श्रेष्ठ उपन्यासो की बड़ी बड़ी घटनाएँ भी इतनी प्रभावशाली न होंगी। इसके उपदेश भी रसमय हैं। सयोग भी शीलता, छाया तथा वियोग की उष्णता का सुखद सम्मिश्रण है। इस उपन्यास में वर्णन तथा चित्रण सम्वन्धी अनेक अभिनव विशेषताएँ हैं।

सामाजिक जीवन की काल-सापेक्ष छाया भी उपन्यासो मे होनी चाहिए। आज के उपन्यासकारो में देश अथवा प्रान्त के सर्वतोव्याप्त जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन किया है और वही वातावरण उनकी कृतियो में मिलता है।

प्रेमचन्द जी के उपन्यासो को हम उपयोगितावादी सामाजिक उपन्यास कह सकते हैं। उनके उपन्यासो मे सामयिक जीवन का चित्र सामायिक आन्दोलनो के के रंग में रंगा हुआ दृष्टिगोचर होता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में समाज का वह चित्र नही है जो परिवर्तनशील न हो।

ऐतिहासिक उपन्यास :—अचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने अपने समीक्षा शास्त्र में तीन प्रकार के ऐतिहासिक उपन्यास माने हैं। वे इस प्रकार हैं—

१—"विशिष्ट-युगीन उपन्यास जो ऐतिहासिक खोज के आधार पर लिखे गये हों और जिसके पात्र उस युग के जीवन का परिचय देने वाले हों, भले ही वास्तविक न हों।"

२—"वह ऐतिहासिक उपन्यास, जिसमें प्राचीन अतीत के राजाओं और

सघटित—वि. [स.] जिसका संघटन हुआ हो।

साहसियों के ऐतिहासिक कृत्यों का वर्णन होता है। जिसमें प्रायः लेखक इस युग की जटिलताओं से बच-निकलकर या पलायन करके काम करना चाहता है।"

३—"शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास, जो वास्तविकता को छोड़ता नहीं वरन् और भी तीव्र कर देता है। इनमें प्रायः एक पीढ़ी पहले के दृश्य होते है जिससे कि लेखक अपने बचपन की स्मृति को कुरेदकर रचनात्मक शक्ति उत्पन्न कर सकता है।"

हिन्दी उपन्यास का विकास

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी हिन्दी-साहित्य के लिए वरदान के रूप में आये थे। उनके द्वारा हिन्दी-साहित्य अपनी पूर्ण समृद्धि को प्राप्त हुआ। उनके पूर्व साहित्य के अगो की सन्तोषजनक प्रगति न हो सकी थी। अतः साहित्य के अन्य अंगो की भाँति उपन्यासों का वास्तविक प्रारम्भ भी भारतेन्दु युग से हुआ।

आधुनिक परिभाषा के अनुसार कोई भी उपन्यास संस्कृत काल से लेकर भारतेन्दु युग तक उपलब्ध नही होता। यद्यपि कादम्बरी मे उपन्यास के कुछ तत्व वर्तमान हैं, तथापि उसे हम उपन्यास नहीं कह सकते, उसमें भाषा का चमत्कार अधिक है। यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग में लिखे गये उपन्यास, उपन्यास की कसौटी पर पूर्ण रूप से खरे नही उतरते, फिर भी इस दृष्टिकोण से उन लेखकों की लेखनी का सहयोग चिरकाल तक स्तुत्य रहेगा कि उन्होने आगे के लेखकों का मार्ग प्रशस्त किया।

भारतेन्दु युग में लाला श्रीनिवासदास कृत "परीक्षा गुरु" नामक उपन्यास प्राप्त होता है। इसे हम हिन्दी का सर्वप्रथम उपन्यास कह सकते हैं। श्रीनिवास दास जी की नाटकों की ओर अधिक अभिरुचि थी। अतः उन्हें नाटकों के प्रणयन में अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है। इनके उपन्यास में उपदेश देने की प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती है। अतः "परीक्षा गुरु" को हम उपदेश प्रधान उपन्यास कह सकते हैं। यद्यपि उनके उपन्यास की भाषा अत्यन्त सजीव तथा परिष्कृत है तथापि उसमे आधुनिक गद्य सौष्ठव का अभाव सा है।

"भारतेन्दु जी" के फुफेरे भाई श्री राधाकृष्णदास जी का नाम भी हिन्दी उपन्यास क्षेत्र मे चिरस्मरणीय रहेगा। उन्होंने "निस्सहाय हिन्दू" नामक मौलिक उपन्यास लिखा तथा कई बंगला के उपन्यासो का हिन्दी मे अनुवाद किया। उनके अनुदित उपन्यासो में "स्वर्ण लता", "मरता क्या न करता" आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। राधा कृष्णदास जी को भी उपन्यास की अपेक्षा नाटको में अधिक सफलता मिली है।

इनके पश्चात् अनुवाद युग प्रारम्भ होता है। इस युग मे विद्वानो ने हिन्दी में संसार की अनेक भाषाओं के अनुवाद किये। भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों की भाषाओ से भी हिन्दी में अनुवाद हुए विशेष रूप से बंगला साहित्य से। श्री रामकृष्ण वर्मा ने अंग्रेजी तथा उर्दू के कुछ उपन्यासों का हिन्दी में सफल अनुवाद किया। इन

उपन्यासों में मूल का सा सौंदर्य है। उनके अनुदित उपन्यासों में ठग वृत्तान्त माला (स. १९४६), पुलिस वृत्तान्त माला (१९४७), अकबर (१९४८), अमला वृतान्त माला (१९५१) है। उन्होंने (स० १९५२) में बंगला की "चित्तौर चातकी" का हिन्दी मे अनुवाद किया। इस पुस्तक के कुछ वर्णन चित्तौर की राजवंश मर्यादा के विरुद्ध थे। अतः इसकी सब प्रतियाँ गंगा के गर्भ में विलीन हो गईं। श्री रामकृष्ण वर्मा के पश्चात् श्री कार्तिकाप्रसाद खत्री ने हिन्दी में चार उपन्यासों का अनुवाद किया। उनके नाम हैं—इला, प्रमीला, जया तथा मधुमालती।

हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में श्री गोपालराम गहमरी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने कितने ही उपन्यासो का हिन्दी में अनुवाद किया। उनके अनूदित उपन्यास अधिकतर गृहस्थिक हैं। जैसे—बड़ा भाई, देवरानी जिठानी, दो बहिन, तीन पतोहू, सास पतोहू आदि। गहमरी जी की भाषा अत्यन्त सजीव, स्वाभाविक, सरस, तथा चटपटी है। इस काल में बंकिम चन्द्र, चंडीचरण सेन, शरत् बाबू, चारुचन्द्र आदि बंगाली लेखकों के उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद पर्याप्त मात्रा में हुआ। कवीन्द्र रवीन्द्र की "आँख की किरकिरी" का अनुवाद भी इस युग की देन है।

अनुदित उपन्यासो के सम्बन्ध मे श्री रामचन्द्र वर्मा का नाम भी प्रसिद्ध है। उन्होंने मराठी भाषा के उपन्यास "छत्रसाल" का हिन्दी मे बहुत सुन्दर अनुवाद किया। उन्होंने कुछ उर्दू के उपन्यासो का भी अनुवाद किया। उनके अंग्रेजी से अनुदित उपन्यासो में टाम काका की कुटिया "लैला" तथा "लन्दन रहस्य" प्रमुख हैं। अत. स्पष्ट है कि हिन्दी उपन्यासो का यह अनुवाद युग था, जिससे हिन्दी साहित्य ने संसार की अन्य सम्पन्न भाषाओ से भिक्षा ग्रहण कर हिन्दी साहित्य के भण्डार को भरा। कुछ भी हो यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये अनुदित उपन्यास समाज के लिए अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुए तथा इन्होंने लेखकों के लिए मौलिक उपन्यासो की पृष्ठ भूमि प्रस्तुत की। इन उपन्यासो ने पाठकों का अनुरंजन करते हुए उनके हृदय मे उपन्यासों के प्रति रुचि जाग्रत की। इसी कारण से उपन्यासकारों की रुचि मौलिक उपन्यासो की रचना की ओर गई। किन्तु अभी तक हिन्दी उपन्यास साहित्य की प्रगति पूर्ण रूप से नही हो पाई थी। अत. उपन्यास साहित्य के इस प्रारम्भिक युग मे जो मौलिक उपन्यास लिखे गये वे अधिकाश मे जासूसी तथा ऐयारी के उपन्यास थे।

हिन्दी के मौलिक उपन्यासकारो मे श्री देवकीनन्दन खत्री का प्रमुख स्थान है। उनके उपन्यासो ने हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित किया। हिन्दी पाठक जगत मे उनके उपन्यास अत्यन्त लोकप्रिय रहे। उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द जी भी उनकी लोकप्रियता की समता न कर सके। बाबू देवकीनन्दन खत्री की लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण तो यह है कि उनके "चन्द्रकान्ता सन्तति" नामक उपन्यास का पारायण करने के लिए बहुत से लोगो ने हिन्दी सीखी। 'चन्द्रकान्ता"

तथा "चन्द्रकान्ता सन्तति" अतिरिक्त उन्होंने नरेन्द्र मोहनी, कुसुम कुमारी, वीरेन्द्र वीर आदि कई घटना प्रधान उपन्यास लिखे। श्री देवकीनन्दन जी के उपन्यासो के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना वैचित्य रहा, रससंचार भाव विभूति या चरित्र चित्रण नहीं। ये वास्तव में घटना प्रधान कथानक या किस्से हैं।

जिनमें जीवन के विविध पक्षो के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं। इससे ये साहित्य कोटि में नहीं आते। पर हिन्दी साहित्य के इतिहास मे बाबू देवकीनन्दन का स्मरण इस बात के लिए सदैव बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किए उतने और किसी ग्रन्थकार ने नहीं। चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिए ही न जाने कितने लोगों ने हिन्दी सीखी।" ऐयारी और जासूसी के उपन्यासों को जन्म देने का श्रेय खत्री जी को ही है। उनके बाद भी इस प्रकार के उपन्यास हिन्दी में लिखे गये। इन जासूसी उपन्यासों की रचना "हिन्दुस्तानी" में की गई थी। इन उपन्यासो मे हिन्दी तथा उर्दू दोनो का मेल था। इन उपन्यासो की भाषा न तो शुद्ध हिन्दी थी और न शुद्ध उर्दू।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी दूसरे मौलिक उपन्यासकार हैं। जितने अधिक उपन्यास उन्होने लिखे, उतने हिन्दी में कोई अन्य लेखक न लिख सका। उन्होने लगभग ७५ उपन्यास लिखे हैं। सम्भवतः अधिक मात्रा मे लिखने के कारण वे अपने उपन्यासो को अधिक सुन्दर नही बना सके। उनके उपन्यासो मे सुरुचि का अभाव है। उनके उपन्यासो में दो बातों का अभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। सर्व प्रथम उन्होने अपने ऐतिहासिक उपन्यासो मे तत्कालीन, राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का जो विवेचन किया है, उनमें गम्भीरता का सर्वथा अभाव है। दूसरे उनकी प्रवृत्ति अपने ज्ञान प्रदर्शन की ओर अधिक रही है। फलतः उनके उपन्यासो मे भाषा का चमत्कार प्रधान है। कही तो उनकी भाषा सस्कृत शब्द बहुला है तो कही फारसी प्रधान। तारा, चपला, तरुण तपस्विनी, रजिया बेगम, लीलावती, राजकुमारी, लवंगलता, हृदयहारिणी लखनऊ की कब्र आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय का नाम महत्वपूर्ण है। हरिऔध जी कवि रूप में तो हिन्दी जगत मे समादृत हैं ही, किन्तु उपन्यासकार के रूप मे भी उनका महत्व कुछ कम नही है। उनके लिखे हुए दो उपन्यास मिलते हैं। "ठेठ हिन्दी का ठाठ" तथा "अधखिला फूल"। उनके उपन्यासो में भी भाषा का चमत्कार अधिक है। कही तो वे संस्कृत गर्भित भाषा लिखते हैं तो कही हिन्दुस्तानी। आचार्य शुक्ल ने उनके उपन्यासो के सम्बन्ध मे लिखा है—"ये दोनों पुस्तकें भाषा के नमूने की दृष्टि से लिखी गई, औपन्यासिक कौशल की दृष्टि से नहीं।

उपाध्याय जी के समकालीन श्रीलज्जाराम मेहता ने भी कई उपन्यास लिखे हैं। इनके लिखे हुए उपन्यास हैं:—धूर्त, रसिकलाल, बिगड़े का सुधार तथा

आदर्श सिंह आदि इन दोनों के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने ठीक ही लिखा है—"ये दोनों महाशय वास्तव में उपन्यासकार नहीं हैं। उपाध्याय जी कवि हैं और मेहता जी पुराने अखबार नवीस।"

ब्रजनन्दन सहाय जी ने भी दो भाव प्रधान उपन्यास लिखे हैं।—(१) सौन्दर्योपासक, (२) राधाकान्त। इसके पश्चात् प्रेमचन्द्र जी का आगमन हुआ। हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द जी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। उन्होंने इस क्षेत्र में प्रवेश कर उसे पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँचा दिया।

प्रेमचन्द जी के प्रथम मौलिक उपन्यास "सेवा सदन" ने हिन्दी साहित्य जगत में धूम मचा दी। इस उपन्यास को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास होने का गौरव प्राप्त हुआ। लोगों का विचार था कि प्रेमचन्द जी इससे अच्छा उपन्यास नहीं लिख सकेंगे परन्तु प्रेमचन्द जी ने उनके विचार को असत्य सिद्ध कर दिया और प्रेमाश्रम, रंग भूमि, कर्म भूमि, कायाकल्प, गबन, प्रतिज्ञा, निर्मला, गोदान जैसे उत्कृष्ट उपन्यास हिन्दी संसार को भेंट किए।

प्रेमचन्द जी से पूर्व जो उपन्यास लिखे गये थे उन्हें हम पूर्ण रूप से उपन्यास नहीं कह सकते। वे जीवन से कोसों दूर काल्पनिक सृष्टि मात्र थे। प्रेमचन्द जी सर्व-प्रथम उपन्यासकार हैं, जिन्होंने अपने उपन्यासों में जीवन की व्याख्या की। प्रेमचन्द जी ने अधिकांश में समस्यापूर्वक उपन्यास लिखे हैं। सेवा सदन में "सेवा सदन" की स्थापना के द्वारा उन्होंने वेश्यावृत्ति का अन्त किया है। "प्रेमाश्रम" में प्रेमाश्रम के निर्माण द्वारा किसान, जमींदार समस्या का समाधान किया गया है। "निर्मला" में निर्मला की मृत्यु के उपरान्त दहेज और अनमेल विवाह की कुरीति का दिग्दर्शन कराया है। रंगभूमि में सूरदास की मृत्यु के द्वारा कठोर भौतिकवाद पर मनुष्य के विवेक और सद्वृत्तियों की विजय दिखलाई है।

प्रेमचन्द जी प्रथम उपन्यासकार थे, जिन्होंने किसानों और निम्न श्रेणियों का चित्रण बड़ी तत्परता और सफलता से किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने अपने "हिन्दी साहित्य" में लिखा है 'प्रेमचन्द शताब्दियों से पददलित, अपमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज को पर्दों में बंद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे, गरीबों और बेकसों के महत्व के प्रचारक थे।"

प्रेमचन्द जी के द्वारा हिन्दी का उपन्यास साहित्य अपनी पूर्ण समृद्धि को प्राप्त हुआ। विश्व में सम्भवतः ही किसी एक कलाकार ने किसी एक अविकसित दिशा को इतनी पूर्णता तक पहुँचाया हो। प्रेमचन्द के स्थान की पूर्ति आज तक उपन्यास साहित्य में नहीं हो सकी।

प्रेमचन्द जी की भाषा अत्यन्त सजीव, सशक्त, भावपूर्ण तथा पात्रानुकूल है। उनकी भाषा अत्यन्त मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी है।

प्रेमचन्द जी कोरे यथार्थवाद के विरोधी थे। उनका विचार था कि—

"यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है हमको अपने चारों ओर बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।" अत. प्रेमचन्द जी आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के पृष्ठ पोषक थे। उन्होने यथार्थ की नीव पर आदर्श का ताजमहल निर्मित किया है। वे लिखते हैं—"यथार्थ यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठा कर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है।" प्रेमचन्द जी के नियोजन मे चाहे कितनी ही आदर्श-वादिता रही हो पर उनकी कथावस्तु, घटनाएं और पात्रो मे इतनी यथार्थता वर्तमान है कि वे हमारे अपने जीवन के अपने अभिन्न अग से प्रतीत होते हैं। उन्होने एक अन्वेषक के रूप मे युग की समस्याओ की पर्याप्त छानबीन की और जीवन की कटुता को दूर- करने का भरसक प्रयत्न किया। वस्तुतः प्रेमचन्द जी के उपन्यास वास्तविक जीवन के धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। गोदान को छोडकर अपने सब उप-न्यासो मे प्रेमचन्द जी सुधारवादी या उपदेशक के रूप मे हमारे समक्ष आते हैं। प्रेमाश्रम के पश्चात् प्रेमचन्द जी यथार्थवाद की ओर क्रमशः बढ रहे थे। बहुत से आलोचकों का विचार है कि "गोदान" "प्रेमाश्रम का प्रायश्चित है।" अर्थात् प्रेमा-श्रम में प्रेमचन्द जी के जो विश्वास थे, जो मान्यताये थी, वे गोदान तक आते-आते डगमगाने लगी थी। गोदान मे आकर प्रेमचन्द जी ने सुधारक या उपदेशक का रूप त्याग कर घोर यथार्थवादी का रूप ग्रहण कर लिया था।

गोदान में उन्होने सुधार-पुनःनिर्माण का प्रयत्न नही किया है, वहाँ तो उन्होने विध्वंस तथा नवनिर्माण का सन्देश दिया है। प्रेमचन्द जी के उपन्यासो का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उन्होने अपने उपन्यासो में समाज का सर्वांगीण चित्र उपस्थित किया है। प्रेमचन्द जी अपने व्यक्तिगत जीवन में गाँधी जी के सिद्धान्तो के अनुयायी थे परन्तु बाद में उनका विश्वास उन सिद्धान्तो पर से धीरे-धीरे उठने लगा था। उनका अन्तिम अपूर्ण उपन्यास गलसूत्र—जो एक प्रकार से उनकी आत्मकथा है—इस दिशा परिवर्तन की स्पष्ट सूचना देता है। जहाँ अब तक उन्होने वर्ग सघर्ष की भावनाओ को दूर करने का प्रयत्न किया था वहाँ मंगल सूत्र मे उन्होंने निर्भीकता-पूर्वक उद्घोषित किया है—"परिंदों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बांधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं जड़ता है।" प्रेमचन्द जी के ये उस समय के विचार हैं जब उन्होने डा० इन्दनाथ मदान को पत्र लिखा था—

"आरम्भ में परम्परागत विश्वास के कारण मैं एक महान् दैवी शक्ति मे विश्वास रखता था। वह विश्वास अब टूट रहा है।" अतः स्पष्ट है कि प्रेमचन्द जी अपने अन्तिम अपूर्ण उपन्यासों में घोर क्रान्तिकारी के रूप मे आते हैं।

प्रेमचन्द जी के पश्चात् काल क्रमानुसार श्री जयशंकर प्रसाद जी का नाम आता है, प्रसाद जी वाणी के उन वरद पुत्रो में से थे, जिनकी प्रतिभा के प्रकाश-पुञ्ज से हिन्दी साहित्याकाश चिरआलोकित रहेगा। उनकी प्रतिभा का स्पर्श सम्भवतः

ही कोई कर सके। प्रसाद जी ने उपन्यास, नाटक, कविता, निबन्ध, आलोचना, कहानी आदि सभी क्षेत्रो मे अपनी प्रतिभा का प्रकाशन किया है। परन्तु वे प्रथम कवि है बाद मे कुछ और। अतः कवि रूप मे वे जितने प्रसिद्ध हैं उतने उपन्यासकार के रूप मे नही। प्रसाद जी द्वारा लिखे हुए तीन उपन्यास उपलब्ध होते हैं—कंकाल, तितली तथा इरावती (अधूरा)। कंकाल के द्वारा प्रसाद जी ने समाज का नग्न चित्र उपस्थित किया है। इनमें प्रसाद जी ने मंगलदेव तथा तारा का चरित्र-चित्रण बड़े मनोवैज्ञानिक कौशल से किया है। शरद की भांति प्रसाद जी ने भी समस्याओं का विश्लेपण किया है, परन्तु उसे शरद की भांति कथा मे सम्बद्ध नही कर पाये हैं। उपन्यास के सम्बन्ध मे प्रसाद जी की यह सबसे बडी असफलता है। प्रसाद जी की भाषा सस्कृत गर्भित होती हुई भी सजीव तथा ओजस्वी है। उनकी भाषा का माधुर्य दर्शनीय है।

इनके अतिरिक्त पं० विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, प्रताप नारायण, श्रीवास्तव, जैनेन्द्र कुमार, वृन्दावनलाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन, सुदर्शन, उग्र आदि के नाम भी उपन्यास क्षेत्र मे प्रसिद्ध हैं। इन उपन्यासकारों ने सामाजिक तथा राजनैतिक विषमताओ के स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किये हैं। मिल मालिक तथा जमींदार किस प्रकार मजदूरो तथा किसानो का शोषण करते हैं इन सब बातों का नग्न चित्रण उपन्यासकारों के उपन्यास मे मिलेगा। आधुनिक काल के उपन्यासो ने जाति पांति, छुआछूत, वर्ण व्यवस्था जाति विद्वेष आदि के विरुद्ध बडी आवाज उठाई है। इन उपन्यासों का दृष्टि-बिन्दु मानवधर्म का प्रतिष्ठापन तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता है। समाज की विषमताओ का दिग्दर्शन कराने मे यह उपन्यास पूर्णतः सफल हुए हैं।

आधुनिक उपन्यासो मे दो प्रकार की प्रवृत्तियां और लक्षित होती हैं :—
१. मानव के मन मस्तिष्क का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेपण, २. मार्क्सवाद का प्रभाव।

योरुप के नवीन मनोविज्ञान प्रधान उपन्यासो से प्रभावित होकर हिन्दी मे भी लेखको ने मानव मन के उन विभिन्न विचारो का विश्लेपण करने का प्रयत्न किया है, जिनकी प्रेरणा से मानव विभिन्न कार्य व्यापारो की ओर प्रवृत्त होता है। मनोविज्ञान प्रधान उपन्यासो मे मानवीय भावनाओ का विश्लेपण प्रधान रूप से रहता है। हिन्दी मे श्री इलाचन्द जोशी तथा अज्ञेय जी इसी प्रकार मनोविज्ञान वादी लेखक हैं। जोशी जी का "प्रेत और छाया तथा अज्ञेय जी की शेखर एक जीवनी" सुन्दर मनोविज्ञान प्रधान उपन्यास हैं।

मार्क्सवाद से प्रभावित होकर जो लेखक उपन्यास लिख रहे हैं। उनमे यशपाल, राहुल, रांगेय, राघव, कृष्णदास, गुरुदत्त आदि प्रमुख हैं। मार्क्सवादी लेखक वर्गहीन समाज का समर्थन करते है। इन लेखको ने अर्थ को समाज का मूल माना है। ये लेखक रूस के आदर्शों के अनुयायी हैं। उनके विचार से व्यक्तिगत लाभ की प्रवृत्ति पूंजीवादी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। ये अपने साहित्य को अपने मोर्चे का सशक्त हथियार मानते हैं।

आधुनिक युग में चरित्र-चित्रण प्रधान उपन्यास भी लिख गये हैं। चरित्र-चित्रण प्रधान उपन्यासकारो में प्रमुख हैं—सियाराम शरण गुप्त, निराला, भगवती चरण वर्मा, अचल आदि। आजकल उपन्यासों की जितनी प्रगति हो रही है उतनी कभी नही हुई। उपेन्द्रनाथ अश्क तथा धर्मवीर भारती ने भी सुन्दर उपन्यास लिखे हैं। उपन्यास युग की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम माध्यम है। इसमे सन्देह नही कि जैसे-जैसे जीवन की समस्याएँ तथा जटिलताएँ बढ़ती जायेगी—वैसे उपन्यासो का मार्ग भी प्रशस्त होता जायगा। आज उपन्यास साहित्य का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।

श्रव्य काव्य—(गद्य)
"कहानी"

वर्तमान कहानी का जन्म :—आजकल की हिन्दी कहानियाँ—जिन्हें "गल्प", "आख्यायिका", "लघु कथा" की संज्ञा दी गई है—भारत की प्राचीन कहानियो की ही सन्तान हैं। आज साहित्यिक आख्यायिका का जो नवीन रूप प्राप्त होता है उस पर विदेशी संस्कार का पूर्ण प्रभाव है। कहानी की सामग्री देशी है, किन्तु उसका बाह्य आकार विदेशी है।

साहित्य के इस नवीन अग का प्रादुर्भाव हुए अभी एक शताब्दी भी नही हुई। परन्तु कतिपय कारणो से कहानी कला यथेष्ट रूप से परिपुष्ट हो चुकी है और साहित्य के अगो के समकक्ष वह स्वतन्त्र विधि से स्थान ग्रहण कर चुकी है। वर्तमान आख्यायिका का जन्म आधुनिक युग की आवश्यकता के अनुरूप हुआ है। यह पाठको के लिए अत्यन्त सुविधाजनक सिद्ध हुई। सामयिक पत्रों और पत्रिकाओं में कहानी को स्थायी स्थान प्रदान करने के कारण जनता का ध्यान इसकी ओर अधिक मात्रा में आकृष्ट हुआ। वर्तमान समय में कोई ऐसी साहित्यिक पत्रिका न होगी जिसमे दो एक आख्यायिकाएँ प्रति अक में प्रकाशित न होती हों। आज उपन्यास की अपेक्षा कहानियो की ओर अधिक प्रवृत्ति हो रही है। इसलिए आख्यायिका ने थोड़े समय मे ही विशेष उन्नति प्राप्त कर ली है। एक ओर कला की दृष्टि से आधुनिक कहानी का विकास होता गया दूसरी ओर उसमें उन्नत विचारो की मात्रा का भी समावेश होता गया। रेडियो के द्वारा भी आधुनिक कहानियों को प्रोत्साहन मिला।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में साहित्यिक मासिक पत्रिकाओं ने वर्तमान कहानी के विकास मे पूर्ण योग दिया। जीवन की विषमताओं से उत्पन्न होने वाले समयाभाव, मासिक पत्र-पत्रिकाओं के प्रचलन तथा अल्प समय में मनोरंजन करने के कारण आधुनिक कहानी का जन्म हुआ।

आधुनिक कहानी की विशेषताये :—आधुनिक कहानियाँ प्राचीन कहानियो से कई बातो मे विभिन्नता रखती हैं। प्राचीन कहानियाँ दो प्रकार की थी—एक मौखिक तथा दूसरी साहित्यिक। मौखिक कहानियाँ सरल तथा आडम्बर रहित भाषा मे होती थी तथा रात मे सुनाई जाती थी। इन कहानियो में पात्रो का व्यक्तित्व नही होता था। ये कहानियां एक राजा था एक रानी थी—आदि कहकर वर्णित की जाती थी। जिन कहानियो मे राजाओ के नाम होते थे उनमें भोज, विक्रम, उदयन आदि राजाओ की कथा रहती थी। कालिदास ने अपने मेघदूत में ऐसे ग्राम-वृद्धों का उल्लेख किया है जो उदयन की कथा कहने मे दक्ष थे—"उदयन

कथाकोविद ग्राम वृद्धान्" । प्राचीन कहानियों में मनुष्य और जानवर दोनों प्रकार के पात्र होते थे ।

साहित्यिक कहानियों के पात्रों का पता ठीक बतलाया जाता था, जैसे—"कर्पूर द्वीप में पद्मकेलि नाम का तालाब था, वहाँ पद्मगर्भ नाम का राजहंस रहता था।" जानवरों तक के नाम वर्णित रहते थे, जैसे—चित्रग्रीव कबूतर, चित्रवर्ण मयूर। कुछ साहित्यिक कहानियों में अलंकृत तथा समास पूर्ण शैली का प्रयोग किया गया है तथा कुछ कहानियो की भाषा सरल है । इन कहानियो में भी मनुष्य और जानवर समान रूप से भाग लेते थे । इन कहानियो मे भूल-भुलैया हो जाती थी ।

आधुनिक कहानियो का विषय मानव जीवन है । आज कहानियों में राजा मन्त्री आदि का वर्णन न होकर, साधारण श्रेणी के मनुष्यों का जीवन चित्रित किया जाता है । आज कहानी के पात्र हमारे जीवन के अत्यन्त निकट हैं। प्राचीन कहानियाँ भी "लोकहिताय" होती थी । परन्तु उनमे मानव जीवन का वह चित्र नही है जो आधुनिक कहानी की विशेषता है । आधुनिक कहानी मे प्राचीन कहानियों की अपेक्षा कौतूहल की मात्रा कम है । आधुनिक कहानियाँ प्रतिदिन नवीन रूप धारण करती हुई बुद्धिवाद की ओर जा रही हैं ।

आधुनिक काल मे भाग्य की अपेक्षा पुरुषार्थ पर अधिक विश्वास किया जाता है । आज का मनुष्य अपनी शक्तियो पर अधिक विश्वास रखता है । वह समझता है कि वह पुरुषार्थ के द्वारा सब कुछ प्राप्त कर सकता है । आज कहानी के पात्र अपने पुरुषार्थ के द्वारा फल की प्राप्ति करते हैं ।

प्राचीन कहानियो में चमत्कार प्रदर्शन की अधिक प्रवृत्ति पाई जाती है । आज अधिकाश कहानियाँ चरित्र-चित्रण प्रधान होती हैं । आज की कहानियों मे चरित्र-चित्रण, भावों के उतार-चढाव, विचारो के विश्लेषण, समस्याओं के उद्‌घाटन तथा उनके सुझाव मिलते हैं। प्राचीन कहानी—"कादम्बरी" तथा "दशकुमार-चरित्र" मे सुन्दर अलंकार योजना मिलती है, आधुनिक कहानी में इसका अभाव है लेकिन हृदयेश जी तथा प्रसाद जी ने संस्कृतगर्भित अलंकृत भाषा का प्रयोग किया है । आज की कहानियाँ सरल होते हुए भी अपना विशेष गौरव रखती हैं । अब कहानी में विवरण की अपेक्षा कथोपकथन को अधिक महत्व दिया जा रहा है ।

कहानी का रूप तथा परिभाषा :—कहानी को परिभाषा के पाश मे बांधना अत्यन्त दुष्कर है क्योंकि वह दिन-दिन रूप बदलती हुई विकास को प्राप्त हो रही है । कहानी के नित्य नवीन रूप को देख कर ही कुछ आलचको ने संक्षिप्तता को कहानी का एकमात्र लक्षण माना है । प्रसिद्ध उपन्यासकार एच० जी० वेल्स ने कहानी को वह कथा माना है जो एक घंटे मे पढ़ी जा सके—"Fiction that can be read in an hour." । संक्षिप्तता कहानी का प्राण है परन्तु कहानी कुछ अपनी अभिनत्र विशेषता रखती है ।

मेथ्यू आर्नल्ड ने काव्य को जीवन की आलोचना माना है । यदि किसी प्रकार

का साहित्य इस कथन की पुष्टि करता है तो वह कथा साहित्य है—जिसके अन्तर्गत उपन्यास तथा कहानी दोनो आ जाती हैं। कहानी उपन्यास के समान भूत से सम्बन्ध रखती है तथा कही जाती है। नाटक में भूत को वर्तमान का रूप देकर दिखाया जाता है। भविष्य की आधार भूमि पर भी कहानी का भवन निर्मित होता है किन्तु कहानीकार पहले अपनी कल्पना मे उसके दर्शन कर लेता है।

जहाँ उपन्यास मानव जीवन का पूर्ण चित्र है वहाँ कहानी उसके एक अंग पर ही प्रकाश डालती है। इसलिए कुछ अंग्रेजी लेखकों ने कहानी को जीवन का स्नेपशॉट (Snapshot) या जीवन का टुकड़ा (Slice from life) की संज्ञा दी है किन्तु वह टुकड़ा स्वतः पूर्ण होता है। बाहर से सूत्र ला कर कहानी को जोड़ने की आवश्यकता नही होती और न "सन्दर्भ देकर" (With reference to context) उसकी व्याख्या की आवश्यकता होती है। कहानी का आकार छोटा होते हुए भी, पूरा चित्र है। कहानी छोटी होते हुए भी किसी महत्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश डालती है। जो कहानी जितनी श्रेष्ठ होगी उसमे वह तथ्य उतने ही व्यापक होगे। कहानी मे भाव तथा विचार दोनो का सुन्दर मिश्रण रहता है।

आधुनिक कहानी के जन्मदाता एडगर एलिन पो ने कहानी की परिभाषा इस प्रकार दी है—"A short story is a narrative short enough to be read in a single sitting, written to make an impression, on the reader, excluding all that does not forward that impression complete and final in itself." अर्थात् "छोटी कहानी एक ऐसा आख्यान है जो इतना छोटा है कि एक बैठक में पढ़ा जा सके और जो पाठक पर एक ही प्रभाव के उत्पन्न करने के उद्देश्य से लिखा गया हो। उसमें ऐसी सब बातों का बहिष्कार कर दिया जाता है जो उस प्रभाव को अग्रसर करने में सहायक न हो। वह स्वतः पूर्ण होती है।"

हिन्दी विद्वानों द्वारा दी गई कहानी की परिभाषायें :—**श्यामसुन्दर दास** :—श्यामसुन्दर दास जी ने कहानी की परिभाषा मे नाटकीय ढँग को विशेष महत्व दिया है, किन्तु निश्चित लक्ष्य तथा प्रभाव की अनिवार्यता को उन्होने भी स्वीकार किया है। उनकी परिभाषा इस प्रकार है :—

"आख्यायिका एक निश्चित लक्ष्य या प्रभाव को लेकर नाटकीय आख्यान है।"

गुलाबराय :—गुलाबराय जी ने कहानी की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

"छोटी कहानी एक स्वतः पूर्ण रचना है जिसमें एक तथ्य या प्रभाव को अग्रसर करने वाली व्यक्ति केन्द्रित घटना या घटनाओं के आवश्यक उत्थान-पतन और मोड़ के साथ पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने वाला वर्णन हो।"

"परिणाम-युक्त घटना वर्णन ही कथा कहलाता है।" अभिप्राय है यह कि "मनुष्य, जीव या जड़ पदार्थ के सम्बन्ध में किया हुआ वह वर्णन ही कथा कहलाता

है जिसमें उस मनुष्य, जीव या जड़ पदार्थ की किसी विशेष अवस्था या अवस्थाओं का आदि से अन्त तक वर्णन हो।"

कुछ आचार्यो का विचार है कि—"मनुष्य जब वास्तविक संसार में गुण का आदर नहीं प्राप्त करता तो वह कथा के कल्पित संसार में उस गुण का आदर करा कर, उसे उचित फल दिखला कर अपनी मनस्तुष्टि कर लेता है।" यह मनस्तुष्टि वास्तविक संसार से ऊब कर हो या न हो किन्तु मनुष्य की यह सात्विक वृत्ति होती है कि उचित का उचित के साथ संयोग हो। उसकी इसी वृत्ति को तृप्त करने का प्रयास ही कथा है।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी कहानी की परिभाषा देते हुए लिखते हैं :— 'कहानी वह सुसम्बद्ध, संक्षिप्त तथा पूर्ण कहानी है, जो कौशलपूर्ण रचनाशैली में भावानुकूल भाषा शैली में कही गई हो और जो पाठक के मन पर एक प्रभाव डाले या जिसका एक परिणाम हो।"—(समीक्षा शास्त्र)

कहानी के तत्व

कथा साहित्य के अन्तर्गत होने के कारण कहानी के छः तत्व माने गये हैं:— (१) वस्तु, (२) चरित्र-चित्रण, (३) कथोपकथन, (४) वातावरण (५) उद्देश्य, (६) शैली। ये तत्व एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। ये तत्व उपन्यास के समान ही होते है किन्तु रचना के रूप विशेप मे अन्तर होने के कारण इसके प्रयोग में भी कुछ अन्तर हो जाता है।

१—कथावस्तु—कहानी की कथावस्तु अत्यन्त सक्षिप्त होनी चाहिए। अनावश्यक वर्णन तथा शब्दाडम्बर से उसकी कलेवर वृद्धि न की जाय। कहानीकार अपने पाठक को कहानी के अन्त तक ले जाता है। कहानीकार बिना प्रयोजन के कहानी की कथावस्तु मे घटनाओ का समावेश नही कर सकता। कहानी का मूल-मन्त्र माना गया है—"No admittance except on business must be the short story writer's Motto." इसके अतिरिक्त घटनाओ को परस्पर सम्बद्ध होना भी वाँछनीय है। उनका तारतम्य इस प्रकार से निरूपित होना चाहिए कि वे एक कौतूहल की शृंखला मे जकडी हुई अग्रसर होती रहे, ऐसी प्रतीत न हो कि यह अनावश्यक रूप से जोड़ दी गई हो। बौद्धिक वृत्ति जागरूक करने के लिए कहानीकार को विवेक की अत्यन्त आवश्यकता है। उसे कौशलपूर्वक अपना कार्य करना चाहिए। उसे आख्यायिका में ऐसे अविश्वसनीय अशो का समावेश नही करना चाहिए, जिनके अश पाठकों की कल्पना को खटकें। कहानीकार आख्यान को अधिक स्थायी, प्रभावकारक बनाने के लिए वस्तुओं के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि का सूक्ष्म वर्णन करता है। ये तन्मात्राएँ पाठक के हृदय मे बैठ जाती हैं और उसकी स्मृति को दृढ करती हैं।

आख्यायिका का विकास अप्रतिहत होना चाहिए। प्रायः कहानी का कथानक प्रारम्भ होकर किसी न किसी प्रकार के संघर्ष द्वारा क्रमशः उत्थान की ओर अग्रसर

होता है तथा "चरम" या तीव्रतम स्थिति (climax) पर पहुँचता है। वहाँ पर कौतूहल क्रमशः अपनी पूर्ण स्थिति पर होता है तथा कौतूहल का चमत्कारिक तथा कुछ कुछ अप्रत्याशित रूप मे अन्त हो जाता है। यहाँ पर आकर कहानी एक निश्चित सीमा पर खड़ी हो जाती है। इसके पश्चात् कहानी का अन्त या परिणाम होता है। जिसमे सम्पूर्ण तथ्य प्रकाश मे आ जाते हैं। चरम या तीव्रतम स्थिति के द्वारा कहानी का अन्त अधिक प्रभावशाली तथा महत्वपूर्ण हो जाता है। कहानी को उत्कर्षता प्रदान करने के लिए "चरम" या तीव्रतम स्थिति आवश्यक है। कुछ कहानियों में यह चरम बिन्दु बडा स्पष्ट तथा नुकीला होता है और कुछ में यह फैला सा रहता है। प्रसाद जी की मधुआ नामक कहानी मे यह चरम बिन्दु फैले हुए रूप मे दृष्टि-गोचर होता है।

कहानी के प्रारम्भ में अन्त का कुछ सकेत अवश्य दे देना चाहिए जिससे अन्त अप्रत्याशित होते हुए आकस्मिक प्रतीत न हो। यद्यपि उपन्यास के समान कहानी की गति वक्र नही होती, तथापि उसे रोचकता प्रदान करने के लिए ,एक दो घुमाव की अत्यन्त आवश्यकता है। वह भी टेढी-मेढी गति से चलना है। कहानी मे बहुत सी घटनाएँ हो सकती हैं, किन्तु उनमे एकता और अन्विति अत्यन्त वांछनीय है। चरम सीमा तथा मल घटना का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

आज के युग में पुरुषार्थ को अधिक महत्व दिया जाने लगा है, किन्तु फिर भी जीवन मे कुछ ऐसे अवसर होते हैं जब मनुष्य कुछ सोचता है और हो कुछ जाता है— "मेरे मन कुछ और है कर्त्ता के कछु और" "Man Proposes and God disposes." यही नियति का विधान है। कहानी मे यदि विधि विधान की योजना पुरुषार्थ की सीमा व्यक्त करने के लिए होनी चाहिए, केवल करुणोत्पादन के लिए नहीं। इस प्रकार कहानी का कथानक एक बहुत बडी सीमा मे कहानीकार के उद्देश्यो तथा जीवन मीमांसा पर अवलम्बित है।

२—चरित्र-चित्रण—आजकल कथानक की अपेक्षा चरित्र-चित्रण तथा भावाभिव्यक्ति को अधिक महत्व दिया जाने लगा है। आज चरित्र-चित्रण को कहानी का महत्वपूर्ण तत्व माना गया है। चरित्र-चित्रण का सम्बन्ध पात्रो से है। कहानी मे पात्रो की सख्या न्यूनातिन्यून होना वाछनीय है। कहानीकार अपने पात्रो के चरित्र का विकास क्रमबद्ध नही करता। वह पूर्व निर्मित चरित्र के ऐसे अंश पर प्रकाश डालता है जिससे व्यक्ति का व्यक्तित्व झलक उठे। कहानीकार यदि किसी पात्र के चरित्र में परिवर्तन करता है तो एक साथ करता है क्रमशः नही। कहानी के पात्र चाहे वास्तविक हों, चाहे कल्पित हो, किन्तु वे सजीव और व्यक्तित्वपूर्ण होने आवश्यक हैं। जो पात्र अपना निजी व्यक्तित्व नही रखते, उनके प्रति पाठको की कोई रुचि नही होती। यद्यपि लेखक पात्रों को जन्म देता है, किन्तु वे लेखक के हाथ की कठपुतली नहीं होते। एक बार लेखक पात्र को जो व्यक्तित्व प्रदान कर देता है, उसे बिना पर्याप्त कारणो के परिवर्तित नही कर सकता। कहानी के पात्र कल्पना

लोक में उत्पन्न होकर भी अपने व्यक्तित्व के अनुकूल कार्य करते हैं। वे कथानक की आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र नही हो सकते।

चरित्र-चित्रण के प्रकार—कहानी में चरित्र-चित्रण मुख्य रूप से दो प्रकार से होता है। एक तो प्रत्यक्ष या विश्लेपणात्मक (Direct or analytical) इसमे लेखक स्वयं पात्र के चरित्र का उद्घाटन करता है। दूसरा है परोक्ष या नाटकीय (Indirect or Dramatic) ढंग—इसमे पात्रो के वार्तालाप या कार्यकलाप से चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है। कभी-कभी लेखक परोक्ष चरित्र-चित्रण में किसी पात्र द्वारा सीधे या सकेतात्मक रूप से आलोचना करा देता है। सांकेतिक चित्रण वह होता है जिसमे गुणो की अपेक्षा उनको प्रकाशित करने वाले कार्यों का अधिक उद्घाटन किया जाता है। प्रत्यक्ष चरित्र-चित्रण में भी साकेतिक ढंग को अपनाया जाता है। प्रेमचन्द जी की "लांछन" शीर्षक कहानी से सांकेतिक रूप से प्रत्यक्ष या विश्लेषणात्मक चरित्र-चित्रण का एक उदाहरण हम यहाँ देते हैं :—

"वह पढी लिखी गरीब बूढी औरत थी, देखने में सरल, बड़ी हंसमुख, लेकिन जैसे किसी चतुर प्रूफ-रीडर की निगाह गल्तियो पर ही जा पड़ती है, उसकी आँखें बुराइयो पर ही जा पडती थी। शहर मे ऐसी कोई महिला नहीं थी, जिसके विषय में दो-चार लुकी छिपी बातें उसे न मालूम हो। उसकी चाल में बिल्लियों का सा संयम था। दबे पैर धीरे-धीरे चलती पर शिकार की आहट पाते ही, जान मारने को तैयार हो जाती थी। उसका काम था महिलाओं की सेवा-टहल करना। पर महिलाएँ उसकी सूरत से कांपती थी।"

आजकल वार्तालाप के द्वारा परोक्ष चरित्र-चित्रण किया जाता है। इसमें लेखक को अपनी ओर से कुछ नही कहना पडता। पात्रों के वार्तालाप के द्वारा चरित्र प्रकाशित हो जाता है। कभी-कभी पात्र स्वय भी अपने चरित्र का उद्घाटन कर देता है। दूसरा पात्र भी उसके सम्बन्ध मे कुछ वाक्य सीधे या साकेतिक रूप में कह कर उसके चरित्र पर प्रकाश डाल देता है। एक उदाहरण प्रसाद जी की व्रतभंग नामक कहानी से देखिए :—

"हाँ हाँ मै जानता हूँ। तुम मुझे दरिद्र युवक समझ कर मेरे ऊपर कृपा रखते थे, किन्तु उसमे कितना तीक्ष्ण अपमान था, इसका मुझे अब अनुभव हुआ।

......न अभी न फिर कभी। मै दरिद्रता को भी दिखला दूंगा, कि मै क्या हूँ। इस पाखड ससार मे रहूँगा, परन्तु किसी के आगे सिर न झुकाऊंगा। हो सकेगा, तो ससार को बाध्य करूँगा झुकने के लिए।"

दूसरे पात्र के मुख से किसी के चरित्र पर प्रकाश डालने का ढंग का एक उदाहरण प्रसाद जी की "व्रतभग" नामक कहानी से देते हैं। नन्दन के क्षमा मागने पर राधा कहती हैं—"स्वामी यह अपराध मुझसे नही हो सकेगा। उठिए, आज आपकी कर्मण्यता से, मेरा ललाट उज्जवल हो रहा है। इतना साहस कहाँ छिपा था नाथ!

प्रेमचन्द जी की 'गिला" नामक कहानी मे एक स्त्री अपने पति का चरित्र-चित्रण करती है। इसमे केवल एक ही पात्र है और उसके चित्रण मे स्वय उसका चरित्र भी प्रकाश में आ जाता है। यह वर्णन कही तो सीधा है और कहीं सांकेतिक।

सीधे वर्णन का उदाहरण—"महाशय अपने दिल में सोचते होगे, मैं कितना विनीत, कितना परोपकारी हूँ।" शायद उन्हे इन बातो का गर्व है। मै इन्हे परोपकारी नही समझती, न विनीत ही समझती हूँ। यह जड़ता है, सीधी-साधी निरीहता, इसलिए मै तो इन्हे कृपण कहूँगी, अरसिक कहूँगी, हृदय शून्य कहूँगी, उदार नही कह सकती।"

सांकेतिक वर्णन का उदाहरण—वही स्त्री अपने पति की फिजूलखर्ची के सम्बन्ध मे साकेतिक रूप से कहती है—"सच कहती हूँ, कभी-कभी तो एक-एक पैसे की तंगी हो जाती है और इन भले आदमी को रुपये जैसे घर में काटते हैं जब तक रुपये के वारे न्यारे न कर लें इन्हें चैन नही। इनकी करतूत कहाँ तक गाऊँ। मेरी तो नाक मे दम आ गया है। एक न एक मेहमान रोज यमराज की भाँति सिर पर सवार रहते हैं। न जाने कहाँ के बेफिक्र इनके मित्र है। कोई कहीं से आकर मरता है, कोई कही से। घर क्या है अपाहिजो का अड्डा है।

वार्तालाप के अतिरिक्त पात्रो के कार्य-कलाप के द्वारा भी चरित्र-चित्रण किया जाता है।

कहानी मे चरित्र के विकास के लिए स्थान कम होता है। इसमे बने बनाये चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है। कहानी के पात्र मे यदि परिवर्तन होता है तो वह एक साथ होता है। कौशिक जी की "ताई" शीर्पक की कहानी तथा प्रेमचन्द जी की "शंखनाद" कहानी इसके अच्छे उदाहरण हैं।

३. **कथोपकथन**—कथोपकथन के द्वारा ही पात्रो के हृदयगत भावों पर प्रकाश पडता है। पात्रो के चरित्र का मूल्यांकन तभी हो सकता है जब वार्तालाप पात्रो के चरित्र के अनुकूल हो। कथोपकथन का आख्यायिका के लिए बहुत बड़ा महत्व है। जो लेखक वस्तु वर्णन के द्वारा अपना मन्तव्य प्रकट करता है उसे बडे विस्तार की आवश्यकता होती है, पाठको को उस वर्णन पर विश्वास करने के लिए प्रेरित करना पड़ता है। इसमे अधिक कठिनाई रहती है। किन्तु कथोपकथन के द्वारा—यदि वह अत्यन्त मार्मिक तथा वास्तविक हो तो एक अनोखा चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है और पाठक स्वतः निष्कर्ष निकाल लेता है। श्रेष्ठ कहानीकार कथोपकथन मे मार्मिकता तथा मनोवैज्ञानिकता का समावेश करते है। उनके द्वारा कथोपकथन श्रेष्ठ ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति की प्रणाली हो जाता है। मार्मिक स्थलो पर पात्रों के वार्तालाप को ज्यों का त्यों उपस्थित करने से परिस्थिति का ठीक ज्ञान हो जाता है। अतः चरित्र-चित्रण का गम्भीर भार बहुत कुछ कथोपकथनो पर निर्भर है। कहानी में कथोपकथन को तीन कार्य करने पड़ते हैं। इसके द्वारा पात्रो के चरित्र पर

प्रकाश ही नही पड़ता, वरन् इसके सहारे कथानक भी अग्रसर होता है। इसके अतिरिक्त कथानक मे भी विशेष सजीवता आ जाती है। कथोपकथन को सजीव सगठन, चमत्कारपूर्ण और परिस्थिति के अनुकूल होना वॉछनीय है। कहानी मे निरर्थक वार्तालाप का समावेश नही होना चाहिए, कथोपकथन मे सजीवता लाने के लिए कुछ इधर उधर की बातों की भी नियोजना की जा सकती है।

४. वातावरण—कहानी मे वातावरण के चित्रण के लिए अधिक स्थान नही होता। किन्तु कहानी मे देशकाल की स्पष्टता लाने के लिए तथा कार्य से परिस्थिति की अनुकूलता व्यक्त करने के हेतु वातावरण का चित्रण किया जाता है। वातावरण भौतिक तथा मानसिक—दो प्रकार का होता है। भौतिक वातावरण भी पात्रों की मानसिक स्थिति की व्याख्या करने में सहायता देता है। प्रसाद जी को वातावरण के चित्रण मे विशेष सफलता मिली है। उन्होने "पुरस्कार नामक कहानी के प्रारम्भिक दृश्य में प्रकृति तथा जनता की मानसिक स्थिति का वहुत सुन्दर साम्य प्रदर्शित किया है। देखिए :—

"आर्द्रा नक्षत्र, आकाश मे काले-काले बादलो की घुमड़, जिसमें देव दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण पुरुष झाँकने लगा—देखने लगा महाराज की सवारी। शैल माला के अचल मे समतल उर्वरा भूमि से सोधी वास उठ रही थी। नगर तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चमरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा, वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोरें लेने लगा।"

कौशिक जी की 'विद्रोही" शीर्षक कहानी में भी वातावरण का सुन्दर दिग्दर्शन है। देखिए :—

"एक महत्वपूर्ण अभिमान के विध्वंस करने की तैयारी की। प्रकृति काप उठी, घोडो और हाथियों के चीत्कार से आकाश थरथरा उठा। बरसती हवा के थपेड़ो से जगल के वृक्ष रणनाद करते हुए झूम रहे थे। पशु-पक्षी त्रस्त होकर आश्रय ढूंढने लगे वड़ा विकट समय था।

उस भयानक मैदान में राजपूत सेना मोरचा बन्दी कर रही थी। हल्दी घाटी की ऊँची चोटियों पर भील लोग धनुष चढ़ाये उन्मत्त समान खड़े थे।'

ऐसे स्थलो में वातावरण का चित्रण उद्दीपन रूप में होता है। यहाँ प्रकृति की गम्भीरता से युद्ध की भयानकता और भी स्पष्ट हो गई है।

५. उद्देश्य—कहानी का उद्देश्य केवल मनोरंजन करना ही नही है। प्रत्येक कहानी में कुछ न कुछ उद्देश्य या लक्ष्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अवश्य रहता है। कहानीकार का उद्देश्य मानव जीवन के कुछ विशेष तथ्यो का उद्घाटन करना होता है कहानी का उद्देश्य अधिकाश में व्यंजित ही रहता है। कहानी के अध्ययन से उसका उद्देश्य जानना अत्यन्त आवश्यक है। कही-कही यह उद्देश्य स्पष्ट रूप से प्रकाश मे आ जाता है। जैसे—सुदर्शन जी की "एलबम" शीर्षक कहानी मे। इस कहानी का उद्देश्य वड़ा उच्च तथा महान् है। इस कहानी का प्रधान उद्देश्य है

स्वाभिमान नष्ट किये बिना याचक की सहायता करना है। प्रसाद जी की "मधुआ" नामक कहानी में यह उद्देश्य व्यंजित है कि जब मनुष्य पर चिन्ता करने का भार आ जाता है तब उसका सुधार स्वयमेव हो जाता है। शराबी के जीवन में "मधुआ" के आ जाने से उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता है। उसके भोजन का भार शराबी पर आ जाता है वह अब शराब न खरीद कर लड़के के लिए मिठाई लाता है तथा सान चलाने का व्यवसाय करता है। कही कहीं उद्देश्य गूढ रूप में भी रहता है। कभी-कभी यह उद्देश्य अन्तिम वाक्य मे सूक्ति रूप से व्यक्त रहता है और उसकी उक्ति का चमत्कार कहानी को काव्यत्व प्रदान करता है। जैसे अज्ञेय जी की "शत्रु' शीर्षक कहानी के अन्तिम वाक्य में एक विशेष चमत्कार है—"जीवन की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हम निरन्तर आसानी की ओर आकृष्ट होते हैं।"

कहानी का उद्देश्य जीवन मीमासा करना नही होता, किन्तु वह जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है। कुछ कहानीकार समझौते को महत्व देते हैं तथा कुछ संघर्ष को। प्रगतिवादी कहानीकार क्रान्ति द्वारा आमूल परिवर्तन दिखाने के पक्ष में हैं। कुछ कहानीकार उद्देश्य को महत्व देते हैं तथा कुछ जीवन की व्याख्या तथा मनुष्यो की समस्या को हल करने के पक्ष मे हैं। जीवन के किसी विशेष तथ्य को स्पष्ट करना ही उनका मुख्य उद्देश्य होता है।

चरित्र-चित्रण प्रधान कहानियों का उद्देश्य स्पष्ट नही होता, किन्तु उनमे चित्रण का एक दृष्टिकोण रहता है—वही उसका उद्देश्य है। जैसे—प्रेमचन्द जी की "बड़े भाई साहब" शीर्षक कहानी में बड़े होने का गौरव दिखाकर अपनी अकमर्णयता छिपाने वालो की दुर्बलता का वर्णन है।

'कफन" या "शतरंज के खिलाड़ी" आदि कहानियों में भी चित्रण की ही प्रधानता है, किन्तु उनमें भी आलसी जीवन का व्यंग चित्र है, जो पाठक पर एक विशेष प्रभाव डालता है कि इस प्रकार की स्थिति से अनेक हानियाँ हैं।

आख्यायिका निर्णय प्रधान होती है परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि आख्यायिका का उद्देश्य उपदेश देना होता है। एक ही भाव या विचार की प्रधानता होते हुए भी कथा की रचना ऐसी होती है जिसमें घटनाएँ और चरित्र अत्यन्त स्वाभाविक रीति से अग्रसर हो और अत्यन्त अनिवार्य रूप से उक्त भाव को स्पष्ट करें। यह कहानीकार की विशेषता है कि वह कथानक के तारतम्य में कथा के लक्ष्य को भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में व्यक्त करता चले। यदि आख्यायिका लेखक इतना कला कुशल नही है तो आख्यायिका में उपदेश का पुट दूर से ही चमकेगा। ऐसी कहानियाँ किसी व्याख्यान के अंश के समान होगी। उनमे उच्च कला के दर्शन नही होते। यह कहानीकार की निपुणता है कि जिसके द्वारा वह कहानी जैसी छोटी रचना में वर्णन और चित्रण का नैसर्गिक सामंजस्य करता हुआ, कथा के लक्ष्य को भी स्पष्टतः प्रकट करे। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए अत्यन्त उच्चकोटि की

कल्पना अपेक्षित है। श्रेष्ठ आख्यायिका उपदेश प्रधान नही होती, किन्तु इसका यह भी अभिप्राय नही है कि वे एक विशिष्ट भाव, विचार या समस्या को लेकर नही चलती। बिना ऐसा किये आख्यायिका के प्राथमिक स्वरूप की सिद्धि नही हो सकती, अतः कहानीकार का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह कथानक की योजना मे भाव, विचार या समस्या को ध्वनित करता चले।

कहानी का उद्देश्य हमारी समस्याओ का हल नही करना है, वरन् मार्ग दर्शन कराना है। जैनेन्द्र जी इस सम्बन्ध मे लिखते हैं—"कहानी एक खोज के प्रयत्न का उदाहरण है। उदाहरणो और मिसालों की खोज होती रहती है। वह एक उत्तर ही नहीं देती, अपितु कहती है कि उत्तर शायद इस दिशा में मिले। वह सूचक होती है; कुछ सुझा देती है, और पाठक अपनी चिन्तन क्रिया के द्वारा इस सूझ को ले लेते हैं।"

६. शैली—शैली का सम्बन्ध कहानी के किसी एक तत्व विशेष से न होकर प्रायः सब तत्वो से है। कहानी की प्रेषणीयता उसकी शैली पर ही निर्भर है। शैली के गुण या दोष का प्रभाव सम्पूर्ण कहानी पर पड़ता है। शैली से अभिप्राय किसी बात को प्रतिपादित करने की प्रणाली विशेष से है। शैली का सम्बन्ध शब्दों से तो है ही, विचार और भावो से भी उसका सम्बन्ध कम नही। आख्यायिका लेखक को उत्कृष्ट कोटि की ध्वन्यात्मक शैली को अपनाना पड़ता है, नहीं तो वह स्वल्प सीमा में अपनी अभीष्ट सिद्धि नही कर सकता। श्रेष्ठ कहानी की शैली इसलिए ध्वनि-गर्भित, पुष्ट और वेगवती होती है तथा उसमे शिथिल व्यापार की योजना नही होती। आख्यायिकाकार को प्रारम्भ से ही यह विश्वास दिलाना पड़ता है कि जो कुछ आगामी पक्तियो मे कहा जायेगा वह विश्वसनीय, रुचिकर और सत्य होगा, इसलिए उसे अपनी शैली को प्रांजल तथा आकर्षक बनाना पड़ता है। अतः आख्यायिका की शैली अधिक प्रभावशालिनी होनी चाहिए। इसलिए कुछ विद्वानों ने आख्यायिका की कला को सकेत मूलक कला माना है।

शैली में सगति तथा तार्किक क्रम का भी होना वांछनीय है। कहानीकार का उद्देश्य किसी बात को बताना ही नही है, वरन् प्रभाव डालना भी है। अच्छी शैली मे भाषा की लक्षणा व्यंजना आदि शक्तियो का प्रयोग होता है। प्रत्येक लेखक की अपनी निजी शैली होती है। परन्तु दो शैलियाँ मुख्य रूप से प्रचलित है—एक चलती मुहावरेदार शैली जैसी प्रेमचन्द जी की है। दूसरी संस्कृत गर्भित अलकृत शैली जिसके प्रतिनिधि "प्रसाद" जी हैं। प्रसाद जी तथा चण्डीप्रसाद हृदयेश ने अपनी कहानियो में सस्कृत प्रधान शैली का प्रयोग किया है। प्रेमचन्द जी की मुहावरेदार भाषा का उदाहरण "बड़े भाई साहब" शीर्षक कहानी से दिया जाता है—

"मेरे फेल होने पर मत जाओ, मेरे दर्जे में आओगे, तो दाँतों पसीना आ जायेगा, जब अलजबरा और जामेट्री के लोहे के चने चबाने पड़ेंगे और इङ्गलिस्तान

का इतिहास पढना पड़ेगा।······मेरे दर्जे में आओगे लाला, तो ये सारे पापड़ बेलने पड़ेंगे और तब आटा दाल का भाव मालूम होगा। इस दर्जे में अव्वल आ गये हो, तो जमीन पर पाँव नही रखते, इसलिए मेरा कहना मानिए लाख फेल हो गया हूँ, लेकिन संसार का मुझे तुम से ज्यादा अनुभव है। जो कुछ कहता हूँ, उसे गिरह बाँधिये, नहीं पछताइएगा।"

इसमें चलते मुहावरो का प्रयोग किया गया है, तथा हिन्दी उर्दू के शब्दो का सुखद सम्मिश्रण है। प्रेमचन्द जी ने अपनी कहानियो में कही-कही अंग्रेजी के मुहावरो का भी प्रयोग किया है। जैसे—हमेशा सर पर एक नगी तलवार सी लटकती मालूम पडती है।" मुहावरो मे भापा की लाक्षणिक शक्ति का प्रयोग करने से एक विशेष चमत्कार आ जाता है तथा ये मुहावरे चित्र सा उपस्थित कर देते हैं जिससे प्रत्येक बात सरलता से बोधगम्य हो जाती है।

हृदयेश जी ने अपनी शैली मे "बाण" की कादम्बरी" की शैली का अनुकरण करने का प्रयत्न किया है। किन्तु हिन्दी मे बड़े समासो का प्रयोग सम्भव नही। अतः हृदयेश जी की शैली बाण की शैली से अधिक सुन्दर है। इस प्रकार की शैली में भाव की अपेक्षा शब्दो का चमत्कार विशेष रूप से रहता है एक उदाहरण देखिए—

"पतंग प्रिया पद्मिनी प्रोपित पतिका की भाँति श्रीविहीन हो, सकुचित हो गई। पक्षीकुल संरक्षक विहीन गायक समाज की भाँति मूक हो गया। प्रकृति प्ररिश्रम के विश्राम की भाँति स्तब्ध हो गई। गगनांगण मे विहार करता हुआ चन्दमा अपनी शुभ्र चन्द्रिका की शीतल धारा से धरणी देवी के दिनकर कर तप्त कलेवर का सिंचन करने लगा।"

प्रसाद जी की सस्कृत गर्भित शैली मे एक विशेष शालीनता है। सस्कृत के शव्दो ने उनकी भापा को कुंठित नही किया है।

प्राचीन वातावरण को प्रस्तुत करने के लिए प्रसाद जी ने संस्कृत गर्भित शैली का प्रयोग किया है। वास्तव मे शैली का चुनाव विषय के ही अनुकूल . है। घटना प्रधान सामाजिक कहानियो के लिए प्रेमचन्द जैसी चलती फिरती शैली अधिक उपयुक्त है। भाव-प्रधान कहानियो मे दोनों प्रकार की शैलियो का प्रयोग होता है।

कहानी की शैली के प्रधान गुण हैं—सुन्दर शब्द चयन, उपयुक्त पद-मैत्री, सुसगठित वाक्य-विन्यास, क्रमबद्ध प्रवाह, सुन्दर अलंकार योजना, भाषा की चित्रोपमता, लक्षणा-व्यजना का सफल प्रयोग, हास्य-विनोद का उचित मात्रा में पुट आदि है। कहानी मे शैली सम्बन्धी दो विशेप शक्तियो का होना अत्यन्त आवश्यक है—१. वर्णन शक्ति (Power of description) दूसरा प्रबन्धन कथन शक्ति (Power of narration)

कहानीकार वर्णन शक्ति के द्वारा जड चेतन का वर्णन करता है, इसमे प्रकृति

चित्रण भी रहता है। वर्णन मे स्थायी गुणो का चित्रण किया जाता है। विवर शक्ति के द्वारा कहानीकार गतिशील घटनाओं या दशाओं का चल-चित्र उपस्थित करता है। नाटक में पर्दों तथा अभिनेताओ के द्वारा जो कार्य नाटककार करता है वह कहानीकार वर्णन द्वारा करता है। विवरण कौतूहल को वनाये रखता है। इसके द्वारा कथा की गति मे शिथिलता नही आती। कहानीकार मे विवरण की शक्ति तभी आती है जब उसकी अनुभूति गहरी हो, कल्पना सजीव हो तथा दृश्यो को चित्रित करने की अद्भुत शक्ति हो, कहानीकार में जितनी ये शक्तियाँ प्रचुर मात्रा मे होगी, उतनी ही उसकी कला सफल होगी।

कहानी की शैली में भाषा के सौष्ठव के साथ संगति और प्रभाव की एकता होना भी वाँछनीय है। श्रेष्ठ कहानियों मे घटनाओं, भावो, विचारों का उचित संतुलन रहता है। सफल कहानी वही कही जायेगी जिसके प्रारम्भ, प्रसार और अन्त में अन्विति हो।

कहानी मे आदि और अन्त का महत्व:—कहानी का प्रारम्भ उसका प्रवेश द्वार है। यदि वह प्रवेश द्वार हमारी जिज्ञासावृत्ति को जाग्रत न कर सके अथवा किसी अन्य प्रकार का आकर्षण उत्पन्न न कर सके तो उसकी ओर पाठक की स्वाभाविक रुचि न होगी। कहानी के प्रारम्भ और अन्त के सम्बन्ध में Mr. Bllery Sedgwick का कथन है कि कहानी एक घोड़े के समान है जिसकी चाल का आरम्भ और अन्त विशेष महत्व रखता है—"A Story is like a horse it is the start and finish that count most." कहानी के प्रारम्भ के लिए यह तो आवश्यक नही है कि वह वास्तविक आरम्भ हो किन्तु वह ऐसा आर्थिक स्थल होना चाहिए जहाँ से प्रारम्भ और वाद के अंश शृखलावद्ध किए जा सकें। कभी कभी यह आरम्भ किसी महत्वपूर्ण वार्तालाप से प्रारम्भ होता है, कभी किसी वातावरण, किसी विशेष स्थिति या घटना के वर्णन से होता है, तथा कभी विशेष चरित्र के वर्णन से प्रारम्भ होता है. किन्तु इसमे कुछ वात ऐसी होनी चाहिए जो पाठकों को जिज्ञासा जाग्रत कर सकें और कथा को आगे पढने की उत्सुकता वनी रहे। कहानीकार सूक्ष्म रूप मे प्रारम्भिक वर्णनों और वार्तालाप में प्रायः कहानी की गतिविधि और दिशा की ओर रंगित कर देता है।

प्रसाद जी ने अपनी "पुरस्कार" नामक कहानी का प्रारम्भ वहुत सुन्दर वातावरण में किया है। इन्हे हम बड़े सुन्दर प्रवेशक कह सकते हैं। पाठक के सामने यह स्पष्ट चित्रित हो जाता है कि यह उत्सव वर्षा का है और सम्राट इसमे भाग ले रहे हैं। देखिए:—

"आर्द्रा नक्षत्र, आकाश में काले-काले वादलों की घुमड, जिसमे देव दुन्दुभी का गम्भीर घोष, प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण पुरुष झाँकने लगा—देखने लगा महाराज की सवारी। शैल माला के अचल मे समतल उर्वरा भूमि से सोंधी वास उठ रही थी। नगर तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ मे गजराज का चरमधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा, वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोरे लेने लगा।"

कहानी के प्रारम्भ के समान उसका अन्त भी आकर्षक, सुन्दर, चमत्कारपूर्ण तथा स्थायी प्रभाव डालने वाला होना चाहिए। कहानी की सफलता इस बात पर निर्भर है कि उसके अन्त का प्रभाव कितनी देर तक पाठको के मस्तिष्क पर रहता है। सुदर्शन जी की "कवि की स्त्री" शीर्षक कहानी का अन्त बडा काव्यमय तथा हृदय पर स्थायी प्रभाव डालने वाला है। देखिए:—

"उस रात मुझे ऐसी नीद आई जैसी इसके पहले कभी न आई थी। मैंने पति को ठुकरा दिया था, परन्तु उनके प्रेम को नही ठुकरा सकी। मनुष्य मर जाता है और उसका प्रेम जीता रहता है।"

कभी-कभी कहानी का अन्त चरमसीमा के साथ भी हो जाता है और कभी-कभी उसके बाद होता है। कहानी का शीर्षक यदि उसके अन्त मे सम्बन्ध रखता हो तो सोने मे सुगन्ध समझना चाहिए। प्रसाद की पुरस्कार कहानी इस तथ्य का सुन्दरतम निदर्शन है।

कहानी कहने के प्रकार—उपन्यास की भाँति कहानी वर्णन के भी तीन प्रकार हैं—

(१) **वर्णनात्मक या ऐतिहासिक:**—इसमे कहानीकार दृष्टा के रूप में कहानी का वर्णन करता है।

(२) **आत्मकथा के रूप में:**—इसमें कहानी का कोई प्रमुख पात्र कहानी को आपबीती के रूप में वर्णन करता है। कभी-कभी एक पात्र दूसरे से सुनी हुई कहानी को कहता है। डायरी को भी हम आत्मकथा के रूप में लेंगे।

(३) **पत्रों के रूप में.**—कभी-कभी कहानी का वर्णन पत्रों के रूप मे भी होता है। इस प्रकार की कहानियो में दो पात्रो के उत्तर-प्रत्युत्तर होते हैं और पात्र कथा का अपना-अपना अंश लिखते हैं।

कहानी तथा उपन्यास मे साम्य तथा अन्तर:—उपन्यास आख्यायिका का जनक माना जाता है। वृत्त या कथा साहित्य की वशजा होने के कारण उपन्यास तथा आख्यायिका में बहुत सी बातों मे समानता है। उपन्यास और गल्प दोनो ही मनुष्य जीवन की आनुषगिक कथा को कल्पना के रग मे रजित कर गद्य की प्रणाली में अभिव्यक्त करते हैं, और इस दृष्टि से दोनो का आधार तथा प्रणाली एक हैं। किन्तु फिर भी दोनो की अपनी निजी विशेषताएँ हैं, जिससे दोनो की सत्ता विभिन्न समझी जाती है। कुछ विद्वान तो गल्प से इतने अधिक प्रभावित हैं कि वे उसकी एक स्वतन्त्र सृष्टि मानने लगे हैं। कहानी तथा उपन्यास के आकार मे भी अन्तर है। आख्यायिका का आकार यदि बडा हो तो उसे उपन्यास या उपन्यास का आकार यदि छोटा हो तो उसे कहानी नही कही जा सकती। आज आकार का प्रश्न गौण हो गया है। यद्यपि यह माना गया था कि आख्यायिका का आकार ३००० से लेकर लगभग १२००० शब्दो तक का होना चाहिए; तथापि इससे कम तथा अधिक शब्द भी आख्यायिका में पाये जाते हैं और वह आख्यायिका श्रेष्ठ भी होती हैं। कहानी का

उद्देश्य केवल एक प्रसंग को लेकर उसकी मार्मिक झाकी दिखा देना है और इस दृष्टि से वह उपन्यास के कथा भार से सर्वथा मुक्त है। कहानी का लक्ष्य जीवन का समय-सापेक्ष चतुर्दिक चित्र अकित करना नही है वह तो एक क्षण में घनीभूत जीवन-दृश्य दिखाती है। इस कारण वह उपन्यास की कोटि से स्वतन्त्र है। आधुनिक कहानी यदि आकार मे छोटे उपन्यास से बड़ी भी होगी तब भी कहानी ही कहलायेगी। कहानी अन्य उपकरणों से अपने अंग की शोभा बढ़ाने लगी है।

उपन्यास मानव जीवन का पूर्ण चित्र है और कहानी जीवन की झाकी-मात्र है। यह झांकी क्षणिक होते हुए भी सुन्दर तथा प्रभावशाली होती है। कहानीकार केवल एक दृश्य को ही प्रकाश मे लाता है और उसकी प्रभविष्णुता को तीव्र कर देता है। उपन्यासकार मानव जीवन का पूर्ण चित्र उपस्थित करने के साथ-साथ जीवन की अन्य विविधताओ तथा परिस्थितियो पर भी प्रकाश डालता चलता है। वह सम्पूर्ण दृश्यों का संयोजन बड़ी सावधानी से करता है। परन्तु कहानीकार की दृष्टि धनुर्विद्या विशारद वीर अर्जुन की भाँति अपने निशाने लक्ष्य पर गढ़ी रहती है। कहानीकार प्रारम्भ तथा अन्त को अधिक महत्व देता है तथा उसे प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न करता है, किन्तु उपन्यासकार की दृष्टि सम्पूर्ण उपन्यास पर होती है। वह अपनी सम्पूर्ण कथा को प्रभावशाली बनाने का उद्योग करता है।

कहानीकार अपने पाठक को शीघ्रातिशीघ्र अन्तिम सवेदना तक पहुँचा देता है तथा एक साथ पर्दा उठा कर पूर्वनिर्मित झाँकी की मनोहारिणी छटा से मुग्ध कर देता है। रहस्योद्घाटन करना उसे अभीष्ट नही, वह तो उसकी ओर केवल इंगित कर देना है। अन्तिम संवेदना से बीच के सकेत स्पष्ट हो जाते हैं। उपन्यास के पाठक उपन्यासकार के विश्वासपात्र होते हैं। कहानी का पाठक अधिक प्रभावपूर्ण दृश्य के देखने तथा केन्द्रीभत आनन्द के प्राप्त करने का गौरव प्राप्त करता है। कहानी की एकतथ्यता ही उसका प्राण हैं और वही उसे उपन्यास से पृथक करता है।

कहानी तथा उपन्यास मे यही मौलिक भेद है और इस कारण दोनो के शिल्पविधान मे भी अन्तर हो जाता है। उपन्यास की अपेक्षा कहानी का क्षेत्र सीमित होता है। कहानी मे वातावरण का विस्तार, जीवन की विविधता, प्रासंगिक कथाओ के कारण कथा का बहुशाखा मे विभाजित हो कर अन्त की ओर जांच आदि बाते जो उपन्यास के लिए वांछनीय है—नही मिलती।

यद्यपि उपन्यास तथा आख्यायिका दोनो ही काल्पनिक सृष्टि हैं। दोनो की ही यथार्थ की अनुरूपता प्राप्त करना वांछनीय है। दोनो मे ही घटना तथा पात्रो की ऐसी योजना अनिवार्य रूप से होती है जिससे वह काल्पनिक सृष्टि पूर्ण रूप से सजीव प्रतीत हो। सजीवता तथा वास्तविकता के अभाव मे उपन्यास तथा कहानी श्रेष्ठ नही कही जा सकती। अतः कहानीकार तथा उपन्यासकार दोनो को यथार्थता का ध्यान रखना पड़ता है। परन्तु उपन्यास और कहानी के क्षेत्र मे अन्तर है। उपन्यास का आकार दीर्घ है अतः उसमे यथार्थ और सजीव पात्रो का निर्माण सरलता

से हो सकता है, आख्यायिका मे यह सम्भव नही। उपन्यास को वर्णन तथा चित्रण की जितनी सुविधा रहती है उतनी आख्यायिका के तीन चार शब्दो को नही। अत कहानीकार को अपने स्वल्प सवल का ध्यान रखना अत्यन्त वांछनीय है। उपन्यास की अपेक्षा कहानीकार को अपने पात्रों या चरित्रो की संख्या कम रखनी पड़ती है।

कहानी मे चरित्र के विकास के लिए स्थान कम होता है। इसमे पूर्व निर्मित पात्रो के चरित्र पर प्रकाश डाला जाता है और उसके द्वारा उसके पूर्ण चरित्र का ज्ञान हो जाता है। कहानी मे पात्रो के चरित्र का क्रमिक विकास नही दिखाया जाता। कहानीकार किसी पात्र के चरित्र मे परिवर्तन किसी एक महत्वपूर्ण घटना के द्वारा दिखा देता है। प्रेमचन्द जी की "आत्माराम", "शखनाद" कहानियाँ इसी प्रकार की हैं, उसमे चरित्र-परिवर्तन सहसा एक महत्वपूर्ण घटना के द्वारा दिखाया गया है। ("शंखनाद" का प्रमुख पात्र वहुत ही वेफिक्र है उसे अपने कर्तव्य का कुछ भी ज्ञान नही है। लेकिन पैसे के अभाव में अपने वच्चे को खिलौना दिलाने मे असमर्थ पाकर तथा निराश होकर अपने मे परिवर्तन कर लेता है। वच्चे का करुण क्रन्दन ही उसके लिए कर्तव्य का शंखनाद हो जाता है।) कौशिक जी की "ताई" और श्री चन्द्रगुप्त विद्यालकार की "डाकू" शीर्षक कहानी मे चरित्र-परिवर्तन के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। किन्तु इन सव मे चरित्र-परिवर्तन किसी एक ही महत्वपूर्ण घटना के द्वारा होता है। यद्यपि कहानी मे चरित्र-चित्रण, वातावरण, कथानक होते सव हैं, किन्तु प्रधानता एक को ही मिल पाती है। शेप दो का विस्तार नही हो पाता। उपन्यास मे चाहे प्रधानता एक को ही मिले किन्तु तीनो का विस्तार सम्यक् रूप में किया जाता है। कहानीकार घटना या परिस्थिति चक्र को अधिक सरल वनाता है उपन्यास की सी जटिलता और सघनता नही लाता। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने लघु गृह मे अनेकानेक अतिथियों को आमन्त्रित नही कर सकता और न उनके स्वागत सत्कार या भोजन का उचित प्रवन्ध ही कर पाता, उसी प्रकार कहानीकार भी अपनी सीमित सीमा मे वहुत से चरित्रो तथा कथानको की अवतारणा नही कर सकता।

आख्यायिका तथा उपन्यास के लक्ष्य या उद्देश्य मे भी अन्तर है। प्रत्येक आख्यायिका का एक निश्चित लक्ष्य होता है, जिसे कहानीकार लिखने के पूर्व ही निरूपित कर लेता है और उस निश्चित लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही घटना, पात्र, वर्णन आदि की सृष्टि करता है। इन घटनाओ तथा पात्रो की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही होती, ये सव उस निश्चित लक्ष्य को पूर्ण करने के निमित्त होते हैं। कहानी मे प्रारम्भ से ही जो वाक्य लिखे जाते हैं और जो क्रम निर्धारित रहता है वे उक्त लक्ष्य से ही सम्वन्धित होते हैं, कहीं भी उससे भिन्न नही होते। उपन्यास मे इस प्रकार का निर्दिष्ट नियम नही होता, परन्तु आख्यायिका मे आदि से अन्त तक उसका पालन वांछनीय है। अत. उपन्यासो में घटनाओ का अनिर्दिष्ट क्रम और कथा का स्वच्छन्द विकास किया जा सकता है किन्तु छोटी कहानी या आख्यायिका मे उसकी सुविधा नही होती। आख्यायिका तो एक ही निर्दिष्ट दिशा मे अग्रसर होती है। कहानी का लक्ष्य इधर-उधर चक्कर लगाना या भटकना, अन्तर्कथाओ की सृष्टि

करना नही है। इसका यह अभिप्राय नही है कि सभी श्रेष्ठ कहानियों में एक मूल कथा के अतिरिक्त दूसरी अन्तर्कथा होती ही नही है। किन्तु आख्यायिका कथा के लिए उक्त नियम स्वीकार किया गया है और अधिकाश कहानियाँ इसी नियम के अनुसार लिखी जाती हैं।

इस प्रकार कहानी एक ही निश्चित लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के कारण उपन्यासों से भिन्न अपनी एक नवीन शैली भी रखती है। उपन्यासो से ही नहीं प्राचीन कहानियों से भी आधुनिक कहानियो की शैली में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उपन्यासों तथा प्राचीन कहानियों मे अत्यन्त करुण दृश्य और वर्णनों के साथ प्रहसन का भी समावेश रहता था। इसके अतिरिक्त उनमें कहीं धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तो की भरमार और अलंकारिक चमत्कार भी रहता था। किन्तु आधुनिक आख्यायिका मे यह सब बातें नही पाई जाती। तदनुकूल ही कहानी की शैली अधिक निश्चित तथा प्रभावशालिनी होती है। कहानीकार पाठक के समक्ष उपस्थित होकर आमने-सामने वार्तालाप करता सा प्रतीत होता है। उसकी शैली प्रत्यक्ष शैली होती है। कहानी मे उपन्यास की भाँति अस्पष्ट इगितों और उल्लेखों का अभाव होता है। उपन्यासकार की भाँति कहानीकार अपने व्यक्तित्व को छिपाता नही है। उसे प्रत्येक क्षण अपने व्यक्तित्व को प्रकाश मे लाना पडता है तथा अपने सम्पूर्ण मंतव्य को स्पष्ट कहना होता है। उपन्यास के लिए यह आवश्यक नही है वह अपने रहस्य को छिपा सकता है। उसे यह आवश्यक नही कि पाठकों के सम्मुख निज रूप मे उपस्थित हो और अंतरंग की भाँति ही बाते करे। कहानीकार की शैली पाठक के अन्तरंग मित्र की सी होती है। आख्यायिका मे व्यक्तित्व प्रधान शैली की कला है। उपन्यास की अपेक्षा कहानी की शैली सक्षिप्त होने के कारण अधिक व्यंजना प्रधान होती है। कहानी के गागर मे सागर भरा रहता है। कहानी व्यंजना प्रधान होने के कारण उपन्यास की अपेक्षा काव्य के अधिक निकट है। उपन्यास का काव्यत्व तो सम्पूर्ण उपन्यास मे बिखरा रहता है किन्तु कहानी मे यह गुण उसकी एकध्येयता के कारण अन्तिम बिन्दु में रहता है।

जो कहानिया निम्न श्रेणी के मनुष्यो के लिए होती हैं अथवा पढकर सुनाई जाती हैं वे घटना प्रधान होती हैं। किन्तु जो कहानियाँ शिक्षित समाज के लिए होती हैं तथा शान्तिपूर्वक अध्ययनकक्ष के लिए जिनकी रचना होती है उनमें व्यंजना तथा विचार का प्राधान्य रहता है।

अतः स्पष्ट है कि उपन्यास तथा आख्यायिका मे वास्तविक अन्तर है उपन्यासकार बड़े-बड़े कथानकों का निर्माण करने में सिद्धहस्त होता है और चरित्रों की अधिक संख्या संघटित कर शक्तिपूर्ण रीति से उनका निर्वाह करता है। किन्तु कहानीकार में शुद्ध तथा स्पष्ट अभिव्यक्ति करने की प्रवृत्ति होती है। उसके लिए घटना का महत्व चरित्र से न्यून होता है। कहानी में व्यंजना की शक्ति विस्तृत वर्णन की शक्ति से अधिक प्रबल होती है। उसका एक-एक वाक्य सार्थक होता है।

ये सब विशेपतायें ही आख्यायिका तथा उपन्यास में मौलिक अन्तर उपस्थित

कर देती हैं। आजकल कहानियाँ या तो घरो मे सुनाई जाती हैं या कभी-कभी रेडियो पर। उपन्यास और छोटी कहानी ने विषय, रूप, कौशल और अभिव्यक्ति की इतनी प्रणालियाँ निकाल दी हैं कि अब साधारण कथाओ की ओर मनुष्यो की रुचि नही रही।

आख्यायिका और प्रगीत काव्य :—कहानी मे प्रगीत काव्य की सी गीतमयता तो नही होती, किन्तु आख्यायिका की कला अपनी एकध्येयता और वैयक्तिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण गीति-काव्य से मिलती जुलती है। दोनो ही व्यक्तित्व प्रधान रचनाये हैं। गीति-कविता मे जिस प्रकार एक ही भावना को व्यक्त किया जाता है उसी प्रकार कहानियो में भी एक ही प्रधान लक्ष्य की पूर्ति होती है। दोनो मे ही भावना की एक ही धारा प्रवाहित होती है और सभी दृश्य प्रयोजनीय तथा सार्थक होते हैं। निरर्थक वस्तुओ का समावेश दोनो मे से किसी मे नही होता। कला की दृष्टि से ये दोनो ही श्रेष्ठ कही जायेंगी तथा इनका प्रभाव भी अधिक मार्मिक होता है।

कहानीकार कहानी के अन्तिम विन्दु को पहले ही कल्पना मे देख लेता है। कहानीकार किसी विशेष घटना से चमत्कृत होकर कहानी की रचना करता है। यदि वह आन्तरिक भावना से प्रेरित होकर रचना करता है तो कल्पना से घटना का निर्माण कर लेता है। कहानीकार का लक्ष्य तथ्य का प्रकाशन ही नही है वह भाव को भी प्रधानता देता है।

कहानी और गद्य-काव्य —कहानी में सगीत का अभाव होता है और इस कारण वह गद्य काव्य के भी निकट है। किन्तु गद्य-काव्य के साथ भी उसका वही सम्बन्ध है जो प्रगीत काव्य के साथ। कहानी गद्य की एक विधा है और इस कारण कहानी भी गद्य-काव्य है। किन्तु गद्य-काव्य के विशेष अर्थ मे वह—गद्य-काव्य की सीमा का स्पर्श करते हुए भी उससे भिन्न है। कहानी मे घटना की उपेक्षा रहती है, गद्य-काव्य मे नही।

गद्य-काव्य मे घटनाओ का एक प्रकार से अभाव होता है। उसमे घटना को इतना महत्व नही दिया जाता, जितना उनसे जाग्रत हृदयोद्गारो को। कहानी में घटनाओं तथा उद्गारो को समान महत्व दिया जाता है।

कहानी और रेखाचित्र—रेखाचित्र कहानी का स्पर्श करते हुए भी उससे भिन्न है। रेखाचित्र स्थायी होती है तथा इसमे एक ही वस्तु या पात्र का चित्र अंकित रहता है। कहानी मे गत्यात्मकता होती है। रेखाचित्र मे वर्णन की प्रधानता रहती है। कहानी मे वर्णन के साथ कुछ प्रवन्धात्मक कथन भी रहता है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के रेखाचित्र हिन्दी साहित्य मे समादृत हो चुके हैं। उनमें जिन वस्तुओ या व्यक्तियो का (जैसे लैटरवक्स, पैट्रोल टैंक, या लाला जी) चित्रांकन रहता है उसमे उस वस्तु के स्थायी सम्वन्ध को ही प्रस्तुत किया जाता है। कहानी मे एक विशेष गति रहती है और वह स्पष्ट रूप से चलता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

रेखाचित्र में यह बाते नही होती। कहानी जब अपने में कालक्रम को कम कर देती है तो वह रेखाचित्र के समीप आ जाती है।

"हिन्दी में कहानी का विकास"

"माँ कह एक कहानी"
वेटा, समझ लिया क्या तूने मुझको अपनी नानी ?
कहती है मुझ से यह चेरी, तू मेरी नानी की बेटी ?
कह माँ कह लेटी ही लेटी, राजा था या रानी ?
राजा था या रानी ? माँ कह एक कहानी। "यशोधरा"

कहानी सुनने की प्रवृत्ति मानव में अनादि काल से चली आ रही है। बालकों की रुचि ही जाति की रुचि की परिचायक होती आ रही है। बालकों की रुचि ही जाति की रुचि की परिचायक होती है। कहानी साहित्य अपने प्राचीनतम रूप मे बौद्धकालीन जातक कथाओ में उपलब्ध होती है वे ही कहानियाँ दूसरे रूप मे पंचतंत्र तथा हितोपदेश में प्राप्त होती है। यों और भी ध्यान दिया जाय तो वेदों में भी कुछ कहानियाँ प्राप्त होती हैं।"

हिन्दी मे जिस कहानियों से हमारा अभिप्राय है वे तो आकार प्रकार मे प्राचीन कहानियों से बिलकुल भिन्न हैं। इसका कारण यह है कि यंत्र युग ने न केवल हमारे कर्म क्षेत्र मे ही एक अपूर्व परिवर्तन उपस्थित किया है। अपितु हमारे मानसिक और बौद्धिक जगत में भी एक ऐसी क्रान्ति की जिसमे युगो के—शताब्दियों के परिवर्तन, आँधियाँ और उथल-पुथल यह सव फीके और निर्जीव प्रतीत होने लगे। वस्तुतः यह परिवर्तन व्यावहारिक क्षेत्र मे जितना परिमाणात्मक लगता है। मानसिक जगत में उतना ही गुणात्मक बल्कि दोनो ही प्रकार का।

प्राचीन कहानियों में कथा की प्रधानता होती थी, किन्तु आधुनिक कहानियाँ या तो चरित्र-चित्रण प्रधान होती हैं, या समस्या मूलक। आज की साहित्यिक कहानियाँ मानव केन्द्रित होती हैं, जिनके द्वारा मानव-जीवन के प्रत्येक अंग पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। आज की कहानियों का क्षेत्र राजा-रानियो के वृत्त वर्णन मे सीमित न होकर व्यापक है। इसके अतिरिक्त उसमे दैवी सहायता के लिए भी स्थान नही है। आज का कहानीकार राजा और रानी के नाम-ग्राम का ही परिचय देकर सन्तुष्ट नही होना चाहता, बल्कि उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रकाश में लाना चाहता है। वह मानव जीवन के भीतरी स्तरो की भी झांकी दिखाता है। आज का कहानीकार, औत्सुक्य के साथ भावुकता और बुद्धि दोनो की तृप्ति कर काव्य के अधिक निकट आ जाता है। "काव्य मानव जीवन की आलोचना है।" इस परिभाषा की पूर्ति हमारा कथा साहित्य पूर्णतया करता है।

हिन्दी मे कहानियो का प्रारम्भ किससे माना जाय यह एक विवाद-ग्रस्त प्रश्न है। सर्वप्रथम इशाअल्ला ने रानी केतकी की कहानी लिखी थी किन्तु इंशा की

ानी केतकी की कहानी तथा राजा शिवप्रसाद का "राजा भोज का सपना" तथा वीरसिंह" वृतान्त आज की कहानी की परिभाषा की कसौटी पर ठीक नही बैठ कते। उनमे कथोपकथन का सर्वथा अभाव है तथा चरित्र-चित्रण की पद्धति के थान पर कथा कहने की प्रवृत्ति अधिक है।

आजकल हिन्दी मे जो छोटी कहानियाँ लिखी जाती हैं वह प्राय' वगला तथा ग्रेजी साहित्य की देन है। मासिक पत्रिकाओं के कारण ऐसी कहानियों की ावश्यकता प्रतीत हुई, जो एक वैठक मे समाप्त हो सके तथा आधुनिक कहानियों ा जन्म "इन्द्र" नामक पत्रिकाओं के प्रकाशन के समय से मानना चाहिए। वत् १९५७ मे किशोरीलाल गोस्वामी की एक मौलिक कहानी "इन्दुमती" मे काशित हुई। फिर तो कहानियाँ निरन्तर प्रकाशित होने लगी—जिनमे कुछ मौलिक ी और कुछ वगला से अनुदित। अनुवादको मे गीराजकुमार घोप प्रमुख थे। उन्होने ानुवाद के अतिरिक्त मौलिक कहानियाँ भी लिखी। कुछ विद्वान घोप जी को हिन्दी ा प्रथम कहानी लेखक होने का गौरव देते हैं। उनकी समकालीन "वग महिला" ामक एक स्त्री ने कितनी ही कहानियो का वगला से अनुवाद किया और कितनी ौलिक कहानियाँ भी लिखी। इनकी "दुलाई वाली" कहानी वहुत प्रसिद्ध है। पडित ामचन्द्र शुक्ल ने कहा था कि—"इन्दुमती यदि किसी बंगला कहानी की छाया नही है "तो हिन्दी की यह प्रथम मौलिक कहानी ठहरती है।" इसके पश्चात् प० रामचन्द्र ाुक्ल की "ग्यारह वर्ष का समय" तथा "दुलाई वाली" का नाम आता है। यह काल ास्तव मे कहानी साहित्य का शैशवकाल था।

इसके पश्चात् स्वनाम धन्य जयशकर प्रसाद जी ने इस क्षेत्र मे अवतरित होकर छोटी कहानियो मे एक प्रकार से प्राण प्रतिष्ठा कर दी। उनके द्वारा कहानी-कला-चरम उत्कर्ष को पहुँची। उनकी आकाश दीप, पुरस्कार, प्रतिध्वनि, चित्र मन्दिर आदि कहानियो ने एक नया युग उपस्थित कर दिया। उनकी कहानियो मे स्वर्णिम आभा से विभूषित प्राचीनता के वातावरण को उपस्थित करने के अतिरिक्त अच्छे मनोवैज्ञानिक चित्रण आये हैं। प्रसाद जी की कहानियो की प्रकृति पार्श्व भूमि है। उनकी कहानियो मे बड़े सुन्दर अन्तर्द्वन्द्व भी दिखाई देते हैं। आकाश द्वीप की कहानी मे उन्होने इसी मानसिक द्वन्द्व को मूर्त रूप दिया है कि किस प्रकार एक रमणी एक व्यक्ति को प्रेम भी करती है और घृणा भी। "पुरस्कार' नाम की कहानी मे राज-भक्ति और वैयक्तिक प्रेम का सघर्ष है। आत्म बलिदान द्वारा मधूलिका इस द्वद्व का शमन कर देती है। प्रसाद जी की कहानियो का गठन निर्दोप, आरम्भ कौतूहलपूर्ण तथा समाप्ति विस्मयजनक होती है। प्रसाद जी की कहानियो मे जीवन तथा प्रकृति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

प्रसिद्ध 'हास्य रस के लेखक श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने सफल हास्यरस की कहानियो का प्रणयन कर हिन्दी साहित्य के एक वहुत वडे अभाव की पूर्ति की है।

इसी समय विश्म्भरनाथ शर्मा कौशिक ने कहानी क्षेत्र मे प्रवेश किया। कौशिक जी अपने समकालीन तथा पूर्व के लेखको मे अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

उनकी कहानियाँ अधिकतर सामाजिक हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में शहरी जीवन के अच्छे चित्र खींचे हैं। इनकी कहानियाँ वार्तालाप प्रधान हैं। कौशिक जी की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि वे सदैव युग के साथ रहे। वे रुढिवादी या प्रतिक्रिया-वादी लेखक नही थे। "युग की पुकार को उन्होंने सजग होकर सुना और उसे जागरूक होकर व्यक्त किया।" उनकी "ताई" नामक कहानी इस युग की प्रतिनिधि कहानी है।

सुदर्शन जी का नाम भी कौशिक जी के साथ लिया जाता है। इन्होंने अपनी कहानियों के कुछ कथानक राजनीतिक आन्दोलन मे भी लिए हैं। इनकी "न्यायमन्त्री" नामक कहानी ऐतिहासिक है। इनके द्वारा रचित "हार मे जीत" शीर्षक कहानी में उच्च मानवता के दर्शन होते हैं। सुदर्शन जी शहरी मध्य वर्ग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। सुदर्शन जी के सम्बन्ध मे श्री गुलाबराय जी ने लिखा है—"वास्तव में सुदर्शनजी, कौशिक जी और प्रेमचन्द के साथ हिन्दी कहानी लेखकों की बृहतत्रयी में रखे जा सकते हैं।

इसी समय राधिकारमण प्रसादसिंह जी की "कानों मे कंगना" बहुत सुन्दर एवं मौलिक कहानी प्रकाशित हुई। इसी समय कुछ और लेखक इसी क्षेत्र मे आये। ज्वालादत्त शर्मा तथा चतुरसेन शास्त्री उनमे प्रमुख हैं।

हिन्दी कहानी साहित्य के इतिहास मे श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। उनके द्वारा रचित "उसने कहा था" कहानी आधुनिक कला की कसौटी पर खरी उतरती है। "उसने कहा था"—कहानी अपने पूर्व की कहानियो मे तो सर्वश्रेष्ठ थी ही, आज भी उससे प्रतिद्वद्विता करने योग्य कहानियाँ हिन्दी मे बहुत कम हैं। उन्होने अपनी कहानी मे कौतूहल, सुन्दर चरित्र-चित्रण, सुन्दर वातावरण सभी कुछ उपस्थित किया है। सबसे अधिक इस कहानी की विशिष्टता है उसका शीर्षक। अब तक हिन्दी में जो कहानियाँ लिखी गई थी उनके शीर्षक प्रायः पात्रो के नामों पर रखे जाते थे। परन्तु "उसने कहा था" शीर्षक विशेष कौतूहल उत्पन्न करता है। शीर्षक पढते ही पाठक के हृदय मे यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है, कि किसने कहा था? क्या कहा था? इसके अतिरिक्त लेखक ने प्रत्येक वस्तु का शब्द-चित्र उपस्थित कर दिया है। गुलेरी जी हिन्दी संस्कृत के प्रकाड विद्वान् थे। अतः भाषा पर उनका जबर्दस्त अधिकार था। "उसने कहा था" कहानी जिस समय लिखी गई थी, उस समय कहानी कला अपने अविकसित रूप मे थी। प० रामचन्द्र शुक्ल ने इस कहानी की मुक्त कठ से प्रशसा की है :—

"इसमे यथार्थवाद के बीच सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यन्त निपुणता के साथ संपुटित है। घटना उसकी ऐसी है, जैसी बराबर हुआ करती है। पर उसके भीतर से प्रेम का स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की वीभत्स विकृति नहीं है सुरुचि के सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता इसकी घटनाएँ ही बोल रहे हैं। पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।"

इसी समय हिन्दी के भाग्य का नक्षत्र उदय हुआ। मुन्शी प्रेमचन्द जी ने उर्दू से हिन्दी मे प्रवेश किया। वास्तव मे कहानी को उसका आधुनिकतम रूप प्रेमचन्द जी के द्वारा ही मिला। कुछ विद्वानो की यह धारणा है कि प्रेमचन्द जी उपन्यासकार से भी महान कहानीकार हैं। इन्होने अपनी कहानियो द्वारा साधारण मनुष्यों मे भी उच्च मानवता के दर्शन कराये हैं। "पंच परमेश्वर" मे पद के उत्तरदायित्व का सफलतापूर्वक चित्र खींचा है। "बड़े घर की बेटी" बुरे अर्थ मे भी बड़े घर की बेटी है और भले अर्थ मे भी अपने नाम को सार्थकता करती है। जो प्रथम देवर और पति के मध्य संघर्ष का कारण बनती है, वही उनमें सन्धि कराकर अपने हृदय की उदारता का परिचय देती है। "शतरंज के खिलाड़ी" आदि कहानियाँ जीवन के अच्छे चित्र उपस्थित करती है। "ईदगाह" मे गरीब मुस्लिम जीवन की झाकी मिलती है। मुन्शी जी की कहानियाँ अधिकाश में घटना प्रधान हैं किन्तु उनमे भावुकता का भी यथायोग्य समावेश मिलता है। डा० श्यामसुन्दर दास का कथन है— "प्रेमचन्द जी के भाव घटनाओं के आश्रित रहते हैं और जयशंकर प्रसाद जी की घटनायें भावों के आश्रित रहती है।"

प्रेमचन्द जी की कहानियाँ या तो घटना प्रधान होती हैं या चरित्र-चित्रण प्रधान होती हैं। प्रेमचन्द जी की कहानियाँ समस्यामूलक होती हैं। अलौकिक तथा अस्वाभाविक तत्वो का समावेश उनकी कहानियो मे कही भी न मिलेगा। कहानियो का विषय इतना सामान्य होता है कि प्रत्येक पाठक यह सोचने लगता है कि "अरे इसमें तो मेरा ही वर्णन कर दिया गया है।" उपन्यासो की भाति कहानियो मे भी प्रेमचन्द जी ने आदर्शवाद को अपनाया है परन्तु यह आदर्शवाद उनके साहित्य मे कही भी कुरूपता या अस्वाभाविकता नही लाया है। यथार्थ की पृष्ठभूमि पर उन्होने आदर्श की रेखायें खीची हैं। जीवन का कोई भी ऐसा अंग शेष न रहा होगा, जिस पर प्रेमचन्द जी ने प्रकाश न डाला हो। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक सब विषयो पर उन्होने अपनी लेखनी परिचालित की है और इस कार्य में उन्हें महान सफलता मिली है। प्रेमचन्द जी ने अपनी कहानियो द्वारा पाठको के हृदय को आन्दोलित कर दिया है।

प्रेमचन्द जी की "शान्ति" नामक कहानी का समाज पर इतना व्यापक प्रभाव पडा था कि लोगों ने अपनी लड़कियों को अंग्रेजी पढ़ाना बन्द कर दिया था। प्रेमचन्द जी ने जहाँ पण्डो, पुजारियो आदि की पोल स्थान-स्थान पर खोली है वहाँ सेठो और जमीदारो के अत्याचारो तथा शोषण का नग्न चित्र भी उपस्थित किया है। विदेशी शासन की परतन्त्रता की बेड़ी से जकड़ी हुई भारतीय जनता को स्वतन्त्र करने का जितना प्रयत्न साहित्य द्वारा सम्भव था वह उन्होने किया। उन्होने अपनी "माघ की रात" नामक कहानी मे गरीबो की दशा का मार्मिक चित्र खीचा है।

"प्रेमचन्द जी का तो सम्पूर्ण साहित्य शोषकों के विरुद्ध मुखरित शोषित की आक्रोशपूर्ण वाणी है। "चरित्र-चित्रण की दृष्टि से लिखी गई "आत्माराम" तथा "बूढ़ी काकी" आदि कहानियाँ भी जनता मे पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं।

इसके अतिरिक्त हृदय मे उठती हुई भावनाओ पर भी उन्होंने सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं।" उनकी "दो बैल" नामक कहानी तो विश्व की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में भी सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने की अधिकारिणी है। इससे सुन्दर मनोरजक शिक्षाप्रद एवं सजीव कहानी की कल्पना नहीं की जा सकती। उनकी "घास वाली" नामक कहानी इस तथ्य का सुन्दरतम निदर्शन है कि किस प्रकार उच्च वर्ग के मनुष्य निम्न वर्ग की स्त्रियों पर अत्याचार करते हैं।

"कहने का अभिप्राय यह है कि प्रेमचन्द जी हिन्दी कहानी संसार के लिए वरदान रूप में आये थे। उनकी कहानियाँ मानसरोवर के विभिन्न भागो मे संकलित हैं। प्रेमचन्द जी ने अपनी कहानियो मे कहानी के सम्पूर्ण सुन्दर तत्वो का समुचित समावेश कलापूर्ण ढग से किया है। यह तो निर्विवाद है कि प्रेमचन्द जी कृषकों के लेखक थे। लेकिन उन्होने किस पर अपनी लेखनी परिचालित नहीं की। खोमचे वाला, तांगे वाला, विद्यार्थी, डाक्टर, वकील, दुकानदार, बालक, वृद्ध, युवा कोई भी तो अपने हृदय के रहस्यो को उनके समक्ष नही छिपा सका।"

प्रेमचन्द जी ने प्रत्येक वस्तु का ऐसा सजीव चित्रण किया है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रेमचन्द जी इस दशा मे वर्षों रहे होंगे। गरीब, मध्यम श्रेणी तथा पूँजीपति वर्ग सबकी दशाओ का उन्होंने सफलतापूर्वक चित्र उपस्थित किया है। कल्पना नही की जा सकती कि प्रेमचन्द जी का निरीक्षण कितना यथार्थ तथा सजीव होगा।

श्री चंडीप्रसाद हृदयेश ने कुछ कहानियाँ लिखी हैं परन्तु उनमें भाषा का चमत्कार अधिक है। वे कहानी की अपेक्षा गद्य काव्य का नाम अधिक सार्थक करती हैं।

प्रेमचन्द जी के पश्चात् हिन्दी कहानी साहित्य में जैनेन्द्र जी का नाम आदर तथा सम्मान के साथ लिया जाता है। जैनेन्द्र जी की कहानियों मे युग की नई भावनाओं के दर्शन मिलते हैं। आपकी "खेल" नामक कहानी का अध्ययन कर कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने कहा था कि—

"हिन्दी में रवि बाबू और शरद बाबू हमको मिल गये और एक साथ मिले।" "जैनेन्द्र जी की कहानियो मे कथानक अथवा तथ्य निरूपण का इतना महत्व नही जितना कि मनोवैज्ञानिक चित्रण का। परन्तु फिर भी वे बीच बीच में बड़ी तथ्यपूर्ण बातें कर देते हैं।

श्री चन्द्रगुप्त जी विद्यालंकार ने भी सुन्दर-सुन्दर कहानियाँ लिखकर कहानी साहित्य की उचित श्री वृद्धि की है। आप की तांगे वाला', 'क, ख, ग' "डाकू" "चौबीस घण्टे" आदि कहानियो ने अधिक प्रसिद्धि पाई है चौबीस घण्टे नाम की कहानी में क्वेटा के भूकम्प का वर्णन है। "डाकू" मे दरबार साहब के धार्मिक वातावरण का अच्छा चित्रण है। "एक सप्ताह" नाम की कहानी पत्रों में लिखी गई है।

इनके अतिरिक्त कुछ लेखक मनोविज्ञान प्रधान कहानी लिखते हैं। कुछ

चरित्र-चित्रण प्रधान तथा कुछ लेखक मार्क्सवाद के पक्षपाती हैं और सामान्यवादी सिद्धान्त उनकी कहानियों की पार्श्वभूमि हैं।

जिन लेखकों ने मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित होकर कहानियाँ लिखी है उनमे यशपाल, राहुल, रांगेय राघव, कृष्णदास गिरीश, अस्थाना आदि प्रमुख हैं। इन लेखकों की कहानी का वर्ण्य विषय प्रायः शोषक और शोषित वर्ग से सम्बन्धित है। यशपाल इनमे सबसे अधिक सफल कहानीकार है। उनकी कहानियो का प्रारम्भ तथा अन्त बड़े कलापूर्ण ढग से होता है।

मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखने वालो मे प्रधान हैं इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय। जोशी जी की कहानियो मे कथा का भार तो कम होता है और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अधिक होता है।

अज्ञेय जी ने कहानी कला में विशेष निपुणता प्राप्त की है। आपकी कहानियो में विप्लव और विस्फोट की भावना अधिक रहती है! आपने अपनी "अमर बल्लरी" नामक कहानी में एक विशेष काव्य भावना को लेकर पीपल का जीवन वृत्त दिया है। यह एक प्रकार का शब्द चित्र है।

चरित्र-चित्रण प्रधान कहानियाँ आज की सर्वोत्तम कहानियाँ हैं। इस प्रकार की कहानियो के प्रमुख लेखक हैं, सियारामशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा, अंचल धर्मवीर, भारती, कन्हैयालाल मिश्र, राजेन्द्र यादव आदि। स्त्री लेखिकाओ ने भी कहानी साहित्य मे विशेष ख्याति प्राप्त की है। शिवरानी देवी, सुभद्रा कुमारी चौहान, कमला देवी चौधरानी, उषा देवी मित्रा, होमवती तथा चन्द्रवती जैन प्रभृति देवियो ने सुन्दर-सुन्दर कहानियो का सृजन कर कहानी-साहित्य का भंडार भरा।

श्री अन्नपूर्णानन्द तथा जी० पी० श्रीवास्तव ने विनोदपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। श्री चतुरसेन शास्त्री ने कुछ ऐतिहासिक कहानियो की भी रचना की है। उनका भाषा प्रवाह प्रशसनीय है। वर्त्तमान कहानी लेखको मे विनोदशकर व्यास, बेचन शर्मा उग्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, पहाडी, यशपाल, राधा कृष्ण प्रसाद, प्रभृति महानुभावो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पन्त जी की पाँच कहानियो में पान वाले आदि के शब्द चित्र देखने को मिलते हैं।

आज के कहानी साहित्य पर समाज की नवीन सभ्यता की छाप स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। आज कहानी साहित्य की प्रगति आशाजनक है। उसके वर्णन का क्षेत्र भी व्यापक होता जा रहा है। ज्यों ज्यों समाज की समस्याओं की वृद्धि होगी, जीवन में सकुलता का समावेश होगा, छोटी कहानियो के लिए उतना ही मार्ग प्रशस्त होता जायेगा। छोटी कहानियो का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। आज कहानी साहित्य की प्रतिदिन की प्रगति को देखकर यह आशा की जा सकती है कि वह शीघ्र ही विश्व साहित्य से टक्कर ले सकेगा।

(श्रव्य काव्य की अन्य विधाएँ)

"निबन्ध"

गद्य साहित्य मे निबन्ध का महत्व :—"गद्य कवियों की कसौटी है"—"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" और गद्य के अन्तर्गत निबन्ध की बड़ी महत्ता है। "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है, भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है।" वस्तुतः बात ठीक है, क्योंकि भाषा की पूर्ण शक्ति के विकास को परख गद्य मे ही सम्यक् रूप से की जाती है। जहाँ भाषा अनेक शासकों को स्वीकार करते हुए भी स्वच्छन्द रूप से चल सकती है। उसके प्रवाह मे किसी भी प्रकार की रोक-थाम उपस्थित होने की सम्भावना नही रहती और निबन्ध गद्य विधान का प्रधान स्थल है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्ध मे इसलिए भी देखा जा सकता है कि इसमे गद्यकार थोडे मे ही अपने विचारों और भावो को लाघव के साथ रखने को बाध्य होता है। यदि गद्यकार सफल गद्यकार है तो वास्तव में गद्य के निजी रूप के दर्शन निबन्ध मे ही सबसे अधिक होते हैं। साहित्य की अन्य विधाओं जैसे जीवनी आदि मे गद्य की भाषा एक माध्यम मात्र होती है। गद्य लेखक की शैली का चरम विकास निबन्ध में ही सबसे अधिक होता है। "शैली ही व्यक्ति है"—"Style is the man himself" की उक्ति साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा निबन्ध पर ही पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। यद्यपि निबन्ध में सभी तत्व रहते हैं, किन्तु इसमें शैली को कुछ अधिक महत्व दिया जाता है। इतिहास, पुरातत्व, दर्शन, विज्ञान, आलोचना, जीवन, मीमासा, कथा, यात्रा आदि के विषय भी निबन्ध में आ जाते हैं। निबन्ध की शैली की ही यह विशेषता है कि वह भिन्न-भिन्न प्रकार के विवेचनो तथा वर्णनो को निबन्ध का रूप प्रदान करती है। हिन्दी साहित्य में निबन्ध का विकास बहुत बाद मे हुआ। निबन्ध ने साहित्य की सब विधाओ से सामग्री ग्रहण की है। निबन्ध की हास्य-व्यग की शैली मे लक्षणा-व्यंजना का भी प्रयोग होता है। निबन्ध में प्रबन्ध का सा तारतम्य भी होता है, किन्तु एक संग्रह के अन्दर निबन्धो मे मुक्तक की सी स्फुटता भी होती है। निबन्ध कहानी तथा खण्ड काव्य की सीमा का अधिक स्पर्श करता है।

निबन्ध का अर्थ और परिभाषा :—हिन्दी मे निबन्ध शब्द का प्रयोग "ऐसे" (Essay) के लिए होता है। इन दोनो शब्दों की व्युत्पत्ति मे पूर्व और पाश्चात्य का सा अन्तर है। संस्कृत में निबन्ध का अर्थ है—"कसा हुआ बन्ध"। बन्ध शब्द का निबन्ध मे वही अर्थ है जो बन्ध का प्रबन्ध काव्य में है। अर्थात्—निबन्ध मे तारतम्य तथा संगठन को विशेष महत्व दिया गया है। इस प्रकार निबन्ध द्वारा

ऐसी रचना का बोध होता है जिसके "बंधाव में कसाव हो" । अतः निबन्ध अर्थ हुआ वह रचना जिसमे विचारो का सगठन और तारतम्य पूर्ण रूप से पाया जाता है । यहाँ कसाव शब्द विशेष महत्वपूर्ण है । इसके द्वारा निबन्ध की काया का लाघव का उसका छोटापन भी व्यक्त होता है । निबन्ध गद्य की छोटी रचना है । इस रूप मे निबन्ध शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में प्राचीन समय से चला आ रहा है—"भाषा निबन्ध मधु मजुल मातनोति" आदि शब्दों में संगठन, क्रमबद्धता, तारतम्य आदि के भाव को लेकर ही गोस्वामी जी ने अपने मानस को निबन्ध कहा है । महाप्रभु वल्लभ का "शृंगार रस मण्डल" अथवा गग कवि का "चन्द छन्द वरनन" की महिमा आदि को निबन्ध कह सकते हैं । परन्तु प्राचीन काल के निबन्ध आजकल के समान केवल गद्य में ही नही लिखे जाते थे । आजकल जो निबन्ध हिन्दी में प्रचलित हैं उनका प्रारम्भ भारतेन्दु युग से होता है । इन निबन्धों पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव है ।

अंग्रेजी मे निबन्ध के पर्यायवाची शब्द Essay (ऐसे) का सामान्य अर्थ है—अभीप्सित विषय के निरूपण का प्रयास । यूरोप में निबन्ध के जन्मदाता मोन्टेन (Montaigne) ने इस शब्द का इसी अर्थ मे प्रयोग किया है । उसने अपने निबन्धो में सम्बद्धता का ध्यान नही रखा है । उसके विचार स्वाभाविक विचारों का अनुकरण करते से प्रतीत होते हैं । प्रसिद्ध विद्वान् बेकन ने निबन्ध को "उच्छिन्न चिंतन" के रूप में ग्रहण किया है । निबन्ध के विषय मे उपर्युक्त दोनो धारणाओं का अभिप्राय स्थूलतः एक ही है । इससे स्पष्ट है कि अंग्रेजी के निबन्धकार Essay को अगूढ और अव्यवस्थित रचना मानते हैं । अग्रेजी के निबन्धकार जिस विषय पर निबन्ध प्रस्तुत करते हैं उसमे कृत्रिमता लाकर उसे दुरूह या कठिन नही बनाते । अंग्रेजी समीक्षको का कहना है जब उसमे दुरूहता आ जाती है और अध्ययन प्रसूत सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जाता है तब वह निबन्ध न रहकर प्रबन्ध हो जाता है । डा० जानसन ने भी अपनी निबन्ध की परिभाषा मे उसको असगठित, अपूर्ण और अव्यवस्थित कहा है—"A loose sally of mind, an irregular indigested piece, not a regular and orderly, performance." प्रारम्भिक अवस्था में अंग्रेजी निबन्ध का यह शाब्दिक अर्थ अवश्य रहा था किन्तु धीरे-धीरे लेखको की रुचि शृखला की ओर होने लगी और अन्य तत्वो की अपेक्षा बुद्धि तत्व का समावेश अधिक मात्रा में हो गया तथा असम्बद्धता को निबन्ध का दोष माना गया है । इस प्रकार व्यवहार में अग्रेजी शब्द Essay (ऐसे) हिन्दी शब्द निबन्ध का प्रायः समानार्थक हो गया है । एक अग्रेजी कोष में निबन्ध के परिवर्तित रूप की परिभाषा इस प्रकार मिलती है—

"A composition of immoderate length on any particular subject or branch of subject originally implying want of finish, "An irregular indigested piece" but now said of a

composition more or less elaborate in style, though limited in Range."

इसमें जॉनसन की परिभाषा को प्रारम्भ की बतलाकर शैली की विशदता को महत्व दिया है। वास्तव मे पाश्चात्य तथा पौर्वात्य दोनों देशों में निवन्ध का इतना प्रसार और वैविध्य है कि निबन्ध की परिभाषा करना अत्यन्त कठिन है।

गुलाबराय जी ने निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

"निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"

निम्नलिखित बातें प्रायः सभी निबन्धों में प्राप्त होती हैं:—

(१) निवन्ध आकार में छोटी गद्य रचना है। यद्यपि निबन्ध गद्य में ही लिखे जाते हैं, किन्तु कुछ निवन्ध पद्य में भी लिखे गये हैं। अंग्रेजी में Pope's essay on man और हिन्दी में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'हे कविते' निबन्ध पद्य में ही है। लौक का दार्शनिक प्रबन्ध जो An Essay on human understanding के नाम से प्रसिद्ध है लगभग ४०० या ५०० पृष्ठ का है। इससे प्रतीत होता है कि निवन्ध बड़ा भी हो सकता है।

(२) निबन्ध में लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से रहता है। निबन्ध में निबन्धकार का व्यक्तित्व होना आवश्यक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा हिन्दी के सभी समीक्षकों ने इसे स्वीकार किया है। पर वैयक्तिकता के सन्निवेश के स्वरूप मे अंग्रेजी तथा हिन्दी के समीक्षकों में मतभेद है। अंग्रेजी के समीक्षक निबन्ध मे व्यक्तित्व के चित्रण द्वारा उसमें (निबन्ध मे) निबन्धकार से सम्वद्ध घटनाओ, व्यक्तियो आदि के चित्रण पर विशेप ध्यान देते हैं, जिसके द्वारा निवन्धकार के जीवन से अभिज्ञता प्राप्त होती है। वे निबन्ध मे निवन्धकार के व्यक्तिगत विचार उसकी व्यक्तिगत विधान विधि की विशेषता पर ध्यान नही देते। ऐसी स्थिति में निवन्ध में भावों का कसाव सम्भव नही।

निवन्धकार निवन्ध में अपने व्यक्तिगत विचारों के चित्रण के लिए प्रस्तुत विषय से हटकर कभी-कभी विषयान्तर अवश्य करता है। पर यह विषयान्तर ऐसा नहीं होता कि अभीष्ट विषय एकदम पीछे छूट जाय और विषयान्तर ही विषयान्तर दृष्टिगत हो। वह सक्षिप्त और यथाप्रसंग होना चाहिए। लेकिन पाश्चात्य निवन्ध लेखक इस Self expression के लिए अनेक बार विषयान्तर करते हैं, जिनका मुख्य विषय से कोई सम्बन्ध नही होता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल व्यक्तिगत विशेषता के सिद्धान्त को सीमित रूप में ही ग्राह्य मानते हैं। वे लिखते हैं—**"आधुनिक पाश्चात्य लेखकों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जानबूझ कर जगह जगह से तोड़ दी जाय। भावों की विचित्रता**

दिखाने के लिए ऐसी अर्थ योजना की जाय जो उनकी अनुभूति का प्रकृत या लोक सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे।" व्यक्तिगत विशेषता से शुक्ल जी का अभिप्राय निबन्धकार के मानसिक सगठन सस्कार या अध्ययन के कारण उसके दृष्टि-कोण का प्रभाव है, जो उनमे सभी निबन्धो पर दृष्टिगोचर होगा; चाहे वे किसी भी विषय पर लिखे गये हो।

अतः निबन्ध में लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट रहता है उसे ओझल नही किया जा सकता। लेखक निबन्ध मे जो कुछ भी लिखता है उसे वह अपने निजी दृष्टिकोण तथा मत के अनुसार लिखता है। उसके पीछे उसका निजी अनुभव रहता है। निबन्ध की सार्थकता इसी मे है कि वह लेखक का निजी दृष्टिकोण व्यक्त करे।

(३) निबन्ध साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक सरस, सरल, रोचक तथा सजीव होता है। उसमे प्रतिभा का प्रकाश रहता है। वह केवल वर्णन मात्र ही नही होता। दार्शनिक निबन्धो मे भी एक सजीवता मिलती है। जिस प्रकार स्वाभाविक कविता मन को अनुरंजित करती है वैसी ही निबन्ध मे भी सरसता और साहित्यिकता होनी चाहिए। साथ ही उसमे दार्शनिक ग्रन्थो की सी शुष्कता और दुरुहता भी नही आनी चाहिए। आचार्य शुक्ल जी उसी निबन्ध को उत्कृष्ट कोटि का मानते हैं—"जिसमें नये नये विचारों की उद्भावना वा अभिव्यक्ति हुई हो।" और वे विचार एक दूसरे से गुथे हुए हो। जिनके विचारो के पढने से "पाठक की बुद्धि उत्तेजित हो कर किसी नई विचार पद्धति पर दौड़ पड़े।" आचार्य शुक्ल का कथन है कि निबन्ध पढ़ने के पश्चात् यह आवश्यक है कि उसकी गहन विचारधारा पाठको को मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े।" इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी निबन्धो मे विचारो की कसावट पर विशेष बल देना चाहते हैं जो निबन्ध का मुख्य तत्व है।

(४) निबन्ध को हम गद्य का मुक्तक काव्य कह सकते हैं। क्योकि यह अपूर्ण तथा स्वच्छन्द होता हुआ भी अपने मे पूर्ण होता है। निबन्ध में प्रगीत काव्य का सा निजीपन भी होता है। निबन्धकार को विषय का पूर्ण प्रतिपादन अभीष्ट नही वह तो किसी एक दृष्टिकोण से निबन्ध की रचना करता है।

अन्त मे आचार्य सीताराम जी चतुर्वेदी के शब्दो मे हम निबन्ध की परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं :—"साधारणतः निबन्ध वह साहित्य रूप है जो न बहुत बड़ा हो न बहुत छोटा, जो गद्यात्मक हो जिसमें किसी विषय का अत्यन्त सरल चलता-सा विवरण हो। विशेषतः उस विषय का वर्णन हो जिसका स्वयं लेखक से सम्बन्ध हो। तात्पर्य यह है कि निबन्ध में किसी विषय पर लेखक की व्यक्तिगत भावनाओं, अनुभवों और विश्वासों का ही विवेचन हो।"

निबन्ध का विषय :—निबन्धो के विषय को सीमा मे बद्ध नहीं किया जा सकता। धार्मिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, व्यवहारिक आदि विषयो पर निबन्ध लिखे जा सकते हैं। निबन्ध के प्रारम्भ मे पाठकों का ध्यान

अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए जो वाक्य समूह प्रयोग में लाये जाते हों वे सरल सुबोध, प्रवाहयुक्त होने चाहिएँ। शब्द, अर्थ-पूर्ण, नपे-तुले, प्रसाद-गुणयुक्त वाक्य, छोटे सरल तथा आकर्षक होने चाहिएँ। विषय का प्रतिपादन आकर्षक एवं सुरुचि-पूर्ण होना चाहिए। निबन्ध के प्रमुख तत्व हैं:—१—प्रस्तावना, २—विवेचना, ३—परिणाम।

१—प्रस्तावना में विषय की अनुरूपता आवश्यक है।

२—विवेचना—यह निबन्ध का मुख्य विषय है। निबन्धकार की सफलता इसी अंश पर निर्भर है। विवेचन के सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातें वाँछनीय हैं,—

(क) विषय सम्बन्धी ज्ञातव्य।
(ख) पुनः विचार।
(ग) प्रधान आशय को विकसित करने वाले विचार।
(घ) गौण विचारों का अवान्तर क्रम।
(ङ) मुख्य विचार एव तत्सम्बन्धी विचारों का अनुच्छेदात्मक क्रम।
(च) आवश्यक तथ्यो का विस्तार।
(छ) पारस्परिक विचारों मे विरोधाभास।
(ज) अप्रमाणिकता का बहिष्कार।
(झ) शृँखलात्मक स्पष्टीकरण।
(ञ) सोद्देश्य।

३—परिणाम:—निबन्ध का उपसंहार दो चार वाक्यों में ही समाप्त हो जाना चाहिए। परिणाम के सम्वन्ध में निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं:—

(१) जिज्ञासा की शान्ति, (२) सारांश प्रकटीकरण (३) उपदेशात्मक वा परिणामात्मक अन्त तथा (५) पाठकावलम्बित फल।

४—विचार

५—शैली

ये निबन्ध के प्रमुख तत्व हैं। इनके अभाव मे किसी भी रचना को निवन्ध की संज्ञा नही दी जा सकती। विचार ही निवन्ध की सामग्री प्रस्तुत करते हैं तथा शैली के द्वारा उसके आकार का ढांचा निर्मित होता है।

६—अभिव्यंजना:—उच्च साहित्यिक विचारो को प्रतिपादित करने वाली शैली विशेष अभिव्यंजना कहलाती है। इसमे भावाभिव्यक्ति के लिए प्रसाद गुण सम्पन्न अलकारिक योजना की प्रमुखता रहती है। अभिव्यंजना के विशेष रूप से चार गुण हैं—रुचि, अनुक्रम, स्वर माधुर्य तथा यथार्थता।

मूल तत्व:—निबन्ध के मूल तत्व निम्नलिखित हो सकते हैं:—

(१) सरलता, (२) सुबोधता तथा (३) प्रसादगुणयुक्त व्याख्या।

(५) निबन्ध के भेद:—निवन्ध के विषय-वैविध्य को हम चार भागो में बाँट सकते हैं:—

(१) वर्णनात्मक (Descriptive)।
(२) विवरणात्मक (Narrative)।
(३) विचारात्मक (Reflective)।
(४) भावात्मक (Emotional) तथा काव्यात्मक।
(५) व्याख्यात्मक।
(६) आलोचनात्मक।
(७) परिचयात्मक।
(८) इतिवृतात्मक।
(९) चिन्तनात्मक।
(१०) विवेचनात्मक निबन्ध।

(१) वर्णनात्मक :—वर्णनात्मक निबन्ध वे होते हैं जिनमें पदार्थों, घटनाओ तथा दृश्यो का यथा तथा निरूपण किया जाए। इस प्रकार के निबन्धों में उक्त पदार्थो तथा घटनाओ के विषय मे ज्ञानेन्द्रियों द्वारा भाव सान्निध्य प्राप्त किया जाता है। इन वर्णनात्मक निबन्धो मे जिन पदार्थो का वर्णन होता है वे प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक दो प्रकार के होते हैं। प्राकृतिक पदार्थो मे नदी, पर्वत झरना, समुद्र, वायु, अग्नि, जीव, जन्तु, वृक्ष आदि आते हैं तथा अप्राकृतिक पदार्थो में मनुष्यकृत पदार्थ यथा रेल, तार, जहाज, रेडियो, ग्राम, नगर इत्यादि ग्रहण किए जाते हैं।

वर्णनात्मक निबन्धो मे पाँच बातें प्रयोजनीय हैं :—

१—स्थल वर्णन :—इसमे पदार्थों का स्थूल वर्णन रहता है। अतः लेखक को चाहिए कि वह वर्णनीय पदार्थों की स्थूल रूपरेखा बनाकर अपना निबन्ध प्रारम्भ करें।

२—विस्तार :—इस भाग मे लेखक अपनी रूपरेखा के प्रत्येक अंश की विस्तारपूर्वक विवेचना करता है। इसके अनुसार विषय के प्रधान अंगों की विस्तृत व्याख्या रहती है।

३—दृष्टिकोण :—वर्णनात्मक निबन्धो को लेखक विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखता है।

४—संगतभाव :—यह विशेष रूप से शैली से सम्बन्धित हैं। निबन्धकार अपनी शैली को आकर्षक तथा मनोहारिणी बनाने के लिए अन्य कवियो व लेखको की रचनाओं के उदाहरणो को प्रस्तुत करता है।

५—प्रस्ताव :—इसमे लेखक पाठको की पूर्ति के लिए एक प्रस्ताव सा उपस्थित करता है।

वर्णनात्मक निबन्धो मे कल्पना की प्रधानता रहती है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक दोनो प्रकार के निबन्धो मे कही विचारात्मकता की और कही भावात्मकता की प्रधानता हो सकती है। विचारात्मक तथा भावात्मकता का मिश्रण भी हो सकता हैं।

वर्णनात्मक निबन्ध व्यास प्रधान शैली मे लिखे जाते हैं। व्यास प्रधान शैली मे वस्तु को उचित फैलाव के साथ समझा-समझा कर कहने की ओर प्रवृत्ति रहती है। इस शैली मे एक ही बात को समझा कर कई रूप मे कही जाती है।

वर्णनात्मक निबन्धों मे व्यास शैली का उदाहरण :—"निर्मल बेजवती पर्वतों को विदार कर बहती है और पत्थरो की चट्टानों से समभूमि पर, जो स्वयं पथरीली है गिरती है, जिससे एक विशेष आनन्ददायक वाद्यनाद मीलों से कर्णकुहर मे प्रवेश करता है और जलकण उड़-उड़ कर मुक्ताहार की छवि दिखाते और रवि किरण के संयोग से सैकड़ों इन्द्र धनुष बनाते हैं। नदी की थाह मे नाना रंग के प्रस्तरों के छोटे-छोटे टुकड़े पड़े रहते हैं, जिन पर वेग से बहती हुई धारा नवरत्नो की चादर पर बहती हुई जलधारा की छटा दिखाती है।

—(कृष्ण बलदेव वर्मा के बुन्देलखण्ड पर्यटन से)

यह तो बेजान वस्तु का वर्णन है। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य रहता है। समास शैली मे तो प्रायः संस्कृत शब्दो की प्रधानता रहती ही है। जग-बहादुर नाम के पार्वतीय कुली का एक वर्णन देखिए :—

"पार्वतीय पथ और पत्थरो की चोट से टूटे नाखून और चुटीली उँगलियो के बीच में ढाल बनी हुई मूँज की चप्पल मानो मनुष्य को पशु बना कर भी खुर न देने वाले परमात्मा का उपहास कर रही थी। पाव से दो बालिश्त ऊँचा और ऊनी, सूती पैबन्दों से बना हुआ पैजामा मनुष्य की लज्जाशीलता की विडम्बना जैसा लगता था। किसी से कभी मिले हुए पुराने कोट मे, नीचे के मटमैले अस्तर की झाकी देती हुई अपनी तह तार-तार फट कर झालरदार हो उठी थी और अब अपने पहनने वाले को एक झबरे जन्तु की भूमिका में उपस्थित करती थी। अस्पष्ट रग और अनिश्चित रूप वाली दोपलिया टोपी के छेदो से रूखे बाल जहाँ तहाँ झाक कर मैले पानी उसके बीच-बीच मे झांकते हुए सेवार की स्मृति करा देते थे।

—(श्रीमती महादेवी वर्मा कृत—स्मृति की रेखा से)

(२) **विवरणात्मक निबन्ध :—**विवरणात्मक निबन्धों में विवरण को मुख्यता दी जाती है। इसलिए इन्हे कथात्मक निबन्ध भी कहते हैं। इन निबन्धो मे घटनाओ का विवरण रहता है और ये घटनाये मानवी जीवन एवं इतिहास से सम्बन्धित होती हैं। इन घटनाओ मे देश काल क्रम के अनुसार वर्णन रहता है। इन निबन्धो मे जो घटनायें प्रस्तुत की जाती हैं उनमे समय, कारण, अभाव, परिणाम आदि का विवरण होता है। इन निबन्धो मे वास्तविक एव काल्पनिक दोनो प्रकार की घटनाओ का समावेश रहता है। विवरणात्मक निबन्ध भी व्यास शैली मे लिखे जाते हैं।

विवरणात्मक निबन्धों में व्यास शैली का उदाहरण :—"लखनऊ से रात को साढ़े दस बजे गाड़ी छूटती थी। कुछ पहले ही स्टेशन पहुँच गया। इरादा था कि कुछ अच्छी सी जगह पा सकूँ। मित्र ने इण्टर क्लास मे बैठने का आग्रह कर दिया था। वह दरजा कुलीन गरीबों का दरजा है। हम जैसे उनके दूसरे जन भी दरजा

बढाने की धुन मे रहते हैं। इसलिए भीड़ की आशंका थी। तागे से उतरते ही कुली ने बताया कि इण्टर मे बैठियेगा, तो आगे एक जगह गाड़ी बदलनी होगी। तीसरे दर्जे का एक डिब्बा सीधा काठगोदाम तक जाता है। ... ... आकाश बादलो से घिरा था। रात अंधेरी। पता नही चलता था, कहाँ आकर गाड़ी रुकी और फिर कहाँ के लिए रवाना हो गई। अज्ञात और अदृश्य की ओर बढे जा रहे थे। फिर भी निश्चिन्तता थी। सो सकते थे पर सो नही सके। पानी बरस जाने से लैम्प के आस पास और पूरे डिब्बे मे पतिङ्गो की भरमार थी। इन बिना टिकटो की सख्या का प्रश्न ही क्या है, अपने प्रदीप्त प्रेमी के निकट आकर आत्म-समर्पण का अधिकार उनका था।"

—(सियारामशरण गुप्त के "हिमालय की झलक" शीर्षक निबन्ध से)

जिन निबन्धो में साहसपूर्ण कार्यों के विवरण होते हैं वे सब विवरणात्मक निबन्धों की कोटि मे आयेगे। पंडित श्रीराम शर्मा के बाघ से भिडन्त आदि शिकार सम्बन्धी लेखो अथवा अन्य लेखको के ऐवरेस्ट की चढाई या कैलाश यात्रा सम्बन्धी लेखों को विवरणात्मक निबन्ध कहा जायेगा।

कभी-कभी विवरणात्मक निबन्धो मे भावुकता के भी दर्शन होते हैं। रघुवीर सिंह का "राजपूतो का उत्थान" शीर्षक निबन्ध इसका अच्छा उदाहरण है।

वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक निबन्धो का अन्तर :—वर्णनात्मक निबन्ध की समता चित्रलेखन से की गई है। जिस प्रकार एक चित्र अपने समस्त अंग प्रत्यंगो को प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार वर्णनात्मक निबन्ध भी पूर्णरूप से पदार्थों तथा घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण कराता है।

विवरणात्मक निबन्धो मे कार्य कारण सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए एक के पश्चात् दूसरी घटना यथा क्रम चित्रपट का भाँति उपस्थित की जाती हैं। इन निबंधो मे भी पांच बातो की प्रधानता रहती है। ये इस प्रकार हैं :—

(१) घटना क्रम, (२) कारण तथा कार्य, (३) दृष्टात, (४) संक्षेप, (५) आलोचना।

१—घटना क्रम :—विवरणात्मक निबन्धों में घटनाओ के क्रम पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इन घटनाओं में तारतम्य तथा उत्तरोत्तर विकास रहता है। इन वर्णनो में सजीवता के दर्शन होते हैं।

२—कारण तथा कार्य :—विवरणात्मक निबन्धो मे घटनाओ के कारण कार्य तथा फल को विशेष महत्व दिया जाता है।

३—दृष्टान्त :—इन निबन्धो में कार्य कारण सम्बंध को स्पष्ट करने के लिए निबंधकार दृष्टान्त से कार्य करता है।

४—संक्षेप :—विवरणात्मक निबंध मे प्रत्येक घटना-खण्ड का सारांश प्रस्तुत किया जाता है।

५—आलोचना :—वर्णित घटनाओं से सम्बंध रखने वाले पात्रों की तुलनात्मक आलोचना होती है।

(३) **विचारात्मक** :—विचारात्मक निबंधो मे तर्क की प्रधानता रहती है। अतः विचारात्मक निबधो मे बुद्धितत्व अपेक्षित है। विचारात्मक निबंधो में समास शैली का प्रयोग किया जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विचारात्मक आदर्शों का निबंध इस प्रकार प्रस्तुत किया है :—

"कुछ विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबा कर ठूंसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड को लिये हो।"

आचार्य शुक्ल जी ने स्वयं अपने निबंधो मे इस आदर्श का पालन किया था। किन्तु यह आदर्श विशेषतः समास प्रधान शैली का है। समास प्रधान शैली मे थोड़े मे ही बहुत कहने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इस शैली मे गागर मे सागर भरा रहता है। यहाँ हम इस शैली के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

विचारात्मक निबन्धों की समास शैली का उदाहरण :—दुःख की श्रेणी मे प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुख और आनन्द दोनो की श्रेणियो में रक्खी गई है। करुणा से क्रोध दुख के कारण के साक्षात्कार वा अनुमान से उत्पन्न होता है। (—करुणा–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

× × × ×

बिम्ब ग्रहण कराने के लिए चित्रण काव्य का प्रथम विधान है, जो विभाव मे दिखाई पड़ता है। काव्य मे "विभाव" मुख्य समझना चाहिए। भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का पहला और सबसे आवश्यक काम है। यों तो जिस प्रकार विभाव, अनुभाव आदि मे हम कल्पना का प्रयोग पाते हैं, उसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों में भी। पर रस ही काव्य मे प्रधान वस्तु है तब उसके सयोजको मे कल्पना का जो प्रयोग होता है, वही आवश्यक और प्रधान ठहरता है। रस का आधार खडा करने वाला जो विभावन व्यापार है, वही कल्पना का सबसे प्रधान कार्य-क्षेत्र है। किन्तु वहाँ उसे यो ही उड़ान भरना नही होता, उसे अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलना पड़ता है। —(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—"काव्य मे प्राकृतिक दृश्य से)

विचारात्मक निबन्धों में व्यास शैली का उदाहरण :—भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावो की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रो मे उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है, अतः केवल अध्यात्म पक्ष मे ही नही, लौकिक आचारों, विचारों तथा राजनीति तक मे उसका नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान मे रखते हुए अनेक सामान्य

तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के ऐकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणो के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है।

(डा० श्यामसुन्दरदास—भारतीय साहित्य की विशेषताएँ)

आरोग्य रक्षा के नियम माँ बाप को न मालूम रहने से उनके बाल-बच्चों को जो भोग भुगतने पड़ते हैं, उनकी जो दुर्गति होती है, उन पर जो आफतें आती हैं उनका ठौर-ठिकाना नही। हजारों बच्चे तो माँ बाप की असावधानी और मूर्खता के कारण पैदा होते ही मर जाते हैं। जो बचते हैं उनमें लाखो अशक्त, निर्बल और जन्म रोगी होते हैं और करोड़ो ऐसे निरोग और सबल नही होते जैसे होने चाहियें। अब इन सबको आप जोड़ डालिए तो आपको मालूम हो जायेगा कि माँ बाप की नादानी के कारण सन्तति को कितनी हानि उठानी पड़ती है, कितना दुःख सहना पड़ता है।

(आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी शिक्षा शीर्षक निबन्ध से)

(४) भावात्मक निबन्ध :—भावात्मक एवं काव्यात्मक निबन्ध परस्पर प्रतिच्छायात्मक होते हैं। परिचयात्मक एव वर्णनात्मक निबन्ध भी भावात्मक होते हैं। भावात्मक निबन्धो मे दो प्रकार की शैलियां होती हैं—(१) धारा शैली, (२) विक्षेप शैली। धारा शैली मे भावो की धारा प्रवाहमय रहकर एक गति से चलती है। विक्षेप शैली मे भावो की धारा कभी मन्द और कभी तीव्र गति से चलती है।

भावात्मक निबन्धो की धारा शैली का उदाहरण:—जो धीर है, जो उद्वेग रहित है, वही संसार मे कुछ कर सकते हैं। जो लोहे की चादर की भाँति जरा ही मे गर्म हो जाते और जरा ही मे ठण्डे पड़ जाते हैं, उनके लिए क्या हो सकता है, मसल है जो बादल गरजते हैं, वे बरसते नही।" (गुलाबराय)

सरदार पूर्णसिह के भावात्मक निबन्धो में धारा शैली के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। एक उदाहरण देखिए:—

"तारागणो को देखते-देखते भारतवर्ष अब समुद्र मे गिरा कि गिरा। एक कदम और, और धड़ाम से नीचे। कारण केवल इसका यही है कि वह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूँ, पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ। योगसिद्धि द्वारा सूर्य और ताराओ के गूढ भेदो को जान सकता हूँ, समुद्रो की लहरो पर बेखटके सो सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा परन्तु अब तक न संसार ही की और न राम ही की दृष्टि मे ऐसी एक भी बात सत्य सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधड़क शख फूंक दो। कूच का घड़ियाल बजा दो। कह दो, भारतवासियो का इस असार ससार से कूंच हुआ।

(सरदार जी के मजदूरी और प्रेम शीर्षक निबन्ध से)

भावात्मक निबन्धों में विक्षेप शैली का उदाहरणः—अन्तिम क्षण थे, सर्वदा के लिये वियोग हो रहा था, देखती आँखो शाहजहाँ का सर्वस्व लुट रहा था और वह भारत सम्राट हताश हाथ पर हाथ धरे बेबस बैठा अपनी किस्मत को रो रहा था, सिंहासनारूढ़ हुए कोई तीन वर्ष भी नही बीते कि उसकी प्रियतमा इस लोक से विदा लेने की तैयार कर रही थी। शाहजहाँ की समस्त आशाओ पर, उसकी सारी उमंगो पर, पाला पड़ रहा था।.........

हाय अन्त हो गया, सर्वस्व लुट गया। पर प्रेमी, जीवन यात्रा का एकमात्र साथी सर्वदा के लिए छोड़कर चल बसा। भारत सम्राट शाहजहाँ की प्रेयसी, साम्राज्ञी मुमताज-महल सदा के लिए इस लोक से विदा हो गई। शाहजहाँ भारत का सम्राट था, जहान का शाह था, किन्तु वह भी अपनी प्रेयसी को जाने से न रोक सका।

भावात्मक निबधो में बुद्धितत्व का अभावसा रहता है किन्तु विक्षेप शैली के निबंधों में इसका और भी ह्रास होता है। भावात्मक निबंधो मे व्यास शैली तो रहती ही है।

(५) **व्याख्यात्मक निबन्ध.**—व्याख्यात्मक निबन्ध उन निबन्धो को कहते हैं जिनमे किसी अमूर्त विषय पर विचार अभिव्यक्त किये जाते हैं। इन्हे विचारात्मक निबन्ध भी कहते हैं। चिन्ता, आशा, क्रोध, धैर्य, दया, अहिंसा, स्त्री-शिक्षा, परोपकार आदि विषय विचारात्मक अथवा व्याख्यात्मक हैं। व्याख्यात्मक निबन्धों मे चार बाते प्रधान होती हैं:—

(१) मूलतत्वो की स्थापना। (२) परिभाषा। (३) विवेचन। (४) पर्य्यालोचन।

(१) **मूलतत्वों की स्थापनाः**—मूलतत्वो की स्थापना का अभिप्राय उन तत्वों से है जिन पर सामाजिक व्यवस्था निर्भर रहती हैं। इनका ज्ञान निरीक्षण एवं अनुभव से होता है।

(२) परिभाषाः—व्याख्यात्मक निबन्धो मे अमूर्त दृश्य प्रस्तुत किये जाते हैं। इन अमूर्त दृश्यो की व्याख्या पारिभाषिक शब्दो मे की जाती है।

(३) विवेचनः—व्याख्यात्मक निबन्धो मे कतिपय मौलिक सिद्धान्तों का उल्लेख होता है। इन मौलिक सिद्धान्तो का विवेचन व्याख्यात्मक निबन्धो मे होता है।

(४) पर्य्यालोचनः—पृथक-पृथक सिद्धान्तो का पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन द्वारा विशेष अवस्थाओ मे इनका प्रयोग होता है।

(६) **आलोचनात्मक निबन्धः**—आलोचनात्मक निबन्ध मे कवियो तथा लेखकों की तुलनात्मक आलोचना की जाती है। इस तुलना मे शास्त्रीय सिद्धान्तो एवं लेखक के व्यक्तिगत दृष्टिकोण की मीमासा एव समीक्षा होती है। इस प्रकार के निबन्धो मे तुलना, अनुसन्धान तथा व्याख्या की प्रधानता रहती है। इस प्रकार के निबन्धो मे निम्नलिखित छः बातें उपलब्ध होती हैं :—

(१) परिचय, (२) विशेष ज्ञान, (३) समीक्षा, (४) दृष्टिकोण, (५) तुलना, (६) निष्कर्ष।

(१) परिचयः—आलोचनात्मक निबन्धो मे प्रायः कवियो तथा लेखकों की कृतियो का मूल्याङ्कन किया जाता है। अतः इन निबन्धो में इन कवियो का परिचय मिलता है।

(२) विषय ज्ञानः—आलोचनात्मक निबन्धों में जिन कृतियों का मूल्याकन किया जाता है उनमे परस्पर साम्य तथा वैषम्य दिखाया जाता है।

(३) समीक्षाः—आलोचनात्मक निबन्धो मे जिन रचनाओं का मूल्याकन होता है, वे रचनाएँ साहित्यिक होती हैं और इनका दृष्टिकोण भी साहित्यिक होता है।

(४) दृष्टिकोणः—आलोचनात्मक निबन्धो मे जिन रचनाओ को निबन्ध का प्रतिपाद्य विषय बनाया जाता है उसमे लेखन का एक विशेष दृष्टिकोण होता है। उस दृष्टिकोण के साथ ही निबन्धकार को अपना दृष्टिकोण रखना वाछनीय है।

(५) तुलना.—आलोचनात्मक निबन्धो में जिन कृतियो को निबन्ध का मुख्य विषय बनाया जाय उन कृतियो की ही पारस्परिक तुलना होना आवश्यक है। रचियताओ की व्यक्तिगत तुलना करने से निबन्ध पक्षपातपूर्ण हो जाता है।

(६) निष्कर्ष—आलोचनात्मक निबन्धो मे रचनाओ की विशेषता एक निश्चत कसौटी बना ली जाती है। उसी कसौटी पर लेखको एव उनकी रचनाओं का अन्य लेखको एवं रचनाओ से तुलना करके निष्कर्ष निर्धारित किया जाता है।

(७) **परिचयात्मक निबन्धः**—परिचयात्मक निबन्धो मे मुख्य विषय से पाठको का परिचय कराया जाता है। यद्यपि मुख्य विषय के परिचय के अन्तर्गत समस्त निबन्ध, रचनाये समाहित हो सकती हैं, तथापि उस कोटि मे आत्मकथा सम्बन्धी निबन्ध आयेंगे, इन निबन्धों मे प्रायः चार बातें मुख्य रूप से होती हैं—

(१) आकस्मिक उपस्थिति, (२) प्रत्यक्ष परिचय (३) आत्मकथा, (४) उपसंहार।

(८) **इतिवृत्तात्मक निबन्ध**:—इन निबन्धो मे इतिवृत्त की प्रधानता रहती है।

(९) **चिन्तनात्मक निबन्धः**—चिन्तनात्मक निबन्ध प्रायः वैज्ञानिक पदार्थों के विश्लेषण से सम्बन्ध रखते हैं।

(१०) **विवेचनात्मक निबन्धः**—इन निबन्धो मे किसी भी विषय के प्रतिपादन मे निबन्धकार अपने मन का समर्थन तथा दूसरे के मन का खडन करते हैं। इस प्रकार के निबन्धों में उच्च कोटि की विवेचना रहती है। "राष्ट्र भाषा का प्रश्न' "स्वराज्य की समस्या", "गाधीवाद तथा अहिंसावाद" आदि विवेचनात्मक निबन्धो की कोटि मे आयेंगे।

तर्कप्रधान निबन्ध भी विवेचनात्मक निबन्धो के अन्तर्गत आयेंगे। इन

निबन्धों में तीन प्रकार की विशेषतायें उपलब्ध होती हैं—१. विषय, २. युक्ति, (३) प्रबोध-चातुर्य।

(१) विपय:—विवेचनात्मक तथा तार्किक निबन्धो मे विपय के मूल सिद्धान्तों एवं उनके विस्तार तथा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो का विवेचन किया जाता है।

(२) युक्ति:—अपने मत का समर्थन तथा, दूसरे के मत का विमर्थन करने के लिए निबन्धकार पर्य्यालोचन, तर्क तथा युक्तियो का सहारा लेता है। इसे ही युक्ति-विधान कहते हैं।

(३) प्रबोध चातुर्य:—इन निवन्धों में लेखक का लक्ष्य पाठकों के मनोवेगों को जाग्रत करना होता है। इस कार्य के लिए प्रबोध चातुर्य्य की अत्यंत आवश्यकता है।

अन्य प्रकार से भी निवंधों का वर्गीकरण किया जा सकता है—

(१) साहित्यिक वा कलात्मक, (२) ऐतिहासिक, (३) दार्शनिक, (४) वैज्ञानिक, (५) सामाजिक तथा (६) आर्थिक।

निबन्ध की भाषा-शैली के अपेक्षित गुण:—निवन्ध की भाषा सरल, साहित्यिक, परिमार्जित, प्रभावशाली, व्याकरणानुसार, प्रवाहयुक्त, सक्षिप्त वाक्यप्रधान व्यवहारिक तथा उक्ति-प्रधान होनी चाहिये।

निबन्ध की शैली मे क्रम, सगति, सगठन और अन्विति का होना वाँछनीय है। निवन्ध में प्रत्येक शब्द दूसरे शब्द की प्रतीक्षा करता सा प्रतीत हो और अन्त में काव्य पूर्ण हो। अग्रेजी में ऐसे वाक्य को Period अर्थात् वाक्योंच्चय कहते हैं। अतः निबन्ध के प्रत्येक वाक्य में आकाक्षा तथा योग्यता आदि गुण आवश्यक हैं। प्रत्येक शब्द दूसरे शब्द के अनुकूल होना चाहिए। शैली को प्रसादमय वनाने के लिए उपयुक्त तथा सार्थक शब्दो की पदमैत्री और क्रम से उतार-चढाव भी वांछनीय है। मुहावरों का प्रयोग तथा हास्य व्यग का पुट शैली में सरलता तथा स्वाभाविकता ला देता है। लक्षणा-व्यंजना का प्रयोग भी शैली में यथास्थान होना वांछनीय है। बलपूर्वक अलंकारों का प्रयोग नही करना चाहिए। शैली मे शब्दो की पुनरावृत्ति भी नही होनी चाहिए। शैली मे अत्यधिक भावुकता भी नही होनी चाहिए। निबन्ध की शैली प्रभावोत्पादक होनी चाहिए। निवध की शैली के लिए लाघव का गुण अनिवार्य है। शैली में शब्दों का विस्तार-वाहुल्य नही होना चाहिए।

भिन्न-भिन्न साहित्य प्रकारों के बीच निबन्ध का स्थान— "निबन्ध वह गद्य रचना है जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वचछन्दता सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक सगति और संबद्धता के साथ किया गया हो।" हिन्दी मे निबन्ध शब्द Essay के लिए उपयुक्त होता है जिसका अर्थ होता है प्रयास का प्रयत्न। यूरोप मे इस विधा के जन्मदाता Montaigne ने इस शब्द का इसी अर्थ मे प्रयोग किया था। उनके अनुसार इस विधा मे लेखक अपने व्यक्तिगत विचारों तथा भावों

को मनोरंजक शैली मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। उसमें शृंखला की आवश्यकता नही वह कल्पनाशील मन का विचरण मात्र है। परन्तु आगे चलकर लेखकों की रुचि शृंखला की ओर बढ़ती गई और अब सामान्यतः पूर्व तथा पश्चिम मे निवन्ध की उपर्युक्त परिभाषा ही मान्य है।

निवन्ध मे काव्य के सभी तत्व रहते हैं परन्तु शैली को उसमें कुछ विशेषता मिली हुई है। 'शैली ही व्यक्ति है,' की उक्ति सबसे अधिक निवन्ध पर ही लागू होती है। साहित्य क्षेत्र में पीछे की विधा होने के कारण निवन्ध अपने लिए साहित्य की सभी विधाओ से सामग्री ग्रहण करता है। निवन्ध में प्रबन्ध काव्य का सा तारतम्य रहता है और मुक्तक की सी स्फुटता और स्वतः पूर्णता रहती है। इसमें कहानी या खण्डकाव्य की सी एकव्येयता रहती है। आकार से ही नहीं अन्य प्रकार से भी आख्यायिका और निवन्ध परस्पर समता रखते हैं। दोनो ही एक निश्चित विषय या लक्ष्य को लेकर लिखे जाते हैं और उसके पूर्ण हो जाने पर समाप्त हो जाते हैं। दोनो ही अपना पृथक व्यक्तित्व रखते हैं। आख्यायिका को एक विशेष समस्या पर आदि से अन्त तक प्रकाश डालना पड़ता है। अतः उसकी शैली अधिक तीव्र और केन्द्रीभूत होती है निवन्ध की शैली मे शैथिल्यपूर्ण वातावरण की ही प्रधानता होती है वह किसी विशेष दिशा की ओर अतिशय उन्मुक्त होकर नही चलती। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि निवन्ध की शैली प्रभावहीन होती है शिथिल होते हुए भी वह प्रभावशालिनी होनी चाहिए।

आख्यायिका लेखक घटनाओ और पात्रों की योजना के आकर्षण सचित करता है। गीत कविता मे भावना की तारतम्यता और व्यक्तिगत अभिव्यक्ति की आत्मीयता पाठको को अपनी ओर खीचती है। निम्बन्ध लेखको को ये सब सुविधाएँ प्राप्त नही वह घटनाओं और पात्रो का सन्निवेश निवन्ध मे कर ही नही सकता और काव्य की रसमयता का लाभ भी नही उठा सकता है। अतः वह इन दोनो के बीच मे अपना स्थान बनाता है और दोनो के उपकरणो का अंश रूप मे प्रयोग करता है। इस दृष्टि से निवन्ध आख्यायिका और गीत रचना के वीच की वस्तु है।

जिस प्रकार कहानी किसी उपन्यास के प्रकरण के समान नही हो सकती, उसमे स्वतः पूर्णता आवश्यक है। उसी प्रकार निवन्ध किसी दार्शनिक पुस्तक का एक अध्याय मात्र नही हो सकता। निवन्ध को स्वत. पूर्ण होना चाहिए। वह एक प्रकार से गद्य का मुक्तक काव्य है। उसमे प्रगीत काव्य का सौष्ठव रहता है। जिस प्रकार कहानी जीवन की एक झलक लेकर आती है। उसी प्रकार निवन्ध भी एक नई झलक लेकर आता है। महाकाव्य के समान निवन्ध मे भी क्रमबद्धता अपेक्षित है। विषय की पूर्णता महाकाव्य में होती है पर निवन्ध मे यह आवश्यक नही, लेकिन जो कुछ निवन्ध मे कहा जाय वह बुद्धिग्राह्य हो तथा प्रभावपूर्ण हो।

साहित्यिक आलोचना निवन्ध कोटि मे आती है। अंग्रेजी साहित्य मे इस प्रकार के कितने ही प्रसिद्ध निवन्ध लेखक हो गए हैं। मैथ्यू आर्नल्ड, हैजलिट,

हूंट आदि ने इसी प्रकार के निबन्ध लिखकर अपने साहित्य को गौरवान्वित किया। पर ऐसे निबन्ध तभी शुद्ध निबन्ध की कोटि मे आ सकते हैं जब उसमे लेखक का निजी व्यक्तित्व सन्निहित हो। यदि कोई साहित्यिक निबन्ध केवल शास्त्रीय ढंग से विवेचना मात्र है तो वह निबन्ध न होकर किसी शास्त्रीय पुस्तक का अध्याय मात्र हो सकता है। निबन्ध लेखक होने के लिए यह आवश्यक है कि उसका (लेखक का) निजी दृष्टिकोण हो, जब वह जनसाधारण या आचार्यो के मत से असहमत हो अर्थात् अपना कोई नया मत प्रकट करना चाहता हो या उसके प्रतिक्रिया का कोई नवीन ढंग हो तो उसमे विचारो की मौलिकता क्रमबद्धता और विशद अभिव्यक्ति ऐसे निबन्धो की विशेषता है। व्यक्तिगत विचारो का एक अनोखा आकर्षण होता है जो रसज्ञों पर अपनी मुद्रा अंकित किए बिना नही रह सकता। उन विचारों को प्रकट करते समय लेखक अपने व्यक्तित्व को भी अभिव्यक्त करता है। ऐसे निबन्धो में विचारो की प्रधानता रहते हुए भी भावुकता तथा भावना का तत्व निहित रहता है। निष्कर्ष यह है कि साहित्यिक आलोचना भी निबन्ध कहला सकती है। यदि उसमे विचारो की मौलिकता, शैली की वैयक्तिकता तथा भावना का सूक्ष्म तन्तु सन्निहित हो।

वैज्ञानिक विपयो पर लिखे गए लेखको के विषय मे हमारी सम्मति भिन्न है। ऐसे लेख अधिकतर शास्त्रीय विवेचक होते हैं। वे शुद्ध साहित्यिक कोटि मे नही रखे जा सकते, क्योकि उनमें रसात्मकता का नितान्त अभाव रहता है। उनमे वैज्ञानिक गवेपणा ही अधिक होती है। न तो लेखक को व्यक्तित्व की झलक ही उसमें मिलती है और न रुचिपूर्ण शैली के ही दर्शन उसमे होते हैं। उनमें दार्शनिक या वैज्ञानिक विश्लेषण ही होता है उसमे शैली जटिल तथा सूत्र बद्ध हो जाती है। ऐसे लेख बुद्धि विशिष्ट, भावना शून्य, रुक्ष, वैज्ञानिक कोटि क्रम से संयुक्त होते हैं।

"निबन्ध का विकास"

अंग्रेजी साहित्य में निबन्ध—पाश्चात्य देशों में निबन्धों का प्रारम्भ मोन्टेन से हुआ। उसके निबन्धों का संग्रह फ्रास मे १९५८ मे प्रकाशित किया गया। ये निबन्ध विविध विषयो पर लिखे गये थे और विचार शृंखला पर आधारित थे। बीच में यदि "भय" का वर्णन आया तो "भय" पर ही उसकी विचारधारा प्रवाहित हो जाती थी। ऐसे ही अन्य वर्णनों के सम्बन्ध में था। उनके निबन्धों में प्रचुर और बहुमूल्य सामग्री के होते हुए भी नियन्त्रण का अभाव था। १६०० के लगभग मोन्टेन के निबन्धों का अंग्रेजी मे अनुवाद हुआ। १६०० से पूर्व बेकन के निबन्ध प्रकाशित हुए। बेकन के निबन्ध शृखलाबद्ध तथा सुसम्बद्ध थे। उनमें सूत्रों की सी समास शैली का प्रयोग किया गया। उसके सूक्ति रूप वाक्य का एक उदाहरण देखिए:—

"Reading maketh a full man, conference a ready man, and writing an exact man. अर्थात् "पढ़ने से मनुष्य में पूर्णता

आती है, वार्तालाप से वह प्रत्युत्पन्नमति बनता है और लिखने से उसमें निश्चितता आती है।" बेकन के निबन्धों में सामाजिक [illegible] की [illegible] होने से, सरसता तथा प्रभावोत्पादकता कम हो गई है। किन्तु उन्होंने सभी तथा मनोवैज्ञानिक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं।

सत्रहवीं शताब्दी में बेन जॉनसन, अब्राहम काउले, विलियम टेम्पिल आदि ने बहुत से निबन्धों की रचना की। इन लेखकों की शैली आलंकारिक थी तथा इनमें व्यक्तित्व की भी झलक थी। काउले का "ऑफ माइसेल्फ" नामक निबन्ध उसकी आत्मा का प्रतिस्पन्दन है। निबन्धों में नवीनता लाने के लिए उसने नये विषयों को अपनाया। कृषक, कवि, विद्या विज्ञान का विस्तार और [illegible] के परिवर्तनशीलता की ओर ध्यान जाने लगा। विचार और विश्लेषण भी होने लगा। निबन्ध में निजीपन का समावेश "टैटलर" और 'स्पैक्टेटर' नामक समाचार पत्रों से हुआ। 'ग्राइटलर' और 'रेम्बलर' ने भी निबन्ध साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। स्टील तथा एडीसन के द्वारा निबन्ध अपनी उन्नति के शिखर पर पहुँचा। इनके द्वारा निबन्ध में विषय वैविध्य हुआ तथा शैली में भी नवीनता आई। तथा वार्तालाप की सी सजीवता के दर्शन होने लगे। उन्होंने सामाजिक विषयों पर भी निबन्ध लिखे। जानसन तथा गोल्डस्मिथ भी अठारहवीं शताब्दी के निबन्धकारों में प्रमुख हैं। जानसन की शैली गम्भीर थी। गोल्डस्मिथ की शैली सरल थी। उनके निबन्धों में हास्य विनोद के पुट के साथ कवि प्रतिभा के दर्शन होते हैं। चार्ल्स लैम्ब के निबन्धों में गोल्डस्मिथ की शैली का विकास मिलता है। इन निबन्धों में कल्पना, उत्साह और वैयक्तिकता का सुन्दर सम्मिश्रण है। उनमें भावना कथात्मक तत्व की प्रधानता होने के कारण वे अधिक सुन्दर हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के निबन्धकारों में मैकाले, कार्लाइल, मैथ्यू आर्नल्ड, हैजलिट, रस्किन, हक्सले, मिल, हर्बर्ट स्पेन्सर, इमरसन आदि प्रमुख हैं। इन लेखकों की पृथक-पृथक शैलियाँ हैं किन्तु इनके निबन्ध विचारात्मक निबन्धों की कोटि में आयेंगे। हैजलिट, मैकाले, मैथ्यू आर्नल्ड, थैकरे आदि ने आलोचनात्मक निबन्ध लिखे। रस्किन के निबन्धों में नैतिकता तथा तार्किकता का प्राधान्य है। इमरसन के निबन्धों में आध्यात्मिकता का सन्निवेश है। कार्लाइल के निबन्ध आलोचनात्मक होने पर भी भावावेश से पूर्ण हैं। रावर्ट लुई स्टीवेन्सन ने साहित्यिकता और निजीपन का सामजस्य किया। वर्तमान युग के निबन्धकारों में जी० के० चेस्टरटन तथा एच० जी० वेल्स का नाम उल्लेखनीय है।

अग्रेजी साहित्य में निबन्ध पर्याप्त मात्रा में प्रगति कर चुका है। उनके वर्तमान निबन्धों में जीवन तथा प्रकृति के सम्पर्क के दर्शन होते हैं। आज के निबन्धकार जीवन की आलोचना लक्षणा, व्यजना की सहायता से कर रहे हैं।

हिन्दी साहित्य में निबन्ध—भारतीय साहित्य में प्राचीनकाल से निबन्ध शब्द का प्रयोग गद्य की छोटी रचना के रूप में होता रहा है। गोस्वामी तुलसीदास

जी ने भी अपने मानस को—"भाषा निबन्ध मधु मजुल मातनोति" आदि शब्दों मे संगठन, क्रमबद्धता, तारतम्य आदि भावो को दृष्टि मे रखकर—निबन्ध कहा है। प्राचीनकाल के निबन्धो का रूप आज के निबन्धो से सर्वथा भिन्न है। आजकल के निबन्ध केवल गद्य मे ही लिखे जाते हैं। हिन्दी मे निबन्धों की परम्परा भारतेन्दु युग से ही प्रारम्भ होती है। यद्यपि भारतेन्दु से पूर्व राजा शिवप्रसाद का "राजा भोज का सपना" प्राप्त होता है। परन्तु उसे हम निबन्ध नही कह सकते। वह निबन्ध न होकर कहानी मात्र है। भारतेन्दु जी ने अपने मित्रो का एक लेखक मंडल बनाया था। जिसमें पं० बद्रीनारायण चौधरी, पं० प्रताप नारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहन सिंह, लाला श्रीनिवासदास, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० केशवराम भट्ट, प० अम्बिकादत्त व्यास, प० राधाचरण गोस्वामी, बालमुकुन्द गुप्त आदि थे। वास्तव मे आधुनिक निबन्धो को जन्म देने का श्रेय इन निबन्धकारों को ही है।

हिन्दी निबन्धकारो मे प० प्रतापनारायण मिश्र का स्थान महत्वपूर्ण है। उन्होने लेख निकालने के कारण ही "ब्राह्मण पत्र" को जन्म दिया था। प्रतापनारायण जी हास्य प्रिय लेखक थे। उनकी हास्यप्रियता उनके निबन्धो मे प्रत्यक्ष रूप से दृष्टि-गोचर होती है। व्यग उनकी वाणी का अभिन्न अंग था। गम्भीर से गम्भीर विषयो में भी वे हास्य तथा मनोरजन की सामग्री ढूंढ लेते थे। उनके निबन्धो के शीर्षक इस तथ्य के द्योतक हैं कि वे कितने हास्य प्रिय थे। जैसे—"घूरेक लत्ता बिनै कान तनक डौल बाँधे", "समझदार की मौत है", "मनोयोग", "वृद्ध", "भौ", आदि। मिश्र जी ने देश दशा, समाज सुधार, नागरी हिन्दी प्रचार आदि सभी विषयो पर अपनी लेखनी परिचालित की है।

मिश्र जी के पश्चात् निबन्ध साहित्य में पं० बालकृष्ण भट्ट का नाम आदर से लिया जाता है। व्यग्य और वक्रता भट्ट जी की निजी विशेषता है। Education, Society, National Vigour and Strength Standard, आदि अंग्रेजी शब्दो का प्रयोग भट्ट जी ने अपने निबन्धों में खूब किया है। भट्ट जी ने अंग्रेजी शब्दों के समान ही उर्दू तथा फारसी शब्दो तथा वाक्यों का प्रयोग भी अपने निबन्धो मे किया है। मुहावरो का प्रचुर प्रयोग भी उनके निबन्धों मे मिलता है। भट्ट जी ने आँख, कान, नाक जैसे विषयो पर अपने लेख लिखे है। भाषा की सजीवता भट्ट जी की निबन्ध शैली की सबसे बडी विशेषता है। मिश्र जी तथा भट्ट जी को यदि हम हिन्दी का एडीसन और स्टील कहे तो अनुपयुक्त न होगा।

बद्रीनारायण चौधरी प्रेमधन ने भी बड़े सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। ये भारतेन्दु युग के तृतीय महान् निबन्धकार हैं। उन्होने अपने निबन्धो में भाषा की सजावट और परिष्कार पर विशेष ध्यान दिया है। बद्रीनारायण जी ने अपने निबन्ध गहन अध्ययन तथा मनन के पश्चात् लिखे हैं। आनन्द कादम्बिनी नामक पत्रिका इन्होने लेख लिखने के लिए ही निकाली थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आपके सम्बन्ध मे लिखा है कि—"लखनऊ की उर्दू का जो आदर्श था वही उनकी हिन्दी का था।"

भारतेन्दु युग मे निवन्धो की आशाजनक प्रगति हुई, वाद में, वहुत काल तक कोई प्रतिभाशाली लेखक इस क्षेत्र मे नहीं आया, जिसमे हिन्दी निवन्ध साहित्य की प्रगति कुछ समय के लिए कुठित हो गई।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने निवन्ध क्षेत्र मे प्रवेश करके उनमें जान डाल दी। द्विवेदी जी ने पर्याप्त लेख लिखकर हिन्दी निवन्धकारो का पथ-प्रदर्शन किया। द्विवेदी जी ने "वेकन विचार रत्नावली' के नाम से लार्ड वेकन के निवन्धों का हिन्दी मे अनुवाद किया। अनुवाद की दृष्टि से यह पुस्तक अपना विशिष्ट स्थान रखती है। द्विवेदी जी के कई लेख वडे महत्व के हैं जैसे—"कवि और कविता" तथा "प्रतिभा" आदि। उन्होने कुछ लेख सुझाव देने के लिए भी लिखे हैं जैसे—"कवियो का उर्मिला विषयक उदासीनता" आदि। द्विवेदी जी ने विचारात्मक निवन्ध लिखे हैं। "पर विचारों की वह गूढ़ गुंफित परम्परा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की वुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार पद्धति पर दौड पड़े। × × × × × द्विवेदी जी के लेखो को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों को लिख रहा है।" (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) द्विवेदी जी ने छोटे-छोटे वाक्यो का प्रयोग किया है। उनके निवन्धो की भाषा सयत, प्रौढ़, व्याकरण सम्मत, सस्कृतनिष्ठ एवं सशक्त है। उनके दो लेख—"क्या हिन्दी नाम की कोई भापा ही नही" (सरस्वती सन् १९१३) और "आर्य समाज का कोप" (सरस्वती सन् १९१४) इस वात के अच्छे उदाहरण हैं।

पं० माधवप्रसाद मिश्र की लेखनी वड़ी शक्तिशाली थी। इनकी शैली वड़ी प्रगल्भ तथा काव्यांगपूर्ण है, क्योकि वे प्रत्येक विपय का प्रतिपादन वडे उत्साह से करते थे। जव मौज मे आते थे तो वहुत सुन्दर लेख लिखते थे। इनके सम्बन्ध में पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने एक वार लिखा था—"मिश्र जी विना किसी अभिनिवेश के लिख नहीं सकते। यदि हमें उनसे लेख पाने हैं तो सदा एक न एक टंटा उनसे छेड़ ही रक्खा करें।" मिश्रजी वडे गम्भीर तेजस्वी, सनातन धर्म के पृष्ठपोपक तथा भारतीय संस्कृति की रक्षा के पक्षपाती थे। सनातन धर्म का विरोध करने वालो के विरुद्ध उन्होने खूव लिखा है। इनके लेख "सुदर्शन" नामक पत्र मे प्रकाशित होते थे। पर्व, त्योहार, उत्सव, तीर्थस्थान आदि विपयो पर इन्होने निवन्ध लिखे हैं। मिश्र जी ने दो लेख—"धृति" और "क्षमा" लोक सामान्य भावो पर लिखे हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "हिन्दी साहित्य के इतिहास" मे इनके सम्वन्ध में लिखा है:—

"प० माधवप्रसाद मिश्र के मार्मिक और ओजस्वी लेखों को जिन्होने पढ़ा होगा उनके हृदय में उनकी मधुर स्मृति अवश्य बनी होगी। उनके निवन्ध अधिकतर भावात्मक होते थे और धारा शैली पर चलते थे। उनमें वहुत सुन्दर मर्मपथ का अनुसरण करती हुई स्निग्ध वाग्धारा लगातार चलती थी।"

उपन्यासकार गोपाल गहमरी जी ने भी कुछ निवन्ध लिखे हैं। उनका निवन्ध "ऋद्धि और सिद्धि" पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। इनके निवन्धो की भाषा

बडी चंचल, मनोरंजक तथा प्रगल्भ है। उनके निबन्ध विलक्षण रूप खडा करने में पूर्णतया सफल रहे हैं। प० रामचन्द्र शुक्ल इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—**"किसी अनुभूत बात का चरम दृश्य दिखाने वाले ऐसे विलक्षण और कुतूहलजनक चित्रों के बीच से वे पाठक को ले चलते हैं कि उसे एक तमाशा देखने का सा आनन्द आता है।"** कही-कही इनकी शैली मे वकिमचन्द्र की शैली का आभास मिलता है।

बाबू बालमुकन्द गुप्त सुप्रसिद्ध सम्पादक होने के साथ-साथ प्रसिद्ध निबन्ध लेखक भी थे। "अनस्थिरता" शब्द पर इनका द्विवेदी जी से कुछ समय तक झगडा भी चलता रहा था। इनका "शिव शम्भू का चिट्ठा" बहुत प्रसिद्ध है। इनकी भाषा अत्यन्त सजीव, मर्मस्पर्शी तथा व्यंग्यपूर्ण है।

हिन्दी निबन्धकारों में डा० श्यामसुन्दर दास जी का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन्होंने हिन्दी भाषा, कवियो तथा इतिहास आदि पर सुन्दर लेख लिखे हैं। इनकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमे अरबी, फारसी, आदि के शब्द नही आते। इनकी भाषा अत्यन्त परिष्कृत, गम्भीर, सशक्त तथा संस्कृत गर्भित है।

पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी जी ने भी कुछ हास्य विनोदपूर्ण लेख लिखे हैं।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का नाम भी निबन्ध साहित्य में बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। ये संस्कृत के प्रकाड विद्वान थे। "कछुवा धरम" और "मारेसि मोहि कुठाऊँ" आदि अनेक लेख उन्होंने लिखे हैं। इनके गूढ निबन्धो मे भी हास्य और विनोद के दर्शन होते हैं। आचार्य शुक्ल इनके विषय मे लिखते हैं कि—**"यह बेधड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता और अर्थ गर्भिता वक्रता गुलेरी जी में मिलती है, वह और किसी लेखक में नहीं। इनके स्मित हास की सामग्री ज्ञान के विविध क्षेत्रों से ली गई है। अतः इनके लेखों का पूरा आनन्द उन्हीं को मिल सकता है जो बहुश्रुत है।"**

सरदार पूर्णसिह का नाम भी गुलेरी जी के साथ लिया जाता है। ये दो ऐसे निबन्ध लेखक हैं जिन्होने कम लिखकर अधिक ख्याति प्राप्त की है। उनके निबन्ध भावात्मक हैं। उनके तीन निबन्ध उपलब्ध होते हैं—"आचरण की सभ्यता", "मजदूरी और प्रेम" और "सच्ची वीरता।" इनके निबन्धों में भाषा की नवीन गति तथा आधुनिक विचारो की झाँकी मिलती है। उनकी लाक्षणिकता हिन्दी गद्य साहित्य में एक नवीन वस्तु थी। भाषा और भाव का यथोचित समन्वय उनके निवन्धों मे मिलता है।

हिन्दी निबन्ध क्षेत्र में आचार्य शुक्ल का आगमन एक युगान्तकारी घटना है। उन्होने अपनी प्रौढ प्रतिभा के द्वारा निबन्ध साहित्य को समृद्ध करके उसे नवता प्रदान की। उन्होने अपने निबन्धों मे नूतन विषयों तथा विधान पद्धतियों का सन्नि-वेश किया। हिन्दी निवन्ध साहित्य मे से यदि आचार्य शुक्ल के निबन्धों को निकाल दिया जाय तो उसका एक भाग ही सूना हो जायगा। साहित्यिक दृष्टि से आचार्य शुक्ल के निबन्धो मे वे सभी विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं जो उत्तम निबन्ध के आव-

श्यक तत्व माने गये हैं। निबन्ध में संघटित विचारों की अभिव्यक्ति तथा उसमें व्यक्तित्व की निहित आदि जो निबन्ध के आवश्यक तत्व हैं वे सभी उनके निबन्धों में प्राप्त हैं। आचार्य शुक्ल के निबन्धो की सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि उनके निबन्धो में विचार शृंखलाबद्ध रहते हैं और उनकी शृंखला कही भी नही टूटती। "भाव या मनोविकार" पर लिखे हुए निबन्धो में यह विशेषता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है।

उनके निबन्धों की द्वितीय विशेषता है—विचारों की पूर्ण गुम्फित परम्परा। आचार्य शुक्ल की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वे प्रस्तुत विषय पर विचार करते समय अन्य प्रासंगिक विषयो पर भी विचार करते चलते हैं। जैसे उन्होंने "भय" पर विचार करते समय "आशंका" पर भी विचार किया है। विषय और व्यक्तित्व का अद्भुत समन्वय उनकी निबन्ध शैली की प्रमुख विशेषता है। "चिन्तामणि" की भूमिका में उन्होने स्पष्ट कहा है कि—"इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठकों पर सौंपता हूँ कि ये निबन्ध विषय प्रधान हैं या व्यक्ति प्रधान।" आचार्य शुक्ल के निबन्धो में उनके व्यक्तित्व की पूर्ण झलक है। अतः जर्मन आलोचक बफन का यह कथन—"Style is the man and man is the style himself—शैली स्वयं लेखक का व्यक्त स्वरूप है"—शुक्ल जी की निबन्ध शैली पर पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है।

आचार्य शुक्ल के निबन्ध विचारात्मक हैं। विचारात्मक निबन्धो को प्रस्तुत करने के लिए दो शैलियाँ प्रचलित हैं—(१) आगमन शैली, (२) निगमन शैली। आचार्य शुक्ल के निबन्ध इन्ही दो शैलियो मे लिखे गये हैं।

आचार्य शुक्ल के विचारात्मक निबन्धों में भी उनकी मर्म स्पर्शिनी भावुकता के दर्शन होते हैं, क्योकि उनके निबन्धों में बुद्धि तथा हृदय दोनों का समन्वय है। अतः भावात्मकता की सुन्दर नियोजना उनके निबन्धो मे मिलती है। उदाहरणार्थ—"लोभ और प्रीति" नामक निबन्ध मे (पृ० १०५) देश प्रेम पर दृष्टि डालते हुए वे लिखते हैं—"रसखान तो किसी की लकुटी और कामरिया पर तीनों पुरों का राजसिंहासन त्यागने को तैयार थे पर देश प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने थके मांदे भाई के फटे पुराने कपड़ो और धूल भरे पैरों पर रीझकर या कम से कम खीज कर बिना मन मैला किया कमरे का फर्श भी मैला होने देंगे। मोटे आदमियो तुम जरा से दुबले हो जाते—अपने अंदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियो पर मांस चढ़ जाता।"

शुक्ल जी के निबन्धों में व्यर्थ के शब्द कही भी देखने को न मिलेंगे। प्रसंगानुकूल हास्य व्यंग और विनोद की झलक भी उनके निबन्धों में मिलती है। शुक्ल जी की भाषा अत्यन्त संयत, परिष्कृत, प्रौढ तथा विशुद्ध होती है। उनके निबन्धो में एक प्रकार का सौष्ठव विशेष रहता है। उनके निबन्धो में गम्भीर विवेचना गवेषणात्मक चिन्तन एवं निर्भ्रान्त अनुभूति की पुष्ट व्यंजना सर्वथा वर्तमान रहती है। भाषा तथा भाव दोनों का प्रौढ उत्कर्ष उनके निबन्धो में मिलता है।

शुक्ल जी की निबन्ध शैली की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने सूत्रवत् वाक्यों का प्रयोग किया है। जैसे—"भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।"—"साहसपूर्ण आनन्द की उमंग करता उत्साह है।"

उन्होंने अपने निबन्धों में अर्थ गर्भ सूत्रों का भी निर्माण किया है—जो उनकी अनुभवशीलता तथा रचनाकौशल का परिचायक है। यथा—"वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।" "यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण।"

शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में नये शब्दों का निर्माण भी किया है और पुनरुद्धार भी। उन्होंने कुछ नये पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। जैसे—रागात्मिका वृत्ति, सामंजस्य वृत्ति।

अतः शुक्ल जी निबन्ध क्षेत्र के एकमात्र अधिपति हैं। जो स्थान उपन्यास साहित्य में मुन्शी प्रेमचन्द जी का है वही स्थान निबन्ध साहित्य में आचार्य शुक्ल का है।

निबन्ध क्षेत्र में श्री गुलाबराय जी का भी विशेष स्थान है उन्होंने साहित्य के विविध विषयों पर सुन्दर लेख लिखे हैं। "प्रबन्ध प्रभाकर" उनका सुन्दर निबन्ध संग्रह है।

यों तो हिन्दी में निबन्ध लेखकों का अभाव नहीं है, परन्तु शुक्ल जी जैसे प्रतिभाशाली लेखकों का अभाव है।

प्रसाद जी का "काव्य कला तथा अन्य निबन्ध" नामक पुस्तक भी हिन्दी निबन्ध क्षेत्र में अपना विशेष स्थान रखती है। निराला जी की "प्रबन्ध प्रतिभा" भी एक विशिष्ट निबन्ध कृति है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा शान्तिप्रिय द्विवेदी जी ने हिन्दी निबन्ध क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का प्रकाशन किया है। इन विद्वानो ने सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। डा० रामरतन भटनागर तथा डा० सत्येन्द्र भा प्रतिभाशाली निबन्ध लेखक हैं। डा० रामविलास शर्मा ने भी "समाज और संस्कृति", संस्कृति और परम्परा" जैसी उत्कृष्ट निबन्ध पुस्तक हिन्दी निबन्ध साहित्य को भेंट की है। इनकी भाषा सजीव, प्रौढ, परिष्कृत तथा व्यंगयुक्त है।

हिन्दी निबन्ध साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है—इसमे सन्देह नहीं। उसे निरन्तर नवीन लेखकों का सहयोग प्राप्त हो रहा है। इन लेखकों में प्रमुख हैं :—सर्वश्री डा० पीताम्बरदत्त, नलिनी मोहन सान्याल, इलाचन्द जोशी, बनारसीदास चतुर्वेदी, बासुदेवशरण अग्रवाल, सदगुरु शरण अवस्थी, डा० नगेन्द्र प्रभाकर माचवे आदि। इन महानुभावो ने आलोचनात्मक तथा साहित्यिक निबन्ध लिखे हैं। सियारामशरण गुप्त तथा सुश्री महादेवी वर्मा के वैयक्तिक निबन्ध भी हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सद्गुणशरण अवस्थी ने "इक्का" "नहीं" आदि रोचक विषयो पर निबन्ध लिखे हैं। हरिशंकर शर्मा ने भी "चिड़िया घर" एवं "पिंजरापोल" मे हास्य व्यंगात्मक लेख लिखे हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि हिन्दी का निबन्ध साहित्य दिन-प्रतिदिन समृद्धि को प्राप्त कर रहा है।

"जीवनी और आत्मकथा"

साहित्य की अन्य विधाएँ तथा जीवनी:—पोप ने एक स्थल पर लिखा था—"The proper study of man is man" अर्थात् मनुष्य का उचित अध्ययन मनुष्य है। वास्तव मे सम्पूर्ण साहित्य मनुष्य का ही अध्ययन है। किन्तु साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा जीवन तथा आत्मकथा पर यह बात अधिक लागू होती है, बहुत से उपन्यास भी जीवनियो के ही रूप मे लिखे जाते हैं—जैसे अज्ञेय का "शेखर एक जीवनी" तथा अंग्रेजी मे डिकिन्स का "डेविड कॉपरफील्ड"। किन्तु फिर भी उपन्यास तथा जीवनी पृथक-पृथक हैं। उपन्यास की रचना मे कल्पना का प्रयोग अधिक रहता है। जीवनीकार कल्पना का अधिक सहारा नही ले सकता। उसे जीवनी को वास्तविक रूप मे प्रस्तुत करना पड़ता है। वह सामग्री के सयोजन तथा प्रकाशन में भले ही कल्पना का आश्रय ले। उसकी कल्पना आकाशगामी न होकर वास्तविकता के अत्यन्त निकट होती है। उसे कल्पना का प्रयोग करते समय इस बात का स्मरण रहता है कि उसके चरित्र-नायक के आकार-प्रकार में परिवर्तन न हो जाय। वह जीवनी के वाह्य आकार को सुसज्जित करने के लिए ही उसे कल्पना के रंगों से रंजित करता है। वह वास्तविकता का पुजारी है। जीवनीकार उपन्यास की भाँति सर्वज्ञ नही है। जीवनीकार अपने चरित्र-नायक के हृदय के रहस्यों को जानता हुआ भी सबका उद्घाटन नही करता। अज्ञात विषयों का वर्णन वह अनुमान के आधार पर करता है।

जीवनीकार जहाँ उपन्यासकार से भिन्न है वहाँ इतिहासकार से भी। यद्यपि इतिहास मे सत्य की प्रधानता रहती है, किन्तु इतिहासकार के लिए राष्ट्र प्रथम है और व्यक्ति गौण है। उसका मुख्य विषय राष्ट्र है। जीवन में व्यक्ति को महत्व मिलता है। उसके लिए व्यक्ति मुख्य है और व्यक्ति से सम्बन्धित देश अथवा उसकी संस्था का वर्णन होता है। बहुत सी आत्मकथाओं मे इतिहास के भी तथ्य उपलब्ध होते हैं। जैसे डा० श्यामसुन्दर दास जी की आत्मकथा मे नागरी प्रचारिणी-सभा काशी का इतिहास मिल जाता है। अथवा महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, ला० लाजपतराय तथा डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद की जीवनियो मे कांग्रेस के इतिहास की अच्छी झाँकी मिलती है। यद्यपि जीवनीकार भी इतिहासकार की भाँति अपने चरित्र-नायक के सम्बन्ध मे अन्वेषण तथा अनुसन्धान करता है। इतिहासकार जिन बातो की उपेक्षा करता है, जीवनीकार के लिए वह वाँछनीय है। इस सम्बन्ध मे वह उपन्यासकार के निकट है, क्योकि उपन्यासकार भी व्यक्ति को ही महत्व देता है। व्यक्तित्व की बहुत सी बातें—जैसे शुक्ल जी को माँग के प्रति मोह था तथा श्रद्धेय टंडन जी को कभी-कभी कन्धे हिलाने की आदत है—का उद्घाटन भी जीवनीकार के लिए महत्वपूर्ण है। रविबाबू के वास्तविक व्यक्तित्व

की स्पष्ट झलक उनके "नोबल पुरस्कार" से प्राप्त रुपये को शान्तिनिकेतन के लिये उत्सर्ग मे प्राप्त होती है रविबाबू ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है कि बचपन मे उन्हे अपने कुर्ते में जेब लगवाने की प्रबल आकांक्षा थी—वह भी बालमनोवृत्ति का परिचय देने के कारण अपना विशिष्ट महत्व रखती है।

जीवनी के साहित्यिक गुण:—जीवनी साहित्य की विधा होने के कारण साहित्य के सभी गुण अपने मे रखती है। जीवनी मे किसी मनुष्य के बाह्य तथा आन्तरिक स्वरूप का कलात्मक वर्णन रहता है। जिस प्रकार चित्रकार किसी ऐसे पक्ष को ग्रहण कर लेता है जिसमे उसके नायक की सभी कलाएँ पूर्ण से प्रस्फुटित हो जाये, उसी प्रकार जीवनीकार भी अपने नायक के किसी विशेप पक्ष को लेकर -उसके प्रकाश मे सभी घटनाओ का दिग्दर्शन करा देता है। जीवनीकार न तो अपने नायक के गुणो का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन ही करता है और न उसके दोषों को विस्तृत रूप ही देता है। उसे सीमा का ध्यान रखना वाछनीय है।

जीवनीकार को अपने नायक से आवश्यकता से अधिक सहानुभूति नही रखनी चाहिए। उसकी सहानुभूति अन्धविश्वास की सीमा तक नही होनी चाहिए। लेकिन इसका अभिप्राय यह नही है कि वह अपने नायक से सहानुभूति रखे ही नही। यदि वह अपने नायक से सहानुभूति रखेगा तो वह दोषो को दोषों के रूप में ही ग्रहण करेगा। उन दोषों का उपहास नही करेगा। जीवनी के छोटे छोटे दोष— **"एकोहि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो: किरणेष्विवाङ्कः" अर्थात् गुणों के समूह या बाहुल्य में एक दोष इसी प्रकार छिप जाता है। जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलंक।'** साधारण मनुष्यो के गुणो की अपेक्षा दोषो पर अधिक ध्यान देते हैं। अतः लेखक को जनता की इस दुर्बलता से लाभ नही उठाना चाहिए। इसी के साथ नायक की बुराइयो को भी नही छिपाना चाहिये। मनुष्य की दुर्बलता उसके व्यक्तित्व की परिचायक-होती है और वे चरित्र को यथार्थता प्रदान करती है। महाकवि टेनीसन सिगरेट पीने के अभ्यस्त थे। विक्टोरिया की जुबली के अवसर पर जब इन्हे सिगरेट पीने को नही मिली तो उन्होने छिप कर पी। ऐसी बातें मनुष्य को देवता होने से बचाती हैं। दोषों के वर्णन मे जीवनीकार को सहृदयता से कार्य लेना चाहिये। पं० बनारसीदास चतुर्वेदीकृत कविवर सत्यनारायण जी की जीवनी इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

जीवनीकार के कर्त्तव्य का निर्देश करते हुए श्री गुलाबराय जी लिखते हैं:—

"जीवनी लेखक अपने चरित्र-नायक के अन्तर बाह्य स्वरूप का चित्रण कलात्मक ढंग से करता है। इस चित्रण में वह अनुपात और शालीनता का पूर्ण ध्यान रखता हुआ सहृदयता, स्वतन्त्रता और निष्पक्षता के साथ अपने चरित्र नायक के गुण दोषमय सजीव व्यक्तित्व का एक आकर्षक शैली में उद्घाटन करता है।"

जीवनीकार मूर्तिकार के समान अनुपात पूर्ण सुनियोजित तथा चमकदार जीवनी प्रस्तुत नही कर सकता। क्योकि वह सत्य की सीमा मे बधा हुआ है।

जीवनीकार को एक सजीव तथा संकुल चरित्र में विरोध तथा व्याघात भी दिखाने पड़ते हैं। इसके अभाव में जीवनी निर्जीव हो जायेगी। जीवनीकार को जीवन में व्युरे के वैविध्य का ध्यान रखते हुए उसे ऐसा सुगठित रूप देना होता है जिससे उसकी अल्प सीमा में प्रसादकता आ जाय। उसके लिए स्ट्रेची ने एक गुण बतलाया है। वे लिखते हैं—"A brevity that excludes everything that is redundant and leaves nothing that is significant. अर्थात् कोई अनावश्यक बात न आने पाये तथा न कोई आवश्यक बात छोड़ी जाय।" जीवनीकार को स्ट्रेची का यह गुण सदैव स्मरण रखना चाहिए।

स्ट्रेची के मतानुसार दूसरा गुण यह है कि लेखक को अपनी स्वतन्त्रता का भी ध्यान रखना चाहिए किन्तु स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह नहीं है कि जीवनीकार छिद्रान्वेषण को ही अपना लक्ष्य बना ले। लेखक को सदैव इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि उसकी अपेक्षा उसके चरित्र नायक का महत्व अधिक है। कभी-कभी जीवनीकार का जीवन चरित्र नायक के जीवन से इतना घुल-मिल जाता है कि चरित्रनायक की जीवनी के साथ लेखक की जीवनी भी चलती है। जैसे अध्यापक पूर्णसिंह ने स्वामी रामतीर्थ की जो जीवनी लिखी है उसमें लेखक की जीवनी भी सम्बद्ध है परन्तु जीवनीकार को अपने को प्रधानता न देते हुए जीवनी लिखनी चाहिए।

जीवनीकार को हृदय तथा मस्तिष्क सम्बधी बौद्धिक, नैतिक तथा रागात्मक गुणो के साथ शैली के महत्व का भी विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए। शैली साधारण जीवनियो को भी सुन्दर तथा मनोहारिणी बना देती है। सफल जीवनी के लिए या तो श्रीरामचन्द्र जी के समान चरित्र नायक को महान होना चाहिए, जिससे उसका चरित्र ही स्वयं काव्य हो जाय—

"राम तुम्हारा चरित स्वय ही काव्य,
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।"

(मैथिलीशरण गुप्त)

या लेखक को ही इतना महान होना चाहिए कि उसकी लेखनी के स्पर्श से असुन्दर वस्तु भी सुन्दर प्रतीत होने लगे। डा० सूर्यकान्त शास्त्री जी ने प्रथम प्रकार के उदाहरण में बौसवेल की लिखी हुई "जॉनसन की जीवनी" मानी है तथा दूसरे प्रकार मे जॉनसन द्वारा रचित "सेवेज की जीवनी" को रखा है। प्रथम का चरित्र नायक महान है और दूसरे का लेखक महान है। जहाँ लेखक तथा चरित्र नायक दोनो महान होंगे वहाँ तो सोने में सुगन्ध समझना चाहिए। महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथा इस तथ्य का सुन्दरतम निदर्शन है।

जीवनियों के प्रकार:—जीवन चरित्रो के भी कई रूप तथा विधाएँ होती हैं। लेखक की दृष्टि से जीवनी तथा आत्मकथा ये दो प्रधान रूप होते हैं। जीवनी तो दूसरा व्यक्ति लिखता है और आत्मकथा स्वय लिखी जाती है। पं० रामनरेश

त्रिपाठी की "मालवीय जी के साथ तीस दिन" इन दोनों के मध्य की वस्तु है। इसमे मालवीय जी के द्वारा तीस दिन में कहा हुआ उनका जीवनवृत्त है। पं० सीताराम चतुर्वेदी द्वारा लिखी हुई महामना मालवीय जी की जीवनी अत्यन्त सुन्दर तथा कला की दृष्टि से पूर्ण है। इसमे लेखक की भक्तिभावना के दर्शन होते हैं, किन्तु औचित्य का अतिक्रमण कही भी नही किया गया है। जीवनीकार दृष्टा के रूप में जीवनी लिखता है और चरित्र-नायक की अच्छाई तथा बुराइयों का वर्णन करता चलता है। पाठक अपने दृष्टिकोण से सामग्री को ग्रहण करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जीवनी लिखते समय लेखक का अपना एक निश्चित दृष्टिकोण होता है और उसी के अनुकूल वह सामग्री का सुनियोजन करता है। बोसवेल द्वारा लिखी हुई डाक्टर "जॉनसन की जीवनी" प्रथम प्रकार की जीवनी का अच्छा उदाहरण है। आत्मकथा के अंतर्गत महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जवाहरलाल आदि की आत्मकथा आती हैं। ये आत्मकथायें भिन्न-२ दृष्टिकोणों से लिखी गई हैं।

आत्मकथाये—आत्मकथा की जीवन चरित्र से कुछ निजी विशेषताएँ होती हैं आत्मकथाकार जितना अपने सम्बंध मे ज्ञान रखता है, उतना किसी दूसरे को नही हो सकता। किन्तु इसमे भी दो प्रवृत्तियाँ बाधक होती हैं। प्रथम तो स्वाभाविक आत्मश्लाघा की ओर दूसरे शील-सकोच का आग्रह आत्मप्रकाशन मे बाधा उपस्थित करता है। दोनो प्रवृत्तियाँ ही सत्य के आदर्श से निन्द्य कही जायेगी किन्तु जीवन मे आत्मविस्तार का अन्यावश्यक होना उचित नही। शील-सकोच के आग्रह से पाठको को सत्य से वंचित रखना भी अवाछनीय है। आत्मकथा लेखक को पाठको की सुरुचि का अधिक ध्यान रखना चाहिए। उसे अनुपात को महत्व देना चाहिए। उसे अपने गुणो का वर्णन करते समय आत्मश्लाघा से बचना चाहिए। जीवनीकार को दूसरे के दोषों का उद्घाटन करने मे तथा आत्मकथाकार को अपने गुणों का वर्णन करने मे सचेत रहने की आवश्यकता है। श्री गुलाबराय जी ने अपने आत्मकथा सम्बधी निबंधों शीर्षक "मेरी असफलताएँ" मे अपनी असफलताओं का ही वर्णन किया है।

आत्मकथाएँ कई रूपों में उपलब्ध होती हैं। सुश्रृंखलित रूप में, जैसे डाक्टर श्यामसुन्दरदास जी की आत्म कहानी तथा महात्मा गाँधी की आत्मकथा आदि हैं। कहानी तथा स्फुट निबंधों के संग्रह के रूप मे। इसके अंतर्गत सियारामशरण जी के "बाल्य-स्मृति" आदि कुछ लेख आयेंगे। निराला जी ने "कुल्ली भाट" की जीवनी मे परोक्ष रूप से अपनी आत्मकथा का भी कुछ अश दिया है। यह कहानी के रूप मे ही कहा जायेगा। "कुल्लीभाट" और 'बिल्लेश्वर बकरिहा', को आधुनिक साम्यवादी दृष्टिकोण से जीवनी कहा जा सकता है किन्तु इसमें कल्पना की प्रधानता अधिक है। कथा के आवरण में वास्तविक जीवन छिप सा गया है। सुश्री महादेवी वर्मा के "अतीत के चल-चित्र" तथा "स्मृति की रेखाएँ" आत्मकथा तथा निबंध के बीच का विधाएँ मानी जायेगी। इनमे घटनाएँ बहुत कम हैं और उनसे सम्बंधित भाव तथा विचारो का आधिक्य है। इनमें वर्णित घटनाएँ श्री महादेवी वर्मा ने अपने करुणार्द्र नेत्रो से देखी हैं इस दृष्टि से इसमें आत्मकथा का कुछ अंश है। डा० श्यामसुन्दरदास

जी की जीवनी बहुत सुन्दर तथा सुनियोजित है। इनकी शैली भी साहित्यिक है, किन्तु कुछ व्यक्तियों के साथ उन्होंने अपनी भावनाओं को व्यक्त करने में अपनी उदारता का परिचय नही दिया। यात्रायें भी आत्मकथाओं का ही रूपान्तर है।

जीवनी साहित्य का विकास—पाश्चात्य देशों में जीवनी साहित्य पर्याप्त मात्रा मे लिखा गया। ईसा की पहली शताब्दी पूर्व ही "प्लूटार्क" की जीवनियाँ प्रकाश मे आ चुकी थी। "प्लूटार्क" सर्वश्रेष्ठ जीवनीकार माना जाता है। पाश्चात्य देशों में जीवनी के क्षेत्र मे नए-नए प्रयोग भी हुए जैसे—लुडविग ने नाइल नदी की जीवनी लिखी है।

हिन्दी साहित्य मे जीवनियों का प्रचलन "चौरासी वैष्णवों की वार्ता", भक्तमाल, तथा प्रियदास की टीका से होता है। प्राचीनकाल में अश्वघोष तथा बुद्ध चरित जैसे चरित काव्यों की रचना हुई थी। इनमें कवित्व की प्रधानता थी और वार्ता में साम्प्रदायिक भावना का पुर था। तुलसीदास जी द्वारा लिखे गये दो पद्यमय जीवन भी उपलब्ध होते है किन्तु उन्हे अप्रमाणिक माना गया है। जैन कवि बनारसीदास के द्वारा लिखी हुई उनकी आत्मकथा "अर्द्धकथानक" के नाम से मिलती है। जिसमे उन्होंने अपने दोषों तथा दुर्बलताओं का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। देखिए:—

"भयी बनारसीदास तन, कुष्टरूप ,सरवग।
हाड हाड उपजी व्यथा, केस रोम भुव भंग॥
विस्फोटक अगणित भये, हस्त चरन चौरग।
कोऊ नर साला ससुर, भोजन करइ न सग॥
ऐसी असुभ दशा भई निकट न आव कोई।
सासू और विवाहिता, करहिं-सेव तिय दोई॥
जल भोजन की लेहि सुध, देहि आनि मुख माहिं।
ओखद ल्यावहिं अंग में, नाक मूंदि उठि जाहिं॥"

हिन्दी का जीवनी साहित्य उत्तरोत्तर प्रगति कर रहा है। बनारसीदास चतुर्वेदीकृत कविरत्न पं० सत्यनारायण की जीवनी तथा डा० श्यामसुन्दरदास की मेरी आत्मकहानी हिन्दी जीवनी साहित्य का गौरव है। ब्रजरत्नदास जी ने भारतेन्दु के जीवन चरित्र में उनके साहित्य की भी व्याख्या की है। श्रद्धानन्द जी के "कल्याण मार्ग के पथिक" का नाम मौलिक आत्मकथाओं मे विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भाई परमानन्द की "आप बीती" एक कहानी का भी विशेष मान है। श्री वियोगीहरि की आत्मकथा स्फुट लेखो के रूप मे प्रकाशित हो रही है। राजेन्द्र प्रसाद की आत्मकथा का भी विशेष मान है। श्री घनश्यामदास बिडला का "बापू' श्री श्यामनारायण कपूर का "भारतीय वैज्ञानिक", श्रीमन्नारायण अग्रवाल का "सेगाँव का सन्त", श्री गौरीशंकर चटर्जी का "हर्षवर्द्धन" श्री रूपनारायण पाण्डेय का "सम्राट अशोक" का नाम जीवनी तथा संस्मरण साहित्य मे विशेष महत्व का है। पाश्चात्य देशो मे

मार्क्स, लेनिन, स्टालिन, मेजनी, प्रिन्स विस्मार्क, हिटलर आदि की भी जीवनियाँ लिखी जा चुकी है। आजकल राजनीति नेताओं की जीवनी की ओर लेखकों की विशेष रुचि है। सुभाषचन्द्र बोस के जीवन से सम्बधित बहुत सा साहित्य प्रकाशित हो चुका है। मौलाना आजाद की जीवनी का भी हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। यात्रा की पुस्तको मे राहुल साकृत्यायन के "तिब्बत में तीन वर्ष" और "सोवियट भूमि" तथा मौलवी महेश का "मेरी ईरान यात्रा" का विशेष मान है।

पत्र साहित्य

पत्र साहित्य की उपयोगिता :—पत्रो को भी आत्मकथा के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है। दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि आत्मकथा में व्यक्ति का जीवन चरित्र सम्बद्ध होता है, और पत्रो में वह असम्बद्ध सा रहता है। पत्र साहित्य के द्वारा लेखक का व्यक्तित्व सरलता से प्रकाश मे आ जाता है। इसके द्वारा हमे मनुष्य के जीवन का टुकड़ा मिल जाता है। लेखक की वैयक्तिक रुचि उसके मानसिक और वाह्य संघर्ष उसके सम्वन्ध तथा उसपर पडने वाले प्रभावों का भी उद्घाटन पत्रो द्वारा हो जाता है। कभी-कभी पत्रो के द्वारा तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक वा साहित्यिक इतिहास की भी झाँकी मिलती है। कुछ पत्र विपय की दृष्टि से और कुछ शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं। वे ही पत्र साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हो सकते हैं जिनमें विपय और शैली दोनो ही सुन्दर हों।

पत्र :—यो तो पत्र शब्द का प्रयोग पत्र के ही अर्थ में होता है। किन्तु विशेषत: यह शब्द उन पत्रो के लिए प्रयुक्त होता है जो गद्य या पद्य मे अत्यन्त सावधानी या कला से लिखे जाते हैं। पहले प्रायः पद्यवद्ध पत्रो का भी प्रयोग होता था। छत्रसाल ने वाजीराव पेशवा को दोहा लिखा था—"वाजी-वाजी जात है वाजी राखहु आय"। कवि पृथ्वीराज ने महाराणा प्रताप को पद्य मे ही पत्र लिखा था। गोस्वामी जी की विनय पत्रिका तो प्रसिद्ध ही है।

पत्रो की विशेषताएँ :—पत्र यद्यपि व्यक्ति के द्वारा व्यक्ति को ही लिखे जाते हैं किन्तु वे लोकरंजन तथा जनसाधारण के लाभ के लिए भी हो सकते हैं। साहित्य की अन्य विधाओ की अपेक्षा पत्रो में व्यक्तित्व की झाँकी अधिक मात्रा में मिलती है। पत्रों की यह विशेषता होती है कि इनकी रचना करते समय लेखक इस बात का ध्यान नही रखता कि इन्हें कोई और भी पढ़ेगा। इनमे सचेतन कला के दर्शन होते हैं। कुछ पत्र ऐसे भी उपलव्ध होते हैं जो प्रकाशन के उद्देश्य से लिखे गये, जैसे "सुमन जी के भाई के पत्र" तथा जवाहर लाल नेहरू के "पिता के पत्र पुत्री के नाम"। कुशल कलाकार की लेखनी से उसके पत्रो मे कला का विकास स्वतः हो जाता है।

आत्माभिव्यक्ति की इच्छा मानव में स्वाभाविक है। वह अपने हृदय के उद्रेक को दूसरों तक पहुँचाना चाहता है। अतः प्रत्येक साहित्य में जो वात होती है वही पत्रों मे भी होती है। यदि पत्रकार की लेखनी मे वल है तो उसके पत्र साहित्य का रूप ग्रहण कर सकते हैं।

"साधारण साहित्य तथा पत्र साहित्य में केवल इस वात का अन्तर है कि साधारण साहित्य में भाव-ग्राहक के व्यक्तित्व का ध्यान नहीं रखा जाता है और न

उससे कोई निजी सम्बन्ध होता है। साधारण साहित्य तो परिप्रेषित कर दिया जाता है, जहां-कहीं ग्राहक यन्त्र होगा वहाँ ग्रहण कर लिया जायेगा। पत्र लेखक को अपने भाव ग्राहक के व्यक्तित्व और उसकी संवेदनशीलता का ध्यान रहता है। वह उसी के अनुकूल अपने पत्र को बनाता है। वहां एक व्यक्तित्व दूसरे व्यक्तित्व से टकराता है, कभी संघर्ष के लिए और कभी प्रेम पूर्ण प्रतिदान द्वारा पारस्परिक जीवन को अधिक से अधिक सम्पन्न बनाने के लिए। ऐसे ही पत्र साहित्य की कोटि में आ सकते हैं।"---(गुलाबराय काव्य के रूप) किन्तु सभी पत्र साहित्यिक नही होते। जो कुशल साहित्यकार होते हैं वे कुछ शब्दों में ही अपनी बात स्पष्ट कर देते हैं और उनके व्यवहारिक पत्रों मे भी साहित्यिकता के दर्शन होते हैं।

वार्तालाप में उत्तर-प्रत्युत्तर होने के कारण उसकी सीमा विस्तृत होती है। किन्तु पत्र का क्षेत्र सीमित होता है। पत्र मे यदि प्रत्युत्तर होता भी है तो उसमे कल्पना का सहारा लिया जाता है। वार्तालाप में कल्पना के लिए स्थान कम है। पत्र के पाठक को कल्पना की अधिक सहायता लेनी होती है। पत्र मुक्तक काव्य के समान अपने में स्वतः पूर्ण होते हैं।

पत्र के शिल्प विधान मे भी निपुणता की आवश्यकता है। पत्र की सफलता इस बात में है कि वह पाठक को उतना ही प्रभावित कर सके जितना कि सामने वार्तालाप से। पत्रकार की शैली में लाघव का गुण होना वांछनीय है। थोड़े शब्दों में अपनी बात को स्पष्ट करना ही पत्र को अभीष्ट है। कुछ मनुष्य तो पत्रों मे अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व रख देते हैं और कुछ इसके पक्ष मे नही है। इस सम्बन्ध में भी मध्यम मार्ग को ग्रहण करना चाहिए। वास्तव मे जो पत्र ज्ञान देन की दृष्टि से लिखे जाते हैं उनमें व्यक्तित्व उतनी ही मात्रा में रहता है जितना कि निबन्धों में। जिन पत्रों मे लेखक का उद्देश्य "आपबीती" का वर्णन करना होता है उनमें मानसिक प्रतिक्रिया रहती है। जहाँ लेखक आत्म निवेदन करता है वहाँ व्यक्तित्व की प्रधानता होती है।

पत्र साहित्य के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि लेखक निजी पत्रों (जिनमें लेखक अथवा किसी अन्य के वैयक्तिक रहस्यो का उद्घाटन किया गया हो) को प्रकाशित करना चाहिए अथवा नही। जिन पत्रों में अन्य व्यक्तियो के रहस्यों का उद्घाटन हो, जिनके कारण वे समाज में अपमानित हो उन्हे प्रकाशित नही करना चाहिए। जिन पत्रों मे लेखक के वैयक्तिक रहस्य हों उन्हें उसकी मृत्यु के पश्चात प्रकाशित करना चाहिए, यदि उनके द्वारा उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता हो या उनमें साहित्यिकता हो। बहुत से पत्र गद्य काव्य के अन्तर्गत आते हैं। लेखक के निजी पत्रों को प्रकाशित करने में दो बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है—प्रथम तो उन पत्रों में वर्णित व्यक्तियों के नाम नहीं लिखने चाहिएं, दूसरे वे पत्र कुरुचि के प्रचारक न हो। अतः पत्रों के प्रकाशन में पत्र के उसी अंश को लेना चाहिए जो व्यक्तित्व पर प्रकाश डालता हो। कुरुचि का प्रचार न हो और दूसरे को अपमानित न होना पड़े।

साहित्य मे पत्र :—साहित्य के रूप मे पत्र का प्रयोग १—शैली के रूप मे, २—उपन्यास या नाटक मे प्रासङ्गिक पत्र के रूप मे ३—साहित्यकारो के पारस्परिक साहित्य गुण पूर्ण पत्र, व्यवहार के रूप मे, ४—प्रेमियो के भावात्मक पत्रो मे, ५—गुरू-शिष्य या पिता-पुत्र (पुत्री) के पत्र व्यवहार के रूप मे तथा ६—सम्पादक को पत्र के रूप मे प्राप्त होते हैं। इनमें से सम्पादक को लिखे हुए पत्र दो प्रकार के होते हैं १—किसी गम्भीर विषय की सूचना, टिप्पणी, विरोध, खण्डन, समीक्षा आदि के रूप मे २—"चौबे का चिट्ठा" शैली में।

पत्र समीक्षा :—पत्र के दो प्रमुख तत्व होते हैं—१—आत्मीयता और २—स्वाभाविक अर्थात् ऊपर दिये हुए किन्ही प्रकारो में पत्र लिखे जायें उनमें यह आवश्यकता है कि आद्यान्त आत्मीयता प्रकट हो। वह स्वाभाविक शैली में अर्थात् सरल, चुस्त, मुहावरेदार हास्य व्यग से परिपूर्ण मधुर, मनोहारिणी शैली में लिखा जाय कि वह "पत्र" ही हो काव्य न हो। कुछ मनुष्य उपन्यास या कहानी पत्र के रूप मे ही लिखते हैं। पत्र लिखने मे विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

पत्र-साहित्य की समीक्षा :—पत्र साहित्य की समीक्षा मे निम्नलिखित बातो पर ध्यान देना आवश्यक है :—

१—जिसे पत्र लिखा गया है उसकी मर्यादा का अतिक्रमण तो नही हुआ।

२—पत्र की रचना किस मानसिक स्थिति मे की गई, तथा वह उस स्थिति को व्यक्त करने मे कहाँ तक सफल हुआ।

३—क्या लेखक ने उसमे कौशल का प्रयोग किया है। अपनी बात को स्पष्ट करने मे इससे कहाँ तक सफलता मिली।

४—उसकी शैली में कहाँ तक स्वाभाविकता तथा आत्मीयता है।

५—उसके पढने से लेखक का अभीष्ट प्रभाव स्पष्ट होता अथवा नही।

पत्र साहित्य का विकास :—हिन्दी मे पत्र साहित्य का उतना विकास नही हो सका जितना होना चाहिए था। जो पत्र साहित्य हिन्दी में मिलता भी है वह नही के बराबर हैं। कुछ उपन्यास पत्रो के रूप मे प्रकाशित हुए हैं। जैसे उग्र जी का "चन्द हसीनो के खतूत" पत्रो के रूप मे ही प्रकाशित होते हैं। अभी तक जो प्रकाशित पत्र साहित्य मिलता है—उनमे गाधी के पत्र, पं० जवाहर लाल नेहरू के पत्रो का अनुवाद, डा० धीरेन्द्र वर्मा के पत्र, कौशल्यायन जी लिखित "भिक्षु के पत्र" तथा सुमन जी के "भाई के पत्र" आदि प्रसिद्ध हैं। सुमन जी ने अपने पत्रो में भारत की नारी समस्या पर अच्छा प्रकाश डाला है। ये वास्तव मे निबन्ध हैं, केवल ऊपर का ही आकार पत्रो का है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के पत्र भी प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु इनमे भावना की अपेक्षा व्यवहार की स्पष्टता तथा शिष्टता के दर्शन अधिक होते हैं। प्रभाकर माचवे द्वारा सम्पादित "जैनेन्द्र जी के विचार" शीर्षक पुस्तक मे जैनेन्द्र जी के कुछ साहित्यिक-पत्र आंशिक रूप मे व्यक्त हैं।

गद्य काव्य

काव्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उसकी सीमा मे गद्य और पद्य दोनों आ जाते हैं। उपन्यास, आख्यायिका, निबन्ध आदि भी इस की कोटि में आते हैं। किन्तु आजकल पारिभाषिक रूप में गद्यकाव्य का प्रयोग एक विशिष्ट रचना के लिए होता है। गद्य काव्य भावात्मक निबन्धों के अन्तर्गत होता हुआ भी उससे भिन्नता रखता है। दोनो में ही भावना का बाहुल्य है। किन्तु गद्य काव्य में भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा वैयक्तिकता तथा एकतथ्यता का समावेश अधिक मात्रा में होता है। गद्य काव्य में एक ही भावना का प्राधान्य होता है। अतः निबन्ध की अपेक्षा इसका आकार छोटा होता है। गद्य काव्य मे अन्विति का होना अत्यन्त आवश्यक है। निवन्धकार विचार के तारतम्य के सहारे इधर-उधर भी जा सकता है, किन्तु गद्य काव्य का एक निश्चित ध्येय होता है और अपने ध्येय पर पहुँचना ही उसे अभीष्ट है।

गद्य-काव्य में भाषा तो गद्य के समान होती है किन्तु भाव प्रगीत काव्य के समान होते हैं। गद्य के आकार में पद्य की आत्मा के दर्शन होते हैं। साधारण गद्य की अपेक्षा इसकी भाषा भी सरस, मधुर तथा संगीतमय होती है। गद्य काव्य में रूपक और अन्योक्तियो का भी प्रयोग होता है। इसमे कहानी की भाँति एक ही संवेदना रहती है।

अंग्रेजी मे वाल्ट विटमैन की कविता गद्य गीतों में ही है। रवीन्द्र बाबू ने गीताँजली को अंग्रेजी गद्य गीत मे लिखकर यह प्रमाणित कर दिया है कि गद्य में भी पद्य का सा प्रवाह और गति हो सकती है। हमारे लेखकों का ध्यान गद्य को सरस और अलकृत बनाने की ओर विशेष रूप से रहा है। संस्कृत में गद्य में कविता की अलकृत शैली के दर्शन होते हैं। रवीन्द्रनाथ की "गीतांजली" ने साहित्यिको को इस दिशा मे विशेष प्रोत्साहन दिया। बहुत से मौलिक गद्य काव्य लिखे गये तथा "गीतांजली" के बहुत से छायानुवाद प्रकाशित हुए। इनमें रहस्यमय भावों की प्रधानता है। अन्य विषयो को लेकर जो गद्य काव्य लिखे गए उनमें विचारों की अपेक्षा भावों का बाहुल्य अधिक था।

हिन्दी मे स्फुट रूप में भी गद्य काव्य लिख गये हैं। इस सम्बन्ध में रायकृष्णदास, वियोगी हरि, श्री चतुरसेन शास्त्री और श्री दिनेशनन्दिनी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रायकृष्णदास की "साधना", "छायापथ", "प्रवाल" आदि पुस्तकों ने गद्य काव्य की विशेष उन्नति की। गद्य काव्य में श्री वियोगी हरि के "अन्तर्नाद" और "भावना" का विशेष मान है।

चतुरसेन शास्त्री के भाव प्रधान लेख "अन्तस्तल" के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनकी भाषा अधिक स्वाभाविक, सरल तथा गतिशील है। "अन्तस्तल" में वैयक्तिकता के साथ-साथ रहस्यमयी भावना तथा सामयिक विषय भी है।

दिनेशनन्दिनी के गद्य काव्यों में भाषा शान्त, स्निग्ध तथा प्रवाहमय है। उन्होंने साधारण रूपको द्वारा संसार के हृदय में व्याप्त अव्यक्त आलम्बन के प्रति अपनी रहस्यमयी प्रेम-भाव की व्यंजना की है।

श्री प्रकाशचन्द्र जी गुप्त के रेखा-चित्र भी गद्य काव्य के अन्तर्गत आयेंगे। इसमें भावना की अपेक्षा वर्णन का बाहुल्य है। "हीपल", "खण्डर", ' मिट्टी के पुतले" आदि रेखाचित्रो में सूक्ष्म कल्पना तथा भावना का रंग है।

छटा अध्याय



समालोचना की विवेचना

समालोचना की व्युत्पत्ति:—किसी भी शब्द के व्युत्पत्ति ज्ञान के लिए व्याकरण शास्त्र के अनुसार उसकी व्युत्पत्ति एवं अर्थ ज्ञान ही वांछनीय है, क्योंकि व्याकरण शास्त्र के बिना शब्द का वास्तविक एवं तात्विक अर्थ ज्ञान सम्भव नहीं। अतः समालोचना शब्द का भी व्याकरण शास्त्र सम्मत अर्थ ही ग्राह्य तथा समीचीन होगा। पाणिनी व्याकरण की समीचीनता सब ने स्वीकार की है। इसके द्वारा शब्द के अङ्ग-प्रत्यङ्ग एवं रूप साधनों का जिस पूर्णता के साथ प्रयोग साधन होता है एवं जिन सूक्ष्म शब्द शक्तियो का ज्ञान होता है, वैसा अन्य किसी व्याकरण द्वारा नही। यहाँ हम समालोचना शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनी के व्याकरण-शास्त्रानुसार प्रस्तुत करेंगे।

१—"समालोचना" शब्द मे सम+आङ्+लोचन+आ—ये विग्राहांश हैं। इनमें प्रथम दो सम+आङ् उपसर्ग है, उपसर्गों का प्रयोग—धातु (क्रिया) के पूर्व धातु द्वारा निष्पन्न सुबन्त शब्द में विशेषार्थ द्योतन के लिए किया जाता है। "सम" का अर्थ है भली-भाँति और आङ् का अर्थ है "मर्यादा" तथा "आङ्मर्यादाऽभिविधौ" (२।१।१३।) शेष दो अश "लोचन+आ" में लोचन शब्द देखने के अर्थ में प्रयुक्त "लुच्" धातु से "नन्द ग्रहं पचादिभ्योल्युणिन्यच" (३।१।१३ से) "ल्यु" प्रत्यय लगाने के अनन्तर "लशक्वतद्धिते" (१।३।८) सूत्र से ल्यु मे से ल का लोप होने पर "यु" शेष रहता है और "लुच+यु" यह स्थिति रहती है अनन्तर युवोरनाकौ (७।१।१) से अन आदेश हो जाता है। अनन्तर धातु की उपधा को गुण होकर 'उ' के स्थान में "ओ" होकर (लोचन+अ) शब्द निष्पन्न होता है। पुनः स्त्रीत्व विवक्षा में "टाप" प्रत्यय होने से लोचना शब्द बनता है। पुनः सम+आ+लोचना=समालोचना शब्द की प्रयोग सिद्धि होती है।" जिसका अर्थ होता है—"भली प्रका[illegible] दर्शन करना, देखना, जाँचना, छानवीन करना।" अर्थात् किसी भी वस्तु, व्यक्ति [illegible] विषय के सम्बन्ध मे पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना और दूसरो को उसका [illegible] कराना।

पारिभाषिक अर्थ.—अतः निश्चय हुआ कि "[illegible] को [illegible] आकार, प्रकारादि के अवलोकन को ही नहीं [illegible] प्रयोगादि के विषय में दिये जाने वाले नि[illegible] [illegible]त्मक

समालोचना की परिभा[illegible] निर्णय

---

१ समालोचना शास्त्र —[illegible]

२ डा० श्यामसुन्दरदास [illegible]

का विश्लेषण स्वयं करने लगता है तब समालोचना का जन्म होता है।" समालोचना की परिभाषा तथा व्याख्या भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। यहाँ हम भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा दी गई समालोचना की परिभाषा तथा व्याख्या पर विचार करेंगे।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदीः—समीक्षा या समीक्षण वह साधु तात्विक प्रक्रिया है, जिसमें मनुष्य कुछ दर्शनीय पदार्थ (वस्तु, व्यक्ति या विषय) देखने की इच्छा करे, देखे और देख चुकने पर उसमें जो दृष्टव्य हो, उसे दूसरे को भी दिखाने की इच्छा करे और दिखावे।"—(समीक्षा शास्त्र)

रघुनाथप्रसाद साधकः—"समालोचना उस शास्त्रीय विधि को कहते हैं, जो निष्पक्ष भावेन किसी वस्तु, पदार्थ वा रचनामात्र के कला-कौशल, गुण, दोष एवं अन्तरंग बहिरंग विशेषताओं को निर्णयात्मक दृष्टिकोण से तदेतर पदार्थों के सादृश्य में उत्तमानुत्तम सिद्ध करते हुए मानव समाज के उपयोगार्थ कला की सार्थकता प्रस्तुत करे।"—(समालोचना शास्त्र)

डा० एस० पी० खत्रीः—"आलोचना का प्रधान लक्षण साहित्यिक कृति के रूप, रंग, आकार, प्रकार तथा उसी वास्तविक आत्मा का प्रदर्शन है।"

—(आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त)

साधारणः आलोचना की परिभाषा देते हुए यह कहा गया है कि आलोचना का प्रधान कार्य साहित्यिक कृतियो के गुण-दोष का उदाहरण सहित विवेचन और तर्कपूर्ण तथा सूक्ष्म विश्लेषण है।

पाश्चात्य देशो में भी समालोचना शास्त्र की गम्भीर विवेचना मिलती है।

बेन जॉनसन.—"कवियों की आलोचना केवल कवि ही कर सकते हैं—सब कवि नहीं; केवल वही कवि जो काव्य रचना में श्रेष्ठ समझे जाते हैं।"

केवल कवि ही समालोचक होने के अधिकारी हैं। इसका यह अभिप्राय नही क अन्य कोई समालोचक हो ही नही सकता। अन्य मनुष्य भी समालोचक हो सकते परन्तु उनमें ज्ञान विज्ञान को समझने तथा कलाओ को परखने की दैवी क्षमता ती चाहिए। कवि द्वारा लिखी गई समालोचना अधिक मान्य तथा उपयोगी होगी, तु ऐसे कवि द्वारा ही समालोचना लिखी जानी चाहिए जिनमें न तो पक्षपात हो : न द्वेष।[1]

आजकल समालोचना का एक अन्य अर्थ भी ग्रहण किया जाता है और वह है—"**परछिद्रान्वेषण**"—इस अर्थ मे प्रयत्नपूर्वक लेखक वा कवि के दोषो का वर्णन किया जाता है। किसी रचना के दोषों पर प्रकाश डालना भी समालोचना मे आवश्यक है पर वह होना चाहिए गुणो के साहचर्य से ही। गुणो के साहचर्य के अभाव में जहाँ दोषमात्र का ही प्रदर्शन होता है वहाँ रचना का पक्ष गौण हो जाता है और व्यक्तिपक्ष प्रधान रहता है। व्यक्तिपक्ष की प्रधानता न होने के कारण रचना की आलोचना न होकर व्यक्ति की आलोचना होने लगती है।

---

१ "प्रिफेस टु सिल्वी"

परन्तु समालोचना का लक्ष्य छिद्रान्वेपण नहीं है। अरस्तू ने जब समालोचना सिद्धान्त को जन्म दिया तब उन्होने उन सिद्धान्तों का उल्लेख किया था जिनके द्वारा साहित्य की श्रेष्ठता प्रतिपादित की जा सके। अरस्तू के अनुसार—'समालोचना का आदर्श साहित्य के उन गुणों का अध्ययन तथा निरूपण था जो साधारण बुद्धि के पाठकों को साधारणतः रुचिकर होते हैं। यदि किसी कविता का ढाँचा, वस्तु अथवा भाव प्रदर्शन तथा विचार काव्य की नैसर्गिक आत्मा से आविर्भूत है तो आलोचक को चाहिए कि वह कवि की प्रशंसा करे। छोटी-छोटी भूलों पर नाक-भौं सकोड़ना श्रेष्ठ आलोचक का काम नहीं है. ऐसा छिद्रान्वेषण केवल आलोचक की हृदयहीनता तथा द्वेष का द्योतक है।" अल्प दोप तो वर्जित जैसे श्रेष्ठ कलाकार की रचना मे भी मिलते है। आलोचक लतीनी ने लिखा है कि महाकवि होमर भी अनेक स्थानों पर दोषो से मुक्त नहीं। उनकी रचनाओ में सब स्थानो पर एकसे भाव नही मिलते।

यूनानी समालोचक लोजाइनस का विचार था कि वह कवि प्रिय है जो कुछ त्रुटियाँ करता है परन्तु उसमे काव्य की उच्च आत्मा के दर्शन होते हैं। ऐसे कवि जो साहित्यिक रूप से काव्य रचना करे और उसमे काव्य की उच्च आत्मा के दर्शन न हो तो वह निम्न कोटि का है। साहित्यिक दृष्टि से रचना करने वाला व्यक्ति व्याकरण, भापा तथा अलकारो का शुद्ध रूप से प्रयोग करता है और काव्य को शिष्ठ बनाये रखता है। वह अपना सम्पूर्ण मस्तिष्क लगाकर काव्य का सृजन करता है। ऐमे कवि के प्रति न तो हमारी श्रद्धा है न विश्वास। श्रेष्ठ कवि वह होता है जो काव्य के छोटे-छोटे दोषो पर ध्यान न देकर काव्य के श्रेष्ठ स्तरो को महत्व प्रदान करता है।[2]

कुछ समालोचकों की दृष्टि कवि की छोटी-छोटी त्रुटियो पर इतनी अधिक होती है कि वे अकारण ही लेखक को बुरा कहने लगते है। जिससे कभी-कभी लेखक हतोत्साह होकर अपने रचना कार्य से विरत हो जाता है। ऐसा करने से कलाकार के जीवन को तो ठेस पहुँचती ही है, साथ ही यदि वह रचना अच्छी होती है तो समाज उसके लाभ से वचित रह जाता है तथा वह समालोचना भी पथप्रदर्शक के पद से गिर जाती है। यह समालोचना का एक प्रकार से सकीर्ण अर्थ है। आलोचक को आलोचना की कसौटी पर ही काव्य का मूल्याकन करना चाहिए। उसका ध्येय "परछिद्रान्वेपण" नही होना चाहिए।

ड्राइडेन—"आलोचना निर्णय का एक मानदण्ड है जो उन साहित्यिक विशिष्ठताओं का लेखा रखती है जो साधारणतया किसी विचारशील पाठक वर्ग को आनन्ददायी होंगे। आलोचना हमारे तर्क का भी मानदण्ड होगी।"

एल्ज—"सौन्दर्यात्मक आलोचना प्रणाली साहित्यिक कृतियों की तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत करती है तत्पश्चात् साहित्य के इतिहास में उसके महत्व का निर्णय करती है।"

---

२ जॉन ड्राइडेन—'एपॉलाजी फॉर हिरोइक पोएट्री"

हैरिस—"आलोचक साहित्य-क्षेत्र का श्रेष्ठ प्रवन्ध कर्ता है।"

मैथ्यूआर्नल्ड:—"किसी भी वस्तु का यथावत् परिशीलन आलोचना का प्रमुख ध्येय रहेगा। उसे सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोन्नत विचारों की खोज करनी पड़ेगी और उनके प्रसार में दत्तचित रहना पड़ेगा।"[1]

फ्रांस:—"आलोचना का ध्येय अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं और न वह वस्तुओं को यथावत् देखेगी ही, वरन् वह वस्तुओं के सम्बन्ध को परखेगी और उन्हीं सम्बन्धों के विश्लेषण में अपनी शक्ति प्रयुक्त करेगी।" यह परिभाषा क्रियात्मक आदर्श मे पूर्ण है।

वोइसाल:—"आलोचना के तीन प्रमुख कर्त्तव्य हैं। पहला है अर्थ का स्पष्टीकरण, दूसरा वर्गीकरण और तीसरा निर्णय-प्रदान। इसका प्रमुख उद्देश्य जनता तथा लेखकों की अभिरुचि का संशोधन तथा कला और साहित्य का श्रेष्ठ निर्देशन है।" यह परिभाषा भी निर्णयात्मक विचार शैली के निकट है, क्योंकि सम्बन्धों की परख निर्णयात्मक शक्ति के विना सम्भव नही।

नुयेन्तर:—'आलोचना साधारण पाठक वर्ग की मन्त्राणी है जो उसकी अभिरुचि तथा उसके मत का लेखा रखेगी।"

एण्डमण्ड गॉस:—आलोचना का उद्देश्य न तो प्रशंसा करना है और न दोषारोपण, आलोचक में सुबुद्धि, सहानुभूति तथा श्रेष्ठ वुद्धि अपेक्षित है।"

मेंवी:—"आलोचना कला और जीवन के तथ्यों के आधारभूत नियमों की साहित्यिक अभिव्यक्ति को स्पष्ट करती है।"

मोल्टन:—"आलोचना शास्त्र आधुनिक वैज्ञानिक आत्मा के सहयोग द्वारा साहित्य के विकास का रहस्योद्घाटन करता है, वह उन आधारभूत नियमों तथा सिद्धान्तों का विधान प्रस्तुत करता है जिसके द्वारा साहित्य की रूप रेखा का निर्माण होता है।"

वाल्टर पेटर—"साहित्यिक कृतियों में प्रस्तुत भावनाओं को हृदयंगम करने, उनका विश्लेषण करने तथा उनकी अभिव्यंजना की अपूर्व क्षमता आलोचक में होनी चाहिए।"

आइ० ए० रिचेड्स:—आलोचना साहित्यिक अनुभूति के विचारपूर्ण विवेचनोपरान्त उनका मूल्यांकन करती है।"

रार्बटसन:—आलोचना वस्तुओं तथा कार्यों के प्रभावो के फलस्वरूप आविर्भूत होगी।"

---

१ यह परिभाषा क्रियात्मक आदर्श के निकट होते हुए भी उससे वहुत दूर है, क्योंकि श्रेष्ठातिश्रेष्ठ विचारो पर ध्यान देने से निर्णयात्मक शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है।

सेंट्सबेरी:—"साहित्यिक सुरुचि के तर्कपूर्ण प्रयोग का नाम ही आलोचना है। आलोचना साहित्य की परीक्षा करती हुई उसके श्रेष्ठ तथा आनन्ददायी तत्त्वों की ओर संकेत करती है।"

साइमण्डसः—आदर्श आलोचक वही होगा जो साहित्य का निर्णय कर्ता, प्रकाश कर्ता तथा वैज्ञानिक विश्लेषक तीनों ही हों।"

टेन:—"जिस प्रकार चिकित्सक हमारे रक्त के तत्त्वों को वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा परख लेते हैं उसी प्रकार आलोचक भी किसी युग-विशेष के साहित्य-विधान को परखने का प्रयत्न करेगा।"

वाल्टर पेटरः—"कवि तथा कलाकार के सहज गुणों का अनुभव, उनका विवेचन, तथा उनकी अभिव्यक्ति यही तीन श्रेष्ठ आलोचकों के विशिष्ट कार्य रहेंगे।"

पास्नेटः—"आलोचक विविध सामाजिक वर्गों की समानता तथा विपरीतता का प्रदर्शन करते हुए विचारों तथा भाषा का विवेचन वैज्ञानिक रूप से करेगा। उसकी दृष्टि वाह्य आवरण को भेदकर, उस अन्तर्ज्योति को हृदयंगम करेगी जिसे कलाकार ने केवल कल्पना-रूप में देखा था। इस दृष्टि से आलोचक कलाकार की तुलना में कहीं श्रेष्ठ होगा।"

हैनरी जेम्सः—"आलोचक में अपने आपको साहित्यसागर में डूबने तिराने की अपूर्व क्षमता होनी चाहिए। उसमें अनुभूति तथा भावों को हृदयंगम करने की समुचित शक्ति आवश्यक होगी और इसके साथ-साथ उसमें अभिव्यक्ति की भी क्षमता अपेक्षित रहेगी उसमें व्यक्ति और उसकी प्रतिभा को पूर्णतया हृदयंगम करने की अपार उत्सुकता तथा अपूर्व धैर्य होना चाहिए।"

कॉलरिजः—"समालोचक को काव्य में उस अंश को ढूँढ निकालना चाहिए जिसके सहारे वह सम्पूर्ण काव्य को हृदयंगम कर सके। इसी आधारभूत अंश को अपने सम्मुख रखकर श्रेष्ठ समालोचना लिखी जा सकती है।"............

"समालोचक का आदर्श काव्य के सौन्दर्यपूर्ण अंगों पर पाठक का ध्यान आकृष्ट करना है। यदि वह दोषो पर ही अपनी आलोचना निर्भर रखता है तो वह आलोचक हेय तथा दोषपूर्ण। दोषो का प्रकाश केवल उनके समर्थन हेतु ही होना चाहिए।"............"समालोचना का वास्तविक उद्देश्य साहित्य निर्माण के नियमों का निर्धारण मात्र है, उसका ध्येय निर्णयात्मक नियमों की सूची बनाना नहीं। इन दोनों उद्देश्यो को सम्भवत पृथक रखना चाहिए।"

टी० राइमरः—किसी श्रेष्ठ कलाकारों के दोषों को प्रकट करना है और उसके गुणों पर परदा डाल देना अच्छे आलोचक का सिद्धान्त नहीं होना चाहिए। ऐसा आलोचक निकृष्ट है।"[1]

---

१ "द-इम्पार्शल क्रिटिक"

विक्टर ह्यूगो—कोई कलाकृति अच्छी है या बुरी, इसकी मीमांसा करना आलोचना का क्षेत्र है।

टी० एस० ईलियट:—"आलोचक का तात्पर्य किसी वस्तु के मूल्यो का निर्णय करना है।"

जे० ई० स्पिगार्न:—जे० ई० स्पिगार्न ने आलोचना का मुख्य कार्य निम्नलिखित प्रश्नो का उत्तर देना माना है:—

१—कलाकार ने क्या अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

२—उसे अभिव्यक्त करने मे वह कितना सफल हुआ है ?

३—जो कुछ कलाकार ने अभिव्यक्त किया है, वह क्या वास्तव में अभिव्यक्त होने के योग्य था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि योरोप मे किसी भी कलाकृति के उस ज्ञान मूल्याकन या परीक्षण को आलोचना या समीक्षा कहते हैं जो या तो आलोचक की व्यक्तिगत रुचि के अनुसार या किन्ही स्वीकृत सौंदर्यात्मक भावनाओ के अनुसार किया गया हो।

काव्य का ध्येय आनन्द का उद्रेक करना है। यह सम्पूर्ण जीव-जगत का चित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। ये चित्र सुखान्त तथा दुखान्त दोनों प्रकार के होते हैं। कोई सुखान्त स्थलो से प्रभावित होता है और कोई दुखान्त स्थलो से। श्रेष्ठ समालोचक को दोनों के गुणो को पूर्णरूप से समझना चाहिए यदि ऐसा न होगा तो वह केवल पक्षपाती प्रशंसक होगा श्रेष्ठ समालोचक नहीं।"[2]

श्रेष्ठ आलोचक की दृष्टि उन्ही प्रेरणाओ तथा भावनाओं पर होती है जिससे प्रेरित होकर कलाकार ने अपनी रचना को जन्म दिया। उसे इन सम्पूर्ण स्थलो का अन्वेषण करना अभीष्ट है जिनमे भावो का उत्कर्ष हो और हृदय को स्पर्श करने वाले अंश हों। दोपो पर उसकी दृष्टि नही होनी चाहिए। सम्पूर्ण काव्य भी आत्मा के दर्शन कर उसे उल्लसित होना चाहिए। जिस काव्य द्वारा न तो हृदय में जागृति हो और न उद्वेग हो, जिस काव्य में केवल व्याकरणात्मक अथवा शाब्दिक शुद्धता हो, जिस काव्य में चित्त को उन्मत्त करने की शक्ति न हो, उसे आलोचक को ध्यान में भी न लाना चाहिए। सम्पूर्ण अवयवो के सामंजस्य के फलस्वरूप ही सौंदर्य प्रकट होता है, केवल एक ही अंग अथवा अवयव को सौन्दर्य का नाम नहीं मिलता। काव्य की प्रतीक्षा मे आलोचक को वैठा नही रहना चाहिए; यदि कलाकार अपने सीमित साधनो द्वारा अपने उद्देश्य मे सफल होता है और उसमें अनेक दोष रह भी जाते हैं, तो कलाकार प्रशसा के योग्य है। श्रेष्ठ कलाकार उत्तम फल के लिए छोटी त्रुटियों की ओर ध्यान नही देते।"[3]

---

२ जॉन ड्राइडेन—"ऑल फॉर लव"

३ ए० पोप "एसे ऑन क्रिटिसिज्म"

पोप ने "एसे ऑन क्रिटिसिज्म" मे समालोचक को निम्नलिखित नियमों का पालन करना आवश्यक माना है:—

(१) प्रकृति तथा जीवन के नियमो का अनुसरण।
(२) गर्वहीनता।
(३) कलाकार के ध्येय तथा अनुभूतियों का सम्यज्ञ अध्ययन।
(४) सम्पूर्ण साहित्य की अन्तरात्मा मे प्रवेश करना।
(५) कलाकार के उद्देश्य को महत्व देना।
(६) काव्य की श्रेष्ठता के लिए बौद्धिक तत्वों की प्रधानता।
(७) कला की आलोचना करते समय केवल भाषा को ही महत्व न देना।
(८) पृथक-पृथक विषयो के लिए भिन्न-भिन्न शैली का प्रयोग।
(९) केवल छन्द तथा तुकान्त शैली को ही महत्व न देना।
(१०) शब्दो को भावो का प्रतिरूप मानना।
(११) अतिश्योक्ति अथवा किसी वस्तु के बाहुल्य का अन्वेपण करना।
(१२) प्राचील कलाकारो को श्रेष्ठ समझना तथा आधुनिकता को महत्व न देना।
(१३) केवल नियमानुकूल सिद्धान्तो पर आधारित काव्य को श्रेष्ठ न मानना।
(१४) केवल प्राचीनता से ही प्रभावित नही होना चाहिए। स्वतन्त्र रूप से विवेचन करना चाहिए।
(१५) व्यक्तित्व को महत्व न देते हुए केवल काव्य का मूल्यांकन करना।
(१६) केवल नवीनता को ही महत्व न देना।
(१७) समान भाव से आलोचना करना।
(१८) साम्प्रदायिक भावना को महत्व न देना।
(१९) ईर्ष्या को समाप्त करके अपना मत देना।
(२०) केवल नियम, बुद्धि तथा ज्ञान के आधार पर व्यक्ति तथा सत्य की उपेक्षा न करना।

टी० वॉर्टन ने लिखा है कि "कुछ आलोचक बुद्धि तथा तर्क के फलस्वरूप आलोचना न लिखकर केवल कल्पना के सहारे आलोचना लिखते है और प्रशंसा के पुल बाँधते हैं। ऐसे आलोचक केवल तर्कहीन प्रशंसक मात्र हैं और उनकी आलोचना से विवेक कम सराहना अधिक रहता है। ये केवल सौन्दर्य क्षेत्रों में ही विचरण करते है और तथ्य की ओर ध्यान नही देते।

कहा जाता है कि केवल कवि ही योग्य समालोचक हो सकते हैं, परन्तु यह विचार अनुभव से निर्मूल है।"[1]

ऐडीसन ने लिखा है कि समालोचक का उद्देश्य साहित्यकारो के दोषों का

---

१ "आब्जर्वेशन ऑनद फेयरी क्वीन"

उद्घाटन करना नही है। केवल सौन्दर्य को प्रकाश में लाना है। श्रेष्ठ साहित्यकार साहित्य के सौन्दर्य की ओर आकर्षित होते हैं। समालोचक का भी यही धर्म है। उसे न तो दोषो को ही निकालना चाहिए और न पक्षपात से ही काम लेना चाहिए। उसे तर्क के आधार पर काव्य की विवेचना करनी चाहिए। सत्य के प्रकाश को प्रस्तुत करना ही उसका ध्येय होना चाहिए।

इसके विपरीत जॉनसन ने लिखा है कि आलोचना तर्क पर अवलम्बित नहीं होनी चाहिए। साहित्य सदैव से ही प्रकृतिस्थ नियमो का अनुसरण करती आई है। साहित्य आनन्द द्वारा शिक्षा प्रदान करती है।[1] किसी भी कलाकार की रचना का मूल्यांकन करने के लिए उसके देशकाल, साधन तथा उसकी सीमाओं तथा उद्देश्य को ध्यान में रखना चाहिए।

किसी भी साहित्यिक काव्य की श्रेष्ठता केवल कुछ पंक्तियों पर ही निर्भर नही होती अतः आलोचक को सम्पूर्ण काव्य पर ध्यान केन्द्रित रखना चाहिए। काव्य का सम्पूर्ण प्रभाव ही आलोचना का आधार होना चाहिए।

कॉलरिज ने "बायोग्रेफिया लिटरेरिया" में लिखा है कि विचारशील समालोचक वही है जो काव्य के मूल नियमो का अनुसन्धान करे और साहित्य में अनेक तथा भिन्न-भिन्न रूपो के लिए उसकी उपयोगिता सिद्ध करे और उन नियमो की विवेचना करे, इन नियमो के विवेचन के उपरान्त उसे काव्य के महत्वपूर्ण तथा प्रशंसनीय स्थलो का उल्लेख करना चाहिए और महत्वहीन दोषो की उपेक्षा करनी चाहिए। समालोचक को तर्कपूर्ण, पक्षपातहीन दृष्टि से समालोचना करना वांछनीय है। उसे उन वास्तविक दोषो को प्रकाशित करना चाहिए जिनके द्वारा काव्य की आत्मा विकृत होती हो।

समालोचक को दोषो की ओर इंगित करने का तो अधिकार है, किन्तु उसे तर्कपूर्ण उक्तियों के द्वारा दोषो पर प्रकाश डालना चाहिए। लेखक अपने समर्थन में उत्तर दे सकता है, परन्तु उसे उपालम्भ का अधिकार नही। किसी साहित्यकार में यह क्षमता नही है कि वह समालोचना के लिए शब्दो तथा उसके प्रयोग के नियमों की सूची उपस्थित करे। समालोचक जिन शब्दो के द्वारा दोषो को प्रस्तुत करे, उनकी गहराई, उद्देश्य तथा प्रभाव पर पहले विचार कर लेना चाहिए। "यदि समालोचक लेखक के जीवन विषयक दोषो अथवा वैयक्तिक जानकारी को अपनी समालोचना में प्रयुक्त कर लेखक के व्यक्तित्व तथा उसके जीवन को हास्यास्पद बनाने की चेष्टा करता है तो उसकी आलोचना निकृष्ट कोटि की होगी और उसके लेख में द्वेष तथा अपमान की झलक मिलेगी। इस प्रकार की आलोचना से वह समालोचक न कहलाकर द्वेषी वा छिद्रान्वेषक कहलायेगा। ऐसा समालोचक काव्य मन्दिर को दूषित कर उसका दैवी वातावरण भ्रष्ट करता है।"[2]

---

१ "प्रिफेस टु शेक्सपियर।" जॉनसन

२ कॉलरिज

जो समालोचक सहानुभूति पूर्ण तथा शिष्ट आलोचना नहीं
समालोचनाएँ नीरस, अशिष्ट तथा असम्बद्ध प्रतीत होती हैं। कुछ सम
दृष्टि केवल दोषों पर रहती है और कुछ गुणानुवाद करने मे ही लगे रहते हैं। गुणानुवाद करने वाले समालोचक कभी-कभी इतनी अतिशयोक्ति से काम लेते हैं कि पाठक कभी-कभी अन्य कलाकारों की ओर दृष्टिपात भी नही करते। इन आलोचको की प्रशंसा हमारे हृदय पर इतना अधिक प्रभाव डालती है कि अन्य लेखक हमारी श्रद्धा तथा सहानुभति के पात्र नही रह जाते। प्रायः जो आलोचक अत्यधिक प्रशंसा करते हैं उनमे मैत्री की भावना होती है और जो केवल दोषों पर ही प्रकाश डालते हैं वे दलबन्दी से प्रेरित होते हैं। ये दोनो प्रवृत्ति ही दूषित हैं जो आलोचना केवल दलबन्दी पर आधारित होगी वह साहित्यिक आलोचना न होकर केवल राजनीतिक आलोचना कहलायेगी। ये आलोचनाएँ ईर्ष्या तथा द्वेष से प्रभावित होकर लिखी जाती हैं तथा इतनी कृत्रिम तथा निकृष्ट होती हैं कि विषसदृग प्रतीत होती हैं। दलवन्दी का आवरण सत्य तथा सुरुचि को ढक देता है। ऐसे आलोचक केवल दोप निकालना तथा विरोधी वर्ग पर गालियों की बौछार करना ही जानते हैं। विरोधी वर्ग के लेखको पर कीचड़ उछालना ही उनका ध्येय है। विश्वासघात, धूर्तता, तथा कपट ही उनके जीवन का ध्येय है। ऐसी आलोचनाओ में रचना को गौण करके व्यक्तित्व पर आघात किया जाता है। रचना भी श्रेष्ठता पर उनका ध्यान नही जाता, उनका उद्देश्य तो लेखक को हीन, निकृष्ट तथा अयोग्य सिद्ध करना होता है। ऐसी आलोचनाओं मे अनर्गल प्रलाप होगा। भावों तथा विचारो की सम्यक् विवेचना नही मिलेगी। कभी-कभी तो दलबन्दी की भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि आलोचक त्रुटि तो दिखा नही पाता केवल यही स्थान-स्थान पर कहता है कि इसमे गुण ही नही। जब तक लेखक उनके दृष्टिकोण को ग्रहण नही करता तब तक उसे कटुक्तियो का ही शिकार होना पड़ता है। वह लेखक पर ऐसी सम्मत्तियाँ आरोपित कर देते हैं जो लेखको की आशा के परे होते हैं।

आलोचना क्षेत्र मे यह वैपम्यता रुचि तथा प्रवृत्ति की विभिन्नता के कारण ही दिखलाई देती है और जब तक यह विभिन्नता समाप्त न होगी तब तक आलोचना क्षेत्र मे वैषम्य बना रहेगा। कुछ मनुष्य तो काव्य की अलकारिक शैली को महत्व देते हैं तथा कुछ सरल, सुबोध तथा स्पष्ट शैली की प्रशसा करते हैं। प्रथम वर्ग तुलनात्मक वाक्यो तथा अलंकारयुक्त भाषा पर बल देगा और दूसरा वर्ग इस शैली को नीरस कहेगा। जब ऐसी स्थिति आ जाये तो दोनो को एक दूसरे से सहानुभूति रखनी चाहिए, जिससे दोनो वर्गो को हानि न हो। जब वे एक दूसरे को समझकर प्रशंसा करते हैं तब साहित्यिक के रूप मे प्रतिष्ठित रहते हैं। परन्तु परछिद्रान्वेषी होने पर वे आलोचक के कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं। जो कलाकर सभ्य देशो से सम्मानित हो चुका है उसकी आलोचना यदि विद्वेषपूर्ण करी जायेगी तो उपहासास्पद होगा

२ हेजलिट 'टेवल टॉक'

तथा असाहित्यिकता का परिचय देना होगा। प्रत्येक पाठक अपनी रुचि के अनुसार कलाकार की प्रशसा करने मे स्वतन्त्र है।

"जिस प्रकार से कलाकारो में विभिन्न रूप की प्रतिभा रहती है उसी प्रकार पाठकों मे भी विभिन्न रुचि स्वाभाविक है।······ जो व्यक्ति यही चाहते हैं कि उनकी रुचि के अनुसार समस्त साहित्य लिखा जाय और उन्ही की रुचि सर्वोपरि रहे साहित्य की आत्मा का हनन करते हैं। वे उसे अपनी सीमित प्रवृत्तियों का दास बना देता है। उसे प्राणहीन कर देते हैं।"[1]

जो आलोचना साहित्य की आत्मा का दिग्दर्शन कराती हो वही श्रेष्ठ समझी जायेगी। श्रेष्ठ आलोचना साहित्य के प्रत्येक पहलू पर विचार करती है। साहित्य के वाह्य आकार पर विचार करना ही वांछनीय नही है।

श्रेष्ठ आलोचक की दृष्टि कवि की शैली, उसके अलकार प्रयोग रचना के सघटन तथा उसकी भावाभिव्यक्ति पर नही जाती। उसका उद्देश्य कलाकार द्वारा प्रस्तुत मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर विचार करना नही होता। वह तर्क द्वारा उसके सिद्धान्तो का खण्डन-मण्डन भी नही करता। आलोचना की यह शैली बहुत प्राचीन है। परन्तु आज इसकी मान्यता नही। आज का आलोचक काव्य की आत्मा से सम्बन्ध रखता है। वह काव्य के वहिर्जगत् को गौण मानता है। आज का आलोचक यदि शेक्सपियर के नाटको की आलोचना करेगा तो वह यह प्रतिपादित करेगा कि किस रहस्यपूर्ण प्रेरणा तथा कल्पना शक्ति के द्वारा उन्होने अपने पात्रो का निर्माण किया और पात्रो के विकास के लिए कौन कौन सी परिस्थितियाँ उत्पन्न की तथा उन पात्रों का हमारे ऊपर कितना प्रभाव पड़ा। कलाकार ने अपने पात्रो मे ऐसी कौनसी जीवनी शक्ति फूँकी जिसके कारण वे आज तक अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। उसके नाटक कहाँ तक सत्य तथा यथार्थ की सीमा मे हैं। श्रेष्ठ आलोचना वही कही जायेगी जिसमे कवि की प्रेरणा, उसकी चेतना तथा उसकी जीवन-दायिनी शक्ति की विवेचना की गई हो। जिस प्रकार श्रेष्ठ दुभापिया एक की वात दूसरे तक सफलतापूर्वक पहुँचा देता है उसी प्रकार कलाकार की प्रेरणा से पाठक को अवगत कराना आलोचक को आवश्यक है। श्रेष्ठ आलोचक साहित्य की आत्मा से पाठक को परिचित करा देता है। कलाकार देवदूत तथा भविष्यवक्ता के रूप मे होता है। उसके शब्दो तथा गीतो की मधुर झंकार से पाठको को परिचित कराना आलोचक का प्रधान कर्त्तव्य है। काव्य या साहित्य की अन्तरात्मा का दिग्दर्शन कराना आलोचना का मुख्य ध्येय है। उसे दूसरो को सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की झाँकी दिखानी होगी। उसे लौकिक तथा आध्यात्मिक भावनाओ का दिग्दर्शन कराना होगा। उसे जीवन की सत्यता को दिखाना होगा। यह कार्य साहित्यिक अभिरुचि, वैज्ञानिक विश्लेषण तथा अनुसन्धान, सिद्धान्तो की व्याख्या तथा दर्शन के प्रयोग से सिद्ध होगा।[2]

---

१ हेजलिट "टेवल टॉक"

२ टामस कार्लायल—"स्टेट ऑफ जर्मन लिटरेचर"।

आलोचक को किसी साहित्यिक कृति का निर्णय न्यायाधीश के रूप मे देना चाहिए। उसे पहले गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए बाद मे दोषो की ओर संकेत करना चाहिए। जिस आलोचक की दृष्टि दोषो पर रहेगी वह अपने कर्त्तव्य से गिर जायेगा। आलोचक की दृष्टि जब विशाल होगी तभी वह सम्पूर्ण कृति को परख सकता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी रचना को प्रथम बार पढने पर उसमे गुण नही दिखाई देता और दोष ही मिलते हैं। किन्तु दो तीन बार पढ़ने से उसके गुण स्पष्ट हो जाते हैं और एक समय ऐसा भी आता है जब केवल गुण ही गुण दिखलाई देते हैं।

किसी भी रचना के गुण दोषों को परखने के लिए आलोचक को पहले यह देखना चाहिए कि कलाकार का वास्तविक उद्देश्य क्या है और कलाकार ने उस उद्देश्य को कार्यान्वित करने के लिए कौनसी परिस्थिति तथा रूप-रेखा निश्चित की और वह अपने अभीष्ट उद्देश्य को स्पष्ट करने में कहाँ तक सफल हुआ। दूसरा सिद्धान्त कलाकार तथा आलोचक के पारस्परिक सम्बन्ध का है। क्या कलाकार का अभीष्ट ध्येय हमारी व्यक्तिगत रुचि अथवा परिवर्तनशील प्रवृत्तियो के अनुसार न होकर सर्वगत सौन्दर्य सिद्धान्तो के अनुसार है? क्या कलाकार का ध्येय तथा उसकी पूर्ति साधारण मानव प्रकृति से सामजस्य रखती है अथवा नही? क्या वह साहित्य वैयाकरणो के नियमो का स्पर्श करता हुआ भी हमारे काल्पनिक जगत के नियमो का अनुसरण करता है? तीसरा सिद्धान्त यह है कि क्या कलाकार के साधन तथा साध्य मे वैषम्य है? क्या वह अपने साधनो द्वारा साध्य को स्पष्ट कर सका है? यदि इन प्रश्नो का उत्तर हाँ में मिलता है तो कलाकार श्रेष्ठ समझा जायेगा और इस निश्चय पर पहुँची हुई आलोचना श्रेष्ठ कही जायेगी।

अत. स्पष्ट है कि बिना पूर्ण तर्क के किसी रचना को दोषी नही ठहराया जा सकता है। जब तक समालोचक रचना के सम्पूर्ण सौन्दर्य को आँकने की क्षमता नही रखता तब तक दोषो को इंगित करने का उसे अधिकार नही। सम्पूर्ण रचना पर विचार करने तथा सामंजस्य देखने पर ही रचना की परख ठीक प्रकार से हो सकती है।[1]

समालोचक को बड़ी ईमानदारी तथा योग्यता के साथ रचना की अन्तरात्मा का अध्ययन करके विषय का निरूपण करना चाहिए। साहित्य के मनन द्वारा सत्य तथा नवीन भावो पर प्रकाश डालना चाहिए।

आलोचक को एकदेशीय दृष्टिकोण से कार्य नही करना चाहिए। उसे यह जानना चाहिए कि किस किस स्थान पर किन-किन विषयो का चिन्तन हुआ है। एक ही विचार विशेष पर अनेक देशो की विचारधारा का प्रभाव पड़ता है। अतः आलोचक को इस व्यापक प्रभाव का लेखा रखना चाहिए। आलोचक के लिए दूसरी महत्वपूर्ण वस्तु है साहित्य का निर्माण तथा उसके विषय। इसका मूल्यांकन करने के

१ टामस कार्यालय "एसे ऑन गर्टा।"

लिए उसे उसकी व्यक्तिगत भावनाओ तथा विचारो को महत्व नही देना चाहिए। उसे रचना को तटस्थ होकर परखना चाहिए। इसी विचारशैली के द्वारा समालोचक साहित्य का सत् निर्माण कर सकता है तथा नवीन भावों तथा विचारो का प्रसार कर सकता है।

आलोचक को साहित्यिक रचनाओ का निर्णायक होना चाहिए। परन्तु उसे अपना निर्णय पक्षपात रहित होकर अपने सहज तथा उपार्जित ज्ञान के द्वारा देना चाहिए। उसके ज्ञान मे जितनी नवीनता तथा स्वच्छता होगी उसकी आलोचना उतनी ही श्रेष्ठ होगी। आलोचक पथ-प्रदर्शक के रूप मे होता है। पाठक समालोचक के माध्यम से ही कलाकार की रचना का मूल्याकन करता है। कभी-कभी आलोचक को प्राचीन ग्रन्थो की आलोचना करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति मे उसे अपने नवीन ज्ञान से काम न लेकर निर्णय क्षमता से काम करना चाहिए। उसकी दृष्टि सिद्धान्तो के निरूपण तथा प्रयोग पर अधिक होनी चाहिए। सारांग यह है कि उसे प्रयोगिक अंशों पर अधिक ध्यान देना चाहिए। उसे यथार्थ की सीमा का अतिक्रमण नही करना चाहिए। उसे समालोचना मे असगति नही आँने देना चाहिए।

परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि सत् समालोचना सिद्धान्तो के केवल यथार्थ प्रयोग पर ही निर्भर है। यदि ऐसा होता तो आलोचना आलोचना न होकर गणित हो जायेगी और क्रियात्मक साहित्य का निर्माण न हो सकेगा।[२]

व्यक्तिगत तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण द्वारा साहित्य के किसी पहलू को परखना न्यायसंगत नही। काव्य के अध्ययन से हमारे हृदय में उदात्त भावनाओ का स्फुरण होता है तथा अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। इन्ही कसौटियो पर साहित्य का मूल्यांकन होना चाहिए। यह तो सत्य है कि बहुत सी कविताओ का ऐतिहासिक महत्व होता है और व्यक्तिगत रूप मे भी महत्व दिया जा सकता है। वैसे कविता स्वत. भी महत्वपूर्ण होती है।[३]

आलोचना करते समय कविता की ऐतिहासिकता पर बल देने से उसका निर्णय आकर्षक होता है। क्योकि सभी देशो की साहित्यिक विकास का इतिहास रोचक तथा ज्ञानवर्धक होता है, परन्तु भय इस बात का है कि यदि इस साहित्यिक धारा की सीमा मे कविता का मूल्याकन किया जायेगा तो उचित महत्व देना कठिन हो जायेगा। ऐतिहासिक रूप मे तो प्रशसा करनी ही पडेगी, क्योंकि किसी कवि विशेष का साहित्यिक धारा मे कुछ न कुछ स्थान होगा ही।

व्यक्तिगत दृष्टिकोण से भी हानि है। कभी-कभी ऐसा होता है कि गुणहीन कविता भी हमे इतनी रुचिकर प्रतीत होती है कि हम उसकी अतिशय प्रशंसा करने लगते हैं। अतः ऐतिहासिक तथा व्यक्तिगत दृष्टिकोण—दोनो ही सत्—समालोचना के लिए घातक हैं। हमारी रुचि विशेष, हमारी सामाजिक प्रवृत्ति, हमारा वातावरण

---

२ मैथ्यूआर्नल्ड—"ऐसेज इन क्रिटिसिज्म"।

३ वही।

हमे किसी विशेष प्रकार की कविता के प्रति व्यापक रूप में आकृष्ट करता है।[४]

"समालोचना शास्त्र की कलात्मक व्याख्या" :—समालोचना जहाँ एक ओर अपनी परिभाषा मे शास्त्र, वहाँ दूसरी ओर वह शास्त्रीय विधित्व मे "कला" शब्द के भाव में चरितार्थ होने वाले अभिप्राय को भी समाहित किए हुए है। कला की परम्परागत श्रेणी में होने से विशेषकर शैली से समालोचना का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण निश्चय ही समालोचना में कला के भाव की सार्थकता के दर्शन होते हैं और इससे यह सिद्ध हो जाता है कि समालोचना स्वयंमेव एक प्रकार की कला है।

समालोचना को कला मानने का यह अभिप्राय नही है कि समालोचना में नियम-निर्धारण की शक्ति ही नही होती अथवा वह किसी अन्य प्रकार के सिद्धान्तों की व्याख्या ही नही करती।

यदि समालोचना मे से नियम निर्धारण व सिद्धान्त निरूपण के तत्वों को पृथक कर दिया जायेगा तो उसका शास्त्रीय महत्व ही समाप्त हो जायेगा।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि **"समालोचना एक वह कला है जो शास्त्रीय निरूपण अथवा नियम निर्धारण का कार्य करती है अथवा समालोचना वह शास्त्र है जो स्वयंमेव कला भी है।"**

"W. Basie Worsfold ने नियम निर्धारण के इसी तत्व को ध्यान मे रखते हुए समालोचना को Exercise of Judgment कहा है यथा—

"Criticism is the exercise of judgment in the province of art and Literature."†

शास्त्र अथवा कला :—अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या समालोचना शास्त्र है अथवा कला है अथवा "उभयसम्बन्धावच्छिन्न विशेष्यता निरूपित-विधि।"

तात्विक दृष्टि से यदि देखा जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि समालोचना मे नियम निर्धारण की ऐसी ही शक्ति तथा क्षमता है जैसी किसी शास्त्र मे हो सकती है। शास्त्र द्वारा किसी भी विषय को नियमो की शृंखला मे बाँध कर उसे गुण, कर्म, विचार आदि के भिन्न-भिन्न रूपो का विश्लेषण तथा वर्गीकरण किया जाता है।

सश्लेषण तथा विश्लेषण की यह प्रक्रिया समालोचना मे प्रचुर रूप मे विद्यमान है।

समालोचना में उन नियमो तथा सिद्धान्तों की व्याख्या तथा विवेचन विपुल रूप मे प्राप्त होता है जिनके आधार पर किसी भी रचना की आलोचना की जाती है।

---

४ मैथ्यूआर्नल्ड—"वॉर्ड्स पोयेट्स"।

† Judgement in Literature.

यह तो सत्य है कि जहाँ समालोचना एक शास्त्र है, वहाँ दूसरी ओर वह कला के रूप मे भी प्रतिष्ठित है, क्योकि शास्त्र मे जिन नियमो तथा सिद्धान्तो का निरूपण होता है, समालोचना उन्ही को कार्य रूप मे प्रयोग मे लाती है।

समालोचना मे वे सभी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं जो एक शास्त्र मे होती हैं। शास्त्र के समान समालोचना मे भी किसी रचना विशेष के गुण, कर्म, स्वभाव आदि की व्याख्या की जाती है और यह व्याख्या शास्त्र द्वारा प्रतिपादित नियमो के आधार पर होती है।

अतः शास्त्र द्वारा निर्मित नियमो वा सिद्धान्तो को प्रयोग मे लाने के कारण समालोचना कला के रूप मे भी प्रतिष्ठित हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि "जहाँ समालोचना सिद्धान्तों, नियमों एवं तथ्यों का निश्चय करती है वहाँ वह शास्त्र है, और जहाँ वह शास्त्र द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को कार्य रूप मे परिणत करती है वहाँ वह कला भी है।"

समालोचना शास्त्र तथा अन्य शास्त्र—यों तो समालोचना का संबंध सभी शास्त्रो से है तथापि कतिपय शास्त्रो से उसका सम्बन्ध विशेष रूप से है। समालोचना शास्त्र से विशेष रूप से सम्बन्धित निम्नलिखित शास्त्र हैं।[1]

(१) व्याकरण शास्त्र (२) भाषा शास्त्र (३) तर्क शास्त्र (४) सौन्दर्य शास्त्र (५) मनोविज्ञान शास्त्र (६) दर्शन शास्त्र (७) रस शास्त्र (८) अलंकार शास्त्र (९) छन्द शास्त्र (१०) समाज शास्त्र (११) राजनीति शास्त्र (१२) नागरिक शास्त्र (१३) नीति शास्त्र (१४) शैली (१५) विज्ञान (१६) इतिहास +भूगोल।

इन शास्त्रो के अतिरिक्त समालोचना का परोक्षरूप से राजनीति शास्त्र तथा अर्थशास्त्र आदि से परम्परागत व्यवहारिक सम्बन्ध है।

समालोचना की आधार वृत्तियाँ—समालोचना की तीन आधार वृत्तियाँ हैं :—

१—चयन, २—जिज्ञासा और ३—अहम्।

मानव मे समीक्षा की प्रवृत्ति स्वाभाविक तथा जन्मजात है। मानव मे बाल्यकाल से ही रुचि, अरुचि, प्रिय, अप्रिय की भावना होती है। मानव की यह चयन-वृत्ति सदा सजग तथा सचेष्ट रहती है। हम ये जानते हैं कि दुग्ध पौष्टिक पेय है। परन्तु किसी कारण विशेष से दुग्ध से बालक को अरुचि हो जायेगी तो वह उसे पीने का निषेध करता है। यदि बलपूर्वक उसे पिलाया भी जाये तो वह हाथ पैर पटक कर उसे गिराने का प्रयत्न करेगा। यह वृत्ति ही चयन वृत्ति या रुचि (अर्थात् "अपने मन के अनुकूल व्यक्ति या वस्तु को चुन कर ग्रहण करना") कहलाती है।

---

१ यहाँ हमने समालोचना शास्त्र का अन्य शास्त्रो से सम्बन्ध का निर्देश किया है। विस्तार रूप से पृथक-पृथक विवेचन नही किया।

मनुष्य मे जिज्ञासा की वृत्ति भी स्वाभाविक होती है। प्रत्येक अज्ञात, नवीन तथा अद्भुत वस्तु के प्रति उसके हृदय मे कौतूहल उत्पन्न होता। वह उसका परिचय उपभोग तथा विवरण जानने के लिए उत्सुक रहता है। यह वस्तु क्या है? कहाँ से आई? इसका क्या उपयोग है? यह क्या करती है? इसके क्या लाभ हैं? आदि प्रश्नों का जन्म इस जिज्ञासा वृत्ति के फलस्वरूप ही होते हैं।

मनुष्य में एक दूसरी स्वाभाविक वृत्ति और है जिसके द्वारा वह अपनी, अपने सम्बन्धियो की, अपने मित्रों की अथवा अपने सम्बद्ध व्यक्ति तथा वस्तुओ की बुराई नही सुन सकता। उसकी यह वृत्ति केवल यही तक ही सीमित नही है। वह अपने को तथा अपने प्रियजनो को तथा वस्तुओ को अन्य मनुष्यो तथा वस्तुओ से श्रेष्ठ समझता है। यह मानव की अहवृत्ति है। इस वृत्ति की प्रधान मान्यता यह है कि जो वस्तु मुझे प्रिय तथा सुन्दर हैं वे दूसरो को भी लगें। जिसे मैं कहूँ उसे दूसरे स्वीकार करे तथा उनका मत ही समीचीन समझा जाये। "हमारे अतिरिक्त दूसरा कोई कुछ है ही नही" यह अह भावना का मूल तत्व है। यह वृत्ति ही समालोचना की मूल प्रेरणा शक्ति कही जायेगी।

विश्व साहित्य की समालोचना पद्धतियो पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमे व्यापकरूप से यह तीनो तत्व मिल जाते हैं—(१) चयनवृत्ति, (२) जिज्ञासा वृत्ति और (३) अह वृत्ति। इन तीनो वृत्तियो ने ही कभी समन्वित होकर कभी अकेले साहित्यिक वृत्तियो की समीक्षा के लिए मनुष्यों को प्रेरित किया है।

यद्यपि समीक्षा-क्षेत्र में चयन, जिज्ञासा और अहं—ये तीनो वृत्तियाँ ही कार्य करती हैं किन्तु समीक्ष्यवादियों ने चयन, जिज्ञासा और अह तीनो वृत्तियों का परिष्कार तथा परिमार्जन कर व्यापक बना दिया है और इस प्रकार व्यक्तिगत से समष्टिगत तथा एकदेशिक को सार्वभौम मे परिणत कर दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि "उन्होंने संकुचित चयन, जिज्ञासा और अहं को इतना व्यापक बना दिया कि उस व्यापक चयन वृत्ति, व्यापक जिज्ञासा वृत्ति और व्यापक अहं वृत्ति से किसी कलाकृति या साहित्यिक कृति का परीक्षण कर लेने पर जो परिणाम निकाले जायें वे मानव मात्र द्वारा अनुमोदित तथा मान्य हों। ऐसे व्यापक परिणामों या सिद्धान्तों का संस्थापन ही समीक्षा शास्त्र है और उन व्यापक सिद्धान्तों के अनुसार परीक्षण करना ही समीक्षा है। यही तात्विक समीक्षा-दर्शन है।"*

साहित्य मे समालोचना की उपादेयता:—आलोचनाये भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं, किन्तु उनका मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठको की उस प्रकार के आस्वाद मे सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एव साहित्य की गति-विधि निर्धारित करने मे योग देना है।

"साहित्य जब अपने रूप का विश्लेषण स्वयं करने लगता है तब समालोचना

---

* समीक्षा शास्त्र

का जन्म होता है" इसका अभिप्राय यह है कि साहित्य में प्रथमतः लक्ष्य ग्रन्थों का निर्माण होता है, फिर लक्षण ग्रन्थो का। सर्वप्रथम लक्ष्य ग्रन्थों की विशेषताओं के आधार पर कुछ सिद्धान्त निर्मित किये जाते हैं और फिर साहित्य की किसी भी कृति को उस कसौटी पर कस कर उसका मूल्याकन किया जाता है।

साहित्य क्षेत्र में ग्रन्थ को पढ कर उसके गुणो-दोषो का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है। यह आलोचना काव्य, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि सभी की हो सकती है। गुण-दोषों की इस प्रकार की विवेचना साहित्य में आवश्यक भी है, क्योंकि साहित्य का सम्बन्ध जीवन की व्याख्या, नीति, समाज आदि अनेक बातो से होता है और इसी कारण उसके गुणो और दोषों के विवेचन की भी आवश्यकता होती है। अच्छा आलोचक साधारण पाठको की अपेक्षा अधिक ज्ञान सम्पन्न होता है, उसका अध्ययन भी अधिक गम्भीर और पूर्ण होता है और इसीलिए वह किसी कवि या लेखक की कृति के भिन्न-भिन्न अगो पर प्रकाश डाल कर पाठकों को अनेक नवीन बातें बतलाता है और अनेक नवीन मार्गो का अवलोकन कराता है। वह हमारे मार्ग मे एक अच्छे मित्र और पथप्रदर्शक का कार्य करता है। यह हमें मार्ग दर्शन करता है कि हमें किस प्रकार के साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। आलोचना के द्वारा ही पाठक के ज्ञान की वृद्धि होती है। साहित्य के नाम पर बहुत सी ऐसी कृतियो का सृजन होता है जो पठनीय नही हैं और जो समाज के लिए घातक हैं तो क्या पाठको को ऐसी पुस्तको का अध्ययन करके अपने समय को नष्ट करना चाहिए? यही पर आलोचना का महत्व स्पष्ट हो जाता है। समालोचना समाज को ऐसी कृतियो को पढने के लिए बाध्य करती है जो उच्चकोटि की हैं तथा समाज के मस्तिष्क का विकास कर उसे उन्नत बनाती हैं।

यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की भी व्याख्या मानना पड़ेगा। साहित्य मे जीवन की भी व्याख्या मिलती है। किन्तु आलोचना उस व्याख्या को और भी अधिक स्पष्ट कर पाठको के लिए बोधगम्य बनाती है। अतः उसका महत्व तथा उपादेयता तो स्वय सिद्ध है। जिस प्रकार श्रेष्ठ कलाकार ऐसी कृतियो का निर्माण करते हैं जो समाज के जीवन को मंगलमय बनाये उसी प्रकार आलोचक भी साहित्य मे प्रतिपादित जीवन के भ्रमपूर्ण व्याख्यानों का निराकरण करता है।

किसी भी लेखक की कोई कृति समालोचक के माध्यम से ही समाज के समक्ष आती है। समालोचक किसी कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या करता है और उसके सम्बन्ध में अपना मत स्थिर करता है, जिससे पाठक कवि के विचारो तथा भावो से पूर्ण रूप से अवगत हो सके। आलोचक यह देखता है कि किसी कलाकार की कृति में कला या नीति आदि के कौन-कौन सिद्धान्त हैं उस ग्रन्थ में जो गुण छिपे होंगे, उनको वह प्रकाशित करेगा और उसमें इधर-उधर बिखरे हुए तत्त्वो को एकत्र करके उन पर विचार करेगा। इस प्रकार वह बतलाता है कि

विषय, भाव और कला आदि की दृष्टि से वह ग्रन्थ कैसा है और इस प्रकार ग्रन्थ के गुण या दोष पाठकों के समक्ष आप से आप स्पष्ट हो जाते हैं।

साहित्य के निर्माण में समालोचना का महत्व अनुपम है। आलोचक नैतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से किसी कृति का मूल्यांकन करता है वह चाहे जिस दृष्टि से और चाहे जिस प्रकार विचार करे उसका एकमात्र उद्देश्य यही होगा कि वह स्वय उस ग्रन्थ तथा उसके कर्त्ता का अभिप्राय समझे और दूसरों को भी समझावे।

आलोचना अपने कठिन प्रहारो से साहित्य में बहती हुई गन्दी धाराओं तथा व्यर्थ की रूढियो को छिन्न-भिन्न कर देती है और साहित्य की धारा को मनोवांछित मोड देती है जिससे साहित्य मे एक नवीन गति तथा नया जीवन आ जाता है। समालोचना उस प्रकाश सूर्य के समान है जो साहित्य के अन्तर्गत बिखरी हुई अनन्त विभूतियो को आलोकित करके उन्हे सौन्दर्य प्रदान करके मानव जीवन के लिए उपयोगी बनाता है और जिसके अभाव मे समाज इन अनन्त विभूतियो से वंचित रह जाता है।

यदि समालोचना का प्रकाश सूर्य रामचरित मानस को आलोकित न करता तो समाज उसकी असख्य विशेषताओ एवं उससे प्राप्त होने वाले अनेक लाभों से वचित रह जाता और सम्भवतः ऐसा अज्ञान के अन्धकार का युग आता जिसमें आसुरी वृत्तियो की प्रमुखता होने के कारण उनके नाममात्र भी लुप्त हो जाते। महाकाल के गर्भ मे कोई ऐसा समय भी आया हो जिसमे आज से भी उत्तम रत्न साहित्य भण्डार में हो जिनका आज समालोचना के अभाव मे अस्तित्व भी नही मिलता।

यह तो सत्य है कि आलोचना इन्ही ग्रन्थो की होती है, जो प्रस्तुत और प्रकाशित हो चुके हैं। इसलिए कुछ विद्वानो की धारणा है कि आलोचना से केवल पुराने ग्रन्थो के गुण-दोष ही प्रकट होते हैं, नवीन साहित्य की श्रीवृद्धि में उससे कोई विशेष सहायता नही मिलती। कुछ मनुष्यो का तो यहाँ तक विचार है कि आलोचना से नए साहित्य की सृष्टि मे बाधा पड़ती है। परन्तु यह मत उचित नही। आलोचना तो साहित्य का उचित मार्ग दर्शन करती है। जिस प्रकार जब स्वतन्त्रता की मात्रा बढकर उच्छृंखलता का रूप धारण कर लेती है, उस समय कठोर शासन की आवश्यकता होती है और जिस समय शासन की कठोरता, भयकरता और उद्दण्डता बढ जाती है, उस समय फिर से स्वतंत्रता की स्थापना होती है। साहित्य के क्षेत्र में ठीक यही दशा नवीन ग्रन्थो की रचना और आलोचना की है। जिस समय लेखक **"नियतिकृत नियम रहितां"** मानकर मनमानी रचना करने लगता है उस समय आलोचक के अंकुश की आवश्यकता होती है। आलोचना का अकुश लोगों को मनमाने रास्ते पर चलने से रोकता है और उन्हे उचित मार्ग पर चलने के लिए बाध्य करता है। कुछ समय तक मनुष्य आलोचना द्वारा निर्धारित सीमा पर चलते रहते हैं परन्तु कालान्तर मे उस सीमा का अतिक्रमण कर नये मार्ग खोजने लगते

है। जब वे कोई नवीन मार्ग खोज लेते हैं, तब आलोचक उस मार्ग के कंटक आदि दूर कर उसे परिष्कृत करने लगते हैं और लोगो को पतन की ओर जाने से बचाते हैं। अतः यह कहना उचित नही कि आलोचना साहित्य की सृष्टि में बाधक है। आलोचना तो सदैव साहित्य का अनुसरण करती हुई उसका नियन्त्रण एवं शासन करती है।

आलोचना साहित्य की धारा को ऐसा कल्याणकारी मोड़ देती है जिसमें भविष्य की काव्यधारा भी उसके निर्देगित मार्ग पर चल सके। प्रत्येक देश का साहित्य इस तथ्य का साक्षी है कि समर्थ समालोचको ने किस प्रकार साहित्य सृजन की दिशा को बदल दिया है। साहित्य की धारा को जनकल्याणकारी बनाना ही उसे अभीष्ट है। अकेले महावीरप्रसाद द्विवेदी ने रीतिकालीन शृंगार से पूर्ण गन्दी धारा को रोक दिया जो विलासप्रिय राजाओ को उन्मत्त करने वाली थी तथा समाज के मानसिक स्वास्थ्य को नष्ट कर रही थी। यदि महावीर प्रसाद द्विवेदी उस युग मे न हुए होते तो पता नही कि आज साहित्य सृजन की क्या दिशा होती। आज उनकी विलक्षण प्रतिभा पर आश्चर्य होता है कि किस प्रकार अकेले एक व्यक्ति ने साहित्य की धारा को कल्याणकारी मोड दे दिया। क्या द्विवेदी जी की आलोचनाएँ साहित्य सृजन मे बाधक सिद्ध हुई। यह कहना न्यायसंगत नही। द्विवेदी जी ने साहित्य को प्रोत्साहन देकर केवल साहित्य की ही उचित श्रीवृद्धि नही की है, अपितु हिन्दी साहित्य को महान कलाकार भी दिये हैं। कविवर मैथिलीशरण गुप्त उनकी अभूतपूर्व देन है। यदि समय-समय पर आलोचक साहित्य में उच्छृखलता तथा गन्दगी को दूर न करते तो आज हमारा साहित्य "तोता-मैना" जैसी अश्लील तथा कुरुचिपूर्ण कृतियो से पूर्ण होता।

यह तो सभी स्वीकार करते हैं 'समीक्षा का प्रयोजन है लेखकों का मार्ग दर्शन करना और जनता की रुचि के परिष्कार के लिए विधान बनाना।' हौरेस ने भी पथ-प्रदर्शन करने वाली समीक्षा के आदर्श का समर्थन किया है। स्कालिगर ने तो यहाँ तक गर्वोक्ति की थी—'इसलिए हम कवि निर्माण करने का दायित्व लेते है।' मनोविश्लेपणवादियो तथा अस्पष्टतावादियो ने आधे रूप मे तथा मार्क्सवादियो ने पूर्ण रूप में स्वीकार किया है कि समीक्षा का ध्येय "लेखको का पथ-प्रदर्शन" करता है।

आलोचना हमे साहित्याध्ययन मे सहायता देती है। साहित्य के प्रभाव को तीव्र करती है तथा पाठको को साहित्य मन्दिर मे प्रवेश करने की शक्ति, क्षमता तथा श्रुद्धा प्रदान करती है। समालोचना की सहायता के बिना अनेक स्थल अस्पष्ट तथा धुँधले रहेगे, उनका प्रभाव क्षीण हो जायेगा तथा वे हमारे हृदय से दूर रहेगे। आलोचना श्रेष्ठ कृतियो के अध्ययन के लिए वाध्य करती है तथा हमे अल्प समय मे ही श्रेष्ठ तथा निकृष्ट साहित्य की परख हो जायेगी। यदि आलोचक आलोचनाएँ न लिखें तो पाठक वर्ग अपने गन्तव्य को विस्तृत कर भटकता रहेगा और अपना मानसिक शक्ति का सदुपयोग न कर सकेगा। समालोचना जनता की रुचि को ऐसा

परिष्कृत कर देती है कि जो वस्तु क्रिया या आचार-विचार समालोचक की दृष्टि से श्रेष्ठ, सुन्दर, भव्य और रुचिकर होते हैं, उन्हें जनता भी सुन्दर, भव्य तथा रुचिकर समझने लगती है।

इस प्रकार समीक्षा जहाँ एक ओर लेखकों की सेवा करती है वहाँ दूसरी ओर जनता की भी सेवा करती है। हौरेस, वीदा, ब्वालो और पोप आदि का विचार था कि 'लेखकों को अच्छे समालोचकों से निरन्तर परामर्श लेते रहना चाहिए।" सेन्त ब्यूवे ने कुछ व्यापक रूप मे कहा है—"जनता द्वारा किया हुआ मूल्यांकन ऐसा होना चाहिए कि उसकी सेवा सहायता से लेखक अपने को भली भांति समझ सके और अपना उचित मूल्यांकन कर सके।" इसी का समर्थन करते हुए आर्नल्ड ने भी लिखा है—"किसी भी रचना में सफलता प्राप्त करने के लिए उसके सम्बन्ध में भरपूर समीक्षा का प्रयास कर लेना चाहिए" अर्थात उसकी छानबीन या तो स्वयं करनी चाहिए अथवा दूसरों से करा लेना वांछनीय है। समालोचना ही किसी विशेष लेखक का अभिप्रशसन करके केवल उस लेखक का ही कल्याण, हित तथा उचित मार्ग दर्शन नही करती अपितु उस अभिप्रशंसन या समीक्षा द्वारा वह व्यापक रूप से सब लेखको के लिए ऐसा पथ-प्रदर्शन करता है, जिससे लेखक न तो रूढि से ही ग्रस्त रहे और न रूढि से पूर्णतः पृथक ही रहे। लेखक समालोचना की सहायता से ही किसी विशेष साहित्यिक रचना के लिए विषय-सामग्री अच्छी प्रकार से चुनने, सग्रह करने, सजाने और प्रयोग करने का कौशल जान पडता है। अर्थात् नवीन रचना करते समय समीक्षा के सिद्धान्तो का आधार लेकर यह परिचय प्राप्त कर सकता है कि मुझे अमुक रचना के लिए कहाँ से सामग्री प्राप्त होगी? उस सामग्री का कितना अश उसके लिए ग्रहणीय है। इस ग्राह्य सामग्री को आकर्षक बनाने के लिए किस क्रम से रखकर अलंकृत किया जाय। और किस प्रकार रचना में सामग्री का उपयोग होना चाहिए? अतः इस क्षेत्र में भी समालोचना की उपादेयता स्वयं सिद्ध है।

समीक्षा द्वारा जनता की सेवा से अभिप्राय यह है कि समालोचक सदैव यह प्रयत्न करता है कि वह जनता को दूपित साहित्य से सावधान करके बचावे और सत्साहित्य की ओर प्रवृत्त करे। सेन्त ब्यूवे ने स्पष्ट लिखा है—"समीक्षा का कार्य ही यह है कि वह समाज में स्वस्थ रुचि उत्पन्न करके तथा साहित्य की श्लाघ्य परिपाटियाँ स्थापित करके समाज को समुन्नत करें और उसके शील तथा सदाचार को पुनः व्यवस्थित करे।" मेथ्यू आर्नल्ड की अग्राङ्कित परिभाषा से भी यही बात ध्वनित होती है—"संसार में आज तक जो कुछ भी जाना या विचारा गया है उसमें से सर्वश्रेष्ठ को ग्रहण करके उसके प्रचार का प्रयास करना ही समीक्षा है।" आउडन ने भी इसी मत को दोहराते हुए कहा है—"समीक्ष्यवादी का कर्त्तव्य, अतीत की संस्कृतियों के ज्ञान का प्रसार करना भी है तथा पाठक को मानव जीवन में व्याप्त एकता, उसके (समीक्ष्यवादी के) अपने अनुभव के साथ कल्पकृति की संगति या मेल तथा कलात्मक महत्वों का अन्य महत्वों से सम्बन्ध का परिचय देना भी है।" कार-

लाइल का विचार है कि "समीक्षा का उद्देश्य जानना और जतलाना है।" टी० एम० ईलियट लिखते हैं—समीक्षा तो "सज्ञानता का विकास है।"

इनके अतिरिक्त आलोचना की एक और भी उपयोगिता है। आलोचना लेखक के उपयुक्त पाठक वर्ग उपस्थित करती है और उसकी कृति के अध्ययन के लिए उचित वातावरण प्रस्तुत करती है और जब लेखक की कृति सम्मुख आती है तो पाठक वर्ग उसे उत्सुकतापूर्ण ग्रहण करता है। इस दृष्टि से आलोचना की शक्ति और महत्ता तथा उपयोगिता अतुलनीय है। लेखक को भी इस बात का ज्ञान हो जाता है कि हमारा पाठक वर्ग कैसा है। उसकी शिक्षा, दूर की सूझ, समझने की क्षमता कैसी है और फिर वह इसी दृष्टि से अपनी रचना करता चलता है। फलस्वरूप साहित्यकार जो रचना पाठको को देगा वह सर्वथा पाठक की रुचि तथा मानसिक स्तर के अनुकूल होगी। प्रायः श्रेष्ठ कलाकार अपने समय से पूर्व जन्म ग्रहण करते हैं, और बहुत दिनो बाद उनकी कला का मूल्यांकन किया जाता है। समालोचना प्रतिभावन कलाकारों को अपनी प्रतिभा नियन्त्रित करने तथा समाज की रुचि विशेष का ध्यान रखने की ओर प्रेरित करती है और इस प्रकार दोनो की रक्षा करती है। इसका यह अभिप्राय नही है कि समालोचना कलाकार की सहज प्रतिभा को कुंठित करके उसे प्रकाशित न होने दे। प्रतिभाशाली कलाकार की यह स्वाभाविक वृत्ति है कि वह समाज की उपेक्षा करता हुआ अपनी प्रतिभा के द्वारा अपनी बात पर दृढ रहता है। इस अति की रोकथाम समालोचना के द्वारा ही होती है और इस दृष्टि से समालोचना अति हितकर है।

समालोचना की विशिष्ट उपयोगिता यह भी है कि इसके द्वारा समाज की साहित्यिक रुचि का संशोधन तथा परिमार्जन होता है। साधारणतः समाज की साहित्यिक अभिरुचि निम्नस्तर की होती है और आलोचना सदैव इस बात का प्रयत्न करती है कि समाज की साहित्यिक रुचि का स्तर न गिरे। यदि ऐसा न होगा तो साहित्यकार की साहित्यिक प्रतिभा को ठेस लगेगी और समाज के लिए उपयोगी भी न होगी। इस दृष्टि से समालोचना की उपादेयता तथा आवश्यकता स्वय प्रमाणित हो जाती है।

कभी-कभी साहित्यकार तथा समाज दोनों मे ही एकागी दोष आ जाता है। और पक्षपात की भावना अपना इतना व्यापक प्रसार कर लेती है कि संतुलन की भावना भी समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थिति में आलोचना की अत्यन्त आवश्यकता है। क्योकि समालोचना ही साहित्यिक पक्षपात की भावना नष्ट करके सन्तुलन की भावना का प्रसार करती है। वह पक्षपात की भावना को दूर करके साहित्यकार की प्रतिभा की रक्षा तथा पाठक वर्ग की सुरुचि का विकास करता है। साहित्य गगन के वैषम्य को दूर करने में भी आलोचना अत्यन्त उपयोगी है।

कभी कभी लेखक तथा पाठक दोनो मे ही मानसिक रुग्णता आ जाती है और स्वस्थ्य साहित्य की वह उपेक्षा करने लगते हैं। स्वस्थ्य साहित्यिक विचार उन्हे ग्राह्य नही होते। वे अपने आनन्द के लिए मानसिक रुग्णता बढ़ाने वाले साहित्य को

चाहते हैं। आलोचना ही इस मानसिक रुग्णता को दूर करती है। आलोचना स्थान स्थान पर यह आदेश देती रहती है कि कौनसी साहित्यिक प्रवृत्ति रुचिकर तथा हितकर है तथा लेखक और पाठक का कल्याण किस प्रकार के साहित्य से हो सकता है। आलोचना के द्वारा ही पाठक वर्ग तथा साहित्यकार अपने कर्त्तव्य को समझ पाते हैं। अतः समालोचना कुरुचि की वृद्धि को रोककर स्वस्थ भावना का प्रसार करती है और इस प्रकार इस रुग्णता का शमन हो जाता है।

जिन व्यक्तियो के पास प्राचीन अथवा नवीन कृतियों के पढने का अवकाश नही होता उनके लिए तो समालोचना और भी अधिक उपयोगी तथा अनिवार्य है। उनके पास इस बात का अवकाश नही होता कि वह यह जाने कि कौन-कौनसे ग्रन्थ साहित्यिक क्षेत्र मे मूल्यवान हैं तथा साहित्य क्षेत्र मे कौन कौन कार्य कर रहे हैं। अतः उनके लिए ऐसे साधन की आवश्यकता है जिसके द्वारा वे अल्प समय में ही नवीन प्रकाशनों तथा प्राचीन मूल ग्रन्थो का ज्ञान प्राप्त कर सके। आलोचना ने अपनी क्षमता से इस कार्य को सफलतापूर्वक संम्पन्न किया है। इस क्षेत्र में भी आलोचना की उपयोगिता महनीय है।

अव प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या समालोचना कलाकार के चरित्र अथवा उसके व्यक्तित्व का भी लेखा प्रस्तुत करे ? क्या आलोचना की सीमा में कलाकार के चरित्र का विवेचन नही होना चाहिए ? यदि आता है तो उसने साहित्य के विवेचन मे सहायतः मिलती है अथवा नहीं ? बहुत समय तक समालोचक अपना प्रथम कर्त्तव्य साहित्यकार के चरित्र और उसके व्यक्तित्व का भली भाँति विवेचन करने के उपरान्त कृति का मूल्यांकन करने में समझता रहा। जिसका परिणाम यह हुआ कि आलोचको ने साहित्यकारों के चरित्र, उनकी पारिवारिक प्रतिष्ठा तथा उनकी अनेक न्यूनताओं पर कटु बौछारे की। इस प्रवृत्ति से साहित्य को क्षति पहुँची और साहित्यकार का बहुत सा समय वाद विवाद में नष्ट हो गया। लेकिन बाद में इसका परिणाम कुछ अच्छा भी रहा। इसके द्वारा श्रेष्ठ आलोचनात्मक विचारों की सृष्टि हुई, श्रेष्ठ साहित्य सिद्धांतों का निर्माण हुआ और एक ऐसी गद्य शैली की प्रतिष्ठा हुई जो आज भी अपना अस्तित्व बनाए हुए है।

अतः स्पष्ट है कि आलोचना जनरुचि का परिष्कार एवं प्रसादन कर साहित्य की वृद्धि मे उचित योग देती है। आलोचना जन-समाज को परिष्कृत एवं सुरुचिपूर्ण करके साहित्य का मार्ग प्रशस्त करती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साहित्य के क्षेत्र मे समालोचना का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली है। मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है—**"लोक सामान्य संस्कृति और प्रतिभा के विकास के लिए जो उर्वर क्षेत्र आवश्यक है उसके उच्च स्तर के पोषण में भी समीक्षा सहायक हो सकती है।"** अभिप्राय यह है कि समीक्षा के द्वारा हम व्यापक रूप से जनता का उच्चतर सांस्कृतिक तथा बौद्धिक विकास कर सकते हैं। समीक्षा के द्वारा जनता की रुचि और वृत्ति का परिष्कार

तो होता ही है साथ में उनकी सौंदर्य भावना तथा विवेचना वृत्ति का भी संवर्द्धन होता रहता है।

वास्तव में स्वयं समालोचक के लिए भी समीक्षा सदा मार्गाभिनिर्देशन का ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा वह यह जानता है कि "मुझे किसके लिए क्या बात, कब, किस परिस्थिति के अनुसार, किस ढंग से कहनी चाहिये।" "श्री सीताराम चतुर्वेदी इस सम्बन्ध में लिखते हैं:—"अभिव्यक्ति की इस व्यापक शैली के ज्ञान के साथ उसके विवेक का तथा सौन्दर्य के उचित अभिव्यंजन तथा गुण ग्राहकता की भावना भी अभिवर्धन होता चलता है जिससे उसकी सौन्दर्य भावना तथा विवेचना वृत्ति का परिष्कार हो जाता है और उसकी स्वाभाविक चयन-वृत्ति, जिज्ञासा-वृत्ति और अहंवृत्ति अधिक संयत तथा सुप्रवृत्त हो जाती है।"

अतः स्पष्ट है कि साहित्य क्षेत्र में समालोचना की उपयोगिता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावशाली है।

समालोचना का उद्देश्य:—समालोचना में किसी वस्तु का व्यापक तथा सांगोपांग विवेचन होता है। उसमें विशेषताओं का अभिव्यंजन तथा तत्त्वों का विश्लेषण भी होता है। सावधान या संकेत करने के लिए दोषों का भी उद्घाटन किया जाता है। रचना को स्पष्ट करने के लिए कवि के उद्देश्य, उसके युग की समस्या, कवि पर उसका प्रभाव, रचना की परिधि, अन्य काव्यों से उसकी तुलना तथा आगे के लिए आदेश आदि का भी वर्णन रहता है। अतः इन सब दृष्टियों से समालोचना के निम्नलिखित तीन उद्देश्य होते हैं—

(१) विवेचन, (२) तुलना, (३) प्रेरणा।

(१) विवेचन:—विवेचन के द्वारा ही समालोचक वैज्ञानिक के समान आलोच्य वस्तु के सब अंगों का विश्लेषण, युगप्रवृत्ति का कवि पर प्रभाव कवि का उद्देश्य काव्य के गुण और दोष आदि की व्याख्या करता है।

(२) तुलना—इसके अन्तर्गत वह किसी विशेष रचना की तुलना उसी कवि की अन्य रचनाओं से तथा उसी भाषा तथा अन्य भाषाओं के कवियों से करता है।

(३) प्रेरणा—इसके अन्तर्गत समालोचक के वे सभी सिद्धांत आयेंगे जिनके द्वारा वह यह इंगित करता है कि इस प्रकार किसी रचना का आनन्द लो, इस प्रकार औरों को इस रचना का सौन्दर्य बताओ, इस प्रकार के दोष से सचेत रहो, इस प्रकार की रचनाओं की ओर प्रवृत्त हो तथा इस प्रकार से रचना करो।"

आलोचना का वर्गीकरण

साहित्यकारों ने अनेक आधार पर आलोचना को वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है। कुछ लेखकों ने आलोचना का वर्गीकरण विषय के आधार पर किया है और इस सिद्धान्त के अनुसार दर्शन, अर्थशास्त्र, व्याकरण, जीवन शास्त्र इत्यादि के आधार पर आलोचना का वर्गीकरण—दार्शनिक आलोचना, अर्थशास्त्रीय आलोचना,

व्याकरणात्मक आलोचना इत्यादि वर्ग के नामों से किया जा सकता था। कुछ लेखकों ने देश के नाम के आधार पर आलोचना के वर्ग बनाये है। इस प्रकार अंग्रेजी, अमरीकन, रूसी तथा फ्रासीसी आलोचना प्रणाली का नामकरण रखा गया। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से ये आधार उपयुक्त नही कहे जा सकते। श्रेष्ठ विद्वानो ने प्रणालियो के आधार पर आलोचना का वर्गीकरण किया है। इस सिद्धान्त के आधार पर अनुभवात्मक, ऐतिहासिक, निर्णयात्मक, वैज्ञानिक, तुलनात्मक, ऐतिहासिक जीवन वृत्तान्तीय, नैसर्गिक, रीति, मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिवादी, क्रियात्मक, कार्यात्मक, व्यक्ति प्रदर्शन, तीव्रानुभूति, अभिव्यंजनावादी तथा प्रगतिवादी अन्याय आलोचना प्रणालियाँ बनाई गई।

(१) अनुभवात्मक आलोचना प्रणाली :—अनुभवात्मक आलोचना प्रणाली का जन्म आलोचना क्षेत्र मे सम्भवतः सर्वप्रथम हुआ। अंग्रेजी साहित्य क्षेत्र मे भी लगभग तीन सौ वर्षो से यह अपना अस्तित्व बनाये हुए है। इस प्रणाली में कुछ अभाव है, जिनको इस प्रणाली के प्रवर्त्तकों ने भी स्वीकार किया और भविष्य के विचारको से उनमें सुधार तथा विकास की प्रार्थना की। अनुभवात्मक आलोचना प्रणालियो के आलोचको में तीन गुणो का होना अत्यन्त आवश्यक है—(१) निरीक्षण क्षमता, (२) विश्लेषण की क्षमता, (३) वर्गीकरण की सूझ।

अनुभवात्मक आलोचना प्रणाली के लिए यह सिद्धान्त माना गया है कि वैज्ञानिक रूप में प्रत्येक रचना का अध्ययन होना चाहिए और आलोचना को भी इसी वैज्ञानिक विधि के आधार पर नियमो तथा साहित्यिक विधानो का निर्माण होना चाहिए। परन्तु इस सिद्धान्त मे कुछ कठिनाइयाँ दृष्टिगोचर होती है। वैज्ञानिक नियमो तथा प्रयोगो मे स्थायित्व होता है, परन्तु साहित्य क्षेत्र मे यह गुण नही आ सकता। क्योकि काव्य का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर भिन्न-भिन्न पड़ता है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि-वैचित्र्य के अनुसार उनकी विवेचना करते है।

यदि मानव के अन्यान्य अनुभव—जैसे भय और प्रीति, ईर्ष्या और घृणा, गर्व तथा प्रतिस्पर्द्धा का विवेचन तथा अध्ययन किया जाय तथा आलोचको की रुचि वैभिन्य का वर्गीकरण विधिवत् किया जाय तो साहित्य क्षेत्र मे भी विज्ञान के समान स्थायित्व की भावना आ सकती है और आलोचना का कार्य भी सरल हो जायेगा।

अनुभवात्मक आलोचना प्रणाली के आलोचको को तीन विशेष नियमो पर ध्यान देना पड़ता है। प्रथम उसे श्रेष्ठता के आधार पर साहित्य का वर्गीकरण करना होगा। फिर उसके पश्चात् प्रत्येक वर्ग की श्रेष्ठता तथा विशेपता का अध्ययन करना चाहिए। दूसरे उसे सिद्धान्त रूप मे इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि कला प्रकृति का एक भाग है और उस पर प्रकृति के समान ही कुछ नियमों का नियन्त्रण आवश्यक है। परन्तु ये नियम ऐसे प्रतीत न हों कि बलपूर्वक बाहर से लाकर रखे इस नियम का अभिप्राय यह है कि आलोचक को प्रकृति के जीवन के साथ साहित्य की आत्मा को भी स्पष्ट करना चाहिए। तीसरे उसे यह भी जानना चाहिए कि

कला का निरन्तर विकास होता रहता है और किसी भी युग में वह चरमसीमा पर नही पहुँचता। परन्तु निर्णयात्मक आलोचना प्रणाली में ऐसा नही होता। इस प्रणाली का आलोचक तो यह समझता है कि प्राचीन समय के साहित्य मे जो लिखा गया वह पूर्णता पर पहुँच चुका है और इस कसौटी पर ही वह साहित्य का मूल्याकन करता है।

(२) ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली:—वर्तमान आलोचना जगत मे ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली ने विशेष प्रगति की है और यह लोकप्रिय भी, सिद्ध हुई। इस प्रणाली ने आधुनिक समालोचना क्षेत्र मे नव-जीवन का आलोक विकिर्ण किया। कुछ आलोचको ने इस प्रणाली के कुछ विशेष नियमों की उपेक्षा करते हुए भी इस प्रणाली को ग्रहण किया है। इस आलोचना प्रणाली से समालोचक इतने अधिक प्रभावित हुए है कि उन्होने किसी न किसी रूप में इस प्रणाली के नियमों को ग्रहण किया है। इस प्रणाली का सर्वप्रथम नियम यह है कि समालोचक को साहित्य निर्माण काल और तत्कालीन वातावरण को ध्यान में रखते हुए किसी रचना की विवेचना करना चाहिए। आधुनिक समालोचक नित्य-प्रति इस नियम का प्रयोग करते है। यद्यपि यह आलोचक प्रणाली बहुत दिनो से प्रचलित है परन्तु इसकी मान्यता अभी हाल में ही हुई है। आधुनिक समालोचक इसकी गुरुता तथा महत्व से इतने अधिक प्रभावित हुए है कि उन्होने अन्य आलोचक प्रणालियो से भी उसका सम्बन्ध जोड़ दिया है। इसके महत्व को देखते हुए अन्य प्रणालियाँ इसके सम्मुख गौण हो गई है।

कुछ मनुष्यो की यह धारणा है कि साहित्य की विशेष प्रगति का श्रेय ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली को है। तथा जो साहित्यिक इतिहास इस प्रणाली के आधार पर लिखे गए वे पाठको के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए। परन्तु इस कथन में आंशिक सत्यता है। यह तो निर्विवाद है कि लेखको की जन्म-मृत्यु की तिथि प्रस्तुत करने मे, उनका जीवन काल निश्चित करने मे तथा उनकी कृतियो की सूची तैयार करने में इस प्रकार की आलोचना प्रणाली अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुई है। ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली मे त्रुटि यह है कि इसने पाठको का ध्यान पुस्तको से हटाकर लेखको तथा उनके द्वारा प्रस्तुत व्यापक साहित्यिक धाराओ की ओर उन्मुख किया है। कलाकार की रचनाएँ बहुत दूर हो गई है। पुस्तक को पुस्तक रूप मे ग्रहण न करके उसका लेखन काल, कार्य तथा कारण सम्बन्ध निश्चित करने में ही ध्यान केन्द्रित हो जाता है। ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली का अनुसरण करने वाले अभी तक यह स्पष्ट नही कर सके है कि इस प्रकार के आलोचनात्मक अध्ययन का मूल्य क्या है और साहित्य की प्रगति में इस प्रकार की आलोचना प्रणाली को आवश्यक क्यो माना जाय। पाठान्तर की खोज तथा उसका संशोधन ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली को अभीष्ट है। यह प्रणाली युग जीवन का दिग्दर्शन कराने में भी सफल हुई है।

डा० एस० पी० खत्री ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली के सम्बन्ध में लिखते हैं.—"ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली हमें इस पर विवश करेगी कि हम भारतेन्दु युग की अनेक विचारधाराओं को पहले परखें—राष्ट्रीयता का बीज क्यों और कैसे पड़ा, भारत की राजनीतिक तथा आर्थिक दुर्व्यवस्था का कैसा दृश्य था, सामाजिक रूढ़ियाँ कौन सा कार्य कर रही थी, उस समय का भारत रूढ़िगत धर्म में कितना रत था। शिक्षा की क्या व्यवस्था थी, अन्तर प्रान्तीय ईर्ष्या का कितना प्रसार था। इस युग अनुसंधान में जब तक आलोचक लगा रहा भारतेन्दु की काव्य कला तथा नाटक कला एक ओर पड़ी रही और अनुसन्धान के पश्चात् केवल यही तथ्य हाथ लगा कि अमुक साहित्यिक धारा के प्रवाहित करने में भारतेन्दु को बहुत अधिक श्रेय था, वे हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का प्रथम दर्शन अनेक रूप में कराते हैं। इस प्रणाली के पोषकों ने युग की आत्मा का परिचय तो अवश्य दिया परन्तु कलाकृति की ओर हमें आकर्षित नहीं किया या कम किया। कलाकार उनके लिए कुछ विशेष चिन्ता धाराओं के पोषक मात्र रह गए और उनका महत्व इसी में विशेषतः रहा कि उस युग विशेष की प्रमुख विचार-धारा का स्पष्ट संकेत उनकी कलाकृति में मिलता है। इस दृष्टि से युग विश्लेषण को तो प्रधान तत्व मिला और कलाकार की कलाकृति गौण रूप में पड़ी रही।"—(आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त)

हिन्दी में ऐतिहासिक आलोचना के ग्रन्थो की तालिका निम्नलिखित है:—

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)
२—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (डा० रामकुमार वर्मा)
३—आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास (कृष्णशंकर शुक्ल)
४—हिन्दी साहित्य की भूमिका (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी)
५—हिन्दी साहित्य (डा० श्यामसुन्दरदास)
६—राजस्थानी भाषा और साहित्य (मोतीलाल मेनारिया)
७—हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास (आचार्य चतुरसेन शास्त्री)
८—हिन्दी काव्य धारा (राहुल सांकृत्यायन)
९—हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास (श्री गुलाबराय एम० ए०)
१०—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (श्री कृष्णलाल)
११—आधुनिक हिन्दी साहित्य (लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय)

३—निर्णयात्मक आलोचना प्रणाली—सैद्धान्तिक आलोचना का व्यवहारिक प्रयोग ही निर्णयात्मक आलोचना का रूप धारण कर लेता है। निर्णयात्मक आलोचना को अंग्रेजी मे "Judicial criticism" कहते हैं। इस प्रकार की समालोचना व्याख्यात्मक समालोचना के विपरीत होती है। व्याख्यात्मक समालोचना मे समालोचक अन्वेषक से रूप मे होता है और उसका विषय व्याख्या करना होता है परन्तु निर्णयात्मक समालोचना मे समालोचक न्यायाधीश के रूप मे आता है।

निर्णय देना उसका कार्य है। वह यह देखता है कि काव्य एक निश्चित आदर्श के अनुरुप है या नही। इस प्रणाली के आलोचक को पुस्तको तथा लेखकों का उनकी साहित्यिक श्रेष्ठता के अनुसार स्थान निर्देश करना होता है। उसे यह स्पष्ट इंगित करना पडता है कि अमुक लेखक श्रेष्ठ है, अमुक नही। अमुक कृति महत्वपूर्ण है अमुक नही। समालोचक अपना निर्णय कला के अन्यान्य नियमो के आधार पर करता है। ये नियम न तो वैज्ञानिक होते हैं और न नैसर्गिक, इनका निर्माण समाज के किसी व्यक्ति अथवा राजनीतिक वर्ग द्वारा होता है। दूसरे निर्णयात्मक आलोचना प्रणाली का आलोचक कुछ अपने स्थायी मानदण्ड बना लेता है। प्राचीन साहित्यकारो की श्रेष्ठताओ के आधार पर यह मानदण्ड निश्चित किया जाता है। अतः निर्णयात्मक समालोचक मे आलोचक को निश्चित व मान्य साहित्य सिद्धान्तों का आश्रय लेना पड़ता है। निर्णयात्मक आलोचक परीक्षक की भांति काव्य के गुण दोषों के आधार पर उसे श्रेणीबद्ध करता है। महाकवि कालीदास के निम्नलिखित श्लोक मे निर्णयात्मक आलोचना के आदर्श का पूर्व रूप दिखाई पड़ता है—

"तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सद सद्व्यक्ति दे तव।
हेम्नः सलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धि. श्याम कामपि।"

अर्थात् उस (रघुवंश काव्य के) सत लोग सुनने के अधिकारी हैं। अग्नि मे ही स्वर्ण के खरे और खोटे होने का पता लगता है। कालिदास ने परीक्षा को महत्वपूर्ण माना है। उनका विचार था कि पुराने मात्र होने के कारण कोई काव्य अच्छा नही हो सकता और न नया होने के कारण उपेक्षणीय होता है। सन्त लोग परीक्षा के पश्चात् अपना मत स्थिर करते हैं। मूढ लोग अपना मत दूसरो के पक्ष पर बना लेते हैं।

अठाहरवी शताब्दि मे मासिक पत्रिकाएँ और समाचार पत्रो के निकलने से सभी प्रकार की समालोचनाएँ सामान्यतः ग्रन्थ समीक्षा के रूप मे प्रयुक्त होती रहीं हैं। आजकल निर्णयात्मक आलोचना का प्रचलन अधिक है। ऐसी समालोचना मे विस्तृत विवेचना होती है। क्योकि विस्तृत विवेचना के अभाव में निर्णयात्मक समालोचना सफल नही हो सकती। इस प्रकार की आलोचना आलोचक अपनी रुचि के अनुसार आलोचन सिद्धान्तो के आधार पर किसी कृति व कृतिकार की आलोचना करता है। ऐसी समालोचनाओ मे हम समालोच्य रचना के विषय में उतना अधिक परिचय नही पाते जितना कि फैसला देने वाले समालोचक की आत्मा का।

निर्णय देने वाले आलोचक तीन प्रकार के होते हैं—

१—प्रथम वे जो अपनी रुचि और भावानुभूति के अनुसार निर्णय देते हैं। वे नियम नही जानते।

२—दूसरे वे जो रूढिवादी हैं जो केवल नियमो को मिलाकर सम्मति स्थिर करते हैं।

३—तीसरे वे जो नियमो के विशेषज्ञ तो होते हैं, पर रहते हैं नियमो के परे। ये ही सर्व महान आलोचक होते हैं, क्योकि केवल सिद्धान्तो का अन्धानुकरण

किसी भी आलोचना को निकृष्ट बना सकता है। हिन्दी मे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा मिश्र बन्धुओ ने बहुत कुछ शास्त्रीय पद्धति पर निर्णयात्मक ढँग से ही आलोचना की है। निर्णयात्मक आलोचना को शास्त्रीय आलोचना भी कहते हैं। इस प्रकार की आलोचना मे शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग होता है।

४—वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली :—प० रामचन्द्र शुक्ल जी ने जिस वैज्ञानिक पद्धति की समालोचना को जन्म दिया वह नवीनतम आधुनिक शैली मानी जाती है। शुक्ल जी के समीक्षात्मक सिद्धान्त भारतीय तथा योरपीय समीक्षा के सिद्धान्तो का समन्वय है। इस सम्बन्ध मे दो प्रकार की आलोचनाएं उपलब्ध होती हैं।

(१) सैद्धान्तिक समीक्षा तथा (२) व्यवहारिक समीक्षा।

कविता क्या है? साधारणीकरण तथा व्यक्ति-वैचित्र्यवाद तथा लोक मगल की साधनावस्था आदि आलोचनाएँ सैद्धान्तिक समीक्षा हैं तथा तुलसी, सूर एवं जायसी पर लिखी हुई आलोचनाएँ व्यवहारिक समीक्षा के अन्तर्गत ग्रहण की जाती हैं।

शुक्ल जी की शैली वैज्ञानिक होने के नाते विश्लेषणात्मक है। उसमे प्रत्येक विषय को तथ्य रूप मे निरुपित किया गया है। दार्शनिकता, भावात्मकता, मनोवृत्तात्मकता उनकी आलोचना शैली का गुण है। शुक्ल जी का अध्ययन मनोवैज्ञानिक था अतएव उनकी समालोचनाओ मे वैज्ञानिक तथ्यो का निरूपण विशेष रूप मे है। शुक्ल जी की वैज्ञानिक आलोचना लोक-मगल की पृष्ठभूमि पर आधारित है।

वर्तमान वैज्ञानिक आलोचना प्राणाली आचार्य शुक्ल जी की वैज्ञानिक पद्धति पर अवलम्बित है। आज प्रत्येक आलोचक की आलोचना में शुक्ल जी के वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रधानता है।

वैज्ञानिक क्षेत्र के समान वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली के आलोचक को साहित्य को वर्गो मे विभाजित करना पड़ता है, उनके कार्य कारण के पारस्परिक सम्बन्ध का अनुसधान करना होता है, शब्दो के धातु रूप का निश्चय करना है। और देश विशेष के सामाजिक तथा राजनीतिक एवं राष्ट्रीय जीवन को भूमिका रूप मे रखकर साहित्यिक कृति की जाँच करनी होती है। उसे मनोविज्ञान का आश्रय लेकर कवि हृदय को परखना होता है। परन्तु इस वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली ने साहित्य के मूल्यांकन में कितना योग दिया है—इस प्रश्न का उत्तर ठीक से नही दिया जा सकता। वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली ने चाहे कितने ही सिद्धान्तो को जन्म दिया हो, साहित्यिक आलोचना क्षेत्र मे आलोचकों की स्वतन्त्रता नष्ट नही की जा सकती। श्रेष्ठ आलोचक की आत्मा उसके स्वच्छन्द विचरण मे ही छिपी रहती है। विज्ञान सौन्दर्य का दर्शन कराने मे असमर्थ है। अत: वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली भी साहित्य के सौन्दर्य का उद्घाटन कराने मे कैसे सफल हो सकती है।

वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली लगभग सौ वर्षों से प्रचलित है और साहित्य क्षेत्र मे इसका प्रयोग पिछले पचहत्तर वर्षो से हो रहा है। महान इतिहासकार टेन ने अपने इतिहास की भूमिका मे लिखा है—"मेरा उद्देश्य साहित्य का ऐसा इतिहास लिखने का है जिसमें मनोवैज्ञानिक सत्यो का आभास मिले।" मनोवैज्ञानिक सत्यो से उसका अभिप्राय उन कार्य कारण सम्बन्धो से था जो साहित्यिक इतिहास की रूप रेखा बनाते हैं। लेखक यद्यपि इस आदर्श का पालन तो न कर सका परन्तु उसका यह आदर्श प्रशंसनीय है क्योकि इन्ही के द्वारा अगेजी साहित्य मे वैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात हुआ। साहित्यकार और इतिहासकार दोनों को वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली ने जीव-प्रगति-इतिहास के अन्तर्गत स्थान दिया है। इस प्रकार ऐतिहासिक आलोचक प्रणाली से वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली का घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है जिससे अनेक साहित्यिक जटिलताएँ सुलझ गईं। ऐतिहासिक आलोचना वातावरण तथा देशकाल का सम्पूर्ण चित्र रखकर आलोचना करेगी और वैज्ञानिक प्रणाली भी वातावरण तथा प्रकृतस्थ नियमो की जाँच द्वारा जीव-प्रगति के सिद्धान्त बनायेगी।

वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली ने साहित्य क्षेत्र को बहुत अधिक प्रभावित किया है। इसने आलोचको को अपनी ओर सहज मे ही आकृष्ट कर लिया है। परन्तु इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना चाहिए कि जो भी साहित्यिक आलोचना प्रणाली विज्ञान का आश्रय लेगी वह धीरे-धीरे अपनी महत्ता तथा अस्तित्व को नष्ट कर लेगी।

कुछ आलोचको ने वैज्ञानिक आलोचना प्रणाली मे थोड़ा बहुत अन्तर करके कही कही नवीन दृष्टिकोण भी उपस्थिति किये हैं जिससे स्पष्ट होता है कि आलोचक को साहित्यिक धाराओ को परखने की क्षमता होनी चाहिए। उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य की धाराएँ प्रारम्भ मे छोटी तथा गतिहीन होकर बाद मे वेगवती हो जाती हैं और फिर शनैः शनैः कालचक्र के भँवर मे विलीन होकर अनेक नवीन साहित्यिक धाराओ को उद्भूत करती हैं। सामाजिक, राजनीतिक तथा राष्ट्रीय जीवन से काव्य का पूर्ण सम्बन्ध है। इस आलोचनात्मक निर्णय ने आलोचक के सम्मुख कलाकार का व्यक्तित्व प्रस्तुत किया तथा साहित्य की व्यापकता का आभास कराया।

५—तुलनात्मक आलोचना प्रणाली :—उन्नसवी शताब्दी मे ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली के स्थान पर नवीन तुलनात्मक आलोचना प्रणाली को स्थान मिला। आलोचको ने विज्ञान क्षेत्र से शब्द लेकर इस प्रणाली का नामकरण किया। यो तो आलोचना को सदैव तुलनात्मक ही कहेगे। परन्तु तुलनात्मक ऐतिहासिक प्रणाली मे आलोचको ने शरीर शास्त्र, लोक गाथा, भाषा-विज्ञान तथा शब्द व्युत्पत्ति शास्त्र से इसका सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इस आलोचना प्रणाली का प्रमुख लक्ष्य साहित्यिक प्रभावो का अनुसन्धान है और सिद्धान्त की सीमा मे

आलोचक साहित्य तथा उसकी अनेक शैलियों पर किसी एक लेखक का व्यापक प्रभाव स्पष्ट करने की चेष्टा करता है। तुलनात्मक आलोचना प्रणाली का नाम यदि व्युत्पत्यात्मक आलोचना प्रणाली होती तो अधिक उपयुक्त होता क्योंकि इस प्रणाली का आलोचक अपना ध्यान व्युत्पत्ति पर अधिक केन्द्रित रखता है तथा साहित्य के दूसरे अंगों को गौण समझता है।

तुलनात्मक प्रणाली की बहुत सी बातें अत्यन्त नवीन तथा उपादेय सिद्ध हुई हैं। इस प्रणाली ने केवल समय की आवश्यकताओ से ही रूप ग्रहण नही किया है अपितु उसने अपना रूप रचना के विशेष प्रकारों और प्रधान भावों के सोद्देश्य सकलन से किया है। इस आलोचनात्मक प्रणाली का व्यापक नियम यह है कि जो परस्पर तुलनीय हो, उनकी तुलना अभीष्ट है और इस कसौटी पर रचना के भाव, उद्देश्य, शैली और विषय को कसना चाहिए। **"तुलनात्मक समीक्षा का वह रूप और भी अधिक कठिन किन्तु प्रशस्त है जो साहित्य की सीमाएँ पार करके रचनाओं के आन्तरिक व्यवस्थात्मक रूप खोज निकालने के प्रयास में नीरस और कृत्रिम समानताओं को दूर छोड़ देता है।"**

तुलनात्मक समालोचना कई प्रकार से होती है।

(१) एक ही कवि के कई ग्रन्थों मे आई हुई एक ही विपय की पारस्परिक तुलना।

(२) उसी कवि की विभिन्न रचनाओ की तुलना।

(३) उसी भापा के अन्य कवियो की तद्विपयक या भिन्न विपयक काव्यो से तुलना या ससार की अन्य भापाओ के तद्विपयक या भिन्न विषयक काव्यो की तुलना। इन भिन्न-भिन्न प्रकार की तुलनाओ मे विपय, विषय प्रतिपादन की शैली, भाषा शैली, उद्देश्य तथा प्रभाव आदि सभी दृष्टियो से तुलना हो सकती है।

६—जीवन-वृत्तान्तीय आलोचना प्रणाली :—लेखक के व्यक्तित्व को ध्यान में रखकर जीवन-वृत्तान्तीय आलोचना प्रणाली का जन्म हुआ। अंग्रेजी कवि जॉन ड्राइडेन ने अठाहरवी शताब्दी मे इस आलोचना प्रणाली की प्रतिष्ठा की। इस प्रणाली का प्रारम्भ कवियों के जीवन-चरित्र लिखने के कारण हुआ। इस प्रणाली का लक्ष्य लेखक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का माप करना है। ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली की न्यूनताओ ने इस प्रणाली को जन्म दिया। जीवन-वृत्तान्तीय आलोचना प्रणाली ने लेखक के निजी जीवन को व्यक्त किया और लेखक का सम्बन्ध उसकी कलाकृति से स्थापित करके उसके व्यक्तित्व को भूलने नही दिया। यह ठीक भी है, क्योंकि जब तक कोई व्यक्ति गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन से परिचय प्राप्त न करेगा तब तक वह कवितावली, दोहावली, बरवै रामायण, रामचरित मानस, विनय-पत्रिका मे सामजस्य नही देख सकता। इस प्रकार की आलोचना यह इंगित करती है कि कलाकार की रचना मे जो वाह्य विपमता तथा द्वन्द्व है वह वास्तव मे विषमता न होकर कवि के विभिन्न अनुभवो, अध्ययन तथा परिवर्तनशील दृष्टिकोण के

कारण उपस्थित है। इस आलोचना प्रणाली का महत्व इस दृष्टि से भी अनुपमेय है कि इसने लेखक को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करके उसके चरित्र को परखने का पूर्ण अवसर दिया है। इसने कलाकार तथा पाठक को एक दूसरे के निकट ला दिया है। पाठक को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि लेखक मे किस प्रकार के साहित्य सृजन की क्षमता है और यह ज्ञान होने पर लेखक की विवेचना सरल हो जाती है।

इस आलोचना प्रणाली की दूसरी विशेपता यह है कि इसके द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक तथा उसकी रचना मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है तथा दोनो को एक दूसरे से पृथक नही किया जा सकता। जीवन-वृत्तान्तीय आलोचना प्रणाली यह सिद्ध करती है कि कलाकार जो लिखता है उस पर उसके विचारो, भावनाओं, अनुभवो अथवा कल्पना की छाप रहती है और इसका ज्ञान होने पर अनेक साहित्यिक जटिलताएँ सुलझ जाती हैं। जिन आलोचकों मे कलात्मक ज्ञान और कलाप्रियता अधिक है उन्होंने ही इस प्रणाली को अपनाया है।

७—नैसर्गिक आलोचना प्रणाली :—नैसर्गिक आलोचना प्रणाली की उत्कृष्टता आलोचक की प्रतिभा पर अवलम्बित है। यह आलोचना प्रणाली किसी रचना का मूल्यांकन उसके रचियता के अन्य सम्बन्धो से इसे पृथक करके करती है। वह कलाकार के व्यक्तित्व, वातावरण तथा देशकाल को कुछ भी महत्व नही देती। नैसर्गिक आलोचना प्रणाली किसी रचना को काव्य के रूप मे ग्रहण करता है और अन्य वस्तु के साथ सामजस्य किये बिना व्याख्या करता है। कलाकार की विशेषताओ का दिग्दर्शन कराना तथा उसकी व्यंजना प्रणाली के सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करना उसे अभीष्ट नही। वह यह नही बतलायेगा कि अमुक लेखक ने अमुक रचना किस समय तथा किन परिस्थितियो से प्रभावित होकर की है। नैसर्गिक आलोचना प्रणाली का सम्बन्ध रचना से है उसके अन्य उपकरणो से नही। इस प्रकार की आलोचना प्रणाली का प्रयोग नित्य प्रति के जीवन मे होता है। जो वस्तु हमे रुचिकर होती है उसकी हम प्रशंसा करते हैं और जो अरुचिकर होती है उसकी उपेक्षा करते हैं। यह तो असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि नैसर्गिक आलोचना प्रणाली सबसे प्राचीन तथा सबसे अधिक स्वाभाविक है।

८—रीति आलोचना प्रणाली :—रीति आलोचना प्रणाली अधिक लोक प्रिय न हो सकी। कुछ साहित्यकारो ने आलोचना के दो विशेष आधार माने हैं—१—रचना का वाह्य रूप, २—आन्तरिक तत्व। प्रायः देखा जाता है कि समालोचक वाह्य रूप को इतना अधिक महत्व देते हैं कि उसके आन्तरिक रूप को विस्मृत कर देते हैं। परन्तु जिन समालोचकों की दृष्टि आन्तरिक तत्वों पर रहती है, वे वाह्य उपकरणो को गौण मानते हैं और उनका उद्देश्य रचना का रूप-रंग, आकार-प्रकार तथा उसकी आत्मा का दिग्दर्शन कराना है।

इस आलोचना प्रणाली की यह मान्यता है कि कला की श्रेष्ठता इस बात मे

है कि वह सबको समान रूप से आकर्षित करे, केवल कलाकार द्वारा ही प्रशंसित न हो। कला की आत्मा प्रधान है और रूप गौण है।

६—मनोवैज्ञानिक आलोचना प्रणाली :—लगभग चालीस वर्षों से मनोवैज्ञानिक आलोचना प्रणाली की लोकप्रियता बढी है। इस आलोचना प्रणाली ने अनेक साहित्य सम्बन्धी नवीन प्रश्नों को जन्म दिया है। दो विशेषताओं के कारण इस शैली का प्रयोग किया गया। इसका प्रमुख ध्येय इस बात की खोज करना था कि कोई कविता हमारी इन्द्रियों को किस प्रकार प्रभावित करती है और कलाकार तथा उसकी कृति मे कैसा और कितना गहरा सम्बन्ध है। अंग्रेजी साहित्य मे एडीसन ने लॉक की रचना "एन एसे कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग" को पढकर इस प्रणाली को बनाया था।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक आलोचना प्रणाली के आलोचकों ने साहित्य निर्माण के प्रश्नो को ढूंढने में बड़ा प्रयत्न किया है और उनमें कुछ तथ्य भी हैं। परन्तु यह ठीक प्रकार नही कहा जा सकता कि यह प्रणाली आनन्द प्राप्ति में कहाँ तक सहायक हो सकी। मनोवैज्ञानिक आलोचना केवल किसी रचना तथा उसके रचियता के सम्बन्ध को स्पष्ट करती है। वह रचना को इसलिए महत्व देती है जिससे उन्हें यह ज्ञात हो जाय कि मस्तिष्क के किन स्तरो से प्रभावित होकर इस रचना को जन्म मिला। मनोवैज्ञानिक आलोचना प्रणाली के सूत्रों को पृथक्-पृथक् करके उसको समष्टि रूप मे प्रस्तुत करके उसका मूल्यांकन नही करेगी।

मनोवैज्ञानिक समालोचना में लेखक की रचनाओं मे ही गुण, दोष, विवेचन नही किया जाता वरन् स्वयं लेखक की भी आलोचना की जाती है। लेखक की आलोचना का अर्थ व्यक्तिगत आलोचना नही है वरन् उसकी पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार लेखक के मनोविज्ञान का परिचय प्राप्त करना है। आज का विज्ञान यह स्वीकार करता है कि रचनाओं पर लेखक की मानसिक प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ता है तथा इसी प्रभाव से प्रभावित होकर वह रचना में प्रवृत्त होता है।

हिन्दी साहित्य में मनोवैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात भी आचार्य शुक्ल ने ही किया है और इसका वर्तमान विकास शुक्ल जी के परवर्ती समालोचकों ने किया।

माताप्रसाद गुप्त, डा० नगेन्द्र तथा बलदेव प्रसाद मिश्र आदि विद्वान् मनोविज्ञान के प्रसिद्ध आलोचक हैं।

डा० नगेन्द्र की "सुमित्रानन्दन पन्त" नामक पुस्तक मनोवैज्ञानिक आलोचना का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

माताप्रसाद गुप्त द्वारा लिखित "तुलसीदास जी" पर ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक आलोचना भी विशेष महत्वपूर्ण है।

बलदेव प्रसाद मिश्र ने तुलसी दर्शन में दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा की है।

१०—व्यक्तिवादी आलोचना प्रणाली :—कुछ विद्वानो का विचार है कि काव्य के अध्ययन से कवि हृदय का भी सहज मे परिचय मिल जाता है और उसके सम्बन्ध मे यथेष्ट ज्ञान सफलतापूर्वक प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार हम अपने मित्र से वार्तालाप करने पर उसके अनेक मानसिक विकारो, भावनाओं तथा विचारों से परिचित हो जाते हैं उसी प्रकार काव्य के अध्ययन से कवि का भी पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। इस विचारधारा ने आलोचना क्षेत्र में व्यक्तिवादी आलोचना प्रणाली को जन्म दिया। वर्तमान युग मे जितने भी कवियों का जीवन वृत्त प्रकाशित किया गया है, उन सबमे कवि के जीवन वृत्त, उसके अनेक अनुभवो तथा उसके जीवन की अनेक घटनाओं से उसके काव्य का सम्बन्ध स्थापित करके प्रस्तुत किया गया है। कही-कही तो साहित्य को व्यक्तित्व का प्रकाशन मात्र माना गया है। अत: कवि के व्यक्तित्व को परखने के लिए उसका काव्य प्रथम साधन है। उन आलोचको की निन्दा की गई जिन्होने इस सिद्धान्त की उपेक्षा कर केवल काव्य को ही महत्व दिया।

(११) क्रियात्मक आलोचना-प्रणाली:—यह आलोचना प्रणाली आजकल के आलोचकों को अधिक प्रिय है। इस प्रणाली के आलोचकों ने आलोचना क्षेत्र को अनेक निरर्थक रूढियो से मुक्त करके नवीन रूप प्रदान किया। क्रियात्मक आलोचना प्रणाली ने दर्शन शास्त्र का आश्रय लेकर आलोचना को नियमों, सिद्धातो, रूढियो, वैज्ञानिक-वर्गीकरण-प्रणाली तथा व्याकरणात्मक सिद्धान्तो के बन्धन से मुक्त कर दिया। क्रियात्मक आलोचना प्रणाली ने शैली तथा वस्तु का घनिष्ट सम्बध माना। इस प्रणाली के आलोचको ने कवि के लक्ष्य तथा उसके द्वारा प्रतिपादित कार्य दोनो के पारस्परिक सम्बन्ध का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है। क्रियात्मक आलोचना प्रणाली के आलोचको को यह आदेश है कि उनकी आलोचना तभी श्रेष्ठ हो सकती है जब वे कलाकार के अनुभवो को पूर्ण रूप से समझे तथा उसके जीवन में अपने जीवन को समाहित कर दें। अपने तथा उसके भाव संसार मे एकरूपता लाने का प्रयत्न करना होगा।

क्रियात्मक आलोचना प्रणाली के विरोधियो का कहना है कि इस प्रणाली के आलोचको ने कोई ऐसी नियमावली नही प्रदान की जिसके आधार पर श्रेष्ठ साहित्य का मूल्याकन किया जा सके। यदि इस आलोचना प्रणाली को स्वीकार कर लिया जायेगा तो आलोचक को अपने कार्य मे सफलता नही मिल सकती। उसका उत्तरदायित्व महान् हो जाता है। यदि वह तुलसी की आलोचना करेगा तो उसे तुलसी के मानस का प्रतिरूप देना होगा तथा उनके व्यापक अनुभव को अपने मानस में दोहराने होगे और यह सम्भव नही। दूसरे प्रत्येक व्यक्ति की रुचि भिन्न होती है जो वस्तु एक को प्रिय हो सम्भवत: दूसरे को न हो। अत. क्रियात्मक आलोचना प्रणाली का सहारा लेने वाला सफल नही हो सकता।

क्रियात्मक आलोचना प्रणाली आलोचना क्षेत्र के दो महत्वपूर्ण प्रश्नों का

उत्तर नही देती । वह इस प्रश्न का उत्तर नही देती कि क्या सौंदर्य तथा श्रेष्ठता की केवल एक ही पृष्ठभूमि है और क्या केवल अनुभव तथा अभिव्यंजना के सामंजस्य से श्रेष्ठ कवि का निर्णय हो सकता है । सौंदर्य मे अनेक वर्ग होते हैं और यह भी आवश्यक नही है कि अनुभव तथा अभिव्यक्ति का सामंजस्य होने पर वह श्रेष्ठ कलाकार हो ही जायेगा । रसखान मे अनुभव तथा अभिव्यंजना का सुखद सम्मिश्रण है किन्तु फिर भी तुलसी उनसे श्रेष्ठ हैं ।

दूसरा प्रश्न नवीन साहित्यकारों की कृतियों के सम्बंध मे है । नवीन वस्तु, नवीन शैली तथा नवीन दृष्टिकोण को ग्रहण करने वाले लेखकों की रचनाओं की परख किस प्रकार होगी । प्राचीनता के प्रति विद्रोह ही नवीनता को जन्म देता है ।

क्रियात्मक आलोचना प्रणाली का मल तत्व है—कलाकार की क्रियात्मकता का पुन:निर्माण । कलाकार जब कृति का निर्माण करता है तो उसमें वह अपने प्रारम्भ से लेकर अन्त तक (उसके रचनाकाल मे) जो जो विचार आते हैं तथा जिन्हें वस्तुओ का वह अनुभव करता है उन्हे व्यक्त करता है । अतः क्रियात्मक आलोचना प्रणाली के आलोचक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह इन अनुभवों तथा विचारों का पुन:निर्माण करे और इस कार्य के लिए आलोचक में अनेक गुणो का होना वांछनीय है । क्रियात्मक आलोचना लिखने के लिए निरीक्षण, मनन, प्रेरणा, अनुभूति तथा अभिव्यक्ति–ये पाँच सिद्धियाँ अपेक्षित हैं । सारांश यह है कि क्रियात्मक आलोचक को कलाकार के सम्पूर्ण मानसिक भावों को आत्मसात् करके उसकी अभिव्यक्ति करनी पड़ती है । इस क्रियात्मक अनुभव तथा उसकी सफल अभिव्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि कलाकार तथा आलोचक की आत्मा मे अपूर्व साम्य हो ।

इस प्रणाली का एक दोष यह भी है कि यह साहित्यिक ज्ञान तथा विद्वत्ता को महत्व न देकर व्यक्तिगत रुचि का आधार करती है । क्रियात्मक आलोचना प्रणाली को ग्रहण करने से आलोचना कलात्मक कृति हो जायेगी और भिन्न-भिन्न मनुष्यों के द्वारा लिखे जाने के कारण उसमे विभिन्नता के दर्शन होने लगेगे । अतः जितने भी निर्णय होगे उन्हें सर्व-सम्मत नही कहा जायेगा ।

दोषों के अतिरिक्त क्रियात्मक आलोचना प्रणाली मे कुछ गुण भी हैं । सर्वप्रथम इसने साहित्य निर्माण के प्राचीन रूढिवादी नियमो से आलोचना क्षेत्र को सर्वथा मुक्त कर दिया है । दूसरे साहित्य को जो उपन्यास, नाटक, कहानी आदि वर्गों मे बाँटा गया है उसे भ्रामक मानकर क्रियात्मक आलोचना प्रणाली ने वर्गीकरण की महत्ता समाप्त कर दी है ।

इस आलोचना प्रणाली ने अलकार प्रयोग तथा नैतिकता प्रसार की महत्वहीनता को सिद्ध किया है । यह भी प्रतिपादित किया है कि यह आवश्यक नही कि साहित्य निर्माण में काव्यात्मक विषयो का प्राधान्य हो ।

(१२ [illegible] लोचना प्रणाली:—क्रियात्मक आलोचना प्रणाली कला की [illegible] करती है, किन्तु प्रभावात्मक आलोचना कुछ

प्रभावों पर ही केन्द्रित रहती है। यह इसकी बहुत बड़ी त्रुटि है। प्रभावात्मक आलोचना करने के लिए आलोचक में भावानुभूति, गतिशील, चित्रवृत्ति तथा कल्पनात्मक शक्ति अपेक्षित हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रभावात्मक आलोचना प्रणाली मे कुछ विशेषताएँ हैं। यह प्रणाली साहित्य की गति को बोधगम्य कराने तथा उसके प्रति आकृष्ट करने की शक्ति देती है।

(१३) कार्यात्मक आलोचना प्रणाली:—आधुनिक युग मे कार्यात्मक आलोचना प्रणाली का भी प्रचलन हो रहा है। इस प्रणाली ने सर्वप्रथम मूर्तिकला क्षेत्र मे जन्म लिया, अन्ततोगत्वा आलोचना क्षेत्र में अपना अस्तित्व बना लिया। यह प्रणाली कलाकार की श्रेष्ठता का मूल्याकन उसकी कार्य-सिद्धि के आधार पर करती है। श्रेष्ठ कलाकार वही कहलायेगा जो अपने अभीष्ट कार्य को सफलतापूर्वक कर सके। यदि उसे विफलता मिलेगी तो वह निम्न कोटि का कलाकार माना जायेगा।

इस आलोचना प्रणाली ने आलोचको के कार्य को बहुत सरल कर दिया है। इस प्रणाली के आलोचको को केवल यह जानना पडता है कि कलाकार किस कार्य को करने को उद्यत हुआ और उसे अपनी अभीष्ट सिद्धि मे कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई, क्योकि यह प्रणाली कलाकार के अन्तःकरण मे प्रवेश कर उसकी श्रेष्ठता की परख करता है—इस दृष्टि से यह अवश्य उपादेय तथा लाभप्रद कही जायेगी। इस प्रणाली का आलोचक शैली की श्रेष्ठता का निर्णय देती है और इस दृष्टि से भी यह फलप्रद है। "शैली ही व्यक्ति है"— (Style is Man) अतः कार्यात्मक आलोचना प्रणाली द्वारा कलाकार के व्यक्तित्व का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

परन्तु कार्यात्मक आलोचना प्रणाली मे कुछ त्रुटि भी है। यदि कलाकार की अभीष्ट सिद्धि की सफलता के आधार पर कलाकार की श्रेष्ठता की परख होगी तो कलाकार पर बहुत से प्रतिबध लग जायेंगे। उसकी रचना मे प्रयुक्त सुन्दर अलकारो की प्रचुरता, शब्द योजना तथा भाव विकास को उस सीमा तक ही महत्व देंगे जहाँ तक उन्होने कलाकार की अभीष्ट सिद्धि मे सहायता दी है और शेष को निरर्थक समझेगा, कार्यात्मक आलोचना प्रणाली कलाकार से यह आशा रखती है कि वह अपने अभीष्ट लक्ष्य पर अविराम गति से चलता जाय, बीच में उसकी गति मे कोई व्यवधान न आवे। वह कवि के हृदय की अपेक्षा उसके मस्तिष्क को अधिक महत्व देता है।

कार्यात्मक आलोचना प्रणाली की दूसरी न्यूनता यह है कि यह अनेक श्रेष्ट साहित्यिक रचनाओ के मर्म को नही समझने देती। इसका प्रधान कारण यह है कि प्रतिभाशाली लेखक अपनी अभीष्ट सिद्धि से अपरिचित रहते हैं। यदि परिचित रहते भी हैं तो अल्प मात्रा में। वे विचारते तो कुछ हैं और लेखनी उनसे कुछ से कुछ लिखवा देती है। सूरदास जी अपने इष्टदेव के आराधन के लिए कुछ पद लिखना चाहते थे परन्तु बन गया विशाल सूर सागर—जहाँ शृगार, वात्सल्य और वैराग्य की धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। ऐसे अनेक उदाहरण मिल जायेंगे जहाँ कलाकार के उद्देश्य तथा उसकी अभीष्ट सिद्धि मे महान अन्तर हो।

समय का निर्णय:—कुछ विद्वानों का मत है कि कलाकार की श्रेष्ठता का निर्णय भविष्य पर छोड़ देना चाहिए। यदि कलाकार की कला श्रेष्ठ होगी तो आगामी युग उसका सम्मान करेगा तथा वह लोकप्रिय और अमर हो जायेगा। कलाकार अपने जीवनकाल में हमारे इतने समीप होता है कि उसकी श्रेष्ठता का उचित मूल्याकन नही किया जा सकता। अत: भविष्य ही उसका निर्णायक श्रेष्ठ होगा। हमे वर्तमान की अपेक्षा पिछले युगों का साहित्य पढना चाहिए जिनकी श्रेष्ठता का मूल्यांकन हो चुका है। इस प्रकार की विचारधारा पाठको को निकम्मा बनाती है।

दूसरी बात यह है कि यह निश्चय रूप से नही कहा जा सकता कि भविष्य का निर्णय पूर्णरूपेण ठीक हो ही। भविष्य मे मान्यताएँ बदलती रहती हैं। जो लेखक वर्षों से लोकप्रिय रहे कुछ दिनों पश्चात् विस्मृत कर दिए जाते हैं तथा फिर समय के परिवर्तन के बाद सर्वप्रिय हो जाते हैं। ऐसी अवस्था मे किस युग का निर्णय ठीक माना जायेगा—विस्मृत करने वाले काल का या नवजीवन प्रदान करने वाले युग का। कभी-कभी प्रतिभाशाली लेखक भी अपने समय मे प्रसिद्धि प्राप्त नही कर पाता परन्तु कालान्तर मे लोग रुचि मे परिवर्तन हो जाने पर वह प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है। फिर कुछ समय पश्चात् काल के गर्भ मे उसकी प्रतिभा विलीन हो जाती है। ऐसी स्थिति मे आलोचक परिवर्तनशील लोकरुचि पर कैसे विश्वास कर सकता है। इस सम्बन्ध मे कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि श्रेष्ठ लेखक अपने समय से पूर्व ही उत्पन्न हो जाते हैं और अपने जीवनकाल मे अपने युग की श्रद्धा का पात्र नहीं बन पाते। यदि सौ वर्ष पश्चात् उत्पन्न होते तो सम्भवत: ससार उनका सम्मान कर सकता। परन्तु यह सब बातें निर्मूल हैं। कलाकार तो सबके समय से पूर्व जन्म ग्रहण कर लेता है। अग्रेजी समालोचक शताब्दियों तक शेक्सपियर को सम्मान न दे सके। जर्मन विद्वानो ने जब मुक्तकंठ से शेक्सपियर की प्रशसा की तब अग्रेजी पाठक उसका सम्मान कर सके। शेक्सपियर के जो गुण समाहृत हुए वह उनमे बहुत पहले से ही विद्यमान थे, परन्तु भविष्य उन्हे बहुत काल तक न समझ सका। अत कलाकार की श्रेष्ठता को भविष्य के निर्णय पर छोडना उचित नही। वास्तव मे कलाकार का निर्णय तो उसकी समकालीन साहित्यिक गोष्ठी ही करती है।

१४—व्यक्तित्व प्रदर्शन प्रणाली:—आधुनिक युग मे व्यक्तित्व प्रदर्शन आलोचना प्रणाली भी अधिक लोकप्रिय हो रही है। यह प्रणाली कलाकार के व्यक्तित्व, उसकी निष्कपटता तथा यथार्थप्रियता पर अधिक बल देती है। यह प्रणाली उसी साहित्यिक कृति को श्रेष्ठ मानती है जो कलाकार के व्यक्तित्व का पूर्ण, निष्कपट तथा यथार्थ उद्घाटन कर सके यदि ऐसा न होगा तो रचना निम्न कोटि की मानी जायेगी। व्यक्तित्व का परिचय देने के आधार पर ही गीत काव्य, नाटक, लेख, संस्मरणात्मक रचनाएँ श्रेष्ठ तथा निम्न मानी जायेगी। यह प्रणाली अधिक लोकप्रिय सिद्ध हो रही है।

इस प्रणाली के विरोध मे यह कहा जा सकता है कि साहित्य की श्रेष्ठता की कसौटी केवल निष्कपट व्यक्तित्व प्रदर्शन नही हो सकती। कलाकार अपनी कृति मे अपने निष्कपट व्यक्ति का परिचय नही देता। वह तो परोक्ष रूप से अपनी रचना मे व्याप्त रहता है। विश्व साहित्य के शिरोमणि तुलसी, सूर, मिल्टन, शेक्सपियर किसी ने भी अपनी रचनाओ मे अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का उद्‌घाटन नही किया। यदि इस नियम को स्वीकार कर लिया जायेगा तो श्रेष्ठ कलाकारो के सम्बन्ध मे अपनी धारणा बदलनी होगी। व्यक्तित्व प्रदर्शन आलोचना प्रणाली की यह भी मान्यता है कि साहित्य की श्रेष्ठता मौलिकता पर निर्भर है। जो कला नितान्त मौलिक होगी वही श्रेष्ठ होगी। परन्तु यह भी देखा जाता है कि अनेक श्रेष्ठ लेखको की रचना मे मौलिकता के दर्शन भी नही होते। प्राय: सभी लेखकों ने प्राचीन साहित्य की मान्यताओ को ग्रहण किया है और उनमें मौलिकता स्वयमेव ही आ गई है।

लेखको ने अपने विषय समकालीन लेखकों, इतिहास तथा जीवनियो मे ग्रहण किये हैं, किन्तु फिर भी उनकी अपूर्व प्रतिभा ने विषय को मौलिकता प्रदान की है। इस प्रकार अनेक आलोचना प्रणालियो के वर्गीकरण का विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी आलोचना प्रणाली ऐसी नही है जो पूर्णरूप से सन्तोष-प्रद तथा लाभ-प्रद हो। ज्यो-ज्यो समाज प्रगति करता जायेगा त्यो-त्यो नवीन आलोचना प्रणालियो का भी जन्म होता जायेगा। भिन्न-भिन्न रुचि के कारण कोई किसी तत्व को प्रधानता देता है और कोई किसी को। इसलिए नवीन आलोचना प्रणालियाँ बनती और बिगडती रहती हैं।

कवि की श्रेष्ठता की कसौटी.—साहित्यिक आलोचना प्रणालियो में चाहे कितनी ही विभिन्नता हो, श्रेष्ठ लेखको को दो वर्गो में बाटा जा सकता है। प्रथम वर्ग के कलाकार वे हैं जिनकी रचना मे सामजस्य तथा समन्वय के दर्शन होते हैं। जिनका हृदय शान्ति, सन्तोष, श्रद्धा आदि से युक्त हो। जिनका दृष्टिकोण जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न करता हो। दूसरी श्रेणी मे वे कलाकार आयेंगे जिनकी कला में आकर्षक अतिक्रम, तेज तथा उत्साह के दर्शन होते हैं। जिनके हृदय मे औत्सुक्य, आशा-निराशा, तथा असन्तोष की भावनाएँ हैं तथा जो नवीन तथ्यो का अन्वेषण करते रहते हैं। आलोचक को इन दोनो वर्गों के कलाकार को कला का मूल्याकन इन प्रश्नो के आधार पर करना चाहिए—"क्या कलाकार ने अपने देखे हुए दिव्यालोक से हमें पूर्ण रूपेण प्रभावित किया है ? क्या उसकी अपूर्व दिव्यानुभूति ने हमे वशीभूत किया है ? क्या उसके निर्मित आदर्श जगत मे काल्पनिक वास्तविकता है ? इन्ही प्रश्नो के उत्तर के आधार पर आलोचक को साहित्य की श्रेष्ठता परखनी चाहिए। इस कसौटी से आलोचना क्षेत्र की विच्छृखलता भी कम हो जायेगी।

१५—अभिव्यंजनावादी आलोचना प्रणाली:—अभिव्यजनावादी आलोचना प्रणाली क्रोचे के अभिव्यजनावादी सिद्धान्तो पर निर्भर है। अभिव्यंजनावाद

पर हम आगे विचार करेंगे। यहाँ तो केवल इतना ही सकेत करेंगे कि यदि आलोचक क्रोचे के अभिव्यंजना सम्बन्धी विचारो को ग्रहण करेगा तो उसका कार्य कठिन हो जायेगा क्योंकि क्रोचें के अनुसार सभी सौन्दर्यात्मक अनुभव आन्तरिक होगे और उनकी सफल अभिव्यंजना का महान क्षण भी केवल मानसिक क्षेत्र ही होगा। यदि वह सौन्दर्यात्मक अनुभव केवल कलाकार को ही बोधगम्य होगा तो कोई भी आलोचक कलाकार के मानसिक क्षेत्र में पदार्पण नहीं कर सकता।

क्रोचे यह मानता है कि "सभी कलात्मक क्रिया कलाप केवल कलाकार के मानस में ही रहेंगे और उनका मानसिक क्षेत्र से अलग होना कला के लिये घातक होगा।" यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाय तो आलोचक किस आधार पर आलोचना करेगा। जब सभी कलात्मक विषय कलाकार के मानस में ही रहेंगे तो भला आलोचक किस वाह्य आधार पर आलोचना करेगा और जहाँ मनुष्य के मानसिक तथा आत्मिक जीवन के अन्तर्गत ही सब कुछ होता रहता है तो हमारी वहाँ पहुँच कैसे होगी।" इस परिस्थिति ने कलाकार को पूर्ण स्वतन्त्र कर दिया तथा आलोचक के पास आलोचना लिखने के लिए कोई साधन नहीं रह जाता। क्योकि कलाकार यह कहने के लिये स्वतन्त्र हैं कि आलोचक को उनकी इच्छा, मनोभाव, प्रेरणा आदि मे हस्तक्षेप का अधिकार नही। मानसिक अनुभूतियो के क्षेत्र मे अपना अस्तित्व बनाये रखने वाली कला की आलोचना सम्भव नही।

इन आलोचना प्रणालियों के अतिरिक्त आलोचना क्षेत्र मे विशेष रूप से खोज सम्बन्धी समालोचनाएँ आत्म-प्रधान आलोचना, सैद्धान्तिक आलोचना, व्याख्यात्मक आलोचना तथा मार्क्सवादी आलोचनायें प्रचलित हैं।

१६—खोज सम्बन्धी समालोचनाएँ—वर्तमान युग मे खोज सम्बन्धी समालोचनाएँ दो रूपों में मिलती हैं—(१) साहित्य सम्बन्धी (२) भाषा सम्बन्धी।

१—साहित्य सम्बन्धीः—साहित्य सम्बन्धी खोज कार्य निम्नलिखित हैंः—

१—संस्कृत साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव (सनमानसिंह जयपुर)
२—प्राकृत तथा अपभ्रंश का हिन्दी पर प्रभाव (रामसिंह तोमर)
३—अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय (दीनदयाल गुप्त)
४—रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता (डा० नगेन्द्र)
५—हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास (डा० सोमनाथ गुप्त)
६—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (डा० रामकुमार वर्मा)
७—तुलसी दर्शन (बलदेवप्रसाद मिश्र)
८—तुलसीदास (डा० माताप्रसाद गुप्त)
९—प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन (डा० जगन्नाथ प्रसाद)
१०—आधुनिक काव्यधारा (डा० केशरीनारायण शुक्ल)
११—हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण (किरणकुमारी गुप्ता)

१२—उत्तरी भारत की सन्त परम्परा (परशुराम चतुर्वेदी)
१३—ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन (डा० सत्येन्द्र)

२—भाषा सम्बन्धीः—
१—अवधी का विकास (बाबूराम सक्सेना)
२—ब्रजभाषा (धीरेन्द्र वर्मा)
३—भोजपुरी का विकास (उदयनारायण तिवारी)
४—बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति तथा विकास (नलिनीमोहन सान्याल)
५—हिन्दी शब्दार्थ विज्ञान (हरदेव बाहरी)

नोटः—यद्यपि यह ग्रन्थ P. h D. तथा D. Litt. डिग्रियों के लिए लिखे गये हैं परन्तु इनकी गणना आलोचनात्मक ग्रन्थों में ही की जायेगी।

१७—आत्म प्रधान आलोचना —इसे प्रभाववादी आलोचना भी कहते हैं जब आलोचक अपनी विवेचन पद्धति का परित्याग कर केवल अपनी व्यक्तिगत रुचि या अरुचि को अपनी आलोचना का आधार बनाता है तब उसे आत्म-प्रधान अथवा स्वतन्त्र आलोचना कहते हैं। इसमें आलोच्य ग्रन्थ या ग्रन्थकार को प्रधानता प्राप्त नही होती, आलोचक के दृष्टिकोण को प्रधानता मिलती है। ऐसी आलोचना में भावना तत्व को प्रधानता मिलती है और बुद्धि तत्व का अपेक्षाकृत ह्रास रहता है। हमारे यहाँ जैनेन्द्र जी इस प्रकार की आलोचना के पक्ष में हैं। इस प्रकार की आलोचना में हम कवि से अधिक आलोचक का परिचय प्राप्त करते हैं। क्योंकि आलोचक किसी मान्य सिद्धान्त के आधार पर आलोचना नहीं करता अपितु अपने दृष्टिकोण से किसी कवि या कृति का मूल्यांकन करता है। पंडित पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी सतसई की आलोचना इसी प्रकार से की है। प्रायः सभी छायावादी समालोचक हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र तथा गंगाप्रसाद पांडे आदि इसी प्रकार के समालोचक हैं।

ऐसी आलोचना चाहे आलोचना की दृष्टि से उपयुक्त न हो किन्तु इसमें सन्देह नही कि उसका रचनात्मक साहित्य मे स्थान है।

१८—सैद्धान्तिक आलोचना —"जब लोक रुचि सूत्रबद्ध हो जाती है और युग प्रवर्त्तक कवियों की अमर रचनाओं का विश्लेषण कर उनके नमूने के आधार पर सिद्धान्त और नियम निर्धारित किये जाते हैं तब सैद्धान्तिक आलोचना का जन्म होता है।" लक्ष्य ग्रन्थो के पश्चात् ही लक्षण-ग्रन्थो का प्रणयन होता है। पाश्चात्य देशों में अरस्तू के काव्य सिद्धान्त से लेकर कॉलरिज, एडीसन, वर्ड्स्वर्थ, वाल्टर पेटर, रिचर्ड्स, क्रोचे, स्पिन्गर्न आदि के सैद्धान्तिक ग्रन्थ और भारत मे भरत-मुनि का नाट्यशास्त्र, दण्डी का "काव्यादर्श", मम्मट का "काव्य प्रकाश", विश्वनाथ का "साहित्य-दर्पण", पंडितराज जगन्नाथ का "रस गगाधर" आदि इसी प्रकार के आलोचना ग्रन्थ हैं। हिन्दी मे रीतिकाल के लक्षण ग्रन्थ, डा० श्यामसुन्दर दास का "साहित्यालोचन", सूर्यकान्त शास्त्री की "साहित्य मीमासा", आचार्य शुक्ल की

"चिन्तामणि", सुधांशु जी का "काव्य में अभिव्यंजनावाद", पुरुषोत्तम जी का "आदर्श और यथार्थ", सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का "काव्य कल्पद्रुम", रामदहिन मिश्र का "काव्यालोक" आदि इसी प्रकार की आलोचना हैं।

यह तो सत्य है कि इस प्रकार के पूर्व निश्चित सिद्धान्त सब कवियों के साथ उचित न्याय नही कर सकते। इसलिए सिद्धान्त का विचार करते समय आलोचक को केवल परम्परागत रूढि, कवि समय और तर्कपूर्ण नियमों के फेर में ही पड़ा नहीं रहना चाहिए। समालोचक को यह ध्यान रखना चाहिए कि इन सिद्धान्तों का आधार साहित्य है और साहित्य का अध्ययन करने के उपरान्त ही सिद्धान्त निश्चित होते हैं। अतः जब सिद्धान्तो मे दोष प्रतीत हो तो मूल आधार साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। ऐसे स्वतन्त्र अध्ययन से सिद्धान्त कसौटी पर कस जाते हैं।

सैद्धान्तिक समालोचना को अंग्रेजी मे "Speculative Criticism कहते हैं।

१९—व्याख्यात्मक आलोचना :—व्याख्यात्मक आलोचना सबसे अधिक व्यापक, समीचीन और श्रेष्ठ है। इस प्रकार का समालोचक, एक अन्वेषक के रूप में किसी रचना का अध्ययन करता है तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म बातो का निरीक्षण कर उसके विषय का पता लगाता है। समालोचक रचियता के ढग, दृष्टिकोण और मत से उदारतापूर्ण अपने मस्तिष्क का सामंजस्य स्थापित करके वह अपनी साहित्यिक अभिरुचि को अनुदारता से उदारता की ओर ले जाता है। अभिप्राय यह है कि वह पहले किसी रचना की व्याख्या करता है तथा उस रचना के प्रति एक सामान्य धारणा बना लेता है किन्तु वह उत्तरोत्तर बढते हुए पर्यवेक्षण के अनुसार अपनी धारणा के रूप में सुधार कर लेता है। अतः यह स्पष्ट है कि व्याख्यात्मक समालोचना उदारतापूर्ण तथा प्रस्तुत रचना के पूर्णवेक्षण पर अवलम्बित होती है। इसलिए यह आलोचना अधिक न्यायपूर्ण, बुद्धिसगत, श्रेष्ठ और उपयुक्त होती है।

इस प्रकार आलोचक रचना के अंग-प्रत्यंग को व्यष्टि रूप से न देख कर समष्टि रूप से देखता है। इस प्रकार की समालोचना की सबसे बडी विशेषता यह होती है कि इस पद्धति के द्वारा निश्चित व्याख्या या सम्मति की अधिकाधिक गवेषणा और जाँच के अनुसार साहित्य मे परिवर्तन और सुधार की ओर प्रवृत्ति होती है और उसे उदार दृष्टि मिलती है।

यद्यपि निर्णयात्मक समालोचना आत्मप्रधान आलोचना की वैयक्तिकता को बहुत कुछ कम कर देती है तथापि प्राचीन नियमो की स्थिरता के कारण वह साहित्य की प्रगति मे बाधक होती है और उसके आधार पर की गई आलोचनायें नवीन कृतियो के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सकती। लक्ष्य ग्रन्थो के पश्चात् ही लक्षण ग्रन्थों का निर्माण होता है। अरस्तू ने अपने समय के नाटको के आधार पर नियम बनाये थे, यदि उन नियमों की कसौटी पर शेक्सपीयर के नाटकों की परख की जाये तो वे ठीक नही उतरेंगे। इसी प्रकार भरतमुनि तथा धनंजय ने जो नियम बनाये थे उनका

पालन भवभूति के उत्तर रामचरित मे नही हुआ। प्रगतिशील साहित्य के कारण आज आलोचना के मान ढीले हो गए हैं। अतः आज के व्याख्यात्मक आलोचक के समक्ष यह प्रश्न रहता है कि कवि का क्या उद्देश्य था ? वह क्या कहना चाहता था और वह कहाँ तक अपने प्रयत्न मे सफल हुआ ?

व्याख्यात्मक आलोचना का सबसे अधिक विवेचन मोल्टन (Moalton) ने किया है। उन्होने निर्णयात्मक समालोचना और व्याख्यात्मक आलोचना मे तीन भेद माने। पहला अन्तर तो यह है कि निर्णयात्मक आलोचना उत्तम-मध्य का श्रेणी भेद स्वीकार नही करती। व्याख्यात्मक आलोचना केवल प्रकार भेद मानती है।

निर्णयात्मक आलोचना तथा व्याख्यात्मक आलोचना मे दूसरा भेद यह है कि निर्णयात्मक आलोचना नियमो को राजकीय नियमों की भाँति मान कर उसका पालन करना अनिवार्य समझता है। किन्तु व्याख्यात्मक आलोचना लेखक या कवि के आत्मभाव की विशेषताओ को महत्व देती है और निर्णयात्मक आलोचना उसे नियमो की निर्जीव कसौटी पर परखना चाहती है।

तीसरा भेद यह है कि व्याख्यात्मक आलोचना नियमो को प्रगतिशील बतलाती है।

व्याख्यात्मक आलोचक के सबसे बड़े प्रचारक आचार्य शुक्ल थे और उन्होने लोक संग्रह के आधार पर तुलसी, सूर तथा जायसी का स्थान निर्धारित किया है।

वास्तव मे निर्णयात्मक आलोचना तथा व्याख्यात्मक आलोचना बहुत कुछ एक दूसरे पर आश्रित हैं। बिना व्याख्या के निर्णय मे यथार्थता नही आ सकती और व्याख्या मे भी कुछ शास्त्रीय नियमों का सहारा लेना पडता है। व्याख्यात्मक आलोचनायें हैं—कृष्ण बिहारी मिश्र का "देव बिहारी" तथा भगवान दीन का "बिहारी और देव"।

तुलनात्मक, ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक आलोचनायें भी इसी के अन्तर्गत आ जाती हैं।

२०—मार्क्सवादी आलोचना :—आधुनिक युग में एक अन्य प्रकार की समालोचना का भी प्रचार हो रहा है। इसे "मार्क्सवादी आलोचना" कहते हैं। मार्क्सवादी आलोचना का प्रतिपाद्य विषय प्रगतिवादी साहित्य है। यह आलोचना "कला" के सिद्धान्तो को उतना महत्व नही देती जितनी किसानो, मजदूरो, दलितो तथा शोषितो की भौतिक आवश्यकता को। वास्तव में मार्क्सवादी समालोचक का क्षेत्र है वर्गहीन समाज। मार्क्सवादी समालोचक का कहना है कि साहित्य युग परिस्थितियो के अनुसार ही अग्रसर होता है। यह युग चेतना विभिन्न कालो में पृथक-पृथक हुआ करती है। समाज की उन्नति का जब आदिकाल था तब वर्ग संघर्ष का प्रश्न नही था जैसा कि एन्जिल्स ने लिखा है—

"In all the earlier stages of society production was essentially in common. There was not a class, a catagory

of workers and another class. The consumption of the goods produced by men was also in common. That is primitive communism."

अतः उस समय मनुष्य ने प्रकृति के गाने गाये। फलस्वरूप वरुण, वायु, उषा, सूर्य तथा चन्द्र आदि की उपासनाये लिखी गईं। धीरे-धीरे आर्थिक परिवर्तनों एवं अर्थ व्यवस्था के फलस्वरूप शोषक एव शोषित के वर्ग बन गये। यथा :—

"The transition first from guild handicrafts to manufacture and then from manufacture to large scale industory with steam and mechanical power, had caused the development of the two classes."—(एन्जिल्स)

इसी कारण वर्तमान युग मे वर्ग-संघर्ष हमारे सम्मुख उपस्थित हो गया है।

आज मजदूरों को वेतन उनके परिश्रम के अनुपात से न दिया जाकर जीने मात्र के लिए दिया जाता है। श्रमिक वर्ग का रक्त चूस-चूस कर ही पूंजीपती धनवान हुए हैं। वर्तमान युग के इस संघर्ष की उपेक्षा करना मानो युग चेतना की उपेक्षा करना है।

मार्क्सवादी समालोचक का इस सम्बन्ध में यह भी कहना है कि साहित्य में जिन सिद्धो एव साधुओं का उल्लेख आता है वे इसी प्रतिक्रिया मे पले हैं। अतएव उन्होने अपने समय को चुनौती दी।

जन-साधारण की स्थिति का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—"खेती न किसान को भिखारी को न भीख है" इससे स्पष्ट है कि साहित्य युग चेतना को आधार मान कर चलता है।

मार्क्सवादी आलोचना के प्रसिद्ध आलोचक एवं उनकी कृतियाँ इस प्रकार हैं :—

(१) प्रगतिवाद (शिवदान सिंह)
(२) प्रगतिवाद (धर्मवीर भारती)
(३) प्रगति और परम्परा (डा० रामविलास शर्मा)
(४) नई समीक्षा (अमृतराय)
(५) प्रगतिवाद की रूपरेखा (शिवचन्द्र)
(६) हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद (शकर मल्ल)

उपर्युक्त विवेचन से वर्तमान आलोचना की गतिविधि पर प्रकाश पड़ता है।

उपसंहार :—

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आलोचक को कौन सी प्रणाली अपनानी चाहिए। सबसे श्रेष्ठ प्रणाली वह मानी जायेगी, जिसके द्वारा आलोचक अपना विवेचन स्पष्टतया प्रभावोत्पादक रूप मे देता है। यदि आलोचक किसी एक प्रणाली विशेष को आदर्श मानकर सम्पूर्ण आलोचना को उसी मे बाँधने का प्रयत्न करेगा

तो सम्पूर्ण साहित्य की समालोचना एक सी हो जायेगी और उसमे शुष्कता तथा नीरसता आ जायेगी। एक ही प्रणाली को आदर्श मानकर हम स्वयं तो उसमें बँध ही जायेगे और दूसरो को भी बाध्य करेंगे। फलतः आलोचना न रहकर एक स्वरीय साहित्यिक कीर्तन मात्र रह जायेगी। यह प्रवृत्ति साहित्य के लिए घातक है। पश्चिमी आलोचना क्षेत्र मे आलोचक जॉन ड्राइडेन का अत्यधिक महत्व है। वह कभी भी अपनी ओर से पक्की बात नही कहता। उन्होने अनुभव के आधार पर अपनी व्याख्या उलटी-पलटी है। यही कारण है कि उनकी आलोचना एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करती रहती है। लोकप्रिय समालोचक वह ही हो सकते हैं जिन्होने अपने अनुभव के साथ-साथ समस्त जीवन की विभिन्नताओं के दर्शन कराये हैं। डा० जॉनसन जो अंग्रेजी साहित्य के महान लेखक हैं लिखते हैं :—"कुछ आलोचक[1] हमें रह रह कर आश्चर्यित करते हैं और कुछ सदैव आनन्द प्रदान करते रहते हैं। इनकी आलोचना शैली की विशेषता यह है कि जब-जब ये आलोचना करते हैं स्वयं अपने व्यक्तित्व को स्पष्ट करते जाते हैं और हमें यह विश्वास होने लगता है कि जो कुछ भी ये लोग कह रहे हैं,'हृदय से कह रहे हैं।"

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि समालोचक को किस सीमा तक अपने व्यक्तित्व को दूर रखना चाहिए। कुछ समालोचक ऐसे होते हैं जो आलोचना को अव्यक्तिगत (इम्पर्सनल) बनाने के लिए अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से कलाकार के व्यक्तित्व मे समाहित करके अपना विवेचन करते हैं। किन्तु उनका यह प्रयत्न निरर्थक है, क्योंकि आलोचक तीन साधनो द्वारा ही कलाकार की आत्मा मे अपने को समाहित कर सकता है। वे साधन हैं—(१) प्रेम, (२) सहानुभूति, (३) स्वाभाविक सारल्य। और इन्ही साधनो द्वारा व्यक्तित्व भी प्रकाश मे आता है। जैसे-जैसे आलोचक इन साधनो को ग्रहण करता जाता है वैसे-वैसे वह अपने व्यक्तित्व को भी स्पष्ट करता जाता है। अतः अव्यक्तिगत आलोचना प्रशसनीय नही कही जायेगी। बहुत से आलोचक तो यह कहते हैं कि वे व्यक्तित्व को विलीन नही कर सकते। यह तो सत्य है कि वह ही आलोचक लोकप्रिय हो सके हैं और रहेगे जो अधिक मात्रा मे अपने व्यक्तित्व को स्पष्ट कर सके हैं तथा जिनकी भावनाओ तथा रुचियो का हमे अधिक से अधिक मात्रा मे परिचय मिलता रहेगा।

आज बहुत से मनुष्य आलोचको की खिल्ली भी उड़ाते हैं। उनका कहना है कि असफल कलाकार ही आलोचक बन जाते हैं तथा यह बहुत निकृष्ट वस्तु है, सदैव दूसरो के रक्त पर पनपती है। परन्तु ये सब धारणाएँ असगत हैं। आलोचना न तो दूसरे के रक्त से पनपती है और न असफल कलाकार ही आलोचक होते हैं। अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक तथा कवि कॉलरिज का उदाहरण इस सम्बन्ध में हम देते हैं। वे आलोचक तथा कवि दोनो रूपों मे सफल हैं। वे न तो हीन

१. ड्राइडेन, जॉनसन, हैजलिट, कॉलरिज, लैम्ब।

आलोचक हैं न असफल कलाकार। उनकी आलोचना में व्यक्तित्व तथा कला के व्यापक महत्व के दर्शन होते हैं। उन्होने काव्य के समान समालोचना मे भी जीवन तत्वो को प्रदर्शित किया है।

"आलोचना को श्रेष्ठातिश्रेष्ठ अथवा उत्कृष्ट स्तर पा लेना असम्भव है; और किसी भी महान कलापूर्ण रचना की निर्णयात्मक आलोचना मानव-शक्ति के परे होगी। किसी भी आलोचक ने किसी बड़े कलाकार की प्रतिभा पर अन्तिम निर्णय देने की धृष्टता नहीं की। प्रत्येक नवीन आलोचक कलाकार के व्यापक कलाक्षेत्र से कोई न कोई नवीन तथ्य ढूँढ निकालता है और श्रेष्ठ कलाकार भी वही है जो आलोचक के इस प्रयत्न को पूर्णतया सफल होने दे। "जिन ढूँढा तिन पाइयाँ" वाला आदर्श आलोचको का भी होना चाहिए। जीवन से सम्बन्धित सभी कलाएँ अपने अन्तर में अनेक गोपनीय पहेलियाँ छिपाए रहती हैं और आलोचक नेति नेति कहता हुआ भी अपना प्रयत्न नहीं छोड़ता। भारतीय आलोचकों को भी इसी प्रयत्न में सलग्न रहना हितकर होगा।"[२]

"तुलना और इतिहास के आधार पर साहित्य की आलोचना"

साहित्य युग अन्तर का मुकुर कहलाता है। युग विशेष की विचारधारा एव भावनाओ की छाप उस युग के साहित्य पर अवश्य पड़ती है। अतः साहित्य पर विचार करते समय हमे उस युग विशेप की परिस्थितियो का अध्ययन एव सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। लेखक अथवा साहित्यकार अपनी प्रतिभा के सहारे ही अपनी कृति की रचना करता है। परन्तु स्वय उसकी प्रतिभा भी अपने युग की परिस्थितियो में ही विकसित एवं परिवर्तित होती है। अतः बिना उस युग का अध्ययन किए हम उस युग की कृतियो की सम्यक् आलोचना करने मे असमर्थ होगे। आधुनिक सामालोचना का दृष्टिकोण मार्क्स के इतिहास की वास्तविक व्याख्या पर प्रतिष्ठित है। मार्क्स के अनुसार मानव जीवन में आर्थिक समस्याएँ बहुत प्रभावशाली होती हैं और उनका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ता है। परन्तु मार्क्स का यह अभिप्राय कदापि नही था कि अन्य समस्याएँ साहित्य को प्रभावित ही नही करती। मार्क्स का मत यह था कि जिस युग मे जिस साहित्य की सृष्टि होती है उस युग की परिस्थितियो को ध्यान मे रखकर ही उस साहित्य पर विचार करना चाहिए और ये परिस्थितियाँ प्रधानतः आर्थिक होते हुए भी सम्पूर्णतया आर्थिक नही हैं। इनके साथ-साथ और भी समस्याएँ तथा व्यक्तिगत आशा आंकाक्षाओ की क्रिया-प्रतिक्रिया भी चलती रहती है। अतः समालोचक का काम होगा युग विशेष की परिस्थितियो एव उनकी प्रेरणाओ का द्वार उन्मुक्त करना। यही साहित्य की वास्तविक समालोचना होगी। यदि हम अग्रेजी Romantic Period साहित्य कृत का मूल्याकन केवल उसमे प्रयुक्त रस अलकार की दृष्टि से ही करेगे तो थोडे से ही रसिको को आनन्दोपलब्धि हो सकती है। पर यदि हम

२. आलोचना, इतिहास तथा सिद्धान्त—डा० एस० पी० खत्री।

यह बतावे कि वे रोमांटिक कवि थे और वे रोमान्टिक क्यों हुए काव्य रचना में उन्हे प्रेरणाएं कहाँ कहाँ से मिली—Rousseau, Godwin आदि का प्रभाव किस प्रकार उन्हे "प्रकृति की ओर लौट चलो" की ओर ले गया, किस प्रकार French Revolution को देख उसके मन मे राजतन्त्र के प्रति प्रतिक्रिया उठी तो हम उस कृति को अधिक पाठकों को समझा सकेंगे और समालोचक वास्तव में Intellectual middle man का कार्य कर सकेगा। परन्तु ऐसा करने के लिए समालोचक को उस युग की परिस्थितियों से तथा उनकी परिस्थितियों का उन कवियों पर पडे प्रभाव से अवगत होना पडेगा। आधुनिक युग में इसी पद्धति का अवलम्बन होने लगा है। Christopher Codwell ने Illussion or Reality तथा Rolf fox ने The Noble and the People इसी पद्धति पर लिखी हैं। Codwell ने Shakespeare की Tragadies के अन्तर्गत पात्रो के अन्तर्द्वंद्व का कारण उस युग के समाज को द्वन्द गत बताया है।

इस पद्धति के अनुसार हमे प्राचीन साहित्य का विचार उस युग की परिस्थिति की पृष्टभूमि पर ही करना चाहिए, नूतन युग की परिस्थिति की पृष्ठ भूमि पर नही। कभी-कभी हम गलती कर बैठते हैं और कहने लगते हैं कि गुप्त कालीन वेशभूषा तो बडी बेडौल हैं, ऋग्वेद मे तो अश्लीलता बहुत है। यदि हममें सम्यक् दृष्टि है और हमारी दृष्टि ऐतिहासिक परिस्थितियो का ध्यान रखे, तो ऐसे दोष काल के भागी न होंगे। इस पद्धति पर समालोचना करने में हमे युग के अनुरूप मनुष्य के समाज एवं शिल्प साहित्य का यथार्थ परिचय मिल जाता है।

जिस आलोचक की दृष्टि तुलनात्मक और ऐतिहासिक न होगी वह भले ही साहित्य का भाव ग्रहण करके भावुक बन जाय, पर वह सच्चा पारखी तो कभी नही हो सकता। तुलना के लिए पहले समालोचक को अपनी तुला ठीक करनी होगी। तुलना उन्ही कलाकारो की हो सकती है, जिनका देश एक हो और जिनकी सीमा और लोक रुचि एक सी हो। यदि किसी का विषय राजनीति है और दूसरे का शृंगार तो तुलना कैसे हो सकती है ? यदि एक कवि वीरगाथा काल में उत्पन्न होकर उस युग की परिस्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ साहित्य सृजन करता है तो उसकी तुलना आधुनिक युग मे उत्पन्न हुए आधुनिक परिस्थितियो से प्रेरित छायावादी कवि से कैसे हो सकती है। जो बिना देश काल का विचार किए शेक्सपियर और कालीदास की अथवा मिल्टन और माघ की तुलना करने लगते है वे धोखा खाते हैं। और प्राय: अनर्थ कर बैठते हैं। भारत की परिस्थितियाँ साहित्यिक परम्परा, इङ्गलैंड की परिस्थितियो तथा साहित्यादर्शों से बिल्कुल भिन्न थी। ऐसी अवस्था में हम भारतीय कवियो की तुलना पाश्चात्य साहित्यकारो से कैसे कर सकते है। भारत की तुला दूसरी है, यूनान या इङ्गलैंड की तुला दूसरी। इतना ही नही भारत के प्राचीन काल में आलोचना की कसौटी थी वह अर्वाचीन काल मे बदल गई है। यूरोप में भी अरस्तू के समय जो सौंदर्यात्मक समन्वित आलोचना की पद्धति थी (Aesthetic criticism) वह अब मार्क्स की नूतन पद्धति द्वारा पदच्युत कर दी गई है।

कभी-कभी आंशिक तुलना लाभकर होती है पर उसे अधिक महत्व नही दिया जा सकता।

तुलना और इतिहास के साथ ही आलोचक को इस सामान्य बात पर भी दृष्टि रखनी चाहिए कि यद्यपि देश काल तथा व्यक्ति का भेद रखना परम आवश्यक है तथापि एक मानव आदर्श अथवा विश्व रुचि की भी स्थापना करनी पडती है। भाव जगत का पारखी कवि जब साधारणीकरण की अवस्था मे कुछ रचता है तो उसकी कृति विश्वास की सम्पत्ति हो जाती है। यद्यपि कवि के साधन देश-काल से सीमित रहते है। तथापि उन साधनो के भीतर एक प्रकाश छिपा रहता है जिसे परखना और पहचानना समालोचक तथा सहृदय दोनों का ही कर्त्तव्य है।

समालोचक

समालोचक शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे यही कहा जा सकता है कि जो धातु, उपसर्ग प्रत्यय समालोचना शब्द की सिद्धि करते है, वे ही समालोचक शब्द की प्रयोग सिद्धि करते हैं।

समालोचक "पथ निर्माता" के रूप मे हमारे सम्मुख आता है। समालोचना के महान् कार्य को करने के लिए समालोचक को अनेक प्रकार के उपायो, प्रयत्नों, प्रसाधनों, सहायकों तथा अन्वेषणो की आवश्यकता होती है। उसे अनेक ग्रन्थों, लेखकों तथा अन्य समालोचको के विचारो से सहायता लेकर अपना कार्य करना होता है। समालोचक अपनी खोजों से अनेक कविरत्नो एव मूल्यवान भाव-सम्पत्ति से भाषा के भडार को सम्पन्न करता है। भापा की साहित्यिकता तथा समृद्धता उच्च-कोटि के समालोचकों पर ही निर्भर है। विश्व की समस्त भाषाओं मे सस्कृत साहित्य ही सबसे अधिक सम्पन्न है। इसका प्रधान कारण उस भाषा के प्रकांड आचार्य ही हैं, जिन्होने प्रत्येक विषय पर अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों की सृष्टि की।

संस्कृत साहित्य में भापा, साहित्य, दर्शन, शास्त्र सभी का शास्त्रीय निरूपण मिलता है। व्याकरण, ज्योतिप, आयुर्वेद, उपनिषद्, वेदान्त, योग, साख्य, न्याय, मीमासा, काव्य, इतिहास, पुराण आदि सभी का शास्त्रीय विवेचन इस भाषा में हुआ। आज हिन्दी साहित्य में भी समालोचना के ग्रन्थो का अभाव नही है।

कवि तथा लेखक काव्य की सृष्टि करता है। किन्तु उस काव्य मे से कौन सी सामग्री पठनीय है तथा कौन सी अपठनीय है, इसका निर्णय समालोचक के द्वारा ही होता है। किसी जाति अथवा समाज के लिए जो आदर्श अनिवार्य है, उनका अन्वेषण समालोचक ही करता है। समालोचक केवल नव साहित्य का निर्माण ही नही करता, अपितु लुप्त प्राचीन साहित्य का अन्वेपण भी करता है। जहाँ कवि भावुक होता है वहाँ समालोचक विचारक होता है। समालोचक ही इस बात का निर्णय करता है कि किस युग में किस प्रकार का साहित्य उपयोगी होगा। राष्ट्र निर्माण तथा भाषा निर्माण में समालोचक का कार्य कवि की अपेक्षा महान है।

काव्य की सृष्टि कवि या लेखक करता है किन्तु उसकी परख समालोचक ही करता है। कहा भी गया है—"कवि कवयते काव्यं, मर्म जानाति पण्डितः।"

प्रत्येक व्यक्ति समालोचक नही हो सकता। समालोचक मे समालोचना शक्ति प्रकृति प्रदत्त होती है। दार्शनिको तथा वैज्ञानिको के गुण तीन प्रकार के माने है—

(१) स्वभावज, (२) स्वोपार्जित (३) पैतृक।

१—स्वभावज :—ये गुण कर्मानुसार जन्म जन्मान्तरो से सचित होकर व्यक्ति विशेष को प्राप्त होते है।

२—स्वोपार्जित :—इन गुणो को व्यक्ति विद्या तथा सत्सग आदि के द्वारा उपार्जित करते है।

३—पैतृक :—पैतृक गुण वे होते है जिन्हे मनुष्य अपने माता पिता से परम्परागत सम्पत्ति के रूप मे प्राप्त करता है। साधारण मनुष्यो की अपेक्षा समालोचक मे यह गुण अधिक मात्रा मे होते है।

इन गुणो के अतिरिक्त समालोचक मे अन्य भी गुण होते है जिनका विस्तृत रूप से वर्णन हम आगे करेंगे।

आज के सघर्ष प्रधान युग मे समालोचक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह किसी की रचना का केवल दोषोन्वेषण ही न करे। वह लेखक तथा कवियो के दोष दूर करने के साधन भी सुझावे। एक अग्रेज विद्वान् ने समालोचक के सम्बन्ध मे लिखा है—

"काव्य का सच्चा आलोचक स्वयं कवि ही होता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार इंजिनियरिंग का आलोचक स्वयं इजीनियर है।"

समालोचक को गुण-दोष का विवेचन करते समय इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि कुछ भूले ऐसी होती है जो महाकवियो के लिए अक्षम्य तथा सधारण कवियो के लिए क्षम्य होती हैं, उसी प्रकार कुछ साधारण गुण महाकवियो के लिए नगण्य होते है तथा साधारण कवियो के लिए अति प्रशसनीय समझे जाते है। अतः इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए समालोचक को अपना कार्य करना चाहिए। उसे—

"अन्त: शाक्ताः वहिः शैवाः सभा मध्येनु वैष्णवाः।
नारा रूप धारा. कौला विचरन्ति महीतले॥"

वाली उक्ति का अनुसरण नही करना चाहिए।

आज समालोचक का कार्य "समालोचना" करना नही है, वरन् निर्माण का महान् कार्य करना है। जिन नवकवियो की नवकृतियाँ प्रकाश मे नही आई हैं, उन नवरत्नो की खोज करके उनका उद्धार करना आज के समालोचक को आवश्यक है। समालोचक साहित्य की सच्ची सेवा तभी कर सकता है जब वह सत्य, न्याय, कर्त्तव्य-परायणता तथा गुण ग्राहकता को अपनाये।

समालोचक के अपेक्षित गुण—समालोचना करते समय समालोचक को कुछ सिद्धान्तों, नियमो, तर्कों, प्रमाणो, प्रसगों, प्रकरणो तथा उक्तियों का आश्रय लेना पड़ता है। किसी रचना को समझने के लिए उसे विस्तृत अध्ययन तथा मनन की आवश्यकता है। उसे प्रत्येक युग के साहित्य का ज्ञान आवश्यक है। वह भूत, वर्तमान, भविष्यत्—तीनों का त्रिकाल दृष्टा होता है। इसी की सहायता से वह प्राचीन आदर्शों के आधार पर वर्तमान समस्याओं का हल करता है। समालोचक के सम्बन्ध मे टी० एस० इलियड ने लिखा है—

"विचारवान समालोचक वह है जो कला की वर्तमान समस्या में रत रहता है और अतीत की शक्तियों को उन समस्याओं के हल करने में जोड़ता है।" उनका यह कथन पूर्ण सत्य है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन समस्याओ को हल करने के लिए उसे किन-किन नियमो एवं कर्त्तव्यो का सहारा लेना पड़ता है तथा उसमे किन-किन गुणो का होना अपेक्षित है, जिन गुणो के द्वारा वह अपने कर्त्तव्य का पालन करता है।

यहाँ हम सत्समालोचक के अपेक्षित गुणों का उल्लेख करेंगे।

(१) **पक्षपात शून्यता:**—यह आलोचक का प्रथम गुण है। इस गुण के अभाव में श्रेष्ठ समालोचना सम्भव नही। व्यक्तिगत पक्षपात होने से रचना की वास्तविकता नष्ट हो जाती है और रचना की आलोचना के स्थान पर व्यक्ति की प्रशसा होने लगती है। विरति अथवा विराग के गुण को प्रयोग मे लाते ही समालोचक पक्षपात शून्य हो जाता है। वह बिना किसी मोह के सबको समान समझेगा तथा परखेगा। वह प्रयोगात्मक वस्तुओ तथा विचारो से सजग होकर उनसे किसी भी प्रकार अपने को प्रभावित न होने देगा। वह उन्ही नियमों को ग्रहण करेगा जो नैसर्गिक रूप में उस क्षेत्र पर लागू हो सके और यह नियम होगा विचार स्वातन्त्र्य। वह स्वच्छन्द रूप से अपने मस्तिष्क को प्रस्तुत विषय मे विचरण करने देगा। वह किसी प्रचलित वाद की सकुचित गली में गमन नही करेगा और न विचारों की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता पर ही ध्यान देगा। वह राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक लगाव लिपटाव को प्रश्रय न देगा। संक्षेप मे प्रयोगिकता से वह सर्वथा दूर रहेगा।

पक्षपात रहित होकर ही समालोचक ससार तथा जीवन के विशिष्ट विचारों का सुबुद्धिपूर्ण सचय अथवा उनका सम्यक् ज्ञान करा सकता है। जिसके फलस्वरूप मौलिक तथा सत्य विचारधारा का अविरल प्रवाह प्रवाहित होता रहता है। पक्षपात शून्य होकर ही समालोचक पाठक को ऐसा मार्ग बता सकता है जो उनके लिए श्रेयस्कर तथा उपयोगी हो।

जिस आलोचक में ये गुण वर्तमान होगे उसकी आलोचना ही श्रेष्ठ कही जायेगी। वह न तो किसी वर्ग अथवा वाद को महत्व देगा और न उसमें लिप्त

होगा। वह न तो किसी का शत्रु होगा, न मित्र, न सहकारी, न सहयोगी। वह अपने कर्त्तव्य पर अटल रहेगा। ऐसे समालोचक की समालोचना ही मौलिक विचारो से समुन्नत रहती है। पक्षपात रहित होकर ही समालोचक समुन्नत तथा मौलिक विचारो के साथ अपने कर्त्तव्य पथ पर चलता है।

(२) विस्तृत ज्ञानः—आलोचक का दूसरा गुण है विस्तृत ज्ञान। उसे अपनी भाषा के साहित्य का ही ज्ञान नही होना चाहिए वरन् अन्य साहित्यो का ज्ञान भी आवश्यक है। यदि ऐसा न हुआ तो उसकी आलोचना थोथी, एकागी तथा निम्न कोटि की प्रतीत होगी। तुलनात्मक ज्ञान सत् समालोचना का प्राण है। यदि समालोचक अन्य देशो के साहित्य की अपेक्षा अपने साहित्य को ही समुन्नत समझता रहेगा तो वह समालोचक के पद से च्युत होकर राष्ट्रीय भाट हो जायेगा। कविवर क्षेमेन्द्र का विचार है कि जिस प्रकार एक कवि वा लेखक को वहुज्ञ होना आवश्यक है उसी प्रकार एक समालोचक को भी वहुज्ञ या विस्तृत ज्ञान वाला होना वांछनीय है। समालोचक किसी भी आलोच्य विषय की समालोचना तभी कर सकता है जब वह अनेक विषयो तथा अनेक भाषाओ का ज्ञाता हो। यदि वह किसी काव्य की आलोचना करता है तो उसे काव्य भाषा, व्याकरण, रस, अलकार, छन्द, इतिहास, समाज, राजनीति आदि अनेक प्रकार के शास्त्रो का ज्ञान अभीष्ट है। विषयो के साथ अनेक युगों का भी ज्ञान हो तो और भी अच्छा।

वर्क (Burke) का विचार है कि—"यह कार्य तभी हो सकता है जब आलोचक पूरी तरह जीवन के विषय में ज्ञान रखता हो।"

"The knowledge of the past, the memory of the past, the culture of common passion of which makes intelligent conversation possible and exchange of ideas fruitful."

अपने विस्तृत ज्ञान के द्वारा ही श्रेष्ठ आलोचक विश्व तथा जीवन में जो भी उत्कृष्ट, मौलिक तथा उन्नत विचारो का आलोक विकीर्ण है, उन्हे समन्वित करके आलोचना का मनोमुग्धकारी विशाल भवन साहित्य क्षेत्र में निर्मित कर देता है।

(३) सहानुभूति.—आलोचक का तीसरा गुण है—सहानुभूति। इस गुण को हम आलोचक का सच्चा मित्र कह सकते हैं। प्रत्येक समालोचक के अपने कुछ विशिष्ट सिद्धान्त होते हैं और उनके आधार पर ही वह किसी रचना की आलोचना किया करता है। यदि किसी रचना के विचार आलोचक के सिद्धान्तो की सीमा में नही आते तो वह उनका विरोध करता है। साहित्य क्षेत्र में इस प्रकार का विरोध उचित नही। अतः समालोचक के सम्मुख एक उलझन उत्पन्न हो जाती है। इस उलझन से मुक्त करने वाला गुण सहानुभूति ही है। सहानुभूति आलोचक की महान् विभूति है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है—"सहानुभूति चाहिए महाविभूति है यहीं।"

एक महान् दर्शनवेत्ता का मत है कि—"श्रेष्ठ साहित्य कवि कसौटी श्रेष्ठ लेखकों द्वारा नहीं निर्मित होती वह समकालीन पाठकों के मानसिक स्तर और सहानुभूति के बल पर ही निर्मित होगी।" यह ठीक भी है। क्योंकि प्रायः यह देखा गया है कि जनता तथा आलोचक वर्ग—दोनो की उपेक्षा ने अनेक मौलिक साहित्यकारों को हतोत्साहित कर दिया। जिसका फल यह हुआ कि लेखकों ने तत्कालीन आलोचको तथा समकालीनो की उपेक्षा करते हुए अपने को भविष्य के निर्णय पर छोड दिया। अतः समालोचक को सभी लेखको से सहानुभूति रखना चाहिए और साहित्य जगत में प्रोत्साहन देना चाहिए।

आलोचक को सफल आलोचना लिखने के लिए प्राचीन साहित्य तथा प्राचीन युग का पूर्ण ज्ञान सतत अपेक्षित है। इस ज्ञान के अभाव मे आलोचना का कोई भी श्रेष्ठ स्तर नही बन सकता। आलोचक को विदेशी साहित्य में भी पारगंत होना वाछनीय है। क्योंकि जब तक उसे विदेशी साहित्य का ज्ञान न होगा, तब तक उसका हृदय सकुचित रहेगा तथा उसका दृष्टिकोण एकागी होगा। विदेशी साहित्य ज्ञान उसके रूढिगत विचारो का परिमार्जन करेगा और उसके आधार पर वह सभी देशो के साहित्य का उचित मूल्याकन कर सकता है जिस प्रकार बालक अपने सहपाठियों तथा सहयोगियों के सान्निध्य से नि स्वार्थता, सहयोग तथा सहानुभूति प्रदर्शन में दक्ष हो जाता है उसी प्रकार आलोचक का। प्राचीन तथा अन्य विदेशी साहित्य ज्ञान उसकी सहानुभूति को विस्तृत करता है, उसे निष्पक्ष बनाता है तथा सभी देशों के साहित्य को समयक् रूप से समझने का ज्ञान देता है।

(४) **सौन्दर्यानुभूति क्षमताः**—समालोचक में सौन्दर्यानुभूति का गुण भी आवश्यक है। सौन्दर्योपासक होने पर ही वह साहित्य के सत्यं, शिवं, सुन्दरम् को पहचान सकेगा। काव्य का सौन्दर्य चर्म-चक्षुओं द्वारा प्राप्त नही होता। सौन्दर्यानु-भति आत्मा का गुण है। अनुभव के द्वारा इस अनुभव की पहचान पड़ती है। इस अनुभव के द्वारा ही आलोचक अनुभूति के समीप पहुँचता है।

श्रेष्ठ आलोचक की परख यही रहेगी कि वह कला के अनेक तत्वो का तर्क पूर्ण विवेचन देने, उसकी व्याख्या करने तथा उस पर टीका-टिप्पणी लिखने की अपेक्षा सौन्दर्यानुभूति को प्रधानता दे। विवेचन, व्याख्या, टीका तथा टिप्पणी कला के हित के लिए तो आवश्यक है और उसका अपना महत्व भी है परन्तु यह महत्व सौन्दर्यानुभूति की शक्ति के समक्ष गौण है। जो भी आलोचक सौन्दर्य को देखकर आनन्दित हो जाय, "सत्य" तथा "सुन्दरम्" का प्रकाश पाते ही आलोकित हो जाय तथा मौलिक भावनाओं अथवा शैली का दर्शन करते ही उत्साहित तथा उत्तेजित हो सके, श्रेष्ठ आलोचक होगा। श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए आलोचक में सहज रसानुभूति का गुण भी अपेक्षित है। उसे अपने मस्तिष्क के अलौकिक प्रभावों को ग्रहण करना होगा। उस सहज रसानुभूति की व्याख्या तथा वर्गीकरण बाद में करे। प्रथम उसे सौन्दर्य के दर्शन कर उसकी ओर उन्मुख होना चाहिए और अपने विशाल

हृदय को आलोकित तथा विकसित करना चाहिए। कहने का अभिप्राय यह है कि आलोचक को सौन्दर्य तथा मौलिकता के दर्शन करते ही आलोकित होना वांछनीय है। जिस आलोचक में सौन्दर्यानुभूति का गुण होगा वह प्रत्येक सौन्दर्ययुक्त विषय अथवा विचार को सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर सकता है।

"वास्तव में सर्वश्रेष्ठ आलोचक वही है जो मूर्तिवान सौन्दर्यानुभूति के लिए हमें प्रेरणा दे और सर्वश्रेष्ठ आलोचना वही है जो हमें अपनी इन्द्रियों द्वारा रसानुभूति देने में संलग्न रहे।" हेजलिट का विचार था कि—"आलोचक की हैसियत से मैंने उसी को अपनाने की चेष्टा की जो मुझे रुचिकर हुआ और उस रुचि की व्याख्या तथा उसका समर्थन जब मुझे आवश्यक लगेगा और मेरी शक्ति के बाहर न होगा, मैं सहर्ष करूँगा।"

वाल्टर पेटर ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है—"आलोचक वही है जो कलाकार के गुणों को हृदयगम करके उनका विवेचन पाठको के सम्मुख प्रस्तुत करे।"

एक फ्रांसीसी साहित्यकार ने आलोचक को—"आनन्द का प्रसारक कहा है।"

यह तो सत्य है कि साधारण मनुष्य की अपेक्षा आलोचक मे कला की रसात्मकता तथा उसके द्वारा आनन्दानुभूति की क्षमता विपुल मात्रा में होती है। अतः दूसरो को आनन्दानुभव देने से पूर्व आलोचक के लिए यह अपेक्षित है कि वह स्वयं अपने को इस योग बनाये कि वह सहज मे ही आनन्दानुभूति प्राप्त कर सके। यदि उसमें सौन्दर्यानुभूति का गुण नही है तो वह आनन्द का अनुभव नही कर सकता। आलोचक का दृष्टिकोण एकाकी न होकर सर्वागीण होना चाहिए। तभी उसकी आलोचना निष्पक्ष हो सकती है। एकागी दृष्टिकोण होने पर आलोचक उन्ही कलाकारो से प्रभावित होगा जो उसे प्रिय हैं तथा जिनके साथ उसकी सहानुभूति गहरी है। यह भी हो सकता है कि इस एकागी दृष्टिकोण द्वारा वह कलाकार की अति श्रेष्ठ आलोचना प्रस्तुत कर ले जो उसे प्रिय हो। चाहे इस प्रकार अन्य कलाकारो की आलोचना निष्प्राण अथवा दूषित हो।

(५) शुद्धाचरण १:—समालोचक पर समाज के जीवन का उत्तरदायित्व है, अतः उसके लिए अनिवार्य है कि वह सदाचारी हो। मनुष्य के अन्तर्गत तथा वाह्य जगत पर सदाचार का प्रभाव बहुत अधिक होता है। हमारी बुद्धि, विचार एवं भावनायें हमारे आचरण का ही अनुसरण करती हैं तथा उनसे प्रभावित होकर ही हमारी रचनाओ, कृतियो तथा समालोचनाओ का जन्म होता है। अत समालोचक में शुद्धाचरण का गुण अपेक्षित है।

प्रभावशाली व्यक्तित्व—समालोचक का व्यक्तित्व प्रभावशाली होना आवश्यक है। व्यक्तित्वहीन आलोचना किसी भी रूप में ग्राह्य नही हो सकती। वह आलोचक ही क्या जो गिरगिट के समान अपना रग बदलता रहे। जिस आलोचक का व्यक्तित्व जितना प्रभावशाली होगा, उतनी ही उसकी आलोचना भी प्रभावपूर्ण

होगी तथा वह कलाकारों की आलोचना सफलतापूर्वक कर सकता है। प्रभावशाली व्यक्तित्व पूर्ण आलोचक कला की प्रेरणा को भी सम्यक रूप में ग्रहण करेगा और उसे रसानुभूति भी उचित रूप में अधिक मात्रा में होगी। जिस रूप मे उसे आनन्द तथा रस की अनुभूति होगी उसी रूप अथवा मात्रा मे वह पाठकों को भी करायेगा। श्रेष्ठ आलोचक वही है जो साहित्य से अपने हृदय को तरगित करे अपनी प्रतिभा के बल पर उसकी आलोचना अथवा व्याख्या करे, तथा जिस अलौकिक आनन्द की प्राप्ति उसे हो उसका रसास्वादन पाठको को भी कराये। आलोचक में भी कलाकार की क्रियात्मक प्रतिभा होना वांछनीय है। समालोचक में साहित्य की मीमांसा, उसके विश्लेषण तया व्यवच्छेदन के पश्चात उसमे पुनः प्राणप्रतिष्ठा करके उसका मूल रूप द्वारा प्रस्तुत करने की विशेष योग्यता होनी चाहिए। समालोचक में साधारण लेखक की अपेक्षा ज्ञानाधिक्य तथा अनुभवात्मक शक्ति अधिक होनी चाहिए। उसमे कलाशैलियों का ज्ञान तथा कलाकार की कलात्मक अनुभूति को पुनः प्रकाशित करने की विपुल क्षमता होनी चाहिए। अतः आलोचक मे ये गुण अत्यन्त अपेक्षित हैं।

निर्भीकता तथा स्पष्टवादिता का गुण भी प्रभावशाली व्यक्तित्व मे आ जाता है। समालोचक को निर्भीक होना चाहिए। निर्भीकता के द्वारा ही वह स्पष्टवादिता का निर्वाह कर सकता है। एक निर्भीक आलोचक ही यह उद्घोषित कर सकता है कि अमुक कवि या लेखक की रचना में अमुक दोष है।

R. S. Scott James ने लिखा है—"वह निर्भयतापूर्वक कवि से यह कह सकता है कि नहीं इस प्रकार नहीं यह ऐसा होना चाहिए था, तुम्हें इस प्रकार दिखलाना चाहिए था इसके विपरीत यदि वह (समालोचक) निर्भीक नहीं होता तो व्यक्तिगत प्रभाव के कारण अथवा अन्य दबाव के कारण वह मिथ्या प्रशंसा वा निन्दा करने के लिए बाध्य हो जाता है।"

(७) सत्यप्रियता—समालोचक मे सत्यप्रियता का गुण भी अपेक्षित है। सत्यप्रिय सामालोचक ही किसी रचना की निस्सकोच भाव से प्रशसा कर सकता है। ऐसा ही समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समान सूर के भ्रमर गीत मे गोपियो के विरह को—"ऐसा लगता है कि मानो गोपियो को रोने धोने के सिवाय कोई काम ही नहीं रह गया है" अस्वाभाविक कह सकता है।

(८) गुण ग्राहकता समालोचक का आठवाँ गुण—"गुण ग्राहकता" है। गुण ग्राहक समालोचक सर्वप्रथम गुणो को ही अपनाता है। वह खोज-खोज कर गुण रत्नों को प्रकाश मे लाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि दोषो की ओर उसकी दृष्टि ही नही जाती, वरन् इसका अभिप्राय यही है कि गुणो को ग्रहण करने की ओर ही उसकी अधिक प्रवृत्ति रहती है केवल दोषो पर ही अपनी दृष्टि रखना समालोचक को अभीष्ट नही।

(९) समवेदनशील—समालोचक में संवेदनशीलता का गुण भी अनिवार्य है। एक सत्समालोचक को सवेदनशील होना वांछनीय है। समालोचक में यदि

ईर्ष्या की भावना होगी तो वह रचना पक्ष से दूर हो जायेगा तथा कलाकार के प्रति उचित न्याय नही कर सकेगा। वह लेखक पर कटूक्तियो की बौछार करने लगेगा। संवेदनशील होने पर वह ईर्ष्या से बहुत दूर हो जायेगा और शिष्टतापूर्वक आलोच्य विषय की आलोचना कर सकता है।

(१०) **सुरुचि एव सद्भावपूर्णता**—सफल समालोचक मे सुरुचि तथा सद्भाव का होना भी आवश्यक है। सफल समालोचना के लिए समालोचक मे इन गुणो का होना वाँछनीय है। सुरुचि के द्वारा ही समालोचक किसी रचना के प्रति आकृष्ट होता है तथा सद्भावना उसे रचयिता के प्रति न्याय करने की क्षमता प्रदान करती है। यद्यपि समालोचक मे रचना के गुणो द्वारा सुरुचि होती है तथापि सुरुचि की स्थिति व्यक्ति मे होती है, विषय मे नही।

(११) **गम्भीरता, धीरता एवं शान्तचित्तता**—समालोचक के लिए गम्भीरता, धीरता, एव शान्तचित्तता आदि गुण भी अपेक्षित हैं। इन गुणो का समावेश हो जाने पर ही समालोचक अपने कर्त्तव्य का उचित पालन कर सकता है।

(१२) **विषय समीपता**—समालोचक मे विषय की समीपता का गुण भी अनिवार्य है। विषय की समीपता से अभिप्राय है आलोच्य विषय का सम्यग ज्ञान। उसे उन्ही विषयो की आलोचना करना चाहिए जिनका उसको पूर्ण ज्ञान हो। यदि उसे वास्तु कला का ज्ञान नही है तो उसके सम्बन्ध में कुछ लिखना उचित नहीं।

प्रत्येक लेखक मे प्रतिभा की विलक्षणता होती है। सभी व्यक्तियो में उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध लिखने की प्रतिभा नही होती। किसी की प्रतिभा नाटक मे प्रस्फुटित होती है तो किसी की उपन्यास मे। इसी प्रकार सभी समालोचकों मे सभी विषयो पर समालोचना करने की योग्यता नही होती। ऐसे समालोचकों की संख्या कम है जो सभी विषयो पर सफलतापूर्वक समालोचना कर सकते हैं।

अत. समालोचक के लिए यह आवश्यक है कि आलोचना करने से पूर्व विषय की समीपता प्राप्त कर ले।

(१३) **मानसिक दक्षता**—मानसिक दक्षता भी समालोचक का एक गुण है। मानसिक दक्षता से अभिप्राय मनोवैज्ञानिक ज्ञान से है। समालोचना तथा मनोविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनोवैज्ञानिक आलोचना समालोचना का एक प्रमुख भेद है। आज की आलोचना पद्धति में मनोविज्ञान का विशेष महत्त्व है। अतः समालोचक को मनोविज्ञान के द्वारा मानसिक दक्षता प्राप्त करना अनिवार्य है।

(१४) **प्रत्युत्पन्न मतित्व एव वाक्पटुत्व**—एक सफल समालोचक के लिए इन गुणो का होना भी अपेक्षित है क्योंकि इन गुणो के द्वारा उसमे तुरन्त प्रत्येक बात का उत्तर देने की क्षमता आती है। इन्ही गुणो द्वारा उसमे चातुर्य का समावेश होता है। समालोचक लेखक तथा वक्ता दोनो होता है।

(१५) **मानसिक नियन्त्रण एवं मनस्तत्परता**—समालोचक में मानसिक नियन्त्रण का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। मानसिक चाञ्चल्य समालोचक के

लिए हानिकारक है। नियन्त्रण के द्वारा ही समालोचक मे अध्ययन की तत्परता आती है।

(१६) निर्णयात्मक शक्ति--पाठकों को सौन्दर्यानुभूति कराने के लिए यह आवश्यक है कि समालोचक में निर्णयात्मक क्षमता हो। आलोचक से पाठक यह आशा करते हैं कि साहित्य अथवा कला पर वह अपना निर्णय प्रस्तुत करे। अतः समालोचक के लिए निर्णयात्मक गुण का होना अत्यन्त आवश्यक है। आलोचक को निर्णय देना एक प्रकार से अनिवार्य है। इसका यह भी अभिप्राय नही है कि वह मनमाना निर्णय दे। इस बात का समालोचक को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि कोई निर्णय आदर्श निर्णय नही हो सकता। अपने विचारो के अनुसार सभी मनुष्य अपना निर्णय देने में स्वतन्त्र हैं। आलोचक का निर्णय तभी मान्य हो सकता है जब वह कला तथा कलाकार के अन्यान्य सम्बन्धो को मनन करके अपना निर्णय दे। श्रेष्ठ आलोचक का यह उत्तरदायित्व है कि वह हितकर निर्णय दे। चाहे वह उपन्यास की व्याख्या करे, चाहे कविता की, चाहे नाटक की और चाहे कहानी की उसे सभी स्थानों पर अपनी निर्णयात्मक शक्ति का प्रयोग करना होगा। उसे आलोच्य विषय में से कुछ को छोड़ना होता है, कुछ को ग्रहण करना होता है। अतः समालोचक में निर्णयात्मक शक्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है। समालोचक को प्रत्येक युग तथा देश की साहित्यिक रुचि का अभिवादन करना पड़ता है। समालोचक यह कहने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है कि अमुक साहित्यकार की कृति मुझे रुचिकर नही परन्तु उसे यह कहने का अधिकार नहीं कि दूसरे उस कृति को न पढें। उसे यह कहते हुए भी कि अमुक रचना मुझे रुचिकर नही यह बताना होगा कि उसमें श्रेष्ठता है, भव्यता है, प्रतिभा है, मौलिकता है तथा जीवन शक्ति है। किसी रचना के प्रति अपना निर्णय देने से पूर्व समालोचक को यह जानना पडेगा कि किसी रचना का उस पर क्या प्रभाव पडा और कहाँ तक वह उसे अच्छी या बुरी लगी।

सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वमान्य आलोचक न तो रूढि का अनुसरण ही करता है और न नियमों की सीमा मे ही बधा होता है। और न वह वाह्यवादी दृष्टिकोण से साहित्य का मल्याकन करता। उसे अपने मनोनुकूल साहित्य की अच्छाई या बुराई का निर्णय देना चाहिए। उसे दूसरे को भी उतनी ही स्वतन्त्रता देनी चाहिए।

यदि आलोचक कलाकार के लक्ष्य तथा उसकी पूर्ति को ध्यान में रखकर तथा वर्गो में विभाजित करके आलोचना करेगा तो उसका कार्य अत्यन्त सरल हो जायेगा। जब आलोचक वर्गीकरण के आदर्श को ग्रहण कर लेता है तब उसके श्रेष्ठ गुणों की रक्षा हो जाती है। परन्तु इस वर्गीकरण के साथ निर्णयात्मक शक्ति का होना भी अत्यन्त अपेक्षित है। समालोचक यदि साहित्य के वर्गीकरण के पश्चात अपना निर्णय देगा तो वह पाठको का और भी अधिक उपकार करेगा। समालोचक को अपने समय की विचारधारा का ध्यान रखते हुए अपने समय के साहित्य का अपनी रुचि के अनुसार मूल्लाकन करना है। समालोचना को श्रेष्ठ बनाने के लिए

समालोचक को अपने उत्साह तथा अपनी आनन्दानुभूति के आधार पर अपना निर्णय देना होता है। अतः समालोचक को निष्कपट भाव से वास्तविकता का प्रदर्शन करते हुए किसी रचना के प्रति अपना निर्णय देना पडता है।

निर्णयात्मक शक्ति के साथ-साथ समालोचक में तर्कणा शक्ति का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। तर्कणा शक्ति के द्वारा ही समालोचक तर्कपूर्वक आलोच्य वस्तु की अलोचना करते हुए उसके सम्बन्ध में अपना निर्णय देता है। वास्तव में इस शक्ति के अभाव में समालोचना का कार्य पूर्ण होना सम्भव नही। मिस्टर रस्किन (Ruskin) ने लिखा है—"No criticism without logical Talent" निर्णयात्मक आलोचना के लिए यह प्रधान साधन माना गया है।

(१७) **न्याय निष्ठा**—समालोचक मे न्याय निष्ठा का गुण भी अनिवार्य है। न्याय निष्ठा से अभिप्राय पक्षपातहीनता से ही है। तुलनात्मक आलोचना के लिए यह गुण अत्यन्त उपयोगी है। न्याय निष्ठा से ही वह आलोचना का उचित मूल्याकन कर सकता है। न्याय निष्ठा के अभाव में समालोचक स्वार्थी हो जाता है और अपने कर्त्तव्य पथ से गिर जाता है।

(१८) **हठवादिता का त्याग**—हठवादिता एक दुर्गुण है और उसका परित्याग एक गुण है। हठवादिता से अभिप्राय किसी सत्य का खण्डन करना तथा असत्य का मण्डन करना है। हठवादिता मे चाटुकारिता तथा दुराग्रह का अस्तित्व रहता है।

(१९) **समदर्शिता**—समदर्शिता का गुण समालोचक को व्यक्तिगत प्रभाव से मुक्त करता है। तथा इस गुण के द्वारा उसका हृदय इतना विशाल हो जाता है कि वह साधारण रचनाओ की भी पक्षपात होकर आलोचना कर सकता है।

(२०) **उदारता**—समालोचक मे उदारता का गुण भी अपेक्षित है। इस गुण के अभाव मे सभी गुण नीरस है। इस गुण के द्वारा समालोचक छोटे वडे परिचित, अपरिचित को अपना बन्धु समझने लगता है। वह समान दृष्टि से सब की रचनाओ का समादर करेगा। "उदार चरिताना तु वसुधैव निज कुटुम्वकम्" के अनुसार समस्त पृथ्वी उसका परिवार हो जाता है।

(२१) **सहृदयता**—समालोचक को सहृदय होना भी आवश्यक है। डा० झा "कवि रहस्य" मे इस गुण की प्रशसा करते हुए लिखते है कि—:'सहृदयता वह गुण है जिसका होना एक समालोचक में अनिवार्य है।" काव्य का रसास्वादन सहृदय व्यक्ति ही ले सकता है।

(२२) **सरसता**—सरसता तथा सहृदयता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः सहृदय समालोचक के लिए सरसता का गुण भी अपेक्षित है। इसी के द्वारा वह काव्य की आत्मा रस की मार्मिक अनुभति कर सकता है। काव्य सरस व्यक्तियो के लिए ही है। नीरस व्यक्तियो से काव्य वहुत दूर हो जाता है—

"अरसिकेषु कवित्व निवेदनं, शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख।"

(२३) भावुकता—काव्य मानव के भावों की सृष्टि है। और भाव प्रधान काव्य ही रसानुभूति कराने में समर्थ होते हैं। अतः रस के लोकोत्तर आनन्द को प्राप्त करने के लिए आलोचक को भावुक होना अनिवार्य है।

(२४) प्राकृतिक प्रेम—समालोचक में प्रकृति के प्रति भी अनुराग होना चाहिए। प्रकृति प्रेमी होकर ही वह कवीय के अन्तस में अवगाहन कर सकता है।

(२५) लोकानुभूति—समालोचक मे लोकानुभूति का होना भी वांछनीय है। इसके अभाव में वह कला की लोकपक्षीय उपयोगिता से वंचित रहेगा।

(२६) कुशाग्र बुद्धि—समालोचक को कुशाग्र बुद्धि वाला होना भी आवश्यक है। इस सम्बन्ध में जेम्स लिखते हैं:—'आलोचक सुनने वाला होता है। वह समझता है कि उससे कहा गया है—वह भूलता नहीं। वह रचना के मूल में से निकलती हुई ध्वनि को पहचान सकता है, वह उस ध्वनि को पसन्द और ना पसन्द दोनों कर सकता है।"

(२७) श्रेष्ठ शैली—समालोचक के लिए यह आवश्यक है कि वह श्रेष्ठ, सुन्दर तथा चित्ताकर्षक शैली मे अपनी आलोचना करे। शैली का महत्व आलोचना से कम नही है। आलोचक की लोकप्रियता उसकी श्रेष्ठ शैली पर ही अवलम्बित है। बहुत से आलोचक ऐसे होते हैं जिन्होने साहित्य की आत्मा का तो पूर्ण परिचय प्राप्त कर लिया है किन्तु दूसरो को वे हृदयगम कराने मे असमर्थ रहे। क्योकि उनकी शैली अत्यन्त दुरुह अस्पष्ट तथा जटिल है। अतः पाठकों के लिए उनके विचार बोधगम्य न हो सके। समालोचक को अपनी शैली में न तो अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करना चाहिए और न ऐसी विशेष शब्दावली का प्रयोग करना चाहिए जो साधारण पाठक की समझ के परे हो।

आज के समालोचक के सम्बन्ध मे डा० एस० पी० खत्री लिखते हैं—"आज का आलोचक या तो विद्वान मण्डली का सदस्य है अथवा चटपटी समालोचना वालों के नवीन वर्ग का सदस्य है। उन्नीसवीं सदी की सहज, सरल, स्वस्थ तथा सुरुचिपूर्ण आलोचना प्रणाली की साहित्यिक धारा एक प्रकार से सूख सी गई है। इस दृष्टि से इसी युग के आलोचकों का अनुसरण अपेक्षणीय होगा। क्योंकि इसी युग के समालोचकों ने अपनी विद्वत्ता घर-घर पहुँचाई, साहित्य की आत्मा की झाँकी दिखलाई, तथा एक अत्यन्त रुचिकर तथा साहित्यिक शैली में सौन्दर्य का दिग्दर्शन कराया। उन्होंने न तो विशेषज्ञ की शैली अपनाई और न ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र की विशेष शब्दावली का ही प्रयोग किया, उन्होंने केवल यह प्रयास किया कि उनके द्वारा पाठक वर्ग श्रेष्ठ साहित्य के निकट आता जाय और उसकी आत्मा का परिचय प्राप्त करता जाय।"

श्रेष्ठ शैली के साथ-साथ समालोचक को भाषा विज्ञ भी होना चाहिए। काव्यो में प्रयुक्त विविध प्रकार की भाषाओ का समालोचक को ज्ञान होना चाहिए। भाषा मे कब क्या परिवर्तन हुए इसका ज्ञान रखना भी समालोचक को अपेक्षित है।

शैलियाँ, रीतियाँ एवं ऐतिहासिक क्रम की प्रगतियो से भी उसका परिचय होना चाहिए। प्रो० आई० ए० रिचार्ड्स ने समालोचना की उपपत्ति भाषा विज्ञान से मानी है। उनका मत है कि "समालोचना का भविष्य भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में निहित है, क्योंकि शब्दों, अर्थो तथा उनकी वृत्ति के विषय में प्रश्न करना समालोचक का प्रथम कर्त्तव्य है। जिस प्रकार भौतिक विज्ञान द्वारा हमने वाह्य परिस्थितियों पर अधिकार प्राप्त किया उसी प्रकार शब्द विद्या द्वारा हम अपनी मानसिक वृत्तियों पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।"

Longinus ने लिखा है—"For beautiful words are the true and peculiar light of the mind." अर्थात् सुन्दर शब्द मस्तिष्क का एक विशेष प्रकाश होता है।

(२८) व्यवहार कुशलता—व्यवहार कुशलता भी समालोचक का एक गुण है। उसे लोक रुचि तथा जनता की विचारधारा को इतना ही महत्व देना पड़ता है जितना कि एक लेखक वा कवि को। R. A. Scott James लिखते है:—

"एक आलोचक यदि वह ऐसी रचना का अध्ययन कर रहा है जिसे संसार भर ने भली भाँति देख रखा है तो उसे उन सबके अध्ययन के विषय में भी विचारना पड़ेगा जो दूसरों ने किये है। उनके विचारों से उसे पुर्ननिर्माण में बड़ी सहायता मिलेगी।"

(२९) रचना कला पटुत्व—हमारे यहाँ "कवि कवयते काव्यं, मर्म जानाति पण्डितः" की उक्ति अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। "हर्बर्ट रीड" ने काव्य कला तथा आलोचना को पृथक-पृथक गुण माना है। किन्तु बहुत से विद्वानों का विचार है कि वही व्यक्ति समालोचक होने का अधिकारी है जो स्वयं रचना कला मे पारगंत हो। "काव्य की आलोचना का अधिकारी स्वयं कवि है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार इन्जीनियरिंग का अधिकारी स्वय इन्जीनियर है।"

इस प्रकार काव्य की रचना करने वाला व्यक्ति ही सम्यक् आलोचना कर सकता है।

इन गुणो के अतिरिक्त और भी अन्य गुण है—जैसे मनोजागृति तीव्र, अर्न्तदृप्टि, सुरुचि शिक्षा आदि।

उपर्युक्त गुणो से सम्पन्न होकर ही समालोचक श्रेष्ठ आलोचना कर सकता है।

"स्प्रिगर्न" ने समालोचक को निम्नलिखित ६ प्रश्नो का उत्तर देना आवश्यक माना है:—

(१) विवेच्य रचना के लेखक ने क्या करने का प्रयत्न किया है।
(२) उसने इसे किस प्रकार पूर्ण किया है।
(३) वह क्या व्यक्त करना चाहता है।
(४) उसने इसे किस प्रकार व्यक्त किया है।

(५) उसकी रचना का मुझ (समालोचक) पर क्या प्रभाव पड़ा है।
(६) मैं (समालोचक) उसे किस प्रकार व्यक्त कर सकता हूँ।

ऐसे समालोचक ही समाज के पथ प्रदर्शक हो सकते हैं।

समालोचक के भेद:—समालोचक का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के सिद्धान्तो, नियमों, तत्वों, तथ्यों एव साहित्यिक वादों की व्याख्या होती है। अतः इन पद्धतियो, शैलियो तथा वादो के आधार पर आलोचकों के कई भेद हो सकते हैं।

रघुनाथप्रसाद "साधक" ने "समालोचना शास्त्र" में आलोचनात्मक विकास के आधार पर आलोचको के मुख्य दस भेद किये हैं:—

(१) शास्त्रकार, (२) साहित्यकार, (३) टीकाकार, (४) भाष्यकार, (५) उक्तिकार, (६) ग्रन्थकार, (७) विशुद्ध, (८) दार्शनिक, (९) कवि तथा (१०) वैज्ञानिक।

यहाँ हम संक्षेप में इनका परिचय देंगे।

१. शास्त्रकार समालोचक—"शास्त्रकार समालोचक" के अन्तर्गत संस्कृत के वे "लक्षणाचार्य" आयेंगे जिन्होने काव्यो का अध्ययन करके अपनी आलोचना बुद्धि के द्वारा काव्य का निरूपण किया तथा उनके लक्षण किये। रस, अलंकार एवं ध्वनि का शास्त्रीय विवेचन किया। शास्त्रकार समालोचको ने ही रसवाद, ध्वनिवाद, अलकारवाद, उपपत्तिवाद, युक्तिवाद, अनुमितिवाद तथा वक्रोतिवाद आदि सिद्धान्तों को प्रमाणित किया।

भरत, भामह, दण्डी, मम्मट, आनन्दवर्द्धन, पडितराज जगन्नाथ, विश्वनाथ तथा राजशेखर इत्यादि शास्त्रकार समालोचक कहलायेंगे।

२. साहित्यकार समालोचक:—साहित्यकार समालोचक की कोटि मे वे आचार्य आयेंगे जिन्होने लक्षण ग्रन्थो के आधार पर काव्य की रचना की तथा अपने काव्यों में शास्त्रीय सिद्धान्तो का निरूपण किया। साहित्यकार समालोचको ने ही अलकार, पिंगल, ज्योतिष तथा आयुर्वेद के शास्त्रीय नियमो को काव्यवद्ध किया।

३. टीकाकार:—टीकाकार समालोचक वे कहलाते हैं जिन्होने संस्कृत महाकाव्यों पर व्याकरणशास्त्र तथा कोष की सहायता से शब्दो की व्युत्पत्ति लिखते हुए कही-कही पर पर्यायवाची शब्दों द्वारा काव्य के क्लिष्ट शब्दों तथा वाक्यो का स्पष्टीकरण करते हैं।

प्रसिद्ध विद्वान् "मल्लिनाथ" इसी प्रकार के समालोचक हैं। उन्होने महाकवि कालिदास, भारवि, माघ आदि संस्कृत कवियो के काव्यों पर टीका की है।

४. भाष्यकार:—महर्षि व्यास, भगवान शंकराचार्य, सायणाचार्य तथा ऋषि दयानन्द सरस्वती आदि भाष्यकार समालोचक हैं। इन्होने वेदो, दर्शन शास्त्रों, स्मृतियों, उपनिषदो तथा पुराणों पर भाष्य लिखे हैं।

५. उक्तिकार.—उक्तिकार समालोचक वे हैं जिन्होने सम्क्रन तथा हिन्दी-काव्य एवं कवियो पर उक्तियाँ लिखी हैं। (जैसे—सूर सूर तुलसी शशि उडगन केशवदास······और कवि गढियानन्द दास जडिया। ······उपमा कालिदासस्य··· इत्यादि) इस प्रकार की उक्तियाँ अन्य भाषाओ मे भी मिलती हैं।

६. ग्रन्थकारः—ग्रन्थकार समालोचक वे कहलाते हैं जिन्होने कवियो एवं उनकी रचनाओ पर पुस्तक के रूप मे आलोचनाएँ लिखी हैं।

७. विशुद्धः—विशुद्ध समालोचक वे हैं जिन्होने कवियो एवं काव्यो पर गुण-दोष विवेचन के आधार पर साधारण सम्मति उपस्थित की है।

८. दार्शनिकः—किसी रचना मे जीवन सम्बन्धी मूलभूत सिद्धान्तो, मानव-जीवन के मौलिक तत्वो तथा आध्यात्मिक जीवन के रहस्यो की मीमासा करने वाले समालोचक दार्शनिक समालोचको की कोटि मे आयेंगे।

इस प्रकार भी समालोचना मे विश्व के अनेक रहस्यो, धार्मिक तत्वो, प्रकृति के तथ्यो, आत्मा परमात्मा के सम्बन्धो तथा समाज और मनुष्य के सम्बन्धों की विवेचना रहती है। साहित्य जगत के वादो की सैद्धान्तिक व्याख्या दार्शनिक समालोचना का ही विषय है। भट्ट लोल्लट, भट्टनायक, शकुक तथा अभिनवगुप्त की गणना दार्शनिक समालोचको मे की जायेगी। कॉलरिज तथा गेंटे—जिहोने प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर की समालोचना की है—दार्शनिक समालोचक कहलायेंगे।

९. कविः—कवि समालोचक वे हैं जो समालोचना तथा कविता दोनों लिखते हैं। प्रत्येक कवि मे आलोचनात्मक बुद्धि होती ही है। अग्रेजी के वर्डसवर्थ तथा कॉलरिज तथा हिन्दी मे भारतेन्दु, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसी कोटि के कवि समालोचक हैं।

१० वैज्ञानिक अन्वेषक.—वैज्ञानिक अन्वेषक वे समालोचक कहलाते हैं जो नवीन विषयो, अकों, लिपियो तथा भाषा-विज्ञान का अन्वेषण करते हैं।

इन भेदो के अतिरिक्त आलोचक के और भी भेद हो सकते हैं।

कवि और समालोचक.—कवि और समालोचक का क्षेत्र पृथक्-पृथक् होते हुए भी दोनो में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। दोनो ही साहित्य की धारा के दो पहलू हैं। कवि के यश-अपयश का श्रेय समालोचक को ही प्राप्त है। किसी भी लेखक की कोई कृति समालोचक के माध्यम से ही समाज के सम्मुख आती है। समालोचक कवि या लेखक की कृति की विस्तृत व्याख्या करता है और उस कृति के सम्बन्ध में अपना मत स्थिर करता है। वह लेखक की कृति का नैतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि से मूल्याकन करता है। कभी समालोचक कवि को प्रसिद्ध कर देता है और कभी कवि समालोचक को। अतः यह स्पष्ट है कि ये दोनो व्यक्ति एक दूसरे से कम महत्वपूर्ण नहीं। यदि कवि ने अपनी रचना "स्वान्तः सुखाय" लिखी है, तब भी समालोचक जनता को उसकी कृति का रसास्वादन कराने के लिए

प्रेरित करता है। वह उसकी कृति का प्रचार एवं प्रसार करता है। इस प्रकार समालोचक कवि का प्रचारक है। महाकवि कालिदास इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। उनका महत्व उस समय तक भारतीय जनता के समक्ष प्रकाश में नही आ सका था जब तक जर्मन विद्वानों ने उनके काव्य-चातुर्य, अद्‌भुत कल्पना शक्ति, दिव्य ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा नही की। प्रसिद्ध कवि व नाटककार शेक्सपियर के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू होती है। जब तक ब्रेडले आदि विद्वान समालोचको ने शेक्सपियर के नाटकों की समालोचना प्रस्तुत नहीं की, तब तक अंग्रेजी जनता शेक्सपियर का मूल्यांकन न कर सकी।

इसी प्रकार हमारे कवि कुल-कमल दिवाकर गोस्वामी जी की महान् कृति रामायण का काव्य सौन्दर्य भी आज से पचास वर्ष पूर्व किसी ने न जाना था। परन्तु प्रसिद्ध समालोचक पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी के इस पावन ग्रन्थ के काव्य सौन्दर्य में मर्मज्ञ जनता को अवगाहन कराया। प्रेममार्गी शाखा के जगमगाते रत्न जायसी का महत्व भी अन्धकार के गर्त मे पड़ा था। पडित रामचन्द्र शुक्ल जी ने ही इस धूल भरे हीरे को साहित्य क्षेत्र में उचित स्थान दिया। साराश यह कि समालोचक के बिना कवि का महत्व प्रकाश में आना सम्भव नही। समालोचक यदि चाहे तो वह कवि को प्रतिष्ठा के उच्च शिखर पर आसीन कर सकता है और यदि चाहे तो उसकी प्रतिष्ठा को धूल में मिला सकता है। इस प्रकार कवि के महत्व का उत्तरदायित्व समालोचक के कन्धो पर होता है।

समालोचक ही कवि की कृति का सिंहावलोकन कर उसके भाव और भाषा के चमत्कारों को प्रकट कर उसकी कृति को पाठकों के लिए बोधगम्य बनाता है। किसी वाक्य के कितने अर्थ हैं, कितने सुन्दर अलकारो का उसमें यथोचित समावेश है—यह सब कुछ समालोचक विद्वत्तापूर्वक उपस्थित करता है। प्रसिद्ध रीतिकालीन कवि बिहारी के महत्व का प्रतिपादन पडित प्रवर पद्मसिंह शर्मा ने सर्वप्रथम किया था। "बिहारी सतसई" के प्रसिद्ध टीकाकार पडित जगन्नाथदास "रत्नाकर" ने बिहारी के प्रत्येक दोहे के अनेक अर्थ बतलाकर हिन्दी का उन्हें सुप्रसिद्ध कवि घोषित किया। बिहारी के निम्नलिखित दोहे की व्याख्या रत्नाकर जी ने तीन अर्थो में की है:—

"मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परैं, स्यामु हरित दुति होई॥"

इसी प्रकार उनके निम्नलिखित दोहे के भी उन्होने अनेक अर्थ बतलाये। सम्भव है कि बिहारी के हृदय मे ये समस्त भाव तथा विचार उस समय न उत्पन्न हुए होंगे, परन्तु सुप्रसिद्ध समालोचक रत्नाकर जी की कल्पना शक्ति अद्‌भुत है:—

"चिरजीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥"

स्वनामधन्य बाबू जयशंकरप्रसाद का अमर महाकाव्य "कामायनी"—जो

आधुनिक युग का "रामचरित मानस" है—के विषय मे भी ठीक यही बात है। समालोचको ने श्रद्धा, इड़ा और मनु के भिन्न-भिन्न सांकेतिक अर्थ लगाये। मनु "मन" के प्रतीक के रूप मे, श्रद्धा "हृदय" के प्रतीक के रूप में और इड़ा "बुद्धि" के प्रतीक के रूप में ग्रहीत किये गए। इस प्रकार समालोचको ने अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा "कामायनी" को अभिनव रूप प्रदान किया। सम्भवतः प्रसाद इस बात से भिज्ञ थे कि समालोचकगण उनकी कृति को अनेक रूपो में ग्रहण करेंगे इसलिए उन्होने कामायनी के आमुख मे स्पष्ट कहा है—"मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" अतः समालोचक का महत्व स्पष्ट है। हिन्दी साहित्य के अनेक ऐसे समालोचक हैं जिनके भाव तथा विचार कभी-कभी कवि के भावो तथा विचारो से अधिक उन्नत तथा महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं।

समालोचक कवि या लेखक का उचित मार्ग दर्शन करता है। डा० जॉनसन के विषय मे प्रसिद्ध है कि वे किसी लेखक की महानता से मन्त्रमुग्ध नही हुए थे, जिस प्रकार हैडमास्टर अपने विद्यार्थी को उसकी भूलो का स्मरण कराकर उचित शिक्षा देता है, उसी प्रकार वे महान लेखको को शिक्षा दिया करते थे। समालोचक ही सत्साहित्य को प्रोत्साहन देकर उसकी उचित श्रीवृद्धि करता है। उसका उत्तरदायित्व महान है। वह साहित्य जगत में फैले हुए वादो का उचित निराकरण कर पाठक को उसके गन्तव्य की ओर ले जाता है। जिस प्रकार से कवि देशकाल की परिस्थिति के अनुकूल साहित्य की धारा को मोड़ देता है, उसी प्रकार समालोचक साहित्य की धारा को उस दिशा में ले जाता है, जिससे जन-कल्याण सम्भव हो। अकेले महावीर प्रसाद द्विवेदी ने रीतिकालीन उस शृंगार से पूर्ण गन्दी धारा को मनोवाछित मोड़ दे दिया था—"जिसमें नवरस अपनी पूर्ण गन्दगी से प्रवाहित हो रहे थे और मानव समाज में घातक दलदल का निर्माण कर रहे थे।" समालोचक ही समाज को ऐसी कृतियो का अध्ययन करने के लिए प्रेरित करता है जो महान हैं और समाज के मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करने मे समर्थ हैं। समालोचक अपनी आलोचना के कठिन प्रहारो से साहित्य क्षेत्र मे प्रवाहित होती हुई गन्दी धाराओ तथा व्यर्थ की रूढियो को छिन्न-भिन्न कर देता है। तथा साहित्य की धारा मे एक नवीन गति, चेतना तथा नवीन जीवन उपस्थित कर देता है। समालोचक साहित्यिक स्वच्छन्दतावाद या उच्छृंखलतावाद पर कठोर नियन्त्रण रखता है। यदि ऐसा न होता तो आज हमारा साहित्य "तोता-मैना" जैसी अश्लील और कुरुचिपूर्ण कृतियो से भर जाता। समालोचक ही जनरुचि को परिष्कृत और सुरुचिपूर्ण करके सत्साहित्य के प्रचार का मार्ग प्रशस्त करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की प्रसिद्धि का महान उत्तरदायित्व बहुत कुछ समालोचक पर है। कवि के भाग्य का नक्षत्र समालोचको के द्वारा ही उदित होता है। परन्तु यह भी ध्रुव सत्य है कि एक ही कवि के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न

समालोचकों के "भिन्न रुचिर्हि लोकः" वाले सिद्धान्त के अनुसार भिन्न-भिन्न मत हो सकते हैं। एक समालोचक की दृष्टि में जो कवि महान है दूसरे की दृष्टि मे वही निकृष्ट भी हो सकता है। इस बात को पुष्ट करने के लिए हम कबीर के सम्बन्ध में प्रसिद्ध समालोचकों का मत प्रतिपादित करेंगे। पंडित रामचन्द्र शुक्ल कबीर को कवि मानने के लिए प्रस्तुत नही थे। शुक्ल जी ने कबीर की वानी को "अटपटी वानी" और उनकी भाषा को "सधुक्कड़ी भाषा" या "खिचडी भाषा" कहकर उनके चलाये हुए पंथ के सम्बन्ध मे कहते हैं—"......इस शाखा की रचनाएं साहित्यिक नहीं हैं—फुटकर दोहों या पदों के रूप में है जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटांग है।......बात यह कि इस पन्थ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा, क्योकि उसके लिए न तो इस पन्थ में कोई नई बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता।" शुक्ल जी का यह मत पढकर पाठक के हृदय मे कबीर के प्रति कोई रागात्मक सम्बन्ध जागृत नही होता।

परन्तु हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर को उच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया। वे कहते हैं—"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है—......भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों मे पाई जाती है।......... वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य-रसिक काव्यानन्द का आस्वाद कराने वाला समझे तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता।" आगे चलकर डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे कहते हैं—"हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा शक्तिशाली व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ।"

इसी प्रकार पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने शुद्ध रहस्यवाद केवल जायसी मे माना है, और कबीर के रहस्यवाद को शुष्क कहकर उन्होने उसकी अवहेलना की है। परन्तु डा० श्यामसुन्दर दास कबीर ग्रन्थावली की भूमिका मे लिखते हैं—"रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है। प्रेमाख्यान कवियों (जायसी) आदि का रहस्यवाद उनके बीच में थिगली सा लगता है और प्रबन्ध से अलग उसका अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है।" इसी प्रकार फ्रांस के आलोचक शेक्सपियर को बहुत समय तक असभ्य, जगली और कलाशून्य मानते रहे और इंगलैण्ड वाले उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ कलाकार! मिल्टन के "पैराडाइज लॉस्ट" को एक पंडित ने उत्कृष्ट कृति माना और दूसरे ने अत्यन्त निकृष्ट कोटि का काव्य

बताया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में समालोचक के विश्लेपण, उत्कर्पापर्प-विधान और व्याख्याओ मे गहरा मतभेद हो जाता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि समालोचक ही कवि को कल्पना लोक से इस पृथ्वी पर लाकर साधारण जनता को भी काव्यानन्द का रसपान कराने का स्तुत्य कार्य करता है। समालोचक ही जनता के हृदय मे कवि के प्रति श्रद्धा, प्रेम, गौरव, सौहार्द की भावना जागृत करता है।

परन्तु जहाँ समालोचक का कार्य इतना महान है—वहाँ उसके कवि के प्रति कुछ गुरुत्तर कर्त्तव्य भी हैं। उसे सहृदय होना चाहिए और आलोच्य रचना एवं उसके कर्ता के प्रति सहानुभूति तथा श्रद्धा की भावना रखनी चाहिए, क्योकि विना श्रद्धा एवं सहृदयता के वह रचना और रचनाकार के साथ उचित न्याय नही कर सकता। समालोचक को कवि के साथ निष्पक्ष होकर, किसी भी प्रकार के राग द्वेपों से प्रभावित न होकर आलोचना करनी चाहिए। समालोचक को सर्व प्रथम कवि की रचना का अनन्यतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए। अध्ययन के समय सहानुभूति और श्रद्धा की भी भावना होनी चाहिए तभी उसे लेखक की रचना में कितनी नवीन विशेपताओ के दर्शन होगे। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि वह लेखक की रचना से इतना अधिक प्रभावित हो जाय कि उसकी आलोचना स्तुति मात्र रह जाय। मित्र की कृति की प्रति की प्रशसात्मक आलोचना करना उतना ही वडा साहित्यिक पाप है जितना कि अमित्र की कृति की अप्रशसात्मक आलोचना करना। आलोचक का पद महान और उसका कर्त्तव्य महानतर होता है। अतः भौतिक सम्वन्ध नाते आदि वातो से समालोचक को कोसो दूर रहना चाहिए। नही तो उसकी समालोचना या तो अत्युक्तिपूर्ण स्तुति रह जायगी या केवल अप्रशसा भर। संक्षेप मे कहे तो कह सकते हैं कि समालोचक को औचित्य का ज्ञान होना चाहिए। समाज कवि को समालोचक की दृष्टि से देखता है अत उसे कोई ऐसी वात नहीं कहनी चाहिए जो कवि के सम्मान के विरुद्ध हो। इसी अवस्था में आलोचना साहित्य उन्नति कर सकता है और कवि एव समालोचक के सम्वन्ध मे किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित न होगी। इसके अतिरिक्त उसे कोई ऐसी वात नही लिखनी चाहिए जो पूरे आलोचक वर्ग के सम्मान के विरुद्ध हो।

वास्तव मे यदि कवि स्रष्टा है तो समालोचक दृष्टा। वहुत से मनुष्यों का विचार है कि कवि ही श्रेष्ठ आलोचक हो सकते हैं। कवि ही कविता की रचना करता है अत: वह अपनी रचना की परख श्रेष्ठता से कर सकता है। कही-कही यह वात सत्य भी रही है। अंग्रेजी साहित्य मे ऐसे अनेक कवि मिलते हैं जिनकी आलोचन शैली उत्कृष्ट रही और जिनके विचार आज तक मान्य है। कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्होने ऐसे कवियो की समुचित तथा श्रेष्ठ आलोचनाओं की रचनाएँ की हैं जो उन्हे विशेष रूप से प्रिय थे। परन्तु अनेक कवि इसके अपवाद भी हैं। वहुत से कवि अपने युग तथा प्राचीन युग के कवियो की आलोचना लिखने में असमर्थ रहे।

अतः स्पष्ट है कि श्रेष्ठ आलोचनाएँ कवियो द्वारा लिखी भी गई हे। परन्तु उन्हे अधिक सफलता नही मिली। फलतः आलोचक वर्ग की आवश्यकता पड़ी। प्रधान कारण यह है कि काव्य का क्षेत्र अनन्त है, उसकी प्रेरणाएँ भी रहस्यपूर्ण हैं। तथा मानवी जीवन से सम्बन्धित होने के कारण केवल एक कवि सम्पूर्ण कला का मूल्यांकन नहीं कर सकता। यह भी हो सकता है कि किसी विशेष रचना शैली तथा भावों के प्रति उसे रुचि न हो। यह भी सम्भव है कि उसका ध्यान किसी एक विशेष विषय, भाषा शैली भाव पर ही इतना केन्द्रित हो जाय कि अन्य विषय, भाषा, शैली आदि पर उसका बिल्कुल ध्यान ही न जाय। किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि कवि जो कुछ भी लिखेगा वह लोकहित से सम्बद्ध होने के लिए बाध्य है। समालोचक पाठक वर्ग का प्रतिनिधि है वह पाठक वर्ग के हितो की रक्षा करता है। कवि की रचना को हृदयंगम कर वह उसके सन्देश को पाठको तक पहुँचाता है।

समालोचक जितना पाठक के निकट है उससे अधिक साहित्य सृष्टा के निकट रहता है। कवि या साहित्यकार जीवन का प्रदर्शक होता है। कवि अपने भाव-कोष तथा कल्पनात्मक आलोक से जीवन के किसी क्षेत्र विशेष को आलोकित करता है और समालोचक साधारण मनुष्यो को यह आलोक दिखाता है। साहित्यकार के पास शब्दो के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नही है। शब्द समूह के द्वारा ही कल्पना को वाणी मिलती है जिससे कल्पना सजीव तथा मुखरित हो जाती है। अतः साहित्यकार को कल्पना पहले मिली और वाणी बाद मे।

आलोचक मे वाणी पहले प्रतिष्ठित हुई और कल्पना बाद मे मिली। कलाकार कल्पना की ज्योति के आधार पर शब्द सृजन करता है और आलोचक शब्द समूह के अस्पष्ट प्रकाश मे कल्पना की ओर चलता है। साहित्यकार आलोचक के हाथों में ऐसी आलोचकमयी शब्द माला प्रदान करता है जिससे वह सरलता से साहित्य सुन्दरी का वरण करने मे समर्थ हो सके। इस दृष्टि से आलोचक तथा साहित्यकार एक ध्येय माना जायेगा। जिस जीवन क्षेत्र का परिचय साहित्यकार देता है उसका समालोचक को भी पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। साहित्यकार तथा आलोचक दोनो का कर्त्तव्य एक है दोनो के कार्यों मे एक विचित्र साम्य है।

बहुत से व्यक्ति आलोचकों का महत्व कम करते हुए कहते है कि साहित्य का प्रतिनिधित्व साहित्यकार ही कर सकता है। परन्तु यह धारणा निर्मूल है। समालोचक तथा कवि दोनों ही जीवन के अध्ययनकर्ता है। एक का अध्ययन दूसरा स्पष्ट करता है। समालोचक साहित्यकार की सम्पूर्ण रचना का विश्लेषण करता है और जब वह यह देखता है कि साहित्यकार भूल कर रहा है तब वह आलोचक के पद से यह आदेश देता है कि कलाकार को अमुक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए था उसे अमुक प्रकार से जीवन के तत्व का विश्लेषण करना चाहिए था।

आलोचक जब कवि की कृति के सम्बन्ध में अपना निर्णय देता है तो या तो साहित्यकार अपनी भूल समझ कर उस निर्णय को स्वीकार कर लेगा अथवा अपने

पक्ष के समर्थन मे अपने सिद्धान्तो को और भी अधिक स्पष्ट करता है अथवा आलोचको की निन्दा करके उनसे वाद विवाद करता है। दलवन्दी से प्रभावित होकर आलोचक साहित्यकारो पर कटु बौछार करने लगते है। वर्डस्वर्थ की जब एक श्रेष्ठ रचना प्रकाशित हुई तो एक आलोचक ने कहा—"मिस्टर वर्डस्वर्थ, इन सब सडियल चीजो से काम नही चलेगा।" और कीट्स के लिए तो आलोचको ने यहाँ तक कहा—"मिस्टर कीट्स जाइये जाकर अत्तार की दुकान पर गोलियाँ बनाइए और मरहम तैयार कीजिए।" वायरन की रचनाओ को जब आलोचक हीन प्रभावित करने लगे तो उन्होने अपनी प्रतिभा को जागृत करके आलोचको को नीचा दिखाया इसके विपरीत ऐसे भी आलोचक हुए हैं जिन्होने साहित्यकारो की विद्वत्ता, ज्ञान, तथा नैसर्गिक प्रतिभा की प्रशसा की है और साहित्यकारो ने भी ऐसे आलोचकों की सराहना की है। ऐसे आलोचको तथा कवियो मे बराबर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा।

अतः समालोचक तथा साहित्यकार प्राचीन काल से ही अपना पृथक-पृथक वर्ग बनाए हुए हैं। साहित्यकार साहित्य की रचना करता है तथा समालोचक अपनी सुरुचि तथा निर्णायिका शक्ति द्वारा उस साहित्य का मूल्याकन करेगा। समय-समय पर ऐसे अनेक कवि हुए हैं जो श्रेष्ठ आलोचक रहे हैं और ऐसे आलोचक भी प्राप्त होते है जो अपने समय मे श्रेष्ठ कवि रहे हैं। जहाँ आलोचक का आदर्श छिद्रान्वेषण रहा है वहाँ यह भी स्पष्ट है कि कवि की कृति का उचित मूल्याकन आलोचक ही कर सकता है। श्रेष्ठ आलोचक मे कवि की आत्मा के दर्शन होते हैं। तर्क की दृष्टि से कवि तथा आलोचक मे वैषम्य नही दिखाई देता, अनेक आलोचको ने साहित्यकारों की श्रेष्ठ आलोचनाएँ लिखी हैं। वास्तव मे समालोचको ने हमे कवि हृदय की झाँकी दिखलाई तथा भाषा, भाव, शैली की मीमासा करके साहित्य क्षेत्र में अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया और जीवन के प्रति हमारी आस्था जागृत करके अनुभूति को तीव्र किया।

आलोचक की विफलता के कारण :—कभी-कभी आलोचक अपने कार्य में सफल नही हो पाता। उसकी विफलता के अनेक कारण हैं जो इस प्रकार हैं :—

१—अर्थ-दोष :—समालोचक की विफलता का प्रधान कारण अर्थ-दोष है। कुछ समालोचक कलाकार की रचना का वास्तविक अर्थ नही समझ पाते। उन्हे इस बात का ज्ञान नही हो पाता कि लेखक ने जिन शब्दो का प्रयोग किया है तथा जिन विचारो को प्रकाशित किया है उनका वास्तविक अर्थ क्या है? यदि कुछ अंशों को समझ भी लेते हैं तो उससे सम्पूर्ण रचना का अर्थ नही लगाया जा सकता। यह दोष साधारण पाठको मे तो पाया जाता ही है, आलोचक भी इससे मुक्त नही हैं।

बहुत से आलोचक रचना मे रस-परिपाक को भी नही पहचान पाते। वे कविता की शब्द-ध्वनि, उसकी गति, उसकी लय तथा उसके लालित्य से भी अनभिज्ञ रहते हैं। इस प्रकार वे रचना की विशेषता तथा उसके महत्व का परिचय प्राप्त करने मे असमर्थ रहते हैं और उनके काव्य की आलोचना दूषित हो जाती है।

२—कल्पनात्मक स्थलो की दुरुहता :—साहित्य मे कल्पना तथा कल्पनात्मक अशो का समावेश करने से अर्थ मे जो दुरूहता आ जाती है उसके द्वारा आलोचक विफल हो जाता है। शब्द चित्रो मे उपमा, उपमेय, रूपक आदि के द्वारा जो दिव्य भावना व्यक्त की जाती है उसे आलोचक हृदयगम नहीं कर पाते। उनकी इस विफलता का कारण यह है कि सभी मनुष्यो मे समझने की सम्यक् शक्ति नही होती। दूसरे प्रत्येक व्यक्ति के भाव, अनुभव तथा विचार एक दूसरे से भिन्न होते हैं। जब ये भिन्न-भिन्न भावनाएँ तथा विचार काव्य मे अनेक रूप धारण करके आते हैं तो वे बोधगम्य नही हो पाते। कुछ आलोचक काव्य मे कल्पनातत्व को प्रधानता देते हैं और उन्हे कल्पना के अभाव मे कविता व्यर्थ प्रतीत होती है और कुछ कल्पना की उपेक्षा करते हैं। हमारे हृदय पर कल्पना द्वारा उपस्थित चित्रो तथा प्रतिविम्बों के पड़ने से विभिन्न रूपो की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो जाती है और यह प्रतिक्रिया काव्य का वास्तविक मूल्य परखने में कठिनाई उपस्थित करती है। यदि सभी मनुष्यों मे अनुभव की प्रतिक्रिया समान रूप में होती तो आलोचक का कार्य अत्यन्त सरल हो जाता। परन्तु इससे काव्य का आकर्षण कम हो जाता है। काव्य की मनमोहकता विभिन्नता मे ही निहित है।

३—स्मरण शक्ति की बाधा—स्मरण शक्ति के द्वारा भी आलोचना-क्षेत्र मे अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। हमे अपने दैनिक जीवन मे जो अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं वे हमारे मानस मे एकत्रित होती रहती हैं। अनेक प्रकार के अनुभव, भाव तथा विभाव हमारी स्मरण शक्ति में बने रहते हैं। जब हम किसी कविता को पढते हैं तो हमारे मानस जगत के भावो मे हलचल मच जाती है और हम कविता की प्रतिच्छाया अपने व्यक्तिगत, सचित अनुभवों और विचारो मे देखने का प्रयत्न करते हैं। अनेक विचार असम्बद्ध रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं और काव्यानुभूति में बाधा पहुँचाते हैं। जिन अनुभवों का कविता से कुछ भी सम्बन्ध नही होता उनको बलपूर्वक जोडा जाता है। फलस्वरूप अनेक आलोचनात्मक भूलों की सम्भावना हो जाती है क्योकि इससे न तो मूल भाव की पुष्टि होती है और न उसकी तीव्रता ही बढती है जिससे पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं।

कभी-कभी हमारे मानस में स्थित अनेक विचारो तथा अनुभवों का कोष स्थायीरूप मे रहता है जिसके कारण आलोचना क्षेत्र मे अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। काव्य के अध्ययन के पश्चात जब हमारे सचित और स्थायी अनुभव आलोडित-विलोडित होने लगते हैं तो काव्य के मूल्याकन में कठिनाई उपस्थित हो जाती है। हमारे मजे-सजाए स्थायी अनुभव मानस मे बहुमुखी धारा प्रवाहित कर देते हैं जिसमें काव्य की प्रेरणा तिरोहित हो जाती है और हमारे स्थायी अनुभव ही प्रकाश में आ जाते हैं।

४—भावुकता की बाधा—आलोचना मे आलोचको की अनुचित भावुकता भी दोष का कारण हो जाती है। जब-जब भावुकता का भावो मे अतिरेक हो जाता है तब-तब समालोचना दूषित हो जाती है। कुछ कवियों को रुदन में ही आनन्द

प्राप्त होता है और कुछ भावो के अनुचित आधिक्य से प्रभावित होते हैं। इसके साथ-साथ आलोचक कभी-कभी उन भावनाओं को भी प्रतिपादित करने लगता है जो पारिवारिक तथा सामाजिक कारणो से उसके हृदय मे छिपे रहते हैं। भावुकता तथा मानस में छिपी हुई अनेक वर्जित तथा असख्य भावनाएँ आलोचना कार्य मे बाधा उपस्थित करती हैं।

(५) **रूढ़ि तथा पक्षपात की भावना**—प्राय समालोचक किसी सिद्धान्त विशेष के पृष्ठपोषक होने के कारण काव्य का उचित मूल्याकन नही कर पाते। वह काव्य की सैद्धान्तिक कसौटी पर कसने का प्रयत्न करते हैं। उन्हे इस बात का ध्यान नही रहता है कि इन सिद्धान्तो का काव्य से कुछ भी सम्बन्ध नही है। ऐसे समालोचक उसी काव्य को हितकर समझते हैं जो उनके सिद्धान्त विशेष की पुष्टि करें। जो काव्य सिद्धान्तों की पुष्टि न करे वह व्यर्थ है। इस एकागी दृष्टिकोण से आलोचना दूषित हो जाती है।

कभी-कभी आलोचना क्षेत्र मे व्यवहृत शैली के द्वारा भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। उदाहरण के लिये प्राचीनकाल मे नाटक पाँच अक के होते थे और नाटककार उन अको में अपने सम्पूर्ण विषय-वस्तु को प्रतिपादित करके अभीष्ट सिद्धि प्राप्त कर लेते थे। इसलिए हम यह समझ लेते हैं कि नाटक मे पाँच अको का होना आवश्यक है यदि कोई आधुनिक नाटक तीन या छः अको मे लिखा गया हो तो उसे दोषयुक्त माना जायेगा। इसके अतिरिक्त काव्य तथा साहित्य के रूप और शैलियाँ जो प्रचलित हैं उन्हे ही हम मान्य समझ लेते हैं। जिसका विषम फल यह होता है कि काव्य की उचित परख नही हो पाती। वे उसके बाह्य रूप मे ही उलझ जाते हैं।

कभी-कभी आलोचक किसी विशेष आलोचना प्रणाली का पक्षपाती होने के कारण साहित्य की विशुद्ध आलोचना नही कर पाता। वह बार-बार एक ही प्रणाली का प्रयोग करने के कारण अपने पथ से भ्रष्ट हो जाता है।

वस्तुत आलोचना क्षेत्र के ये दोष एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। अर्थ या अनर्थ तथा रसेन्द्रियो की दूषित अनुभूति एक ही वर्ग के दोष हैं और दोनो एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। कल्पनाप्रदत्त दोष, स्मरण शक्ति सम्बन्धी त्रुटियाँ और स्थायी प्रतिक्रियाओ की कठिनाइयाँ भी एक ही वर्ग के दोषो में आ जायेगी। किसी सिद्धान्त विशेष के पृष्ठपोषक होने के कारण ही भावुकता तथा मानस मे छिपी हुई वर्जित भावनाएँ प्रकाशित होती हैं। यदि आलोचक सतर्क रहे और अपनी आलोचना मे से इन दोषो को निकालता रहे तो आलोचना का अधिकाश भाग महत्वपूर्ण होगा।

६—**भाषा प्रयोग तथा अर्थ वैभिन्य**—काव्य के अर्थ वैभिन्य तथा उसकी व्यापकता के कारण भी अनेक बाधाये उपस्थित हो जाती हैं। काव्य की भाषा का यह सहज गुण है कि उसकी एक पक्ति अनेक अर्थो का समूह प्रस्तुत करती है। कवि अपनी लक्ष्यसिद्धि के लिए कभी वह अपने सन्देशो की रूपरेखा बदलेगा, कभी तर्कहीन

स्थलों को स्थान देगा, कभी अलंकार प्रयोग द्वारा अपने लहजे को ही प्रमुखता देता है। अभिप्राय यह है कि कलाकार भाषा के चार कार्यों के आधीन अपने लक्ष्य और दृष्टिकोण, लहजे तथा भाव-प्रकाश, सब में परिवर्तन किया करता है। जिसका सम्यक् ज्ञान न होने के कारण आलोचक श्रेष्ठ आलोचना लिखने में विफल रहते हैं।

कभी कवि शब्दार्थ पर बल देता है, कभी लक्ष्यार्थ पर और कभी-कभी निरर्थक तथा तर्कहीन पक्तियों द्वारा अभीष्ट सिद्धि का प्रयास करता है। कभी अपने लहजे के द्वारा लक्ष्य सिद्धि प्राप्त करता है। अतः आलोचक को सफलता प्राप्त करने के लिए इनको समुचित रूप मे हृदयंगम करना चाहिए।

आलोचनात्मक बाधाओं का निराकरण :—इस दोष का निराकरण भी हो सकता है। आलोचक को कविता को अनेक बार पढने के उपरान्त कवि के अर्थ, उसके लक्ष्य तथा उसकी अभीष्ट सिद्धि की आलोचना करनी चाहिए क्योकि इस प्रकार काव्य के रहस्यपूर्ण तथा क्लिष्ट अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जायेंगे। कुछ मनुष्यों का विचार है कि काव्य में अर्थ तथा पद विन्यास का महत्व नही होता। यह बात भ्रमपूर्ण है। कवि पद्यांशों के द्वारा ही अपने भावो पर अधिकार पाकर पाठकों को प्रभावित करता है। अतः आलोचक को पद्याशो के अर्थ तथा उसकी व्याख्या को ठीक-ठीक समझना आवश्यक है। श्रेष्ठ आलोचक को शब्दार्थ, भावार्थ तथा सकेतात्मक अर्थ सभी पर ध्यान रखना चाहिए। उसे अपने अपूर्ण ज्ञान को पूर्ण करने के लिए शब्दो से परिचय प्राप्त करना चाहिए। कवि के अर्थ तथा उसके लक्ष्य का अनुसन्धान करने पर ही वह सत् समालोचक हो सकता है।

आलोचकों को साधारण निर्देश :—समालोचक में निम्नलिखित बातों का ज्ञान होना आवश्यक है—

(१) साहित्य की व्यापकता का ज्ञान।
(२) साहित्य तथा कला का लक्ष्य और कल्पना शक्ति का बोध।
(३) साधन और साध्य का निर्णय।
(४) कला तथा जीवन के सम्बन्ध का ज्ञान।
(५) साहित्य के मूल्य का अनुसन्धान।

आलोचक के अधिकार :—सहज रूप मे तो आलोचक को बहुत कम अधिकार प्राप्त हैं। उसे कवि की कल्पना उसकी विषय प्रतिपादन शैली, उसके विचारों के मूल इत्यादि के सम्बन्ध मे प्रश्न पूँछने का अधिकार नही। उसे केवल रचना के निर्णय का ही अधिकार है। वह केवल यही सकेत कर सकता है कि अमुक रचना अच्छी या बुरी। कवि को चित्रकार के समान अपने भाषा रूपी रंगो का प्रयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। आलोचक को रगो के चयन पर वाद-विवाद करना उचित नही। आलोचक को उनके सफल अथवा विफल प्रयोग पर ही टीका-टिप्पणी करने का अधिकार है। साहित्य के विषय निकृष्ट तथा हीन नही होते।

बहुत से कलाकार ही इनका सफल प्रयोग करने में असमर्थ रहते हैं। इसलिए आलोचक को विषय की श्रेष्ठता अथवा हीनता, सौन्दर्य अथवा कुरूपता, उपयोगिता तथा निरर्थकता पर विवाद करने का अधिकार नहीं। उसे तो यह देखना होता है कि कलाकार जिस लक्ष्य को लेकर चला था उसकी पूर्ति हो सकी अथवा नहीं। उसे अभीष्ट सिद्धि की प्राप्ति हुई अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त समालोचक को और कुछ पूंछने का अधिकार नही है। कवि प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में से अपने काव्य का विषय चुनता है।

कारलाइल ने लिखा है—"समीक्षा में मुख्य प्रश्न है स्वयं काव्य का तत्त्व और उसका विलक्षण जीवन। समीक्षा तो भावित (इन्स्पायर्ड) तथा अभावित (अन-इन्स्पायर्ड) के बीच, तथा दैवज्ञ (प्रोफेट) और उसके शब्दों को स्वर लहरों के साथ गूंजे हुए महत्वपूर्ण अर्थ की झलक पाकर भी उनका गहनतर भाव न समझ सामने वाले श्रोताओं के बीच, व्याख्या के रूप में अवस्थित है।"

पी० ई० मोर का विचार है :—"समीक्षावादी के कार्य का कम से कम एक अंश 'अतीत में से वर्तमान की सचेतन रचना करना' भी है।"

कजामियो ने समीक्षा की समृद्ध रचनात्मक क्रिया को महत्व देते हुए लिखा है—"किसी रचना की समीक्षा करने का अर्थ यह है कि जिस शक्ति ने उस रचना को जन्म दिया है उसकी व्याख्या करे, उसके विकास की विभिन्न श्रेणियों को पुनः जीवित करे और उन प्रेरणा तत्वों तथा उद्देश्यो का उपयोग करे, जिनसे वह सब ओत-प्रोत है।"

विद्वानो के उपर्युक्त विचारो से आलोचक के अधिकार स्पष्ट हो जाते हैं। समालोचक को निर्णय करने का अधिकार दिया गया है। आई० ए० रिचार्ड्स ने कहा है—"समीक्षामवादी होने का अर्थ यह है कि वह किसी वस्तु या कृति के गुण तत्वों या मूल्य का निर्णायक बने।"

आर्नल्ड का भी विचार है कि निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक तो है किन्तु इसकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—"निर्णय जो किसी निष्पक्ष और शुद्ध मस्तिष्क में बिना किसी विवेक-क्रिया के स्वयं नये ज्ञान के साथ आ बैठता है, वही महत्वपूर्ण है और यदि वह व्यक्ति नीरस विधान निर्माता का रूप धारण करने के बदले, सहचर तथा संकेत के रूप में बिना किसी प्रकार के बौद्धिक प्रयास के अपना निर्णय उस नवीन ज्ञान के साथ-साथ दे डाले तो वह पाठक का अधिक हित कर सकता है।" अच्छे लेखनसिद्धान्तों के अन्वेषण और प्रयोग ही समालोचक का महत्वपूर्ण अधिकार होना चाहिए।

कालरिज का मत था—"जैसे किसी ज्योतिर्विद के लिए सूर्य ग्रह में स्थित हुए बिना सौर मंडल की गति समझना असम्भव है उसी प्रकार जब तक साहित्य रचना के समस्त क्षेत्र को एक साथ दृष्टिगत कराने का कोई केन्द्रीय स्थल मनुष्य

प्राप्त न कर ले तब तक उसके लिए सच्चा समीक्ष्यवादी होना भी असम्भव है।" इसी की व्याख्या करते हुए कॉलरिज लिखता है—"दूसरों के द्वारा रचे हुए ग्रन्थों पर निर्णय देने के "नियम" गढ़ने की अपेक्षा, रचना करने या लिखने का सिद्धान्त स्थापित करना समीक्षा का अधिक आवश्यक उद्देश्य है।" वह आगे लिखता है—"मैं उसी परीक्षण को निष्पक्ष शुद्ध और दार्शनिक मानता हूँ, जिसमें समीक्ष्यवादी व्यापक रूप से काव्य के आधारभूत सिद्धान्तों की स्थापना करने का प्रयत्न करता है और जिनमें वह विभिन्न प्रकार के काव्यों पर उनके प्रयोग का स्पष्ट निर्देश करता चलता है। इस प्रकार समीक्षा का अपना मानदण्ड प्रस्तुत करके वह उन विशेष कृतियों का स्पष्ट निर्देश करेगा जिन पर उसके द्वारा निर्धारित मानदण्ड के नियमों का, उसकी समझ में, प्रयोग हो सकता है।"

उपर्युक्त विवेचना से आलोचक का क्षेत्र स्पष्ट हो जाता है।

आलोचक का उत्तरदायित्व:—आलोचक का उत्तरदायित्व महान् है। उसे पाठको को उनकी सूझ-बूझ बढाकर साहित्य का मूल्य परखने की क्षमता प्रदान करनी पडती है। उसे ऐसा वातावरण प्रस्तुत करना पडता है, जिससे पाठक जीवन साहित्य के प्रभाव को हृदयगम कर सकें और उसका मूल्य आक सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसे पुस्तको का अर्थ स्पष्ट करना पडता है, उसके गूढार्थ को समझाना पड़ता है और अपनी अनुभूति का क्षेत्र विस्तृत करना पड़ता है। इस आदर्श का अनुसरण करने के लिए आलोचक को विवेचन की सहायता से अपना निर्णय देना होगा और उसे वाह्य तथा आन्तरिक व्यवस्था क्रम पर ध्यान रखना होगा। उसे अपनी साहित्यिक कसौटी को तर्क पूर्ण बनाना होगा। उसका अनुभव साक्षी होगा। किन्तु उनका प्रयोग उसे इस रूप में करना चाहिए जिसमे वह उचित तथा लाभप्रद प्रतीत हो सकें। इसका अभिप्राय यह है कि आलोचनात्मक विचार न तो वेदवाक्य होगे और न वे अविष्कृत ही होगे। उनका सम्बन्ध तो साहित्यिक रचना से सहज स्वाभाविक तथा नैसर्गिक होना चाहिए।

वर्तमान युग मे यही आलोचनादर्श उपयोगी तथा लाभदायक होगा। यदि आज का साहित्यिक आलोचक इस आदर्श का अनुसरण नही करेगा तो वह अपने कर्तव्य से भ्रष्ट हो जायेगा और साहित्य की सेवा भी नही कर सकेगा। वह न तो साहित्य का अर्थ ही स्पष्ट कर पायेगा और न सचेत ही कर सकेगा। और यह कार्य ही आलोचक के लिए आवश्यक हैं। आज के आलोचक का यह कर्तव्य है कि वह लेखक का स्पष्ट अर्थ तथा गूढार्थ दोनो को समझे, साहित्य को साहित्य के रूप में देखें और वादो के जाल मे न फँसकर रचना की श्रेष्ठता प्रतिपादित करे उसे यह स्पष्ट करना चाहिए कि लेखक मे कितनी सूझ, कितनी गहराई है तथा व्यापकता से जीवन का उद्घाटन करे। आलोचना मे सफलता प्राप्त करने के लिए उसमे मौलिक गुण भी अपेक्षित हैं। उसे साहित्य के माप की प्रणालियों को जानना तो आवश्यक है ही साथ ही साथ इन्द्रियानुभूति की क्षमता, कल्पना तथा तर्क का गुण

भी अपेक्षित है। इस प्रकार के आदर्श पालन से आलोचना दूषित नही होगी। यह तो ध्रुव सत्य है, कि आलोचनात्मक सफलता के लिए आलोचक मे निर्णयात्मक क्षमता, मूल्याकन की शक्ति, आन्तरिक तथा वाह्य सम्बन्धो का व्यापक ज्ञान, सूक्ष्म-अनुभूति तथा जीवन साहित्य मे निमग्न होने की क्षमता हो। उसे अपनी सुबुद्धि, तर्क तथा सत्साहित्य के ज्ञान के वल पर साहित्य की अनुभूतियो को दूसरे तक पहुँचानी चाहिए।

आलोचक की श्रेष्ठता इसी में है कि वह हमारे हृदय को अपनी स्नेहपूर्ण दृष्टि से अप्लावित करे। आलोचको के विषम कार्य को देखकर एक अग्रेजी साहित्यकार ने लिखा है—"ऐसा मनुष्य जो तटस्थ होकर उदारतापूर्वक "सत्यं" "शिव" 'सुन्दरम्" को पहिचानने का प्रयत्न करता है उस व्यक्ति से कहीं अच्छा है जो ज्ञानी और मौलिक साहित्यकार बनकर ईर्ष्या और द्वेष का प्रसार करता हुआ और अपने ज्ञान और विशेषता का झडा फहराता है और दूसरो को अपने समक्ष हीन समझता है।" श्रेष्ठ आलोचक भी वही होगा जिसमे ज्ञान और अपूर्व प्रतिभा की अपेक्षा उदारता और क्षमता अधिक होगी।

"श्रेष्ठ आलोचक साहित्य संसार के विकसित प्रसूनो का मधु-संचय करता हुआ उनके सौरभ, उनकी मिठास, उनके आकर्षण को बखेरता हुआ पाठकों को उन्हें ग्रहण करने और उनका उपभोग करने का आवाहन देता हुआ अपने विशिष्ट कार्य की पूर्ति करता है।"

सर्वश्रेष्ठ आलोचक होने का अधिकारी वही व्यक्ति है जो अपनी आत्मा को स्वतन्त्र रखते हुए भी अपने विचारो को नियन्त्रित रखता है। इसी सयम और स्वातन्त्र्य के अपूर्व समन्वय मे आलोचक की आत्मा झलकती है। आज के युग में आलोचक का कार्य छिद्रान्वेपण नही है। उसका कार्य निर्णयात्मक तथा सिद्धान्त निरूपण है। आलोचक को अपने व्यक्तित्व की रक्षा का पूर्ण अधिकार है।

आलोचना का परिमार्जन.—आज आलोचना क्षेत्र की विच्छृंखलताओं को दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। साहित्य के कल्याण के लिए आलोचना क्षेत्र का परिमार्जित तथा सशोधित होना आवश्यक है। इस क्षेत्र में जो भ्रामक विचार धाराएँ व्याप्त हैं उनका निराकरण आवश्यक है। गोर्की ने लिखा है—"हमारे आलोचको का अज्ञान उनकी असंस्कृत विचारधारा उनकी वर्वर प्रवृत्ति हमारे शत्रुओं को हमारी हँसी उड़ाने का अवसर देती है। इस उपहास का अन्त होना चाहिए।" इससे स्पष्ट है कि क्रान्तिवादी आलोचक मे अपने समुचित कर्तव्यो का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। आज का आलोचक वर्ग सुयोग्य तथा ज्ञानी तो है परन्तु उसमें कुछ ऐसी न्यूनताएँ हैं जो वैज्ञानिक पदार्थवाद के सिद्धान्तो का साहित्य पर आरोप स्पष्ट तथा ग्राहक रूप में नही होने देती। और कला क्षेत्र मे उन सिद्धान्तों का आरोप होने से क्लष्टता तथा अस्पष्टता आ जाती है। आज के समालोचक को

सांस्कृतिक जगत में जो कुछ भी निर्जीव, निःशक्त तथा निरर्थक हो चुका है उसे दूर करना होगा और प्राचीन जीवित अनुभतियों तथा नवीन गतिशील अनुभूतियों के सहयोग से भविष्य का निर्माण करना होगा। पुरानी भूलो में सुधार आवश्यक है।

हिन्दी साहित्य में समालोचना

"The old order changeth yielding place to new."

महाकवि टेनीसन का उक्त कथन अक्षरशः सत्य है। प्राचीनता के पतन का तथा नवीनता के उत्थान का चक्र इस विश्व में अविराम रूप में घूमता रहता है। इन्ही उत्थान-पतन को परिवर्तन कहते हैं। इसमे संसार की सार्थकता निहित है। "पग पग परिवर्तन विश्व नियम।" परिवर्तन के इसी अबाध उद्दाम प्रवाह में विश्व की रूढियों की जर्जर जड़ विनिष्ट होती रहती है तथा नवीनता की लता अंकुरित, पल्लवित तथा कुसमित होती रहती है। ठीक यही बात हमारे नवयुग के साहित्य के विषय में चरितार्थ होती है। उत्तर रीति-कालीन रूढ़ि समर्थित काव्यकला को चुनौती देकर नवयुग के साहित्य का उत्थान एव प्रसार इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

अतः साहित्य के और कितने ही अगों की भाँति वास्तविक समालोचना का सूत्रपात भी भारतेन्दु-युग में ही हुआ। वर्तमान काल मे हम आलोचना को जिस समृद्ध रूप में देखते हैं, वह शताब्दियो के क्रमिक विकास का ही परिणाम है। यह विकास आदि सस्कृत काल से ही होता आ रहा है। शास्त्रो और उपनिषदों की टीका-टिप्पणी और भाषा ही इसका उद्‌गम है। साहित्यिक समालोचना के विकसित रूप के-क्षेत्र को आदि कवि वालमीकि रामायण तथा कुछ अन्य काव्य ग्रन्थों के प्रणयन ने ही प्रस्तुत किया होगा। क्योंकि इसी के पश्चात् आचार्यों ने विद्वत्तापूर्ण लक्षण ग्रन्थों द्वारा सैद्धान्तिक समीक्षा का भण्डार भरा।

तत्पश्चात् आलोचना एक दूसरे रूप मे अपना प्रारम्भिक परिचय देती है। वह रूप था जनता के द्वारा रससिद्ध कविश्वरों के काव्य का अध्ययन करने के पश्चात् फुटकर श्लोकों में उनका गुणदोष वर्णन। इम प्रकार श्लोक रूप में आलोचना का उदाहरण दृष्टव्य है—

> "उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्।
> दंडिनः पद लालित्य माघे सन्ति त्रयो गुणा॥"

आगे चलकर हिन्दी मे विकसित होने वाली तुलनात्मक समालोचना के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य इसी ने किया।

प्राचीन काल में समालोचना सूत्र रूप में मिलती थी। जैसे:—

> "सूर सूर तुलसी शशि, उडुगन केशवदास।
> अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करें प्रकाश॥"

इसमें अप्रत्यक्ष रूप से सूर, तुलसी और केशव के साथ अन्य कवियों की भी समालोचना सम्मिलित है। इसी प्रकार—

"और कवि गढिया, नन्ददास जड़िया" मे नन्ददास के कलापक्ष की प्रशंसा व्यक्त की गई है। तथा :—

"तुलसी गग दुवौ भए, सुकविनु के सरदार" मे तुलसी तथा गंग की कवित्व शक्ति की आलोचना की गई है। साराश यह है कि आलोचना प्रवृत्ति मानव की अत्यन्त प्रमुख एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

हिन्दी मे आधुनिक समालोचना का सूत्रपात प० वालकृष्ण भट्ट तथा पं० वद्रीनारायण चौधरी "प्रेमधन" द्वारा हुआ। प० वद्रीनारायण चौधरी ने अपनी "आनन्द-कादम्बिनी" पत्रिका मे कई समालोचनात्मक लेख प्रकाशित किये। पत्र-पत्रिकाओ की उन्नति के साथ-साथ समालोचना शैली मे भी उन्नति होती गई है।

पुस्तक के रूप मे समालोचना का सूत्रपात स्वनाम धन्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया। उन्होने समालोचना को उत्कर्ष पर पहुँचा दिया था। इसलिए वे विकास युग के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। उन्होने 'कालिदास की निरकुशता" नामक पुस्तक में कालिदास के ग्रन्थो की निर्णयात्मक समालोचना लिखी और "विक्रमाङ्कदेव चरित चर्चा" और "नैपध-चरित चर्चा" नाम की पुस्तको द्वारा परिचयात्मक समालोचना का रूप प्रस्तुत किया। आलोचना के इतिहास में प० महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम सदैव चिरस्मरणीय रहेगा। उन्होने रीतिकालीन उस शृंगार से पूर्ण गदी धारा को हीं रोक दिया—जिसमे नवरस अपनी पूर्ण गन्दगी के साथ प्रवाहित हो रहे थे। यदि द्विवेदी जी उस काल मे नही होते तो साहित्य-सृजन की धारा आज कुछ और ही होती। कितने आश्चर्य का विषय है कि उन्होने अकेले ही साहित्य की धारा को मनोवाँछित मोड दे दिया। सत्साहित्य को प्रोत्साहन देने का श्रेय महावीर प्रसाद द्विवेदी को ही प्राप्त है। उस समय का कोई कवि, कोई लेखक ऐसा नही जो उचित मार्ग दर्शन के लिए उनका आभारी न हो। द्विवेदी जी का महान कार्य है—भाषा का परिष्कार। उन्होने भाषा के व्यवस्थित तथा व्याकरण सम्मत होने के पक्ष पर अधिक फल देकर उच्चकोटि की साहित्यिक समालोचना का सूत्रपात किया। द्विवेदी जी की कटु आलोचना के भय से लेखक भाषा के प्रति सचेत हो गये जिससे हिन्दी का वड़ा उपकार हुआ।

द्विवेदी जी के पश्चात् मिश्र बन्धुओ के सहयोग से इसका रूप कुछ अधिक साहित्यिक हो चला। गुण-दोप विवेचन के साथ निर्णयात्मक सम्मति देने की ओर ये अधिक प्रयत्नशील रहे। प्राचीन महाकवियो की रचनाओ का पाँडित्यपूर्ण तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रथम श्रेय इन्ही दोनो बन्धुओ को ही है। उन्होने "हिन्दी नवरत्न" नामक एक बड़ा आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा जिसमे उन्होने कवियों की भाषा, विपय तथा काव्य कला सम्बन्धिनी विशेपताओ को प्रदर्शित करने के अतिरिक्त हिन्दी के नवरत्नो का सापेक्षित स्थान भी निर्धारित करने का प्रयत्न भी किया। इस प्रकार की निर्णयात्मक समालोचना ने साहित्यिक विवाद को जन्म दिया जिससे साहित्य में कुछ सजीवता आ गई।

पं० पद्मसिंह शर्मा साहित्य क्षेत्र मे आये और उन्होने बिहारी पर एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी। उसमे उन्होंने बिहारी की उसके पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों से तुलना कर बिहारी की उत्कृष्टता दिखलाई। पं० पद्मसिंह शर्मा की आलोचना मे पक्षपात पर्याप्त है, फिर भी उनकी आलोचना का साहित्यिक मूल्य है। हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना का प्रादुर्भाव यहीं से मानना चाहिए।

देव और बिहारी के विवाद को लेकर स्वतन्त्र पुस्तके लिखी जाने लगीं। इस प्रकार की सर्वप्रथम पुस्तक पं० कृष्णबिहारी मिश्र की "देव और बिहारी" है। उन्होंने यद्यपि देव का पक्ष लिया है तथापि बिहारी के महत्त्व को पूर्णतया स्वीकार कर अपनी निष्पक्षता का पूर्ण परिचय दिया है। बिहारी को उनके छोटे छन्दो के कारण जूही की कली कहा है तो देव को कमल का फूल ठहराया। इसमे जो बातें लिखी गई हैं वे बहुत कुछ साहित्यिक विवेचना के साथ लिखी गई हैं। मिश्र जी के तर्क उचित तथा साहित्यिक हैं।

तत्पश्चात् ला० भगवानदीन ने "बिहारी और देव" नाम की पुस्तक लिखकर बिहारी पर किये गए आक्षेपो का उत्तर दिया। उन्होने बिहारी को महानतर कवि सिद्ध करने का प्रयास किया है।

आलोचना अपने पूर्ण उत्कर्ष को पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा पहुँची। "समय पलट, पलटै प्रकृति" के अनुसार इस युग में समालोचना का रूप बदला। इस युग मे समालोचना का स्वरूप केवल गुण दोषात्मक तथा निर्णयात्मक समीक्षा ही नहीं रहा अपितु व्याख्यात्मक तथा सैद्धान्तिक समालोचना का रूप भी हमारे सम्मुख आया। इस प्रकार हमारे साहित्य मे वैज्ञानिक ढँग से विश्लेपण करके आलोचना होना आरम्भ हुई। ऐसी आलोचना वस्तु को स्पष्ट कर सम्मुख रख देती है। ऐतिहासिक समीक्षा भी इस युग की देन है।

आचार्य शुक्ल ने "तुलसी ग्रन्थावली" की भूमिका मे तुलसीदास की "भ्रमरगीतसार" की भूमिका मे सूर की और "जायसी ग्रन्थावली" की भूमिका द्वारा जायसी की आलोचना कर हिन्दी मे व्याख्यात्मक आलोचना का यथार्थ रूप से पथ-प्रदर्शन किया। अपनी आलोचना के बल पर ही पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी जैसे अप्रसिद्ध कवि को प्रकाश मे लाकर हिन्दी साहित्य का जगमगाता रत्न सिद्ध कर दिया। शुक्ल जी आलोचना के क्षेत्र मे कितनी ही बातें प्रकाश मे लाये। शुक्ल जी ने अपनी व्यक्तिगत धारणाओ और मान्यताओ के माध्यम से साहित्य को देखा। इसमें सन्देह नही कि शुक्ल जी हिन्दी के सर्वमहान् आलोचक हैं। यद्यपि वे पाश्चात्य आदर्शों से प्रभावित थे। तथापि उन्होने भारतीय पद्धति का आश्रय लिया है और उसमे भाव-विभाव दोनो पक्षों को ही मुख्यता दी है। विभावों के अभाव मे अनर्गल भावों की शृँखला जोड़ने वालों के अथवा केवल शैली को महत्व देने वाले कोरे अभिव्यंजनावादियो के वे विरुद्ध थे। शुक्ल जी ने व्यवहारिक समालोचना के साथ-साथ सैद्धान्तिक समालोचना का भी कार्य किया। "हिन्दी साहित्य का

इतिहास" तथा "चिन्तामणि" भाग दो इसके लिए चिरस्मरणीय रहेंगे।

एक आलोचक में जिन गुणों का होना आवश्यक है वे सब शुक्ल जी में विद्यमान थे। शुक्ल जी में विषय की पैंठ और उसका विश्लेषण असाधारण होता था।

डा० श्यामसुन्दरदास का नाम भी आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी के साथ लिया जाता है। उन्होंने सैद्धान्तिक आलोचना की पुस्तक "साहित्यालोचन" द्वारा साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों का परस्पर सम्बन्ध और महत्व बतलाकर समालोचना के कार्य में एक प्रकार से सुगमता उत्पन्न कर दी। उनकी "हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास" ने बाह्य परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराकर व्याख्यात्मक समालोचना के क्षेत्र में अच्छा काम किया है। इनके अतिरिक्त कबीर, सूर और तुलसी पर भी उन्होंने विस्तृत समीक्षाएँ भी लिखी हैं। डा० श्यामसुन्दर दास की विवेचन पद्धति सरल स्पष्ट तथा सुबोध होती है। आचार्य शुक्ल तथा डा० श्यामसुन्दर दास—दोनों ही आलोचना के भारतीय मानों के समर्थक हैं।

हाल ही में श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने "बिहारी की वाग्विभूति" नाम की एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी है। उन्होंने बिहारी की भाषा, भक्ति भावना, भाव व्यंजना आदि पर अच्छा प्रकाश डाला है।

प० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी कबीर पर विस्तृत आलोचनात्मक समीक्षा लिखी। इनके पश्चात् कितने नवीन आलोचक इस क्षेत्र में आये और कई नवीन पुस्तकों का सृजन हुआ। जिनमें मुख्य हैं :—

१—केशव की काव्यकला—लेखक—कृष्णशंकर शुक्ल।
२—गुप्त जी की कला—लेखक—प्रो० सत्येन्द्र।
३—प्रेमचन्द की उपन्यासकला—लेखक—प० जनार्दन प्रसाद झा "द्विज"।
४—प्रसाद की काव्य साधना—लेखक—श्री रामनाथ "सुमन" आदि।

छायावाद युग के आने के साथ-साथ आलोचना साहित्य की प्रगति अबाध गति से चली आ रही है। आज मुख्य रूप से तीन प्रकार के समालोचक हिन्दी में दृष्टिगत होते हैं।

१—प्राचीनतावादी अर्थात् वे समालोचक जो आलोचना के प्राचीन भारतीय मानों के समर्थक हैं। किन्तु कुछ आधुनिक तत्वों का भी समावेश करने के पक्ष में हैं। श्री गुलाबराय एम० ए०, रामदहिन मिश्र, आदि इसी प्रकार के आलोचक हैं। श्री गुलाब राय जी ने "सिद्धान्त और अध्ययन" "काव्य के रूप" आदि आलोचना शास्त्र की पुस्तकों का प्रणयन किया। इसमें गुलाबराय जी ने आधुनिक और प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों का समन्वय बड़ी सफलता के साथ किया है।

पं० रामदहिन मिश्र ने लक्षण ग्रन्थ के रूप में "काव्य दर्पण" की रचना की है। इसमें उन्होंने प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों का औचित्य प्रमाणित किया है। ये लोग छायावादी साहित्य के विरोधी हैं। ये उसे निराली अनुभूतियों से पूर्ण, जीवन

से दूर मानते हैं। परन्तु रामचन्द्र शुक्ल ने छायावादी साहित्य की भाषा की लाक्षणिकता की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। और उन्होने अपने "हिन्दी साहित्य के इतिहास" मे पन्त, प्रसाद, निराला आदि पर विस्तार रूप से प्रकाश डाला है।

दूसरी प्रकार के समालोचक वे हैं जो छायावाद के बहुत बड़े पृष्ठपोषक हैं। इनमे नन्द दुलारे बाजपेयी, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, शान्ति प्रिय द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, गगा प्रसाद पाण्डेय तथा विश्वम्भर मानव प्रमुख हैं। इन्होंने अपनी आलोचनात्मक समालोचना द्वारा छायावादी साहित्य का महत्व प्रतिपादित किया है।

तीसरे प्रकार के आलोचक वे है—जो मार्क्सवादी सिद्धान्तो से प्रभावित हैं। इस दिशा के प्रमुख आलोचक हैं—डा० रामविलास शर्मा, प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिह चौहान आदि। डा० रामविलास शर्मा ने "निराला" पर एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी। इसके अतिरिक्त डा० शर्मा ने साहित्यिकवाद, समस्याओ आदि पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखे।

तुलसी के सम्बन्ध मे आलोचनात्मक साहित्य की अच्छी सृष्टि हुई है। श्री सद्गुरुशरण अवस्थी के "तुलसी के चार दल" ने भी तुलसी साहित्य का महत्व तथा गौरव बढाया है। उन्होने तुलसीदास जी के जानकी मगल, पार्वती मंगल, रामलला नहछू और बरवै रामायण पर' कई दृष्टिकोणो से प्रकाश डाला है। इसमें रस और अलकार सम्बन्धी पठनीय सामग्री का यथोचित समावेश है। मिश्र बन्धुओं ने पार्वती मगल, रामलला नहछू आदि ग्रन्थो के प्रमाणिक होने में जो शंकाएं उपस्थित की हैं, उनका निराकरण विज्ञ लेखक ने बडी सफलता से अपनी पुस्तक में किया है।

सूरदास के ऊपर भी श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उत्तम ग्रन्थ लिखा है। उसमें सूर की विद्यापति आदि वैष्णव कवियो से तुलना की गई है। श्री रामरतन भटनागर तथा श्री वाचस्पति त्रिपाठी लिखित—"सूर साहित्य की भूमिका" में सूरकाव्य से सम्बन्ध रखने वाली प्राय: सभी बातो का (जैसे भक्ति इतिहास, श्री बल्लभाचार्य के सिद्धान्त, सूर सागर से भागवत की तुलना) का समावेश किया है।

मध्यकालीन साहित्य एव वर्तमान काल की धाराओ के सम्बन्ध में भी कई ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं जिनमे श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के "हिन्दी-साहित्य-विमर्श" का उच्च स्थान है। उन्होने अपने "विश्व-साहित्य" मे साहित्य के द्वारा मानव जाति में प्रेम और ऐक्य भाव स्थापित होने का दिव्य सन्देश दिया है।

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त और भी समालोचना सम्बन्धी पुस्तकें लिखी गई हैं। पं० रामकृष्ण शुक्ल ने "प्रसाद की नाट्यकला" मे नाट्य के साधारण सिद्धान्तों का दिग्दर्शन करा कर प्रसाद जी के नाटको पर अच्छा प्रकाश डाला है। "प्रसाद जी

के दो नाटक" नाम की एक पुस्तक और निकली है।

हर्ष का विषय है कि अब नाटक साहित्य और उपन्यास साहित्य पर भी आलोचनात्मक ग्रन्थ निकल रहे हैं।

समालोचना के सिद्धान्तो पर भी डा० श्यामसुन्दर दास जी के "साहित्यालोचन" के अतिरिक्त कई और ग्रन्थ प्रकाश मे आये हैं। श्री नलिनीमोहन सान्याल ने अपने "आलोचनातत्व" में मनोवैज्ञानिक पक्ष लिया है। श्री सुधाशु जी का "काव्य मे अभिव्यंजनावाद" एक उच्चकोटि का ग्रन्थ है। उसमे क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के अतिरिक्त अपने यहाँ के अलकारिक शास्त्र के कई मतो की विशद विवेचना है। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने "कवि और काव्य" में प्राचीन तथा अर्वाचीन कवियो के काव्य पर बड़े मार्मिक ढग से प्रकाश डाला है। श्री पुरुषोत्तम जी ने अपने "आदर्श और यथार्थ" नामक पुस्तक मे आदर्श और यथार्थ का पारस्परिक सम्बन्ध बतला कर इस दिशा मे मूल्यवान सामग्री उपस्थित की है। ऐसे ग्रन्थो ने हिन्दी मे सैद्धान्तिक आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया है।

आज आलोचना की धारा बहुमुखी होकर दिन प्रतिदिन उन्नति कर रही है। इसका भविष्य उज्ज्वल है। वह समय अब निकट ही है जब हिन्दी का आलोचनात्मक साहित्य अपनी पूर्ण श्रीवृद्धि को प्राप्त होगा।

काल-विभाजन की दृष्टि से समालोचना के ऐतिहासिक क्रम को तीन भागों मे विभाजित किया जा सकता है :—

१—प्रारम्भिक काल, २—कार्य काल, ३—परिवर्तन काल।

१—प्रारम्भिक काल :—समालोचना के प्रारम्भिक काल की कोई निश्चित तिथि नही कही जा सकती। इस काल मे काव्य का निर्माण तथा उसका विकास हुआ। समालोचको ने अन्वेषको के समान काव्य का अध्ययन करके उनकी विशेषताओ का परिचय प्राप्त किया तथा नियम निर्धारित किये। रचनाओ का मूल्यांकन इन्ही नियमो के आधार पर किया जाने लगा। इसी से इसे निर्माण काल कहते हैं।

२—कार्य काल :—इस काल को कार्यकाल कहा गया है क्योकि इस काल मे कवियो ने सिद्धान्तो एव नियमो के आधार पर रचना की थी। वे नियमो की शृखला मे जकड़े हुए थे। स्वतन्त्र न थे। समालोचक भी नियमो की कसौटी पर कवि-कृतियो को परखते थे और उनका स्थान निर्धारित करते थे।

३—परिवर्तन काल :—इस युग मे पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित होकर समालोचको ने नवीन नियमो का अनुसन्धान किया क्योंकि वर्तमान कवियो ने स्वतन्त्र होकर रचना को प्राचीन नियमो से मुक्त कर दिया।

अतः समालोचना शैली में परिष्कार एवं परिवर्तन हो गया। वर्तमान युग के आलोचना के सिद्धान्त प्राचीन से भिन्न हैं।

सिद्धान्त विचार की दृष्टि से हिन्दी मे समालोचना सिद्धान्तो को तीन

शाखाओं या वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

१—प्रथम वर्ग :—इसके अन्तर्गत संस्कृत के समालोचना सिद्धान्त आयेंगे। संस्कृत के पंडितों ने गहन अध्ययन तथा शोध के पश्चात् समालोचना के विविध सिद्धान्तों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया। सस्कृत मे समालोचना की पाँच शाखायें प्राप्त होती हैं :—

(१) आचार्य भरत का "रसवाद"।
(२) आनन्दवर्द्धनाचार्य एवं मम्मट का "ध्वनिवाद"।
(३) भामह दण्डी का "अलंकारवाद"।
(४) वामनाचार्य का "नीतिवाद"।
(५) आचार्य कुन्तक का "वक्रोतिवाद"।

इन पाँचों शाखाओ मे काव्य के पृथक-पृथक वादो की महत्ता प्रतिपादित है।

आधुनिक हिन्दी के युग मे रस एव अलंकारो को विशेष महत्व दिया गया है। कुछ विद्वानों ने ध्वनि को भी महत्व दिया है। निम्नलिखित ग्रन्थों का प्रणयन इन सिद्धान्तो के आधार पर हुआ है।

१—बाबूराम वित्थरिया	—नवरस।
२—कन्हैयालाल पोद्दार	—अलंकार प्रकाश।
३—अर्जुनदास केडिया	—भारतीभूषण।
४—ला० भगवानदीन	—अलकार मंजूषा।
५—कन्हैयालाल पोद्दार	—काव्य कल्पद्रुम।
६—जगन्नाथप्रसाद 'भानु'	—छन्द प्रभाकर।
७—शालिग्राम शास्त्री	—साहित्य दर्पण का अनुवाद।
८— " "	—केशव कृत कवि प्रिया एवं रसिक प्रिया की टीकाएँ—
९—बाबू श्यामसुन्दरदास	—भारतीय नाट्य शास्त्र।
१०—गुलाबराय	—नाट्य विमर्ष।

२—द्वितीय शाखा :—समालोचना सिद्धान्तो की द्वितीय शाखा पर पाश्चात्य समालोचना सिद्धान्तो की छाप है। हिन्दी मे जगन्नाथ दास रत्नाकर ने सर्वप्रथम "समालोचनादर्श" नामक ग्रन्थ की रचना करके इस शाखा का प्रारम्भ किया। यह अंग्रेज कवि पोप के "Essays on Criticism" का अनुवाद है।

इसके पश्चात् निबन्धों के रूप मे समालोचना शास्त्र के सिद्धान्त पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित हुए। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने "विश्व साहित्य" में कुछ सिद्धान्तों का वर्णन किया है।

३—तृतीय शाखा :—इस शाखा मे संस्कृत एव पाश्चात्य सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय है। डा० श्यामसुन्दर दास का "साहित्यालोचन" इसका सुन्दर उदा-

हरण है। सूर्य कान्त शास्त्रीका "साहित्य मीमासा" भी इसी प्रकार का ग्रन्थ है।

द्विजेन्द्र लाल राय का "कालिदास और भवभूति" भी इसी आधार पर निर्मित है।

रामचन्द्र शुक्ल तथा द्विवेदी जी द्वारा इस प्रकार के अनेक लेख समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित किए गए।

संस्कृत साहित्य मे समालोचनाः—सृष्टि के प्रारम्भ में जब मानव ने अपनी आँखें खोली होगी तब वह विश्व के नाना पदार्थों के विभिन्न आकार प्रकार, रंग-रूप आदि से चमत्कृत हुआ होगा। उसके हृदय मे एक प्रकार का कौतूहल एवं आकर्षण उत्पन्न हुआ होगा।

सौन्दर्य प्रियता की भावना मानव को प्रकृति मे वरदान के रूप में मिली है। इसी भावना के द्वारा मानव ने सृष्टि के प्राकृतिक पदार्थों पर विचारना प्रारम्भ किया। कतिपय पदार्थों मे उसे आकर्षण प्रतीत हुआ और वह उनमे अनुराग करने लगा और जिन पदार्थों मे उसे रुचि नही थी उसकी उसने उपेक्षा की।

इस प्रकार मानव ने सौन्दर्य प्रियता की भावना से अभिभूत होकर प्राकृतिक पदार्थों की निन्दा एव स्तुति की।

यही उसकी पदार्थ विषयक आलोचना के नाम ने अभिहित हुई। अतः कहा जा सकता है कि आलोचना का प्रारम्भ सृष्टि के पदार्थों के साथ-साथ हुआ।

हमारे यहाँ महर्षि वाल्मीकि को आदि कवि माना जाता है। आचार्य राजशेखर ने काव्य पुरुष की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जिस कथा का वर्णन किया है वह भी वाल्मीकि को ही आदि कवि तथा रामायण को आदि काव्य स्वीकार करता है। इसका यह अर्थ हुआ कि वाल्मीकि का व्यापक अध्ययन करके विद्वानो ने उसकी विशेषताओ से प्रभावित होकर उसमे से सौन्दर्य, चारुता तथा मधुरता आदि का अनुसन्धान करके गुण, रीति, अलकार आदि की प्रतिष्ठा की।

संक्षेप मे विद्वानो ने काव्य का अध्ययन करके अपनी गुण-दोपमयी प्रवृत्ति के आधार पर काव्य-शास्त्र का निर्माण किया। यह काव्य-शास्त्र आलोचना का विकसित एव परिष्कृत रूप था।

अतः निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि आलोचना का शास्त्रीय स्वरूप "काव्य रामायण" के समय से ही स्वीकार किया गया है। रामायण से पूर्व ऋषि प्रणीत ईश्वरीय-ज्ञान का प्रकाशपुज "वेद" विद्यमान था किन्तु वह काव्य नाम से अभिहित न था। इसलिए वह समालोचना का विषय न हो सका।

आज जो साहित्य की समीक्षा का रूप मिलता है, वह अभी कुछ ही दिनों की वस्तु है। राजशेखर ने काव्य मीमासा मे उसका वास्तविक सूत्रपात्र किया किन्तु उसका व्यवहारिक रूप प्रस्तुत किया औचित्य वादियो ने ही। क्षेमेन्द्र ने औचित्य पर विचार करते हुए लिखा है कि काव्य सौन्दर्य का मुख्य तत्व है औचित्य। अतः

किसी भी काव्य में यह देखना आवश्यक है कि काव्य का प्रत्येक तत्व उचित रूप, मात्रा और अनुपात मे व्यक्त किया गया है या नही। इस सम्बन्ध में उन्होने उदाहरण दिया है:—

कण्ठे मेखलया नितम्ब फल के तारेण हारेण वा,
पाणौ नुपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणमा नायन्ति के हास्यता,
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणः ॥

["यदि कोई स्त्री अपने गले मे तगड़ी, कमर पर हार, हाथ नूपुर और पैरों में भुजबन्ध बांध ले, यदि कोई अपने सम्मुख झुके हुए व्यक्ति पर वीरता दिखावे और शत्रु पर करुणा दिखावे, तो कौन ऐसा है जो इस मूर्खता पर नहीं हँस देगा। अतः औचित्य के बिना न तो कोई सजावट ही अच्छी लगती है न गुण ही।]

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही द्रष्टव्यता की कसौटी मानी। रीति ग्रन्थकारों ने साहित्य के लक्षण ग्रन्थों में गुण, दोष, रीति, वृत्ति, अलकार, ध्वनि, रस आदि के लक्षण के साथ उदाहरण दे-देकर किसी कवि की उत्कृष्टता तथा निकृष्टता की ओर सकेत किया था। लेकिन इन्हें समीक्षा की श्रेणी में नही लिया जा सकता।

सस्कृत साहित्य मे सूक्ति रूप में भी गुण-दोषो की विवेचना मिलती है। उदाहरण देखिये:—

"उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्य माघे सन्ति त्रयोः गुणाः ॥

[कालिदास की कविता में उपमा की विशेषता, भारवि की कविता मे थोड़े शब्दो में बहुत गम्भीर अर्थ होने की विशेषता और दन्डी की रचना में शब्दो की ललित योजना की विशेपता है। किन्तु माघ कवि की रचना में तीनों गुणों की विशेषता है।]

इसी परिपाटी का पालन हिन्दी साहित्य में भी होता रहा और इस प्रकार की उक्तियाँ कवियो की परीक्षा के लिए प्रमाण मानी जाने लगी।

कभी-कभी कवियों ने स्वयं अपनी रचना के विषय में प्रशंसात्मक या व्याख्यात्मक वाक्य भी कहे हैं। जैसे जयदेव ने गीत गोविन्द के प्रारम्भ मे कहा है—

यदि हरि स्मरणे सरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
कलित-कोमल-कान्त पदावली
शृणुत हे जयदेव सरस्वतीम् ॥

[यदि आपके हृदय को श्री कृष्ण के स्मरण मे आनन्द आता हो, यदि उनके रास और ऐश्वर्य आदि जानने की उत्कण्ठा हो तो आप संजोये हुए सुन्दर पदों वाला जयदेव कवि की कविता सुनिये।]

"नैषध-चरित" में श्री हर्ष ने इसी प्रकार की गर्वोक्ति की है।

इस प्रकार की समीक्षात्मक उक्तियों के प्रचलन का परिणाम अच्छा नहीं हुआ। ग्रन्थों के जिज्ञासु अध्येता केवल उतनी ही संकुचित दृष्टि से अध्ययन करने लगे जितना उन उक्तियों से स्पष्ट होता है। कालिदास में लोग उपमा ही खोजते रह गए। इस संकुचित समीक्षा वृत्ति से श्लाघ्य रचनाओं का परीक्षण तथा आदर कम हो गया तथा उन्हीं कवियों को महत्व दिया गया जिनके सम्बन्ध में यह उक्तियाँ प्रचलित हैं।

सातवां अध्याय

रस-सम्प्रदाय

रस-सम्प्रदाय साहित्य का प्रधान तथा आदि सम्प्रदाय माना गया है। सर्व प्रथम साहित्य मे रस के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाले भरतमुनि हैं। रस-सम्प्रदाय के अनुयायियो ने तो रस को काव्य का प्राण माना ही है, अन्य सम्प्रदायों ने भी इसके महत्त्व को स्वीकार किया है। इसका कारण है—रस का आनन्दमय होना। रस के द्वारा ही काव्य मे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। साहित्य में रस से अभिप्राय है काव्यानन्द। काव्य के साथ काव्यानन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके अभाव मे काव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं।

रस शब्द की व्युत्पत्ति, अर्थ इतिहास:—संस्कृत में व्याकरण के अनुसार रस की व्युत्पत्ति है—"रस्यते इति रस:" रस वह है जो आस्वाद किया जा सके—"रस आस्वादन स्नेहयो:।" व्याकरण में रस की एक व्युत्पत्ति और भी मिलती है—"सरते इति रस:" अर्थात् जो बहे वह रस है। यहाँ रस में बहने का विशेष गुण माना गया है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार रस में दो विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं—द्रवत्व और स्वाद।

वेदो मे भी रस का प्रथम अर्थ मिलता है— "दधान: कलशे रसम्"[1] यहाँ रस से तात्पर्य सोमरस से है। शतपथ ब्राह्मण मे रस का प्रयोग मधु के अर्थ मे हुआ है —"रसो वै मधु"। उपनिषद मे रस का अत्यन्त स्पष्ट तथा गम्भीर अर्थ मिलता है— "रसो वैस: रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति"[2]। उपनिषदों मे रस ब्रह्म या ब्रह्मानन्द का वाचक माना गया है—"रस: सार: चिदानन्दप्रकाश।" इसकी प्राप्ति पर आत्मा परमात्मा का उपयोग करती है। इसी रस से ऋग्, यजु, और साम की ऋचाओं का जन्म हुआ:—

ऋचामेव तद्रसेन
यजुपामेव तद्रसेन
साम्नामेव तद्रसेन। (छान्दोग्य उपनिषद्—४, १७)

डा० सकरन का मत है कि इस वाक्य से प्ररणा प्राप्त कर साहित्य के आदि आचार्यो ने काव्यानन्द के अर्थ में रस का प्रयोग किया था—"जिस प्रकार योगी उस चिदानन्द प्रकाश का अपनी आत्मा में सहज साक्षात्कार कर, पूर्णत: तन्मय होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है इसी प्रकार सहृदय भी अपने मानस में नाटक या काव्य के सौन्दर्य का सहज साक्षात्कार कर काव्यानन्द का अनुभव करता है।" इसके

१—ऋग्वेद, ९, ६३, १३
२—तैत्तिरीय उपनिषद् ११, ७, १

पश्चात् कठ आदि उपनिषदो में तथा दर्शनो मे रस "रसना की ऐन्द्रिक अनुभूति" के पारिभाषिक अर्थ मे मिलता है :—

"येन रूपं रस ········· एतेनैव विजानाति । (कठोपनिषद् ४, ३)
शब्द स्पर्श रूप रसगन्धाः (सर्वोपनिषद्) ।

रस के सम्बन्ध में न्याय का मत इस प्रकार है :—

"रसमस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिर नेकवा ।
सहकारी रसज्ञाया : नित्यत्वादि च पूर्ववत् ॥

रामायण मे रस का प्रयोग जीवन रस (अमृत) पेय आदि साधारण अर्थों में किया गया है । महाभारत मे रस जल, सुरा, पेय, गन्ध, काम और स्नेह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—"रसोऽहमप्सु कौन्तेय"—(गीता)

इस प्रकार स्पष्ट है कि ऋग्वेद से लेकर महाभारत तक प्रायः रस के सभी मुख्य-मुख्य अर्थों की व्याख्या हो चुकी थी । परन्तु साहित्यिक रस का परिभाषिक अर्थ अभी निश्चित न हो पाया था ।

रसो गन्ध रसे स्वादे तिक्तादौ विपरागयोः,
शृंगारादौ युवे वीर्ये देहधात्वम्बु पारदे ।"[२]

इसमें से अभी रस मे शृंगार आदि का समावेश नही हो पाया था । परन्तु यह निर्विवाद है कि उसके लिए आवश्यक आधार निर्मित हो चुका था । वैसे वाल्मीकि रामायण मे नवरस का स्पष्ट वर्णन मिलता है :—

"पाठ्ये गेये च मधुरं च प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्,
जातिभिः सप्तभिर्युक्तम्, तन्त्रीलय समन्वितत् ॥ ८ ॥
रसैः शृंगार, करुणा हास्य-रौद्र भयानकैः,
वीरादि भीर संयुक्त काव्यमेनद् गायताम् ॥ ९ ॥[१]

परन्तु विद्वान वालकाण्ड के इस अंश को प्रक्षिप्त मानते हैं ।

इसके पश्चात् भरतमुनि का नाट्य शास्त्र उपलब्ध होता है । इसमे रस का पारिभाषिक तथा शास्त्रीय रूप पूर्ण रूपेण मिलता है । भरत का यह ग्रन्थ अपने क्षेत्र में अद्वितीय है । भरत ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के आर्या तथा अनुष्टुप छन्द को लेकर यह इंगित किया है कि उनसे पूर्व भी रस का शास्त्रीय तथा पारिभाषिक रूप स्थिर हो गया था तथा उनकी संख्या भी निश्चित हो गई थी । भरत ने रस का विवेचन नाटक के दर्शक की भाव-प्रतिक्रियाओ की व्याख्या करने के हेतु किया है ।

साहित्य मे रस का महत्त्वः—राजशेखर ने "काव्य की मीमासा" में लिखा है कि "ब्रह्मा के कहने से नन्दिकेश्वर ने सर्व प्रथम रस का निरूपण किया था ।" यदि

२—"इति विश्वः"
१—वालकाण्ड

यह नन्दिकेश्वर अभिनय दर्पण का निर्माता है तो उसने नाट्य की उत्पत्ति के वर्णन में लिखा है कि—"नाटक में" "अपि ब्रह्मपरानन्दादिदमभ्यधिकं मतम्" अर्थात् नाटक का आनन्द परमानन्द से भी बढ़कर है।" यह आनन्द रस ही है। जिसे ब्रह्मा जी ने अथर्ववेद से लेकर पंचमवेद नाट्य मे प्रतिष्ठित किया था। इस व्याख्या से रस का महत्त्व स्वय सिद्ध है।

रस के सम्बन्ध मे भरतमुनि का सिद्धान्त सर्वमान्य है। उन्होने रस को साहित्य का प्राण माना है। रस से विरहित होकर काव्य का अस्तित्व सम्भव नही। भरत के विचार से जितने भी अर्थ होते हैं वे सभी रसमय होते हैं। रस के विना किसी अर्थ की प्रतीति नही होती।

"नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"[२]

अग्निपुराण के रचियता व्यास जी ने भी रस को काव्य का प्राण माना है :—

"वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्" [३]

रस के महत्त्व को केवल रसवादियो ने ही स्वीकार नही किया है, अलंकार-वादियों, रीतिवादियो, वक्रोक्तिवादियो आदि ने भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसके महत्त्व को स्वीकार किया है।

अलंकार सम्प्रदाय का प्रतिष्ठापक भामह रस विरोधी था। परन्तु उसने भी रस का रसवद्, उर्जस्विन् और प्रेयस अलकारों में अन्तर्भाव किया है। उन्होंने "मुक्तं लोक स्वभावेन रसैश्च सकलैः प्रथक्" लिखकर रस के महत्त्व को स्वीकार किया है। दण्डी ने भी अपने काव्यादर्श मे विभिन्न रसो का विस्तृत विवेचन किया है। वामन ने रस को कान्तिगुण का मूल तत्व मानते हुए (दीप्तिरसत्वं कान्तिः) उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ा दी। रुद्रट ने भी रस के महत्त्व को स्वीकार किया है। उसने रसो को अलकारों की दासता से मुक्त करते हुए विरोधी सिद्धान्तो को समन्वित करने का प्रयास किया है। उसने यह घोषणा की कि रस के सम्यक परिपाक के बिना कविता नीरस और निस्पंद होगी :—

"एते रसा रसवतो रमयन्ति पुसः
सम्यग्विभज्य रचिताश्च तुरेण चारू।
यस्मादि माननधिगम्य न सर्वरम्यं
काव्य विधातुमलयत्र तदाद्रियेतं॥ [४]

ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने रस को ध्वनि का प्रधान अग माना है। इस प्रकार उन्होने ध्वनि सिद्धान्त को रस सिद्धान्त का विरोधी न मानकर उसका व्यापक रूप प्रस्तुत किया है।

२—नाट्यशास्त्र छठा अध्याय

३—अग्निपुराण ३३७, ३३

४—रुद्रट—काव्यालंकार १५, २१

ध्वन्यालोक के उपरान्त अभिनव गुप्त ने रस के महत्त्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की और रस की स्थिति से सम्बन्ध रखने वाली अनेक भ्रान्तियों का समाधान किया। संस्कृत साहित्य शास्त्र में अभिनव गुप्त का स्थान विशेष महत्त्व का है। रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का पूर्ण श्रेय अभिनवगुप्त को ही प्राप्त है।

रस का सबसे प्रबल पृष्ठपोषण राजा भोज ने किया। उन्होंने केवल एक रस-शृंगार को ही माना। उन्होंने रसोक्ति को विशेष महत्त्व दिया है :—

"वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मय.,
सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्ति प्रतिजानीते।"

संस्कृत आचार्यों की काव्य परिभाषाओं से भी रस का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। भरत ने "बहुकृत रस मार्ग" वाग्भट्ट ने "रसोपेन" जयदेव ने "रसानेक" लिख कर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे रस के महत्त्व को प्रतिपादित किया है।

मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि ने रस को काव्य या प्राण माना है। विश्वनाथ ने रस को ध्वनि से भी अधिक महत्त्व दिया है। उनके विचार मे रस के अभाव मे काव्य काव्य नही हो सकता। जगन्नाथ ने "रमणीयमार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम" लिखकर रस के महत्त्व को स्वीकार किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत के विद्वानों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रस के महत्त्व को प्रतिपादित किया है।

साहित्य में रस का महत्त्व एक दृष्टि से और भी अनुपमेय है। काव्य की पराकाष्ठा साधारणीकरण मे दृष्टिगोचर होती है। साधारण रस के द्वारा ही होता है। अत. रस काव्य का अनिवार्य उपकरण है।

कालिदास तथा भवभूति ने तो रस के महत्त्व को स्पष्टत. स्वीकार किया है:—

"त्रैगुण्योद्भवमज लोक चरित्र नाना रस दृश्यते,
नाट्य भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येक समाराधनम्।

(मालविकाग्निमित्र अंक १, ४)

कालिदास तथा भवभूति के अतिरिक्त अन्य कवियो ने भी रस की मान्यता स्वीकार की है।

भरतमुनि का रस सूत्र—भरतमुनि रस सम्प्रदाय के आदि आचार्य माने गये हैं। भरत का प्रसिद्ध रस सूत्र इस प्रकार है—

"विभावानु भाव व्यभिचारि सयोगात् रसनिष्पत्ति",

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावो के सयोग से रस निष्पत्ति होती है।

वस्तुत. भरतमुनि ही रस सिद्धान्त के मूल प्रवर्त्तक हैं। उनका ग्रन्थ अद्वितीय है। परन्तु उनका उपर्युक्त रस सम्बन्धी सूत्र कुछ ऐसा अस्पष्ट है कि उसके वास्तविक आकार के सम्बन्ध मे कोई भी कल्पना नहीं की जा सकती। इस सिद्धान्त की व्याख्या को समझने के लिए पहले भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव क्या

है—को समझ लेना वांछनीय है। क्योंकि रस के मल आधार स्थायी भाव हैं, और विभाव, अनुभाव तथा सचारी भाव स्थायी भाव को रस की अवस्था तक पहुँचने में सहायक होते हैं। आचार्य मम्मट ने भी इसी बात को स्वीकार करते हुए लिखा है:-

"कारणान्मथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाऽथकाव्ययोः ॥
विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्यः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसस्मृतः ॥
काव्यप्रकाश, ५/३७-३८।

जयदेव ने चन्द्रालोक में रसास्वादन के हेतु कारण कार्य और सहकारी कार्यो को क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी माना है—

"आलम्बनोद्दीपनात्मा विभाव. कारण द्विधा।
कार्योऽनुभावो भावाश्च सहायो व्यभिचार्यपि ॥"

भाव—मन के विचारो को भाव कहते है। ये वाणी, अग रचना, और अनुभूति के द्वारा काव्यार्थो की भावना कराते हैं। इसीलिए इनको भाव कहते हैं—"वागंगसत्वापेतान् काव्यार्थान् भावयंतीति भावा।" भाव रस से स्वतन्त्र नही हैं और न भावो के विना रस की स्थिति है। वे एक दूसरे को प्रकाशित करते हैं, "न भाव हीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः !" ये स्थायी भाव विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावो द्वारा उद्दीप्त होकर रस रूप मे परिणित होते हैं। साहित्य दर्पण मे भी लिखा है—

"विभावानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रस तामेति रत्यादिः स्थायी भावोः सचेतसाम् ॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि रस निष्पत्ति के लिए भाव के साथ विभाव, अनुभाव तथा सचारी भावो का होना भी आवश्यक है।

भाव दो प्रकार के होते हैं—

(१) स्थायी भाव—जो अधिक देर तक मन मे रहकर रस का आस्वादन कराते हैं।

(२) व्यभिचारी भाव—जो क्षण-क्षण मे परिवर्तित होते रहते हैं। इनमे स्थायित्व की विशेपता नही होती।

भरत ने रति, हास, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, शोक ये आठ स्थायी भाव माने हैं।

संचारी या व्यभिचारी भावों की संख्या ३३ मानी गई है।

विभाव—केवल स्थायी भाव ही रस निष्पन्न नही कर सकते। यह कार्य-विभावों की सहायता से होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल विभाव के सम्बन्ध मे लिखते हैं—"विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके

प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है।" भरतमुनि ने नाट्य शास्त्र मे विभाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"वहवोऽर्था विभान्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्तेनाय विभावभूति कथ्यते ॥" ७।६

अर्थात् "विभाव वाणी और अगो के आश्रित अनेक अर्थो का विभावन या अनुभव कराते हैं इसलिए इन्हें विभाव की संज्ञा दी गई है।"

दशरूपककार धनञ्जय ने विभाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोपकृत्।
आलम्बनोद्दीपनत्व प्रभेदेन स च द्विधा ॥

अर्थात् विभाव वह जिसका ज्ञान हो सके। जिसे विभावित करके सामाजिक रसास्वाद करता है, वह विभाव है। यह विभाव भाव (स्थायी भाव) को पुष्ट करने वाला है, उसे रस रूप मे परिणत करने वाला है। यह विभाव आलम्बन तथा उद्दीपन इस भेद से दो तरह का होता है।

इस प्रकार विभाव दो प्रकार के हुए:—

(१) आलम्बन विभाव, (२) उद्दीपन विभाव।

(१) आलम्बन विभाव—जो विभाव भाव को जाग्रत करते है उन्हे आलम्बन कहते हैं। आलम्बन विभाव दो प्रकार के होते हैं—

(१) विषयालम्बन (२) आश्रयालम्बन।

(२) उद्दीपन विभाव—उसे तीव्र अथवा उद्दीपन करने वाला विभाव उद्दीपन कहलाता है। एक उदाहरण से यह वात स्पष्ट हो जायेगी।

वाटिका में शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के हृदय मे रति भाव जाग्रत होता है। यहाँ पर शकुन्तला आलम्बन विभाव है। और वाटिका उद्दीपन विभाव है। विभावो के अभाव में कोई भी भाव उदित नही होता। भावोद्दीपन के कारण निम्नलिखित होते हैं—

(१) आलम्बन के गुण।
(२) आलम्बन की चेष्टाएँ।
(३) आलम्बन के अलकार।
(४) तटस्थ जैसे वसन्त उद्यान आदि।

अनुभाव—अनुभाव का अर्थ है भाव के पीछे होने वाला। भाव कारण और अनुभाव कार्य है। विभाव भाव को अकुरित करते है, परन्तु अनुभाव उसे आस्वाद योग्य वना देते है। "दशरूपक" मे धनञ्जय ने अनुभाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः।"

अर्थात् रत्यादि स्थायी भाव की सूचना करने वाले विकार अनुभाव कहलाते है। अतः स्पष्ट है कि स्थायी भावो का अनुभव कराने वाले अनुभाव कहलाते है—

"अनुभावयन्ति इति अनुभावाः"

अनुभाव चार प्रकार के होते है—

(१) कायिक (२) मानसिक तथा (३) सात्त्विक (४) आहार्य।

(१) कायिक—इसके अन्तर्गत कटाक्ष आदि आंगिक चेष्टाएँ आती हैं।

(२) मानसिक—वाचिक कथोपकथन इत्यादि।

(३) आहार्य—अलकार आदि बनावटी वेश रखना।

(४) सात्त्विक—स्वभाविक अग विकार। सात्त्विक अनुभाव का रसों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनके आठ भेद हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वर भग, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वेद, रोमाञ्च, प्रलय।

ये ही सब बाते है जो रस निष्पत्ति के समझने मे सहायक है।

भरत के रस सूत्र की व्याख्या—भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावो को स्पष्ट करने के उपरान्त अब हम भरत के रस सूत्र को स्पष्ट करेंगे। भरतमुनि के अनुसार—"विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस निष्पत्ति है।" इसका अभिप्राय यह है कि जब आलम्बन, उद्दीपन ठीक हो, उनके प्रभाव से आश्रय मे आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अनुभाव प्रकट हो तथा विभिन्न संचारी भाव उस आश्रय के स्थायी भाव को यथोचित रूप से पुष्ट करते चलें उस समय इन सबके सयोग (सम्यक योग अर्थात ठीक मेल) से रस की निष्पत्ति या सिद्धि होती है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा। देखिए—

"कुशल नट और नटी दुष्यन्त और शकुन्तला के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते है ये पहले पहल तपोवन की रमणीय कुंजों में मिलते हैं [विभाव] दोनों एक देसरे के आह्लाद कर सौन्दर्य को देखकर चकित हो जाते है और तृषित उत्सुक नेत्रों से एक दूसरे की ओर देखते हैं—अनिच्छापूर्वक जाती हुई शकुन्तला चोरी चोरी एक दृष्टिपात करती है [अनुभाव] वियोग में कभी उत्कण्ठा और कभी निराशा से व्यग्र होकर वे एक दूसरे से मिलने को आतुर हो उठते हैं। [व्यभिचारी भाव। सौभाग्य से शकुन्तला सखी की सहायता से दुष्यन्त पर अपना प्रेम प्रकट करने का अवसर प्राप्त करती है। इतने में ही दुष्यन्त वहाँ आकर सहसा उपस्थित हो जाता है और इस प्रकार दोनों प्रेमियों का संयोग हो जाता है। जब यह सब (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि का सयोग) कविता, संगीत रंग वैभव आदि की सहायता से, जिनको भरत ने नाट्य धर्मी कहा है, मंच पर प्रदर्शित किया जाता है तो प्रेक्षक के हृदय में वासना रूप से स्थित रति स्थायी भाव जाग्रत होकर उस चरम सीमा तक उद्दीप्त हो जाता है जहाँ प्रेक्षक व्यक्ति और देशकाल का अन्तर भूल कर सामने उपस्थित घटना में तन्मय हो जाता है, और चरमावस्था को

प्राप्त उसका यह भाव उसे एक आनन्दमयी चेतना में विभोर कर देता है। यही आनन्दमयी चेतना रस है।"

इसके अतिरिक्त अपने रस सूत्र की व्याख्या करते हुए भरत ने स्पष्ट समझाया है—"जैसे अनेक प्रकार के द्रव्य, औषधि, व्यञ्जन आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है और जैसे गुड आदि मधुर अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय के सम्मिश्रण से विलक्षण प्रकार के रस बनते हैं उसी प्रकार स्थायी भाव भी अनेक भावों में पड़कर रस बन जाते हैं। रस क्या पदार्थ है। उत्तर है—'आस्वाद्य पदार्थ है? इसका स्वाद कैसे लिया जाता है? उत्तर है—जैसे अनेक व्यंजनों से सिद्ध किये हुए अन्न को भक्षण करते हुए सुमनस पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्ष आदि का अनुभव करते हैं, वैसे अनेक प्रकार के वाचिक, आंगिक और सात्विक अभिनयों के प्रभाव से व्यक्त होने वाले स्थायी भावों का सुमनस प्रेक्षक आस्वादन करते हैं। अर्थात हर्ष आदि का अनुभव करते हैं। इसीलिए हमने इन्हें नाट्यरस कहा है।"

[को दृष्टान्तः। अत्राह यथा हि नाना व्यञ्जनौषधिद्रव्य संयोगाद्रसनिष्पत्ति-र्भवति। यथा हि गुडादि भिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति। अत्राह रस इति कः पदार्थः। उच्यते आस्वाद्यत्वात् रसः। यथा हि नाना व्यञ्जन संस्कृत मन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनस पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नाना भावाभिनय व्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायी भावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षा-दींश्चाधिगच्छन्ति, तस्यानाट्यरसा इत्यभिव्याख्यास्याम.।[1]]

इस प्रकार भरत ने अपने रस सूत्र को पर्याप्त स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

रसनिष्पत्ति पर विभिन्न मत—रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में संस्कृत आचार्यों में बड़ा मतभेद रहा। हम देख चुके हैं कि भरत मुनि के अनुसार विभाव, अनुभाव तथा सचारी भाव के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है।—"विभावानुभावव्यभिचारी सयोगाद्रसनिष्पत्ति"। निष्पत्ति से उनका क्या अभिप्राय है और वह किस प्रकार होती है इसका विवेचन उन्होने समयक् रूप से नही किया। इस प्रसग में उन्होंने आगे कुछ वाक्य लिखे है, जैसे—"यथा गुणादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषदिधिभिश्च षड्रसा निवर्त्यन्ते, एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।" अर्थात् जिस प्रकार गुण आदि द्रव्यो, व्यजनो और औषधियो से षट्रस बनते हैं, इसी प्रकार नाना भावो से घिरे हुए स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होते हैं।—"प्रपाणाक—रसत्वायात् चर्व्यमाणो रसो मतः।" परन्तु इससे भी समस्या सुलझ नही सकी—इसलिए परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से उसकी पृथक्-पृथक् व्याख्या की। रस-निष्पत्ति के विषय मे भरत के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लोल्लट, शकुक, भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्तपादाचार्य ने अपने-अपने रस सम्बन्धी

सिद्धान्तो को प्रतिष्ठापित किया है। धनंजय का रस सम्बन्धी मत कोई नवीन कल्पना नही है। उन्होने लोल्लट, शंकुक एव भट्ट नायक के मतो का समन्वय उपस्थित किया है।

१. भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद:—भरत सूत्र के सर्वप्रथम व्याख्याकार भट्ट लोल्लट हैं। उनका रस सम्बन्धी मत साहित्य शास्त्र मे "उत्पत्तिवाद" के नाम से विख्यात है। ये मीमांसा शास्त्र के मानने वाले हैं। लोल्लट रस को विभावादि के द्वारा उत्पन्न मानते हैं। विभावादि उत्पादक है, रस उत्पाद्य। इस प्रकार लोल्लट विभावादि को रस का ठीक उसी तरह कारण मानते हैं, जैसे घट रूप कार्य के मृदण्ड चक्रादि कारण हैं। भट्ट लोल्लट ने निष्पत्ति का अर्थ "उत्पत्ति" तथा "संयोग' का अर्थ सम्बन्ध किया। भट्ट लोल्लट के मत से जो रतिभाव, नायिका "आलम्बन विभाव" के द्वारा उत्पादित होता है, उपवनादि उद्दीपन विभाव के द्वारा उद्दीप्त होता है, आलिंगन कटाक्षादि अनुभावो के द्वारा अनुभूत होता है तथा औत्सुक्यादि सचारियो के द्वारा पुष्ट होता है। वही रति भाव रस रूप मे उत्पन्न होता है। यह रस नट या सामाजिक के हृदय मे निष्पन्न नही होता है। राम या दुष्यन्तादि पात्र ही इस रस का अनुभव करते हैं। वैसे नट उनकी नकल करता है, उनकी वेश-भूपा मे आता है, वैसा व्यवहार करता है, इसीलिए सामाजिक उसे राम या दुष्यन्त समझ बैठते हैं और उसके अभिनय कौशल से प्रभावित होकर आनन्द लेते हैं अर्थात् सामाजिक या दर्शक को जो आनन्द मिलता है वह अभिनेता में राम की समानता पा जाने से ही मिलता है। अत. दर्शकों को रस की प्रतीति अभिनेता मे राम का आरोप करने से हुई। इसी आरोप के सिद्धान्त के कारण भट्ट लोल्लट का मत आरोपवाद कहलाता है।—

"ललनादिभिरालम्बनविभावैः स्थायरित्यादिको जनितः, उद्यानादिभिरुद्दीपन विभावैरुद्दीपितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपणादिभि प्रतीतियोग्य. कृतः, व्यभिचारिभिः उत्कण्ठादिभिः रामादावनाकर्ये रसः। नटे तत्तुल्यरूपानुसन्ध नवशाहारोप्य माणः सामाजिकानां चमत्कार हुतुः।"

यह मत काव्यप्रकाश के वर्णन से मिलता है किन्तु काव्यप्रकाश मे भट्ट लोल्लट की व्याख्या मे अनुकार्य के नीचे अनुकर्ता नट तक का उल्लेख है—"मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीय मानो रसः'। नट तो मध्य की वस्तु है। सामाजिक को लाना ही पडता है। अतः काव्यप्रकाश के टीकाकार ने लिखा है— "सामाजिकैरति शेषः।" काव्यप्रकाश मे सामाजिक का उल्लेख स्पष्ट रूप मे नहीं मिलता, किन्तु ध्वनित होता है।

इन्होंने संयोग का अर्थ "संयोग" माना। यह सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है—

(१) उत्पाद्योत्पादक भाव:—विभाव के द्वारा ही दर्शन में स्थायी भाव या रस उत्पन्न होता है।

(२) गम्य-गमक सम्बन्ध:—इसमे दर्शन के सामने पात्र अनुभावो द्वारा रस को अभिव्यक्त करते हैं ।

(३) पोष्य-पोषक भाव:—व्यभिचारी पोष्य-पोषक भाव से रस को पुष्ट करते हैं ।

भट्ट लोल्लट के मत का साराश —

(१) यह लोल्लट ने नाटक के नायक मे ही रस का उत्पन्न होना और अभिनेता मे उस रस की प्रतीति होना माना है उन्होने इस बात का उल्लेख नही किया कि दर्शक का रस से, नाटक से क्या सम्बन्ध है ।

(२) सामाजिको मे अभिनय की कुशलता से आरोपित स्थायी भाव चमत्कार का कारण हो जाता है ।

(३) यह स्थायी भाव आलम्बन विभावो से उत्पन्न होता है एवं व्यभिचारी भावो से पुष्ट होकर, अनुभावो द्वारा व्यक्त होकर अनुकार्य मे रस रूप मे रहता है ।

लोल्लट के मत की समीक्षा—इस मत को स्वीकार करने मे बहुत सी आपत्तियाँ हैं ।

(१) प्रथम तो यह बात स्पष्ट नही होती कि भावो का अनुकरण कैसे किया जा सकता है । हाँ वेष-भूषा, क्रिया आदि बाह्य बातो का अनुकरण किया जा सकता है । परन्तु भावो का तो नही हो सकता ।

(२) उसने सामाजिक के रसास्वादन को सर्वथा गौण स्थान दिया जाता है । उनके विचार से दर्शक या पाठक चमत्कृत होकर आनन्दित हो उठता है उसे स्वय उस भाव की अनुभूति नही होती । परन्तु यह सम्भव नही कि जिस भाव का दर्शक या पाठक को स्वयं अनुभव न हो उससे वह आनन्द उठा सके । अतः यह ठीक प्रतीत नही होती । भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के इक्कीसवें अध्याय मे लिखा है—

"यस्मात्स्वभावं सहृत्य साङ्गोपाङ्गगतिक्रमैः ।
अभिनीयने गम्यते च तस्माद् वै नाटक स्मृतम् ॥"

[क्योंकि इसमे सब अगो, उपागो और गतियो के क्रम से व्यवस्थित करके स्वभाव का अभिनय किया जाता है और यह भाव दर्शको तक पहुँचाया जाता है । इसीलिए यह नाटक कहलाता है ।] इसका अभिप्राय यह है कि अभिनय के द्वारा नाटक का भाव दर्शको तक पहुँचता है । अर्थात् उसका विशेष रूप या प्रभाव केवल दर्शको के लिए होता है और दर्शक इसका आनन्द लेते हैं । भरत मुनि ने जहाँ नाटक की परिभाषा दी है वहाँ इसे और भी स्पष्ट कर दिया है:—

"मृदुल ललित पदार्थं गूढशब्दार्थहीनं ।
बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम् ॥"

[जो कोमल ललित पद और अर्थ से सम्पन्न हो, जिसमे गूढ शब्दार्थ न हो, जो विद्वानो को सुख देने के योग्य हो, बुद्धिमान जिसे खेल सकें, जिसमे बहुत से रसो के प्रवाह के लिए अवकाश हो और सब नाट्य सन्धियाँ ठीक से बँधी हुई हों। इस प्रकार का नाटक प्रेक्षको के लिए ससार में श्रेष्ठ समझा जाता है।]

इस श्लोक मे "बहुरसकृता" शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिसका अर्थ यह है कि नाटको में दर्शको के लिए अनेक रसो के मार्ग रहते हैं। इससे स्पष्ट व्याख्या और क्या हो सकती है।

(३) रस को विभाव आदि का कार्य मानना भी ठीक नही क्योंकि कार्य का अस्तित्व कारण के अनन्तर भी रह सकता है। परन्तु रस तभी तक रहता है जब तक विभाव आदि का प्रत्यक्ष दर्शन होता रहता है। कार्य और कारण में पूर्वापर सम्बन्ध भी अपेक्षित है, किन्तु विभावो का दर्शन और रस का आस्वादन दोनों साथ ही साथ होते हैं।

भट्ट लोल्लट की भ्रान्तियो के निम्नलिखित चार कारण थे:—

(१) भट्ट लोल्लट कोरे दार्शनिक थे।

(२) भट्ट लोल्लट को भी नाटक देखने का अवसर नही मिला।

(३) सम्भवतः उन्होने नाट्य शास्त्र को आद्योपान्त नही पढा।

(४) नाटक का आनन्द क्या वस्तु है इसका ठीक-ठीक अनुभव नही किया।

यही कारण है कि बाद के आचार्यो को उनका मत मान्य न हो सका।

२. शंकुक का अनुमतिवाद.—लोल्लट के उत्पत्तिवाद का सर्वप्रथम खंडन शकुक ने किया। वे नैयायिक थे। उन्होने न्याय के आधार पर "अनुमितिवाद" का प्रतिपादन किया। शकुक ने अपने मत की प्रतिष्ठापना मे भरत के रस सूत्र की नई व्याख्या उपस्थित की। उन्होने निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति किया। अर्थात् उसने प्रतिपादित किया कि रस उत्पन्न नही होता, अनुमित होता है। रस की मूल स्थिति वह भी ऐतिहासिक नायक नायिका मे ही मानता है। शंकुक के मतानुसार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव रस की अनुमिति कराते हैं जैसे हम पर्वत मे धुएँ को देखकर "पर्वत अग्निमान् है, क्योकि वह धूलवान् है" इस परामर्श के द्वारा पर्वत मे वही स्थिति की अनुमिति कर लेते हैं। वैसे ही नट मे रामादि के से अनुभावादि देखकर हम वहाँ रस की स्थिति का अनुमान कर लेते हैं। इस प्रकार विभावादि रस के अनुमापक हैं, रस अनुभाप्य। उनमे उत्पाद्य-उत्पादक भाव न होकर अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध मे शंकुक ने चित्रतुरगादिन्याय की कल्पना भी की है। जैसे चित्र का घोड़ा, वास्तविक घोड़ा न होते हुए भी उसे घोड़ा ही कहते हैं, वैसे स्वय नट राम या दुष्यन्त नही है फिर भी दर्शक उसे चित्रतुरग की भाँति राम या दुष्यन्त समझता है। तदनन्तर सामाजिक नट के द्वारा रामादि भाव का प्रकाशन देखता है और यह अनुमान कर लेता है कि उसके हृदय मे रत्यादि भाव रस रूप मे परिणित हो रहे हैं। दर्शक इस अनुमिति का अनुभव करते समय इस अनुभव के

रसपूर्ण होने के कारण स्वय भी रसानुभव करता है। उन्होंने भरत के निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति माना तथा न्याय शास्त्र के आधार पर गम्य-गमक सम्बन्ध माना। अनुमान के कारण ही यह मत अनुमितिवाद कहलाया। दर्शक-अनुभाव के द्वारा अभिनेता मे नायक के भावो को समझने लगता है तब उसके भाव को सौन्दर्य के कारण वह चमत्कृत हो जाता है और उसे एक प्रकार का अलौकिक आनन्द मिलता है।

शकुक के मत का साराश—१-स्थायी भाव की मूल अनुभूति तो ऐतिहासिक नायक नायिका को होती है।

२—नट-नटी रगमच पर इतना सफल अभिनय करते है कि दर्शक चित्र तुरग न्याय के आधार पर उन्ही को नायक नायिका समझ लेते हैं और उसके अभिनय का रसास्वादन करते हुए मूल भाव का अनुमान करते हैं।

३—यह अनुमित (स्थायी) भाव ही रस है और वास्तविक (स्थायी) भाव से भिन्न न होकर उसका अनुकृत रूप ही है। अत मूल भाव का अनुभव करते हैं नायक-नायिका और उसके अनुकृत भाव (रस) का अनुमान द्वारा अनुभव करते हैं दर्शक। और इस अनुमान के माध्यम नट-नटी अभिनय कौशल से इस मत को सम्भव बना देते हैं।

शंकुक के मत की समीक्षा—श्री शकुक ने दो बातो पर बल दिया है—(१) अनुकरण, (२) अनुमान। व्याख्या करने पर शकुक की दोनो आधार शिलाएँ बालुका-निर्मित प्रतीत होती हैं।

(१) रस की अवस्थिति पाठक या दर्शक मे इसने भी नही मानी।

(२) दूसरी बात यह है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुमान द्वारा रसानुभूति की बात मिथ्या है। यह लोक अनुभव के विरुद्ध है। अनुमान बुद्धि की क्रिया है, मन की नही, अनुमान से ज्ञान प्राप्त हो सकता है अनुभूति नही। रस का भाव सीधे प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर व्यजना द्वारा भावना का विषय बनते हैं। सामाजिको की वासना तो अनुभव को रग देगी किन्तु अनुमान अनुमान ही रहेगा।

(३) इन बातो के अतिरिक्त एक कठिनाई यह भी है कि इस मत से न तो इस बात की व्याख्या होती है कि दूसरो की रति सामाजिको की रति किस प्रकार हो सकती है। सीता आदि पूज्य पात्रो के प्रति सामाजिको की रति हो ही नही सकती।

(४) इसमे यह भी स्पष्ट नही है कि दुखात्मक अनुभवों से (जैसे भय, और क्रोध में) भयानक और रौद्र रस की प्रतीति किस प्रकार हो सकती है। क्योकि रस को आनन्द रूप कहा गया है। रसानुभूति सदा आनन्दमयी होती है। परन्तु यदि दर्शक नायक के ही भावो का ही अनुभव करता है तो रस सदैव आनन्द रूप नही माना जा सकता। यदि नायक शोक की अवस्था मे होगा तो उस समय दर्शक को भी

उसके अनुसार ही शोक ज्ञात होना चाहिए। जो आनन्ददायक नही वरन् दुःखदायक होता है। यदि ये बात सत्य होती तो भवभूति के नाटक इतने सर्वप्रिय न होते जितने की वह वास्तव मे हैं। क्योकि करुण रस होने के कारण वे उस दशा मे दुखात्मक सिद्ध होते हैं।

भट्ट तौत—अभिनव गुप्त के गुरु भट्ट तौत ने शंकुक के अनुमितिवाद का खडन करते हुए लिखा है—"अनुमान के आधार पर रस निष्पत्ति का कभी विचार ही नहीं हो सकता क्योकि अनुमान तो हेतु की विशुद्धि पर आश्रित होता है अर्थात् अनुमान के लिए कोई कारण चाहिए। किन्तु इस उत्पत्ति के लिए कारण होते हुए भी शास्त्रीय दृष्टि से अनुमान का कोई अस्तित्व नही होता। इस मत की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि अनुमान कभी आनन्ददायक नहीं हो सकता। क्योंकि "मनमोदक नहीं भूख बुझानी।" चित्र में घोड़ा देखकर और उसे घोड़ा मानकर भी आप उस पर चढ़कर नही जा सकते, मोदक का चित्र देखकर आपको उसका स्वाद नहीं आ सकता, अतः कल्पना से आनन्द नही मिल सकता।"

अतः अनुमान से रस कभी उत्पन्न नही होता। इसलिए यह सिद्धान्त भी विद्वानो को मान्य नही हुआ। वास्तव मे शंकुक ने रसास्वादन की व्याख्या में विशेष योग नही दिया। भट्ट लोल्लट की सीधी बात को उन्होने और घुमा फिराकर कहा और सहानुभूति-तत्व की उपेक्षा कर अनुमान के सिद्धान्त के आधार पर और भय उत्पन्न कर दिया। इस सिद्धान्त की एक देन मानी जा सकती है—वह यह है कि इसने "इस सिद्धान्त को पूर्णतः वस्तु परक स्थिति से दूर कर व्यक्ति परक स्थिति की ओर एक पग आगे बढ़ाया।"

भट्ट नायक का भक्तिवाद—भट्ट नायक संस्कृत के बड़े मेधावी आलोचकों मे से हैं। उन्होने अपने मत मे रसास्वादन के विषय मे उत्पत्ति, अनुमति या अभिव्यक्ति वाले सिद्धान्तो को नही माना। उन्होने रस के विषय में "भक्ति" के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। भट्ट नायक ने साख्य के आधार पर भक्तिवाद को जन्म दिया। उनके मतानुसार विभावादि रस के भोजक है, रस भोज्य है। रस की न तो प्रतीति होती है, न उत्पत्ति होती है और न अभिव्यक्ति। अनुभव और स्मृति के अभाव मे रस प्रतीति सम्भव नही। भट्ट नायक ने निष्पत्ति का अर्थ लिया भुक्ति और सयोग का अर्थ भोज्य, भोजकत्व या भावित होना लिया।

"तस्माद्विभावादिभिः सयोगाद्भोज्य भोजक भाव सम्बन्धाद्रस निष्पत्तिः भुक्तिरिति सूत्रार्थः।"—काव्य प्रदीप।

सर्व प्रथम भट्ट नायक ने रस की अवस्थिति दर्शक के हृदय में मानी। उन्होंने स्थायी भाव से रस बनने तक की प्रक्रिया मे तीन शक्तियों को माना है—ये शक्तियाँ हैं—(१) अभिधा (२) भावकत्व (३) भोजकत्व।

(१) अभिधा—अभिधा के द्वारा पाठक या दर्शक काव्य के शब्दार्थ को

ग्रहण करता है। इसके द्वारा काव्य के सामान्य तथा अलकारिक अर्थों का ज्ञान होता है।

(२) भावकत्व—इसके द्वारा विभाव अनुभाव आदि किसी व्यक्ति विशेष के न होकर साधारण अर्थात् मनुष्य मात्र के अनुभव के योग हो जाते हैं। उदाहरण के लिए दुष्यन्त की स्त्री शकुन्तला दुष्यन्त की पत्नी न रहकर साधारण रमणी आज रह जाती है। नायक-नायिका, नट-नटी, दर्शक और उसकी प्रेमिका, सभी का वैयक्तिक तत्व तिरोहित हो जाता है और शुद्ध साधारणीकृत अनुभव रह जाता है।

(३) भोजकत्व—यह वह क्रिया है जिसके द्वारा साधारणीकृत भाव का रस रूप मे भोग होता है। इससे रजोगुण और तमोगुण का नाश होकर (जो दु.ख और मोह के कारण होते है) शुद्ध सतोगुण का उद्रेक होने लगता है और चित्तवृत्तियों के शान्त हो जाने से वही आनन्द का कारण होता है। पाठक या दर्शक आनन्द का अनुभव करते हैं और इस प्रकार रस की अभिव्यक्ति नही मुक्ति होती है।

भट्ट नायक के मत का साराश—भट्ट नायक के मत से दर्शक या पाठक सर्वप्रथम काव्य की अभिधा शक्ति के द्वारा उसके वाच्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है। उसके पश्चात् भावकत्व व्यापार के द्वारा वह रामादि पात्रो की भावना के साथ अपनी भावना का तादात्म्य करता है। इसी व्यापार द्वारा रामादि पात्र अपना व्यक्तित्व त्याग कर साधारणीकृत हो जाते हैं। इस दशा मे पहुँचकर रजस् गुणो का प्रभाव नष्ट हो जाता है और सत्य गुण का उद्रेक होने लगता है। इस दशा मे जो रसास्वाद होता है उसका साधन भोजकत्व व्यापार है।

भक्तिवाद की समीक्षा —इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह कहा गया है कि काव्य की तीन शक्तियो को मानने के लिए कोई आधार रूप प्रभाव नही है। जिन बातों के लिए युक्ति-युक्त नियम प्राप्त हो सकते हैं उनके लिए अप्रामाणिक सिद्धान्त का प्रचलन उचित नही।

यह दूसरी बात है कि भट्ट नायक का सिद्धान्त भारतीय रसशास्त्र मे मान्य न हो सका हो, किन्तु उसने जिन रस सम्बन्धी गूढ बातो का उल्लेख किया है उनका उपयोग अभिनव गुप्त भी न कर सके। रस को अलौकिक रूप देने तथा साधारणीकरण के सिद्धान्त को जन्म देने का श्रेय भट्ट नायक को ही है। उन्होने अभिनव गुप्त से पूर्व रस को विषयगत न मानकर विषयीगत माना है।

अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद —भरत के रस सूत्र के विषय मे अन्तिम मत अभिनव गुप्त का व्यंजनावादी मत है। रस तथा अलकार शास्त्र मे यह मत अपनी दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक आधारभित्ति के कारण अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर सका है। अभिनव गुप्त ने वेदान्त के आधार पर अभिव्यक्तिवाद का प्रतिपादन किया। उन्होने भट्ट नायक के भावकत्व तथा भोजकत्व दो काल्पनिक क्रियाओ का खण्डन कर व्यंजना या ध्वनि को उचित बताया। उन्होने कहा भावो में भावकत्व

का गुण तो रहता ही है—"काव्यार्थान् भावयंतीति भावा"—(जो काव्यार्थों की भावना का विषय बतावे वे भाव होते हैं)—रस मे भोग का भाव पहले ही से विद्यमान रहता है। "आस्वाद्यत्वाद्रसरस—रस वही है जिसका आस्वाद हो सके, भोग हो सके। अतः भोजत्व शक्ति की कल्पना व्यर्थ है। उन्होने संयोग का अर्थ लिया ध्वनित या व्यंजित होना और निष्पत्ति का अर्थ लिया आनन्द रूप में प्रकाशित होना। काव्य या नाटकादि मे प्रयुक्त विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव रस के अभिव्यंजक हैं, रस अभिव्यङ्ग्य। इस प्रकार अभिनव विभावादि तथा रस मे परस्पर व्यङ्ग्य-व्यंजक-भाव मानते हैं।

अभिनव के मत का सार—(१) अभिनव गुप्त रस की निष्पत्ति सामाजिक में मानते हैं।

(२) भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में मानव को जिन भावों की अनुभूति होती है वे स्वयं उसके हृदय मे अंकित हो जाते हैं। प्रत्येक सहृदय के मानस मे ये स्थायी भाव ठीक उसी प्रकार छिपे रहते हैं जैसे नये शराब मे छिपी मृत्तिका की सौंधी बास। जब शराब मे जल डाला जाता है तो मृत्तिका की गन्ध अभिव्यक्त हो जाती हैं, वह कही बाहर से नही आती, न पानी उस गन्ध को उत्पन्न ही करता है। ठीक इसी प्रकार स्थायी भाव वासना रूप मे पहले से ही उसके हृदय मे विद्यमान रहते हैं। वे अज्ञान के आवरण मे ढके रहते हैं। जब सहृदय काव्य पढता है या नाटकादि का अवलोकन करता है, तो उस काव्य नाटकादि मे वर्णित विभावादि उसके मानस के अव्यक्त भाव को व्यक्त कर देते हैं और वह भाव रस रूप मे व्यक्त हो जाता है। और इस प्रकार "[1]आत्मानन्द के प्रकाश में जब उसका अनुभव होता है तब वे रस कहे जाते हैं, वही रसास्वादन है।"

इस प्रकार सहृदय ही रस का आस्वाद कर सकता है। क्योंकि इसके लिए पूर्व संस्कार अपेक्षित हैं। मनुष्य सहृदय तीन प्रकार मे होता है—(१) सांसारिक अनुभव से, (२) पूर्व जन्म के सस्कारो से, (३) अभ्यास से। जिस व्यक्ति मे इनमे से एक भी गुण नही है वह काव्यानन्द लेने का अधिकारी नही। मीमांसक तथा वैयाकरण इसी प्रकार के प्राणी हैं।

रस का आनन्द अलौकिक है इसलिए उसे ब्रह्मास्वाद सहोदर बताया गया है। सहृदय आनन्द की अनुभूति करते हैं। इस दशा की तुलना भोगी की दशा से करी जा सकती है। दोनो दशाओ मे पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होती है। अभिनव गुप्त की रस सम्बन्धी कल्पना शैव वेदान्त की "विमर्श" दशा से करती प्रतीत होती है जहाँ साधक "शिवोऽहम्" का अनुभव करता है।

इस दशा मे पहुँचकर भाव की वैयक्तिता नष्ट हो जाती है। दुष्यन्त, शकुन्तला, राम, सीता अपने व्यक्तित्व को छोड़कर केवल नायक नायिका के रूप मे

---

१. डा० श्यामसुन्दर दास

हमारे सामने आते हैं। साथ ही हम केवल रसानुभावकर्ता बन जाते हैं। इस प्रकार विभावादि केवल विषय मात्र तथा सामाजिक केवल विषयी-मात्र रह जाता है। इसे ही साधारणीकरण कहा जाता है। अभिनव ने भारती में स्पष्ट लिखा है कि साधारणीकरण केवल आलम्बन विभाव आश्रय का ही नहीं, सभी तत्वों का अनुभावादि का भी, होता है। साधारणीकरण के कारण ही रसानुभूति होती हैं, क्योंकि इस स्थिति में वैयक्तिक राग द्वेष आदि का लोप हो जाता है। कालिदास ने "शाकुन्तलम्" में इसी ओर इंगित किया है—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तु:।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोध पूर्वम्
भावस्थिराणि जन्मान्तर सौहृदानि ॥

(अभिज्ञान शाकुन्तलम्, अंक ५)

अर्थात् "रम्य दृश्यों को देखकर या मधुर शब्दों को सुनकर यदि कोई सुखी व्यक्ति भी उन्मत्त हो उठता है तो इसका कारण यही समझना चाहिये कि उसे अपने पूर्व के जन्मों के स्नेह सम्बन्धों की, जो उसके अचेतन मन में स्थिर (स्थायी) भावों के रूप में स्थित हैं, अनायास ही सुधि आ रही है।"

कालिदास के छन्द में "भावस्थिराणि" तो स्पष्टत: स्थायी भाव हैं ही और सुधि आने का अभिप्राय है अचेतन मन से चेतन मन में आ जाना—ठीक वही जो अभिनव गुप्त की अभिव्यक्ति का तात्पर्य है।

अभिनव गुप्त के मत की समीक्षा:—अभिनव गुप्त का सिद्धान्त भट्ट नायक से सर्वथा भिन्न नहीं है। भट्ट नायक के साधारणीकरण को उसने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। यह सिद्धान्त भी कि काव्यानन्द के द्वारा तमोगुण और रजोगुण का नाश तथा सतोगुण का प्राधान्य हो जाता है—बिना संशोधन के ग्रहण कर लिया गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि अभिनव गुप्त ने भट्ट नायक के भोजकत्व और भावकत्व के स्थान पर व्यंजना तथा ध्वनि की सत्ता को स्थापित किया है। भट्ट नायक का विचार है कि सहृदय को पहले उसका अर्थ ग्रहण फिर भावन और उसके उपरान्त तुरन्त ही आनन्द प्राप्ति सहज में ही हो जाती है। परन्तु अभिनव के मतानुसार रस की अवस्थिति सहृदय की आत्मा में ही है काव्य उसकी अभिव्यक्ति मात्र कराता है।

अभिनव गुप्त का सिद्धान्त भारतीय साहित्य शास्त्र में सबसे अधिक मान्य हुआ। मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने अभिनव गुप्त के सिद्धान्त को ही स्वीकार किया। यहाँ पर हिन्दी विद्वानों के मत पर एक दृष्टि डालना भी अनुपयुक्त न होगा।[१] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"व्यंजना में

१. काव्य में रहस्यवाद—पृष्ठ ६८-६९

अर्थात् व्यंजक वाक्य में रस होता है।"[२] नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है—"रस व्यंग्य नहीं वाच्य है।" उनका यह कथन रस के प्राचीन सिद्धान्त के विरुद्ध है।"

रस के सम्बन्ध मे कुछ अन्य आचार्यों के विचार :—मम्मट—मम्मट ने काव्य प्रकाश में कहा है कि "जैसे दूध ही जमकर दही बन जाता है उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से प्रेरित होकर स्थायी भाव रस बन जाता है।" उनका कथन है कि—"सहृदयों के हृदय में रति, हास, शोक आदि भाव छिपे या दबे हुए रहते हैं, किन्तु अन्य सुनने या पढ़ने अथवा नाटक देखने से वे उमड़कर रस बन जाते हैं।"

पं० जगन्नाथ:—पडित राज जगन्नाथ ने तैत्तिरीय उपनिषद् के प्रसिद्ध सूत्र "रसोवै सः। रस देवतायं लब्ध्वानन्दी भवति" लेकर रस की व्याख्या की है। उनका विचार है रस की अनुभूति आत्मानन्द रूप है। श्रुति ग्रन्थो में आवरण या अज्ञान-रहित चैतन्य को रस की संज्ञा दी गई है। जब यह आवरण हट जाता है तब रसानुभूति होती है। काव्य रस भी इसी के समान है।

विश्वनाथ :—विश्वनाथ ने सस्कृत रस शास्त्र मे वर्णित रस के स्वरूप का सार प्रस्तुत किया है। उनका श्लोक निम्नलिखित हैं :—

"सत्त्वोद्रेकाद खण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः
वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्यो ब्रह्मस्वाद-सहोदरः।
लोकोत्तर चमत्कार प्राणाः कैश्चित्प्रमातृभि
स्वाकारवद भिन्नत्वे नाममास्वाद्यते रसः॥"

[साहित्य दर्पण तृ० परिच्छेद]

यहाँ सत्वोद्रेक रस का हेतु है, अखण्ड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर-स्पर्श शून्य ब्रह्मस्वाद सहोदर, लोकोत्तर चमत्कार प्राण आदि पदो द्वारा रस की व्याख्या की है स्वाकारवदभिन्न के द्वारा प्रकार का और प्रमाता द्वारा रस के अधिकारी का। विश्वनाथ ने अभिनव गुप्त के विभावन व्यापार को तो स्वीकार किया है किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होने अनुभावन तथा सचरण नाम के दो व्यापार और स्वीकार किये हैं। विभावन रसादि को आस्वादयोग्य बनाते हैं। अनुभावन विभावित किये हुए रति आदि स्थायी भावो को इस रूप मे परिणित करता है। संचारण उनका भली प्रकार चारण करता है। अनुकार्य, अनुकर्ता और सामजिक सबको एक ही धरातल पर रसानुभूति होती है।

अभिनव भरत :—अभिनव भरत का मत है—"तन्मयत्वं रसः।" [तन्मयता ही रस है।]

धनञ्जय का रस सम्बन्धी मत :—दशरूपक धनञ्जय ने रस-निष्पत्ति की व्याख्या इस प्रकार है—

---

२. "हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी" शीर्षक पुस्तक मे

"विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमान स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रस. स्मृतः ॥ (१)

अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव एव व्यभिचारियो के द्वारा जब रत्यादि स्थायी भाव आस्वाद्य-चर्वणा के योग्य बना दिया जाता है, तो वही रस कहलाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्य मे प्रयुक्त अथवा नाटकादि अभिनय के द्वारा प्रदर्शित विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा सात्त्विक भावो के द्वारा जब श्रोताओ तथा दर्शको के हृदय मे परिवर्तन शील इत्यादि स्थायी भाव आस्वाद्य या स्वाद गोचर होता है तो वही रस कहलाता है। काव्य या नाटक का यह स्वाद अनुपम आनन्द से युक्त चेतना वाला होता है। रस का स्वाद लेने वाले रसिक हैं। अतः सामाजिक इसी नाम से कहे जाते हैं। जिस प्रकार आयु की वृद्धि करने के कारण घृत को आयु कहते हैं ठीक उसी प्रकार काव्य आनन्द का हेतु होने के कारण "रसवत्" कहलाता है।[1] दसरूपककार ने रस को अनुकार्य में नही माना। वे लिखते हैं :—

रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात् ।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वत ॥३८॥ (चतुर्थ प्रकाश)
दृष्टः प्रतीतिर्व्रीडेर्ष्यारागद्वेष प्रसङ्गतः ।
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात् ॥३९॥ (चतुर्थ प्रकाश)

रत्यादि स्थायी भाव स्वाद्य होता है, सहृदय उसका आस्वाद करते हैं, इस लिए लौकिक स्वाद के विषय "रस" की भॉति यह भी रस कहलाता है। यह रस रसिक सहृदय मे ही पाया जाता है। अनुकार्य राम, दुष्यन्त, सीता या शकुन्तला में यह नही पाया जाता। रस का स्वाद, रस की चर्वणा रसिको को, दर्शक सामाजिको को ही होती है, अनुकार्य पात्रो को नही। अनुकार्य पात्रो को तो केवल कथा भर दी जाती है, काव्य का प्रयोजन सामाजिको को रसास्वाद कराना ही है। काव्य के अनुकार्य रामादि तो भूतकाल के हैं, इन्हे रस चर्वणा हो ही कैसे सकती है। वस्तुतः रस चर्वणा नाटकादि काव्य के द्रष्टा सामाजिक मे ही मानी जा सकती है। यदि अनुकार्य रामादि में मानी जायेगी तो वे भी ठीक उसी तरह होंगे, जैसे हम आमतौर पर व्यवहारिक संसार क्षेत्र में अपनी नायिका से युक्त किसी नायक को देखते हैं। किन्ही दो प्रेमी प्रेमिका को शृंगारी चेष्टा करते हुए देख हमें रस प्रतीति नही होती, हमें या तो लज्जा होगी, या ईर्ष्या, राग या द्वेष। यदि अनुकार्य दुष्यन्तादि मे मान लें तो सामाजिको को रसास्वाद नही हो सकेगा। प्रत्युत उनके हृदय मे लज्जा, ईर्ष्या, राग या द्वेष की उत्पत्ति होगी। शृंगारी चेष्टा देख कर बडे लोगों को लज्जा होगी,

---

१. यहाँ विशेष बात यह है कि धनञ्जय व धनिक दोनो ही मीमांसक भट्ट लोल्लट के मतानुयायी हैं, उनके मतानुसार विभावादि रस के हेतु हैं तथा उसमें वे परस्पर "उत्पाद्य उत्पादक" सम्बन्ध मानते हैं। ध्वनिवादी साहित्य शास्त्री रस को व्यंग्य मानते हैं, वाच्य तथा उत्पाद्य नही।

दूसरों को ईर्ष्यादि। अतः अनुकार्य नायकादि में रस मानने पर दोष आने के कारण सामाजिक में ही रसस्थिति माननी होगी।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सामाजिको मे जो रस रहता है उसका विभाव कौन होता है। यदि सीता आदि को विभाव माना जाय तो सीता जैसी देवि के प्रति एक साधारण व्यक्ति के प्रति रति भावना कैसे सम्भव हो सकती है। इसका उत्तर धनञ्जय ने निम्न श्लोक में दिया है—

"धीरोदात्ताद्यवस्थाना रामादिः प्रतिपादकः।
विभावयति रत्यादीन् स्वदन्ते रसिकस्यते॥"

अर्थात् धीरोदात्त आदि अवस्थाओं का अभिनय करने वाले राम इत्यादि भी रति आदि को विभावित करते हैं, जिससे रसिकों को उसमें आनन्द आता है। इस का अभिप्राय यही है कि यद्यपि अभिनय देखते समय हमें यह स्मरण रहता है कि हम सीता को देख रहे हैं परन्तु अभिनय-कौशल से सीता अपने सीतात्व का परित्याग कर साधारण रमणी का रूप ग्रहण कर लेती है। अतएव यह दोष नही आता कि सीता जैसी पूजनीय हमारे प्रेम का आश्रय कैसे हो।

धनञ्जय तथा धनिक के मत का सारांश :—धनञ्जय तथा धनिक को रस का व्यंग्यत्व स्वीकार नही। वे विभावादी तथा रस में भाव्यभावक सम्बन्ध मानते हैं। उनके मत से विभावादि या काव्य भावक है, रसादि भाव्य। धनञ्जय तथा धनिक भावकत्व व्यापार के आधार पर रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध मे भाव्य भावक सम्बन्ध की कल्पना करते हैं। यदि कही भरतसूत्र का अर्थ धनञ्जय के विचारानुसार किया जाय तो "निष्पत्ति" का अर्थ "भावना" होगा। भाव इस लिए भाव कहलाते हैं कि सामाजिको को शृंगारादि रस की भावना कराते हैं—

"भावाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्यादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥

सामाजिक नाटकादि मे नटों के द्वारा अर्जुनादि का अभिनय देख कर उन्हे अर्जुनादि समझ कर उनसे उत्साहादि का आस्वाद ठीक वैसे ही करता है, जैसे बालक मिट्टी के हाथी, घोडों से खेलते हुए उनसे रस प्राप्त करता है।

"क्रीडना मृण्मयैर्यद्वद्बलाना द्विरदादिभिः।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः॥"

इस प्रकार धनञ्जय व धनिक के रस सिद्धान्त में निम्नलिखित तीन बाते दृष्टिगोचर होती हैं—

(१) रस व्यंग न होकर काव्य का तात्पर्याय है।

(२) रस की भावना होती है, विभावादि मे तथा उसमे परस्पर भाव्यभावक भाव है।

(३) नटादि सामाजिक के लिए उसी तरह रामादि बन जाते हैं, जैसे बच्चे के लिए मिट्टी के हाथी-घोड़े सच्चे हाथी-घोड़े हो जाते हैं।

यहाँ एक बार लोल्लट, भट्टनायक तथा शंकुक के मतों को दोहराना अनुप-युक्त न होगा। लोल्लट व्यगयार्थ को 'दीर्घदीर्घ तरामिधा व्यापार जन्य" मानता है। धनञ्जय के मत में प्रथम अंश लोल्लट का प्रभाव है। अन: स्पष्ट है कि धनञ्जय का रस की भावना वाला मत भट्टनायक की देन है। यद्यपि यह नायक 'निष्पत्ति" का अर्थ "मुक्ति" करते हैं, "भावना" नही, तथापि भावना भी भट्टनायक के मत में विद्यमान है। धनञ्जय के मत का द्वितीय अश भट्टनायक के मत का नवीनीकरण है। तीसरा मत शंकुक से प्रभाविन है। नट के द्वारा अनुकार्य रामादि का अभिनय देख कर सामाजिक उसे रामादि ही समझते हैं। इस विषय में शकुक ने रामादि के रूप मे मंच पर आये हुए नट की तुलना "चित्रतुरग" (चित्र के घोडे) से की है। धनञ्जय तथा धनिक का मिट्टी के हाथी आदि (मृण्मया द्विरदादि) का उदाहरण शंकुक के उदाहरण का ही दूसरा रूप है। इस प्रकार कह सकते हैं कि धनञ्जय का रस सम्बन्धी मत सर्वथा नवीन न होकर उपर्युक्त तीनो आचार्यों के मतो का सम्मिश्रण प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रस पर विद्वानो ने जो शास्त्रार्थ किया है वह दार्शनिक दृष्टि से किया है, साहित्यिक या व्यवहारिक दृष्टि से नही। वास्तव में रस की व्याख्या तीन दृष्टिकोणो से होनी चाहिए—

(१) नाटककार की दृष्टि से।
(२) अभिनेता की दृष्टि से।
(३) सामाजिक की दृष्टि से।

इस विषय मे तो सभी एकमत है कि स्थायी भाव जब विभाव और संचारी भावो के योग आस्वादन करने योग्य हो जाता है तब इस रूप मे सहृदय दर्शक या पाठक उसका आस्वादन करता है। आस्वादन करने तथा अनुभव करने मे अन्तर है। अनुभव में सुख और दु ख दोनो मिश्रित होते हैं किन्तु आस्वादन मे सुखानुभूति की ही प्रधानता रहती है। यही कारण है कि भवभूति का करुण रस प्रधान उत्तर रामचरित अत्याधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ है।

अभिनवगुप्त ने रस की अवस्थिति दर्शक या पाठक मे भी मानी है जो सर्वथा ठीक है। यह भी उचित है कि रस की उत्पत्ति नही होती अपितु निष्पत्ति होती है। यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त के मत मे सम्पूर्ण शंकाओ का निराकरण हो जाता है और उनका सिद्धान्त अब तक प्रतिपादित सिद्धान्तो में सर्वाधिक निर्दोष है।

साधारणीकरण

भारतीय समीक्षा क्षेत्र मे ममत्व—परत्व की भावना को दूर करने के लिए साधारणीकरण के सिद्धान्त का उदय हुआ है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्य एकमत नही हैं। कोई तो विभावो का साधारणीकरण और आश्रय से तादात्म्य मानते हैं, तो कोई सम्बन्धो से स्वतन्त्रता को महत्व देते हैं।

कोई कोई विद्वान पाठक के हृदय मे ही इसे निहित बतलाते हैं।

"काव्य पढ़ते समय या नाटक देखते समय पाठक या दर्शक जब इतने अधिक तन्मय हो जाते है कि वे स्वगतत्व की भावना से ऊँचे उठ जाते हैं और वर्णनों तथा दृश्यों को देखकर रोते और प्रसन्न होते हैं—यद्यपि रोना भी इस दशा में आनन्दमय लगता है तो यही साधारणीकरण है।"

डा० श्यामसुन्दर दास जी केशवप्रसाद मिश्र का अनुकरण करते हुए साधारणीकरण का सम्बन्ध योग की मधुमती भूमिका से, जिसमे कि परप्रत्यक्ष होता है, बतलाते हैं।

"जब तक सांसारिक वस्तुओं का अपर प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय पदार्थ के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अपना अभिनंदनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का परप्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय अथवा अभिनंदनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलंबन बनकर उपस्थित होती हैं उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है और कुछ नही।"

यहाँ पर अपर प्रत्यक्ष तथा पर प्रत्यक्ष को स्पष्ट करना आवश्यक है।

अपर प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जहाँ शब्द, अर्थ तथा ज्ञान इन तीनों की प्रतीति भिन्न-भिन्न हो। इसी भिन्न-भिन्न अनुभव करने को अपर प्रत्यक्ष कहते हैं। इसमें वितर्क रहता है।

जिस अवस्था मे सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तु भाव का आभास मिलता रहता है, उसे पर प्रत्यक्ष कहते हैं। पर प्रयत्क्ष की इसी अवस्था को योग में मधुमती भूमिका कहा गया है। मधुमती भूमिका योग की जिस दशा का नाम है साहित्य मे रस की उसी दशा का नाम साधारणीकरण है। दोनो में ही योगी तथा पाठक को समस्त वस्तु जगत दिव्य प्रतीत होने लगते हैं। एक प्रकार से उनके लिए स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। साधक और कवि या पाठक में अन्तर केवल इतना ही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती भूमिका मे ठहरा रह सकता है पर कवि रजस् या तमस् के उभरते ही इस अवस्था से पृथक् हो जाता है। दोनो ही अवस्थाओ में वृत्तियो का साधारणीकरण हो जाता है। और इन्द्रियो के व्यापार तथा मन के भाव सभी स्थिर हो जाते हैं, तर्क—वितर्क विलीन हो जाते हैं। अपने और पराये की भावना लोकभावना मे तिरोहित हो जाती है। आत्मा मे आनन्द की अनुभूति होने लगती है। इसी विचित्र और अलौकिक अनुभूति को रसास्वाद कहते हैं। इस रस दशा मे सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे सुखात्मक भावो का आलबन बन जाती हैं। यह साधारण लोक की अनुभूति नही होती। इसे रस

भूमिका कहते हैं इस अवस्था मे दुःख कथा से भी एक प्रकार का सुखात्मक अनुभव होता है, रसानुभूति होती है। यह रसानुभूति कवि तथा पाठक दोनो को होती है। काव्य अथवा नाटक पढते समय या देखते समय जब भाव जाग्रत होकर रस दशा को पहुँच जाते हैं तो पाठक या दर्शक का हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। उसकी सब वृत्तियाँ एकतान हो जाती हैं, आनन्द मे लय हो जाती हैं।

"चित्तवृत्ति की इसी एकतानता का नाम है साधारणीकरण"

साधारणीकरण के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। डा० श्यामसुन्दर दास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इस सम्बन्ध में मतभेद है। विवाद का विषय यह है कि—"हमारा हृदय कवि के, आश्रय के, आलम्बन के, भावो के, किस के साथ साधारणीकरण करता है।"

इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का कथन है—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नही लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक रसास्वादन की पूर्ण शक्ति नही आती। इस रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।" श्यामसुन्दर दास के मतानुसार साधारणीकरण "कवि अथवा भावक" की चित्तवृत्ति से सम्बन्धित रहता है। तब शुक्ल जी के शब्दो मे साधारणीकरण विभाव आदि का होता है। यही दोनो के साधारणीकरण मे अन्तर है।

अतः स्पष्ट है कि शुक्ल जी, साधारणीकरण में आलम्बनत्व के धर्म को प्रधानता देते हैं। वे ऐसा आलम्बन चाहते हैं जो सबका आश्रय बन सके। वे आश्रय से तादात्म्य तथा आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं। गुलाब राय जी शुक्ल जी के साधारणीकरण के सम्बन्ध मे लिखते हैं—"ऐसा ज्ञात होता है कि शुक्ल जी आलम्बन का साधारणीकरण नहीं चाहते थे वरन् वह ऐसा आलम्बन चाहते थे जो सबका आश्रय बन सके। उन्होने शुक्ल जी की प्रतिभा का विषयगत माना है।

इस सम्बन्ध मे 'साधारणीकरण' के जन्मदाता भट्टनायक का मत भी विचारणीय है। क्योकि शुक्ल जी उनसे भी प्रभावित प्रतीत होते हैं।

भट्टनायक ने विभावो के पूर्ण साधारणीकरण के साथ स्थायी भावो के विशिष्ट सम्बन्धो से युक्त होने को 'साधारणीकरण' माना है।

उन्होने 'साधारणीकरण' होने तक की प्रक्रिया मे तीन शक्तियो की उद्भावना की है। (१) अभिधा (२) भावकत्व (३) भोजकत्व।

अभिधा द्वारा काव्य के सामान्य और अलकारिक अर्थों का ज्ञान होता है।

भावकत्व के द्वारा काव्य के विभाव अनुभाव किसी व्यक्ति विशेष के न होकर मनुष्य मात्र के हो जाते हैं। ऐसी दशा मे पाठक या दर्शक के लिए सीता सीता

न रहकर कामिनी-मात्र रह जाती है। इस प्रकार अनेक विभाव और अनुभाव का पाठक या दर्शक सहज मे ही आनन्द ले लेते हैं।

शुक्ल जी ने यह माना है कि साधारणीकरण के लिए आलम्बन ऐसा होना चाहिए कि वह समान रूप से सबका आलम्बन बन सके। यह अभिनव गुप्त के मत के अनुकूल है। किन्तु उन्होंने साहित्य दर्पणकार के मत का भी मोह नही छोड़ा। दोनों मतों से प्रभावित शुक्ल जी के विचार देखिए—

(१) अभिनवगुप्त से प्रभावित :—व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमे प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठको के मन मे एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।

(२) साहित्यदर्पणकार से प्रभावित:—साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन मे जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है वह जैसे काव्य मे वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन हो जाती है।

साहित्य दर्पण के मत का ही आश्रय लेकर वे आगे लिखते हैं—साधारणीकरण के प्रतिपादन मे पुराने आचार्यो ने (अभिनव गुप्त ने नही) श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भावव्यंजना करने वाले पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है।

नम्बर १ नम्बर २ मे इस बात का अन्तर हो जाता है कि नं० १ के अनुसार पाठक या श्रोता काव्य के आश्रय के साथ नही बाँधा जाता। उसका सब सहृदयो के साथ भाव साम्य होता है। न० २ मे उसे काव्य के आश्रय के साथ बँध जाना पड़ता है। यदि आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाता है तो प्रायः सब लोगों के साथ भी उसका तादात्म्य हो जाता है। किन्तु शुक्ल जी ने यह बतलाया है कि ऐसी भी अवस्थाएँ होती हैं जहाँ आश्रय के साथ तादात्म्य नही हो सकता। वरन् कवि वा अन्य सहृदयो के साथ उसका भाव-सादृश्य हो जाता है। उदाहरणार्थ—सीता की भर्त्सना करते हुए रावण के साथ किसी का तादात्म्य नही हो सकेगा। और न परशुराम के साथ कोई लक्ष्मण पर क्रोध कर सकेगा। ऐसी अवस्था मे पाठक का कवि के व्यक्त व अव्यक्त भाव से या शील दृष्टा के रूप में सब सहृदयों के साथ तादात्म्य हो जाता है।

ऐसी भी अवस्थाएँ होती हैं जहाँ कोई आश्रय नही होता है। जैसे—पाठक जी के काश्मीर-सुषमा वर्णन में किन्तु इनमे कवि ही आश्रय होता है। और इसमें कोई विशेष कठिनाई नही होती। अभिनव गुप्त के मत मे कवि के आश्रय के साथ पाठक को नही बाँधा जाता। स्वयं शुक्ल जी का निजी मत भी इसके अनुकूल है। वे भी सम्बन्धो का ही साधारणीकरण मानते हैं। देखिए—"रस मग्न पाठक के हृदय में यह भेद-भाव नहीं रहता है कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का है।" किन्तु शुक्ल जी आलम्बन मे ऐसे गुणो की विषयगत सत्ता चाहते हैं जिनके कारण

वह सबका आलम्वन बन सकें।

इस विषय मे शुक्ल जी के विचारो की आलोचना करते हुए प० रामदहिन मिश्र लिखते हैं—"इससे स्पष्ट है कि वे (शुक्ल जी) आलम्बनत्व धर्म को प्रधानता देते हैं और स्पष्ट कहते भी है कि साधारणीकरण आलम्वनत्व धर्म का होता है। इस दशा में वे अपरिमित को परिमित वना देते हैं विस्तृत को सकुचित कर देते है। क्या रसोद्बोध में आलम्वन ही आलम्बन है? यदि अनुभाव विपरीत हो तव। शोकातुर व्यक्ति को ताल-लय से मंच पर गाना गाते देख सभी शोकग्रस्त हो सकते है? यहाँ तो शोक भाव का आलम्बन सभी का आलम्बन तो है और उससे साधारणीकरण भी होता है। पर उसके अनुभाव से सभी का साधारणीकरण नहीं हो सकता। अत केवल आलम्बन का ही नही सभी का सावारणीकरण आवश्यक है।"

कुछ विद्वानो का कथन है कि—"जब हमारा चित्त एकाग्र या साधारणीकृत हो जाता है तब सब कुछ साधारण सा लगने लगता है।" और कुछ का विचार कि—"लेखक जब ऐसे सामान्य भावो को ही काव्य में अभिव्यक्त करता है जो सबके हृदय में विद्यमान है तव साधारणीकरण होता है।"

शुक्ल जी का विचार है कि साहित्य का कार्य "विम्व ग्रहण" कराना है "अर्थ ग्रहण" मात्र नही। "बिम्ब ग्रहण" केवल व्यक्ति का या विशिष्ट वस्तु का ही हो सकता है। सामान्य वस्तु का नही। अत साधारणीकरण के लिए यह आवश्यक है कि जो विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति काव्य मे लाया जाय वह सामान्य का प्रतिनिधि हो उसकी अनुभूति निराली या विचित्र न हो। नही तो समाज का उससे तादात्म्य नही हो सकेगा। यहाँ भी शुक्ल जी भाव को साधारणीकृत रूप मे रखने के पक्षपाती हैं।

अतः स्पष्ट है कि हमारे यहाँ के आचार्यो ने साधारणीकरण के सम्बन्ध मे थोड़े बहुत अन्तर के साथ तीन बातो पर बल दिया है—

(१) विभावादिको का साधारणीकरण।

(२) पाठक का आश्रय व कवि के साथ तादात्म्य।

(३) सब पाठको का समान रूप से प्रभावित होना। इन तीनो बातो का पारस्परिक सम्बन्ध है।

सक्षेप में हम यह कह सकते है कि साधारणीकरण व्यक्ति का नही वरन् उसके सम्बन्धो का होता है। उसमे न ममत्वजन्य दु.ख और न परत्वजन्य ईर्ष्यादि भाव होते हैं। कवि भी अपने निजी व्यक्तित्व से ऊँचे उठकर साधारणीकृत हो जाता है। वह लोक का प्रतिनिधि होकर कुछ भावनाओ से प्रभावित होकर भावाभिव्यक्ति करता है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ मे होता है कि वह अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बन्धनो का परित्याग कर लोक सामान्य की भाव-भूमि मे आ जाता है। उसका हृदय कवि और लोक हृदय के साथ प्रतिस्पन्दित होने लगता है।

भावों का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि उनसे भी "अयं निजः परोवा" की भावना जाती रहती है जिससे लौकिक अनुभव की स्थूलता, कटुता, तीक्ष्णता और रुक्षता समाप्त हो जाती है।

गुलाबराय जी ने विषयी के हृदय को साधारणीकरण का श्रेय दिया है।

डा० नगेन्द्र का मत—डा० नगेन्द्र के मतानुसार "विषय अर्थात रामादि का रूप अज्ञात ही रहता है किन्तु कवि अपनी अपनी भावना के अनुकूल उसका वर्णन करते हैं। उसी कवि की भावना साधारणीकरण होता है। पाठक कवि की साधारणीकृत भावना का आस्वादन करता है।" अपने इस सिद्धान्त की व्याख्या उन्होने निम्नलिखित शब्दों मे और भी की है—"हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं। काव्य का आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो। वह कवि की मानसी सृष्टि है। अर्थात कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है जिसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति संवेद्य बनाया है, बस, इसीलिए जिसे हम आलम्बन कहते है वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण जो भट्टनायक और अभिनवगुप्त का प्रतिपाद्य है।

डा० त्रिगुणायत—डा० त्रिगुणायत साधारणीकरण की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—"सच्चा साधारणीकरण वह होगा जो सर्वांगीण हो। साधारणीकरण की अवस्था में विभावादि तो साधारणीकृत होते ही है पाठक आश्रय और कवि आदि का तादात्म्य भी अपेक्षित होता है। यह सर्वांगीण तादात्म्य तभी सम्भव हो सकता है जब कवि को सार्वभौमिक सार्वकालिक अनुभूतियों का ज्ञान हो तथा परम्परागत संस्कारों की रक्षा और निर्वाह में समर्थ हो।"

पाश्चात्य समीक्षक तथा साधारणीकरण—यद्यपि साधारणीकरण भारतीय वस्तु है। किन्तु अंग्रेजी विद्वानों ने भी किसी न किसी रूप में इसकी व्याख्या की है। बूचर साधारणीकरण की अवस्था का वर्णन करता हुआ लिखता है—"The spectator is lifted out of himself. He becomes one with the tragic sufferer and through him with humanity at large." अर्थात "दर्शक अपने स्वार्थ सम्बन्धों से ऊपर उड़कर संतप्त नेता से तादात्म्य स्थापित करता है। इस तरह से सारे मानव मात्र से उसका साम्य एवं ऐक्य स्थापित हो जाता है।" इस प्रकार हम देखते है कि बूचर साहब ने आलम्बनत्व धर्म सम्बन्धी साधारणीकरण की ही अभिव्यक्ति की है। हाउसवन नामक विद्वान ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि—"लेखक और पाठक की भावमैत्री काव्य का एक उद्देश्य है।" इसी कोटि के विद्वानो के सम्बन्ध में गुलाबराय जी लिखते हैं—"उन्होंने विभावादि के साधारणीकरण की अपेक्षा तादात्म्य पर अधिक ध्यान दिया है। इसमें आश्रय और कवि दोनों के साथ तादात्म्य की बात आ जाती है।

सब पाठकों के समान रूप प्रभावित होने का भी कहीं कहीं उल्लेख है।"

तादात्म्य का प्रश्न—हिन्दी मे जिसे भाव तादात्म्य कहते हैं अंग्रेजी में उसे Empathy कहते हैं। सहानुभूति मे सहृदय तथा भोक्ता दोनो का व्यक्तित्व एक हो जाता है। यह शब्द मनोविज्ञान से लिया गया है—

"Empathy connotes the state of the reader or spectator who has lost for a while his personal self conciousness and is identifying himself with some character in the story or screen."[1]

अर्थात "भावतादात्म्य या तदनुभूति पाठक का दर्शकी वह मानसिक दशा है जिसमें कि वह थोड़ी देर के लिए अपनी व्यक्तिक आत्मचेतना को भूलकर नाटक या सिनेमा (उपन्यास भी) के किसी पात्र के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है।"

साधारणीकरण पर विचार करने के उपरान्त हम गुलाब राय जी के शब्दो मे उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध मे कह सकते हैं—

"साधारणीकरण की उपयोगिता काव्यानुशीलन की उपयोगिता है। इसके द्वारा हमारी सहानुभूति विस्तृत हो जाती है। हम एक दूसरे के साथ भाव तादात्म्य करना सीखते हैं। हमारे भावों का परिष्कार होकर उनका पारस्परिक सामंजस्य भी होने लगता है। शृगार जो लौकिक अनुभव मे विषयानन्द का रूप धारण कर लेता है काव्य में परिष्कृत हो आत्मानन्द के निकट पहुँच जाता है। काव्यानुशीलन करने वाले की रति भी सात्विकोन्मुखी हो जाती है। शास्त्र वर्णित रति में पारस्परिक आत्मत्याग द्वारा पूर्ण तादात्म्य की भावना पर बल दिये जाने के कारण सात्विकता आ जाती है। वैयक्तिक कटुता और तीव्रता से शून्य मनोवेगों के ही सामजस्य की आशा रहती है।"[2]

भाव और रस

संस्कृत भाषा मे भाव का अर्थ है स्थिति। संस्कृत मे इस शब्द का प्रयोग देवादि विषयक रति आदि स्थायी भावो के वर्णन तथा व्यभिचारी भावो के व्यजन के अर्थ मे होता है। साधारण रूप मे यह कहा जा सकता है कि—"बाह्य जगत के सवेदनो से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं वे ही मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।" आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने भाव या मनोविकार का वर्णन इस प्रकार किया है[3]—"विशेष बाह्य स्थितियो के सवेदन अथवा स्मृति एव कल्पना

१. Psychology for every man and woman by A. F. Mander.

२. सिद्धान्त और अध्ययन।

३. ......We must be satisfied with the merely provisional description of an emotion as a state of mind characterized predominantly by feeling and activity, aroused by the perception of cer-

के स्वतन्त्र विचारो द्वारा जाग्रत मनोदशा ही भाव है। जिसके दो प्रधान गुण हैं—"अनुभूति और प्रयत्न।" मैकडूगल के आधार पर डा० नगेन्द्र लिखते हैं कि[1]—"हमारी किसी स्वाभाविक वृत्ति के जागृत होते ही उस वृत्ति की अनुकूल पेशियों और स्नायुओ में ओज का सचरण होने लगता है। ओज संचरण की यह अवस्था उत्तेजना की अवस्था होती है और प्रत्येक परिस्थिति में इस उत्तेजना में एक ऐसी विशिष्टता वर्तमान रहती है जिसके कारण हम उसे भय, क्रोध, घृणा आदि का पृथक मान दे सकते है। यहाँ स्वाभाविक वृत्ति की जागृति और उत्तेजना में निहित विशिष्टता, दोनों भाव के मानसिक रूप का वर्णन करते है, और 'स्नायु' एवं पेशियों मे ओज का संचरण उसके शारीरिक रूप का द्योतन। इन मानसिक और शारीरिक रूपों के अतिरिक्त भाव के लिए कुछ स्थितियाँ भी अनिवार्य है—

(१) भाव के विषय की सत्ता अवश्य होगी क्योंकि भाव वास्तव में व्यक्ति की वस्तु अर्थात विषयी की विषय के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया होती है।

(२) भाव का सुखात्मक अथवा दुखात्मक आस्वादन निश्चय रूप में होगा।

(३) इस मानसिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप कुछ प्रयत्न भी अनिवार्यतः होगा।

(४) किसी एक भाव की स्थिति निरपेक्ष नहीं रह पायेगी उसमें अनेक विकार उत्पन्न होते रहेंगे।"

प्रायः भाव शब्द का प्रयोग प्रकृति के नाना प्रकार के पदार्थों की प्रतिक्रिया के रूप मे उत्पन्न विभिन्न सवेदनात्मक मनोविकारो के लिए होता है। भावों के लिए विषय का होना आवश्यक है। विषय के अभाव में भाव उद्भूत नही हो सकते। भाव सुखात्मक तथा दुःखात्मक दोनो प्रकार के होते है। कुछ विद्वान भावों का सम्बन्ध शरीर से मानते हैं। दूसरे विद्वान इस सम्बन्ध को महत्व नही देते, भारतीय आचार्यो ने भावो का शरीर से कुछ भी सम्बन्ध नही माना हैं। अनुभावों की कल्पना इस तथ्य का सुन्दरतम निदर्शन है। भावो के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कोई भी भाव अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता उसका सम्बन्ध अनेक सम और विषम भावों से अवश्य होता है।

भावों की भी कई स्थितियाँ होती हैं। कुछ भाव सुषुप्तावस्था में रहते हैं, कुछ सुप्तावस्था मे, और कुछ जाग्रतावस्था मे भी दृष्टिगोचर होते हैं। आध्यात्मिक भावो की स्थिति तुरीयावस्था मे मानी जाती है।

भावों के प्रसार क्षेत्र के सम्बन्ध मे आचार्य शुक्ल लिखते है—"ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव प्रसार होता है।"

---

tain specific odjective conditions or specific fee ideas of memory and imagination. Elements of Psychology by Mellone and Drummound.

१. रीति काव्य की भूमिका।

डा० त्रिगुणायत इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं—"भावों का प्रसार कोरे ज्ञान क्षेत्र में ही नहीं होता। उनके प्रचार के लिए क्रिया की भी आवश्यकता होती है। कभी कभी तो बिना ज्ञान के ही केवल क्रिया ही भावो को प्रसारित कर देती है। सुषुप्त और तुरीय भाव क्रिया और ज्ञान की भी अपेक्षा नहीं रखते।"

भाव कई प्रकार के हुआ करते हैं दशरूपककार, धनंजय, स्थायी भाव की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—काव्य या अभिनय में उपनिबद्ध आश्रय (दुष्यन्तादि) के सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि भावो के द्वारा सामाजिक में हृदय का उस ही भाव से भावित होना—उस भाव तथा सामाजिक के भाव की एकतानता "भाव" कहलाती है। इस व्याख्या के आधार पर स्थायी भाव मे निम्नलिखित विशेषताएँ प्रतीत होती हैं—

(१) ये भाव सुषुप्तावस्था मे मानव मात्र के हृदय मे विद्यमान रहते हैं।

(२) ये सम और विषम भावो से पृथक नही हो सकते।

(३) स्थायी भाव दूसरे भावो को भी अपने रूप मे परिणित करने की क्षमता रखते हैं। ये भाव ही रस को निष्पन्न करते हैं। ये स्थायी भाव साधारण भाव से भिन्न होते हैं। साधारण भाव रस रूप मे नही हो सकते। इसीलिए रसो की संख्या सीमित है।

भाव के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि सहृदय सामाजिको के हृदय में "भाव" रहता है। ये भाव मानव मानस के अर्धचेतन या अवचेतन भाव मे छिपा रहता है। भाव की उद्भूति हमारे व्यवहारिक तथा लौकिक जीवन से ही होती है। भारतीय पंडित के विचार से यह पूर्व जन्म का लौकिक जीवन भी हो सकता है। हम स्वय अपने जीवन मे किसी से प्रेम करते हैं, किसी के प्रति क्रोध, उत्साह, करुणा प्रदर्शित करते हैं, किसी भयानक चीज को देखकर डरते है। या किसी कोढ़ी के विकृत शरीर को देखकर जुगुप्सा का अनुभव करते हैं। यही नही, दूसरे मनुष्य को भी इस प्रकार के भाव प्रदर्शित करते देखते है। जब हम लौकिक तथा व्यवहारिक जीवन मे इस प्रकार के अनुभव बार-बार प्राप्त करते है तो उनका प्रभाव हमारे चेतन मन पर पड़ता हुआ धीरे-धीरे हमारे अवचेतन मन के अन्तराल में अपना स्थान बना लेता है और जब हम काव्य नाटक आदि में तत्तत् भाव का चित्रण पढते या देखते हैं तो वह छिपा भाव उभर कर चेतन मन की लहरो मे उतरता नजर आता है। यही भाव काव्य मे वर्णित विभावादि के द्वारा पुष्ट होकर रस रूप मे परिणत हो जाता है। वह चेतन और अचेतन मन को जैसे कुछ समय के लिए एक करके हृदय की उस चरम सोपान सीमा तक पहुँचा देता है, जहाँ हम मनोराज्य में विचरण करते हैं, जहाँ आनन्द ही आनन्द है और भारतीय रस शास्त्री के मत मे यह आनन्द जिसे रस की सज्ञा दी गई है, लौकिक होते हुए भी अलौकिक है वह दिव्य है, तथा "ब्रह्मास्वादसहोदर" है।

परन्तु रस के साधन भाव को रस रूप में परिणत करने वाले विभावादि हैं।

स्थायी भाव में कई छोटे-छोटे भाव भी संचरण करते रहते हैं। ये छोटे भाव क्षणिक होते हैं। एक भाव उठता है लुप्त हो जाता है, दूसरा उठता है, लुप्त हो जाता है। ये भाव स्थायी भाव से सहकारी कारण है। इनकी स्थिति ठीक वैसी है, जैसे समुद्र मे तरंगों के उदय व अवसान की। स्थायी भाव समुद्र है, संचारी भाव तरंगें। चूंकि ये भाव क्षणिक तथा अस्थिर है। अतः ये संचारी या व्यभिचारी कहलाते है। गिनती मे ये संचारी भाव ३३ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव ही रस का "बीज" है। इसका मूल रूप है। इसके अणु का "न्यूक्लियस" यही भाव है। भाव को क्षणिक संचारी भावो से अलग करने के लिए स्थायी भाव भी कहा जाता है। साहित्य शास्त्रियो ने आठ या नौ तरह के भाव माने है। धनंजय ने नाटक मे आठ भाव माने हैं। अभिनव व नवीन रसशास्त्रियों को नौ भाव अभीष्ट है। ये भाव ह—रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, विस्मय, मम तथा शोक। इनके अतिरिक्त नवाँ भाव है "शम"। इन्ही भावों की परिणति क्रमशः आठ या नौ रसों में होती है—शृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक, करुणा तथा नवे भाव "शम" का रस रूप "शान्त"। इन आठ रसो में शान्त की गणना न करने पर चार प्रमुख है, चार गौण। हास्य को शृंगार से, अद्भुत को वीर से, भयानक को वीभत्स से तथा करुणा को रौद्र से उद्भूत माना गया है। इस प्रकार शृंगार हास्य, वीर-अद्भुत, वीभत्स-भयानक, रौद्र-करुण इन रस-युग्मों की स्थिति हो जाती है। रसास्वाद के समय सामाजिक का मानस या तो विकसित होता है या फैलता है। या क्षुब्ध होता है या उसमे विक्षेप की क्रिया होती है। शृगार-हास्य में मानव विकसित होता है। इसी प्रकार वीर-अद्भुत में मन के विस्तार, वीभत्स-भयानक में मन के विस्तार, वीभत्व-भयानक में क्षोभ तथा रौद्र-करुणा में विक्षेप की स्थिति रहती है।

रस के प्रसंग में चित्त की तीन अवस्थाएँ होती है—

(१) सरसावस्था।

(२) उत्साहितावस्था।

(३) साम्यावस्था।

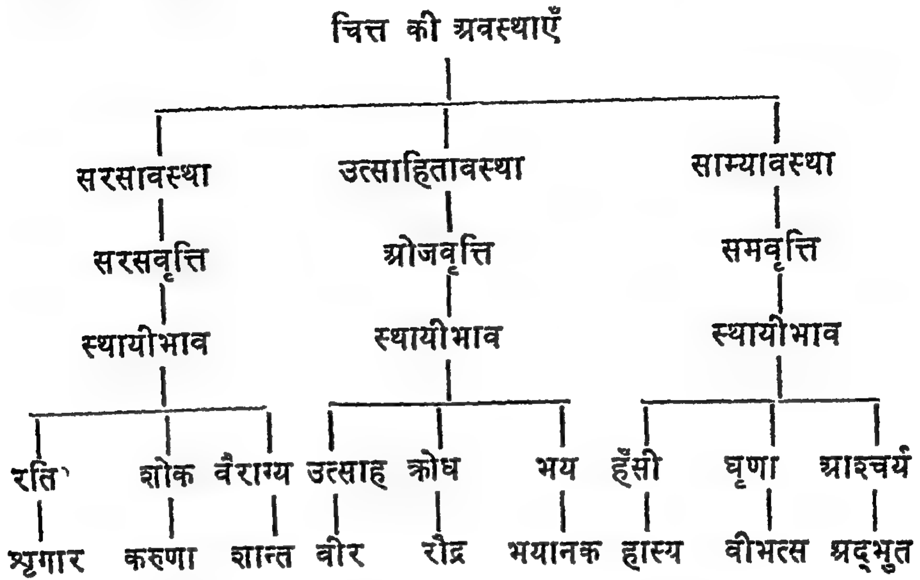
(१) **सरसावस्था** :—जब आनन्दातिरेक के द्वारा हमारी चित्तवृत्ति सरस हो जाती है तब रति, शोक, वैराग्य की भावनाओं का आधिक्य हो जाता है। जिनसे शृंगार करुण और शान्त रस की निष्पत्ति होती है।

(२) **उत्साहितावस्था** :—इस अवस्था में चित्त में 'ओज' नामक वृत्ति का प्राधान्य रहता है। यह वृत्ति चित्त में दृढता लाती है तथा क्रमशः उत्साह, क्रोध, भय आदि भावो का उदय होता है। जिनसे वीर, रौद्र तथा भयानक रसों की उत्पत्ति होती है।

(३) **साम्यावस्था** :—इस अवस्था मे हृदय में समता का भाव जाग्रत होता है। जिससे हँसी, घृणा तथा आश्चर्य के भाव उदित होते हैं। इन भावो से हास्य,

वीभत्स तथा अद्भुत रस बनते हैं।

इस प्रकार चित्त की तीनो अवस्थाओ में उत्पन्न होने वाले भावो के आधार पर नवरसो की निष्पत्ति होती है। निम्नलिखित तालिका से यह स्पष्ट हो जायेगा।



रस का स्वरूप :—रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए गुलावराय जी लिखते हैं—"किसी वस्तु को आस्वादन करने पर जो आनन्द मिलता है उसे रस कहते हैं।" साधारण भाषा में कहते है कि अमुक की कथा मे "वडा रस आया", "कानो मे रस पड़ रहा है", "वे बड़े रसिक है।" रसिया शब्द का अर्थ है—जिसके आस्वादन में आनन्द आवे। आनन्द लेने वाले को भी रसिया कहते हैं, जैसे हनुमान चालीसा में "राम कथा सुनिबे कौ रसिया"। सक्षेप मे आस्वादनजन्य आनन्द को रस कहते हैं। "रस्यते आस्वाद्यते इति रस.।"

संस्कृत के आचार्यो ने रस के स्वरूप पर व्यापक रूप से विचार किया है। रस की शास्त्रीय परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

"विभावेनानुभावेन व्यक्तः सचारिणा तथा।
रसतायेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्॥

विभाव (आलम्बन-स्थायी भाव को जाग्रत करने के मुख्य कारण) अनुभाव (भावों के वाह्य-व्यंजक) संचारी (स्थायी भावो को पुष्ट करने वाले उनके साथ रहने वाले भाव) भावो से व्यक्त होकर स्थायी भाव सहृदयो के हृदय मे रस को प्राप्त होता है।

आचार्य भरत, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि विद्वानो ने रस पर व्यापक रूप से विचार किया है। विश्वनाथ ने अपने निम्नलिखित श्लोक में रस के स्वरूप का सार अंकित किया है—

"सत्त्वोद्रेमादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः,
वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः।

लोकोत्तर चमत्कार प्राणाः कैश्चित्प्रमातृभिः,
स्वाकार वदभिन्नत्वेनाय मास्वाद्यते रसः॥"

अर्थात् रस सत्त्वोद्रेक का हेतु होने के कारण अखण्ड, प्रकाशात्मक आनन्द रूप, चिन्मय, वेद्यान्तर स्पर्श शून्य, ब्रह्मानन्द सहोदर लोकोत्तर चमत्कार से पूर्ण है। विश्वनाथ की इस व्याख्या से रस मे निम्नलिखित विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं:—

(१) रस में सत्वगुण की प्रधानता रहती है। इस अवस्था पर पहुँचने पर रजोगुण और तमोगुण का नाश हो जाता है। ममत्व और परत्व की भावना रसानुभूति में समाप्त हो जाती है।

(२) रस सहृदय सवेद्य है। रस वह है जिसका आस्वादन हो सके।

(३) रस आनन्दमय तथा अखण्ड है। इसमें विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी आदि की पृथक्-पृथक् स्थिति नहीं होती। रसानुभूति के समय पार्थिव, अपार्थिव की अनुभूतियाँ नही रहती।

(४) रसानुभूति चिन्मय होती है। इसमे इच्छा तथा बुद्धि की प्रधानता रहती है। रस के आविर्भाव मे सत्व की प्रधानता रहती है।

(५) रस न ज्ञाप्य है, न कार्य न साक्षात् अनुभव है न परोक्ष। यह लौकिक न होकर अनिवर्चनीय एवं अलौकिक है। इसीलिए इसे "ब्रह्मानन्द सहोदर" कहा गया है। रसानुभूति की अवस्था मे अहकार की भावना नष्ट हो जाती है। रसानुभूति सदैव आनन्दमयी होती है। इसको लौकिक परिभाषा मे आबद्ध नही किया जा सकता।

(६) रस का आनन्द चमत्कार से अनुप्राणित रहता है। चमत्कार का अभिप्राय है चित्त का विस्तार अर्थात् विस्मय। इसकी अनुभूति स्थूल न होकर सूक्ष्म होती है। प्रत्यक्षता के साथ-साथ इसमे बौद्धिकता भी रहती है।

रस के स्वरूप का दर्शन करने के उपरान्त हम भाव और इसके स्वरूपों की तुलना करेंगे—

(१) रस में केवल सत्त्व का ही उद्रेक रहता है। किन्तु भावो मे सत्त्, रज तथा तम तीनों गुण हो सकते हैं।

(२) भावों की स्थिति मानव मात्र के हृदय में होती है। किन्तु इसका रसास्वादन सहृदय व्यक्ति ही ले सकता है।

(३) रसानुभूति सदैव आनन्दमयी होती है किन्तु भाव सुखात्मक तथा दुखात्मक दोनों प्रकार के होते हैं।

(४) रस अखण्ड होता है। किन्तु भाव अनेक होते हैं, इसलिए उसका उदय खण्ड रूप मे होता है।

(५) रसानुभूति चिन्मय होती है, परन्तु भावों की अनुभूति की अनुभूति अचिन्मयी होती है।

(६) रस की प्रतीति लोकोत्तर-रूपिणी होती है। किन्तु भाव के लिए यह अनिवार्य नहीं।

(७) रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। किन्तु भावो में दु:खात्मक और सुखात्मक दोनों प्रकार की अनुभति रहती है।

(८) रस की व्यंजना निरपेक्ष, स्वतन्त्र तथा अखण्ड रूप में होती हैं। परन्तु भाव स्वतन्त्र नही होते।

यह ही रस तथा भाव में अन्तर है।

रस की अलौकिकता तथा उसके सम्बन्ध में भ्रम

हमारे यहाँ काव्य को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। काव्य पढ़ते समय, नाटक देखते समय जब पाठक या दर्शक इतने अधिक तन्मय हो जाते हैं कि वह "अयं निजः परोवा" की भावना से मुक्त हो जाता है और वर्णनो तथा दृश्यों को देखकर रोने और प्रसन्न होने लगता है—यद्यपि यह शोकप्रद अवस्था भी आनन्दप्रद प्रतीत होती है—तो यही दशा साधारणीकरण है। इस प्रकार जब पाठक या दर्शक का साधारणीकरण हो जाता है तो वह काव्य का रसास्वादन करने लगता है। यद्यपि यह रसास्वादन लौकिक माध्यमों से प्राप्त होता है किन्तु फिर भी वह अलौकिक तथा अतीन्द्रिय है। रसास्वादन मे पाठक को केवल आनन्दानुभूति होती है। सुख-दुःख का लौकिक अनुभव नही होता। इसी से उस अनुभव को आस्वादन रसना अथवा चर्वणा की सज्ञा दी गई है। यह आनन्द इन्द्रिय जन्म नही होता, अपितु अलौकिक तथा अखंड होता है। योग की जिस दशा को मधुमती भूमिका कहते हैं, साहित्य मे साधारणीकरण उसी का नाम है। दोनो मे ही—योगी तथा कवि या पाठक को समस्त वस्तुजगत दिव्य प्रतीत होने लगता है। उन्हे स्वर्ग की दिव्य झांकी दिखलाई देने लगती है। दोनो मे अन्तर केवल इतना ही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती भूमिका में रह सकता है, परन्तु कवि रजस या तमस की प्रतीति होते ही इस अवस्था से पृथक हो जाता है। दोनो ही दशाओ में वृत्तियो का साधारणीकरण हो जाता है। इन्द्रियो के व्यापार तथा मन के भाव स्थिर हो जाते हैं। तर्क वितर्क लुप्त हो जाता है। आत्मा मे आनन्द की अनुभूति होने लगती है। इसी विचित्र और अलौकिक अनुभूति को रसास्वादन कहते हैं। इस रस दशा मे 'सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे सुखात्मक भावो का आलम्बन' बन जाती हैं। यह साधारण लोक की अनुभूति नही होती। इसे रस भूमिका कहते हैं। यह रसानुभूति कवि तथा पाठक दोनो को होती है। इस प्रकार साधारणीकरण तथा योग दोनो मे ही चित्रवृत्ति का निरोध तथा सत्वगुण की प्रधानता होती है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि इसका सम्बन्ध देवता और परलोक से है।

प्रसिद्ध विद्वान तथा दार्शनिक डा० भगवानदीन इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि—"लोकोत्तर भी कैसे कहा जा सकता है, लोक में ही तो काव्य साहित्य के रस की चर्चा है। यहाँ डाक्टर भगवानदास का लोकोत्तर से अभिप्राय परलोक से ही है।

डा० श्यामसुन्दरदास जी इस विषय की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"इस प्रसंग में यह भ्रम न होना चाहिए कि जिन भावों के सहारे रस का स्वाद मिलता है, वे हमारे लोक के नहीं हैं। वे भाव सर्वथा हमारे तथा हमारे लोक के हैं, वे अतीन्द्रिय, पारलौकिक अथवा लोकबाह्य नहीं होते। वे अलौकिक केवल इसलिए कहे जाते हैं क्योंकि उनका अनुभव पर प्रत्यक्ष के लोक में चित्र की मधुमती भूमिका में होता है और उस अनुभव के कार्य कारण साधारण और लोकिक नहीं होते। इसी से अंग्रेजी वाले अनुवादक अलौकिक का Supernatural अथवा Extraordinary शब्दों से अनुवाद करते हैं वे सत्य तक नहीं पहुँच पाते। अलौकिक का इस प्रसंग में अर्थ होता है— Super-Sensuous (पर प्रत्यक्ष-गम्य)।"

संक्षेप मे यहाँ अलौकिक से अभिप्राय है जो लौकिक नही अर्थात् अलोक सामान्य जो लौकिक वस्तु से विलक्षण हों।

अब अप्रत्यक्षानुभूति (लोकानुभूति) तथा काव्यानुभूति में क्या अन्तर है— इस पर एक विहंगम दृष्टि डालना अप्रासंगिक न होगा।

वस्तु जगत में हम जिन वस्तुओं को देखते हैं उनका प्रभाव काव्य में वर्णित वस्तुओ से बिल्कुल भिन्न होता है। वस्तु जगत मे जब हम किसी व्यक्ति को किसी भयानक रोग से ग्रसित देखते हैं तो हमारा हृदय भर उठता है और एक क्षण भी हमारा हृदय वहाँ रुकने को नही कहता। किन्तु काव्य में उसका वर्णन पढकर हमारे हृदय मे उसके प्रति सहानुभूति की भावना जाग्रत हो जाती है। इसी प्रकार हम जब किसी व्यक्ति को अपने शत्रु पर प्रहार करते देखते हैं तो हम उस हृदय को देखने में असमर्थ होते हैं और मारने वाले के प्रति क्रोध मिश्रित घृणा की भावना हमारे हृदय में उत्पन्न हो जायेगी परन्तु जब यह बातें काव्य में वर्णित होकर आती हैं तो इनके पढने मे हम इतने अधिक तन्मय हो जाते हैं कि कुछ क्षण के लिए अपना अस्तित्व ही भूल जाते हैं। रामचरितमानस मे वर्णित राम तथा भरत का प्रेम-मिलन किसे अविभूत न करेगा। चौदह वर्ष की अवधि के उपरान्त जब राम और भरत का मिलन होता है तव कौन सामाजिक हर्षातिरेक तथा स्नेहातिरेक का अनुभव न करेगा। इसी प्रकार शकुन्तला नाटक में शकुन्तला तथा दुष्यन्त का प्रेम-मिलन प्रत्येक दर्शक तथा पाठक को अभिभूत कर देता है। अतः स्पष्ट है कि वस्तु जगत में घटित घटनाओ का जो प्रभाव हमारे हृदय पर पडता है वह साहित्य मे वर्णित प्रभाव से सर्वथा भिन्न होता है। एक लौकिक है, परन्तु दूसरे को हम लौकिक नही कह सकते। वह अलौकिक है।

जब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऐसा क्यों होता है ?

इसका प्रधान कारण यह है कि काव्य में घटनाएँ इस प्रकार वर्णित की जाती हैं जिससे पाठक के मर्म पर सीधा प्रभाव पडे। संसार की वास्तविक वस्तुओं का हमारे हृदय पर उतना प्रभाव नही पड़ता जितना काव्य में उसका वर्णन पढ़कर।

इसका प्रधान कारण यह ही है कि काव्य मे असुन्दर वस्तु भी सुन्दरम् का परिधान धारण करके आती हैं। कवि किसी बात को परिष्कृत करके प्रभावशाली रूप में रखता है। वह वस्तु को जिस रूप मे देखता है उसका वैसा ही वर्णन नही करता। वह अपने निरीक्षण स्मृति तथा कल्पना के मिश्रण से उसे पूर्ण करता है और इस प्रकार वह वस्तु जगत की वस्तुओ को अधिक आकर्षक और प्रभावशाली बना देता है। जिससे वह वस्तुएँ अलौकिक या आलोक सामान्य बन जाती हैं।

कवि या कलाकार काव्य मे वर्णित वस्तुओ को अलौकिक बनाने के लिए "जो है" के साथ "जो होना" चाहिए का भी चित्रण करता है। जिससे वह अपनी कल्पना का अबाध प्रयोग कर सके। कविवर मैथिलीशरण जी ने भी कहा है—

> "हो रहा जो जहाँ सो हो रहा,
> यदि वही हमने कहा तो क्या कहा।
> किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ,
> व्यक्त करती हैं कला वहाँ।"

अरस्तू ने भी लिखा है:—

"It is not the function of the poet to relate what has happened but what may happen.........poetry transforms it's fact into truth. The truth of poetry is not a copy of reality but higher reality, what to be, not what is."

अत. स्पष्ट हैं कि कवि के लिए "क्या है" से बढकर "क्या होना चाहिए" है। और काव्य का सत्य अपेक्षाकृत वस्तु जगत के सत्य से भिन्न एव उत्कृष्ट होता है।

कवि साधारण मनुष्यो की अपेक्षा अधिक भावुक और सस्कृत होता है। वह कल्पना की सरस चासनी से प्रत्येक वस्तु को स्वाभाविक, सुन्दर, सरस तथा प्रभावशाली बना देता है और पाठको को अलौकिक आनन्द का रसास्वादन कराता है। पाठक कुछ समय के लिए अपना अस्तित्व भूलकर उस अलौकिक रस मे लीन हो जाते हैं।

यह कवि की अलौकिकता है कि वह करुण से करुण दृश्यों को इस प्रकार चित्रित करता है कि पाठक उसे बार-बार देखना चाहता है। यदि ऐसा न होता तो भवभूति के नाटक इतने लोकप्रिय सिद्ध न होते। जब हम किसी नाटक मे लक्ष्मण के शक्ति लगते देखते हैं तो रामचन्द्र जी के साथ ही साथ विलाप करने लगते हैं जबकि हम यह जानते हैं कि अभिनेता वास्तविक लक्ष्मण नही है। ऐसा क्यो होता है? केवल इसलिए कि काव्यानन्द अलौकिक है, अलोक सामान्य है। स्पष्ट है कि काव्य मे वर्णित वस्तु, वस्तु जगत के प्रभाव से भिन्न प्रभाव रखती है। मनुष्य दुख से इतना अधिक आक्रान्त है कि दुःख मे उसे कुछ भी आनन्द नही आता, किन्तु काव्य में दुःख से पूर्ण स्थल ही लोकप्रिय हो जाते है। शैली ने भी लिखा है:—"Our

Sweetest songs are those which tell us sadest thought."
अर्थात् "शोकतम अवस्थाओं को प्रकट करने वाले गीत ही मधुरतम होते हैं।"

यही काव्य का अलौकिक धरातल है जो लौकिकता से सर्वथा पृथक है किन्तु इसका पारलौकिकता से कोई सम्बन्ध नही है।

प० रामदहिन मिश्र ने दर्पणकार द्वारा दिये गए अलौकिकता के कुछ कारणो का उल्लेख किया है। वे इस प्रकार हैः—

१—"लौकिक पदार्थ ज्ञाप्य होते हैं, अर्थात् दूसरी वस्तुओं के द्वारा उनका ज्ञान होता है, पर रस ज्ञाप्य नहीं होता है। क्योंकि अपनी सत्ता में कभी व्यभिचरित-प्रतीति के अयोग्य नहीं होता। अर्थात् जब होता है अवश्य प्रतीत होता है। घट पट आदि लौकिक पदार्थ ज्ञापक से अर्थात् ज्ञान कराने वाले दीपक आदि से प्रकाशित होते हैं। वैसे ही उनके विद्यमान रहने पर भी कभी-कभी ज्ञान नहीं होता। ढके हुए पदार्थ को दीपक नहीं दिखाया जा सकता। परन्तु रस ऐसा नहीं है, इससे रस अलौकिक है।"

२—"लौकिक वस्तु नित्य होती है पर रस नित्य नहीं है क्योंकि विभाव आदि के ज्ञान से पूर्व रस-सवेदन होता ही नहीं और नित्य वस्तु असंवेदन काल में अर्थात् जब वस्तु का ज्ञान नहीं रहता तब भी नष्ट नहीं होती। रस ज्ञान काल में ही रहता है, अन्य काल में नहीं। अतः उसे नित्य भी नहीं कर सकते। अतः रस लोक वस्तु भिन्न धर्मी है, अलौकिक है।"

३—"लौकिक पदार्थ कार्य रूप होते हैं। पर रस कार्य रूप नहीं है, क्योंकि रस विभावादि समूहालम्बनात्मक होती है। अर्थात् विभाव आदि के साथ रस सामूहिक रूप से एक ही साथ प्रतीत होता है यदि रस कार्य होता तो उसके कारण विभाव आदि का पृथक ज्ञान होता लौकिक कार्य में कारण और कार्य एक साथ नहीं दीख पड़ते। अब यदि विभाव आदि को कारण माने और रस को कार्य तो इसकी प्रतीति एक साथ नहीं होनी चाहिये। किन्तु रस प्रतीति के समय विभाव आदि की भी प्रतीति होती रहती है। अत. विभाव आदि का ज्ञान रस का कारण नहीं और इसके अतिरिक्त अन्य कारण सम्भव नहीं। अतः रस किसी का कार्य नहीं हो सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि रसास्वाद के समय विभाव-अनुभाव और सचारी भाव के साथ ही स्थायी भाव रसरूप में व्यक्त होता है, जो लौकिक कार्य के विपरीत है। इससे रस अलौकिक है।"

४—"लौकिक पदार्थ भूत, वर्तमान या भविष्यत् होते हैं पर रस न तो भूत न वर्तमान और न भविष्यत ही होता है। यदि ऐसा होता तो जो वस्तु हो चुकी उसका आज साक्षात्कार कैसे हो सकता है, पर ऐसा होता है। ज्ञाप्य और कार्य न होने के कारण रस वर्तमान नहीं है। क्योकि वर्तमान में लौकिक वस्तुएँ इन्हीं दो रूपों में होती हैं। भविष्यत् भी उसे कैसे कहें जबकि वह आनन्द घन और प्रकाशरूप

साक्षात्कार अनुभव का विषय होता है। भविष्यत् की वस्तु वर्तमान में नहीं देखी जाती। अतः रस अलौकिक है।"

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि रस अलौकिक है और लौकिकता से भिन्न है तथापि उसका सम्बन्ध देवता और परलोक से नहीं है। इस सम्बन्ध मे डा० श्यामसुन्दरदास जी लिखते हैं.—

"एक भ्रम लोगों में यह फैल गया है कि रस और कला का सम्बन्ध योग में है। यह बात तो सोलहों आने ठीक है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि रस का सम्बन्ध देवता और परलोक से है।"

प्रमुख रसों का वर्णन

शृँगार रस

शृँगार शब्द की व्युत्पत्ति—शृँगार शब्द की व्युत्पत्ति शृङ्ग धातु से मानी गई है। शृङ्ग का अर्थ है कामोद्रेक। शृँगार शब्द का निर्माण "शृङ्ग" और "आर" दो शब्दो से हुआ है। "आर" शब्द "ऋ" धातु से निकला है। ऋ धातु का अर्थ है गति या प्राप्ति। वस्तुत: शृँगार का अर्थ हुआ "कामोद्रेक की प्राप्ति।" शृँगार का स्थायी भाव रति माना गया है।

शृँगार ही आदि रस है—अग्नि पुराण में शृँगार रस की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है :—

अक्षरं ब्रह्म परम सनातनमज विभूम्,
आनन्द सहजस्तस्य व्यज्यते सद्वदाञ्यन,
व्यक्ति सातस्यचैतन्य चमत्कार रसाहृया,
आधस्तस्य विकारो य। सोहंकार इतिस्मतः,
ततोभिमानस्तत्रेद समासं भुवनत्रयम्,
अभिमानाद्रति सा चपरिपोपमुयेमिषु,
रागाद्भवति शृँगारो रौद्रस्तेण मान् अजायते,
वीरोवष्टम्मज. सकोचभूर्वो भत्स इष्यते,
शृँगाराज्जायते ह्रासो रौद्रातु करुणोरस.
वीराच्याद्भ्रतनिष्पत्तिः स्याद्वो भत्साद्भयानक.

अर्थात् 'जो अक्षर, परब्रह्म सनातन, अज और विभु है, उसका सहज आनन्द कभी कभी प्रकट हो जाता है, यह अभिव्यक्ति चैतन्य, चमत्कार और रसमय होती है, उसके आदि विकार को अहंकार कहते हैं, उसके अहंभाव से अभिमान 'ममता" का आविर्भाव हुआ, जो भुवन में व्याप्त है, ममता सकलित अभिमान से रति की उत्पत्ति हुई, यही रति शृँगार रस की जननी है।

बाद को राग "रति" से शृँगार की, तीक्ष्णता से रौद्र की, गर्व से वीर की

तथा सकोच से वीभत्स की सृष्टि हुई, फिर शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक का प्रादुर्भाव हुआ।"

भारतीय शास्त्रों मे भी काम की उत्पत्ति सबसे पहले मानी गई है :—

"कामो जज्ञे प्रथम नैनं देवा,
आयुः पितरो न मर्त्यां।
ततस्त्वमासि ज्यायानं विश्वाहा महांस्ते
काम नम. इति करोमि ॥[1]

अर्थात् हे काम तू सर्वप्रथम उत्पन्न होकर देव, पितर और मर्त्य सबको प्राप्त हुआ, कोई तेरे प्रभाव से नही बचा। इसलिए संसार मे तू सबसे व्यापक और महान है। मैं तुझे प्रणाम करता हूँ।

गीता मे भी लिखा गया है कि प्रथम हृदय की सर्वव्यापिनी बुद्धि का मूल तत्व काम उत्पन्न हुआ :—

कामस्तदग्रे, समवर्तताधि मनसो
रेतः प्रथमं मदासीत् ॥

शृंगार रस की परिभाषा—साहित्य दर्पणकार शृंगार रस का परिचय देते हुए उसकी परिभाषा लिखते हैं :—

शृंङ्ग हिममथोद्रे दस्तदागमन हेतुकः
उत्तम प्रकृति प्रायो रस. शृंगार इष्यते
परोढ़ां वर्जमित्वा तु वेश्या चाननुरागिणीम्
आलम्बनं नायिका स्युर्दक्षिणायाश्चनायका
चन्द्र चन्दन रोल मरुतादुधीपनं मतम
भ्रुविक्षेप कटाक्षादि रनुभावः प्रकीर्तितः
त्यक्त्वौग्र ग्रमरणालस्य जुगुप्सा व्यभिचारिण·
स्थायी भावो रतिः श्यामवर्णोग्रमं विधु देवत· ।

अर्थात् "कामदेव के उद्भेद. 'अकुरित" होने को शृंग कहते हैं। उसकी उत्पत्ति का कारण अधिकांत उत्तम प्रकृति से युक्त रस शृंगार कहलाता है। पर स्त्री तथा अनुराग शून्य वैश्याओं को छोड़कर अन्य नायिकाएँ तथा दक्षिण आदि नायक इस रस के आलम्बन विभाव माने जाते हैं, चन्द्रमा चन्दन भ्रमर आदि इसके उद्दीपन विभाव होते हैं, अनुरागपूर्ण भृकुटि भंग और कटाक्ष आदि इसके अनुभाव होते हैं, उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़कर अन्य निर्वेदादि इसके संचारी भाव होते हैं, इसका स्थायी भाव रति है, वर्ण श्याम है इसके देवता विष्णु भगवान हैं।"

आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश मे शृंगार की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

१—अथर्ववेद ६, : २ : १६ ॥

"शृंग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमन हेतुक ,
पुरुषप्रमदाभूमिः शृंगार इति गीयते ।"

मम्मट ने केवल दाम्पत्य रति को ही शृंगार की सज्ञा दी है। उन्होंने देवता, मुनि, गुरु, पुत्रादि की रति को भाव अन्तर्गत रखा है।

भरतमुनि के अनुसार जो कुछ पवित्र, उत्तम, दर्शनीय है वही शृंगार है। यथा :—

"यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्य मुज्ज्वलं दर्शनीय वा तच्छृङ्गारे णोपमीयते "[1]

अतः स्पष्ट है—'संसार में जो कुछ दर्शनीय अर्थात् सुन्दर है, साथ ही पवित्र उत्तम और उज्जवल है, उसका जिसमें सरस एव हृदयग्राही वर्णन, विचार अथवा प्रदर्शन होगा, वह शृंगार रस कहला सकेगा।"

रसमंजरीकार "सेठ कन्हैयालाल पोद्दार" शृंगार रस के सम्बन्ध में लिखते हैं—"शृंगार यौगिक शब्द है, "शृंग" और "आर" इसके दो अंश है। शृंग का अर्थ "कामोद्रेक" "काम की वृद्धि" है। "आर" शब्द "ऋ" धातु से बना है। "ऋ" का अर्थ "गमन" है। गति का अर्थ यहाँ प्राप्ति से लिया जाता है, अत शृंगार शब्द का अर्थ है "काम वृद्धि की प्राप्ति।" चूंकि स्थायी भाव "रति" विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के एकीकरण से रस अवस्था को प्राप्त होकर कामी जनो के चित्त में काम की वृद्धि करता है इसलिए वह शृंगार कहलाता है।"

शृंगार रस रसराज—आचार्यो ने शृंगार रस को रस राजत्व की उपाधि से विभूषित किया है। भरतमुनि ने शृंगार रस को उज्जवल, पवित्र एवं दर्शनीय कहकर उसके रस राजत्व को सिद्ध किया है। शृंगार रस की व्यापकता ने उसे रस राजत्व प्रदान किया है। शृंगार रस के सम्बन्ध मे शालिग्राम शास्त्री लिखते हैं—"छओं ऋतुओं का वर्णन, सूर्य और चन्द्रमा का वर्णन उदय और अस्त; जल-बिहार, वन विहार, प्रभात, रात्रि क्रीड़ा चन्दन आदि लेपन, भूषण धारण, तथा जो कुछ स्वच्छ, उज्जवल वस्तुएँ है उन सबका वर्णन शृंगार रस मे होता है।"

आचार्य रुद्रट शृंगार रस की व्यापकता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं :—

"अनुसरति रसाना रस्यतामस्य नान्य सकलमिदमनेन व्याप्त बाल वद्धम्
तदिति विरचनीयः सम्यगेष प्रयत्नात् भवति विरसमेवातेन हीनहि काव्यम्॥"[2]

अर्थात शृंगार रस का अस्तित्व आबाल-वृद्ध मे होता है। शृंगार रस ही सबसे सरस रस है। काव्य मे इस रस का स्वरूप निरुपण वाँछनीय है। शृंगार रस से विरहित काव्य शुष्क या नीरस रहेगा।

इस प्रकार काव्य रसो मे शृंगार रस को सर्वश्रेष्ठ रस माना गया है। उसके महत्व, प्रभाव एव व्यापकत्व के कारण ही विद्वानो ने शृंगार को रसराज की सज्ञा

१—नाट्य शास्त्र
२—काव्यालकार

दी है। शृंगार रस के व्यापकत्व को अन्य विद्वानो ने भी स्वीकार किया है :—

केशवदास जी लिखते हैं:—

"नवहू रस को भावहु, तिनके भिन्न विचार।
सबको "केशवदास" कहि, नायक है सिंगार॥"

पद्माकर जी भी लिखते हैं:—

"नवरस में सिंगार रस सिरे कहत सब कोय।

शृंगार रस के सम्बन्ध मे देव कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी दृष्टव्य हैं:—

"भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार,
जो संपति दंपतनि की जाको जग विस्तार।
विमल शुद्ध सिंगार रस "देव" अकास अनन्त,
उड़ि-उड़ि खग ज्यो और रस विवस न पावत अन्त॥

रसो का महत्व उनके स्थायी भाव, विभाव, और संचारी भावों पर निर्भर है। इस दृष्टि से भी शृंगार रस अन्य रसो की अपेक्षा श्रेष्ठ तथा व्यापक है।

शृंगार रस का स्थायी भाव "रति" अथवा प्रेम है जो मानव जीवन का अत्यन्त कोमल तथा उदात्त भाव है तथा जो जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके साथ रहता है। प्रेम मानव मात्र का चिरन्तन, शाश्वत तथा सत्य भाव है। यह जड़ तथा चेतन सबमे रहता है। मनुष्य मे ही नही प्राणी मात्र मे प्रेम की भावना रहती है। प्रेम से प्रभावित होकर प्राकृतिक जड़ पदार्थों को भी परस्पर मिलन की साध होती है—

"भुजलता पड़ी सरिताओ की
शैलो के गले सनाथ हुए
जलनिधि का अंचल व्यंजन बना
धरणी के दो-दो साथ हुए
कोरक अंकुर सा जन्म रहा
हम दोनो साथी भूल चले
हम भूख प्यास से जाग उठे
आकाक्षा तृप्ति समन्वय मे
रति काम बने उस रचना मे
जो रही नित्य यौवन वय मे।
× × × ×
यह लीला जिसकी विवस चली
वह मूल शक्ति थी प्रेम कला
उसका सन्देश सुनाने को
ससृति मे आई वह अमला॥[1]

१—प्रसाद—कामायनी

"यह प्रेम अथवा रति ही जड चेतनता ही गाँठ" है। संसार के समस्त कार्य कलाप दाम्पत्य भाव के ही फलस्वरूप हैं। अतः शृंगार रस के स्थायी भाव "रति" अथवा "प्रेम में तन्मयता की चरम सीमा एवं आत्मत्याग की पूर्ण प्रतिष्ठा है।" "अभिनव भारती" में अभिनव गुप्त ने शृंगार भावना को जाति सुलभ सामान्य भाव माना है—"तत्र कामस्य-सकल जाति सुलभतया........"

यद्यपि भिन्न-भिन्न विद्वानो ने अपनी रुचि तथा दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न रसों को श्रेष्ठ माना है। किन्तु शृंगार रस ही सबसे अधिक लोकप्रिय सिद्ध हो सका है। प्रायः सभी विद्वानो ने इसका गुणगान किया है। रीतिकालीन कवियों ने तो शृंगार रस को अपनी चरम सीमा पर पहुँचा दिया था। शृंगार रस का गुणगान करते हुए देव कवि लिखते हैं:—

"नव रस सब ससार मे, नव रस मे सिंगार,
नव रस सार सिंगार रस, युगल सार सिंगार ॥"

देव कवि ने तो सब रसो का समाहार शृंगार के सयोग तथा वियोग दोनों पक्षो मे कर दिया है। उन्होने हास्य वीर और अद्भुत से सयोग शृंगार का सम्बन्ध माना है तथा करुण भयानक और रौद्र को उन्होने वियोग शृंगार से सम्बन्धित माना है। वीभत्स और शान्त रसो की स्थिति उन्होने शृंगार के दोनो पक्षो मे मानी है। निम्नलिखित पद मे उन्होने शृंगार रस के महत्व को स्पष्ट किया है—

"तीनि मुख्य नव ही रसनि, द्वै द्वै प्रथमनि लीन,
प्रथम मुख्य तिनहून मे, दोऊ तेहि आधीन।
हास, भाव, सिंगार रस, रुद्र, करुन रस वीर,
अद्भुत और वीभत्स सग, सातो वरनत धीर ॥"[1]

देव कवि के इस पद से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने शृंगार, वीर और शान्त तीन रसो को मुख्य माना है। इन तीनो मे उन्होने शृंगार रस को प्रधान और अन्य दो रसो को उन्होने शृंगार के आधीन माना है।

यह तो निश्चय है कि अन्य रस शृंगार से ही उत्पन्न होते हैं और शृंगार मे ही तिरोहित हो जाते हैं। "रस रत्नाकर" में इस बात को बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट किया गया है, जो दृष्टव्य है:—

"रामचन्द्र जी का विवाह प्रसंग ही ले लीजिए, पुष्प वाटिका मे परस्पर दर्शन के कारण सीता के कारण सीता राम के हृदयों में प्रेम 'शृंगार" अंकुरित होता है। दोनो के विवाह की चर्चा सुनकर सारे समाज में हर्ष "हास्य" छा जाता है। परन्तु स्वयंवर के समय धनुष भंग होता न देखकर समस्त सामाजिक शोक "करुण" से द्रवीभूत होने लगते है, उस समय राजा जनक की निराशपूर्ण अनुचित बातें सुनकर लक्ष्मण को क्रोध "रौद्र" आ जाता है। श्री रामचन्द्र जी उन्हे "शान्त-शान्त"

१—शब्द रसायन तृ० प्रकाश पृ० ३१

करते है, थोड़ी देर बाद ही धनुष भंग होने के कारण एक ओर उपस्थित राजे महाराजे भयभीत "भयानक" होते हैं और दूसरी ओर रामचन्द्र जी की 'अद्भुत' क्षमता देखकर सबको आश्चर्य होता है, कई अभिमानी राजाओ के हृदय में अपनी असमर्थता के कारण ग्लानि "वीभत्स" उत्पन्न होती है, फिर परशुराम जी आते हैं लक्ष्मण की उनसे झड़प होती है और अन्त में राम सीता का विवाह हो जाता है। इस प्रकार शृंगार रस के कारण अन्य सब रसों की उत्पत्ति हुई और वे फिर सबके सब शृंगार में ही विलीन हो गये।"

विभावो की दृष्टि से भी शृंगार रस सब रसो से श्रेष्ठ रस सिद्ध होता है। शृंगार के आलम्बन नायक और नायिका हैं जो हमारे जीवन के अति निकट हैं। अतः इस रस की स्थायी अनुभूति बड़ी सफलता से की जा सकती है।

उद्दीपन विभाव की दृष्टि से भी अन्य रस शृंगार के सम्मुख गौण प्रतीत होते है। शृंगार के उद्दीपन दैवी और मानुषी प्राकृतिक और अप्राकृतिक, जड़ और जगम सभी हो सकते हैं, किन्तु अन्य रसो के उद्दीपन मानुषी होना वाछनीय है। शृंगार के उद्दीपन प्रत्येक स्थल, प्रत्येक क्षण और प्रत्येक ऋतु मे प्राप्त हो सकते हैं। वस्तुतः उद्दीपनो का बाहुल्य भी शृंगार के रस राजत्व को सिद्ध करता है।

अनुभावो की दृष्टि से भी शृंगार रस सर्वोपरि रस है। जितने अधिक अनुभावो के दर्शन शृंगार रस मे होते हैं उतने अन्य किसी रस में नहीं होते। अनुभावो के साथ हावों का वर्णन तो केवल शृंगार रस मे ही मिलता है। शृंगार रस के द्वारा ही सात्विक भावो का पूर्ण परिष्कार होता है।

सचारी भावों का दृष्टि से भी शृंगार रस महत्त्वपूर्ण है। सबसे अधिक सचारी भाव शृंगार रस में ही प्राप्त होते हैं। रसो मे सचारियो का क्रम इस प्रकार है—

हास्य मे — ३
अद्भुत मे — ४
वीभत्स मे — ५
वीर मे — ६
रौद्र मे — ८
भयानक मे —१०
करुण मे —११
शृंगार मे —२९

अत. स्पष्ट है कि शृंगार मे ही सबसे अधिक सचारी भाव होते हैं। इसके अतिरिक्त शृंगार के सचारी भी मृदुल होते हैं। अतः शृंगार रस का रस राजत्व स्वयं सिद्ध है।

इन बातो के अतिरिक्त शृंगार रस मे एक विशेषता और भी प्राप्त होती है। इसके शत्रु रसो को भी मित्रवत् ग्रहण किया जा सकता है और अन्य रस शृंगार

के अंगी रूप में आ सकते हैं। शृंगार रस के देवता रसराज श्री कृष्ण माने गए हैं। अतः शृंगार रस का रस राजत्व स्वतः सिद्ध है। वेनी प्रवीन ने इसी दृष्टि से शृंगार को रस राजत्व प्रदान किया है। वे लिखते हैं:—

"स्याम वरण व्रजराज पति, भाई है रतिभाव।
ताहि कहत शृंगार हैं, सकल रसन को राज ॥"[1]

शृंगार का वर्ण श्याम है, यही वर्ण आलम्बन कृष्ण का है, मधुर भाव रति-शृंगार का स्थायी भाव है। फिर उसके रस राजत्व में क्या सन्देह है।

शृगार के अनुभाव सुखद और दुखद दोनो प्रकार के होते हैं। मानव को सहानुभूति तथा सहृदयता की अत्यन्त आवश्यकता है। वह शृंगार रस के पात्रो को पूर्ण रूप से प्राप्त हो जाती है। शृंगार का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत तथा व्यापक है क्योंकि इसके सयोग और वियोग दो पक्ष होते हैं और उनका विस्तृत वर्णन इसमें रहता है। जब से साहित्य शास्त्र मे रस को मान्यता मिली तब से लेकर आज तक विद्वानो ने शृंगार को रसराज माना है और भविष्य में भी इसका सम्मान कम न होगा। शृंगार रस अपनी कमनीयता तथा सरसता के कारण ही विद्वानो को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। यही कारण है कि प्राय सभी युग के कवियो ने शृंगार को साहित्य में स्थान दिया। शृंगार परक ग्रन्थो का बाहुल्य भी इस बात का प्रमाण है कि शृंगार रस रसराज है।

हिन्दी के विद्वानो ने ही नही, अपितु सस्कृत के विद्वानो ने भी शृंगार रस के रसराजत्व को स्वीकार किया है। महाराज भोज ने "रस विचार प्रकरण में लिखा है कि अन्य आचार्यो ने अनेको रसो को मान्यता दी है, किन्तु हमारे विचार से एकमात्र रस शृङ्गार ही है, अन्य रस तो केवल नाम के हैं। वे लिखते हैं:—

"शृङ्गार वीर करुनाद्भुतरौद्रहास्य
वीभत्सव्यत्सल भयानकशान्तनाम्नः
आम्नासिषुर्दशरसान्सुधियो वय तु
शृङ्गारमेव रसनाद्रसमाय नामः
वीराद्भुतादिषु च मेह रस प्रसिद्धिः
सिद्धा कुतोऽपि वटपक्षवदाभिवाति
लोके गतानुगतिकत्ववशादुयेता
मेता निवर्तमितुमेष परिश्रमो नः।"[2]

ध्वन्यलोककार ने भी शृङ्गार के रस राजत्व को स्वीकार किया है—

"शृङ्गार रसोहि ससारिणा नियमेन अनुभवविपयत्वात
सर्व रसे यः कमनीयता प्रधानभूत।"[3]

१. नवरसतरग
२.—"ग्रन्य शृङ्गार प्रकाश" प्रथम प्रकाश ६, ७
३. ध्वन्यालोक

वस्तुत. श्रृंगार रस को सभी रसो से ऊंचा स्थान दिया गया है। अन्त मे हम डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी के शब्दो मे कह सकते हैं—"नित नित नूतन होने वाले सौन्दर्य के सुखद एवं मन्द-मन्द परिवर्तनों मे चित्त को लगाये रखना, वियोग में उनकी स्मृति एवं तज्जन्य शोक के नये-नये रूपो में मन को लीन रखना, चित्त में प्रियवस्तु सम्मिलन से उसकी प्राप्ति का सुख धीरे-धीरे आस्वादन करना ही श्रृंगार रस है। इसमें परिवर्तन होते है, परन्तु वे इतने क्रमिक होते हैं कि चित्त तो लगा ही रहता है, साथ ही चित्त में एक अपूर्व प्रसन्नता भी उत्पन्न होती है। श्रृंगार समस्त सुखो का, मूल रसो का राजा, प्रेम-प्रमोद का अधिष्ठाता और प्रीति का प्राण है। इस रस की तीव्रता, विस्तार शक्ति और प्रभावशीलता अन्यान्य सभी रसों से बहुत बढ़ी-चढ़ी है।"[४]

श्रृङ्गार रस का शास्त्रीय निरूपण.—जब रति स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावो के सयोग से पूर्णतया पुष्ट या चमत्कृत होता है तो उसे श्रृङ्गार रस कहते हैं। आचार्यो ने इसका वर्ण श्याम तथा विष्णु इसका देवता माना है—"श्याम वर्ण विष्णुदैवतोऽयं श्रृङ्गार." ।

स्थायी भाव:—रति। प्राय. रति का प्रयोग प्रीति, प्रेम, अनुराग आदि के अर्थ मे होता है। हिन्दी शब्द सागर मे इसका अर्थ इस प्रकार दिया गया है—रति, सज्ञा, स्त्रीलिंग, प्रीति, प्रेम, अनुराग, मोहब्बत।

सुधा सागरकार के अनुसार "स्त्री-पुरुष के काम वासनामय हृदय की परस्पर रमणेच्छा का नाम रति है।" देखिये—

"स्मरकरम्बिततान्तः करणयोः स्त्रीपुंसयो.
परस्पररिरसा रति स्मृता ।।"

साहित्यदर्पणकार मे रति को निम्नलिखित शब्दो मे व्यक्त किया गया—

"रतिर्मनोनकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्" अर्थात् मनोनुकूल वस्तु के प्रति प्रमाद होने को रति कहते हैं।"

रस गंगाधर के मत से स्त्री पुरुष को एक दूसरे के विषय में जो प्रेम नामक चित्तवृत्ति होती है उसे रति" कहते है।"

श्री पद्माकर जी ने रति का लक्षण इस प्रकार किया है—

"सुप्रिय चाह से होत जो सुमन अपूरव प्रीति,
ताही को रति कहत हैं, रस ग्रन्थन की रीति।[५]

महाकवि देव रति का लक्षण देते हुए लिखते हैं—

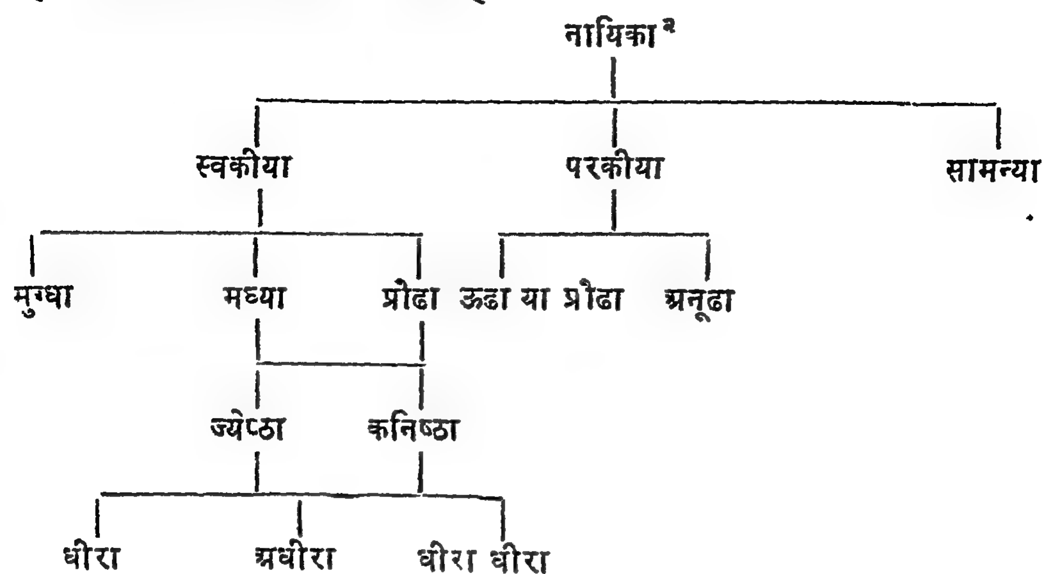
"नेक जो प्रियजन देखके, आव-भाव चित्त होय।
तो तासो रति भाव है, कहति सुकवि सब कोय।।"

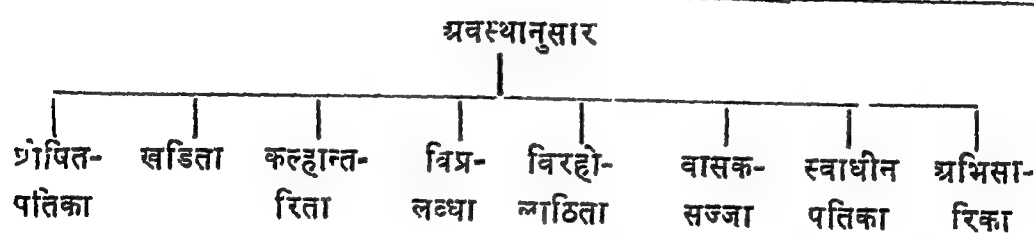
---

४. "रीतिकालीन कविता एवं श्रृङ्गार रस का विवेचन"

५. जगद्विनोद छन्द से ५, ६

आलम्बन विभाव:—शृङ्गार रस के आलम्बन नायक नायिका हैं। हमारे यहाँ नायिकाओ के अनेक भेद मिलते हैं—





स्वकीया नायिका शील, लज्जा आदि से मुक्त होती है। वह सचरित्र, पवित्रता, अकुटिल लज्जायुक्त तथा पति के प्रति व्यवहार मे बडी निपुण होती है। यह मुग्धा, मध्या और प्रौढा तीन प्रकार की होती है। मुग्धा नायिका अवस्था तथा कामवासना दोनो मे नई होती है। रति से वह वाम रहती है तथा नायक से मानादि मे क्रोध करने में भी कोमल रहती है। मध्या मे यौवन कामवासना प्राप्त हो चुकी होती है। वह यौवन और कामवासना दोनो मे पूर्ण होती है तथा सुरत क्रीड़ा को वह मोह के अन्त तक सहन कर सकती है। प्रौढा नायिका मे यौवन का इतना प्रवाह रहता है कि वह अन्धी सी रहती है। काम सम्बन्धी भाव भी उसमे अधिक रहते हैं। वह लज्जारहित होती है। मध्या और प्रौढा नायिकाओ के ज्येष्ठा और कनिष्ठा दो भेद होते है। ज्येष्ठा पर पति का प्रेम अधिक होता है और कनिष्ठा पर कम होता है। मध्या ज्येष्ठा और कनिष्ठा तथा प्रौढा ज्येष्ठा और कनिष्ठा के तीन-तीन भेद हैं—धीरा, अधीरा और धीरा धीरा। नायक के अपराध करने पर धीरा मध्या तानें सुनाकर उसका हृदय दुखाती है। अधीरा नायिका रोती भी है तथा धीरा धीरा मध्या भी रोती है और नायक को कटु वचन भी कहती है। प्रौढ़ा धीरा नायिका अन्यासक्त नायक का ऊपर से तो सम्मान करती है, किन्तु अन्दर क्रोधित रहती है।

२. रसतरंगिणी के अनुसार

अधीरा प्रौढा ऐसे नायक को ऊपर से चेतावनी दिये बिना नही रह सकती। धीरा-धीरा से उसे अपमानित तथा लांछित करती है।

नायिका का दूसरा भेद अन्य स्त्री (परकीया) होता है। परकीया के दो भेद हैं—ऊढा और अनूढा। ऊढा किसी की अविवाहित पुत्री होती है। अनूढा दूसरे की परिणीता स्त्री को कहते है।

तीसरी श्रेणी की नायिका साधारण स्त्री होती है, यह गणिका होती है, जो कलाचतुर, प्रगल्भा तथा धूर्त होती है।

अवस्था भेद से नायिकाएँ आठ तरह की होती हैं :—

(१) प्रोषित पतिका—जिस नायिका का प्रिय किसी कार्य से दूर देश मे स्थित होता है वह प्रोषित प्रिया कहलाती है।

(२) खण्डिता—जब नायिका को किसी दूसरी स्त्री से सम्भोग करने का नायक का अपराध पता चल जाये, तथा इस अपराध के कारण वह ईर्ष्या से कलुषित हो उठे तो वह खण्डिता कहलाती है।

(३) कलहान्तरिता—कलहान्तरिता नायिका वह है, जो नायक के अपराध करने पर क्रोध से उसका तिरस्कार करती है, बाद मे अपने व्यवहार के विषय में पश्चात्ताप करती है।

(४) विप्रलब्धा—प्रिय के सहेट स्थल पर उपस्थित न होने पर जो नायिका अपने आपको अत्यधिक अपमानित समझती है, वह विप्रलब्धा कहलाती है।

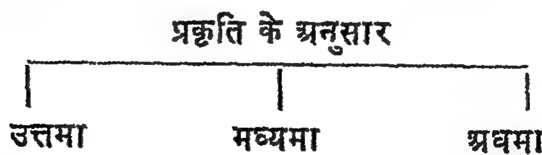
(५) विरहोत्कंठिता—प्रिय के अपराधी न होने पर भी देर करने पर जो नायिका उत्कण्ठित मन से उसकी प्रतीक्षा करती है वह विरहोत्कण्ठिता होती है।

(६) वासक सज्जा—वासक सज्जा वह नायिका है जो प्रिय के आने के समय हर्ष से अपने आपको सजाती है।

(७) स्वाधीन पतिका—जिस नायिका का प्रिय समीप मे रहता है तथा उसके आधीन होता है, तथा जो नायक की समीपता के कारण प्रसन्न रहती है स्वाधीन पतिका कहलाती है।

(८) अभिसारिका—जो नायिका काम पीड़ित होकर या तो स्वय नायक के पास अभिसरण करे, या नायक को अपने पास बुलावे, वह अभिसारिका कहलाती है।

प्रकृति के अनुसार नायिकाओ के तीन भेद किये हैं :—



उत्तमा—दूसरी नायिका मे अनुरक्त होने पर भी नायक का कल्याण चाहने वाली उत्तमा नायिका कहलाती है।

मध्यमा—नायक के व्यवहार या प्रेम के अनुकूल जो उसका हित तथा अहित चाहती है। उसे मध्यमा नायिका कहते हैं।

अधमा—हितकारी का अहित चाहने वाली नायिका अधमा होती है।

स्वभाव के अनुसार नायिका के तीन भेद किये गये हैं :—

स्वभावानुसार

अन्य सयोग दु खिता | वक्रोक्ति गर्विता | मानवती

अन्य सम्भोग दुःखिता—नायक को किसी अन्य स्त्री मे अनुरक्त देखकर दुखी होने वाली नायिका अन्य सम्भोग दु.खिता होती है।

वक्रोक्तिगर्विता—नायक के प्रेम तथा रूप पर गर्व करने वाली नायिका वक्रोक्तिगर्विता होती है।

मानवती—दूसरी स्त्री से प्रेम करने वाले नायक के प्रति रुष्ट रहन वाली नायिका मानवती कहलाती है।

अवस्थानुसार मुग्धा नायिका के भेद

ज्ञात यौवना | अज्ञात यौवना | नवोढा | विश्रब्ध नवोढा

क्रियानुसार प्रौढा नायिका के भेद

रतिप्रिया | आनन्द सम्मोहिता

क्रियानुसार परकीया नायिका के भेद

गुप्ता | विदग्धा | लक्षिता | अनुशयना | कुलटा | मुदिता

गुप्ता—जो नायिका अपने प्रेम को प्रकट न होने दे।

विदग्धा—जो कौशल से नायक को सकेत करती है।

लक्षिता—जिसका प्रेम सखियों की दृष्टि मे प्रकाशित हो गया हो।

कुलटा—जो अनेक पुरुषो से प्रेम करती हो।

मुदिता—जो मनोनुकूल बातो पर मुग्ध होती है।

अनुशयाना नायिका के भेद

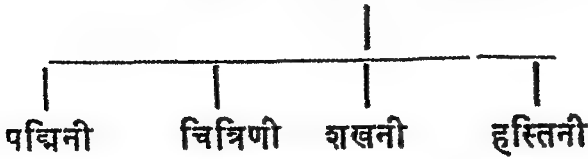
सकेत विघटना | भावीसकेत विघटना | रमणगता

संकेत विघटना—सहेट स्थल के समाप्त हो जाने पर क्षुब्ध होने वाली।

भावीसंकेत विघटना—भावी स्थान के सम्बन्ध में चिन्तित रहने वाली।

रमणगता—कारणवश संकेत स्थल पर न पहुँच सकने वाली।

जाति के अनुसार नायिकाओं के भेद



पद्मिनी चित्रिणी शखनी हस्तिनी

पद्मिनी नायिका का लक्षण रति रहस्य मे इस प्रकार मिलता है:—

"भवति कमल नेत्रा नासिका क्षुद्र रन्ध्रा
अविरल कुच युग्मा दीर्घ केशी कृशाङ्गी
मृदु वचन सुशीला नृत्य गीतानुरन्ता
सकल सुतनुवेशा पद्मिनी पद्मगंधा ॥"

अर्थात् पद्मिनी नारी पद्मगंध वाली, कमल के समान नेत्र वाली तथा क्षुद्र नासिका रन्ध्र वाली होती है। उसके दोनो कुच अविरल, केश लम्बे तथा दुर्बल शरीर वाली होती है वह सुशील तथा कोमल वचन वाली होती है। नृत्य-गीत से प्रेम रखने वाली तथा सुडौल शरीर की होती है।

काम शास्त्र में पद्मिनी नारी का वर्णन इस प्रकार मिलता है :—

"पद्मिनी नारी कमनीय वदन वाली नवनीत या कमल दल के समान कोमल होती है। इसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर नेत्र हरिणी के शावक के समान चपल होते हैं। इसके शरीर से पद्मराग की गन्ध आती है। नेत्रों के दोनों कोर लाल रँग से रंजित रहते हैं। विल्वफल के समान सुन्दर, मनोहर तथा उन्नत कुच होते हैं। तिल के पुष्प के सदृश नासिका मृदु और सुघर होती है। वह धार्मिक बातों में रुचि रखती है। उसका शरीर चम्पा के समान गौर वर्ण होता है। राजहंसिनी के समान इसकी गति होती है। हंसिनी के सदृश मधुर-वाणी बोलती है। यह लज्जाशीला और मानिनी भी होती है। पति का आदर करती है और लक्ष्मी रूपा होती है।"

पद्मिनी के पश्चात् चित्रणी नारी श्रेष्ठ मानी गई है। वह चंचल नेत्रों वाली, गज की गति वाली तन्वंगी तथा शिल्प-सगीत का ज्ञान रखने वाली होती है। वह न तो लम्बी होती है न छोटी। उसकी कमर पतली होती है। मयूर के समान उसकी वाणी होती है। कुच पीन तथा बिम्ब फल के समान अधर होते हैं। शृंगार की ओर प्रवृत्ति अधिक रहती है और प्रणय-क्रियाओं में अनुरक्त रहती है।

पद्मिनी और चित्रणी से शखिनी हेय होती है। वह या तो पतली होती है या मोटी होती है। उसकी भुजाएँ लम्बी, सिर छोटा, पैर बड़े होते हैं। छोटे कुच होते हैं। लाल वस्त्रो की अनुरागिनी होती है। कठोर वचन वाली तथा ऊँची नाक वाली होती है तथा व्यभिचारिणी होती है।

सबसे निकृष्ट नायिका हस्तिनी मानी जाती है। इसकी गति बेढंगी तथा पैरो की उंगलियाँ मोटी-मोटी होती हैं। हाथी के मद के समान उसके शरीर से दुर्गन्ध आती है अधर चचल तथा मोटे होते हैं। आँखे पीली होती हैं। यह नायिका विलासी तथा व्यभिचारिणी होती है।

नायिकाओं के इन प्रकारों के साथ केशवदास ने इनकी संख्या ३६० मानी है—

"केशव दास सुतीन विधि, बरणी सुकिया नारि।
परकीया द्वै भांति पुनि, आठ आठ अनुहारि॥
उत्तम मध्यम अरत, तीन तीन विधि जानि।
प्रकट तीन सो साठ जिय, केशवदास बखानि॥"[1]

नायिकाओ के सम्बन्ध में नायक तीन प्रकार के होते हैं—पति, उपपति वैशेषिक पति चार प्रकार के होते हैं :—

अनुकूल—जो नायक एक ही नायिका के प्रति आसक्त रहता है (स्वप्न में भी दूसरी नायिका के प्रेम की बात नही सोचता) वह अनुकूल नायक है।

दक्षिण—दक्षिण नायक वह है जो नवीन नायिका से प्रेम हो जाने पर भी पूर्वा नायिका के प्रति अपने व्यवहार मे कमी नही आने देता तथा उसे इस बात का अनुभव नही होने देता कि वह उससे कुछ उदासीन हो गया है। सक्षेप में वह पूर्वा नायिका के प्रति सहृदय होता है, ज्येष्ठा नायिका के प्रति भी हृदय से व्यवहार करता है।

शठ—शठ नायक वह है जो ज्येष्ठा नायिका का अहित तो करता है किन्तु उससे छिपकर करता है। नवीन नायिका से शृगार चेष्टाएँ वह अपनी पहली नायिका से छिपकर करता है।

धृष्ट—धृष्ट नायक इतना ढीठ होता है कि वह अङ्ग विकार युक्त होकर भी सामने जाने से नही डरता।

उद्दीपन विभाव—शृंगार के उद्दीपन मानुषी एवं प्राकृत दोनों ही प्रकार के होते हैं।

यथा—सखा, सखी, दूती, मानुषी तथा ऋतु, वन, उपवन, केलि, कुंज, तडाग, एकान्त स्थान, पवन, चन्द्र, चांदनी, भ्रमर कोकिल, गान, वाद्य आदि।

नायक के मित्र चार प्रकार के होते है—पठिभर्द, विट, चेट, विदूषक। दूती के भी चार प्रकार माने गये हैं—उत्तमा, मध्यमा, अधमा, और स्वय दूतिका।

अनुभाव—नायक नायिका की कामिक, वाचिक तथा मानसिक चेष्टाएँ शृंगार रस के अनुभाव होते हैं। जैसे—आँख, भौंह, हाथ आदि शरीर आदि के द्वारा की गई चेष्टाएं पारस्परिक अवलोकन, स्वेद, रोमाच आदि। शृगार रस में प्रायः

१—'रसिक पिया ७ वाँ प्रकाश छं० सं० ३७, ३८"

सभी प्रकार के अनुभावो का समावेश हो जाता है। स्त्रियों के २८ अलंकार भी श्रृंगार रस के अनुभाव के अन्तर्गत आ जायेंगे।

संचारी भाव—उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा इन चार संचारी भावो को छोड़कर शेष २६ संचारी भाव श्रृंगार रस के अन्तर्गत आ जाते हैं। देव ने तो सम्पूर्ण तैंतीस सचारी को श्रृंगार रस मे माना है। देखिए :—

"वैरागिनी किधौं, अनुरागिनी सुहागिनी तू
देव बड़भागिनी लभति और लरति क्यों
सोवति जागति अन्माति हरषाति अनखाति
बलखाति दुख मानति डरति क्यो
चौंकति चकति उचकत और बकति
विथकति और थकति ध्यान धीरज धरती क्यो
मोहति मुरति सतराति इतराति साह
चरज सराहो आहचरज मरती क्यो।[1]

इसका स्पष्टीकरण करते हुए देव कवि लिखते हैं :—

"वैरागिनी "निर्वेद" "उत्कंठता" है अनुरागिनी
"गर्व" सुहागिनी जानि माग 'महते'" बड़भागिनी
"लज्जा" लज्जति "अमर्ष" लरति सोवति "निद्रा" लहि
"बोध" जगति "आलस्य" "अलस हर्षति" "सुहर्ष" गहि
अनखाति "असूया" "ग्लानि" "श्रम" विलख दुखित "दीनता"
संकहि डराति, "चौंकति" त्रसति "चकित" अपस्मति "लीनता"
उचकि "चपल" "आवेग" "व्याधि" सो बिलकिसु पीरति
"जड़ता" थकिन "सुध्यान" "चित" "सुमिरन" "धर" "धीरति"
"मोहि-मोहि" "अवहित्थ" "मुरति संसराति" "उग्र" गति
इतरैबो 'उन्माद" साह चरकैं सराह "मति"
अस आहचरज वहु "तर्क" "करि" मरनै तुल्य मूरछि परति
कहि देव-देव तैंतीस हूँ संचारिन तिय सचरति,

श्रृंगार रस के भेद—श्रृंगार रस के दो भेद माने गये हैं—(१) संयोग या संभोग श्रृंगार (२) वियोग या विप्रलम्भ श्रृंगार।

(१) सयोग या संभोग श्रृंगार—"पारस्परिक प्रेम के वशीभूत होकर जब नायक नायिका एक दूसरे के दर्शन, मिलन स्पर्श और आलाप आदि में सलग्न होते हैं, उस अवस्था को संयोग श्रृंगार कहते हैं।"

काव्य प्रकाश मे सयोग श्रृंगार के सम्बन्ध में लिखा हुआ है :—

१—शब्द रसायन

तत्र श्रृंगारस्य द्वौ भेदौ, सभोगो विप्रलम्भश्च
तत्राद्यः परस्परावलोकनालिगनाधर पानि परि चुम्बनाद्यनन्तत्वाद
परिक्षेद्य एक एव गणप्तते ।

अर्थात् (१) नायक नायिका का परस्पर अवलोकन (२) आलिंगन (३) सर्वांग चुम्बन इत्यादि (४) फूल चुनना (५) जल-क्रीडा (६) सूर्यास्त (७) चन्द्रोदय (८) छओ ऋतुओं का वर्णन आदि सयोग श्रृंगार मे रहते है ।

साहित्य दर्पण मे सयोग श्रृंगार का लक्षण इस प्रकार मिलता है :—

"दर्शन स्पशनादीमि निपेकेते विलासिनौ ।
यत्रानुरन्ता वन्योन्य सम्भोगो अमयुदाहृत ॥
संख्यातुम शव-मतयाचुस्त्र न परिम्मणादि वहु भेदात् ।
अममेव एव धीरे कथितः सभोग श्रृंगार ।

अर्थात् एक दूसरे मे अनुरक्त नायक नायिका जहाँ पारस्परिक अवलोकन, स्पर्श आदि करते है उसे सभोग श्रृंगार की सज्ञा दी जायेगी । चुम्बन, आलिगन आदि उसके अनन्त भेदो की गणना सम्भव नही । अतः सभोग श्रृंगार नामक एक ही भेद मानेंगे ।

संयोग श्रृगार के वर्णन के अन्तर्गत वन, उपवन, सदन, एकान्त स्थान, सखी, ऋतु वर्णन, स्नान आदि भी आ जाते हैं ।

पद्माकर जी का संयोग श्रृंगार का एक उदाहरण देखिए :—

"सावनी तीज सुहावनी कौं सजि सूहै दुवस सवै सुख साधा ।
त्यो "पद्माकर" देखै वने, न वनै कहते अनुराग अवाधा ॥
प्रेम के हेम हिंडोरन मे, सरसै बरसै रस रंग अगाधा ।
राधिका के हिय भूलत सावरो सावरे के हिय भूलत राधा ॥

देव कवि ने भी सयोग के चित्र उपस्थित किये हैं :—

आपुस मे रस मे रहसै विहसै वनि राधिका कुंज विहारी ।
श्यामा सराहति श्याम की पागहि श्याम सराहत श्यामा की सारी ॥
एकहि दर्पन देखि कहै तिय नीके लगो पिय प्यो कहे प्यारी ।
"देव" सुवालम वाल को वाद विलोकि भई वलि मे वलिहारी ॥

संयोग और श्रृगार के अन्तर्गत नायक-नायिका के सौन्दर्य का वर्णन भी रहता है । नायक की अपेक्षा नायिका के सौन्दर्यांकन मे कवियो की विशेष रुचि रही है । ज्योतिपशास्त्र तथा कामशास्त्र के अनुसार नायिका मे वत्तीस लक्षण आवश्यक माने गये हैं । वे इम प्रकार हैं † —(१) नख—लाल रंग, (२) पादपृष्ठ—कछुए की पीठ से, (३) गुल्फ—गोलाकार, (४) पैर की उँगली—लम्वी, (५) तलवा—रक्तवर्ण, (६) गोल, चढाव-उतारदार, (७) जानु—सुडौल, (८) उरू—अविरल,

† शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त से ।

(९) भग—पीपल पत्र जैसा, (१०) भग का मध्य भाग गुप्त, (११) पेडू कूर्म पृष्ठवत्, (१२) नितम्ब मांसल, (१३) नाभि—गहरी, (१४) पेट त्रिवुली युक्त, (१५) स्तन—गोल और कठोर, (१६) पेट मदु—लोमरहित, (१७) गर्दन—कम्बुवत्, (१८) अधर—लाल, (१९) दाँत—कुन्दवत्, (२०) वाणी—मधुर, (२१) नासिका—सीधी, (२२) नेत्र—कजवत्, (२३) भौंह—धनुपवत्, (२४) ललाट—अर्धचन्द्रवत्, (२५) कान—कोमल, (२६) नीले लम्बे कोमल, (२७) शीश—सुडौल, (२८) कलाई—गोल कोमल, (२९) बाँह—सुडौल, (३०) मणिवन्ध—नीचे को दवा हुआ, (३१) हथेली—रक्तवर्ण, (३२) हाथ की उँगली—पतली सुडौल। सामुद्रिक शास्त्र के ३२ लक्षण इनसे भिन्न हैं। उनके नाम इस प्रकार है :—(१) छाता, (२) कमल, (३) धनुप, (४) रथ, (५) वज्र, (६) कछुआ, (७) अकुश, (८) वावली, (९) स्वस्तिक, (१०) तोरण, (११) बाण, (१२) सिंह, (१३) चक्र, (१४) शख, (१५) हाथी, (१६) समुद्र, (१७) कलश, (१८) मन्दिर, (१९) मछली, (२०) यव, (२१) अवा, (२२) स्तूप, (२३) कमण्डल, (२४) पर्वत, (२५) पर्वत, (२६) चमर, (२७) दर्पण, (२८) वृष, (२९) पताका, (३०) लक्ष्मी, (३१) पुष्पमाला, (३२) मोर।

साहित्यशास्त्र मे नायिका के वत्तीस लक्षण के अतिरिक्त अट्ठाईस अलंकार भी माने गये है। इनमें तीन शारीरिक अलकार हैं, सात अयत्नज अलकार है, अट्ठारह स्वभावज होते हैं।

शरीरज :—भाव, हाव, हेला—ये तीन शारीरिक अलंकार है।

भाव :—शुद्ध हृदय मे जब विकार का सर्वप्रथम स्फुरण हो तो उसे भाव कहते है।

हाव :—नायिका में वात चीत कम करने की अवस्था का होना तथा शृंगार का होना "हाव" कहलाता है। यह "हाव" आँख, भौहें आदि मे विकार उत्पन्न करता है।

हेला :—यही भाव जब शृंगार रस को स्पष्टरूप से व्यक्त करने लगे तो हेला नामक शरीरज अलकार होता है। "हेला" मे नायिका के विकार स्पष्टरूप में रहते है जो शृगार चेष्टा के प्रतीक होते हैं।

अयत्नज :—ये सात होते हैं—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगलभता, औदार्य, धैर्य।

१—शोभा :—रूप, विलास तथा यौवन के कारण उद्भूत नायिका का अंग-सौन्दर्य शोभा कहलाता है।

२—कान्ति :—जब काम के उद्रेक से उसकी कान्ति दुगणित हो जाती तो वही शोभा कान्ति नामक अलंकार हो जाती है।

३—माधुर्य :—नायिका मे लावण्य तथा रमणीयता का होना माधुर्य भाव कहलाता है।

४—दीप्ति :—कान्ति का विशेष रूप से पाया जाना दीप्ति नामक भाव कहलाता है।

५—प्रागल्भ्य :—मन के क्षोभादि का न पाया जाना प्रागल्भ नामक भाव होता है।

६—औदार्य :—सदा प्रेम मे पगा रहना, नायक के प्रति अनुकूल रहना औदार्य कहलाता है।

७—धैर्य :—चचलता से रहित आत्मश्लाघा मे दूर वृत्ति को धैर्य भाव कहेंगे।

स्वभावज :—ये अठारह होते है :—

१. लीला :—प्रेमाधिक्य से प्रिय की वेश भूषा प्रेमालाप का शृंगारिक अनुकरण करना।

२. विलास :—प्रियतम के दर्शन के समय नायिका की अंगचेष्टाओं तथा वाणी मे जो विशेष प्रकार का विलास आ जाता है उसे विलास कहते है।

३. विच्छित्ति :—थोडी सी वेश भूषा या शृंगार जहाँ कान्ति को बढाती है उसे विच्छित्ति भाव कहते है।

४. विभ्रम :—शीघ्रता मे आभूषणो का उलट-पलट पहन लेना विभ्रम कहलाता है।

५. किलकिञ्चित :—जब नायिका मे एक साथ क्रोध, अश्रु, हर्ष तथा भय का एक साथ संचार होता है तब यह भाव होता है।

६. मोट्टायित :—प्रिय की कथा का मनन या श्रवण करते समय उसके भाव से प्रभावित होकर एकतान हो जाना मोट्टायित कहलाता है।

७. कुट्टमित :—रति क्रीडा मे नायक द्वारा केश, अधर आदि का स्पर्श करने पर हृदय मे प्रसन्न होकर ऊपर से क्रोध प्रकट करे तो यह भाव होता है।

८. विव्वोक भाव :—अपने गर्व तथा अभिमान में जब नायिका इष्ट वस्तु की उपेक्षा करती है तब यह भाव होता है।

९. ललित :—कोमल तथा सुन्दर प्रकार से अगो की सजावट ललित भाव कहलाता है।

१०. विहृत :—लज्जा के कारण जब नायिका तदनुकूल वाक्य का प्रयोग नही कर पाती।

११. मद :—यौवनाजनित गर्व।

१२. तपन :—जिससे निकट होकर काम-ताप को सहना।

१३. मौग्ध्य :—परिचित बात के सम्बन्ध मे बन कर पूछना।

१४ विक्षेप :—प्रियतम के प्यार से हर्षित होकर चारो ओर देखना तथा रहस्यमय वार्तालाप करना।

१५. कुतूहल :—आकृष्ट करने वाले व्यक्ति को देखने की उत्सुकता।

१६. हसित :—यौवन के कारण अकारण हँसना।

१७. चकित :—अकारण प्रियतम के सम्मुख डरना।

१८. केलि .—रति-क्रीडा।

इनके अतिरिक्त नायिका के सोलह श्रृंगार और माने गये हैं :—

उवटन, वस्त्र, माथे पर बिन्दी, चोटी, कान में कुण्डल, नाक मे नथ, हार, केसर लगाना, अँगिया, पान, कमर में तगडी, हाथ मे चूडी तथा रत्न जटित आभूषण आदि।

(२) वियोग श्रृंगार :—"जब अनुराग के उत्कट होने पर भी प्रिय संयोग का अभाव रहता है उस अवस्था को विप्रलम्भ अथवा वियोग श्रृंगार कहते हैं।"

साहित्य दर्पण मे विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन इस प्रकार मिलता है :—

"यत्तुरति प्रकृष्टानाभाष्टि मुपैति विप्रलम्भोसौ" अर्थात् उत्कट अनुराग होने पर भी जहाँ प्रिय का समागम प्राप्त नही होता उसे विप्रलम्भ शृंगार कहते है।

इस सम्बन्ध मे सेनापति का निम्नलिखित कवित्त दृष्टव्य है —

"नीके हो निठुर कन्त, मन लै पधारे अन्त
मैन मयमंत, कैसे वासर बाराह हौं,
आसरो अवधि को सो अवध्यो वितीत भई
दिन दिन पीत भई, रही मुरझाइ हौ।
सेनापति प्रानपति साँची ही कहत, एक
पाइ के निहारे पाइ प्रानन को पाइ हौं।
इकली डरी हौ, धनु देखि के डरी हौ खाइ
विस की डरी हौ, घनश्याम मरि जा रहौ॥"

विप्रलम्भ श्रृंगार के चार भेद माने गये हैं :—

(१) पूर्वानुराग, (२) मान, (३) प्रवास (४) करुण

(१) पूर्वानुराग : —पूर्वानुराग के सम्बन्ध मे पद्माकर जी का निम्नलिखित कवित्त-दर्शनीय है :—

मधुर मधुर मुख मुरली वजाय धुनि,
धमक धमारन की धाम धाम के गयो,
कहै "पदमाकर" त्यौ अगर अबीरन की,
करि कै चला चली छला छली चितै गयो,
को है वह ग्वालिनी गुवालन के सग माँहि
छैल छवि वारो रस रग मे भिजै गयो,
व्वैगयो सनेह फिर छवै गयो छरा को छोर॥"[1]

वस्तुत : प्रथम दर्शन मे नायक तथा नायिका का प्रेम हो जाने पर जब कारणवश मिलन सम्भव नही होता तो उसके हृदय मे जो प्रेम की व्याकुलता होती है। उसे पूर्वानुराग कहते हैं।

१—जगद्विनोद

यह दर्शन या तो स्वप्न मे होता है, या प्रत्यक्ष मे, या चित्र में होता है। या एक दूसरे के सम्बन्ध मे चर्चा सुनकर भी हो सकता है।

साहित्य दर्पणकार ने पूर्वानुराग के तीन भेद माने हैं :—(१) नीली राग (२) मञ्जिष्ठा राग (३) कुसुम्भ राग।

१–नीली राग —जिसमे कृत्रिमता तो लेशमात्र भी न हो किन्तु प्रेम की कमी न हो।

२–मञ्जिष्ठा राग :—जिसमें साज-सज्ज के साथ प्रेम भी हो।

३–कुसुम्भ राग :—जिसमे तड़क-भड़क भी कम हो और शीघ्र ही दूर हो जाय।

(२) मान :—प्रिय के अपराध पर जब प्रेम युक्त कोप किया जाता है तब उसे मान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) प्रणय मान (२) ईर्ष्यामान।

(१) प्रणयमान —नायक नायिका में पूर्ण प्रेम होने पर भी जब कोप किया जाता है तो वह प्रणयमान कहलाता है। इस मान के द्वारा प्रेम की वृद्धि होती है। इसलिए कभी-कभी यह अकारण भी होता है।

(२) ईर्ष्यामान :—अन्यासक्त नायक पर जब ईर्ष्या से कोप किया जाता है तो उसे ईर्ष्यामान कहते हैं। यह मान स्त्रियो मे विशेष रूप से होता है।

पर स्त्री मे अनुरक्त होने का आभास तीन प्रकार से होता है :—

(१) पर स्त्री के सम्बन्ध में नायक का स्वप्न मे कुछ कहने से (२) नायक के शरीर पर रति चिन्ह आदि से। (३) नायक के मुख से अकस्मात् पर स्त्री का नाम निकल जाने पर।

ईर्ष्यामान के तीन प्रकार हैं—

(१) लघुमान (२) मध्यम मान (३) गुरुमान। गुरुमान पैर छूने पर भंग होता है।

(३) प्रवास :—प्रियतम के विदेश चले जाने को प्रवास कहते है।

प्रवास के तीन कारण होते हैं—(१) कार्यवश (२) शापवश (३) भ्रमवश।

(४) करुणात्मक वियोग शृँगार :—जब किसी कारण से नायक-नायिका की परस्पर मिलन की आशा टूट जाती है तब करुणात्मक वियोग होता है। सीता वनवास के पश्चात् रामचन्द्र जी का विलाप करुणात्मक वियोग का सुन्दरतम निदर्शक है :—

"हा हा प्यारी फटत हृदय यह जगत शून्य दरसावे
तन बन्धन सब भामे शिथिल से अन्तर ज्वाल जरावे,
तो बिनु जनु डूबत जिय तव मे छिन छिन धीरज छीजै।
मोहि चित्त भज छोर राम एह मन्द भाग्य का कीजै।"

वस्तुतः विप्रलम्भ शृँगार पाँच कारणों से होता है :—(१) अभिलाषा

हेतुक, (२) ईर्ष्या हेतुक, (३) विरह हेतुक, (४) प्रवास हेतुक, (५) शाप हेतुक।

साहित्य दर्पण में प्रिय वियोग जनित एकादश दशाओं का उल्लेख किया गया है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) अङ्गो मे असौष्ठव (२) सन्ताप (३) पाडुता (४) दुर्बलता (५) अरुचि (६) अधीरता (७) अस्थिरता (८) तन्मयता (९) उन्माद (१०) मूर्च्छा (११) मरण।

वियोग जनित दस दशाएँ :—हिन्दी कवियो ने वियोग की दस दशाओ का वर्णन किया है। वे इस प्रकार हैं :—

(१) अभिलाषा :—वियोगावस्था मे पारस्परिक मिलन की इच्छा को अभिलाषा कहते हैं। प्रायः पूर्वानुराग मे यह अवस्था रहती है।

(२) चिन्ता :—अकल्याणकारी विचार या प्रिय वस्तु के ध्यान को चिन्ता कहते हैं।

(३) स्मरण :—वियोगावस्था मे सयोग शृँगार की पूर्वानुभूत संचित स्मृतियो को याद करने को "स्मरण" कहते हैं।

(४) गुण कथन :—वियोगावस्था मे प्रियतम का गुणानुवाद करना "गुण कथन" कहलाता है।

(५) उद्वेग :—प्रियतम के विरह से व्यथित होकर किसी कार्य मे चित्त न लगने को उद्वेग कहते हैं।

(६) प्रलाप :—विरह से अत्यन्त पीडित होकर प्रिय की अनुपस्थिति को उपस्थित मानकर जो वार्तालाप या चेष्टा की जाती है उसे प्रलाप कहते हैं।

(७) उन्माद :—वियोग से अत्यधिक व्यथित होकर बुद्धि के भ्रमित हो जाने से विरही द्वारा व्यर्थ व्यापार करने, जड चेतन विवेक रहित होने और व्यर्थ हास तथा रुदन आदि को "उन्माद" की सज्ञा दी गई है।

(८) जड़ता :—अत्यधिक वियोग से जब शरीर स्तब्ध हो जाता है तब उसे जड़ता कहते हैं। इसमे विरही को अपनी सुध-बुध नही रहती।

(९) व्याधि :—वियोग के सन्ताप से शरीर का रोग ग्रस्त, पांडु तथा कृश होने को व्याधि कहते हैं।

(१०) शरीर-त्याग का नाम मरण है। परन्तु साहित्य मे वियोग जनित दुःखातिरेक के कारण नैराश्य की पराकाष्ठा को "मरण" की सज्ञा दी गई है। इसलिए साहित्य में मरण का स्पष्ट वर्णन न होकर मूर्च्छा का उल्लेख किया जाता है या मृतक व्यक्ति के सुयश, वीरता आदि गुणो का वर्णन रहता है।

विप्रलम्भ शृँगार का महत्व :—व्यापकता एव प्रभाव की दृष्टि से विप्रलम्भ शृँगार का महत्व भी कम नही है। कवियो की चित्तवृत्ति भी विप्रलम्भ शृँगार मे अधिक रमी है। साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ विप्रलम्भ शृँगार के महत्व को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं :—

"न विना विप्रलम्भेन संयोग' पुष्टि मश्नुते
कषामिते हि वस्त्रादौ मयानरागो विवर्धतः ॥"

अर्थात् वियोग शृंगार से विरहित होकर सयोग शृंगार का पुष्ट होना सम्भव नही। काषायित वस्त्र पर ही रग अच्छा चढता है। प्रखर अशुमाली की तीक्षण किरणो से सन्तप्त होकर ही वृक्ष की शीतल छाया का वास्तविक अनुभव हो पाता है।

सूरदास जी ने भ्रमरगीत मे विरहिणी व्रजवालाओ से इसी वात को कहलाया है। देखिए :—

"ऊधौ विरहौ प्रेम करै '
ज्यो विनु पुट पर गहै न रगहि, पुट गहि रसहि परै।
जो भावो घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै ॥"

वास्तव मे शृंगार रस का पूर्ण परिपाक एव प्रस्फुटन विरह मे ही होता है। जिस प्रकार काँटो के वीच मे कलिका प्रस्फुटित होती है, उसी प्रकार विरह शूलो की वेदना सहते-सहते प्रेम अपने मनोरम तथा पूर्ण रूप मे विकसित होता है। प्रेम मे जो उन्माद व्याकुलता और तडफन है, उसका अनुभव कर लेने के पश्चात् ही संयोग की घटना अत्यधिक स्वाभाविक एवं सुखद प्रतीत होती है। विरहावस्था मे मानसिक मिलन की प्रधानता रहती है। मिलन की इच्छा ज्यो ज्यो तीव्र होती जाती है, त्यो त्यो प्रेम का आधिक्य वढता जाता है। प्रेम सागर मे अवगाहन करने के लिए विरह की नौका अपेक्षित है। विरह को प्रेम का तप्त स्वर्ण माना गया है। क्योकि प्रेम की मलिनता वेदना की अग्नि मे भस्म हो जाती है। इसीलिए एक अंग्रेज कवि ने लिखा है—"Love is loveliest when embalmed in tears" इस उक्ति की सार्थकता इस तथ्य से भी प्रमाणित होती है कि प्रत्येक साहित्य के कवियो ने सयोग से अधिक विरह का ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। उन्होने मानव हृदय की सामान्य भाव-भूमि पर विरह की ऐसी मन्दाकिनी प्रवाहित की है जिसकी धारा मे अवगाहन करने से हृदय का सम्पूर्ण कलुप वह जाता है। विरह की इस धारा को—कालिदास ने शकुन्तला के रूप मे, भवभूति ने सीता के रूप, में जायसी ने नागमती के रूप मे तथा सूर ने राधा के रूप मे प्रवाहित की है।

विरहावस्था की सवसे वड़ी विशेपता यह है कि इसमे मानसिक पक्ष की प्रवलता के कारण ऐन्द्रिकता का लोप हो जाता है। सच्चे विरह मे इन्द्रिय जन्म-सुख प्राप्त करने की कामना का तिरोभाव हो जाता है। केवल प्रिय-दर्शन की लालसा शेप रह जाती है। और अन्त मे वह स्थिति आ जाती है जिसमे केवल प्रिय की कुशल-कामना ही रह जाती है।

"प्यारे जीवें जगत हित करे, गेह चाहे न आवें।"[1]

१—प्रियप्रवास।

और:—

नाम को बताय औ जताय गाँव उधो बस
श्याम स्यो हमारी राम-राम कह दीजिए ॥

आत्मोत्सर्ग की यह पराकाष्ठा विरह मे ही सम्भव है। प्रेमी अपने प्रियतम के लिए यही कामना करता है कि उसका बाल बाँका न हो। सूर की विरहिणी गोपियो को कृष्ण प्राप्त हो चाहे न हो, परन्तु प्रत्येक स्थान पर सुख से रहे। यथा:—

जहँ जहँ रहो राज करो तहँ तहँ लेहु कोटि सिर भार,
यह असीस हम देति "सूर" सुनु, न्हात खसे जनि बार ॥

विरह वर्णन:—कवियो ने विरह वर्णन मे प्रकृति को उद्दीपन के रूप मे ग्रहण किया है। प्राय: सभी कवियों ने विरह वर्णन मे किसी न किसी के द्वारा प्रिय के के पास सन्देश भी भिजवाया है। "मेघदूत" "पवन दूत" इसके सुन्दर उदाहरण हैं। विरह वर्णन में कवियो ने बारहमासा का भी विधान किया है। जैसे जायसी ने अपने "पद्मावत" मे।

विरह वर्णन मे कवियो ने दो प्रकार की पद्धतियो को ग्रहण किया है—

(१) ऊहात्मक।
(२) सवेदनात्मक।

आचार्य शुक्ल ने ऊहात्मक शैली के निम्नलिखित तीन रूप माने हैं—

(१) ऊहा की आधारभूत वस्तु असत्य अर्थात् कवि प्रौढोक्ति सिद्ध।
(२) ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य या स्वत: सम्भवी।
(३) ऊहा की आधारभूत वस्तु तो सत्य हो, किन्तु उसके हेतु की कल्पना की गई है।

सवेदनात्मक पद्धति के भी दो प्रकार हैं:—

(१) वस्तु रूप में।
(२) अलकार रूप मे।

इन पद्धतियो का आश्रय लेकर कवियो ने अपने विरह वर्णन को अत्यन्त स्वाभाविक एव मार्मिक बनाया है।

"हास्य रस"

भरतमुनि के अनुसार 'शृंगार रस की अनुकृति हास्य है।[१]' डा० रामकुमार वर्मा ने भरत के इस सूत्र मे कुछ सशोधन किया उनका विचार है कि "हास्य केवल शृंगार से प्रेरणा नहीं पाता, जीवन की अनेक परिस्थितियो से बल ग्रहण करता है।'

हास्य रस के उद्रेक के सम्बन्ध मे धनंजय ने लिखा है:—

१. "शृंङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो"

"विकृता कृति वाग्विशेषैरात्मनोऽथ परस्य वा ।
हासः स्यात् परिपोपोस्य हास्याभि प्रकृतिः स्मृतः ॥"[२]

अर्थात "हास्य का कारण अपनी अथवा दूसरे की विचित्र वेश-भूषा, चेष्टा, शब्दावली तथा कार्य-कलाप है।"

साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने हास्य की उत्पत्ति के सम्वन्ध मे लिखा है—

"विकृताकार वाग्वेपचेष्टादे : कुटका वदेत् ।
हास्यो हास स्थायिभाव : श्वेत प्रमथः देवत ॥"[३]

इस लक्षण के अनुसार "वाणी, चेष्टा तथा आकार आदि की विकृति से हास्य रस का आविर्भाव होता है।

हास्य रस के देवता शिव के गण माने जाते है तथा इसका रग श्वेत है— "हास्य रसस्य श्वेतो वर्णः प्रथमो देवश्च"

स्थायी भाव—हास। साहित्यदर्पणकार के मतानुमार-—"वागादिवैकृतैश्चेतो-विकासो हास इष्यते" अर्थात "वाणी, वेष, भूषणादि की विपरीतता से जो चित्र का होता है, वह हास कहलाता है।"

"शब्द रसायन" मे कविवर देव ने हास को ही हास्य रस का स्थायी भाव माना है। देखिए—

"रति हाँसी अरु सोक रिस, अरु उछाह भय जानु।
निन्दा विसमय शान्त ये, नव थिति भाव वखानु ॥"

आलम्बन—विकृति अथवा विपरीतिता, व्यग दर्शन आदि।

उद्दीपन—परचेष्टा अनुकरण आदि।

साहित्य दर्पणकार ने लिखा है जिसकी विकृति, आकृति, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदि को देखकर लोग हसे वह आलम्बन तथा उसकी चेष्टा उद्दीपन विभाव होती है।

"विकृता कार वावचष्ट ममालोकम हसेञ्जन ।
तदनालम्वन प्राहुस्तच्चेष्टोद्दीपन मतम् ॥ (साहित्य दर्पण)

अनुभाव—आचार्य विश्वनाथ ने हास्य रस के अनुभाव इस प्रकार माने है—

"अनुभावोऽक्षि सकोच वदन स्मैरतादवः।"[४]

'नयनो का मुकुलित होना और वदन का विकसित होना इसके अनुभाव है।'

सचारी भाव—अर्थ गोपन, आलस्य, निन्द्रा, तन्द्रा, स्वप्न आदि। साहित्य-दर्पण में इस प्रकार मिलता है—

---

२. दशरूपक, ४ प्रकाश पृष्ठ ७५

३. साहित्य दर्पण परिच्छेद ३, पृष्ठ २१४

४. साहित्य दर्पण परिच्छेद तीन पृ० १५८

"निद्रालस्या वहित्थाद्या अत्र स्तुर्व्यभिचारिणः ॥"

अर्थात "निद्रा, आलस्य, एवं अवहित्था आदि इसके संचारी होते हैं।"

हास्य के मित्र शृंगार यथा अद्भुत रस होते हैं। भयानक, करुणा, रौद्र, वीर इसके शत्रु रस माने जाते हैं।

हास्य के भेद--साहित्य दर्पणकार के अनुसार हास्य के ६ भेद माने गये हैं--

"ज्येष्ठाना स्मितहसिते मध्याना विहसिता वहसिते च।
नीचानामपहसितं तथापि हसित तदेप षड्भेद।
ईर्षा द्वकामिनयन स्मित स्यात्स्पन्दिताधरम्।
किंचिल्लत्यद्विम तत्र हसितं कथितं बुधै ॥
मधुर स्वरं विहसितं सासाशिर कम्पमवहसितम्।
अपहसितं सास्त्राक्षं विक्षिप्ताङ्ग मवत्यति हसितम् ॥"

अर्थात् (१) स्मित (२) हसित (३) विहसित (४) उपहासित (५) अपहसित (६) अतिहसित। इनमे से स्मित और हसित श्रेष्ठ मनुष्यो के लिए है। विहसित और उपहसित मध्यम श्रेणी के मनुष्यो के योग्य है और अपहसित तथा अतिहसित निकृष्ट कोटि के है।

अब हम क्रमशः हास्य के प्रकारो के उदाहरण देंगे--

(१) स्मित--"विवशन व्रज वनितान के, सखि मोहन मृदुकाय।
चीर चोरि सुकदम्ब पै, कछुक रहे मुसिक्याय ॥[1]

(२) हसित--जाने को पान खवावन क्यों हूँ गई लगि आगुंली ओठ नवीने,
तै चितयौ तवही तिहिं भाँति गुलाल के लोचन लीलि से लीने।
बात कही हर मे हँसि कै सुनि मै समुभी वे महारस भीने,
जानति हौ प्रिय के जिय के अभिलाप सवै परिपूरण कीने ॥"[2]

(३) विहसित--"हँसने लगे तव हरि कहा, पूर्णेन्द्र सा मुख खिल गया,
हँसना उसी मे भीम अर्जुन, सात्यकी का मिल गया।
थे मोद और विनोद के सब सरल झोके झेलते ॥"[3]

(४) उपहसित--"ज्यों ज्यो पट झटकति हँसति, हरति नचावति नैन।
त्यो त्यो परम उदारहू फगुवा देत बनैन।"[4]

---

१. जगद्विनोद--पद्माकर
२. केशव--रसिक प्रिया
३. विहसित--मैथिली शरण गुप्त--जयद्रथ वध
४. बिहारी

(५) अपहसित—"चन्द्रकला चुनी चनरी चारु दई पहिराय सुनाय सुहोरी,
वेदी विशाखा रची पद्माकर अजन आँजि समाजि के रोरी।
लागी जबे ललिता पहिरावन कान्ह को कचुकी केसरी वोरी,
हेरि हरे मुसकाइ रही अचरा मुख दे वृषभान किशोरी॥"[५]

(६) अतिहसित—"सुनकर निज सुत के वचन विलक्षण ऐसे,
कर अट्टहास घन घटट नाद हो जैसे।
वोला ओ उद्धत असुर राज उत्पाती,
उन्मत्त सुरापी सर्वलोक संघाती॥"[६]

पडितराज जगन्नाथ ने "रस गगाधर" मे हास्य के भेद इस प्रकार माने हैं—

"आत्मस्थ परसस्थश्चेत्यस्य भेद द्वय मत।
आत्मास्थो दृष्टिरुत्पन्नो विभाविक्षण माजतः॥
हसत मपर दृष्ट्वा विभावश्चोप ज.यते।
योऽसौ हास्य रस्तञ्जै परस्यः परिकीर्त्तितः॥
उत्तमाना मध्यमाना नीचानामप्य सौ भवेत्।
व्यत्रस्थ. क्वचितस्तस्य षड्भेदा सन्तिचापरा॥"

अर्थात् हास्य रस के दो भेद होते है—एक आत्मस्थ और दूसरा परस्थ। आत्मस्थ उसे कहते है जो देखने वालो को हास्य के विषय को देखने मात्र से उत्पन्न हो जाता है और जो दूसरे के कारण हास्य रस होता हो उसे रसज्ञ परस्थ की सज्ञा देते है। यह उत्तम, मध्यम और अधम तीनो प्रकार के व्यक्तियो के लिए है। इस लिए इसकी तीन अवस्था होती हैं।

आचार्य भरत ने भी हास्य के दो भेद किये है—आत्मस्थ और परस्थ।

डा० रामकुमार वर्मा ने इन दोनो प्रकार के भेदो का सम्मिश्रण कर दिया है। वे लिखते है—"वस्तुत अपने प्रभाव की दृष्टि से हास्य तीन प्रकार का माना गया, उत्तम, मध्यम और अधम। इन तीनो प्रकारो में प्रत्येक के दो भेद है। उत्तम के भेद है—स्मित और हसित, मध्यम के भेद है विहसित और उपहसित तथा अधम के भेद है अपहसित और अतिहसित। ये प्रत्येक भेद आत्मस्थ और परस्थ हो सकते है। इस प्रकार निम्नलिखित प्रकार से हँसने की क्रिया बारह तरह से हो सकती है.—

---

५. पद्माकर जगद्विनोद

६. मैथिली शरण गुप्त—प्रह्लाद

हास्य	उत्तम	स्मित	आत्मस्थ—१
			परस्थ—२
		हसित	आत्मस्थ—३
			परस्थ—४
	मध्यम	विहसित	आत्मस्थ—१
			परस्थ—२
		उपहसित	आत्मस्थ—३
			परस्थ—४
	अधम	अपहसित	आत्मस्थ—१
			परस्थ—२
		अतिहासित	आत्मस्थ—३
			परस्थ—४[1]

हास्य रस-राज है—कुछ विद्वानो ने हास्य रस को भी रस राज सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस दिशा मे प्रथम प्रयास नरसिंह चिन्तामणि केलकर ने किया। उन्होने अपनी पुस्तक "सुभाषित आणि विनोद" मे हास्य रस को रस-राज का उपाधि प्रदान की। सन् १९१५–१६ मे नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे इसी पुस्तक के फलस्वरूप हास्य रस को रस-राज स्वीकार किया गया।

हास्य रस को रसराज मानने का विशेष कारण यह माना जाता है कि हास्य रस का सम्बन्ध केवल मन तथा बुद्धि से है। अतः इसका आनन्द केवल मनुष्य ही ले सकते हैं। मनुष्य मात्र मे शृंगार की प्रतीति कुछ निश्चित काल तक ही होती है किन्तु हास्य रस का अनुभव जन्म से मृत्यु तक रहता है। श्री केलकर जी इस सम्बन्ध मे लिखते हैं :—

"चाहे मनुष्य मात्र के जीवन में होने वाली भावजागृति के विचार से देखिए, चाहे उससे होने वाले आनन्द और उसके उपयोग की दृष्टि से देखिए, हास्य, करुण, और वीर ये तीनों रस शृंगार रस की अपेक्षा अधिक महत्व के प्रमाणित होंगे क्योंकि प्रायः हास्य और शोक में ही मनुष्य मात्र का अनुभव बंटा हुआ है। आनन्द उत्पन्न करने वाला पदार्थ प्राप्त करने से दु.ख उत्पन्न करने वाली बात टालने में ही मनुष्य मात्र की सारी प्रवृत्ति रहती है। हां यदि यह कहा जाय कि हास्य और करुण रस का अनुभव मनुष्य को पग पग पर हुआ करता है तो अनुचित न होगा।"

करुण की अपेक्षा हास्य का मनुष्य को अनुभव अधिक मात्रा मे होता है।

१—दृश्य काव्य मे हास्य-तत्व—"आलोचना", जनवरी १९५५ पृष्ठ ६४ —डा० रामकुमार वर्मा

करुण रस मे इष्ट का नाश हो जाता है। अत. मनुष्य को दु ख उठाना पड़ता है। परन्तु दूसरो के दु ख मे दु खी होने वाले व्यक्ति बहुत कम देखे जाते हैं। वस्तुतः करुण रस का रसास्वादन प्रत्येक व्यक्ति नही कर सकता। हास्य रस का आनन्द प्रत्येक व्यक्ति ले सकता है। क्योंकि हास्य की उत्पत्ति "असम्बद्धता" से होती है। और इस असम्बद्धता पर प्रत्येक व्यक्ति हँस पड़ता है।

उपर्युक्त विवाद के सम्बन्ध मे हरिऔध जी "रसकलश" मे लिखते हैं :—

"हास्य रस मनुष्य तक परिमित है, इसलिए न तो वह शृँगार के इतना व्यापक है और न उसके इतना आस्वादित होता है। उसमें सृजनशक्ति भी नही है। अतएव वह अपूर्ण और गौणभूत है। यदि शृँगार रस जीवन है तो वह आनन्द, यदि वह प्रसून है तो यह है विकास, जिससे दोनो में आधार आधेय का सम्बन्ध पाया जाता है। आधेय से आधार का प्रधान होना स्पष्ट है।"

आगे चलकर हरिऔध जी लिखते हैं—"किसी किसी का यह कथन भी है कि जीवन सुख-दुःख पर ही अवलम्बित रहता है। दु ख का रोदन और सुख का हास सम्बल है। इसलिए जीवन का सम्बन्ध जितना करुण रस और हास्य से है अन्य किसी रस से नहीं। किन्तु शृँगार अस्तित्व में आये बिना दुःख-सुख की कल्पना हो ही नही सकती। अग्नि पुराण के आधार से यह बात प्रतिपादित हो चुकी है और किस प्रकार शृँगार से हास्य रस और करुण रस की उत्पत्ति होती है यह भी बतलाया जा चुका है। मेरा विचार है कि जिस पहलू से विचार किया जायेगा शृँगार पर हास्य को प्रधानता न मिल सकेगी।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हास्य रस का महत्व भी कम नही है। यदि जीवन के लिए शृँगार रस अपेक्षित है तो हास्य रस की भी उपेक्षा नही की जा सकती। हास्य रस का महत्व शृँगार से कम नही है। मनुष्य अपने जीवन मे सबसे अधिक अनुभव हास्य रस का ही करता है। यह तो निर्विवाद है कि हास्य रस मन तथा बुद्धि पर निर्भर है। इससे भी हास्य रस का महत्व स्वय सिद्ध हो जाता है। "रस का प्राण आनन्द में है, आनन्द का मूल प्रसन्नता है, और प्रसन्नता हास्य में प्रत्यक्ष और मूर्तिमती हो जाती है।"

इस बात में कुछ भी अत्युक्ति नही है कि हास्य रस भी रस-राज होने के लिए उपयुक्त रस है और उसका महत्व किसी भी रस से कम नही। देखिए इसका एक उदाहरण :—

"शिवहि शभुगण करहिं सिगारा, जटा-मुकुट अहि मौर सम्हारा,
कुडल ककण पहिरे ब्याला, तन विभूति पट केहरि छाला,
गरल कठ उर नर शिरमाला, अशिव वेष शिवधाम कृपाला,
कर त्रिशूल अरु डमरु विराजा, चले वृषभ चढि बाजहिं बाजा;
देखि शिवहिं सुरतिय मुसकाहीं, वरलायक दुलहिन जग नाहीं,

विष्णु कहा अस विहँसि तव, बोलि सकल दिशिराज
विलग-विलग होइ चलहुँ सब, निज-निज सहित समाज ।।"
(रामचरित मानस)

करुण रस

बन्धुओ के विनाश और वियोग से अथवा धर्म पर आपत्ति या द्रव्य नाश आदि अनिष्ट कारणो से करुण रस उत्पन्न होता है ।

"विनठे ईठ मनीठ सुनि, मन में उपजत सोग ।
आशा छूटे चार विधि, करुण बखानत लोग ।।"

आचार्यों ने करुण का वर्ण कपोत के समान माना है और यमराज को इसका देवता बताया है—"अयं कपोतवर्णे यमदैवतश्च" ।

आलम्बन :—नायक-नायिका, तथा इष्ट जिसका नाश होता है ।

उद्दीपन :—उनके शरीर का दाह आदि तथा उनसे सम्बन्धित वस्तुएँ ।

अनुभाव :—पृथ्वी पर गिरना, निश्वास, छाती पीटना अनुभाव हैं ।

सचारी :—निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद आदि ।

स्थायी भाव :—शोक "इष्ट नाशादिभिश्चेतो वैक्लव्य शोक शब्द भाक् ।"

करुण के पाँच भेद माने गये हैं—करुण, अतिकरुण, लघुकरुण और सुख-करुण ।

"करुण अतिकरुन औ" महाकरुन लघुकरुन हेतु ।
एक कहत हैं पाँच यो दुख मे सुखहि सचेतु ।।"

श्रीरामचन्द्र जी के विलाप मे करुण रस की यथेष्ट सामग्री प्राप्त होती है—

दैन्य संचारी :—

यथा पंख विनु खग अति दीना, मनि विनु करिवर कर हीना ।
अस मम जिवन वन्धु विनु तोहि, जो जड़देव जिवावै मोही ।

निर्वेद और ग्लानि संचारी :—

"जैहो अवध कवन मुँह लाई, नारि हेतु प्रिय वन्धु गँवाई ।

स्मृति :—

सोपहि मोहि तुम्हहि गहि पानी, अव विधि सुखद परम हित जानी ।

इसमें ग्लानि भी मिश्रित है ।

अनुभाव :—

"बहु विधि सोचत सोच विमोचन, स्रवत सलिल राजिव दल लोचन ।"

गद्य में भी करुण रस के दर्शन होते हैं । रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या कहती है—

"हाय जिन हाथों से मीठी-मीठी थपकियां देकर रोज सुलाती थी उन्हीं हाथों से आज इस धधकती चिता पर कैसे रक्खूंगी, जिसके मुख में छाले पड़ने के भय से कभी मैंने गरम दूध भी नही पिलाया उसे हाय ![1]..................

यहाँ स्मृति संचारी के साथ विषाद है।

करुण रस का महत्व :—शृंगार की भाँति करुण रस भी रस-राज कहलाता है। भवभूति ने तो केवल इसी रस को प्रधानता दी है—'एको रसः करुण एव।" यदि काव्य के नवरसो का शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से परिशीलन किया जाय तब भी करुण रस का महत्व स्पष्ट हो जायेगा।

काव्य के सभी रसो मे करुण रस का समावेश किसी न किसी रूप मे मिलता है। वियोग शृंगार मे कवि करुण रस का आश्रय लेकर ही विरह भावनाओं को व्यजित करता है। हास्य रस मे जिस व्यक्ति का उपहास किया जाता है वह दर्शक या पाठक भी सहानुभूति को जाग्रत करता है। अन्य रसो का पूर्ण परिपाक करुणपूर्ण दृश्यों के बिना नही होता। कवि शान्त रस को पूर्ण विकसित कारुणिक दृश्यो की सहायता से ही करता है। ससार से वैराग्य उत्पन्न करने के लिए शान्तरस प्रधान काव्य मे वीभत्स रस का समावेश वाँछनीय है। वस्तुतः इसमे सहानुभूति के बाहुल्य के कारण इसको श्रेष्ठता दी गई है। रसानुभूति मे हमको सहानुभूति के साथ सामान्य भाव धरातल पर आना पडता है। करुण रस के इस व्यापक प्रसार को ही देखकर भवभूति ने इसे प्रकृति रस कहा है। करुण रस को सर्वप्रमुख रस मानते हुए वे लिखते हैं.—

"एको रस ! करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथग्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्
आवर्त बुद्बुद्-तरङ्गयमान् विकाशन्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम्"

अन्य रसो के संचारियो की अपेक्षा करुण रस के संचारी भी अधिक व्यापक तथा विस्तृत हैं जो सात्विक भाव अनुभावो के अन्तर्गत आते हैं वे सभी इसके संचारी भाव हो सकते हैं।

रसों के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी करुण रस अत्यधिक लोकप्रिय तथा व्यापक रस प्रमाणित होता है। करुण रस मे भाव तादात्म्य की क्षमता भी अन्य रसो की अपेक्षा विपुल मात्रा मे होती है। काव्य मे शोक से पूर्ण स्थल ही सर्वाधिक लोकप्रिय होते हैं। जब हम लक्ष्मण शक्ति का वर्णन पढते हैं तो रोने लगते हैं। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक मे दर्शक रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या की भाँति विलाप करने लगते हैं। शैली ने लिखा है—"Our sweetest songs are those which tell us sadest thought" अर्थात् शोकतम अवस्थाओ के सूचक गीत ही मधुरतम होते हैं।

---

१. सिद्धान्त और मध्यम से

करुण रस में भावतादात्म्य का गुण है और भावतादात्म्य की पराकाष्ठा ही साधारणीकरण की भूमिका है। साधारणीकरण की व्याख्या करने वाले प्रधान आचार्य भट्ट नायक तथा अभिनवगुप्त हैं। यद्यपि इनके मतो मे कुछ भेद है किन्तु दोनों ने ही ममत्व तथा परत्व की भावना के लुप्त हो जाने पर कवि तथा पाठक मे भावतादात्म्य होकर एक ही मधुमति भूमिका मे आने पर साधारणीकरण माना है। भावधाराओं का एक सामान्य धरातल ही रस का प्राणभूत अग है। करुण रस के संचार से पाठको का अहंभाव लुप्त हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के साथ सहानुभूति रखने लगता है। "अयं निज परोवा की भावना" समाप्त हो जाती है। सभी मनुष्य सामान्य धरातल पर आ जाते हैं। इस प्रकार "वसुधैव कुटम्बकम्' की भावना मनुष्य में आ जाती है। बूचर नामक पाश्चात्य विद्वान ने भी करुणपूर्ण दृश्यों के साथ ही भावतादात्म्य माना है। वे लिखते हैं—"The spectator is lifted out of himself. He becomes one with the tragic sufferer and through him with humanity at large." अर्थात् दर्शक स्वार्थ सम्बन्धों से युक्त होकर संतप्त नेता से भावतादात्म्य कर लेता है। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व से उसका साम्य एव ऐक्य हो जाता है।

करुण रस में भावतादात्म्य के अनेक मनोवैज्ञानिक कारण हैं। प्रत्येक मनुष्य में निजी विशेषताएँ होती हैं। भिन्न-भिन्न रुचिलोक के अनुसार प्रत्येक मनुष्य की रुचि भिन्न होती है। कोमल तथा भावुक व्यक्ति को शृङ्गार प्रधान काव्य अधिक रुचिकर होगा। वीरोचित उत्साह तथा स्फूर्ति से सम्पन्न हृदय वीर रस प्रधान काव्य की ओर आकृष्ट होगा। किन्तु करुण रस इतना व्यापक तथा लोकप्रिय रस है जिसमे अवगाहन प्रत्येक सहृदय व्यक्ति कर सकता है। ऋषि-मुनि जैसे विरक्त जन भी करुण रस से आप्लावित हो जाते हैं। महर्षि वाल्मीकि इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। क्रौञ्च वेदना से आहत ऋषि का करुणार्द्र हृदय द्रवित हो गया और उनकी वाणी रामायण की,सुरसरिता के रूप मे फट पडी—

"क्रौञ्च द्वन्द्व वियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागते:"

शोक ने श्लोक का रूप धारण कर लिया। क्रौञ्च व्यथा ने ही आदि कवि के आदि काव्य रामायण को जन्म दिया। अत: स्पष्ट है कि करुण रस ही आदि काव्य का जनक है। काव्य का विधायक मूल रस करुण ही है। करुण के अतिरेक से स्वत: प्रसून शब्द लहरी मे जो स्वाभाविकता तथा रमणीयता होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। करुण मे पाठको को निमग्न करने की अधिक शक्ति है। हमारे कवियो ने काव्य का जन्म वेदना से ही माना है। पन्त जी लिखते हैं—

"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान
निकल कर आँखो से चुपचाप, वही कविता होगी अनजान ॥"

दिनकर भी लिखते हैं—

"जल कर चीख उठा वह कवि था।"

करुण रस मे सवेदन शक्ति भी अधिक होती है। मानव जीवन की करुण विपमताओं ने ही सिद्धार्थ के कोमल हृदय को राज-सुख, वैभव तथा ऐश्वर्य से विमुख करके "निर्वाण" की प्रेरणा दी थी। सुख के समय मे सवेदनशीलता साधारण मनुष्य के लिए ईर्ष्या का कारण होती है। काव्य मानव जीवन का चित्र है। अतः काव्य में करुणपूर्ण दृश्यो को पाठक सरलता से हृदयगम कर सकते हैं। क्योकि करुण रस अत्यधिक सवेदनशील रस है। अत स्पष्ट है कि अन्य रसो की अपेक्षाकृत करुण रस मे चित्तवृत्तियो को तन्मय करने की अधिक शक्ति है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी करुण रस का महत्व अनुपमेय है। करुण की व्यापकता आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर ही अवलम्बित है। काव्य का रस अलौकिक माना गया है। अलौकिक आनन्द प्रदान करने के कारण ही रस को "ब्रह्मानन्द सहोदर" कहा गया है। जीवन के करुणपूर्ण अश काव्य में व्यक्त होकर आनन्द का प्रसार करतें है। साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ लिखते है.—

"करुणादावपि रसे जायते मत्परं सुखम्
सचेतसामनुभव प्रमाण तत्र केवलम् ।।"

अर्थात् करुणा से ही अलौकिक आनन्द जन्य रस की उत्पत्ति होती है। सहृदयो का अनुभव इसका प्रमाण है।

करुणा से उत्पन्न आनन्द का प्रभाव भी अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। दु ख मे सद्गुणो तथा आदर्श की ओर अधिक प्रवृत्ति रहती है। अवगुणो का दमन हो जाता है। साहित्य का उद्देश्य आदर्श की प्रतिष्ठा करना है। करुण रस की इन्ही अभिनव विशेषताओ को देखकर ही भवभूति आदि कवियो ने करुण रस को प्रधान रस माना है। सत् साहित्य मे इसलिए जीवन का अर्न्तद्वन्द्व वर्णित रहता है। पाश्चात्य साहित्य मे ट्रेजड़ी प्रधान काव्य श्रेष्ठ माने जाते है। वास्तव में करुण रस के द्वारा हमारी भावनाओ का परिष्कार एवं परिमार्जन होता है। हमारे हिन्दी कवियो ने करुण रस के बहुत सुन्दर-सुन्दर चित्र हिन्दी संसार को भेंट किये हैं। प्रसाद जी चिन्ता का कितना सुन्दर चित्र उपस्थित करते है —

"ओ चिन्ता की पहली रेखा, अरी विश्व वन की व्याली
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण, प्रथम कम्प सी मतवाली।"

आधुनिक गीतो मे तो करुणा की अजस्त्र धारा प्रवाहित हो रही है। महादेवी का हृदय तो करुण रस से आप्लावित है—

एक करुण अभाव मे चिर तृप्ति का सचार सचित
एक लघु क्षण दे रहा निर्वाण के वरदान शत-शत
पा लिया मैंने किसे इस वेदना के मधुर क्रम में।
कौन तुम मेरे हृदय मे ।।"

करुणपूर्ण होने के कारण ही महादेवी के गीत हमारे हृदय के अन्यतम भागो

को स्पर्श करते हैं। इनमें अनुभूति की तीव्रता के दर्शन होते है जो काव्य का प्राण है।

प्रगतिवादी कवियों ने भी किसानों और मजदूरों के वर्णन में जीवन की वास्तविकता के करुणपूर्ण चित्र प्रस्तुत किये हैं। भट्ट जी ने निम्नलिखित पंक्तियों में मजदूरो की दशा का करुणपूर्ण वर्णन किया है—

> मेरी बरसातें आँसु रे मेरा वसन्त पीला शरीर।
> गरमी झरनों सा स्वेद मेरे साथी दु.ख दर्द पीर॥
> दिन उनको, मुझको रात मिली, श्रम मुझे, उन्हें आराम मिला।
> वलि दे देने को प्राण मिले, हन्टर को सूखा चाम मिला॥"

मजदूरों की इस करुण दशा को पढकर प्रत्येक सहृदय व्यक्ति रो पड़ेगा।

इन वर्णनों से स्पष्ट है कि करुण रस ही काव्य को सरस तथा वास्तविक बनाता है।

रौद्र रस

शत्रु का सम्मुख होना या कार्य करना, अपमानित होना, किसी के द्वारा बुराई होना, या गुरुजनो की निन्दा आदि से रौद्र रस होता है। इस रस का वर्ण रक्त माना गया है तथा इस रस का देवता रुद्र है।—"रक्तवर्णे रुद्राधि दैवत्यो रौद्रो रसो भवति।"

स्थायीभावः—"प्रतिकूलेषू तैक्षरायस्याव वोधः क्रोध इष्यते"।[1] क्रोध। अपने से विरुद्ध विषय मे तीक्ष्णता का अनुभव क्रोध कहलाता है।

आलम्बनः—अनिष्ट करने वाला या अनुचित वात कहने वाला पुरुष।

उद्दीपनः—विरोधी या अनुचित वात कहने वाले की चेष्टाएँ तथा उक्तियाँ जैसे परशुराम सवाद में लक्ष्मण जी की। विगड़ी वस्तु भी उद्दीपन का कार्य करती है।

अनुभाव.—दाँत पीसना, मुट्ठी दिखाना, मुँह लाल हो जाना, आत्म प्रशंसा, हथियार चलाना आदि।

संचारीः—उग्रता, आवेग, मद, मोह, अमर्प आदि।

करुण मे भी अनिष्ठ होता है, परन्तु करुण का अनिष्ट ऐसा होता है जिस पर मनुष्य का वश नही। रौद्र अनिष्टकारक ऐसा होता है जिससे प्रतिशोध लिया जा सकता है।

रौद्र और वीर रसो के आलम्बन तो एक से होते हैं किन्तु दोनो के स्थायी भावो में भेद है। वीर मे प्रसन्नता और धैर्य रहता है। रौद्र में विपाद और चंचलता, क्रोध के अनुभाव में शस्त्रो का प्रदर्शन तथा आत्म प्रशंसा भी रहती है। इसका उदाहरण रामचरित मानस में बहुत सुन्दर मिलता है। देखिए:—

१—साहित्य दर्पण।

"बाल ब्रह्मचारी अति कोही । विश्व विदित क्षत्री कुल द्रोही ।
भुजबल भूमि भूप बिन कीन्हा । विपुल बार महि देवन दीन्हा ।
सहस बाहु-भुज छेदन हारा । परशु विलोक महीप कुमारा ॥"

इसमें गर्व सचारी भी है । अनुचित बात कहने पर लक्ष्मण को रोष आता है उसके अनुभाव इस प्रकार हैं ।

"भाषे लखन कुटिल भइ भौहे । रद पुट फरकत नयन रिसोहैं ॥"

वीर रस

अत्यन्त उत्साह से वीर रस की उत्पत्ति होती है ।

"रन बैरी सम्मुख दुखी भिक्षुक आने द्वार ।
युद्ध, दया और दान हित, होत उछाह उदार ॥"

वीर रस के देवता इन्द्र हैं तथा इसका वर्ण स्वर्ण के समान माना गया है । —"......महेन्द्र देवतो हेम वर्णे वीर रसो भवति"[२]

स्थायीभावः—उत्साह । कार्य के करने मे प्रारम्भ से अन्त तक जो प्रसन्नता का भाव रहता है उसे उत्साह की सज्ञा दी गई है । यह उत्साह केवल युद्ध मे ही नही वरन् दान देते, दया करने आदि में भी होता है ।—"कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेमानुत्साह उच्यते ।"

आलम्वन विभावः—नायक, शत्रु, याचक, दीन, तीर्थ स्थान आदि ।

उद्दीपन.—शत्रु की चेष्टाएँ, फौज, हथियारो का प्रदर्शन, याचक या दीन की दशा तथा उनके द्वारा की गई प्रशंसा ।

संचारी भावः—धृति, मति, तर्क, स्मृति, गर्व, आवेग आदि ।

वीर रस का उद्दीपन स्वरूप उदाहरण देखिए:—

"निकसत मयानते मयूखै प्रलै भानु कैसी,
　　फारै तम-तोम से गयन्दन के जाल को ।
लागत लपटि कठ वैरिन के नागिन सी,
　　रुद्रहि रिझावै दै-दै मुण्डन के माल को ।
भाल छितिपाल छत्रसाल महा बाहुवली,
　　कहा लौ वखान करो तेरी करवाल को ।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि-काटि,
　　कालिका सी किलक कलेऊ देत काल को ॥

यहाँ पर महाराज छत्रसाल की करवाल का वर्णन है ।

परशुराम के आने पर श्रीरामचन्द्र जी का वीरोचित धैर्य भी प्रसंशनीय है । देखिए:—

२—चन्द्रालोक ।

"सभय विलोके लोक सब, जान जानकी भीर।
हृदय न हर्ष विषाद कछु, बोले श्री रघुवीर॥
नाथ शम्भु धनु भन्जन हारा, हुई है कोउ एक दास तुम्हारा।"

वीर रस के निम्नलिखित भेद माने गए हैं:—

(१) युद्धवीर, (२) दानवीर, (३) धर्मवीर (४) दयावीर।

भयानक रस

जब कोई बलवान अपने ऊपर आक्रमण करे या कोई भयंकर वस्तु दिखाई दे तो भयानक रस होता है।

घोर सत्व देखे सुनै, करि अपराध अनीत।
मिलै शत्रु भूतादि कै, सुमिरे उपजन भीत।
भीत बड़े रस भयानक, दृगजल वे पथु अंग।
चकित चित्त चिन्ता चपल, विवरनता सुर भंग॥

भयानक रस का वर्ण कृष्ण माना गया है तथा इसके देवता भूत पिशाच हैं।

स्थायी भाव:—अनिष्ट की आशका से हृदय में जो विव्रलता उत्पन्न होती है उसे भय कहते हैं और यही भय इसका स्थायी भाव है—

"रौद्रं शकत्या तु जनितं चित्तवेक्लव्यजं भयम्।"[१]

आलम्बन:—स्त्री, नीच मनुष्य, व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु, अत्याचारी शत्रु, भूत-प्रेत आदि।

उद्दीपन:—भयानक वस्तु की चेष्टाएँ, भयानक निर्जनता आदि।

अनुभाव:—विवरणता, गदगद स्वर, भाषण, प्रलय, स्वेद, रोमांच, इधर-उधर देखना आदि।

सचारी —जुगुप्सा, आवेग, मोह, त्रास, ग्लानि, दीनता आदि।

श्मशान में रात्रि की निर्जनता तथा भयानकता का दृश्य देखिए—

"रूआ चहूँ दिसि रटन डरत सुनि कै नर नारी।
फट फटाई दोउ पख उलूअहुँ रटत पुकारी॥
अन्धकार बस गिरत काक अरु चील करत रव।
गिद्ध गरुक हडगिल्ल भजत लखि विकट भयट रव।"[२]

इसमें भयानक के उद्दीपन बड़े उग्र रूप में मिलते हैं।

मालती माधव में भी भयानक रस का अच्छा परिपाक मिलता है। देखिए—

"अरे ओ भाई, मठ के रहने वालो भागो!! भागो! यह देखो जवानी के चढाव में, खीच-खीच कर साँकरे तोड सिंह लोहे के पिंजड़े से निकल गया है।······

१—साहित्य-दर्पण।

२—सत्य हरिश्चन्द्र से।

कितने जीव मार डाले। कटारी ऐसे दाँतो से हड्डियाँ कट-कटाकर चबाता हुआ मुँह बाए इधर-उधर दौड़ रहा है। उनके मांस गले में भरकर गर्जना कर रहा है। उसकी डपट से सब लोग भाग रहे है।"

यहाँ पर शेर आलम्बन है, उसकी चेष्टाओ का जो वर्णन है वह उद्दीपन है। त्रास संचारी है भागना अनुभाव है। अनुभाव का एक उदाहरण देखिए—

"चहुँधा लखि ज्वाल कुलाहल को पुर-लोग सबै दुःख ताप तयो।
यह लङ्क दसा लखि लङ्कपति, अति संक दसौ मुख सूख गयो॥"

यहाँ पर मुख सूखना अनुभाव है, शंका, विषाद, त्रास, संचारी व्यंजित है। भय के सम्बन्ध में मोह संचारी का एक उदाहरण देखिए:—

"अडध ऊर्ध्व बानर, विदिस दिस बानर हे,
मानहुँ रह्यो है भरि बानर तिलोकिए,
मूँदे आँखि हीय मे, उघारे आँखि आगे ठाढो ..."

भयानक वस्तु यद्यपि हृदय को आक्रान्त कर देती है, परन्तु इसके द्वारा भी मानव प्रवृत्तियो का परिचय मिलता है। हमारी सहानुभूति विस्तृत होती है।

वीभत्स रस

जहाँ रुधिर, मज्जा, नैतिक पतन आदि घृणित वस्तुओं को देखने से ग्लानि हो वहाँ वीभत्स रस होता है। इसका वर्ण नीला माना जाता है तथा महाकाल इसके देवता हैं—"......स नील वर्णे महाकाल देवतो वीभत्सो रस. कथ्यते।"

स्थायी भाव :—घृणा या जुगुप्सा। साहित्य दर्पण में जुगुप्सा का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—"दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विस्मयोद्भवा।"

आलम्बन :—घिनौने दृश्य रक्त, मांस, श्मशान आदि, घृणोत्पादक प्राणी या पदार्थ आदि।

उद्दीपन :—कृमि, मक्खियाँ, दुर्गन्ध, कुत्सित रूप, मास-भक्षण और उसके लिए युद्ध, जीव-जन्तुओ की चीत्कारे।

अनुभाव :—थूकना, नाक सिकोड़ना, मुँह फेर लेना, आँख मीच लेना, आदि।

सचारी :—मोह, अप्समार, व्याधि, निर्वेद, ग्लानि, आवेग, जडता, चिन्ता आदि।

वीभत्स रस का वर्णन प्राय अन्य रसो के सहायक के रूप मे होता है। ससार से विरक्ति या अरुचि उत्पन्न करने के कारण यह शान्त रस का सहायक होता है। जहाँ पर विवेक के द्वारा संसार से घृणा उत्पन्न होती है वहाँ पर जुगुप्सा विवेकजा कहलायेगी। जहाँ साधारण रूप से होती है वहाँ प्रायकी कहलाती है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सुधार के लिए वीभत्स का परिपाक काशी वर्णन में किया है। देखिए :—

"देखी तुम्हारी कासी लोगो, देखी तुम्हारी कासी,
आधी कासी भाड भँडरिया बामन औ सन्यासी।
आधी कासी रंडी मुण्डी रॉड खानगी खासी
लोग निकम्मे भगी, भंगड़, लुच्चे बेविस्वासी।
महा आलसी झूठे सोहदे वेफिकरे बदमासी
नीले नल से बदबू उबले, मानो नरक चौरासी।

अद्भुत रस

आश्चर्यजनक विचित्र वस्तुओ को देखने से अद्भुत रस व्यक्त होता है। अद्भुत रस का देवता गन्धर्व है और वर्ण पीला है—"विस्मयः स्थायी यस्य सोऽयं पीतवर्णो गन्धर्वदेवतोऽद्भुत रसो भवति।"

स्थायी भाव :—विस्मय—"विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः।"[1]

आलम्बन :—अद्भुत वस्तु अथवा अद्भुत कर्म आदि।

उद्दीपन :—इन्द्रजाल, आलम्बन के गुणो की महिमा आदि।

अनुभाव :—साधुवाद, स्तम्भ, स्वेद, रोमाच, स्वर भग, विस्फारित नेत्र, आदि।

संचारी भाव :—वितर्क, आवेग, मोह, हर्ष, भ्रान्ति, चपलता, औत्सुक्य, शंका, दैन्य, जड़ता आदि।

अद्भुत रस तभी आता है जबकि आलम्बन मे कोई अद्भुत बात हो। सूक्ति मात्र अद्भुत का उदाहरण देखिए :—

"देखो दधिसुत मे दधिजात,
एक अचम्भो सुनि री सजनी रिपु मे रिपु जात।"

परन्तु इसमें अद्भुत रस नही माना जायेगा क्योकि इस कूट का अर्थ करने पर इसमे कोई अद्भुत बात प्रतीत नही होती।

निम्नलिखित दोहे मे अद्भुत रस का अच्छा परिपाक मिलता है :—

"इहाँ हुआँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोरि कि आन विसेखा।
× × × ×
तन पुलकित मुख वचन न आवा। नमन मूदि चरनन सिर नावा।

यहाँ पर "मति भ्रम मोरि कि आन विसेखा" मे वितर्क संचारी है। (यहाँ माता यह तर्क करती है कि मेरी मति में भ्रम उत्पन्न हो गया है। अथवा कुछ और हो गया है) ? "तनु पुलकित मुख वचन न आवा" मे रोमांच और स्वर भंग अनुभाव है। इन अनुभावो में ही हर्ष संचारी व्यक्त होता है।

तुलसीदास जी के निम्नलिखित पद मे अद्भुत रस के दर्शन होते हैं :—

---

१ साहित्य दर्पण।

"केसव कहि न जाइ का कहिये ।
देखत तव रचना रुचिर विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए ।
सून्य भीत पर चित्र रग नहि, तनु विनु लिखा चितेरे ।
धोए मिटै न, मरे भीति, दुख पाइए इहि तनु हेरे ॥"

यहाँ पर विस्मय स्थायी भाव है, वितंक सचारी भी व्यजित है और महात्म्य कथन के द्वारा अनुभाव भी व्यंजित हो जाता है ।

श्रृंगार, करुण, शान्त आदि अन्य रसो के साथ अद्भुत रस को भी आचार्यो ने रसराज की सज्ञा दी है । धर्मदत्त ने अद्भुत रस को प्रधान रस माना है और उन्होने चमत्कार को सब रसो का आधार माना है। विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में धर्मदत्त के मत का उल्लेख किया है । देखिए :—

"रसे सारश्चचमत्कार. सर्वत्राप्युन भूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्युद मुता रसः ॥"

अर्थात् रस का सार चमत्कार मे है जो सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है । अद्भुत रस चमत्कार का सार है । अतः सब स्थान पर अद्भुत रस ही है ।

नारायण पडित ने भी चमत्कार को रस का सार कहा है। चमत्कार मे विलक्षणता का प्राधान्य है और इससे आकर्षण तथा जिज्ञासा उद्भूत होते हैं इसी के द्वारा अन्य रसो का सचार होता है ।

शान्त रस

साहित्य शास्त्र मे आठ रस माने गये हैं । (नवें रस) शान्त रस की मान्यता सातवी शताब्दी में हुई । भरतमुनि ने शान्त रस को नाटक में स्थान नही दिया, वैसे सब रसो में अवसान को उन्होने शान्त रस मे माना है । पडितराज जगन्नाथ ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है :—

"शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसंभवात्,
अष्टावेव रसा नाट्ये शान्तस्तज न युज्यते ।"[1]

अर्थात् नट में चंचलता होती है । अत' वह स्थायी भाव शम की मुद्रा ग्रहण नही कर सकता । इसलिए नाटक मे आठ रस ही होने चाहिएं । शान्त रस को नाटक में स्थान नही दिया जा सकता ।

धनंजय ने भी नाटक मे शान्त रस का निषेध किया है । उन्होने शम नामक स्थायी भाव का निषेध करते हुए लिखा है—

"रत्युत्साह जुगुप्साः क्रोधो हास स्मयो भयं शोकः ।[2]
शममपि केचित्प्राह. पुष्टि नटिभेषु नैतस्य ॥

१. रस गगाधर पृ० २६ ।
२. दशरूपक की ३५वी कारिका मे ।

इस कारिका में उन्होंने शम स्थायी भाव तथा शान्त रस की अस्वीकृति के कारण प्रस्तुत किये हैं। प्रथम वे शम विरोधी तीन मतो का वर्णन करते है :—

(१) कुछ लोग शान्त रस को मानते ही नहीं, क्योंकि भरतमुनि ने इसके विभावादि का प्रतिपादन तथा लक्षण नही किया।

(२) कुछ लोग शान्त रस का इसलिए अभाव मानते है कि अनादि काल से आये हुए रागद्वेष का नष्ट होना असम्भव है।

(३) कुछ लोग शान्त का अन्तर्भाव, वीर, वीभत्स आदि रस में ही कर लेते है।

धनजय वताते है कि वे शम भाव या शान्त रस का निषेध केवल नाटकादि रूप को ही मानते है। शम में समस्त व्यापारो की परिसमाप्ति होनी चाहिए, यह व्यापार समाप्ति अभिनीत नही हो सकती। अतः अनभिनेय होने के कारण शान्त रस की स्थिति नाटक मे अस्वीकृत करनी ही पडेगी। इस सम्बन्ध में वे नागानन्द नाटक का उदाहरण देते हुए लिखते है—

"हम देखते है कि नागानन्द का नायक जीमूतवाहन एक ओर मलयवती से प्रेम करता है, दूसरी ओर विद्याधर चक्रवर्तीत्व प्राप्त करता है। ये दोनों बातें शम भाव के विरूद्ध हैं। वस्तुतः जीमूतवाहन दयावीर है, तथा नागानन्द में वीर रस ही है। इस वीर रस का मलयवती-प्रेम, तथा विद्याधर चक्रवर्तीत्व लाभ से कोई विरोध भी नही जान पड़ता। इस सब निर्णय से स्पष्ट है कि नाटक में शान्त रस की स्थिति नहीं मानी जा सकती है।"

"संगीत रत्नाकर" में लिखा गया है कि नट रस से निर्लिप्त रहता है।—"किञ्चन्ननरसः स्वदते नटः।" जिस प्रकार रौद्र, करुणा आदि का अभिनय हो सकता है उसी प्रकार शान्त रस का भी हो सकता है। इसलिए शान्त को काव्य रस ही क्या नाट्य रस भी माना जाना जा सकता है।

भावप्रकाश में लिखा गया है शान्त रस काव्य का तो विषय हो सकता है किन्तु नाटक का नही हो सकता। क्योकि नट के साथ समस्त सामाजिक शान्त रस का आस्वादन नही कर सकते—"सामाजिकानां मनसि रसः शान्तो न जायतो"[1]

इसके विपरीत कुछ आचार्यो का कथन है कि नाटक में भी शान्त रस हो सकता है। ध्वन्यालोककार ने नागानन्द नाटक में शृंगार और शान्त दोनो रसों का परिपाक माना है। उन्होने नाट्य शास्त्र के निम्नलिखित शब्दों का उल्लेख किया है—

"त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाटय भावानुकीर्तनम्। क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थ्य. क्वचिच्छम." अर्थात् लोक के भावो का संकीर्तन नाटक मे होता है। उसमें कभी धर्म, कभी क्रीड़ा कभी अर्थ और कभी काम का प्रदर्शन होता है।

१—भावप्रकाशन पृ० ४७

अतः शम की स्थिति भी नाटक में विद्यमान होती है यह दूसरी बात है कि उसका रसास्वादन सभी व्यक्ति न कर सकते हो।

आचार्य वासुकि ने "भावप्रकाश" मे शान्त रस की प्रथम स्थापना की। अभिनव गुप्त ने शान्त रस को सर्वश्रेष्ठ रस माना है। क्योंकि इसका ध्येय मोक्ष प्राप्ति है और मोक्ष मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। काव्य का ध्येय रसास्वादन है जो ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है। वस्तुत. शान्त रस का होना भी वाछनीय है। वे लिखते हैं :—

"सर्वे रसानाम् शान्तप्रायएवा स्वाद."[२]

साहित्य दर्पणकार ने शान्त रस का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

"न यत्र दुखं न सुख न चिन्ता न द्वेषरागौ न क काचि दिच्छा
रसः सशान्तः कथितो मुनीन्द्रः सर्वेषु भावेषु सम प्रमाणः।"

अर्थात् जहाँ दु ख सुख, चिन्ता, राग, द्वेष कुछ भी नही है उसे मुनियो ने शान्त रस की सज्ञा दी है।

शान्त रस का शास्त्रीय निरूपण :—तत्व, ज्ञान और वैराग्य से शान्त रस उत्पन्न होता है।

स्थायीभाव :—शम—[3] "शमो निरीहावस्थायां स्वात्य विश्रायत्रं सुखम्" मम्मट और संगीत रत्नाकर के रचियता ने निर्वेद को शान्त रस का स्थायी भाव माना है। कुछ अन्य आचार्यो ने जुगुप्सा और उत्साह को इसका स्थायी भाव माना है। ध्वन्यालोककार ने तृष्णाक्षय सुख का स्थायी भाव कहा है। उनका कहना है कि शान्त का आस्वादन सभी नही कर सकते। अतः इसको विस्मृत नही करना चाहिए—

आलम्बन :—ससार की निस्सारिता या परमात्मा।
उद्दीपन :—तीर्थ पुण्याश्रम, वन, महापुरुषो का सत्संग।
अनुभाव :—रोमाञ्च, अश्रु, पद्मासन, लगाकर बैठना आदि।
संचारी :—निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति, धृति, दया आदि।

शान्त रस प्रधान पदो में ससार की नश्वरता को दिखाकर वैराग्य उत्पन्न किया जाता है तथा ईश्वर की ओर आने की प्रेरणा होती है। तुलसी का एक उदाहरण देखिए :—

"मैं तोहि अब जान्यो ससार।
बाँधि न सकहि मोहिं हरि के बल प्रकट कपट आगार।
देखत ही कमनीय, कछु नाहि न पुनि कियो विचार।
ज्यों कदली तरु-मध्य निहारत, कबहुँ न निकसत सार॥"

२—अभिनव भारती १; पृ० ३४०
३—साहित्य दर्पण पृ० ३/१८०

भगवान के गुण कथन के साथ-साथ शान्त के अनुभावों का भी एक उदाहरण देखिए :—

"अजहुँ आपने राम के करतब समुझत हित होइ।

× × ×

भजन विभीषन को कहा, फल कहा दियो रघुराज।

राम गरीब निवाज के बड़ी बाह बोल की लाज॥

× × ×

सजल नयन, गद्‌गद् गिरा, गदवर मन पुलक शरीर।

यहाँ पर शान्त रस के अनुभावो का बड़ा सुन्दर दिग्दर्शन है।

वात्सल्य रस

वात्सल्य को दसवाँ रस माना गया है। परन्तु इसके सम्बन्ध मे शान्त रस के समान ही विवाद रहा है। प्राचीन आचार्यों ने वात्सल्य रस का उल्लेख नही किया। बालकृष्ण के उपासकों ने वात्सल्य रस को मान्यता दी, तथा सूर और तुलसी के द्वारा यह रस अपनी पूर्णता को पहुँचा।

स्थायी भाव :—स्नेह।

आलम्बन :—पुत्रादि।

उद्दीपन :—उनकी चेष्टाएँ, तुतलाना आदि क्रियाएँ, विद्याप्रेम, शौर्यादि गुण।

अनुभाव :—आलम्बन का आलिङ्गन, सिर सूंघना, उसकी ओर देखना थपथपाना, रोमांच आदि।

संचारी भाव :—शंका, हर्ष, गर्व आदि।

वात्सल्य का अनुभाव रूप निम्नलिखित पद मे बहुत सुन्दर मिलता है—

"हौ बलि जाऊँ छबीले लाल की।

धूसरि धूर घुटरुवनि रेंगति, बोलनि वचन रसाल की।

यहाँ पर बालकृष्ण की चेष्टाओं का वर्णन है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने बालक राम की चेष्टाओ का बड़ा विशद, स्वाभाविक तथा सुन्दर वर्णन किया है। देखिए :—

कबहुँ सासि माँगत आरि करै, कबहुँ प्रतिबिम्ब निहारि डरै॥

कबहुँ करताल बजाय के नाचत, मातु सबै मन मोद भरै।

कबहूँ रिसआइ कहैं हठि कै, पुनि लेत सोइ जेहि लागी अरै

अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी मन मन्दिर में विहरैं॥

नीचे की पक्ति मे शान्त रस या भक्ति रस के दर्शन होते हैं।

माता की चिन्ता वात्सल्य रस के संचारियो में से है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण हमें सूरदास के निम्नलिखित पद में प्राप्त होता है। कृष्ण जी जब देवकी

के पास चले जाते हैं तब यशोदा को उनकी चिन्ता होती है। देखिए कितना मार्मिक चित्र है :—

"सन्देसो देवकी सों कहियो
हौंतो धाय तिहारे सुत की दया करत ही रहियो।
जदपि टेव तुम जानति उनकी तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल-लड़ैतेहि माखन रोटी भावै॥

निम्नलिखित पद मे गर्व सचारी का सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है—

"मोहन मानि मनायो मेरो।
हौं वलिहारी नन्द नन्दन की, नेकु रतै हँसि हेरो।
कारो कहि-कहि तोहि-खिजावत, बरजत खरो अनेरो।
इन्द्र नील मनि तैं तन सुन्दर कहा कहै बल चेरो।
न्यारो जूथ हाँकि लै अपनी न्यारी गाय निवेरो।
मेरो सुत सरदार सबनि को, बहुतै कान्ह बड़ेरो॥"

यहाँ पर यशोदा जी कृष्ण जी के काले पन पर गर्व करती हैं और उनके हृदय से हीनता भाव दूर करती हैं।

सूरदास जी ने शका सचारी के भी बहुत सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं :—

"यशोदा बार बार यों भाखै।
है कोई व्रज हितू हमारो, चलत गोपालहि राखै।
कहा काज मेरे छगन मगन को नृप मधुपुरी बुलायो।
सुफलकसुत मेरे प्राण हनन को कालरूप है आयो॥

प्रिय-प्रवास मे भी वात्सल्य रस के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।

भक्ति रस

शान्त रस तथा वात्सल्य रस के समान भक्ति रस के सम्बन्ध मे भी विद्वानों मे मतभेद रहा है। आचार्य मम्मट के समय तक के प्रमुख आचार्यों ने भक्ति रस को स्वतन्त्र रस के रूप मे ग्रहण नही किया। पडितराज जगन्नाथ ने भी नवरसो का ही वर्णन किया। भरतमुनि ने भक्ति को रस शान्त रस के अन्तर्गत माना है। सर्वप्रथम भक्तो ने भक्ति रस को स्वतन्त्र स्थान दिया। वैष्णवाचार्यो ने भक्ति को मुख्य रस मानकर इसके मुख्य भेदो मे शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर (शृंगार) माने हैं। और हास्य अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स को गौण मे स्थान दिया है। रूप गोस्वामी ने "भक्ति रसामृत सिन्धु" मे भक्ति रस को स्वतन्त्र रस मानते हुए उसे उज्जवल रस कहा है।

"शान्तप्रीतिप्रेयो वत्सलोज्जवलनामसु।"

रूपगोस्वामी जी ने अपने दूसरे ग्रन्थ "उज्जवल नीलमणि" मे भक्तिरस का वर्णन इस प्रकार किया है :—

"वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यै स्वाद्यतां मधुरा रति ।
नीता भक्ति रस प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभि ॥"

वस्तुत: भक्तिरस को स्वतन्त्र रस मानने मे कोई विशेष बाधा भी नही है। शान्त रस मे वैराग्य का अस्तित्व होता है और भक्ति मे राग का। भक्ति मे भी सासारिक विषयो से वैराग्य रहता है। इसमे राग केवल सच्चिदानन्द परमात्मा या उसके अवतारो से होता है।

साहित्य दर्पणकार ने रति की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

"रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणमितम् ।"

अर्थात्—"मन के अनुकूल वस्तु से मन का प्रेमार्द्र होना रति है।"

देवाधिदेव विषयक रति भक्ति रस का स्थायी भाव है। इस स्थायी भाव में भी वही कोमलता और तन्मयता है जो अन्य रसो मे है। कुछ लोगो ने देव रति तथा पुत्र रति दोनो को शृँगार में स्थान दिया है। किन्तु इन्हे शृँगार के अन्तर्गत मानना न्यायसंगत प्रतीत नही होता। शृँगार शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ से यह स्पष्ट हो जाता है। आचार्य मम्मट ने शृंगार की परिभाषा इस प्रकार दी है :—

"शृँग हि मन्मथोद्रेकस्तदागमनहेतुक." अर्थात् शृँग मन्मथ या कामदेव को कहते हैं। उसके आगमन का कारण शृँगार कहलाता है।

यहाँ मम्मट ने केवल दाम्पत्य रति को शृँगार के अन्तर्गत स्थान दिया है। उसने देवता, गुरु, पुत्र आदि को रति के भाव अन्तर्गत माना है।

वस्तुत: भक्ति रस को स्वतन्त्र रस मानने मे कोई आपत्ति नही है। रूप गोस्वामी ने भक्ति रस को रसराज शृँगार से श्रेष्ठ माना है।

"अत्रैव परमोत्कर्षः शृँगारस्य प्रतिष्ठितः। तथा च मुनिः। बहु वार्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्नकामुत्वं च। मा च मिथो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रतिः। लघुत्व मत्र यत्प्रोक्तं तन्तु प्राकृतनायके। न कृष्णे रसनिर्यास्वादार्थमव तारिणि।"[1]

महामहोपाध्याय पी० वी० काने लिखते हैं —[2]

"रूप गोस्वामी says that what is called illicit and secret love and is ordinarily condemned is the highest pinnacle of srringara and that the condemnation applies only to ordinary mortals and not to a completely perfect avatara (Krisna) who took to an incarnatation to give a taste of mystic love to his devotees."

शृँगार रस के आलम्बन तो लौकिक होते हैं किन्तु भक्ति रस के आलम्बन

१—"उज्जवल नील मणि"

२—हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स पृष्ठ ३००

भगवान राम और कृष्ण हैं। इस दृष्टि से भी भक्ति रस शृंगार रस से श्रेष्ठ माना जायेगा।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति रस के आनन्द को समाधिजन्य आनन्द के समान माना है।

"समाधिसुखस्यैव भक्तिसुख स्यापि स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात्......
भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति निर्विवादम् ॥"[1]

श्रीमद्भागवत मे तो भक्ति रस का आनन्द ब्रह्मानन्द के समान माना गया है। आनन्दवर्धनाचार्य ने भी भक्ति रस के आनन्द तथा सुख को सबसे बढ़कर माना है :—

"या व्यापारवती रसानूसमितु काचित्कवीनां नवा;
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयम्,
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन् त्वद्भक्तितुल्यं सुखम् ॥"[2]

भक्ति रस का शास्त्रीय निरूपण :—

स्थायी भाव—देवादिविषयक रति।

अनुभाव—अनन्यासक्ति जनित अश्रु, रोमाच आदि।

आलम्बन—अवतारी श्री रामचन्द्र जी तथा कृष्ण जी।

व्याभिचारी—हर्ष, औत्सुक्य, आवेग, चपलता, दैन्य, स्मरण आदि।

भक्ति रस भी श्रेष्ठ रस मानना पडेगा और उसकी सत्ता स्वतन्त्र रस के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

रसों की संख्या के सम्बन्ध मे कुछ मत—रसो की सख्या के सम्बन्ध में भी विद्वानो मे मतभेद रहा है। भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में चार रसो का प्रधान रूप से वर्णन किया है—रौद्र, वीर, वीभत्स और शृंगार। उन्होंने क्रमशः करुण, अद्भुत, भयानक तथा हास्य रसो की उत्पत्ति इन्ही से स्वीकार की है। अतः नाट्य शास्त्र मे उन्होने आठ रसो का उल्लेख किया है :—

"अष्टौ नाट्ये रसा. स्मृता."

उन्होंने इन आठ रसों का वर्णन इस प्रकार किया है :—

"शृंगार हास्य करुणा-रौद्रवीर भयानका.
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टो नाट्ये रसाः स्मृताः"

इन रसो के उपरान्त उन्होने "शान्तोऽपि नवमो रसाः" कहकर शान्तरस की ओर भी संकेत किया। उन्होंने सब रसो की उत्पत्ति और समाहार शान्त रस मे माना है।

१—भक्ति रसायन प्रथम उल्लास, पृ० ६

२—ध्वन्यालोक पृ० २२७

"स्व स्व निमित्तमासाद्य शान्ताद्भाव: प्रवर्तते
पुनर्निमित्तापामे च शान्त एवोपलीमते ।"

भक्तिरस को उन्होंने शान्तरस मे स्थान दिया है ।

कुछ आचार्यो ने एक ही रस को प्रधानता दी है। उन्होंने रस को अलौकिक तत्त्व माना है। किन्तु किसी ने शान्त रस को प्रधानता दी है किसी ने करुण को; किसी ने हास्य को और किसी ने शृंगार को ही एकमात्र रस माना है। छान्दोग्योपनिषद् मे आत्म रस को ही मात्र रस स्वीकार किया गया है :—

"आत्मनोऽन्यत्रं मा तु स्यात् रसबुद्धिर्न सा ऋता
आत्मन: खलु काभाय सर्वमन्यत् प्रिय भवेत्
सत्यो ध्रुवो विभुर्नित्यो एक आत्मरस: स्मृत: ।"

"विक्रमोर्वशीय" तथा "काव्यादर्श" में नाट्य शास्त्र मे वर्णित आठ रसों का ही वर्णन मिलता है। उन्होंने शान्त का उल्लेख नही किया। उद्भट ने शान्त रस को मानकर नौ रसों का वर्णन किया है। कुछ विद्वानो का विचार है कि शान्त रस की उद्भावना का श्रेय उद्भट को ही है। रुद्रट ने काव्यालकार मे दस रसों का उल्लेख किया है। उन्होने प्रेमान् नामक दशम रस की कल्पना की है। इसका स्थायी भाव उन्होंने स्नेह माना है।

भोज ने बारह रसों को स्वीकार किया है। उन्होने प्रेमान् उदात्त और उद्धत को भी रस के अन्तर्गत माना है।

"वीभत्सहास्य प्रेयास: शांतोदात्तोद्धता रसा:"[1]

रस तरङ्गिणी मे शान्तरस के स्थान पर मायारस का उल्लेख मिलता है। उद्भट, मधुसूदन आदि विद्वानों का विचार है कि प्रत्येक रसास्वादन योग्य भाव रस रूप मे परिणित हो जाता है। अभिनवगुप्त ने दो अन्य रसों की उद्भावना की है। उनके नाम हैं—स्नेह रस और लौल्य रस।

जगन्नाथ ने भक्तिरस को भाव ध्वनि कहा है। उज्जवल नील मणि ने भक्ति को शुभ और पवित्र रस माना है।

भागवत में भक्ति रस की चर्चा भागवत रस के रूप मे मिलती है :—

"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतयुवसेयुक्तम्
पिवत् भागवतं रसमालय मुहुरहो रसिका भुविभावुका."

रूप गोस्वामी आदि ने भक्ति रस को स्वतन्त्र रस माना है। किन्तु विद्वानों ने प्रमुख रूप से नौ रसों को ही स्वीकार किया है।

रस दोष—यद्यपि काव्य के सभी दोष रस-दोष कहलाते हैं, क्योकि इनके द्वारा रसानुभूति में बाधा उपस्थित होती है तथापि कुछ दोष ऐसे होते हैं जिनका

१—सरस्वती कठाभरण

सम्बन्ध केवल रस से ही है। यहाँ हम साहित्यदर्पण के अनुसार उन्हीं रस-दोषों का उल्लेख करेंगे :—

(१) रस या उसके स्थायी भाव का उसी शब्द द्वारा वर्णन अर्थात् जिस रस का वर्णन हो रहा हो उसका नाम इंगित करना। रस को व्यंजित करने में जो सौन्दर्य तथा आनन्द आता है वह नाम लेने में नहीं आ सकता। इसे रस और व्यंजना के पारस्परिक सम्बन्ध का उदाहरण कह सकते हैं। सचारी भावों के स्वशब्द वाचयत्व मे इतना दोष नही आता। जब रस विभाव-अनुभाव द्वारा स्पष्ट न हो सके—वहाँ यदि उसका नाम दे दिया जाय तो दोष नही माना जायेगा। यहाँ पर हम स्थायीभाव की स्वशब्द वाचकता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :—

"शरद निशा प्रीतम प्रिया, विहरति अनुपम भाँति।
ज्यो त्यो रात सिअरात अति, त्यों त्यो रति सरसाति।"

(२) विरोधी रसो के अनुकूल स्थायी भावों का उल्लेख—यदि परस्पर विरोधी रस उपस्थित किये जायें तब तो दोष होता ही है, किन्तु उसकी सामग्री का समावेश करने से भी दोष आ जाता है। जैसे—"मान मा कुरु तन्वङ्गि ज्ञात्वा यौवनमस्थिर" अर्थात् "हे तन्वङ्गि ! तू यौवन को अस्थिर जानकर मान मत कर।" यहाँ यौवन की नश्वरता शान्त रस का उद्दीपन है। अतः इसके उल्लेख से दोष आ गया है।

(३) जब विभावादि के सम्बन्ध में अस्पष्टता या विकल्प हो, तथा कल्पना को अधिक श्रम करना पड़े तब दोष आ जाता है। जैसे :—

"उठति गिरति फिर-फिर उठति, उठि-उठि गिरि-गिरि जात।
कहा कहौं का से कहौ क्यो जावे यह राति॥"

उपर्युक्त दोहे मे यह स्पष्ट नही है स्त्री की यह दशा क्यो हुई। इसमें विरह रोग तथा साधारण रोग में अन्तर करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(४) उचित स्थान न होने पर भी रस का प्रयोग—जहाँ उस रस का प्रसंग तो हो नहीं और रस का प्रयोग कर दिया जाय तो दोष होता है। करुण के वर्णन में यदि शृंगार का समावेश कर दिया जाय तो दोष आ जायेगा। इसके उदाहरण में भिखारीदास ने सती होने वाली एक स्त्री का वर्णन दिया है :—

"सजि सिंगार सर पै चढी, सुन्दरि निपट सुवेश।
मनो जीति भुविलोक सब, चली जितन दिव देस।"

यहाँ सुन्दरता की व्यंजना मे दिवलोक पर विजय पाने का वर्णन है। उसमें शृंगार व्यंजित है अत दोषपूर्ण है। यदि आध्यात्मिकता नैतिकता के द्वारा यह विजय होती तो दोष नही कहा जा सकता।

(५) रस विच्छेद—जहाँ एक रस की स्थिति हो और उसकी पूर्ण प्रतीति हुए बिना दूसरे रस का समावेश कर दिया जाय तो यह दोष होगा। इसके उदाहरण

मे साहित्य दर्पणाकार ने महावीर चरित मे से उस स्थल का उल्लेख किया है जहाँ परशुराम तथा श्री रामचन्द्र जी का वीरोचित वार्तालाप चल रहा था, परन्तु रनवास से कङ्कण खुलवाने का निमन्त्रण पाकर श्री रामचन्द्र जी गुरुजनो की आज्ञा का आदेश पाकर अन्दर जाने को प्रस्तुत हो जाते हैं। वही यह प्रसंग एकदम समाप्त हो जाता है। परन्तु इस सम्वन्ध में भवभूति ने उस स्थल पर जनक जी तथा शतानन्द जी को लाकर वातावरण अपेक्षाकृत शान्त कर दिया है।

(६) रस की पुन. पुनः दीप्ति—रस वर्णन भी सीमा में होना चाहिए। सीमा का अतिक्रमण करने से रस-दोष आ जाता है। जव एक ही वात को (रूपको, उपकार्यों, वक्रताओ के विना) वार-वार कही जायेगी तो शैथिल्यता आ जायेगी। "अति सर्वत्र वर्जयते" की उक्ति यहाँ भी चरितार्थ होती है। इस सम्वन्ध में कुमार-सम्भव का "रति-विलाप" उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है।

(७) अङ्गी को भूल जाना—जव मुख्य वस्तु को विस्मृत कर दिया जाय तो रस-दोष होता है। क्योकि प्रिय वस्तु को विस्मृत करना उसके प्रति स्नेह की कमी को प्रकट करना है। इसके उदाहरण मे भिखारीदास ने एक नायिका का उदाहरण प्रस्तुत किया है जो नायक को तो सहेट स्थल पर भेज देती है और स्वय खेल मे संलग्न हो जाती है। यह स्नेह की कमी का द्योतक है।

प्रीतम पठैं सहेट निज, खेलन अटकी जाय।
तकि तेहि आवत उतहिते, तिय मन मन पछताय ।।"

इसी प्रकार "रत्नावली" के चतुर्थ अक मे वाभ्रव्य के आ जाने पर राजा सागरिका को विस्मृत कर देता है।

(८) अङ्ग को प्रमुखता देना—शृँगार रस में नायक नायिका अङ्गी माने जाते हैं। दूती, सखी आदि उद्दीपन रूप से अङ्ग होते हैं। यदि नायिका को प्रधानता न देकर उसकी दासी को प्रधानता दी जायेगी तो यह दोप होगा। इसका उदाहरण देखिए :—

"दासी जो मण्डन समय, दखन भाग्यो वाम।
बैठ गई सो सामुहे, करि आनन अभिराम ।।"

इसमें नायिका की उपेक्षा करके दासी के मुख की उज्जवलता का वर्णन है। केशवदास जी भी श्री सीता जी की दासियों का उल्लेख करते हैं।

(९) प्रकृति विपर्यय—साहित्यशास्त्र में नायकों की प्रकृतियों के अनुसार कई वर्ग किये गये हैं और उनकी प्रकृति के अनुकूल ही रस-परिपाक का विधान वतलाया है। दिव्य के अन्तर्गत देवता आते हैं। उनके लिए वीर और रौद्र के सम्वन्ध मे लोकोत्तर कार्यों का वर्णन वाँछनीय है। अदिव्य में मनुष्य होते हैं और लोक मर्यादा की सीमा में रहते हैं। दिव्यादिव्य में अवतार आते हैं। अदिव्य के लिए शोक हास, रति और अद्भुत रस का विधान होना चाहिए। दिव्यादि के लिए भी इन

रसो का प्रयोग हो सकता है। देवताओ की रति का वर्णन करना रस-दोष कहलाता है। कुमार सम्भव में यह दोषपूर्ण परिलक्षित होता है।

इसी प्रकार हमारे यहाँ नायको के चार विभाग किये गये हैं और उनके अनुकूल रसो का भी उल्लेख है।

१–धीरोदात्त—इसके लिए वीर रस आवश्यक माना गया है।

२–धीरोद्धत—धीरोद्धत के लिए रौद्र रस विशिष्ट है।

३–धीरललित—धीरललित के लिए शृंगार रस उपयुक्त है।

४–धीर प्रशान्त—धीर प्रशान्त के लिए शान्त रस उपयुक्त है।

इन नायको का यदि उनकी प्रकृति के प्रतिकूल वर्णन किया जायेगा तो रस-दोष होगा। जैसे—धीरोदत्त नायक नीतिवान, गम्भीर, उदार तथा क्षमावान होता है जैसे श्री रामचन्द्र जी। परन्तु यदि उनकी प्रकृति के प्रतिकूल वर्णन होगा तो अवश्य रस-दोष आ जायेगा। साहित्य दर्पणकार ने श्री रामचन्द्र जी का बालि को पेड़ की ओट में मारना प्रकृति विरुद्ध दोष बतलाया है।

यह विभाजन उस समय की संस्कृति के अनुकूल है। आज वर्ण भेद से गुण निश्चित करना सम्भव प्रतीत नही होता। परन्तु फिर भी प्रत्येक नायक में अपनी निजी विशेषता होती है। भारतीय समीक्षा क्षेत्र में दोषो का केवल वर्णन ही नही है उनके परिहार के लिए भी नियम बतलाये गये हैं।

रसों की मैत्री और शत्रुता.—भारतीय साहित्य शास्त्र मे रस नौ माने गये हैं। कुछ रस तो ऐसे होते हैं जो काव्य मे एक ही स्थल पर प्रयुक्त होते हैं। किन्तु कुछ रसों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता। परस्पर सम्बन्धित रसो के योग को आचार्यो ने रस मैत्री कहा है और विरोधी रसो को रस विरोध कहा गया है।

रस मैत्री का अभिप्राय यह है कि कौन कौनसे रस किससे मेल रख सकते हैं। हास्य के साथ करुणा का योग नही हो सकता और न शृंगार के साथ वीभत्स का। कुछ रस ऐसे हैं जिनका एक आलम्बन मे योग नही हो सकता, कुछ का एक आश्रय में। शृंगार और वीर का एक आलम्बन नही हो सकता। जिसके प्रति प्रेम प्रदर्शित किया जाय उसके प्रति वीरता के भाव नही दिखाये जा सकते। एक ही आश्रय में वीर और भयानक का योग नही हो सकता।

काव्य में रस मैत्री उसे कहते हैं जिसमे परस्पर मित्र रसो का एक ही आलम्बन तथा आश्रम हो। देव कवि ने शृंगार और हास्य, करुण और रौद्र, वीर और अद्‌भुत, वीभत्स और भय को परस्पर मित्र रस माना है। देव कवि लिखते हैं:—

"होत हास, सिंगार ते, करुण, रौद्र ते जानु।
वीर जनित अद्‌भुत कहो, वीभत्स ते भयानु।

ये आपस में मित्र हैं, जन्य जनक के भाई।
मित्र वरनिये शत्रु तजि, उदासहू रस जाई ॥"[1]

रस विरोधः—कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि एक ही काव्य मे एक से अधिक रसो का समावेश कर दिया जाता है। रस विरोध तीन प्रकार का होता है—

(१) आलम्बन विरोधः—जब दो विरोधी रसों के लिए एक ही आलम्बन का प्रयोग किया जाता है तब आलम्बन विरोध होता है। शृंगार और वीर का एक आलम्बन नही हो सकता।

(२) आश्रय विरोधः—जब एक ही आश्रय में परस्पर विरोधी रसों का योग होता है तब आश्रय विरोध होता है। यदि एक ही आश्रय में वीर और वीभत्स का योग कर दिया जायेगा तो आश्रय विरोध होगा। क्योकि भय और उत्साह की उद्भूति एक साथ सम्भव नही।

(३) नैरतर विरोधः—जब दो विरोधी रसो के मध्य उन दोनों का अविरोधी रस नही लाया जाता तब नैरन्तर विरोध होता है। शान्त और शृंगार रस का अविरोधी रस करुण हो सकता है। परन्तु यदि इन दोनो रसो के बीच करुणा के स्थान पर वीभत्स रस रखा जायेगा तो नैरन्तर विरोध कहलायेगा। पारस्परिक विरोधी रस निम्नलिखित हैः—

शृंगार के विरोधी रस हैं	करुण, शान्त, वीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक।
हास्य के विरोधी रस हैं	भयानक और करुण।
रौद्र के विरोधी रस हैं	हास्य, शृंगार और भयानक।
भयानक रस के विरोधी हैं	शृंगार, हास्य, भयानक और वीर।
वीभत्स रस के विरोधी हैं	शृंगार।
वीर रस के विरोधी हैं	भयानक और शान्त।

जब दो विरोधी रसो के विभवादि का वर्णन होता है तब रस-दोष होता है। विश्वनाथ ने "साहित्यदर्पण में लिखा है—

परिपन्थि रसाङ्गस्य विभावादे' परिग्रहः।"

इस सम्बन्ध में ध्वन्यालोक मे भी संकेत किया गया है।

"विरोधी रस सम्बन्धि विभावादि परिग्रहः।"

रसों के विरोधी का परिहारः----रसो के दोपो का ही सहज में परिहार हो जाता है।

१—जहां एक स्थायीभाव या रस के विरोध का प्रश्न है? यदि उनके आलम्बन पृथक-पृथक हैं तो कोई विरोध नही होता। यदि रसों को भिन्न-भिन्न आलम्बों के सहारे दिखाया जाय तो दोप नही कहलायेगा। उदाहरण के लिए मालती-

---

१—शब्द रसायन चतुर्थ प्रकाश पृ० ४५

माधव में शृंगार रस है उसके पंचम अंक मे वीभत्स का चित्रण है। ऐसी स्थिति में क्या यह विरोधी है ? नही, मालती-माधव में एक साथ शृंगार तथा वीभत्स का उपनिबन्धन विरोधी इसलिए नही होता कि इन दोनो के आलम्बन भिन्न-भिन्न हैं। शृगार का आलम्बन मालती है तो वीभत्स का श्मशान। वही रौद्र रस का उपनिबन्धन है, जहाँ अघोर घण्ट कापालिक माधव के क्रोध का आलम्बन बनता है। यदि पृथक-पृथक आलम्बन बनाकर विरोधी रसो का उपनिबन्धन किया जाय, तो विरोध नही होता, और न वे एक दूसरे के बाधक ही होते हैं।

२—इसी प्रकार यदि एक आश्रय मे, जिन रसो का विरोध हो उनके आश्रय को पृथक-पृथक करने से विरोध का परिहार हो जाता है। जैसे:—

"धनुष चढावत तोहि लखि सनमुख रत-भुविमाप।
मृगगन जिमि मृगराज ढिग अरिजन जाहिं पलाय॥"[1]

यहाँ पर वीर और भयानक दोनो का आलम्बन राजा है। परन्तु आश्रय पृथक-पृथक हैं। वीर के स्थायी भाव उत्साह का आश्रय राजा और वीभत्स के स्थायी भाव भय के आश्रय शत्रुगण हैं। अतः यहाँ विरोध नही है।

३—जहाँ नैरन्तर दोष हो वहाँ परस्पर विरोधी रसो के विरोध परिहार के लिए दोनो रसो के बीच ऐसे रस का समावेश कर दिया जाय जो दोनो का विरोधी न हो। इसका उदाहरण नागानन्द नाटक से दिया जा सकता है। शान्त रस का नायक जीमूतवाहन के मलयवती नायिका से शृंगार की बात करने से पूर्व बीच में अद्भुत रस का समावेश कर दिया गया है इससे दोष का परिहार हो जाता है। शकुन्तला नाटक मे कालिदास ने इस कार्य को बड़ी कुशलता से निभाया है।

इसी सम्बन्ध मे एक प्रश्न उठता है। जहाँ एक ही रस प्रमुख हो वहाँ अन्य विरोधी या अविरोधी रसो को उसका अग मानकर विरोधाभाव मानना ठीक है। परन्तु ऐसे भी काव्य हैं, जहाँ कई रसो का समप्राधान्य देखा जाता है, इन काव्यो मे रस विरोध का परिहार कैसे किया जाय ? वृत्तिकार धनिक ने इस शंका के उठाते समय कई ऐसे काव्य-पद्य प्रस्तुत किये हैं, जहाँ एक से अधिक भावो का समप्राधान्य देखा जाता है। वृत्तिकार इस शंका का निराकरण करते हुए बताते हैं कि वस्तुत इन स्थलो मे भी प्रधान भाव तथा प्रधान रस एक ही है। दूसरे उपन्यस्त रस या भाव गौण ही होते हैं। इस सम्बन्ध मे चक्रवाकी की विरह दशा का उदाहरण दिया जा सकता है।

सूर्यास्त हो रहा है, सूर्य का बिम्ब पश्चिम में डूबने जा रहा है, रात्रि के आगमन की आशका से भविष्यत् प्रिय विरह शकनी चकवी सूर्य बिम्ब को एक आँख से गुस्से के साथ देख रही है। उसकी दूसरी आँख प्रिय पर टिकी है और उस आँख में आँसू भर आये है। इस तरह चकवी एक कुशल नर्तकी की तरह एक साथ दो

१—शब्द रसायन चतुर्थ प्रकाश पृ० ४५

रसो की व्यंजना कर रही है । यहाँ हम देखते हैं कि चकवी एक ओर क्रोध का अनुभव कर रही है, दूसरी ओर विरह-विदग्धता का । इस प्रकार इस पद्य में एक साथ रति, शोक तथा क्रोध की व्यंजना हो रही है । देखिए:—

"एकेनाक्ष्णा प्रवित तरुषा वीक्षते व्योम संस्थं
भावोर्बिम्बं सजललुलितेना परेणात्मकान्तम् ।
अहृश्छेदे दमिन विरहाशङ्किनी चक्रवाकी
द्वै सङ्कीर्णो रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा ॥"

यहाँ यह शंका हो सकती है कि तीनों भावों का समप्राधान्य है । धनिक इससे सहमत नही हैं । वे रस विरोध का निराकरण करते हुए बतलाते हैं कि इस काव्य में प्रमुखता भविष्य द्विप्रलम्भ की है, अतः यहाँ अनेक तात्पर्य की समप्रधानता नही ।

मम्मट ने "काव्य प्रकाश" मे रस विरोध परिहार के कुछ अन्य प्रकार भी बतलाये हैं ।

स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः ।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥

अर्थात् जहाँ पर परस्पर विरोधी रस में से एक प्रत्यक्ष न रहकर स्मरण किया जाय अथवा जहाँ समतापूर्वक वर्णन किया जाय या एक रस दूसरे रस का अंगी बना दिया जाय तो ऐसे दो विरोधी रसों का एक साथ आना दोप का कारण नही होता । स्मर्मयाण रस एक प्रकार से दूसरे रस का अंग बन जाता है ।

साकेत मे उर्मिला के वियोग वर्णन में अन्य रसो का स्मृति-रूप से वर्णन किया गया है । उर्मिला स्मृति रूप मे विवाह से पूर्व भी कथा विरह मे कहती है:—

"कृति में दृढ कोमलाकृति, मुनि के संग गये महाधृति ।
भय की परि कल्पना बड़ी, पथ मे आकर ताड़का अड़ी ।
प्रभु ने, वह लोक भक्षिणी, अबला ही समझी अलक्षणी,
पर थी वह आततायिनी, हत होती फिर क्यों न डाइनी ।
सुख शान्ति रहे स्वदेश की, यह सच्ची छबि क्षत्रिय वेश की ॥"

उपर्युक्त उदाहरण में वीर के साथ भयानक और वीभत्स का समावेश है । अलक्षणी, आततायिनी, भक्षिणी आदि वीभत्स के आलम्बन हैं ।

साम्य विवक्षा के द्वारा परिहार—समानतापूर्वक वर्णन की इच्छा से विरोधी रसों का वर्णन यदि किया जाय तो दोप परिहार हो जाता है । इसका उदाहरण "काव्य प्रकाश" में इस प्रकार मिलता है :—

"दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटि तानि प्रोद्भिमयसान्द्र पुलकैर्भवतः शरीरे ।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्या जात स्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥"

अर्थात् "हे जिनराज! आपके घने रोमाचपूर्ण शरीर मे सिंहनी के रक्तलाभ

की इच्छा से नख और दाँतों द्वारा किये हुए घावो को मुनि लोग बड़ी लालसा से देखते हैं।" यहाँ पर नख और दन्त-क्षेत्रो का शृंगारिक चित्रावली शान्त रस मे शृंगार का उपमान रूप से वर्णन किया गया है।

दूसरे किसी भाव या रस के अग हो जाने से परिहार—दूसरे भाव या रस के अग रूप से विरोधी रसो का वर्णन करने से दोप परिहार हो जाता है। जैसे :—

"आवतु है न बुलावतु हूँ भई प्राथिक हू मुख को न दिखावै
बातैं अनेक रहस्यमयी मुनिके हूँ नही कछु बोलि सुनावै
पास गये हू न ह्वै समुही कर्त्तव्य विमूढ भई दरसावै
भूपति तेरे रिपून की वाहिनी मानवती जुवती सी लखावै।"

यहाँ राजा की वीरता की प्रशंसा के साथ-साथ रिपु-वाहिनी की उपमा मानिनी युवती से दी गई है। अतः यहाँ भयानक तथा शृंगार दो रस एक साथ हैं। परन्तु भयानक के राजविपयक रति का अग हो जाने के कारण दोप परिहार हो गया है।

विरोधी रस के बाधित होने पर परिहार—प्रधान रस के आधिक्य पर विरोधी रस के प्रयोग से रस बाधित हो जाता है।

"साँचहु विभव सुरम्य हैं रमनी हूँ रमनीय।
पै तरुनी-भगि लौ चल जीवन रमनीय॥"

यहाँ पर शृंगार तथा शान्त दो रस हैं, किन्तु शान्त शृंगार मे बाधा उपस्थित करती है।

भाव—भाव के व्यापक अर्थ में तो सभी रस सामग्री तथा रसों का समावेश हो जाता है। किन्तु भाव का एक विशेप अर्थ भी है जिसमे वह अपूर्ण रस के रूप में प्रतिष्ठित रहता है। साहित्य दर्पण मे भाव की व्याख्या इस प्रकार है :—

सचारिण: प्रधानानि देवादि विपया रति:।
उद्वुद्धमात्र: स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥

अर्थात् "प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि, संचारी, देवता आदि विषयक रति और विभावादि के अभाव से उद्वुद्ध मात्र रति आदि स्थायी भावों को भाव कहते हैं।"

देवता, गुरु, महापुरुप और पुत्र आदि के प्रति जो पूज्य वुद्धि, श्रद्धा वुद्धि, या वात्सल्य-वुद्धि होती है उसे भाव कहते हैं। इसी प्रकार जब आलम्बन को देख कर उसके अनुकूल स्थायी भाव जाग जायें किन्तु उद्दीपन, अनुभाव और सचारी न हो तब वे भी भाव ही की सज्ञा पाते है। इनके अतिरिक्त जहाँ संचारी भाव ही प्रधानता से व्यक्त होते दिखाई पड़ें वे भी भाव ही कहलायेगे जैसे हर्प, उत्सुकता आदि।

इस प्रकार से भाव तीन प्रकार के हुए :—

(१) प्रधान रूप से प्रकट होने वाले संचारी भाव।

(२) देवादि विषयक रति।

(३) केवल उद्‌बुद्धि मात्र स्थायी भाव।

(१) प्रधान रूप से प्रकट होने वाले संचारी भाव का उदाहरण देखिए:—

"मधुकर देखि श्याम तन तेरो
हरिमुख की सुन मीठी बातें डरपत है मन मेरो।"

सूर के इस पद में शंका नाम के सचारी भाव की प्रधानता है।

(२) देवादि विषयक रति का उदाहरण सूर के निम्नलिखित पद मे बहुत मुन्दर मिलता है।

"चरण कमल बन्दौ हरि राई"

(३) उद्‌बुद्ध मात्र स्थायी भाव—इसका उदाहरण निम्नलिखित है :—

कोसल राज के काज हौं आज त्रिकूट उपारि लै वारिध बोरौ।
महा भुजदण्ड द्वै अण्डकटाह चपेट की चोट चटाक दै फोरौ।
आयुस भंग ते जौ न डरौं सव मीत्र सभासद सोनित सोरौ।
वालि को वालक जौ "तुलसी" दसहू मुख के रन मे रह तोरौ॥

यहाँ आयुस भग की शंका से उत्साह की पूर्णता नही हो पाई। भाव ही रह गया है, रस नहीं बन पाया।

रसाभास—जब अनुचित और असगत रीति से रस का प्रयोग किया जाता है तो अनौचित्य के कारण रस विरस हो जाता है। अतः वह रसाभास कहलाता है। "अनुचित है रसभाव जहँ तै कहिये आभास" इसका एक उदाहरण देखिए :—

"केशव केसनि अस करी जस अरिहू न कराहिं।
चद्रवदनि मृगलोचनी वावा कहि-कहि जायें।

आनन्दवर्धन ने कहा है कि अनौचित रसभग का सबसे बड़ा कारण है। औचित्य मे ही रस का रहस्य निहित है :—

"अनौचित्याहतनान्मद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यवन्धस्तु रसस्योपनिपत्परा॥

वैसे तो औचित्य के अन्तर्गत अलकार रीति आदि सभी आ जाते हैं किन्तु रसाभास के लिए आलम्व और आश्रयो के औचित्य को विशेप महत्व दिया जाता है। अभिनव गुप्त ने कवि की रसिकता मे विभावादि के औचित्य पर विशेष बल दिया है :—

"विभापाद्यौचित्येन बिना का रसवता कवेरिति।"

भावाभास—जब रसाभास के भंग होकर भाव आते हैं तब उन्हे भावाभास कहा जायेगा। जैसे पक्षी द्वारा चिन्ता का वर्णन। भावाभास का उदाहरण देखिए :-

"दरपन मे निज छाँह-संग लखि प्रीतम की छाँह।
खरी ललाई रोस की ल्याई अँखियन माँहि।

—काव्य दर्पण

भावशान्ति—जहाँ एक भाव का वर्णन चल रहा हो और उसी समय अकस्मात् दूसरे भाव के आ जाने के कारण प्रथम भाव की समाप्ति हो जाय। तो उस प्रथम भाव की समाप्ति से जो चमत्कार आता है उसे भावशान्ति कहेंगे। यथा :—

"बहुविधि सोचत सोच-विमोचन। स्रवत सलिल राजिवदल-लोचन।
प्रभु प्रलाप सुनि कान, विकल भए वानर निकर।
आए गए हनुमान, जिमि करुणा महँ वीररस
हरखि राम भेंटेउ हनुमाना। (अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना)॥

—तुलसी

भावोदय—भाव शान्ति पर जब कोई दूसरा भाव उद्भूत होता है तो उसकी उद्भूति से जो चमत्कार आता है उसे भावोदय कहते हैं। जैसे :—

"विहग समान यदि अम्ब पंख पाता मैं,
एक ही उडान मे तो ऊँचे चढ जाता मैं।"

भाव सन्धि—जब समान चमत्कार वाले दो भावो का उदय एक साथ हो तब वहाँ भाव-सधि कहलायेगी। जैसे :—

"तब तू मारबोई करत
रिसनि आगे कहै जो आवत अब लै भाड भरति।"

भाव शवलता—जब एक साथ अनेक भाव एक के अनन्तर दूसरे से आकर मिल जाते हैं तब भाव-शवलता होती है।

"नन्द व्रज लीजे ठोक वजाय
देहु विदा मिलि जाहि मधुपुरी गोकुल राम॥"

आठवाँ अध्याय

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

वक्रोक्ति भारतीय समीक्षा क्षेत्र मे नितान्त मौलिक तथा विचित्र सिद्धान्त सम्प्रदाय है। वक्रोक्ति का साधारण अर्थ है "टेढी बात" (वक्र उक्ति) अभिप्राय यह है कि किसी बात को सीधे ढंग से न कहकर उसे दूसरे ढंग से सुन्दर बनाकर कहने को ही वक्रोक्ति कहते हैं। वस्तुतः वक्रोक्ति उसी शक्ति को कहते हैं जिसमें अत्यन्त शिष्ट ढंग से कथन में चमत्कार उत्पन्न किया जाय (" अभिनव गुप्त ने शब्द और अर्थ की वक्रता को वक्रोक्ति माना है :—

'शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमिति अयमेवासौ अलंकारस्यालंकारान्तर भावः।"[1]

साधारण व्यक्ति तो किसी भाव को सीधे-साधे शब्दों में व्यक्त करते हैं, किन्तु प्रतिभाशाली कवि इस बात को विलक्षण ढंग से कहते हैं। जैसे—शकुन्तला नाटक मे शकुन्तला की सखि दुष्यन्त से सीधे शब्दों मे यह न कहकर कि—"आप कहाँ से आ रहे हैं ?" कहती है—"किस देश की प्रजा को आपने विरह से उत्सुक बनाया है ?" इस वाक्य मे साधारण वाक्य की अपेक्षा अधिक विलक्षणता तथा चमत्कार है और यही वक्रता है। वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक हैं। आलोचना शास्त्र मे उन्होने निम्नलिखित शब्दो मे वक्रोक्ति की घोषणा की:—

"वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्" ✓

"वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणिति रुच्यते" ✓

उन्होंने ध्वनि के स्थान पर वक्रोक्ति को काव्य का प्राण माना।

वक्रोक्ति का ऐतिहासिक विकास—वक्रोक्ति शब्द अत्यन्त प्राचीन काल से प्राप्त होता है। बाण की "कादम्बरी" मे वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग "परिहास-जल्पित" मिलता है।—"वक्रोक्ति निपुणेन विलासी जनेन।" भामह ने अपने "काव्यालंकार" मे वक्रोक्ति का उल्लेख किया है। उन्होने वक्रोक्ति को "इष्टावाचा-मलंकृति' (अर्थात् शब्द और अर्थ का वैचित्र्य) लिखकर सभी अलकारो का मूल माना। वस्तुतः भामह ने वक्रोक्ति को वचनों की अलकृति कहा उनके विचार से वक्रोक्ति के बिना काव्य मे सौन्दर्य नही आ सकता। वे लिखते हैं :—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्या कविना कार्य. कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ (२।८५)

---

१. लोचन पृष्ठ २०८

अतिशयोक्ति वक्रोक्ति का ही रूप है। इसके द्वारा ही अर्थ के विशिष्ठ रूप की प्रतीति होती है। भामह के विचार से अलकार के अस्तित्व के लिए वक्रोक्ति का होना नितान्त आवश्यक है। देखिए—"वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते" अर्थात् 'टेढ़े अर्थ में शब्दो का प्रयोग करना ही अलंकार है।" वक्रोक्ति से रहित चमत्कारहीन वाक्य को भामह ने वार्ता माना है। जैसे—"सूर्य डूब गया", "चन्द्रमा चमकता है", "चिड़िया अपने बसेरो मे जाती हैं।" देखिए भामह लिखते हैं :—

"गतोऽस्तमर्को भातिन्दुर्यान्ति वासायः पक्षिणः।
इत्मेवयादि कि काव्य ? वार्तमिना प्रचक्षते ॥—(२।८७)

दण्डी ने अपने काव्यादर्श मे वक्रोक्ति को भामह की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट रूप मे व्यक्त किया। उन्होने सम्पूर्ण वाड्मय को दो भागो में विभक्त किया (१) स्वभावोक्ति (२) वक्रोक्ति। उनके मतानुसार वक्रोति कोई विशेप अलंकार नही है अपितु स्वभावोक्ति से पृथक उपमा आदि सब अर्थालंकारो का सामूहिक अभिधान है और वक्रोक्ति की सौन्दर्य वृद्धि श्लेप के द्वारा ही होती है। दण्डी ने लिखा कि "श्लेष के सम्पर्क से वक्रोक्ति और भी अधिक खिल उठती है।"

"श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिपु श्रियम्।
द्विधा मिल स्वभावोक्तिर्वक्रक्तिश्चेति वाड्मयम् ॥"

अतः यह स्पष्ट है कि भामह की वक्रोक्ति की कल्पना को दण्डी ने भी स्वीकार किया। भामह के मतानुसार दण्डी ने "इसवद" अलकार को भी वक्रोक्ति मे स्थान दिया है।

वामन ने वक्रोक्ति का जो वर्णन किया वह भामह के वर्णन से नितान्त भिन्न है। वामन अलंकारवादी थे। अत' उन्होने वक्रोक्ति को अर्थालकार स्वीकार किया। भामह तथा दण्डी ने वक्रोक्ति को मूल माना किन्तु वामन ने वक्रोक्ति को विशिष्ट अलकार के रूप में ग्रहण किया। वामन का विचार है कि "वक्रोक्ति भी सादृश्य पर आश्रित लक्षणा ही है।" देखिए :—

"सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः"

जैसे—"प्रातःकाल सरोवर में कमल खिले और कुमुद सकुचित हो गये। यहाँ कमल के लिए खिलना और कुमुद के लिए सकुचित होने की बात मे वक्रोक्ति है।"

रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना है। उनका मत है कि "जब कोई किसी की बात सुनकर उसके शब्दों का दूसरा ही अर्थ लगाकर कुछ दूसरा असगत उत्तर दे तब वक्रोक्ति होता है।' इस प्रकार रुद्रट ने वक्रोक्ति के दो भेद किये—काकु और श्लेष वक्रोक्ति। मम्मट, वाग्भट्ट, विद्याधर, वाग्मट्ट, हेमचन्द्र, जयदेव आदि ने भी वक्रोक्ति को शब्दालंकार के रूप मे ग्रहण किया है। अग्निपुराण मे भी वक्रोक्ति का प्रयोग शब्दालकार के रूप में किया गया है :—

"वक्रोक्तिस्तु भवेद्भङ्ग्या काकुस्टेनकृता द्विधा"

वक्रोक्ति के सम्बन्ध में अभिनव गुप्त लिखते हैं :—"वक्रता दो प्रकार की होती है—शब्द वक्रता तथा अभिधेय वक्रता। "वक्रता" शब्द का तात्पर्य है—लोकोत्तर रूप से स्थिति। लोकोत्तर रूप से अवस्थान होने पर ही अतिशयोक्ति होती है। इसीलिए अतिशयोक्ति अलंकार सामान्य रूप से अंगीकृत की जाती है। अतिशयोक्ति का प्रयोजन भी गम्भीर तथा उपादेय होता है। इस रुचिर अलंकार के योग होने से समस्त मनुष्यों के द्वारा उपभोग किये जाने से पुराना भी अर्थ विचित्रता से उद्भासित होने लगता है तथा प्रमदा, उद्यान आदि वस्तुएँ विशेष रूप से भावित की जाती हैं अर्थात् वे रसमय की जाती हैं।"

आनन्दवर्धन ने भी लिखा है कि सब अलंकारों मे अतिशयोक्ति मूल रूप में रक्खी जा सकती है। यदि औचित्यपूर्वक अतिशयोक्ति का प्रयोग किया जाय तो काव्य का उत्कर्ष बढ़ जाता है। उन्होने अपने मत की पुष्टि के लिए भामह के "सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति" वाले श्लोक को उद्धृत किया है। उनके विचार से अतिशयोक्ति के द्वारा ही अलंकारो मे चारुता आती है। उन्होने अतिशयोक्ति अर्थात् वक्रोक्ति को काव्य सौन्दर्य का विशद अभिव्यंजक माना है। उन्होने अतिशयोक्ति का समावेश अन्य अलकारो मे दो प्रकार से बताया है—वाच्य रूप तथा व्यङ्ग्य रूप। यथा :—

"अतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु, शक्यक्रिया। × × × तत्रातिशयोक्तिर्यम-लंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलकार मात्रतैवेति सर्वालंकार शरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालंकार रूपेत्यम मेवार्थोऽवगन्तव्यः।"

भोजराज ने स्पष्ट रूप से तो वक्रोक्ति का विवेचन नही किया है किन्तु ध्वनि की प्रतिक्रिया रूप में वक्रोक्ति का उल्लेख किया है। उन्होने भी काव्य मे वक्र-वचनभङ्गी से उत्पन्न चमत्कार को विशेष महत्व दिया है। वे लिखते है।—"लौकिक कथनों में वस्तुओं को सुन्दर रूप के कहने मे किसी प्रकार का आग्रह नहीं है, बल्कि बिना किसी नमक मिर्च मिलाय ही उनको सीधे सादे ढँग से कहना ही उनकी विशेषता है, परन्तु ज्यों ही हम किसी की प्रशंसा करने चलते है या निन्दा करने पर उतारू होते हैं, त्यों ही हम कथन के प्रकार में एक अतिशय उत्पन्न कर देते हैं और उसी अतिशयकथन—अतिशयोक्ति—के सहारे अपनी अभीष्ट सिद्धि में कृतकार्य हैं ऐसी दशा में काव्योपयोगी वचन का उदय होता है। भोज की सम्मति में "वचन" में जो तात्पर्य होता है वही काव्य में "ध्वनि" होती है।"[1]

वस्तुतः भोज का उपर्युक्त काव्य लक्षण वक्रत्व के आधार पर ही अवलम्बित है।

१—भारतीय साहित्य शास्त्र से।

वक्रोक्ति के ऐतिहासिक क्रम पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि "भामह ने अलंकार के मूलतत्व के रूप में जिस वक्रोक्ति को ग्रहण किया था उसे वामन ने सादृश्य मूला लक्षणा के रूप में अर्थालङ्कार माना, रुद्रट ने शब्दालंकार मात्र और कुन्तक ने काव्य का मूल तत्वमाना।" कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण माना। इसलिए उन्हे वक्रोक्ति जीवितकार कहा जाता है।

कुन्तक के वक्रोक्तिवाद का स्वरूप—सर्वप्रथम कुन्तक ने अपनी पुस्तक "वक्रोक्तिजीवित" मे वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानकर वक्रोक्ति-सम्प्रदाय की स्थापना की। वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानते हुए वे लिखते हैं:—

"वक्रोक्ति काव्य जीवितम्"

कुन्तक ने काव्य शब्द का प्रयोग शब्द तथा अर्थ दोनो के मंजुल समन्वय के लिए किया है। कुन्तक ने काव्य के अस्तित्व के लिए शब्द और अर्थ दोनों का समुच्चय आवश्यक माना है। वे लिखते हैं:—

'तेन यत् केषाञ्चिन्मतं कवि कौशल-कल्पित कमनीयताशियः शब्द एव केवलं काव्यमिति केषाञ्चिद् वाच्यमेव रचना वैचित्र्य चमत्कार कारि काव्यमिति पक्ष द्वयमपि निरस्तं भवति। तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लाद कारित्वं वर्तते, स पुनरेक स्मिन" अर्थात् "किन्ही अलकारवादियों के विचार में कवि कौशल से कल्पित कमनीयता से सम्पन्न शब्द ही केवल काव्य होता है। तथा अन्य विद्वानों के मतानुसार रचना वैचित्र्य से चमत्कारी वाच्य ही काव्य होता है, परन्तु ये मत नितान्त माननीय नहीं है। जिस प्रकार तेल का अस्तित्व प्रत्येक तिल में रहता है उसी प्रकार काव्य की स्थिति शब्द और अर्थ दोनो में होती है किसी एक में नहीं।" शब्द और अर्थ के अपूर्व सामजस्य से समन्वित कविता ही हृदय मे आनन्द का उद्रेक कर सकती है। अतः कुन्तक लिखते हैं.—

'शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापारशालिनि।
वन्धे व्यवस्थितौ काव्य तदविदाह्लादकारिणि॥"

अर्थात् "कवि के वक्र व्यापार से सुशोभित तथा काव्य के वेत्ताओं सहृदयो को आह्लाद करने वाले वन्ध में रखे गये सहित शब्द और अर्थ ही काव्य की संज्ञा पाते हैं।"

अतः कुन्तक ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर मानने के कारण अलकार्य कहा है। ऐसे अलकार्य का एक ही अलकार प्रमुखता पा सका और वह है—वक्रोक्ति। वक्रोक्ति का लक्षण देते हुए कुन्तक लिखते हैं:—

"उभावेतावलकार्यौ तयो. पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गी-भणितिरुच्यते॥

उपर्युक्त लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुन्तक ने वक्रोक्ति को सर्वमान्य अलंकार स्वीकार करके उसका विशिष्ट लक्षण दिया है। वाग्वैदग्ध्य तथा चमत्कार

पूर्ण उक्ति की वक्रोक्ति कहलायेगी। इस प्रकार वक्रोक्ति को इस प्रकार परिभाषा बद्ध किया जा सकता है कि—वक्रोक्ति कवि कौशल से उत्पन्न होने वाले चमत्कार पर अवलम्बित रहने वाला विशेष कथन प्रकार है।

अपनी रचना के उद्देश्य के सम्बन्ध मे वक्रोक्तिकार लिखते हैं—

"लोकोत्तर चमत्कार कारि वैचित्र्य सिद्धये
काव्यस्याममलकार: कोऽप्यपूर्वो विधीमते"

असामान्य चमत्कारपूर्ण आनन्द की उद्भूति करने वाले वैचित्र्य वर्णन के लिए आचार्य कुन्तक ने तीनों बातों का होना अपेक्षित माना है—(१) कवि प्रतिभा या कवि-कौशल, चमत्कार और उक्ति।

"वैदग्ध्यं विदग्धभाव: कवि कर्म कौशलं तस्यविच्छित्ति: तमा भाणिति: विचित्रैव अभिधा वक्रोक्ति:।"

कुन्तक ने यह माना है कि शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के बिना आनन्द की प्राप्ति नही होती। महिम भट्ट ने वक्रोक्ति की व्याख्या इस प्रकार की है—

प्रसिद्धं मार्ग युत्सृज्य यत्र वैचित्र्य सिद्धये
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थ: सा वक्रोक्तिरुदाहृता।"

कुन्तक के विवेचन के आधार पर वक्रोक्ति के सम्बन्ध मे निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं।

(१) वक्रोक्ति मे वैचित्र्य अपेक्षित है। उसमे किसी न किसी प्रकार की असाधारणता का समावेश अनिवार्य है।

(२) कुन्तक ये मानते हैं कि वस्तुओ के स्वभाव का विकास साधारण रूप में न होकर कवि की विशेष दृष्टि के द्वारा होना चाहिए। यह वर्णन वस्तु परिगणन मात्र न हो। इसमें कवि को कौशल से कार्य लेना चाहिए।

(३) कुन्तक का मत ध्वनि रसवादियो के मत से भिन्न है। ध्वनिकार ने वक्रोक्ति की स्थिति ध्वनि के अन्तर्गत मानी है और कुन्तक ने वक्रोक्ति के अन्तर्गत ध्वनि का समाहार किया है। उनके विचार ध्वनि तथा रस के अभाव में भी, यदि वक्रोक्ति है तो काव्यत्व माना जायेगा। किन्तु यह अन्तर सैद्धान्तिक है व्यवहारिक नही। व्यवहारिक दृष्टि से ये दोनो एक दूसरे से घुले-मिले प्रतीत होते हैं। क्योकि इन दोनो का स्वरूप बहुत व्यापक है। वास्तव मे कुन्तक की वक्रोक्ति प्रसार अत्यन्त व्यापक है। प्रत्येक काव्यत्व से पूर्ण उदाहरण मे कुन्तक की वक्रोक्ति या वक्रता अवश्य मिलेगी। क्योकि रसत्व को कवि व्यापार जन्म देता है। अत: जहाँ कवि व्यापार वर्तमान होगा वहाँ वक्रोक्ति अवश्य होगी। इस प्रकार कुन्तक ने रस के महत्व को भी स्वीकार किया है।

(४) कुन्तक ने कवि व्यापार को विशेष महत्व दिया है। कवि व्यापार के तीन हेतु हैं—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। ये सुकमार विचित्र और मध्यम मार्ग

से अभिव्यक्त होते हैं। गुण इनके आधार हैं। प्रसाद, माधुर्य, लावण्य को विशेष गुण माना गया है और औचित्य तथा सौभाग्य को साधारण गुण स्वीकार किया गया है। अतः कुन्तक ने कवि व्यापार के वाह्य रूप का तो उल्लेख किया है। किन्तु उनके आन्तरिक रूप पर प्रकाश नही डाला। कुन्तक ने भी कवि को असाधारण प्राणी माना है और कवि प्रतिभा को ईश्वर प्रदत्त या पूर्व जन्म के संचित पुण्यों के फल-स्वरूप माना है।

समीक्षा—कुन्तक ने वक्रोक्ति के दो पक्ष माने—(१) प्रथम प्रत्येक वक्रोक्ति काव्य है (२) द्वितीय प्रत्येक काव्य की उक्ति मे वक्रता अवश्य होती है। कुन्तक का प्रथम पक्ष तो आज के युग मे ग्रहण नही किया जा सकता। क्योंकि साधारण चमत्कार के कारण जिन उक्तियो मे चमत्कार आ गया है उन्हे काव्य की संज्ञा नही दी जा सकती। बौद्धिक चमत्कार के द्वारा उक्ति मे वक्रता तो अवश्य आ जायेगी किन्तु सरसता नही आ सकती जो काव्य का प्राण है। इसलिए रस सम्प्रदाय के अनुयायियो ने चित्रकाव्य को काव्य के अन्तर्गत स्थान नही दिया। हाँ ध्वनिकार ने उसे अधम काव्य के रूप मे ग्रहण अवश्य किया है। अतएव रस से रहित वक्रता पूर्ण उक्ति को काव्य नही कहा जा सकता।

वक्रोक्तिकार का दूसरा पक्ष यह है कि प्रत्येक काव्य की उक्ति मे वक्रता अवश्य है। यह बात तो सगत प्रतीत होती है। कुन्तक का वक्रता से अभिप्राय सभी प्रकार के वैचित्र्य वैशिष्ठ्य अथवा असाधारणत्व से है। प्रत्येक रस पूर्ण वाक्य मे कुछ न कुछ असाधारणत्व होता ही है। कुन्तक ने वस्तु परिगणात्मक वर्णन का ही निषेध किया है। उन्होने रस को वक्रोक्ति के उपादान तत्व के रूप में ग्रहण किया है। कुन्तक ने उक्ति की तीव्रता पर बल दिया है और यह तीव्रता रस पर निर्भर है और रस की स्थिति वक्रोक्ति के अन्तर्गत है। कवि को अपने भावो की अभि-व्यक्ति मे एक प्रकार का आनन्द आता है और यह आनन्द या रस ही उसकी उक्ति मे वक्रता ला देता है।

बहुत से विद्वानो को वक्रोक्ति सिद्धान्त मान्य न हो सका। आचार्य शुक्ल ने इस सिद्धान्त को स्वीकार नही किया। कुछ व्यक्तियो ने वक्रोक्ति सम्प्रदाय को अलकार सम्प्रदाय की एक शाखा मात्र मानी। उनका विचार है कि कुन्तक ने अलकारवादी आचार्यों की वक्रता को ही नवीन ढग से व्यापक रूप प्रदान करने का प्रयास किया था। कुन्तक की वक्रोक्ति के सम्बन्ध मे डा० नगेन्द्र लिखते हैं :—

"काव्य का प्राण रस ही रहेगा—वक्रोक्ति उसका अनिवार्य माध्यम होती हुई भी उसका जीवन नही हो सकती। कुन्तक धुर-मूल तक न पहुँच कर उससे एक मजिल पहले ही रुक गये हैं और उसी को आखरी मजिल मान बैठे हैं। उनके सिद्धान्त का यही दोष है। पश्चिमीय आलोचना की शब्दावली में कहे तो यह कह सकते हैं कि उन्होंने कल्पनातत्व को भावतत्व की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है।

वैदग्ध्य कवि-कौशल आदि पर जो इतना बल दिया गया है वह वास्तव में कल्पना-तत्व को ही महत्व दिया गया है।"[1]

क्रोंचे का अभिव्यंजनावाद :—कुन्तक के वक्रोक्तिवाद के साथ क्रोंचे के अभिव्यजनावाद पर विचार करना भी आवश्यक है। आचार्य शुक्ल ने तो अभिव्यजनावाद को "वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान" कहा है। अभिव्यंजनावाद तथा वक्रोक्तिवाद में साम्य तथा वैषम्य देखने के लिए यह आवश्यक है कि पहले अभिव्यंजनावाद पर विचार कर लेना आवश्यक है।

रूप या शैली को विशेष रूप से महत्व देने वाले योरुप में दो वाद हैं—(१) अभिव्यजनावाद और (२) कलावाद। अभिव्यंजनावाद का प्रतिपादन करने वाले इटली के क्रोचे हैं। अभिव्यंजनावाद आकार (Form) को महत्व देता हुआ भी वस्तु या सामग्री (Matter) की उपेक्षा नही करता। शुक्ल जी ने भी इसका समर्थन किया है। वे लिखते हैं :—"उसकी अभिव्यंजना में जो नानात्व दिखाई पड़ता है वह स्थूल द्रव्य (वस्तु) के कारण हैं, जो परिवर्तनशील होता है।" इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थल पर लिखा हुआ मिलता है :—

"Without matter, however our Spirinal activity would not leave its abstraction to become concrete and real this or that spiritual content, this or that definite intuition."

अर्थात् द्रव्य या वस्तु से विरहित होने पर हमारी आध्यात्मिक क्रिया का कुछ भी महत्व नही रह जाता। वस्तु को आकार से पृथक नही किया जा सकता। वस्तु का महत्व आकार के प्रकाश में ही स्पष्ट हो पाता है। वस्तु के बिना आकार मूल्यहीन है। स्वयं क्रोचे ने भी खोखले चमत्कार पूर्ण वाक्यों की उपेक्षा की है। वे लिखते हैं :—

"He who has nothing to express may try to hid his internal emptiness with a flood of words ...... although at bottom they convey nothing" अतः स्पष्ट है कि क्रोचे कोरे अभिव्यंजना के पृष्ठपोषक नही थे।

क्रोंचे दार्शनिक था। उसने आत्मा की दो क्रियायें मानी हैं:—(१) विचारात्मक (२) व्यवहारात्मक। विचारात्मक क्रिया के भी इन्होने दो रूप माने हैं—(१) सहजानुभूति (२) तर्क। व्यवहारात्मक के भी दो रूप उपस्थित किये—(१) आर्थिक और दूसरा नैतिक। कला कवि की सहजानुभूति की उपज है। वस्तु के सम्पर्क में आने पर आत्मा मे उसके चित्र एकत्रित होते रहते है, फिर कवि अपनी सहज कल्पना शक्ति द्वारा उन्हें समवेत कर उपस्थित करता है और इस प्रकार दूसरो को उस वस्तु की सहजानुभूति प्राप्त हो जाती है। क्रोचे का विचार है कि

१ डा० नगेन्द्र—रीतिकाव्य की भूमिका।

"मन की शक्ति क्रिया में प्रकट होती है।" वस्तुतः "अन्तः प्रेरणात्मक ज्ञान जब उत्पन्न होता है तब वह कोई न कोई रूप (Form) ग्रहण करता है अर्थात् अन्तःप्रेरणा किसी निश्चित रूप में प्रकट होती है और यह रूप ही अभिव्यंजना (Expression) कहलाता है।" अतः अन्त प्रेरणा ही अभिव्यंजना है। यह अभिव्यंजना भौतिक न होकर मानसिक होती है अर्थात् जैसे ही हम मन में किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करते हैं, वैसे ही अभिव्यंजना पूर्ण हो जाती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "काव्य मे रहस्यवाद" नामक पुस्तक में अभिव्यंजना की व्याख्या इस प्रकार की है :—

"कला या काव्य में अभिव्यंजना ही सब कुछ है। जिसकी अभिव्यंजना की जाती है वह कुछ नहीं। इस मत के प्रधान प्रवर्तक इटली के क्रोचे महोदय हैं।"

"अभिव्यंजना वादियों के अनुसार किस रूप में अभिव्यंजना होती है उसमें भिन्न अर्थ आदि का विचार कला मे अनावश्यक है······अभिव्यंजनावाद अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़ कर चला है। पर वाग्वैचित्र्य का हृदय की गम्भीर वृत्तियो से कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल कौतूहल उत्पन्न करता है।"

क्रोंचे ने कला सम्बन्धी ज्ञान को स्वय प्रकाश ज्ञान (Intuition) की संज्ञा दी है। यह स्वय प्रकाश ज्ञान कला कल्पना में उद्भूत होती है। क्रोंचे के कल्पना सम्बन्धी विचार को शुक्ल जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"आत्मा की अपनी स्वतन्त्र क्रिया है कल्पना, जो रूप का सूक्ष्म सांचा खड़ी करती है और उस सांचे में स्थूल, द्रव्य को ढाल कर अपनी कृति को गोचर या व्यक्त करती है। यह "सांचा" आत्मा की कृति या आध्यात्मिक वस्तु होने के कारण परमार्थतः एक रस और स्थिर होता है। उसकी अभिव्यंजना में जो नानात्व दिखाई पड़ता है, वह स्थूल द्रव्य के कारण है, जो परिवर्तनशील होता है। कला के क्षेत्र में यही सांचा (form) सब कुछ है। द्रव्य या सामग्री ध्यान देने की वस्तु नहीं, An aletnetheie *gretls* form and nothing else."

क्रोंचे के स्वय प्रकाश ज्ञान तथा अभिव्यंजना के सम्बन्ध मे आचार्य शुक्ल लिखते हैं :—

"स्वयं प्रकाश ज्ञान का (Intuition) का सांचे में ढलकर व्यक्त होना ही कल्पना है। और कल्पना ही मूल अभिव्यंजना (Expression) है जो भीतर होती है और शब्द रंग आदि द्वारा बाहर प्रकाशित की जाती है। यदि सचमुच स्वयं प्रकाश ज्ञान हुआ है, भीतर अभिव्यंजना हुई है, तो वह बाहर भी प्रकाशित हो सकती है। लोगों का यह कहना है कि कवि के हृदय में बहुत सी भावनाएं उठती हैं जिन्हें वह व्यक्त नहीं कर सकता, क्रोचे नहीं मानता। वह कहता है जो भावना या कल्पना बाहर व्यक्त नहीं हो सकती उसे अच्छी तरह उठी हुई ही न समझना चाहिए।"

शुक्ल जी के विचारो के आधार पर क्रोचे के कला सम्बन्धी सिद्धान्तों के निष्कर्ष इस प्रकार हैं :—

(१) क्रोचे ने आत्मा की दो क्रिया मानी हैं :—(१) विचारात्मक (Theoretic) और दूसरी व्यवहारात्मक (Practical)। विचारात्मक क्रिया के भी दो रूप हैं—(१) स्वयं प्रकाश ज्ञान (२) तर्क (Logic)। स्वयं प्रकाश ज्ञान का सम्वन्ध व्यक्तियो या विशिष्ट पदार्थों से है, यह स्वयं प्रकाश ज्ञान ही कल्पना के सहारे कला को जन्म देती है। दूसरे रूप तर्क का सम्वन्ध जाति-वाचक वोधों से है। इसके अन्तर्गत दर्शन, विज्ञान आदि आ जाते है, जो सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं। व्यवहारात्मक क्रिया के भी दो रूप हैं (१) आर्थिक (Economic) (२) नैतिक (Ethical).

(२) बौद्धिक ज्ञान का आत्मा के स्वयं प्रकाश ज्ञान पर कोई नियन्त्रण नही है। स्वयं प्रकाश ज्ञान मे एक अलौकिक शक्ति होती है जिसके द्वारा वह एक क्षण मे समस्त जीव जगत के चित्रों को आत्मसात् कर उन्हे सजीव तथा सुन्दर रूप प्रदान करती है। व्यक्त करने की इस प्रणाली को ही अभिव्यंजना कहा गया है। किन्तु है यह आन्तरिक। इस अभिव्यंजना का अभिभाज्य रूप होता है। अतः काव्य में शैली, अलंकार आदि की पृथक स्थिति का महत्व नही। स्वयं प्रकाश ज्ञान का अभिव्यक्ति से पार्थक्य सम्भव नही।—

"The spirit does not obtain intuitions otherwise than by making, forming, expressing."

इस स्वतन्त्र स्वयं प्रकाश ज्ञान की स्फूर्ति से प्रेरित होकर ही कलाकार सौन्दर्यात्मक कला की सृष्टि करता है। परन्तु इसके लिए अनिवर्चनीय रूप में विषय की पूर्ण जानकारी तथा अभिव्यक्ति का सफल उद्घाटन अपेक्षित है।

(३) क्रोंचे ने कला और कलाकृतियो के मध्य विभाजन रेखा उपस्थित की है। उनके मत से वास्तविक कला आन्तरिक है। कलाकृतियाँ (काव्य, चित, मूर्ति आदि) उस आन्तरिक स्वयं प्रकाश ज्ञान-जन्म अभिव्यंजना भी वाह्य रूप हैं, जिनमें स्थायित्व का गुण आ जाता है। इस सम्वन्ध मे क्रोचे लिखते हैं :—

"And what are those combinations of words which are called poetry, prose, poems, nobels, romances, tragedies or comedies, but physical stimulants of reproduction."

(४) क्रोचे के विचार से सफल अभिव्यंजना ही कला है। अभिव्यक्ति की सफलता सौन्दर्य पर ही अवलम्बित है। जब तक उसमें सौन्दर्य नही है तब तक उसे अभिव्यंजना नही कहा जा सकता। देखिए :—"We may define beauty as sucessful expression or better as expression because expression when it is not successful is not

expression." सौन्दर्य को श्रेणी बद्ध नही किया जा सकता। वह तो स्वतः पूर्ण है। क्रोचे ने कला को अखण्ड अभिव्यक्ति मानी है। अतः उसका विभाजन सम्भव नही। देवताओ मे छोटे-बडे का भेद नही होता। क्रोचे का विचार है कि कला के विभाजन से सम्बन्धित समस्त पुस्तकों को यदि अग्नि मे जला दिया जाय तो कोई हानि न होगी।—

"All the books dealing with calssification and systems of art could be burnt without any loss whatever."

(५) अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कलाकार के हृदय मे तो स्वयं प्रकाश ज्ञान जन्य अभिव्यक्तिया उत्पन्न हो जायेगी, किन्तु दर्शक, पाठक या समीक्षक के हृदय में उसी प्रकार की अनुभूति किस प्रकार जागत होगी? इसके लिए पाठक को कवि के मानस जगत मे प्रवेश करना होगा। नयी प्रतिभा और रुचि का समन्वय हो सकता है और कला कृतियो के प्रति भी उचित न्याय हो सकता है यदि पाठक मे कवि के मानस जगत मे प्रवेश करने की क्षमता नही है तो वह उस कृति का सौन्दर्याङ्कन नही कर सकता। इस दृष्टि से क्रोचे ने कवि के दो व्यक्तित्व (Personalities) माने हैं·—(१) लौकिक (२) संकल्पात्मक (Empirical and Volitional) और दूसरी अलौकिक अर्थात् स्वच्छन्द और आदर्श (Spontaneous or ideal personality constituting the work of art) अतः कवि और पाठक का तादात्म्य हो सकता है।

अभिव्यंजनावाद का विशद विवेचन करने के उपरान्त अब हम भिन्न-भिन्न विद्वानो के विचारो के द्वारा यह देखने का प्रयत्न करेगे कि कुन्तक के वक्रोनिवाद से उसका कहाँ तक साम्य एव वैषम्य है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अभिव्यजनावाद एव वक्रोक्तिवाद में समानता मानी है। उनका मत है कि :—"क्रोचे का "अभिव्यंजना वाद" सच पूछिए तो एक प्रकार का 'वक्रोक्ति वाद" है। संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में भी कुन्तक नाम के आचार्य "वक्रोक्ति काव्य जीवितम्" कह कर उठे थे।"

डा० नगेन्द्र ने अभिव्यंजनावाद एवं वक्रोक्तिवाद में निम्नलिखित साम्य एवं वैषम्य माना है।[१]

साम्य :—

(१) "क्रोचे और कुन्तक दोनों ने ही कला या कविता को आत्मा की क्रिया मानी है, जो अनिवर्चनीय है।

(२) दोनों ने ही वस्तु की अपेक्षा अभिव्यंजना को अधिक महत्व दिया है। अर्थात् उक्ति में काव्यत्व (सौन्दर्य) मानते हैं वस्तु या भाव में नही।

१. रीति काल की भूमिका

(३) दोनों ही सौन्दर्य में श्रेणियाँ नहीं मानते, क्योंकि सफल अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है और सफल अभिव्यंजना केवल एक हो सकती है।

कुन्तक :—न च रीतिनाम् उत्तमाधमाध्यमभेदेन वैविद्ध्यय व्यवस्थापायो तुम न्याय्यम्।"

क्रोचे :—The beautiful does not possess degrees, for there is no conceiving a more beautiful that is an expressive that is more expressive and adequate that is more adequate."

वैषम्य:—१—"वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का मुख्य अन्तर तो यह है कि वक्रोक्तिवाद का सम्बन्ध उक्ति-वक्रता से है, अभिव्यजनावाद का केवल उक्ति से। वक्रोक्तिवाद एक साहित्यिक वाद है। अभिव्यंजनावाद अभिव्यंजना की फिलासफी। वक्रोक्ति जहाँ एक प्रकार का कवि कौशल है वहाँ अभिव्यंजनावाद एक आध्यात्मिक आवश्यकता है।"

२—"वक्रोक्तिवाद" अलंकार को लेकर चला है, अभिव्यंजनावाद में उसकी सत्ता ही अमान्य है। वहाँ यदि वह आ भी जाता है तो अलंकार रूप में नहीं सहज उक्ति के रूप में ही आता है।"

३—"वक्रोक्तिवाद में वस्तु की उक्ति (कवि कौशल) से पृथक सत्ता मानी गई है। कुन्तक ने वस्तु के सहज और आहार्य दो भेद किये हैं, वक्रण वक्रता, अथवा प्रवन्ध वक्रता का सम्पूर्ण विवेचन ही वस्तु और कवि कौशल के पार्थक्य पर आश्रित है परन्तु अभिव्यंजनावाद वस्तु को उक्ति से अभिन्न मानता है।"

४—"वक्रोक्तिवाद" में कला की समस्या को वाहर से छेडा गया है, अभिव्यंजनावाद में भीतर से। इसीलिए वक्रोक्तिवाद जहाँ काव्य अथवा कला के मूर्तरूपों पर ही केन्द्रित है, वहाँ अभिव्यजनावाद उनके प्रति उदासीन होकर केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया को ही सब कुछ मानता है।"

५—"अभिव्यंजनावाद सहजानुभूति अर्थात् भाव-झंकृतियों की अन्विति पर आश्रित है, अतएव रस (भाव) से उसका सम्बन्ध अन्तरंग और तात्विक है, परन्तु वक्रोक्तिवाद कवि-कौशल पर आश्रित है इसलिए उसका रस से सम्बन्ध बहिरंग एवं औपाधिक है। अभिव्यंजनावाद का तत्व रूप में रसवाद से कोई विरोध हो ही नहीं सकता।"

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी का भी विचार है कि—"क्रोचे का यह अभिव्यंजनावाद वक्रोक्ति से किसी प्रकार सम्बद्ध नहीं है, क्योंकि वक्रोक्ति में शुद्ध रूप से शब्दार्थ के कौशल पूर्ण नियोजन की बात कही गई है, जिसका विवेकवर्ती बुद्धि से ही पूर्ण सम्बन्ध है। अन्तः प्रेरणा से नहीं। दूसरी बात यह है कि वक्रोक्ति में अभ्यन्तर अभिव्यक्ति की बात ही नही उठती।............अतः वक्रोक्ति और

अभिव्यंजनावाद का किसी प्रकार कोई सम्बन्ध नहीं है।"[1]

डा० गोविन्द त्रिगुणायत ने अभिव्यंजनावाद तथा वक्रोक्तिवाद में कोई भी समानता नहीं मानी है वे लिखते हैं[2]—'स्वरूप भेद के अतिरिक्त अभिव्यंजना और वक्रोक्ति के कार्य क्षेत्रों में भी अन्तर है। वक्रोक्ति केवल काव्य कला की वस्तु है, अन्य ललित कलाओं में उसका नियोजन असम्भव है। किन्तु अभिव्यंजना सभी कलाओं में अपेक्षित और सुलभ है। कोई भी काल्पनिक व्यक्ति अपने मन स्थित चित्र को किसी रूप या आकार में परिवर्तित कर सकता है। इस दृष्टि से वक्रोक्ति का क्षेत्र अभिव्यंजना की अपेक्षा कहीं अधिक सीमित है। किन्तु काव्य कला के अन्तर्गत वक्रोक्ति का क्षेत्र अभिव्यंजना की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को 'काव्य जीवित" कहकर इस काव्य के अन्तरंग तत्व प्राण रूप में प्रतिष्ठित किया है। रसध्वनि चमत्कार, रीति अलंकार गुण आदि अन्य सभी तत्व वक्रोक्ति से ही अधिकृत माने हैं।

वक्रोक्तिवादी वस्तु और उक्ति दोनों को एक दूसरे से भिन्न मानते हैं किन्तु अभिव्यंजनावाद में दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं स्वीकार किया जाता।

वक्रोक्ति, शब्दों, अर्थों या शब्दार्थों के सहारे अभिव्यक्त अवश्य होती है। किन्तु अभिव्यंजना अभिव्यक्त होकर केवल मानसिक भी रह सकती है या शब्दार्थ के अतिरिक्त किसी दूसरे माध्यम से भी अभिव्यक्त हो सकती है। कुन्तक ने वक्रोक्ति में अभिधा शक्ति को ही महत्व दिया है।"

"अभिव्यंजनावाद" एवं "वक्रोक्तिवाद" का अन्तर श्री सुधांशु जी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है:—

१—"वक्रोक्तिवाद की प्रकृति अलंकार की ओर विशेष तत्पर दिखाई देती है। लेकिन अभिव्यंजनावाद का बाह्य रूप से अलंकार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अलंकारी अनुगामी होकर अभिव्यंजना के पीछे चल सकता है, वक्रोक्तिवाद की भाँति सहगामी होकर नहीं।"

२—"अभिव्यंजना में वक्रतापूर्ण उक्तियों का तो मान है ही, साथ ही स्वाभावोक्तियों के लिए भी उसमें यथेष्ठ स्थान है। जिस उक्ति से किसी दृश्य का मनोरम बिम्ब ग्रहण हो वह वक्रताहीन रहने पर भी अभिव्यंजनावाद की चीज है।"

उपर्युक्त विद्वानों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि "अभिव्यंजनावाद" तथा "वक्रोक्तिवाद" में कोई समानता नहीं है। क्रौचे ने केवल उक्ति को प्रधानता दी है उक्ति वैचित्र्य को नहीं। क्रौचे ने सफल अभिव्यक्ति को कला माना है। वक्रोक्तिकार साधारण ढँग से बात कहने के पक्ष में नहीं हैं—"वक्रत्वं प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकि वैचित्र्य''। अभिव्यंजनावाद में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के बीच

१—समीक्षा शास्त्र

२—शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त

कोई भेद नही है। उक्ति केवल एक प्रकार की ही सम्भव है। यदि वक्रोक्ति द्वारा पूर्ण अभिव्यक्ति होती है तो वही स्वभावोक्ति या उक्ति है। वही कला है। वाग्वैचित्र्य की मान्यता वैचित्र्य पर निर्भर नही है, अपितु पूर्ण अभिव्यक्ति पर अवलम्बित है। अभिव्यजनावाद के अन्तर्गत केवल एक ही उक्ति आ सकती है, उसमें प्रस्तुत-अप्रस्तुत तथा स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति के भेद के लिए स्थान नही। वस्तुतः क्रोचे अनुवादो के पक्ष मे नही हैं उनका विचार है कि अनुवाद ठीक तरह से नहीं हो सकता और यदि हो भी जाय तो वह एक नवीन रचना के रूप मे होगा।

सुधाशु जी का विचार है कि "अभिव्यंजनावाद में वाग्वैचित्र्य को जितना स्थान मिला है उससे अधिक साहित्य समीक्षको ने उसके नाम पर वाग्विस्तार किया है।" इसके अतिरिक्त कुन्तक ने केवल वक्रोक्ति को ही प्रधानता नही दी है। उन्होंने शब्द और अर्थ के सामजस्य को भी महत्व दिया है। वास्तव मे कुन्तक की वक्रता वड़ी व्यापक तथा विस्तृत है। उन्होने वक्रता के रूप मे रस को भी माना है।

वक्रोक्तिवाद एक साहित्यिक वाद है जिसमे कवि क्रीडा के लिए पर्याप्त स्थान है। अभिव्यंजनावाद का सम्बन्ध दर्शन से है। वक्रोक्तिवाद मे कवि-कौशल को प्रधानता दी गई है और अभिव्यजनावाद केवल आध्यात्मिक पूर्ति है।

वक्रोक्तिवाद अलकार प्रधान है, और अभिव्यजनावाद में अलंकार के लिए स्थान नही। वक्रोक्तिवाद मे वस्तु एवं उक्ति भिन्न हैं, किन्तु अभिव्यंजनावाद में वस्तु एव उक्ति अभिन्न हैं।

वक्रोक्तिवाद कला का सम्बन्ध वहिरग तत्वो से मानता है, और अभिव्यंजनावाद कला का सम्बन्ध अन्तरंग तत्वो से मानता है।

वक्रोक्ति का आधार मूर्त है, और अभिव्यंजनावाद में मूर्त आधार को स्थान नही। वक्रोक्तिवाद जहाँ कवि-कौशल को प्रधानता देता है वहाँ अभिव्यंजनावाद सहजानुभूति को।

अतः कह सकते हैं कि अभिव्यंजनावाद एवं वक्रोक्तिवाद में कोई समानता नही है। इन दोनो मे साम्य कम है और वैषम्य बहुत अधिक है। साम्य केवल चार वातो मे मिलता है—

(१) दोनों ने ही कला को अनिवर्चनीय क्रिया माना है।
(२) दोनो के विचार से उक्ति में सौंदर्य है भाव मे नही।
(३) दोनो के मत से सौन्दर्य का श्रेणी विभाजन नही किया जा सकता।
(४) दोनो ने ही सफल अभिव्यजना मे सौन्दर्य माना है।

अन्त मे कह सकते हैं कि "वक्रोक्तिवाद" तथा अभिव्यंजनावाद मे वैषम्य अधिक है। अतः उनमे समानता मानना उपयुक्त नही।

वक्रोक्ति के भेद:—आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेद किये हैं:—

१—वर्ण-विन्यास वक्रता।

२—पद-पूर्वार्द्ध वक्रता।
३—पद-परार्ध-वक्रता।
४—वाक्य-वक्रता।
५—प्रकरण वक्रता।
६—प्रवन्ध वक्रता।[1]

१. वर्ण विन्यास की वक्रता—कुन्तक ने इस वक्रता के अन्तर्गत व्यंजन-वर्णों के सौन्दर्य विषयक समस्त प्रकारों का उल्लेख किया है। प्राचीन आचार्यों ने इस वक्रता के अन्तर्गत अनुप्रास तथा यमक को माना है। इन अलकारो के सम्बन्ध में कुन्तक ने कई नवीन मान्यताओं को उपस्थित किया है। अनुप्रास के सौन्दर्य के लिए आचार्य कुन्तक ने निम्नलिखित नियमों को आवश्यक माना है—

"नातिनिर्वन्धविहिता नाप्यपेशल भूपिता।
पूर्वावृत्त परित्याग नूतनावर्त्तनोज्वला॥[2]

अर्थात् अनुप्रास के विधान में कवि को अत्यन्त निर्वन्ध न होना चाहिए। वर्णों का मधुर तथा सुन्दर होना अपेक्षित है। पूर्ण आवृत्त वर्णों का प्रयोग वांछनीय है। इस अनुप्रास का विधान रीति और गुण के अनुसार होना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि अनुप्रास की योजना सुन्दर शब्दों में होनी चाहिए और कवि को चारुत्व का ध्यान रखना चाहिए।

यमक में सौन्दर्य की उद्भावना के लिए कुन्तक ने तीन बातों का निर्देश किया है:—

"समानवर्णमन्यार्थं प्रसादि श्रुतिपेशलम्।
औचित्ययुक्तमाद्यादि नियतस्थानशोभियत्॥

अर्थात (१) वाक्य के अर्थ को बोधगम्य वनाने के लिए प्रसाद गुण आवश्यक है। (२) कर्ण मधुर लगने के कारण यमक के शब्दों में सुकुमारता अनिवार्य है। (३) यमक को यमकत्व प्रदान करने के लिए यमक को औचित्य पूर्ण होना चाहिए।

(२) पदपूर्वार्द्ध वक्रता—पद पूर्वार्द्ध वक्रता से अभिप्राय पद के पूर्वार्द्ध में रहने वाली वक्रता से है। इसके अन्तर्गत पर्याय (समानार्थक शब्द) रूढ़ि (प्रयोग में आने वाले शब्द,) उपचार, विशेषण, सवृत्ति (समास तथा तद्धित प्रत्यय) भाव, लिंग तथा क्रिया आदि के विशिष्ट प्रयोगों का वर्णन रहता है। पद पूर्वार्द्ध वक्रता के अनेक भेद हैं। जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

(१) रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता (२) पर्याय वक्रता (३) उपचार वक्रता

---

१. "वर्णविन्यास वक्रत्व पदपूर्वार्द्ध वक्रता।
वक्रताया. परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रय॥"
वक्रोक्ति जीवित १।१२

२. वक्रोक्ति जीवित २।४

(४) विशेषण वक्रता (५) संवृति वक्रता (६) प्रत्यय वक्रता (७) वृत्ति वक्रता (८) भाव वैचित्र्य वक्रता (९) लिंग वैचित्र्य वक्रता (१०) क्रिया वक्रता।

क्रिया वक्रता के भी अनेक प्रकार हैं। जैसे—(१) कर्तुरन्तरङ्गत्वम् (२) कर्त्रन्तर विचित्रता (३) उपचार मनोज्ञता (४) कर्यादिगुप्ति।

(३) पदपरार्द्ध वक्रता—पद के उत्तरार्द्ध मे "प्रत्यय" होता है। अतः इसे प्रत्यय वक्रता की भी संज्ञा दी गई है। पदपरार्द्ध वक्रता में काल, कारक, संख्या पुरुप, उपग्रह (कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य भेद से तीन प्रकार का वाच्य) तिपात अव्यय आदि के विशेष प्रयोगो का महत्व प्रदर्शित किया जाता है। तथा उनका साहित्यिक मूल्यांकन भी रहता है।

(४) वाक्य वक्रता—वाक्य वक्रता से अभिप्राय वाक्य मे होने वाली वक्रता से है। वाक्य वक्रता के कुन्तक ने अनेक भेद माने हैं—

"वाक्यस्य वक्रभावोत्यो भिद्यते यः सहस्त्रधा।
यत्रालकारवर्गोऽसौ सर्वोप्यन्तर्भविष्यति ॥ व० जी० १।२०

यह वाक्य वक्रता कवि प्रतिभा पर निर्भर है। कवियो की प्रतिभा को सीमाबद्ध नही किया जा सकता, उनकी प्रतिभा अनन्त है। जिस वाक्य का प्रयोग किसी ने एक प्रकार से किया है, दूसरा कवि उसे ही दूसरे रूप मे प्रस्तुत करता है। वस्तुतः कवि प्रतिभा के समान वाक्य की वक्रता भी असख्य है—

सहस्त्र शब्दोऽत्र संख्याभूतस्त्वमात्रवाची। न नियताथ वृत्तिः।
यथा सहस्त्र दलमिति। यस्मात् कवि प्रतिभानाम् आनन्त्यात् नियतत्व न सभवति ॥"

कुन्तक ने वाक्य वक्रता के अन्तर्गत अलकारो की भी बडी विशद व्याख्या की है। उन्होने अलंकारों के सामान्य तथा विशिष्ट दोनों रूपो को प्रस्तुत किया है। उन्होंने अलकारो को विचित्र तथा चारुत्व सम्पन्न होना आवश्यक माना है। इसके लिए कवि प्रतिभा अपेक्षित है। क्योकि प्रतिभाशाली कवि ही वर्णन में चमत्कार ला सकता है। अलंकार के साथ-साथ उन्होने रस वैचित्र्य को भी महत्व दिया है। कुन्तक ने वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत वस्तु वक्रता को भी स्थान दिया है। वस्तु के उन्होने दो रूप माने (१) स्वभाव प्रधान (२) रस प्रधान। स्वभाव प्रधान मे स्वभावोक्ति अलकार का वर्णन रहता है, और रस प्रधान मे रस का चमत्कार आता है। वस्तुतः कुन्तक ने अनेक अलकारो मे दो भेद किये है—वाच्य और प्रतीयमान। वाच्य अलकार वहाँ होता है जहाँ अभिधा की सहायता से उस अलंकार को व्यक्त किया जाता है और प्रतीयमान अलंकार तब होगा जब व्यंजना के द्वारा उसकी सूचना दी जाय।

प्रकरण वक्रता—प्रकरण का अर्थ है सम्पूर्ण प्रबन्ध के भीतर एक विशिष्ट वर्ण्य विषय। प्रबन्ध सौष्ठव के लिए प्रकरण की चारुता आवश्यक है। प्रकरण के सौन्दर्य पर ही प्रबन्ध सौष्ठव निर्भर है। कुन्तक ने प्रकरण को सरस, उपादेय तथा

सुन्दर बनाने वाले अनेक प्रसगो का उल्लेख किया है। यह प्रकरण वक्रता कई प्रकार से लाई जा सकती है। जैसे—नायक के चरित्र मे दीप्ति, सौन्दर्य तथा लालित्य का समावेश होना। (२) रसपूर्ण प्रसगो की उद्भावना (३) नवीन प्रकरण की कल्पना (४) प्रवन्ध के अनेक प्रकरणो मे परस्पर उपकार्योपकार भाव वाछनीय है। (५) कथानक को रसमय तथा स्निग्ध बनाने के लिए सहायक प्रसगों का सन्निवेश तथा (६) गर्भाङ्क योजना। यह भी वक्रता का ही एक प्रकार है।

प्रवन्ध वक्रता—समस्त दृश्य तथा श्रव्य काव्य ग्रन्थ के लिए "प्रबन्ध" का प्रयोग किया जाता है। जब सम्पूर्ण प्रवन्ध मे वक्रता रहती है तब उसे प्रबन्ध वक्रता कहते हैं। कवि का उद्देश्य प्रवन्ध मे सौन्दर्य उत्पन्न करना होना चाहिए। कुन्तक लिखते हैं:—

"वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वाऽपि यादृशः।
उच्यते सहसाहार्य सौकुमार्य–मनोहरः ॥ व० जी० १।२१

यह वक्रता काव्य मे मुख्य रूप से होती है। प्रथम पाँच प्रकार की वक्रता को इस वक्रता का अग मात्र माना जायेगा। यह सब वक्रता मिलकर इस को सौन्दर्य प्रदान करती है। नाटक के समान प्रवन्ध वक्रता के विविध अगो मे भी अत्यन्त अनुकूलता, परस्पर उपकारिता तथा हृदयग्राही समता विद्यमान रहती है। यह काव्य की अत्यन्त व्यापक वक्रोक्ति है।

संक्षेप मे यह वक्रोक्ति के भेद हैं। वक्रोक्ति के भेद सख्यातीत हैं। क्योंकि काव्य मे सौन्दर्य उद्भूत करने वाले साधनो की कोई निश्चित सीमा नही है।

वक्रोक्ति और हिन्दी कवि—यहां इस बात पर विचार कर लेना आवश्यक है कि हिन्दी-साहित्य मे कुन्तक के वक्रोक्ति को किस रूप मे ग्रहण किया गया है। प्रायः हिन्दी के अलकारवादियो ने वक्रोक्ति को शब्दालकार के रूप माना है। प्रौढ सस्कृताभिज्ञ भिखारीदास जी ने भी वक्रोक्ति को उसके व्यापक रूप मे ग्रहण नही किया है। उन्होने वक्रोक्ति को उसके सीमित रूप मे देखा है। उन्होने वक्रोक्ति का लक्षण अपने काव्य निर्णय मे इस प्रकार दिया है—

"व्यर्थ काकु ते अर्थ को फेरि लगावै तर्क।
वक्र उक्ति तासो कहै जो बुद्धि-अम्बुज-अर्क ॥"

परन्तु आचार्य केशवदास ने वक्रोक्ति को कुछ व्यापक रूप में लिया है केशवदास ने "कविप्रिया" के १२वें प्रभाव मे "उक्ति" अलकार के पांच प्रकारो का उल्लेख किया है, जिनमे वक्रोक्ति अन्यतम है। केशवदास जी ने वक्रोक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

"केशव सूधी बात मे, बरणत टेढो भाव।
वक्रोकति तासो कहत, सही सवै कविराव ॥"

आचार्य केशवदास जी ने वक्रोक्ति का प्रयोग उक्ति वैचित्र्य के अर्थ मे किया है। उन्होने भी कुन्तक की व्यापक वक्रोक्ति को ग्रहण नही किया।

यही बात अन्य अलंकारिको के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। कहने का अभिप्राय यह है कि हिन्दी के अधिकाश विद्वानो ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार ही माना है। कुछ लोगो ने इसे अर्थालंकार स्वीकार कर उक्ति-वैचित्र्य तक ही सीमित माना है। परन्तु कुन्तक ने तो वक्रोक्ति को काव्य का प्राण माना है। कुन्तक की इस व्यापक भावना से हिन्दी के अलंकारिक अपरिचित हैं।

यदि हम हिन्दी के लक्ष्य-ग्रन्थों पर दृष्टिपात करते हैं तो वक्रोक्ति का विशाल भडार दृष्टिभूत होता है। वास्तव मे वक्रोक्ति का क्षेत्र ही बहुत व्यापक है। हिन्दी साहित्य मे सूरदास जी वक्रोक्ति के सम्राट कहे जायेंगे। उनके विशाल सूरसागर मे नाना प्रकार की वक्रोक्तियाँ प्राप्त होती हैं सूरदास के सम्बन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं कि :—"सूरदास में जितनी सहृदयता और भावुकता है, प्रायः उतनी चतुरता और वाग्विदग्धता भी है। किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढ़े सीधे ढंग उनको मालूम थे।" "भ्रमरगीत" मे गोपियो की उक्तियाँ इसके सुन्दर उदाहरण हैं। उपालम्भ का आश्रय लेकर सूर ने वक्रोक्तियों के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं। सूरदास ने उपालम्भ में उक्ति-वैचित्र्य से सजीवता ला दी है देखिए :—

"आयो घोष बडो व्योपारी।
लादि खेप गुन ज्ञान-जोग की ब्रज मे आय उतारी।
फाटक देकर हाटक माँगत भोरे निपट सुधारी।
धुर ही ते खोटी खायो है, लये फिरत सिर भारी।
इनके कहे कौन डहकावै ऐसो कौन अजानी॥
अपनो दूध छाड़ि को पीवै खार कूप को पानी॥"

एक विचित्र व्यापारी आ गया है। उसने ज्ञान-योग का बोझ ब्रज मे आकर उतारा है। हम लोगों को मूर्ख जानकर फटकन देकर सोना माँगना चाहता है कितनी मर्मस्पर्शिणी उक्ति है।

सूरदास जी ने अप्रस्तुत प्रशंसा के द्वारा विरहिणी राधिका के अंगो तथा चेष्टाओ का मन्द तथा श्रीहीन होने का बहुत सुन्दर वर्णन किया है :—

"तब ते इन सबहिन सचु पायो।
जब ते हरि सन्देस तिहारो सुनत ताँवरो आयो।
फूले व्याल दुरे ते प्रकटे, पवन पेट भरि खायो।
ऊँचे बैठि बिहंग सभा बिच कोकिल मंगल गायो।
निकसि कन्दरा तें केहरिहू माथे पूँछ हिलायो।
बन गृह ते गजराज निकसि कै अंग अंग गर्व जनाओ॥

यहाँ सूरदास जी ने उपमानों की आनन्द दशा का वर्णन करके विरहणी राधिका का चित्र प्रस्तुत किया है।

जायसी ने भी अपने पद्मावत में सुन्दर सरस उक्तियों का समावेश किया

है। कवि की भावुकता ने उन उक्तियो को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। एक उक्ति देखिए :—

"सरवर हिया घटन नित जाई।
टूक टूक होइ कै विहराई॥
विहरत हिता करह पिउ टेका।
दीठी दवँगरा मेरवहु एका॥

जिस प्रकार वैशाख मास मे सरोवर का जल सूख जाता है और उसमे दरारें हो जाती हैं। उसी प्रकार नायिका के हृदय सरोवर मे दरारें हो गई हैं। जिस प्रकार वर्षा का प्रारम्भिक जल इन दरारो को भर देता है उसी प्रकार नायक का प्रेम पूर्ण दृष्टिपात विरह से विदीर्ण हृदय को स्निग्धतापूर्ण भर देगा।

श्रृंगार रस के कवि घनानन्द ने भी वक्रोक्तियो के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं। उनकी सरस, चमत्कारी तथा रसाभिव्यजक उक्तियाँ हिन्दी साहित्य मे अनुपम हैं। उनकी उक्तियो मे रसोवोधन की अपूर्व क्षमता है। कुन्तक की वक्रोक्ति के नाना रूपो के दर्शन हमे घनानन्द मे मिलते हैं देखिए :—

"उर-भौन मे मौन को घूंघट कै दुरि वैठी विराजति वात-वनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सो सुलसै हुलसै रस रूप-मनी॥
रसना-अली कान-गली मधि ह्वै पधरावति लै चित सेज ठनी।
घन आनँद वूझनि अक वसै विलसै रिझवार सुजान-धनी॥

यहाँ कवि ने चमत्कार पूर्ण उक्ति के द्वारा वुद्धि और ज्ञान के मिलन का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है।

एक दूसरी उक्ति का सौन्दर्य देखिए .—

"कन्त रमै उर अन्तर मै सुलहै नही क्यो सुख रासि निरन्तर।
देत रहै गहि आँगुरि, ते जु वियोग के तेह तचे परतंतर॥
जो दुख देखति हौ घन आनद रैनि दिना बिन जान सुततर।
जानै वेई दिन-रात वखाने ते जाय परै दिनराति को अंतर॥

नायिका अपनी विरह दशा का वर्णन करती हुई कहती है कि प्रियतम अन्तः करण मे हैं तव भी मुझे सुख नही मिलता। प्रेम मे पगे रहने वाले तथा वियोग की अग्नि में जलने वाले भी मेरे विरह को देखकर दाँतो तले अंगुली देते हैं। मेरी दिन-रात्रि की दु.खानुभति का ज्ञान दिन रात ही को है। विरह की वास्तविक दशा में तथा उसके वर्णन मे रात-दिन का अन्तर है। अर्थात् विरह की वेदना वर्णन की वस्तु नही है उसकी तो केवल अनुभूति ही की जा सकती है। यह उक्ति वहुत ही सुन्दर वन पडी है। इसमें रसोवोधन की पूर्ण क्षमता है।

अन्त में कह सकते हैं कि कुन्तक का वक्रोक्ति काव्य का अत्यन्त व्यापक, रुचिर तथा सुनिर्मित तत्व है। उसके द्वारा कविता मे चमत्कार आ जाता है।

नवाँ अध्याय

अलंकार सम्प्रदाय

अलकार सम्प्रदाय के प्रधान प्रवर्त्तक भामह हैं। उन्होने सर्व प्रथम अलंकार का महत्व प्रतिपादित किया—'कविता के सौन्दर्य के लिए अलंकार आवश्यक हैं।" भामह के इस सिद्धान्त की पुष्टि उद्भट ने की। और फिर उनके पश्चात् दण्डी, रुद्रट और प्रतिहारेन्दु आदि विद्वानो ने उनका अनुसरण किया। दण्डी का भी मत था कि—"काव्य का पोषण करने वाले अंगों को अलंकार कहना चाहिए।" इस प्रकार अलकार सम्प्रदाय वालो ने अलकार को काव्य का जीवातु माना है। उनका विचार है कि जैसे अग्नि का मुख्य गुण उष्णता है उसी प्रकार काव्य का प्राणातत्व अलंकार है :—

"अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलकृती।
असौ न मन्यते कस्यादनुष्ठामनलं कृती॥[1]"

अलकार शब्द का व्यापक अर्थ है—काव्य मे सौन्दर्य सम्पन्न करने वाले समस्त उपकरणों का प्रतिपादक।

अलंकार की परिभाषा तथा स्वरूप :—व्यवहारिक दृष्टि से अलकार शब्द का अर्थ है—"आभूषण"—"अलंकरोतीति अलकार.।" अर्थात् जिससे सज्जित किया जाय उसे अलकार कहेंगे। वैयाकरणो का विचार है—"अलंक्रियतेऽनेनेत्य-लंकारः":—अर्थात् अलकार वे हैं जिनके द्वारा किसी की शोभा मे वृद्धि होती है। इस परिभाषा के अनुसार अलंकार काव्य की शोभा के साधन हैं।

भामह के अनुसार अलकार काव्य का प्राण है और वक्रोक्ति अलकार का प्राण है—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविता कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥"[2]

शब्द और अर्थ की विचित्रता ही वक्रोक्ति है। इस प्रकार भामह के मतानुसार शब्द और अर्थ के वैचित्र्य का नाम ही अलकार है .—

"वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृति।"

दण्डी ने अलकार की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"काव्य-शोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।"

अर्थात् अलंकार काव्य की शोभा बढाने वाले धर्म हैं। इस परिभाषा के

---

१. चन्द्रालोक १।८।
२. काकालंकार।

अनुसार अलंकारो की दो विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—प्रथम अलंकार काव्य के सहज गुण हैं। दूसरे अलकारो पर काव्य का सौन्दर्य तथा शोभा अवलम्बित है। यह परिभाषा अलंकार सम्प्रदाय के सिद्धान्त की द्योतक है।

वामन अलकार का लक्षण देते हुए लिखते हैं:—

"काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् सौन्दर्यमलङ्कारः।"

अर्थात् काव्य अलकार के द्वारा ही ग्रहण करने योग्य है तथा सौन्दर्य ही अलंकार है। रूद्रट ने अलकार का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

"अभिधानप्रकारविशेपा एव चालंकारा.।"

इन सब अलकारवादियो ने अलंकार को काव्य का प्राण मानकर अपनी परिभाषा दी है। उन्होने अलकारो के द्वारा ही काव्य के आन्तरिक तत्त्वों—रस, गुण का विकास माना है। ध्वनि सम्प्रदाय तथा रस सम्प्रदाय की स्थापना हो जाने के पश्चात् अलकार की परिभाषा मे भी परिवर्तन हो गया। रसवादी आचार्यों ने अलंकार को काव्य के रस तथा भाव के उत्कर्ष के कारण माना है। विश्वनाथ ने अलकार का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"शब्दार्थयोरस्थिरा मे धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वंन्तोऽलराकास्तेऽङ्गदादिवत् ॥"

अर्थात् जिस प्रकार अङ्गदादि आभूषण शरीर की शोभा बढाते हैं, उसी प्रकार अनुप्रासोपमादि अलकार भी कवि के शब्दार्थ रूप शरीर की शोभा वृद्धि करते हैं। "रसादीनुपकुर्वन्ति" का अर्थ है कि अलकार न केवल शब्दार्थ रूप शरीर को ही अलकृत करते हैं वरन् काव्य की आत्मा रस का भी उपकार करते हैं। यहाँ पर अलकार का अर्थ बाह्योपचार मात्र ही नही है वरन् रस रूप आत्मा का उपकारक साधक होना भी है।

रसवादियो के विचार से अलकार काव्य का अनिवार्य तत्त्व नही है। वे कभी काव्य मे विद्यमान रहते हैं और कभी नही। केवल अलंकारो पर ही काव्य का सौन्दर्य अवलम्बित नही है। काव्य मे अलकार सौन्दर्य की सृष्टि नही करते, अपितु शोभा का उत्कर्ष करते हैं। काव्य का प्राण रस है और अलकार रसानुभूति मे योग देते हैं।

मम्मट ने अलंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"उपकुर्वन्ति तं सन्त मेऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥"[1]

मम्मट ने अलकारो को विशेप महत्व नही दिया है। यह बात उनकी काव्य की परिभाषा से स्पष्ट हो जाती है—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः

१. काव्यालकार ८।६७

क्वापि ।" अर्थात् काव्य के शब्द और अर्थ निर्दोष हों, गुणयुक्त हों, अलंकार हो या न हों। जयदेव ने इस मत का खण्डन किया है। वे लिखते हैं—

"अङ्गीकरोति यः काव्य शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्यादनुष्णमनलंकृती ॥

अर्थात् जो अलंकारहीन शब्द और अर्थ वाले को भी काव्य मानते हैं वे यह क्यों नही स्वीकार करते कि अग्नि अनुष्ठा (ठण्डी) होती है।

अग्निपुराण मे वेदव्यास जी अलंकार के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"अलंकरणमर्थानामर्थालङ्कारइष्यते ।
तं विना शब्द सौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम् ।
अर्थालङ्कार रहिता विधवेव सरस्वती ॥"

अर्थात् अलंकार काव्य को सुशोभित करते हैं। शब्द की सुन्दरता और मनोहरता अलंकारों के अभाव मे नही हो सकती। अलकार शून्य काव्य विधवा स्त्री के समान है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अलकार सम्प्रदाय के पृष्ठपोषक थे। अतः उनके अलंकार की परिभाषा रसवादियों से प्रभावित है। शुक्ल जी ने भी रसवादियो के समान अलंकारों को काव्य का अस्थिर धर्म माना है। उन्होने अलकार की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव करने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।

पन्त जी अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते है :—

"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नही वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए, आवश्यक उपादान हैं। वे वाणी के आचार व्यवहार और रीति-नीति है, पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र है।"[२]

यह तो प्रायः सभी ने माना है कि—"उक्ति के चमत्कार का नाम अलंकार है।"

अलंकार के इस अर्थ को स्वीकार करने पर हमारे समक्ष दो प्रश्न उपस्थित होते है—(१) क्या प्रत्येक उक्ति चमत्कार को काव्य की सज्ञा दी जायेगी? (२) तथा क्या प्रत्येक काव्य मे उक्ति चमत्कार अपेक्षित है। अलंकार तथा रस सम्प्रदाय के मध्य इन्हीं प्रश्नों पर वाद-विवाद रहा है। अलंकार सम्प्रदाय वाले तो प्रत्येक उक्ति चमत्कार को काव्य मानते है तथा उनके विचार से प्रत्येक काव्य में उक्ति चमत्कार का होना वांछनीय है। इसके विपरीत रस सम्प्रदाय वालों का

---

२. पल्लव की भूमिका।

विचार है कि प्रत्येक उक्ति-चमत्कार को काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती और न काव्य मे उक्ति चमत्कार की स्थिति आवश्यक ही है।

वास्तव में प्रत्येक उक्ति चमत्कार को काव्य के नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता। क्योंकि चमत्कार केवल कौतूहल को ही उत्पन्न करते हैं। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र लिखते हैं :—

"इसलिए वही चमत्कार पूर्ण उक्ति काव्य हो सकती है, जिसका चमत्कार भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता अथवा तीव्रता के आश्रित हो। ऐसी उक्ति जिसका चमत्कार बौद्धिक ग्रन्थियो के सुलझाने से सम्बन्ध रखता है, या केवल कल्पना विधान के आश्रित है, काव्य पद की अधिकारिणी कभी नहीं हो सकती। यही कारण है कि चित्र काव्य अथवा प्रहेलिका आदि को जिनमें भाव की रमणीयता का सर्वथा अभाव रहता है प्राचीन आचार्यों ने भी काव्य की कोटि से बहिष्कृत कर दिया है। अतएव यह तो स्पष्ट है कि जहाँ चमत्कार भाव के आश्रित न होकर कोरे बौद्धिक-विधान के आश्रित रहता है अर्थात् श्रोता के मन में हल्की से हल्की भी भावतरंग उत्पन्न नहीं करता, वहाँ हमारे हृदय में लेखक के बुद्धि-विधान के प्रति आश्चर्य और विस्मय की भावना तो जग सकती है, इसके अतिरिक्त किसी गूढ़ समस्या के सुलझ जाने से या बौद्धिक-ग्रन्थि के खुल जाने से जो एक प्रकार का बौद्धिक आनन्द मिलता है, उसका भी अनुभव हो सकता है परन्तु काव्यानुभूति सम्भव नहीं है। सभी प्रकार का चमत्कार काव्यानन्द नहीं दे सकता जिसमें भाव का योग नहीं, जो बौद्धिक-विधान मात्र है, वह बौद्धिक आनन्द ही देगा उसमें ऐन्द्रिता का रस नही होगा।"[1]

इसके पश्चात् दूसरा प्रश्न यह रह जाता है कि क्या प्रत्येक काव्य मे उक्ति चमत्कार अपेक्षित है। रसवादियो ने तो इस तथ्य को स्वीकृत नही किया है। उन्होंने तो अलकारो को काव्य का अस्थिर धर्म माना है। उनके विचार से काव्य की रमणीयता भावो पर आश्रित है। परन्तु भामह और कुन्तक ने वक्रता को काव्य का अनिवार्य तत्व माना है। वास्तव मे काव्य की रमणीयता के लिए भाव तो अपेक्षित हैं ही, परन्तु रमणीय उक्ति (वक्र उक्ति) का होना भी वांछनीय है। भाव का सौन्दर्य उक्ति के सौन्दर्य पर ही निर्भर है। परन्तु इसके लिए सब प्रकार की वचन वक्रता तथा उक्ति रमणीयता का समावेश होना अभीष्ट है तथा उसमें लक्षणा और व्यंजना की भी स्थिति होनी चाहिए। श्री कन्हैयालाल पोद्दार के शब्दो मे —"जहाँ व्यङ्गय के बिना चमत्कार हो उसे अलंकार कहते है।"

श्री सीताराम चतुर्वेदी ने अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है—"अलंकार वह निश्चल योजना है जिसके अन्तर्गत काव्य का स्वरूप, उसके विविध अंग, अंगों के प्रकरण, प्रकरणों के अन्तर्गत कथा, वर्णन, सम्वाद और उन सबमें व्याप्त एक विशेष

१—रीतिकाव्य की भूमिका पृष्ठ ८९

उद्देश्य की अभिव्यक्ति, सब आ जाते हैं, और यह सब पूरी योजना जिन अनेक भाषाओं के विधानों से पूरी होती है उन सबकी समष्टि ही अलंकार है।"

कुछ आचार्यों ने अलंकार की परिभाषा इस प्रकार दी है कि—'शब्द और अर्थ के द्वारा उपस्थित रस के गुणों की विशेषता जिस शैली से प्रकट की जाय उसे अलंकार कहते हैं।"

अलंकारो का काव्य मे स्थान तथा महत्व—मनुष्य में अलंकार प्रियता की भावना अनादि काल से चली आ रही है। आधुनिक काल मे तो अलंकारों का विषय अत्यन्त सूक्ष्म एवं कलात्मक हो गया है, परन्तु उस सुदूर अतीत में जब कलाओं का विवेचन एवं वर्गीकरण भी नही हुआ था, तब भी मानव में न अलंकार प्रियता की भावना विद्यमान थी। विभिन्न देशो, कालो, जातियो तथा समाजों के कारण अलंकार के रूप मे भेद चाहे हो, किन्तु मूलतः इस भावना के दर्शन सभी मे समान रूप से होते हैं। मनुष्य के आहार-व्यवहार, आचार-विचार, रीति प्रथाएँ, धर्मों, कर्मों, नियमों, तथ्यों, सिद्धान्तो तथा क्रियाओ सभी मे अलकार प्रियता की भावना परिलक्षित होती है। अलकार प्रियता की भावना ने केवल मनुष्य के शरीर को ही अलंकृत नही किया है, अपितु सृष्टि के समस्त प्राकृतिक एवं अप्राकृत वातावरण को भी नानात्मक वेषभूषा से रंजित कर दिया। अलकार प्रियता की भावना ने ही व्यक्ति में कर्त्तव्य, जाति मे मर्यादा, समाज मे व्यवस्था तथा राष्ट्र में सम्पूर्णता की प्रेरणा दी है। विशाल गगनचुम्बी भवनो की भित्तियो पर नाना प्रकार की चित्रकारियो के दर्शन होते हैं। ये सब मनुष्यों की अलकारिक प्रतिभा के ही परिचायक हैं। केवल व्यवहारिक जगत में ही नही, धार्मिक जगत मे भी मानव की अलंकार प्रियता के दर्शन होते हैं। अतः स्पष्ट है कि पृथ्वी के लघु पदार्थों से लेकर आकाश के रहस्यो तक मे मानव की अलकार प्रियता विद्यमान है। ऐसा कोई पदार्थ, स्थान नही है जिसमें अलंकारिकता न हो। जीवन का प्रत्येक क्रिया कलाप आत्म अलंकारिक भावना से संचालित है।

काव्य मानव के सौन्दर्य प्रिय भावों की अभिव्यक्ति है। अतः उसमे अलंकारों का होना नितान्त स्वाभाविक है। काव्य का अस्तित्व भाषा तथा भाव पर ही निर्भर है। अतः कवि अपने काव्य को प्रभावशाली बनाने के लिए भाषा को चमत्कारपूर्ण बनाता है और यह चमत्कार अलकारो के द्वारा ही आता है। सिद्ध कवियों की रचनाओं मे ऐसे भाव तथा अलकारो के दर्शन होते हैं जिनका साहित्य मे नामकरण तक नही मिलता। सूर और तुलसी के भावों की आठ स्थायी भावों तथा ३३ संचारियों को सीमा मे नही बाँधा जा सकता। रत्नाकर जी के उद्धव-शतक में ऐसे अलंकार परिलक्षित होते हैं जिनकी कोई निश्चित परिभाषा नही है। श्रेष्ठ कलाकार की कृति में भाषा तथा भाव दोनो का उचित सन्तुलन रहता है। ऐसे कलाकारो के सम्बन्ध में ही कह[illegible] न के वस जासु सरस्वती करती काज मनो निज-

भामिनी।" इस विश्लेपण से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य की पृष्ठ भूमि में अलकारो का क्या स्थान है।

हिन्दी साहित्य का समस्त भक्तिमार्ग, द्वैत अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, पुष्टिमार्ग तथा प्रेममार्ग आदि समस्त वादो मे अलकार प्रियता की भावना परिलक्षित होती है। वर्तमान विज्ञान द्वारा अविष्कृत आश्चर्यों के प्रयोग इस भावना से ही प्रोत्साहन पा रहे हैं।

अपनी इस सूक्ष्मता तथा व्यापकता के कारण ही आज अलंकार के बल वाले प्रदर्शन के भौतिक साधन मात्र नही हैं, अपितु हमारे अन्तर्जगत तथा हमारी मनोवृत्तियो को स्पष्ट करने मे सहायक हैं। आज अलकार सत्य के वास्तविक तथा स्वाभाविक रूप की अभिव्यजना करने वाले हैं। आज अलकार युक्त काव्य का सौन्दर्य मानसिक खिलवाड़ का विपय न रहकर आत्मानुभूति का विपय हो गया है। आज अलकारो ने काव्य मे स्थान ग्रहण करके भावाभिव्यक्ति के सर्वश्रेष्ठ साधन बन गये हैं। अब अलकार अनादरणीय न होकर "उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्" की गरिमा प्राप्त कर चुके हैं।

यही है अलकारो का काव्य मे स्थान तथा महत्व। अपनी विशिष्टता के कारण ही अलकारो को 'काव्यालोचन" मे महत्व मिल सका है। कुछ भारतीय विद्वानो ने अलकारो को "अलङ्कारस्वमेव काव्यम्" लिखकर उसके महत्व, गौरव तथा व्यापकता को और भी स्पष्ट कर दिया है। "वाक्य रसात्मकं काव्यम्' का उल्लेख तो बहुत बाद में मिलता है। ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी के आचार्य भरत मुनि से लेकर ईसा के सप्तदश-शतक के आचार्य जगन्नाथ तक के आचार्यो ने अलकारों को विशेप महत्व दिया है।

भामह, दण्डी, उद्भट, वामन आदि अलंकारवादी आचार्यों ने अलकार को काव्य की आत्मा मानकर उसके महत्व तथा स्थान को स्पष्ट किया है। इन आचार्यों ने रस की प्रतीति रसवत् अलकारो से मानी है। इन विद्वानो की परिभापा हम दे चुके हैं। उनसे अलंकार का काव्य मे स्थान तथा महत्व स्पष्ट हो जाता है। रुय्यक ने "अलकार सर्वस्व" मे इन आचार्यो के मत के सम्बन्ध मे लिखा है :—

"अलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्याना मतम्"

अर्थात् प्राच्य साहित्याचार्यों ने काव्य मे अलकारो को ही प्रमुखता दी है। जयदेव ने चन्द्रालोक मे लिखा है :—

"अगी करोति य काव्यं शब्दार्थावनलक्रुती
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती"

अर्थात् जो अलकार शून्य काव्य को काव्य मानते हैं, वे यह क्यों नही मानते कि अग्नि भी ठण्डी होती है।

वाग्भट्ट ने—"शब्दार्थौ निर्दोषौ प्रायः सालङ्कारौ काव्यम्" कहकर अलंकार के महत्व को प्रदर्शित किया है।

हेमचन्द्र ने "अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्" लिखकर काव्य मे अलंकार का स्थान तथा महत्व स्पष्ट किया है।

भोज ने अपनी काव्य परिभाषा में अलकार का महत्व इस प्रकार दिया है—

निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसावित कविः कुर्वन कीर्ति प्रीतिञ्चविन्दति ॥"

राजा भोज ने "सरस्वती कंठाभरण" मे काव्य के लिए शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनो को आवश्यक माना है। शब्दालंकार की परिभाषा देते हुए वे लिखते हैं—

"ये व्युत्पत्त्यादिना शब्दमलकर्तुमिदृक्षमाः शब्दालंकार संज्ञास्ते"

अर्थात् शब्दालंकार शब्दों के वैचित्र्य द्वारा काव्य को अलंकृत करते हैं।

अर्थालंकार के सम्बन्ध मे वे लिखते हैं—

अलमर्थमलकर्तु यद्व्युत्पत्त्यादिवर्त्मना ।
ज्ञेया जात्यादय. प्राज्ञैस्तेऽर्थालङ्कार सज्ञया ॥"

अर्थात् अर्थालकार शब्द अर्थ गाम्भीर्य को स्पष्ट करते हैं। वस्तुतः उक्ति-वैचित्र्य ही काव्य को रमणीयता प्रदान करते हैं।

अग्नि पुराण ने "इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्" के द्वारा काव्य में अलंकार के स्थान तथा महत्व को स्पष्ट किया है। अग्निपुराण मे अर्थालंकार का महत्व इस प्रकार प्राप्त होता है—

"अर्थालङ्कार रहिता विधवेव भारती।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य मे अलंकार का विशिष्ट स्थान है।

ध्वनिवादी तथा रसवादी आचार्यों ने भी अलंकार के महत्व को स्वीकार किया है। उन्होने अलकारों को काव्य की शोभा का उत्कर्ष करने वाले अस्थिर धर्म माना है। ध्वन्यालोककार ने अलङ्कारों को अग रूप मे मानते हुए लिखा है—

"अगश्रितास्त्वलकाराः मन्तव्या कटकादिवत्"

अर्थात कटक आदि आभूषणों के समान ही काव्य में अलङ्कारों की स्थिति होती है। ध्वनिवादी आचार्यों ने व्यग्यार्थ को काव्य का प्रधान अग माना है। वे गुणीभूत व्यंग्य तथा वाच्यार्थ मे भी काव्यत्व मानते हैं। ऐसे काव्यो मे कवि अपनी प्रतिभा से अलकारों का सन्निवेश करके उसमे काव्यत्व ला देते हैं—

"ध्वनेरित्थ गुणीभूतव्यग्यस्य च समाश्रमात् ।
न काव्यार्थविरायोऽस्ति यदिस्यात्प्रतिभागुणः ॥"

अर्थात् प्रतिभाशाली कवि ध्वनि रहित गुणीभूत व्यंग्य और वाच्यार्थ काव्य को भी काव्यत्व प्रदान करता है। ध्वनि काव्यों में कवि प्रतिभा द्वारा अलंकार स्वतः

आ जाते हैं, उनके लिए प्रयास नही करना पडता। इस सम्बन्ध मे ध्वन्यालोक की निम्नलिखित पक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

"अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाण दुर्घटान्यपि रस समाहित चेतसः।
प्रतिभा भानवतः कवेः अहपूर्विकया परापतन्ति ।।"

अर्थात् काव्य में रस को प्रधानता देने वाले कवियो को निरूपण सम्बन्धी कठिनाई होने पर भी अलकारो को वलपूर्वक नही लाना पडता, उसमें तो स्वयमेव ही एक के पश्चात् दूसरे अलकार आते रहते हैं।

किन्तु रस से शून्य काव्य को अलकार भी शोभा प्रदान नहीं कर सकते—

"तथाहि अचेतनं शव शरीरं कुण्ड लाद्युपेतमपि न भाति, अलकार्यस्याभावत्"

अर्थात् जिस प्रकार मृतक शरीर को कुण्डल आदि अलंकृत नही कर सकते उसी प्रकार रस से विरहित काव्य को अलंकार शोभा प्रदान नही कर सकते।

साराश यह है कि ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य मे रस को उत्कर्ष देने के लिए अलंकारो को महत्व दिया है।

रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने "रसादीनुपकुर्वन्ति" लिखकर अलंकार को रस का उपकारक माना है। मम्मट ने काव्य-प्रकाश में काव्य मे अलकारो की स्थिति स्पष्ट करते हुए उसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

"उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वरेण जातुचित्।
हारादिवलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।

मम्मट ने अलंकारो को रस का अस्थिर धर्म माना है।

वस्तुतः काव्य मे अलंकारो का प्रयोग सौन्दर्य के उत्कर्ष के लिए होता है, वह सौन्दर्य चाहे भाव का हो अथवा भापा का। काव्य मे अलंकारो की क्या स्थिति है इसका उत्तर हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो में इस प्रकार दे सकते हैं—"भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओ के रूप गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव करने में कभी कभी सहायक होने वाली युक्ति अलंकार है।" वास्तव मे अलकार युक्त उक्ति का प्रभाव ही पाठक पर पडता है। अत. अलंकार रस के साधक माने जायेंगे क्योकि वे किसी भी भाव को तीव्रता प्रदान करने में सहायक होते हैं। भाव का सौन्दर्य बढाने वाले अलंकार रस से पूर्णतः सम्बन्धित होते हैं। हरिऔध जी की निम्नलिखित पक्तियो मे अलंकार भाव उत्कर्ष में सहायक हैं:—

"प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है ?
दुःख-जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है ?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नैन तारा कहाँ है ?

इसमे आये हुए उपमा और रूपक विकलता की भावना को तीव्र रूप मे व्यजित कर रहे हैं।

महाकवि विहारी निम्नलिखित दोहे में अलंकार भावों का उत्कर्ष कर रहे हैं--

"दीठि वरत बाँधी अटनु चढि धावत न डरात।
इतहि उतहि चित दुहुन के नट लों आवत जात ॥

यहाँ पर भावार्थ यह है कि आमने-सामने घर होने के कारण नायक नायिका खिड़की के द्वारा एक दूसरे को देखने मे संलग्न हैं। उपमा और रूपक के सहारे कवि ने इसका पूर्ण चित्र उपस्थित कर दिया है। यहाँ पर दृष्टि को रस्सी माना गया है। मन नट के समान, फिर उन रस्सियों पर क्यो न चलते। पूर्ण चित्र नेत्रों के समक्ष आ जाता है। यहाँ पर अप्रस्तुत का भी कौशल है, जिसने प्रस्तुत का उत्कर्ष विधान किया है। अलंकारों का इसी प्रकार का प्रयोग होना वाँछनीय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा है—

"अप्रस्तुत भी उसी प्रकार के भाव के उत्तेजक हों प्रस्तुत जिस प्रकार के भाव का उत्तेजक हो। किसी पात्र के लिए जो उपमान लाया जाय वह उस भाव के अनुरूप हो जो कवि ने उस पात्र के सम्बन्ध में अपने हृदय में प्रतिष्ठित किया है। और पाठक के हृदय में भी प्रतिष्ठित करना चाहता है।"

कहीं-कहीं अलंकार रूप का भी तीव्रवर अनुभव कराते हैं। प्रसाद जी ने "कामायनी" मे श्रद्धा के रूप को उपमा, उत्प्रेक्षा की सहायता से चरम सीमा पर पहुँचा दिया है—

"नील परिधान वीच सुकुमार, खुल रहा मृदु अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों विजली का फूल, मेघवन वीच गुलाबी रंग।
घिर रहे थे घुंघराले वाल, अंस अवलम्बित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास।
आह! वह मुख पश्चिम के व्योम वीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि मंडल उनको भेद दिखाई देता हो छवि धाम।।"

प्रसाद जी ने रूपक के द्वारा चिन्ता की भीषणता का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है—

"ओ चिन्ता की पहली रेखा अरी विश्व वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण प्रथम कप सी मतवाली।
हे अभाव की चपल वालिके री ललाट की खल रेखा,
हरी-भरी सी दौड़ धूप ओ जल माया की चल रेखा।

सारांश यह है कि जो अलंकार भाव, गुण, क्रिया को तीव्रता प्रदान करते हैं वे अवश्य समादरणीय हैं। क्योंकि ऐसे अलंकार ही रसोद्रेक में सहायक होते हैं।

अलंकारों के महत्व के सम्बन्ध मे पन्त जी लिखते हैं—**"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के**

आचार व्यवहार और रीति नीति है पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झंकारें विशेष घटना से टकराकर जैसे फेनाकार हो गई हो, विशेष भाव के झोके खाकर बाल लहरियां तरुण-तरंगों में फूट गई हों। कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवृतों में नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारो के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दो की कृपण जड़ता में बांध कर सेनापति के दाता और सूम की तरह एकसार हो जाती है।"[1]

कुछ विद्वानो की धारणा है कि काव्य में अलंकारों का कुछ भी प्रयोजन नही है और वे कवि प्रतिभा मे बाधक हैं। किन्तु उनका यह मत भ्रान्ति पूर्ण है। इस प्रकार की धारणा से अलंकारों की सहज कमनीयता, स्वाभाविकता एवं सुकु-मारता नष्ट हो जाती है। अलंकारो की उपेक्षा करने से काव्य रचना कठिन ही नही, अपितु असम्भव भी हो जायेगी। अलकारो से शून्य काव्य का सौन्दर्य विकृत हो जायेगा। अतः अलकार की उपेक्षा की बात कहना शास्त्रीय मर्यादा का अतिक्रमण करना है। हाँ अलंकारों का अनावश्यक एवं अस्वाभिक प्रयोग अवांछनीय है। अलंकार काव्य में भार स्वरूप प्रतीत न हो।

यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि अलंकार कवि प्रतिभा के अवरोधक न होकर प्रवर्धक हैं। कवि को जब भाव प्रकाशन में कठिनाई उपस्थित होती है तब वह अलंकारो का सहारा लेता है। अलंकारो के आश्रय से भाव सुबोधता से बोधगम्य हो जाते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी मुख की सुन्दरता को व्यक्त करने के लिए केवल इतना ही कहा जाय कि मुख सुन्दर है तो पाठको को उस सौन्दर्य की यथातथ्य अनुभूति नही हो सकती। किन्तु इसके विपरीत यह कहा जाय कि—"मुख चन्द्रमा के समान है।" तो चन्द्रमा उपमान का प्रत्यक्षीकरण होते ही पाठक के हृदय मे विधु-मुख की धवलिमा धवलित होने लगती है। यही बात अन्य भावों के प्रकाशन के सम्बन्ध में भी है।

कालिदास भारवी, भवभूति, माघ, तुलसी, सूर, कबीर, बिहारी, मीरा, जायसी आदि कवियो की भावनाएँ इसका सुन्दरतम निदर्शन हैं। रहस्यवादी कवि जब अपने भावो को साधारण भाव में व्यक्त न कर सके तो उन्होने रूपक तथा अन्योक्तियों की अलकारिक शैली को ग्रहण किया। वस्तुतः अलंकारो को कवि प्रतिभा मे बाधक नही माना जा सकता। यदि अलंकार कवि प्रतिभा के अवरोधक होते, तो कालिदास, तुलसी, सूर तथा बिहारी की प्रतिभा निश्चय ही कुंठित हो जाती। इन कवियों का मान हिन्दी साहित्य मे ही नही, अपितु विश्व-साहित्य मे अनुपम है।

अलंकारों के द्वारा ही कवि प्रतिभा को प्रेरणा मिलती है। प्रत्येक कला का ध्येय सौन्दर्य की सृष्टि करना है। जैसा कि मि० सुजलर का मत है कि—"समस्त कलाओं का उद्देश्य शिवत्व से पृथक विशुद्ध सौन्दर्य है।" काव्य मे तीन प्रकार का

१. पल्लव की भूमिका

सौन्दर्य निहित रहता है—(१) रूप सौन्दर्य, (२) भाव सौन्दर्य, (३) अभिव्यक्ति सौन्दर्य। इन तीनों सौन्दर्य को समन्वित का स्पष्ट करने का कार्य अलंकार का है। सौन्दर्य के अनन्तर काव्य का एक अन्य गुण है—चमत्कार। आचार्य केशवदास जी चमत्कारवादी कवि थे। चमत्कार काव्य के कलापक्ष से सम्बन्धित है। यह काव्य का निर्माण सम्बन्धी गुण है। काव्य में यह गुण अभेदात्मक सम्बन्ध से रहता है। अतः अलंकारों के द्वारा ही भाषा में इस गुण की अभेदात्मक सत्ता आती है। इस गुण से विरहित होने पर काव्योक्त आदर्श मनोवेगों को तरंगीत नही कर सकता। श्री सूर्यकान्त शास्त्री ने आदर्श एवं चमत्कार के समन्वय के सम्बन्ध में लिखा है:—

"आदर्श और चमत्कार के इस सामजस्य में ही सौन्दर्य का उद्भव है और दोनों के मासिक संकलन में ही कला की अर्थवत्ता है।"

वास्तव मे काव्य मे अलंकारों का विशेष महत्व है। काव्य मे अलंकारों के महत्व तथा स्थान को स्पष्ट करते हुए आचार्य सीताराम चतुर्वेदी लिखते हैं—"जैसे रंगमंच के नट पर विभिन्न केन्द्रों से पड़ने वाले विभिन्न रंगों के प्रकाश विभिन्न अवसरों पर उसकी विभिन्न चेष्टाओं, भाव-भङ्गिमों और मुद्राओं को स्पष्ट करते चलते हैं उसी प्रकार अलंकार भी काव्य के विभिन्न पात्रों, अवसरों और कार्यों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में और समवेदनशील बनाने में सहायक होते हैं। यदि ऐसा न करके वे केवल भाषा चमत्कार से ही पाठक या श्रोता के मन में कुतूहल उत्पन्न करते तो वे अलंकार न हो पाते क्योंकि अलंकार साधन हैं साध्य नहीं।"

वस्तुतः प्रारम्भ से लेकर आज तक काव्य में अलकारों की स्थिति किसी न किसी रूप में स्वीकार की गई है। प्रतिभाशाली कवि की भाषा मे अलंकार इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं कि पाठक कह उठता है लेखक ने "अल" कर दिया। अतः मम्मट ने व्यंजना और लक्षणा युक्त काव्य को श्रेष्ठ काव्य की संज्ञा दी है। और जिन काव्यों में मानसिक व्यायाम प्रधान है उन्हे अधम काव्य के नाम से अभिहित किया है।

अलंकार और अलंकार्य का भेद:—संस्कृत साहित्य शास्त्र में अलकार और अलंकार्य की स्थिति पृथक-पृथक मानी गई है—काव्य के दो पक्ष माने गये हैं—(१) भावपक्ष, (२) कलापक्ष। अलंकार्य के अन्तर्गत रस (भाव) और वस्तु आते हैं, अतः इसका सम्बन्ध भावपक्ष से है। अलंकार रस को तीव्रतर करते हैं तथा वस्तु को रमणीयता प्रदान करते हैं—इसलिए इसका सम्बन्ध कलापक्ष से है। वस्तुतः रस (भाव) और वस्तु अलंकार्य हुए और अलकार उनके अलंकरण का प्रधान साधन है। अतः भावपक्ष और कलापक्ष का जो अभिन्न सम्बन्ध है वही अमिट सम्बन्ध अलंकार और अलंकार्य का है। डा० श्यामसुन्दर दास ने भावपक्ष और कलापक्ष का घनिष्ट सम्बन्ध मानते हुए लिखा है:—

"काव्य में भावपक्ष और कलापक्ष दोनों का नित्य सम्बन्ध है, जो सदा अक्षुण्ण बना रहता है। जहाँ एक का दूसरे से विछोह हुआ वहाँ काव्य की

अन्तरात्मा को अपने को प्रगट करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती।"[1]

आचार्य हरिमिश्र बोध ने भी लिखा है:—

"नहि भावः भेव मिद्धयो"

संस्कृत के आचार्यों ने अलंकार और अलंकार्य में भेद माना है। वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने अलंकार और अलंकार्य के भेद को अनिवार्य माना है:—

"शरीरंचदेलङ्कार स्मिलङ्कुरुतेऽपरम्
आत्मैव नात्मनः स्कन्ध क्वचिदप्यधिरोहति।"[2]

अर्थात् यदि शरीर को अलंकार माना जाय तो वह दूसरी वस्तु को अलंकृत नही कर सकता है। क्योंकि शरीर तो अलंकार्य है। कोई भी व्यक्ति अपने कन्धे पर नही चढ सकता।

अलंकार युक्त होकर ही अलंकार्य सफल काव्य की सृष्टि करते हैं। इस सम्बन्ध में कुन्तक ने लिखा है:—

"अलंकृतिरलङ्कार्य मपोद्धृत्य विवेच्यते
तदुपायतया तत्व सालङ्कारस्य काव्यता।"[3]

अभिव्यंजना वादी क्रोचें ने अलंकार और अलंकार्य मे कोई भेद न मानते हुए उनके पार्थक्य को अनर्गल तथा निराधार कहा है। वे लिखते हैं:—

"One can ask oneself how an ornament can be joined to expression. Externally? In that case it must always remain separate. Internally? In that case either it does not assist expression and mars it, or it does form part of it and is not an ornament but a constituent element of expression indistinguishable from the whole"[4]—अर्थात् "यह पूँछा जा सकता है कि उक्ति (अलंकार्य) में अलंकार का किस प्रकार समावेश किया जा सकता है। यदि वाह्यात्मक रूप से किया जाय तो वह सदैव उक्ति से पृथक रहेगा। भीतर से? ऐसी दशा में या तो वह उक्ति का साधक न होकर बाधक हो जायेगा, या फिर उसका अंग बनकर अलंकार हीन रह जायेगा। तब तो वह उक्ति का ही एक मूलतत्व होकर उससे सर्वथा अभिन्न बन जायेगा।"

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि उक्ति और अलंकार में भेद सम्भव नही। सैद्धान्तिक दृष्टि से हमारे यहाँ अलंकार और अलंकार्य का अभेद सम्बन्ध रहा है। "गिरा अर्थ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न" कहकर दोनो के अभेद सम्बन्ध

१—साहित्यालोचन रस और शैली पृ० ३०२
२—वक्रोक्ति जीवित १ । ७
३—वक्रोक्ति जीवित (१ । १४)
४—Expression & Rhetoric–Croce

को स्पष्ट किया गया है। हमारे यहाँ तत्व रूप में दोनों की अभिन्नता को स्वीकार करते हुए भी व्यवहारिक दृष्टि से पार्थक्य किया गया है। भारतीय आचार्यों ने व्यवहारिक दृष्टि से वाणी और अर्थ की भिन्नता को स्वीकार किया है। किन्तु क्रोंचे ने व्यवहारिक दृष्टि से भी दोनो में पार्थक्य नही माना। अलंकार और अलंकार्य के अभेद सम्बन्ध के विषय में डा० नगेन्द्र लिखते हैं:—

"इन दोनों की सापेक्षिक सत्यता पर यदि विचार किया जाय तो भारतीय आचार्य की ही स्थिति अधिक विश्वस्त है। दोनों में व्यवहारगत भेद न मानने से न केवल समस्त साहित्य शास्त्र वरन भाव-शास्त्र और विचार शास्त्र का भी अस्तित्व लुप्त हो जाता है। विदेश में साहित्य मनीषी भी प्रायः इसी के पक्ष में है कि तत्व दृष्टि से अलंकार और अलंकार्य में अभेद होते हुए भी व्यवहार दृष्टि से दोनों में भेद मानना अनिवार्य है।"

रसानुभूति और अलंकारः—यद्यपि रस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा अलंकार सम्प्रदाय से पूर्व ही हो चुकी थी, तथापि अलंकारिको ने रस को अलंकार का ही एक प्रकार माना है। उन्होने रसवत प्रेयस, उर्जस्वित और समाहित अलंकारों के अन्तर्गत रस और भाव की स्थिति मानी है। भामाह का विचार था कि "महा काव्य में रस की स्थिति रहती है।" उन्होने यह भी लिखा है कि—"जहाँ स्पष्ट रूप से शृंगार आदि अलंकारों की प्रतीति न हो, वहाँ रसवत् अलंकार नहीं माना जा सकता।" दण्डी ने भी आठों रसों तथा उनके स्थायी भावो को रसवत् अलंकारों में समाहित कर दिया है। उद्भट ने नौ प्रकार के रसों को स्वीकार किया है। प्रसिद्ध अलंकारिक रुद्रट का भी विचार था कि "काव्य में रस का सन्निवेश प्रयत्नपूर्वक होना चाहिए।" सारांश यह है कि इन आचार्यों ने अलंकार को प्रधान मानते हुए भी रस की उपेक्षा नही की है। परन्तु उन्होने रस को अलंकार का ही एक प्रकार माना है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अलंकार रसानुभूति मे किस प्रकार योग देते हैं ? रसानुभूति मे हमारी मनोवृत्तियाँ लय हो जाती हैं। अब हम यह देखेंगे कि अलंकार किस प्रकार हमारी मनोवृत्तियों को लय कराने मे सहायक हैं। अलकारों के स्पष्टतः छः आधार हैं:—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार—और इन्ही के द्वारा अलंकार श्रोता या पाठक की वृत्तियों को उद्दीप्त कर उन्हें रस दशा तक पहुँचाते हैं। साधर्म्य मूलक अलंकारों मे कवि अपने अभिप्राय को स्पष्ट करता हुआ पाठक की वृत्तियों को लय करता है। उदाहरणार्थ—यदि कवि किसी रमणी के मुख को चन्द्रमा की उपमा देता है तो पाठक के हृदय में भी कवि के समान उस उक्ति का प्रभाव पड़ता है और उसकी वृत्तियाँ प्रसन्न होकर एकतान या लय हो जाती हैं। प्रायः इसी प्रकार साधर्म्य मूलक अलंकार रसानुभूति मे योग देते हैं। अतिशयमूलक अलंकार प्रथम तो पाठक के हृदय को विशाल करते हैं फिर अतिशयता के द्वारा उनकी वृत्तियों को ओज प्रदान करते हैं। फिर मूलवर्ती

संगति के द्वारा उनमें लय कराते हैं। वैपम्यमूलक अलंकार वैपम्य के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करते हैं। वे विविधता में एकता के दर्शन कराते हुए पाठको की वृत्तियो को अन्वित करने मे योग देते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद्य को लीजिए—

"मीठी लगै अखियान लुनाई"

यहाँ पर वैषम्य के द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया गया है, किन्तु यह वैपम्य अन्त में हमारी उद्दीप्त वृत्तियो को अन्वित करने मे पूर्ण योग देती है। सगति के कारण औचित्य मूलक अलकार सीधे रूप मे हमारी वृत्तियो को अन्वित करने में योग देते हैं। जैसे—

"भागीरथी बिगड़ी गति मैं, अरु तू बिगड़ी गति की है सुधारक।"

यहाँ इस अर्थ की व्यजना की गई है कि भक्त की गति बिगड़ी हुई है और गंगा सद्गति को प्रदान करने वाली है। इसमे सगति स्पष्ट है। अतः यह हमारी वृत्तियो को अन्वित करने में पूर्ण योग देती है। वक्रता मलक अलंकार वक्रता द्वारा चमत्कार उत्पन्न करके वृत्तियो को उद्दीप्त करते हैं। जैसे—

"न स संकुचितः पंथा ये न बाली हतो गतः"

अर्थात् "जिस मार्ग से बाली यमपुरी गया था वह मार्ग अभी सकुचित नहीं हुआ।" इसका अभिप्राय यह है कि यदि सुग्रीव प्रमाद करेगा तो उसे भी बाली के मार्ग से जाना होगा। यहाँ वास्तविक अर्थ को छिपाकर जिज्ञासा को जाग्रत किया गया है।

चमत्कार मूलक अलंकारों मे मानसिक व्यायाम अधिक रहता है। ये हमारे हृदय में कौतूहल उत्पन्न करके रसानुभूति में योग देते हैं। जैसे:—

त्यो-त्यों प्यासो ही रहत, ज्यों ज्यो पियत अघात।
सगुन सलोने रूप की, जुन चख तृषा बुझाइ॥"

यहाँ पर सलोना शब्द श्लिष्ट है, जिसके दो अर्थ हैं—लावण्ययुक्त और नमकीन। यह द्विअर्थक चमत्कार हमें चमत्कृत करके रसानुभूति में योग देता है।

यह अलकार और रस का मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध है। अलंकार और रसके इस सम्बन्ध के विपय मे डा० नगेन्द्र लिखते हैं[1] :—

"सारांश यह है कि अलंकार अतिशय के चमत्कार द्वारा किसी न किसी प्रकार हमारी वृत्तियों को उद्दीप्त कर उन पर धार रखकर तीव्रतर बना देते हैं। ये उद्दीप्त वृत्तियां जब अन्वित होती हैं तो स्वभावतः ही उनकी अन्विति में अपेक्षाकृत गहराई आ जाती है। और उसकी सहायता से हमारी रस की अनुभूति मे भी तीव्रता एवं गहराई आ जाती है।—इसी रूप में अलंकार रसानुभूति में योग देते हैं।"

१—रीतिकाव्य की भूमिका

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है[3]—"भावानुभव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है।" अलंकार अपनी इस रमणीयता के द्वारा ही काव्य को सुन्दर बनाकर रसानुभूति मे योग देते हैं। शुक्ल जी का विचार था कि अलंकारो की स्वाभाविक योजना काव्य मे रमणीयता लाता है। उन्होने अलकारो में चमत्कार के स्थान पर रमणीयता को महत्व दिया है। यह रमणीयता ही काव्य के भावों तथा गुण को उत्कर्ष प्रदान करती है। अतः रस संचार के लिए रमणीयता अपेक्षित है।

रसानुभूति भावों के उदीप्त होने पर ही होती है। और इन भावो को उद्दीप्त करने का माध्यम भापा शैली है। और अलंकार भापा शैली का अनिवार्य अंग है। वस्तुतः ये भावों को स्पष्ट करने मे सहायक होते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस सम्बन्ध में लिखते हैं[3]:—

"अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु योजना के रूप में हो (जैसे उपमा, रुपक, उत्प्रेक्षा, आदि) चाहे वाक्य वक्रता के रूप में (जैसे अप्रस्तुत प्रशसा, परिसंख्या, व्याजस्तुति आदि में) चाहे वर्ण विन्यास के रूप में (जैसे अनुप्रास मे) लाये जाते हैं वे प्रस्तुत-भाव या भावना के उत्कर्ष साधन के लिए ही। मुख के वर्णन मे जो कमल, चन्द्र आदि सामने रखे जाते हैं वह इसीलिए जिनमें इनकी वर्ण रुचिरता, कोमलता, दीप्ति इत्यादि के योग से सौन्दर्य की भावना और बढ़े।"

वस्तुतः अलंकारो का प्रयोग भावो को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए होना चाहिए। मम्मट का भी विचार था कि काव्य मे अलकारो का प्रयोग अर्थ वैचित्र्य और रस के उत्कर्ष के लिए होना चाहिए केवल चमत्कार शब्द वैचित्र्य के लिए नही अतः स्वभाविक रूप से की गई अलंकार योजना भावो को उद्दीप्त कर रसानुभूति मे योग देती है।

अलंकार और ध्वनि :—आलङ्कारिको ने ध्वनि की नितान्त उपेक्षा नही की है। रुय्यक ने भी स्वीकार किया है कि "भामह और उद्भट आदि अलकार-वादियों ने प्रतीयमान अर्थात् "व्यंग्य" अर्थ को वाच्य अर्थ का सहकारी मानकर उसे भी अलंकार के अन्तर्गत स्थान दिया है।" यद्यपि अलंकार सम्प्रदाय वालो ने ध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं माना है तथापि उन्होने अप्रस्तुत प्रशसा समासोक्ति तथा आक्षेप के अन्तर्गत प्रतीयमान व्यंग्य अर्थ के बहुत से प्रकार निश्चित किये हैं। समासोक्ति अलंकार को परिभापाबद्ध करते हुए भामह ने लिखा है—"जहाँ किसी वस्तु का वर्णन किये जाने पर उनके समान गुण वाले दूसरे अर्थ की प्रतीति हो वहां समासोक्ति होती है।" आक्षेप अलकार मे भी प्रतीयमान अर्थ को प्रधानता दी गई है। पर्यायोक्ति अलकार मे वाच्यार्थ और वाचक शब्द के अतिरिक्त अन्य अर्थो की प्रतीति भी अपेक्षित है। यद्यपि अलकार सम्प्रदाय मे ध्वनि की

२—अलंकार विधान पृ० १४८—गोस्वामी तुलसीदास
३—कविता क्या है ? पृ० १८१; चिन्तामणि

भावना मिलती तो है परन्तु उन्होंने आनन्दवर्धन द्वारा निरूपित ध्वनि के रूप को ग्रहण नही किया है। रुद्रट ने प्रतीयमान अर्थ के विवेचन का अभाव देखकर "भाव" नामक नवीन अलंकार की उद्भावना की थी। मम्मट ने इसे काव्य प्रकाश में गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण कहा है। रुद्रट ने भाव अलंकार के एक दूसरे रूप की भी कल्पना की है जिसके सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने लोचन में लिखा है कि—"उसमें भी प्रतीयमान अर्थ तो है किन्तु वह केवल सहायक मात्र है। और वाच्य की अपेक्षा अधिक गौण है।

अत. स्पष्ट है कि अलंकार सम्प्रदाय वाले व्यंग्य या ध्वनि से परिचित अवश्य थे और उन्होने उसका समावेश अलकारों मे किया भी है। रुद्रट का विचार था कि प्रतीयमान या व्यग्य अर्थ की स्थिति स्वतन्त्र न होकर अलंकारों मे ही है। ध्वनि सम्प्रदाय वालो ने भी अलकार को महत्व दिया है। मम्मट ने काव्य प्रकाशन अलकारो की विस्तृत व्याख्या की है।

अलकार और गुणों मे अन्तर :—संस्कृत के कुछ आचार्यों ने गुण और अलंकार में कोई मौलिक अन्तर नही माना है। काव्यलंकार में भामह ने गुण शब्द का प्रयोग भाविक अलकार के लिए किया है :—

"भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्ध विषय गुणम्"[1]

दण्डी ने भी गुण और अलकार को भेदहीन कहा है। उन्होने "मार्ग" शब्द का प्रयोग गुण और अलकार दोनो के लिए किया है। दण्डी ने काव्य को रमणीयता प्रदान करने वाला कहा है :—

काव्य शोभाकरान्धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते"

आचार्य उद्भट ने भी गुण और अलंकार को एक माना है—

"एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादय संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालङ्काराणा भेदः। ओज प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्या स्थितिरिति गडडुलिका प्रवाहेणैवैषां भेदः ॥"

अर्थात् कुछ विद्वानो ने काव्य मे गुणों की स्थिति समवाय और हार आदि आभूषणों के समान और अलंकारो का सम्बन्ध सयोग मात्र स्वीकार किया है किन्तु यह धारणा भेडिमाधसान मात्र है। मनुष्य के गुणो और आभूषणों में अन्तर हो सकता है परन्तु काव्य अलौकिक है। अतः गुण और अलंकार नित्य और भेदहीन रहते हैं।

वास्तव मे काव्य मे अलकार तथा गुण का अपना-अपना महत्व है। अग्निपुराण मे रस, अलकार तथा, गुण पर पृथक-पृथक प्रकाश डाला गया है। परन्तु उन्होने काव्य मे तीनो को एक साथ आवश्यक माना है। अलंकारों का महत्व अग्निपुराण में इस प्रकार मिलता है—

१—काव्यालंकार—३।५३

"अर्थालंकार रहिता विधवेव भारती"

अग्निपुराण में गुणों को स्त्री का लावण्य तथा अलंकारों को स्त्री के आभूषण के समान माना है। गुण का लक्षण अग्निपुराण में इस प्रकार मिलता है—

"या काव्ये, महंती छायामनुगृहणात्यसो गुणः"

अर्थात् गुण काव्य मे अपूर्व शोभा का सन्निवेश करने वाले कारण हैं। उन्होने गुणो का महत्व अलकार से अधिक माना है :—

"अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुण भवेत्
वपुण्यललिते स्त्रीणां हारो भारायते परम्।"[1]

अर्थात् अलकारो से सम्पन्न रहने पर भी गुण से विरहित काव्य आनन्द-दायक नही हो सकता। जिस प्रकार असुन्दर रमणी पर आभूषण भारस्वरूप लगते हैं और उनसे उसके सौन्दर्य की वृद्धि नही होती। इस प्रकार अग्निपुराण मे अलंकार तथा गुण को पृथक-पृथक माना गया।

आचार्य वामन ने भी गुण तथा अलंकार को पृथक-पृथक रूप में ग्रहण किया है। उन्होने रीति को विशिष्ट गुणो से युक्त माना—"विशिष्ट पद रचना रीतिः"। वामन ने रस की अपेक्षा गुण को श्रेष्ठ माना है। उन्होने रस को कान्ति गुण मे स्थान दिया है—"दीप्तरसत्वं कान्तिः" उन्होने गुण तथा अलकार के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

"काव्य शोभायाः कर्त्तारोधर्मा गुणाः
तदति शमहेत वस्त्वलङ्कारा"—[2]

अर्थात् काव्य के शोभावर्द्धक धर्म गुण हैं, और इस शोभा को अतिशय प्रदान करने वाले हेतु अलकार हैं।

उन्होंने काव्य के लिए गुण तथा अलकार की स्थिति आवश्यक मानी है। उन्होने गुणो को युवती के स्वभाविक लावण्य तथा शालीनता आदि गुणो के समान माना है। वे लिखते हैं:—

"युवतेरिवरूपमङ्ककाव्यं स्वदते शुद्ध गुणं तदप्यतीव,
विहितप्रणय निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्योवपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनामाः
अपि जनदयितानि दुर्भगत्व नियतअलंकरणानि संश्रयन्ते"[3]

अर्थात् अलंकार शून्य होने पर भी गुणो से सम्पन्न काव्य मे रसास्वादन की क्षमता रहती है। जिस प्रकार सुन्दर युवती आभूषण रहित होने पर भी रसिक जनों

१—अग्निपुराण—३४६।१

२—काव्यालंकार—३।१।१, २

३—काव्यालंकार—३।१।२ वृत्ति

को मोहित करती है। यदि काव्य में गुण और अलंकार दोनों हों तो वह और भी सुन्दर हो जाता है। जिस प्रकार आभूषण सुन्दर युवती के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देते हैं, इसके विपरीत अलंकार सम्पन्न तथा गुण से रहित काव्य असुन्दर, दुर्भग तथा अनादरणीय होता है।

"सरस्वती कंठाभरण" में भोज ने भी गुणों को अनिवार्य तथा अलंकारों को ऐच्छिक माना है। वे लिखते हैं—

"अलङ्कृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कार योगयोः"[१]

मम्मट ने रस को काव्य का प्राण मानते हुए गुण को उसके उत्कर्ष के सहायक बताया है—

"ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः
उत्कर्ष हेत वस्ते स्युर चलस्थितयो गुणाः"—[२]

अर्थात् काव्य गुण आत्मा के शौर्य आदि गुणों के सदृश रस के धार्मिक धर्म तथा उत्कर्ष के कारण हैं तथा उनका रस के साथ सम्बन्ध दृढ़ और नित्य है।

मम्मट ने गुण को तो रस का आश्रित धर्म माना है, किन्तु अलंकारों को उन्होंने सदैव रस के उत्कर्ष के लिए आवश्यक नहीं माना है। विश्वनाथ तथा अन्य रसवादी आचार्यों ने गुण को रस का नित्यधर्म तथा अलंकार को उसका अंग माना है।

वस्तुतः गुण तथा अलकार के सम्बन्ध मे विद्वानो के भिन्न-भिन्न विचार हैं। भामह, दण्डी, उद्भट आदि अलकारवादियो ने गुण और अलकार में भेद न मानते हुए इनके अन्तर्गत ही रस की स्थिति मानी है। वामन आदि रीति वादी आचार्यों ने अलंकारों की अपेक्षा गुण को प्रथम स्थान दिया है। उन्होंने गुण को रीति का प्रधान तत्त्व माना है तथा उनके विचार से अलकार गुण को उत्कर्ष प्रदान करते हैं रसवादी आचार्यो ने रस को काव्य का प्राण माना है तथा गुण को उसका आश्रित धर्म कहा है और अलकार को उसका अंग माना है। ध्वनिवादियो ने गुण को व्यंगार्थ कहा है।

अलंकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि—आचार्यो ने अलंकारो की सृष्टि बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक आधार पर की है। अलकार कवि की रचना को सौन्दर्य प्रदान करते हैं। कलाकार असाधारण रूप से सहृदय और भावुक प्राणी होता है। अतः उसके द्वारा अभिव्यक्त भावनाएँ स्वतः अलकार युक्त हो जाती हैं। कवि जिन भावनाओ से प्रभावित होता है उन्ही को अपनी रचना मे व्यक्त करता है। मन का ओज इन भावनाओ को उद्दीप्त करता है। अत. मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह ओज ही अलंकारो की सत्ता का मुख्य कारण है।

१—सरस्वती कण्ठाभरण १।५९

२—काव्यप्रकाश ८।६६

कवि में आत्मप्रदर्शन की इच्छा स्वाभाविक होती है और यह अलंकार प्रेम की प्रेरकप्रवृत्ति है। और इस प्रदर्शन का मूल आधार अतिशय का तत्त्व है। कवि अपनी रचना को अधिक रोचक तथा प्रभावशाली बनाने के लिए अलकृत वाणी का प्रयोग करता है। और इसके लिए वह अतिशयोक्ति का प्रयोग करता है। अतिशयोक्ति का अर्थ है असाधारण उक्ति। अलकार किसी बात को उक्ति-वैचित्र्य के रूप में कहने का प्रधान साधन है। कवि अपनी बात को कल्पना के रग से अति-रंजित करके उसे प्रभावशाली बना देता है। कवि की इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण सस्कृत साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने अलंकार का आधार खोजने का प्रयत्न किया है। अतः भामह ने वक्रोक्ति को, दण्डी ने अतिशयोक्ति को और वामन ने औपम्य को समस्त अलंकारो का प्राण माना है। दण्डी ने श्लेष को भी अलंकारो का मूल माना है—"श्लेषः सर्वासु पुष्णति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्"। रुद्रट ने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेप को अलंकारो का प्राण माना है। कवि इन मब अलकारो का प्रयोग इसलिए करता है जिससे उसकी रचना अधिक तीव्र तथा प्रभावशाली हो जाय।

व्यवहारिक दृष्टि से भी अलकारो के कुछ मूर्त आधार दृष्टिगोचर होते हैं। अलंकार उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाकर रस को उत्कर्ष तथा सौन्दर्य की वृद्धि मे योग देते है। कवि अपनी रचना को सुन्दर बनाना चाहता है। और इसी कारण वह अपनी रचना मे विभिन्न अलंकारो का प्रयोग करते हैं। अतः अलकारों तथा मनोवृत्तियो का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। डा० नगेन्द्र इस सम्बन्ध मे लिखते हैं:—

"हम सदृश लोकमान्य वस्तुओं से तुलना के द्वारा अपने कथन को स्पष्ट बनाकर उसे श्रोता के मन में अच्छी तरह बैठाते हैं, बात को बढ़ा-चढ़ाकर उसे मन का विस्तार करते है, बाह्य वैषम्य आदि का नियोजन कर उसमें आश्चर्य की उद्भावना करते हैं, अनुक्रम अथवा औचित्य की प्रतिष्ठा कर उसकी वृत्तियों को अन्वित करते हैं, बात को घुमा फिराकर वक्रता के साथ कहकर उसकी जिज्ञासा उद्दीप्त करते है, अथवा बुद्धि की करामात दिखाकर उसके मन मे कौतूहल उत्पन्न करते हैं।—अलंकारों के ये ही मनोवैज्ञानिक आधार हैं।—स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल।—इनके मूर्त रूप हैं—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार (बौद्धिक)"[1]

वास्तव मे अतिशय, वक्रता और चमत्कार—ये तीन ऐसे आधार हैं जिन्हे समस्त अलकारों के मूलवर्ती कह सकते है।

अलंकार भी किसी कवि की विशेष रुचि के परिचायक है। चमत्कार प्रिय लेखक शब्दालंकारो का प्रयोग करते हैं और भावुक व्यक्ति की रचना मे अर्थालकारों का बाहुल्य होता है। अलकारो का वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। कवि अपने भावावेश को प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त करना चाहता है।

१—रीतिकाव्य की भूमिका पृ० ६४

अलंकार सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य और ग्रंथ :—अलंकार सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य हैं—भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, भोज, मम्मट, रुय्यक, जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय्य दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ ।

भामह :—भामह काश्मीर के रहने वाले थे और इनके पिता का नाम रक्रिल गोमी था। ईसा की छठी शताब्दी के लगभग भामह ने "काव्यालंकार" की रचना की। इसमे ६ परिच्छेद हैं और चार सौ श्लोक हैं। इसमें अलकारों की विस्तृत व्याख्या मिलती है। भामह की मान्यताओं को ही समस्त अलकारिको ने ग्रहण किया। भामह के विशिष्ट मत का उल्लेख श्री बलदेव उपाध्याय ने इस प्रकार किया है—"(क) शब्द अर्थ युगल का काव्य होना। शब्दार्थौ काव्यम्। (ख) भरत प्रतिपादित दश गुणो का ओज, माधुर्य तथा प्रसाद—इन गुणत्रय के भीतर ही समावेश। (ग) वक्रोक्ति का समस्त अलकारो का मूल होना जिसका विकास कुन्तक के "वक्रोक्ति जीवित" मे दीख पड़ता है। (घ) दशविध दोषो का सुन्दर विवेचन।"

दण्डी :—भामह के उपरान्त दण्डी का नाम आता है। ये दक्षिण भारत के रहने वाले थे। उन्होने "काव्यादर्श" की रचना की। 'काव्यादर्श" मे चार परिच्छेद हैं तथा ६६० श्लोक हैं। उन्होने इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद मे काव्य का लक्षण, विस्तृत भेद, वैदर्भी तथा गौणी रीति तथा गुण का व्यापक विवेचन किया है। द्वितीय परिच्छेद मे अलकारो के लक्षण तथा उदाहरणो की चर्चा है। दण्डी का अलकार विवेचन अधिक समृद्ध तथा स्पष्ट है। उनका विचार था कि काव्य की शोभा अलंकार पर ही निर्भर है। उन्होने ३५ अलंकारो का उल्लेख किया है। उन्होने भामह के कुछ अलकार भेदो की जैसे—उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा, उपमा-रूपक, उत्प्रेक्षावयव—चर्चा नही की है। दण्डी ने लेश, सूक्ष्म और हेतू को भी अलकार माना है जबकि भामह ने इन्हे अलकार नही माना है। दण्डी ने यमक, चित्रवंध और प्रहेलिका की व्याख्या करके शब्दालंकारो को अधिक महत्व दिया है। उन्होने भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलकारो का मूलवर्ती माना है। चौथे परिच्छेद मे उन्होने दशविध दोषो पर प्रकाश डाला है।

दण्डी ने रीतियो की व्यापक विवेचना की है इसलिए इनकी गणना रीति सम्प्रदाय के आचार्यो मे भी होती है।

उद्भट :—अलंकार सम्प्रदाय के इतिहास मे उद्भट का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उद्भट का प्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्यालंकार सार सग्रह" है। यह ग्रन्थ ६ वर्ग मे विभाजित है। इसकी ७९ कारिकाओ मे ४१ अलंकारो का विशद विवेचन है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का विषय अलकार है। उनके इस ग्रन्थ की टीका प्रतिहारेन्द्र-राज ने की है। उद्भट ने दृष्टान्त, काव्यलिंग और पुनरुक्तवदाभास की नवीन सृष्टि की। उन्होने अनुप्रास के भेदों की सख्या बढाई। इस प्रकार उन्होने अलंकारों की संख्या ३८ से ४१ तक कर दी। श्लेष को उन्होने अर्थालकार के अन्तर्गत स्थान

दिया और उसके दो भेद माने हैं—१. शब्द-श्लेष, २. अर्थ-श्लेष। व्याकरण के आधार पर उन्होंने उपमा के अनेक प्रभेद किए। काव्य प्रकाश मे इन प्रभेदों का उल्लेख मिलता है। उन्होंने आक्षेप अतिशयोक्ति, यथासंख्य, विभावना, पर्यायोक्त, अपह्नुति, अप्रस्तुत प्रशंसा, सहोक्ति, सन्देह, अन्वय आदि अलंकारों के सम्बन्ध में भामह द्वारा दी गई अलंकारों की परिभाषाओ को ज्यो का त्यो अपना लिया है। उनके द्वारा दी गई अनुप्रास, उत्प्रेक्षा आदि की परिभाषाएँ भामह से मिलती हैं। उद्भट अलंकार सम्प्रदाय के बहुत बडे पृष्ठपोषक हैं। ये जयापीड की सभा के सभापति थे। यद्यपि उद्भट ने भामह के मत का बहुत कुछ अनुसरण किया है किन्तु कुछ बातो के सम्बन्ध मे उनका भामह से मतभेद है। उद्भट ने तीन वृत्तियों की उद्भावना की है—परुषा, ग्राम्या, और उपनागरिका। परन्तु भामह ने इन्हे नही माना है। वास्तव मे "काव्यालंकार सार संग्रह" उद्भट का कीर्ति स्तम्भ है।

रुद्रट :—रुद्रट अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। इनका लिखा हुआ ग्रन्थ "काव्यालंकार" है। इसमे सोलह अध्याय हैं। उन्होने इस ग्रन्थ में काव्य के प्रयोजन, उद्देश्य तथा कवि सामग्री की चर्चा करके अलंकारो की विशद व्याख्या की है। परन्तु इस ग्रन्थ मे अलकारो का ही प्रतिपादन विशेष रूप में मिलता है। रुद्रट अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हैं। अतः इस ग्रन्थ मे उनका उद्देश्य अलंकारों की व्यवस्था करना है। रुद्रट ने ही सर्वप्रथम अलंकारो का वैज्ञानिक ढँग से वर्गीकरण किया। उन्होने अलंकारो के लिए चार मूल तत्त्वो की उद्भावना की। वे है—वास्तव, औपम्य, अतिशय, श्लेष। रुद्रट का यह वर्गीकरण अलंकार शास्त्र को एक मौलिक देन है। रुद्रट ने सूक्ष्म दृष्टि से समस्त अलकारो का विवेचन करके उनके अनेक प्रभेद किए और इस प्रकार उन्होने अलकारों की संख्या ५० मानी। रुद्रट ने शब्दालंकारों के अन्तर्गत—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र—इन पाँच अलंकारो को स्थान दिया। उन्होने श्लेष के आठ भेद माने—वर्ण, पद, लिंग भाषा, प्रकृति, प्रत्यय विभक्ति और वचन। उन्होने २३ अलंकार औपम्य मे, २१ अतिशय में, १२ श्लेष मे और १४ शुद्ध श्लेष में तथा २ अलंकार संकर में माने हैं उन्होने अर्थ के ९ दोष तथा उपमा के ४ दोषो की भी चर्चा की है। रुद्रट ने सहोक्ति और समुच्चय, अलकार को वास्तव और औपम्य—दोनो विभागो में स्थान दिया है। रुद्रट ने कुछ अलंकारों के नामों मे भी परिवर्तन किया। उन्होंने व्याज स्तुति के लिए व्याजश्लेष, उदात्त के लिए अवसर, स्वभावोक्ति के लिए जाति तथा अतिशयोक्ति के चौथे भेद के लिए पूर्ण नाम का प्रयोग किया है।

भामह के समय से ही रस तथा भाव को अलंकारों के अन्तर्गत स्थान नहीं दिया गया था। इस अभाव को रुद्रट ने पूर्ण किया। उन्होंने रसवत् आदि को अलंकार की संज्ञा नही दी। इस प्रकार उन्होने एक बहुत बडी भ्रान्ति को दूर किया भामह से लेकर रुद्रट के समय तक को अलकार सम्प्रदाय का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। इन आचार्यों ने अलंकारों को ही प्रधानता दी है।

भोजराज :—भोजराज ने दो अलंकार ग्रन्थों का निर्माण किया—(१) "सरस्वती-कंठाभरण", (२) शृंगार प्रकाश। उन्होंने "सरस्वती-कंठाभरण" के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ परिच्छेदों में शब्दालंकार तथा उभयालंकारों की विस्तृत विवेचना की है। उन्होंने शब्दालंकारों की संख्या २४ मानी है। उनके नाम हैं— जाति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, गुम्फना शय्या, यमक, श्लेष, प्रहेलिका आदि। उन्होंने—जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, सम्भव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शन, भेद, समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव—ये २४ अर्थालंकार माने हैं। २४ अलंकारों को उन्होंने शब्दार्थ उभयगत के अन्तर्गत स्थान दिया है। उनका क्रम इस प्रकार है—उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपह्नुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत प्रशंसा, तुल्योगिता, लेप, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, प्रयाय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक, संसृष्टि।

भोजराज ने रीति को भी शब्दालंकार में माना है। वस्तुत उन्होंने शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार तीनों मे २४-२४ अलंकार माने हैं।

मम्मट :—भोजराज की दानशीलता की प्रशंसा करने के कारण मम्मट का समय एकादश शतक का उत्तरार्ध माना जाता है। "काव्य प्रकाश" उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। मम्मट ने भी अलकार के महत्व पर प्रकाश डाला है। उन्होंने काव्य को सालंकार माना, परन्तु उन्होंने काव्य में उसकी अनिवार्यता को महत्व नहीं दिया— "अनलंकृति पुन. क्वापि"। उन्होंने अलंकार को काव्य का अस्थिर धर्म माना। वे वास्तव मे रसवादी आचार्य थे। अतः उन्होंने काव्य मे रस को प्रधान तथा अलकार को उसके अंग रूप मे ग्रहण किया है। मम्मट समन्वयवादी आचार्य थे। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मत पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। उन्होंने भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि आचार्यों के मतो की समीक्षा करके अनेक परिवर्तन एव संशोधन किए। उन्होंने उद्भट की श्लेष और अलकारो की परिभाषाओं का निषेध किया। गुण और अलंकार के अन्तर को सर्वप्रथम मम्मट ने स्पष्ट किया। उन्होंने अलकार के दोषो पर भी विचार किया। उन्होंने अलकारो की संख्या ७० मानी जिनमे ८ शब्दालकार तथा ६२ अर्थालंकार थ। उन्होंने अतद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य और सम—इन पाँच नवीन अलंकारो की चर्चा की है।

रुय्यक :—रुय्यक का समय बारहवी शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है। ये काश्मीर के रहने वाले थे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ "अलकार सर्वस्व" है। इनका अलंकार विवेचन अत्यन्त व्यापक तथा महत्वपूर्ण है। जयरथ तथा समुद्रबन्ध ने इन ग्रन्थ पर सुन्दर टीकाएँ लिखी हैं। उन्होंने "अलंकार सर्वस्व" मे ६ शब्दालकार— पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, वृत्त्यानुप्रास, यमक, लाटानुप्रास और चित्र—माने हैं तथा ७५ अर्थालंकारो की परिभाषा तथा उदाहरण सहित वर्णन किया है। सबसे महत्वपूर्ण कार्य जो रुय्यक ने किया वह था अलंकारो का वर्गीकरण। रुय्यक ने

विचित्र और विकल्प अलंकारों की सृष्टि की। उन्होने कुछ ऐसे अलंकारो का भी उल्लेख किया है जिनकी चर्चा काव्य प्रकाश मे नही मिलती। जैसे—परिणाम, रसवत्, प्रेम, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबल आदि। रुय्यक के बाद के आचार्यों विश्वनाथ, कुवलयानन्द आदि ने "अलंकार सर्वस्व" को महत्व देते हुए उसकी बहुत सी बातों को अपनाया। रुय्यक ने मम्मट के काव्य प्रकाश की बहुत सी बातो का निषेध भी किया है। काव्यलिंग, व्याजोक्ति, उत्तरमीलित, समाधि और चित्र आदि अलंकारो की परिभाषाएँ जो रुय्यक ने दी है वे काव्य प्रकाश से मिलती-जुलती हैं। "अलंकार सर्वस्व" के अतिरिक्त रुय्यक ने "अलकारानुसारिणी" तथा "साहित्य मीमासा" नामक दो अलंकार ग्रन्थों का निर्माण और किया है। परन्तु इन ग्रन्थों की अलकार सम्बन्धी मान्यताएँ "अलंकार सर्वस्व" से भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि "अलकार सर्वस्व" पर ध्वनि का प्रभाव है और इन ग्रन्थों पर कुन्तक का। इस ग्रन्थ मे उन्होने समस्त अर्थालंकारो को वक्रोक्ति के अन्तर्गत स्थान दिया है तथा शब्दालकारो की संख्या दस रक्खी गई है।

जयदेव—जयदेव ने एक बार फिर अलंकार सम्प्रदाय का पुनरुत्थान करने का प्रयत्न किया। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ चन्द्रालोक है। मम्मट आदि आचार्यों के कारण अलकार सम्प्रदाय की मान्यता कम हो गई थी। उन्होने मम्मट की काव्य परिभाषा में "सगुणवनलङ्कृति पुनः क्वपि "का विरोध किया। उन्होने काव्य के लिए अलकारो की स्थिति अनिवार्य मानी। और कहा कि जो लोग अलकारो के अभाव मे भी काव्य की स्थिति स्वीकार करते हैं वे यह क्यों नही मानते के अग्नि भी ठण्डी हो सकती है। यथा—

"अगी करोति यः काव्यं शव्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्यादनुष्णमनलंकृती ॥"

भामह के समान जयदेव ने काव्य मे अलकारो की स्थिति अनिवार्य ही नही मानी है, अपितु उनका मत है कि अलकारो से रहित किसी भी रचना को काव्य की संज्ञा नही दी जा सकती। उन्होने "चन्द्रलोक" मे चार शब्दालकार अनुप्रास यमक पुनरूक्तभास, चित्र का वर्णन किया है तथा सौ अर्थालकारो की चर्चा की है। इस प्रकार रुय्यक ने ७५ अलकारो को स्वीकार किया और मम्मट ने ६१ अलकार माने थे। जयदेव ने अपने पूर्व के आचार्यों से कुछ अधिक अलंकार माने हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—प्रत्युक्ति, अनुगण, अर्थानुप्रास, अवज्ञा, असम्भव, उन्मीलित, उल्लास, परिकराकर, पूर्व रूप, प्रदर्पण, प्रौकोक्ति, विकस्वर, विषादन, सम्भावना, स्फुटानुप्रास, और हुंकृति। जयदेव ने रुय्यक के विचित्र और विकल्प को भी स्वीकार किया है।

विश्वनाथ—विश्वनाथ का प्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्य दर्पण है। यह ग्रन्थ काव्य प्रकाश की शैली पर है। उन्होने इस ग्रन्थ के दश परिच्छेदो मे काव्य तथा नाटक पर विचार बड़े सुबोध तथा सरल रूप में किया है। विश्वनाथ अलंकारिक अपेक्षा कवि अधिक हैं। इस ग्रन्थ मे अलंकारों का भी सम्यक विवेचन मिलता है।

इनकी अलंकार समीक्षा रुय्यक से मिलती जुलती है। विश्वनाथ ने १२ शब्दालंकार ७१ अर्थालंकार और ७ रसवत आदि का उल्लेख किया है। विश्वनाथ ने अपने पूर्व के आचार्यों से ५ अलंकार अधिक माने हैं। उनके नाम हैं—श्रुति, अनुप्रास, अन्त्यानुप्रास, भाषा सम+ (इन तीनों को शब्दालंकार के अन्तर्गत माना है) तथा दो अर्थालंकार मे माने हैं, उनके नाम हैं—अनुकूल और निश्चय।

अप्पय दीक्षित—इनके द्वारा लिखा गया "कुवलयानन्द" नामक ग्रन्थ अलकार शास्त्र का माननीय ग्रन्थ है। उन्होंने इस ग्रन्थ में ११८ अलकारो का उल्लेख किया है। उन्होने अपने पूर्व आचार्यो के मतो का भी उल्लेख किया है और उनकी समीक्षा करके अपना मत दिया है। उन्होंने शब्दालंकारो का उल्लेख नही किया है। ८४ अलंकार तो उन्होने अपने पूर्व के आचार्यों द्वारा निरूपित माने हैं तथा १८ नवीन अलकारो का उल्लेख है। उनके नाम हैं—अनुज्ञा, अल्प, गूढोक्ति, छेकोक्ति, निरुक्ति, प्रस्तुतांकुर, प्रतिषेध, मिथ्याध्यवसिति, मुद्रा, युक्ति, रत्नावली, वारकदीपक, व्याज निन्दा, विशेषक, विवृतोक्ति, विधि लोकोक्ति, ललित।

पंडितराज जगन्नाथ—इनका "रसगगाधर" साहित्य-शास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। उन्होने अपनी प्रतिभा के द्वारा ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और अलंकार सर्वस्व आदि ग्रन्थो पर अनेक स्थानो पर कटु बौछारें भी की हैं। उन्होने ७० अलंकारों का उल्लेख किया। जिनमे तिरस्कार नामक अलकार नवीन है। "रस गंगाधर" मे अलंकारो की विशद व्याख्या मिलती है। यह ग्रन्थ अत्यन्त लाभप्रद है। जगन्नाथ जी ने जो लिखा है वह अत्यन्त सोच विचार कर पाडित्य पूर्ण लिखा है।

अलंकार सम्प्रदाय के इतिहास मे राजशेखर, मुकुल भट्ट, वाग्भट्ट, रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र तथा शारदा तनय के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार अलंकार शास्त्र के ग्रन्थो का प्रणयन ईस्वी के प्रारम्भ से लेकर १८वे शतक तक किसी न किसी रूप मे होता रहा। उसके पश्चात अलकार परम्परा हिन्दी के रीति कवियो को पैतृक सम्पत्ति के रूप मे मिली। आचार्य केशवदास जी ने अलकारो को अनिवार्य माना—"भूषण बिना न सोहहिं कविता, वनिता मित्त।" कुछ कवियो ने अपने लक्षण ग्रन्थो मे चन्द्रालोक आदि की शैली को ग्रहण किया किन्तु महत्व रस को ही दिया गया।

अलंकारों का क्रम विकास—अलंकारो का क्रम विकास काल-क्रम से शनैः शनैः हुआ। सर्व प्रथम भरतमुनि के "नाट्य शास्त्र" मे ६ अलंकारो का उल्लेख मिलता है। उनके पश्चात "अग्नि पुराण" मे १६ अलंकारो की चर्चा है। अग्नि पुराण के पश्चात ईसा की छठी शताब्दी तक के दीर्घकाल मे अलंकारों के सम्बन्ध मे कोई प्रामाणिक ग्रन्थ प्राप्त नही होता। परन्तु अलंकारो की संख्या वृद्धि और उनका विकास होता रहा। जैसा कि भामह के द्वारा किये गये "परे" "अन्ये", "केचित", केषाचित् और अपरे आदि प्रयोगो द्वारा तथा कुछ विद्वानो के नामोल्लेख सिद्ध होता है। भट्टि तथा भामह ने ३८ अलंकारो का निर्देश किया है।

ईसा की छठी शताब्दी से लेकर आठवी शताब्दी तक के समय को अलंकारों के क्रम-विकास का द्वितीय काल माना जायेगा। इसमें दण्डी, उद्भट तथा वामन का नाम आता है। ईसा की आठवी शताब्दी तक अलंकारो की सख्या ५२ हो गई। ईसा की नवमी शताब्दी मे मम्मट, रुय्यक, रुद्रट, भोज आदि के समय तक अलकारों की संख्या १०३ हो गई। इस प्रकार आठवी शताब्दी से लेकर १२वी शताब्दी तक की चार शताब्दी अलकारो के विकास का अत्यन्त महत्वपूर्ण काल है।

ईसा की १३वी श० लेकर १८वी शताब्दी तक को अलंकारों के क्रम-विकास का उत्तर या अन्तिम काल माना जायेगा। इस युग मे जयदेव, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित और जगन्नाथ आते हैं। इनके समय तक अलकारो की सख्या १६१ हो गई। पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् संस्कृत-साहित्य मे कोई भी ऐसा आचार्य नही हुआ जो अलंकारों के क्रम-विकास में योग देता।

अलंकारों का वर्गीकरण—सर्वप्रथम आचार्य रुद्रट ने "काव्यालंकार" मे समस्त अलंकारों का विवेचन करके उनके चार आधार स्वीकार किये—(१) औपम्य (२) वास्तव (३) अतिशय और (४) श्लेष।

उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय (सन्देह) समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रातिमान, आक्षेप, प्रत्यीनक, दृष्टान्त, पूर्व, सहोक्ति, समुच्चय, साम्य, तथा स्मरण को उन्होंने औपम्य के अन्तर्गत स्थान दिया।

सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्यार्थ, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित तथा एकावली की स्थिति उन्होने वास्तव के अन्तर्गत रखी।

अतिशय के अन्तर्गत उन्होने पूर्व, विशेष, उत्पेक्षा, विभावना, तदगुण, अधिक, विरोध, विषम, असगति, पिहित, व्याघात, हेतु अलकारो को रखा।

श्लेष मे श्लेप के दस भेद माने :—

रुद्रट के पश्चात् रुय्यक ने "अलकार सर्वस्व" मे अलकारो का वर्गीकरण किया। रुय्यक का यह वर्गीकरण रुद्रट की अपेक्षा अधिक सुबोध तथा स्पष्ट है। रुय्यक ने अर्थालंकारों को सात वर्गो मे विभाजित किया :—

(१) सादृश्यगर्भ।
(२) विरोध गर्भ।
(३) शृँखला बद्ध।
(४) तर्क न्याय मूल।
(५) काव्य न्याय मूल।
(६) लोक न्याय मूल।
(७) गूढ़ार्थ प्रतीति मूल।

विद्याधर ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से औपम्य, विरोध, तर्क और शृंखला के अनुसार वर्गीकरण किया है। सारांश यह है कि अलंकार शास्त्रियों ने अलंकारों पर बड़े व्यापक दृष्टिकोण से विचार किया है।

अलंकारों के भेद—अलंकार शब्द मे भी होते हैं और अर्थ में भी होते हैं तथा शब्द और अर्थ दोनो में भी सम्भव है। इसलिए अलंकार के तीन भेद माने गये हैं :—

(१) शब्दालंकार।
(२) अर्थालकार।
(३) उपमालंकार।

(१) शब्दालंकार—जहाँ केवल शब्दो का सौन्दर्य रहता है उसे शब्दालंकार कहते हैं। शब्दालकार पाँच प्रकार के हैं—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। कुछ विद्वानो ने वक्रोक्ति और श्लेष को अर्थालकार के अन्तर्गत माना है। जिन अलंकारो में वर्णों तथा शब्दो के समुच्चय से चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं, उन्हें चित्रालंकार की संज्ञा दी गई है। इसमे शब्दो की खिलवाड रहती है तथा अर्थ क्लिष्ट हो जाते हैं, और उनमे माधुर्य भी नही रहता।

(२) अर्थालंकार—अर्थालंकारो मे अर्थगत चमत्कार रहता है। संख्या में ये अनन्त हैं। ये अलंकार पाँच श्रेणियो में विभक्त हैं :—

(१) साम्यमूल।
(२) विरोध मूल।
(३) शृंखला मूल।
(४) न्याय मूल।
(५) वस्तु भेद।

(१) साम्यमूल—जब पदार्थों की सादृश्यता वर्णन मे चमत्कार ला देती है तब उसे सादृश्य मूल या साधर्म्य मूल कहते हैं। इस भेद मे लगभग आधे अलंकारों की स्थिति है। इसके कुछ उपभेद भी हैं। वे इस प्रकार हैं :—

१. अभेद प्रधान—इसमें दो समान वस्तुओ का वर्णन एक मानकर किया जाता है। इसके अन्तर्गत रूपक, परिणाम, उल्लेख, भ्रान्ति, सन्देह और अपह्नुति अलकार हैं।

२. भेद प्रधान—इसके अन्तर्गत दो समान वस्तुओ मे समानता बताते हुए भी दोनो की भिन्नता व्यक्त की जाती है। प्रतीप, तुल्योगिता, दीपकावृत्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, सहोक्ति, व्यतिरेक अलकार इसके अन्तर्गत आते हैं।

३. भेदाभेद प्रधान—जब दो सादृश्य पदार्थों का भिन्न-भिन्न वर्णन किया जाय इसके अन्तर्गत उपमा, अनन्वय, उपमानोपमेय और स्मरण अलंकार आते हैं।

४. प्रतीति प्रधान—जहाँ दो वस्तुओ की सादृश्यता वर्णित हो इसके अन्तर्गत उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति आते हैं।

५. गम्य प्रधान—इसमें दो वस्तुओं की समान बातें व्यंग्य रूप मे ध्वनित रहती हैं। अप्रस्तुत प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, पर्यायोक्ति, व्याज स्तुति, इसके अन्तर्गत आते हैं।

६. अर्थ वैचित्र्य प्रधान—इसके अन्तर्गत ऐसे अलंकार आते हैं जिनमें समानता का भाव विद्यमान होने पर भी शब्द या वाक्य के अर्थ मे कुछ विलक्षणता रहती है। इसमें समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर और श्लेष होते हैं।

(२) विरोध मूल—जब दो वस्तुओ के कार्य कारण मे पार्थक्य के कारण पारस्परिक विरोध की प्रतीति हो। विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असम्भव, असंगति, विषम, विचित्र, व्याघात आदि अलंकार इसके अन्तर्गत आते हैं।

(३) शृंखला मूल—जहाँ दो या अनेक वस्तुओ का क्रमपूर्वक शृँखलाबद्ध वर्णन हो। इसमे कारणमाला, एकावली, माला दीपक, और सार अलंकार होते हैं।

(४) न्याय मूलक—जहाँ चमत्कार तर्क दृष्टान्त आदि के द्वारा लाया जाता है। इसके अन्तर्गत भी अनेक अलकार समाविष्ट हैं। अत इसके तीन भेद हैं :—

(१) वाक्य न्याय मूल—जब विशेष प्रकार से दो वाक्यो का सम्मिश्रण करके चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। यथासंख्य, पर्याय परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय कारक दीप, काव्यार्थापत्ति, सम्भावना आदि अलंकार इसके अन्तर्गत आते हैं।

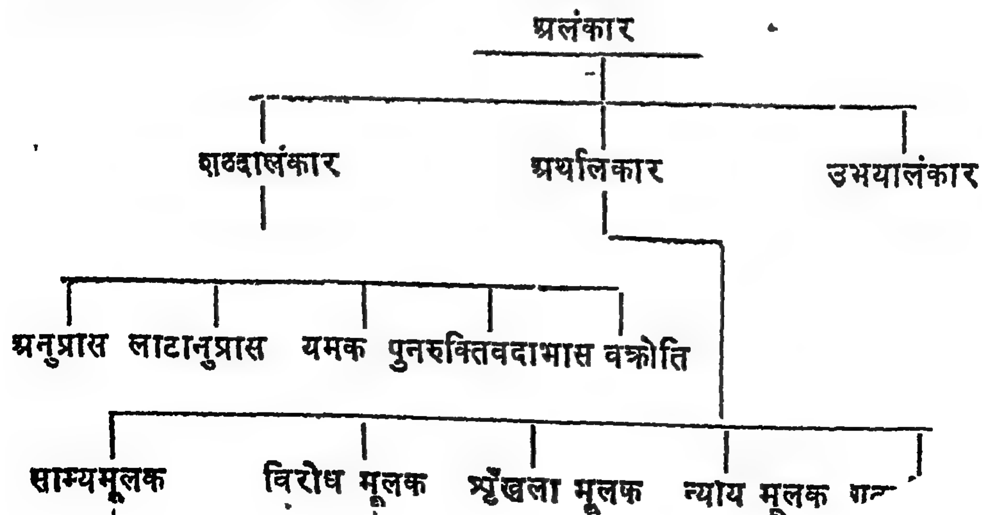
(२) तर्क न्याय मूल—जब तर्क द्वारा कुछ विशिष्टता उत्पन्न की जाय। इसमें काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, प्रौढोक्ति, छेकोक्ति, हेतु, निरुक्ति आदि अलंकार आते हैं।

(३) लोक न्याय मूल—जब काव्य मे चमत्कार लोक व्यवहार के प्रयोग से लाया जाय। इसके अन्तर्गत परिवृत्ति, समाधि, सामान्य, विशेष, उन्मीलित मीलित आदि अलकार आते हैं।

(५) वस्तु भेद—उपर्युक्त अलंकारों को वस्तु मूलक भी कह सकते हैं।

(६) उभयालंकार—जिसमें शब्द और अर्थ दोनो मे चमत्कार का समावेश रहता है। उसे उभयालंकार कहते हैं।

निम्नलिखित सारिणी से ये भेद स्पष्ट हो जायेंगे।



प्रसिद्ध अलंकारों के लक्षण और उदाहरण :—अलंकारो की संख्या बहुत अधिक है स्थानाभाव के कारण सब का वर्णन सम्भव नही। अतः यहाँ हम कुछ प्रसिद्ध अलकारो पर सक्षेप मे विचार करेंगे।

शब्दालकार :—शब्दालंकार के अन्तर्गत निम्नलिखित अलंकार हैं :—

अनुप्रास :—अनुप्रास अलकार वहाँ होता है जहाँ वर्णो की समानता रहती है। अनुप्रास अलंकार के पाँच भेद हैं :—

(१) छेकानुप्रास।
(२) वृत्यानुप्रास।
(३) श्रुत्यानुप्रास।
(४) लाटानुप्रास।
(५) अन्त्यानुप्रास।

(१) छेकानुप्रास :—जहाँ स्वर के न रहते हुए भी कई व्यंजनो की दोवार आवृत्ति हो तो उसे छेकानुप्रास अलकार कहते हैं जैसे :—

"इस करुणा कलित हृदय मे
अब विकल रागिनी बजती।

यहाँ पर "करुणा" तथा "कलित" में "क" तथा "विकल" और "बजती" में "व" की आवृत्ति शब्दो के आदि में मिलती है।

(२) वृत्यानुप्रास :—जब एक ही अक्षर की कई बार आवृत्ति हो तब उसे वृत्यानुप्रास कहते हैं जैसे :—

"रस सिंगार मज्जन किये कंजनु भंजुन दैन,
अजनु रंजनु हूँ बिना खजन गजनु नैन॥"

यहाँ पर "ज" और "न" की अनेक बार आवृत्ति है।

(३) श्रुत्यानुप्रास :—जहाँ एक ही वर्ग के अनेक वर्णों की आवृत्ति होती है उसे श्रुत्यानुप्रास अलंकार कहते हैं। जैसे :—

"तुलसी दास सीदत निसदिन देखत तुम्हारि कठनाई"

यहाँ पर त, द, न, स, ल—दन्त्य वर्ण की आवृत्ति एक साथ कई शब्दो में मिलती है।

(४) लाटानुप्रास :—यहाँ शब्द के अर्थ मे कोई अन्तर न हो किन्तु अन्वय करने से अर्थ मे भेद हो जाय तो उसे लाटानुप्रास कहते है। जैसे :—

"प्रिय समीप जिसके, नही, घाम चाँदनी ज्योति।
प्रिय समीप जिसके नही, घाम चाँदनी ज्योति॥"

(५) अन्त्यानुप्रास :—अन्त्यानुप्रास सभी तुकान्त छन्दों में रहता है। अन्त्यानुप्रास वहाँ होता है जहाँ छन्द की प्रत्येक अन्तिम पंक्ति में तुकान्त की

समानता हो। यथा :—

"जेहि सुमिरत सिधि होय गणनायक करिवरवदन।
करहुँ अनुग्रह सोय बुद्धि राशि शुभ गुण सदन॥"

यमक :—जहाँ एक ही छन्द में एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ हों तो उसे यमक अलकार कहते हैं। जैसे :—

"कनक-कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
ये पाये बौराय नर, वह खाये बौराय॥"

यहाँ "कनक" शब्द की आवृत्ति दो बार हुई है। पहले का अर्थ सोना है है और दूसरे का—"धतूरा"।

वक्रोक्ति :—जहाँ वक्ता कुछ कहे और श्रोता उसका कुछ अर्थ ग्रहण करे यहाँ वक्रोक्ति अलकार होता है। वक्रोक्ति के दो भेद हैं—

१—श्लेष वक्रोक्ति
२—काकु वक्रोक्ति

श्लेष वक्रोक्ति के भी दो प्रकार हैं :—

(१) भग पद
(२) अभंग पद

श्लेष वक्रोक्ति के अभंग पद का एक उदाहरण देखिए :—

"को तुम ? हैं घनश्याम हम, तो बरसो कित जाय।
नहिं, मनमोहन हैं, प्रिये! फिर क्यो पकरो पाय॥"

काकु वक्रोक्ति :—काकु वक्रोक्ति अलंकार वहाँ होता है जहाँ कंठध्वनि से अन्य अर्थ स्पष्ट हो :—

"गुरु-जन परवत, करत हैं पिय विदेश को गौन।
धारस-लय मधु समय सखि। कहा न अइ हैं मौन॥"

श्लेष अलंकार :—जहाँ एक शब्द से अनेक अर्थों की प्राप्ति होती है उसे श्लेष अलंकार कहते हैं। ये दो प्रकार का होता है एक शब्द श्लेष, और दूसरा अर्थ श्लेष। उदाहरण :—

"भार धरै संसार को तऊ कहावत सेस"

यहाँ पर शेष के दो अर्थ हैं—बचा हुआ तथा शेषनाग।

चित्र :—जब कवी पद्य मे ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जो नेत्रों के समक्ष चित्र उपस्थित कर देते हैं तब उसे चित्र कहते हैं। यथा :—

"रागव की चतुरंग चमूचय को गनै "केशव" राज समाजनि,
सूर तुरंगन के अरुझै पग तुग पताकनि की यह साजनि।"

वीप्सा अलंकार :—जब किसी भाव की व्यंजना के लिए एक शब्द का आवृत्ति कई बार हो तब उसे वीप्सा अलंकार कहते हैं।

मतिराम नाम ही सो, रति राम नाम ही सों,
गति रामनाम ही की विपत्ति हरनि।
राम नाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक।
तुलसी ढरैंगे राम आपनी दरांग ॥"

पुनरुक्तिवदाभास :—जब दो पर्यायवाची शब्द समान प्रतीत होते हुए भी भिन्न अर्थ स्पष्ट करें वहाँ पुनरुक्तिवदाभास अलकार होता है। यथा :—

"पुनि फिरि राम निकट सो आई।
प्रभु लछिमन पहँ बहुरि पठाई ॥"

अर्थालंकार :—

उपमा :—जहाँ उपमान और उपमेय में भेद होते हुए भी सादृश्य दिखलाया जाता है उसे उपमा अलकार कहते हैं। जैसे— "अर्जुन के समान अर्जुन वृक्ष देखो।"

उपमा के दो भेद माने गये हैं—(१) पूर्णोपमा, (२) लुप्तोपमा।

पूर्णोपमा—जहाँ उपमेय, उपमान, धर्म और वाचक—ये चारो अंग विद्यमान हों पूर्णोपमा अलकार होता है :—

"मधुर सुधाइव है अधर पल्लव से मृदु पानि।
मृग-लोचन से चपल-चख पिक-धुनि सी कल बानि ॥"

लुप्तोप्मा—जब उपमेय, उपमान, धर्म और वाचक इन चारो में से किसी एक अंग का लोप हो जाता है तो लुप्तोप्मा कहते हैं। जैसे:—

"रामचन्द्र जी नवधन हैं।"

लुप्तोप्मा के दस भेद माने गये हैं—धर्म लुप्ता, उपमान लुप्ता, उपमेय लुप्ता, वाचक धर्म लुप्ता, धर्मोपमेय लुप्ता, धर्मोपमान लुप्ता, वाचकोपमेय लुप्ता, और वाचकोपमान लुप्ता, वाचक धर्म उपमान लुप्ता।

मालोपमा—जहाँ एक ही उपमेय के लिए बहुत से उपमानों का प्रयोग किया जाय वहाँ मालोपमा अलंकार होता है। इसके दो प्रकार हैं—एक धर्मा एवं भिन्न धर्मा। उदाहरण.—

"जैसे मद-गलति गयदनि के वृन्द बेधि,
कंदत जकंदत मयद कढि जात है,
कहै "रत्नाकर" फनिदनि के फद फारि
जैसे विनता को प्रिय नंद कढिजात है,
जैसें तरकासुर के असुर समूह सालि
स्कंद जगवंद निरद्वंद कढि जात हैं,

सूबा सरहिंद-सेन गारि यौं गुविंद कढ्यो
ध्वंसि ज्यौं विधुंतुद कौं चंद कढिजात है।"

इनके अतिरिक्त उपमा के और भी भेद माने गये हैं। परन्तु उनका महत्व नहीं है।

अनन्वय—जहाँ एक ही वस्तु उपमेय और उपमान दोनों हो वहाँ अनन्वय अलंकार होता है। यथा :—

"सुन्दर नन्द किशोर से, सुन्दर नन्द किशोर।"

असम—जहाँ उपमेय के रहते हुए उपमान का निषेध हो वहाँ असम अलंकार होता है। जैसे :—

"जन्म भूमि सी भू नहीं, भूमण्डल में आन।"

रूपक—जहाँ उपमेय में उपमान का अभेद आरोप हो उसे रूपक अलंकार कहते हैं। रूपक के दो प्रकार हैं—(१) तद्रूप, (२) अभेद।

तद्रूप रूपक के तीन भेद हैं :—

(१) अधिक तद्रूप।
(२) सम तद्रूप।
(३) न्यून तद्रूप।

(१) अधिक तद्रूप—जहाँ उपमान उपमेय की अपेक्षा अधिक महत्व वाला होता है वहाँ अधिक तद्रूत होता है। जैसे :—"दिन रात आलोक विकीर्ण करने के कारण मुख चन्द्र आकाश के चन्द्र से बढ़कर है।"

(२) न्यून तद्रूप—जब उपमेय के गुण उपमान से हीन वर्णित किये जायँ तब न्यूनतद्रूप होता है।

(३) समतद्रूप—इसके भी तीम भेद किये गये हैं :—

(१) साङ्ग रूपक।
(२) निरङ्ग रूपक।
(३) परम्परित रूपक।

साङ्ग रूपक—जहाँ एक उपमेय में परस्पर सम्बन्धित अनेकों आरोपों का वर्णन हो वहाँ सांग रूपक अलंकार होता है। यथा :—

"बीती विभावरी जाग री।
अम्बर पन-घट में डुबा रही तारा-घट ऊषा नागरी।
खग कुल-कुल सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा
लो यह लतिका भी भर लाई
आँखों में भरे विहाग री।

निरङ्ग रूपक—जब उपमेय मे उपमान का अवयव सहित आरोप नहीं होता वहाँ निरङ्ग रूपक अलकार होता है। यथा :—

"कठिन ज्येष्ठ की दोपहरी मे तप्त धूलि में सन
कृषक तपस्वी तप करते हैं तप से स्वेदित तन ॥"

इसके दो रूप होते हैं :—

(१) शुद्ध रूपक ।
(२) माला रूपक ।

शुद्ध रूपक—एक उपमेय मे एक उपमान का आरोप हो। यथा :—

"मुस्कराकर राग मधुमय वह लुटाता पी तिमिर विष ।
आँसुओ का क्षार पी मैं बाँटती नित स्नेह रस ॥"

माला रूपक—जहाँ एक उपमेय मे अनेक निरंग उपमानो का वर्णन हो वहाँ माला रूपक होता है :—

मनोहर सुरपुर का आख्यान, गगन मे सूर्य चन्द्र आह्वान ।
यही है सुषमा का सम्मान, विश्व को अमृत का वरदान ॥
कवि जनो का पवित्र उद्‌गार, प्रेम है जीवन का आधार ॥

परम्परित रूपक—परम्परिक रूपक वहाँ होता है जहाँ कवि एक आरोप को दूसरे आरोप का कारण मानता चलता है। यथा :—

"सखि नील नभस्सर से उतरा, यह हँस अहा तिरता-तिरता,
अब तारक मौक्तिक शेष नही निकला जिनको चरता-चरता ।
अपने हिम बिन्दु बचे तब भी चलता उनको धरता-धरता ।
गड जाय न कटक भूतल के कर डाल रहा डरता-डरता ॥"

अभेद रूपक— अभेद रूपक उसे कहते हैं जहाँ उपमेय और उपमान का अभेद सूचित किया जाय। इसके भी तीन भेद हैं :—

(१) अधिक अभेद ।
(२) हीन अभेद ।
(३) सम अभेद ।

अधिक अभेद रूपक—जहाँ उपमेय मे उपमान से कुछ गुणहीनता दिखाते हुए भी रूपक का विधान हो वहाँ अधिक अभेद होता है। यथा :—

"रहे सदा विकसत विमल धरै वास मृदु मंजु ।
उपज्यो नहि पुनि पंक ते राधे को मुख कुञ्जु ॥"

हीन अभेद—जब कवि उपमान से उपमेय को हीन मानता हुआ भी रूपक की योजना करता है तब उसे हीन अभेद रूपक कहते हैं :—

ब्रह्मा चतुरानन-रहित, हैं हरि बिन भुजचार,
महामहिप में व्यासमुनि शिव बिन नयन लिलार ॥"

सम अभेद रूपक—जहाँ उपमेय और उपमान मे पूर्ण साम्य का वर्णन हो वहाँ सम अभेद रूपक होता है। जैसे :—"तुम्हारा विमल मुख कमल बड़ा सरस और सुगन्धि युक्त है।"

परम्परित रूपक—परम्परित रूपक वहाँ होता है जब मुख्य रूपक एक दूसरे रूपक मे रहता है। यथा—

"सुनिय तासु गुण जासु नाम अघ खगवधिक"

उपमेयोपमा अलंकार—जहाँ उपमेय तथा उपमान मे पारस्परिक सादृश्य रहता है वहाँ उपमेयोपमा अलकार होता है। जैसे—

"वे तुम सम तुम उन सम स्वामी"

दृष्टान्त अलंकार—जहाँ उपमेय वाक्य धर्म मे उपमान वाक्य धर्म मे बिम्ब-प्रतिबिम्ब का भाव हो उसे दृष्टान्त अलकार कहते हैं—

"करत-करत अभ्यास के जडमति होत सुजान।
रसरी आवत जात तें सिल पर होत निशान।

प्रतीप अलंकार—प्रतीप का अर्थ है उल्टा। जहाँ उपमेय को उपमान के समान बतलाकर उपमान को उपमेय के समान बताया जाता है उसे प्रतीप अलंकार कहते हैं। यह पाँच प्रकार का होता है।

प्रथम प्रतीप—प्रथम प्रतीप उसे कहते हैं जिसमे उपमान को उपमेय के रूप मे ग्रहण किया जाता है। यथा—

"दृग के सम नील सरोरूह थे, उनको जल शशि डुबा दिया हा।
तव आनन तुल्य प्रिये शशि को अभेद्य घटा मे छिपा दिया हा।
गति की समता करते कन हंस उन्हे अति दूर बसा दिया हा।
विधि ने सबही तव अग समान सुदृश्य अदृश्य बना दिया हा।"

दूसरा प्रतीप—जब प्रसिद्ध उपमान को उपमेय रूप मे मानकर उसे बढा-चढा कर वर्णन किया जाय तब दूसरा प्रतीप होता है। जैसे—

करती तू निज रूप का गर्व किन्तु अविवेक,
रमा, उमा, शचि, शारदा तेरे सदृश अनेक॥"

तीसरा प्रतीप—जहाँ उपमेय के द्वारा उपमान का खण्डन किया जाय वहाँ तीसरा प्रतीप होता है—

"गरब करत कत बावरे, उमगि उच्च गिरि शृंग।
जस गौरव शिवराज को, इत नभते हुँ उतग॥"

चौथा प्रतीप—जहाँ उपमान और उपमेय की समता करके फिर उस समता का खण्डन कर दिया जाय वहाँ चतुर्थ प्रतीप होता है—

"बहुरि विचार कीन्ह मन माँहि
सिय वदन सम हियकर नाहिं॥"

पाँचवा प्रतीप—जहाँ उपमेय को उपस्थिति में उपमान को व्यर्थ कहा जाये वहाँ पंचम प्रतीप होता है। जैसे—

राव भाऊसिंह जू के दान की वढाई देख।
कहा कामधेनु है, कछु न सुरतरु है।

व्यतिरेक अलंकार—जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय का अधिक उत्कर्षपूर्ण वर्णन हो वहाँ व्यतिरेक अलकार होता है। जैसे—

स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ।
किन्तु सुर सरिता कहाँ सरयू कहाँ।
वह मरों को एक मात्र पार उतारती।
यह यही से जीवितों को तारती॥"

स्मरण अलंकार—जहाँ किसी समान वस्तु को देखकर अपनी किसी पूर्व परिचित वस्तु का स्मरण हो आता है तो उसे स्मरण अलकार कहते हैं—

"जो होता है उदित नभ मे कौमुदी कान्त आ के।
या जो कोई कुसुम विकसा देख पाती कही हूँ,
लोने-लोने हरित दल के पादपो को विलोके।
प्यारा-प्यारा विकच मुखडा है मुझे याद आता।"

उल्लेख अलंकार—जहाँ किसी कारण से एक ही वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन हो उसे उल्लेख अलकार कहते हैं। उल्लेख अलकार के दो रूप हैं।

प्रथम वह है जिसमे एक ही व्यक्ति को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। यथा—

"जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।
देखहिं भूप महा रणधीरा, मनहु वीर रस धरे शरीरा॥

द्वितीय उल्लेख वहाँ होता है जब एक व्यक्ति एक वस्तु को अनेक प्रकार से वर्णित करता है—

"पर पीडा में कातर, अनातुर जो निज दुःख मे रहते,
यश संचय में आतुर, चातुर हैं सज्जन उन्हें कहते।"

उदाहरण अलंकार—जब किसी साधारण बात को किसी विशेष बात से समता दिखाकर वर्णन किया जाय तब उदाहरण अलंकार होता है। जैसे—

"विपदागत हूँ सदगुनी करत सदा उपकार।
ज्यो मूछित अस मृतक हूँ पारद है गुनगार॥"

अर्थान्तरन्यास अलंकार—जहाँ सामान्य मे विशेष और विशेष से सामान्य का वर्णन हो वहाँ अर्थान्तरन्यास अलकार होता है। सामान्य से विशेष का उदाहरण—

"ऋतु बसन्त याचक भया, हरिष दिये द्रुम पात ।
तातें नव पल्लव भये, दिया दूर नहिं जात ॥"

विषय से सामान्य का वर्णन

"जग मे घर की फुट बुरी,
घर के फूटहिं सो बिवराई सुवरन लंक पुरी ॥"

तुल्योगिता अलंकार—जहाँ प्रस्तुत या अप्रस्तुत वस्तु के गुण क्रिया आदि रूप एक धर्म से सम्बन्धित हो वहाँ तुल्योगिता अलकार होता है । जैसे—

"खजन कमल चकोर अलि, जिते मीन मृग ऐन ।
क्यों न बड़ाई को लहैं तरुनि निहारे नैन ॥"

यह चार प्रकार का होता है—

प्रथम तुल्योगिता—जब एक ही शब्द से हित और अहित दोनों अर्थ व्यंजित हों तब प्रथम तुल्योगिता होती है ।

द्वितीय तुल्योगिता—जहाँ अनेक वस्तुओ मे एक ही धर्म माना जाय तो वहाँ द्वितीय तुल्योगिता होती है ।

तृतीय तुल्योगिता—जब बहुत से गुणो का एक साथ वर्णन हो ।

चौथी तुल्योगिता—जहाँ हित और अहित दोनो मे एक ही धर्म का वर्णन हो वहाँ चौथी तुल्योगिता होती है ।

प्रतिवस्तूपमा—जहाँ उपमेय और उपमान के एक ही धर्म का पृथक-पृथक शब्दो द्वारा वर्णन हो वहाँ प्रतिवस्तुपमा अलकार होता है । जैसे—

"चटक न छाँडत घटत हू, सज्जन नेह गम्भीर,
फीको परै न बरु फटै, रँग्यो लोह रंग चीर ॥"

दीपक अलंकार:—जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एक ही धर्म वर्णित हो वहाँ दीपक अलंकार होता है । जैसे :—

"कामधेनु और कल्प तरु, चिन्तामणि मन माहिं ।
चौथे तेरो सुयश हौ, है मनसा फल दानि ॥"

अपह्नुति अलंकार:—जब उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना की जाय तब अपह्नुति अलंकार होता है । इसके छः भेद माने गये हैं:—

(१) शुद्धापह्नुति ।
(२) हेत्वापह्नुति ।
(३) पर्यस्तापह्नुति ।
(४) भ्रान्त्यापह्नुति ।
(५) छेकापह्नुति ।
(६) कैतवापह्नुति ।

(१) शुद्धापह्नुति:—जब किसी गुण के कारण उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना की जाय तब शुद्धापह्नुति होता है। जैसे:—यह मुख नही, कमल का फूल है।

(२) हेत्वापह्नुति:—जब कारण बताते हुए उपमेय का निषेध किया जाय तब हेत्वापह्नुति कहते हैं जैसे.—

"रात माँझ रवि होत नही शशि नही तीव्र सुलाग।
उठी लखन अवलोकिए वारिधि सो बडभाग॥"

(३) पर्यस्तापह्नुति:—जब एक के गुण का दूसरे मे आरोप किया जाय तब पर्यस्तापह्नुति अलकार होता है। जैसे.—"मुख चन्द्र का प्रकाश है, चन्द्रमा नही है।"

(४) भ्रान्त्यापह्नुति:—जब भ्रान्ति का निवारण करने के लिए अपह्नुति का प्रयोग किया जाय तब भ्रान्त्यापह्नुति होती है। जैसे.—"यह ज्वर नही है कामदेव का ताप है।"

(५) छेकापह्नुति:—इसमे सत्य को छिपाकर असत्य की स्थापना की जाती है। जैसे.—

"कछु न परिच्छा लीन्ह गुसाईं।
कीन्ह प्रणाम तुम्हारी नाईं॥"

(६) कैतवापह्नुति:—जब एक के मिस दूसरे कार्य का होना वर्णित किया जाय जैसे:—"मैथिली के चरणाम्बुज व्याज लसैं मिथिला मग मंजु त्रिवेनी॥"

उत्प्रेक्षा अलंकार—जहाँ प्रस्तुत वस्तु मे अप्रस्तुत वस्तु की सम्भावना हो वहाँ उत्प्रेक्षा अलकार होता है इसके तीन भेद होते हैं—वस्तु, फल, हेतु।

वस्तुत्प्रेक्षा:—वस्तुत्प्रेक्षा अलंकार वहाँ होता है जहाँ प्रस्तुत वस्तु मे बलपूर्वक उसके सामने उपमान की स्थापना की जाय। जैसे—

"मुख से अमृत बरस रहा है, या फूल झड़ रहे हैं।"

इसके भी दो भेद हैं—उक्त विषया और अनुक्तविषया।

हेतूत्प्रेक्षा —जहाँ अहेतु मे हेतु की कल्पना की जाय। जैसे:—"मुख हँस रहा है क्योंकि उसने सुन्दरता मे चन्द्रमा को परास्त कर दिया है।"

हेतूत्प्रेक्षा भी दो प्रकार की होती है—

(१) सिद्धास्पद और (२) असिद्धास्पद।

फलोत्प्रेक्षा:—जहाँ अफल में फल की सम्भावना की जाय वहाँ फलोत्प्रेक्षा अलंकार होता है। जैसे:—

"नित ही नहाता है चन्द्रमा क्षीर सागर मे,
सुन्दरी मानो तुम्हारे मुख की समता के लिए॥"

फलोत्प्रेक्षा के भी दो भेद हैं—सिद्धास्पद और असिद्धास्पद ।

निदर्शनः—जब दो वाक्यों के अर्थ मे भिन्नता होते हुए भी समता भाव को व्यक्त करने के लिए इस प्रकार वर्णित किया जाय कि दोनो एक से प्रतीत होने लगें तब निदर्शना अलंकार होता है । जैसे—

"जो मनुष्य मूर्खों को समझाता है, वह बालू से तेल निकालने का प्रयत्न करता है।"

यह पाँच प्रकार का होता है ।

प्रथम निदर्शनाः—प्रथम निदर्शना मे असम को सम रूप मे वर्णित किया जाता है । जैसे—"मुख चन्द्रमा की शोभा धारण कर रहा है ।"

द्वितीय निदर्शना—जब उपमान का गुण उपमेय मे स्थापित करके एकता प्रतिपादित की जाय तब द्वितीय निदर्शना होती है। जैसेः—"ये नेत्र स्वभाव से ही खजन की चपलता लिए हुए हैं ।

तृतीय निदर्शनाः—जब उपमेय के गुणों को उपमान मे मानकर वर्णन किया जाय । जैसे—"तुव वचनन की मधुरता रही सुधामह छाय ।"

चौथी निदर्शनाः—जहाँ कोई वस्तु अपनी अच्छी या बुरी क्रिया के द्वारा शिक्षा दे वहाँ चौथी निदर्शना होती है । जैसेः—

"उठ-उठ लहरें कहती यह, हम कूल विलोक न पायें ।
पर उस उमंग मे वह वह नित आगे बढती जायें ।।"

पाँचवी निदर्शनाः—जब असत क्रिया के द्वारा असत अर्थ व्यक्त किया जाता है तब पाँचवी निदर्शना होती है । जैसेः—

"खोवत प्रान अजानु, जे करत क्रूर को संग।"

अतिशयोक्ति अलंकारः—जब किसी वस्तु का बढा-चढा कर वर्णन किया जाय तब अतिशयोक्ति अलंकार होता है । इसके छः भेद हैं—

(१) भेद-कातिशयोक्ति ।
(२) समंबंधातिशयोक्ति ।
(३) चपलातिशयोक्ति ।
(४) अक्रमातिशयोक्ति ।
(५) रूपकातिशयोक्ति ।
(६) अत्यन्तातिशयोक्ति ।

भेद-कातिशयोक्तिः—जहाँ भेद होते हुए भी अलौकिकता लाने के लिए भेद प्रगट किया जाय वहाँ भेदकातिशयोक्ति होता है। जैसे.—

'न्यारी रीति भूतल निहारी शिवराज की"

समंवधातिशयोक्तिः—जहाँ अयोग्य मे योग्य की और योग्य मे अयोग्ग की की कल्पना की जायें वहाँ समवधातिशयोक्ति होता है । जैसेः—

"देखलो साकेत नगरी है यही
स्वर्ग मे मिलने गगन मे जा रही
केतु पट अचल सदृश हैं उड रहे
कनक कलशो पर अमर दृग जुड रहे ॥"

चपलातिशयोक्ति :—जहाँ देखने या सुनने मात्र से ही कार्य हो जाय वहाँ चपलातिशयोक्ति अलकार होता है । जैसे :—

कैकइ के कहते ही, राम गमन की बात
नृप दशरथ के ताहि छिन सूख गये सब गात ॥"

अक्रमातिशयोक्ति :— जहाँ कारण और कार्य बिना बाधा के एक साथ हों वहाँ अक्रमातिशयोक्ति अलंकार होता है जैसे :—

"वह शर इधर गाण्डीव धनु से भिन्न जैसे ही हुआ ।
धड़ से इधर जयद्रथ का सिर छिन्न वैसे ही हुआ ॥"

रूपकाशियोक्ति :—जहाँ केवल उपमानों के आधार पर उपमेयो का कथन मात्र हो वहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार होता है । जैसे :—

"घूम रहा है कैसा चक्र
यह नवनीत कहाँ जाता है
रह जाता है तर्क ॥"

अत्यन्तातिशयोक्ति :— जहाँ कारण से पहले कार्य हो जाय वहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति होता है । जैसे :—

"और बरसने के पहले उठ जाते पानी के घन ।
हृदय समर्पण से पहले ही आँसू हो गिर जाता मन ॥"

तद्गुण अलंकार :—जहाँ किसी वस्तु का अपने गुण को त्याग सभी सद्गुण अन्य वस्तु के गुण ग्रहण करने का वर्णन हो वहाँ तद्गुण अलंकार होता है। जैसे :—

"अति सुन्दर दोनो कानो मे जो कहलाते शोभागार,
एक-एक था भूषण जिसमें जडे हुए थे रत्न अपार ।
कर्णपूर-प्रतिबिम्ब-युक्त था कात कपोल युगम उस काल,
कभी श्वेत था कभी हरा था कभी-कभी होता था लाल ।।"

अतद्गुण अलंकार :—यह तद्गुण का उल्टा होता है । दूसरे के पास समीप रहने पर भी जब वस्तु उसका गुण ग्रहण नही करती तब अतद्गुण अलंकार होता है ।

"आप अपना हृदय उज्वल कह रहे,
रंग उस पर प्रिय ! नहीं चढ़ता कहीं,

राग पूरित हृदय मे रखती उसे,
रक्त फिर भी वह कभी होता नहीं ॥"

काव्यलिंग अलंकार :—जहाँ समर्थनीय अर्थ का अन्य अर्थ के द्वारा समर्थन किया जाय वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है। जैसे :—

"अब रहीम मुसकिल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम,
साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिले न राम ॥"

कारणमाला अलंकार:—जहाँ कारण पहले और कार्य बाद में हो वहाँ कारण-माला अलंकार होता है। जैसे :—

"विद्या देती विनय को विनय पात्रता मित्त।
पात्रत्वै धन, धन धरम, धरम देत सुख चित्त ॥"

एकावली अलंकार :—एकावली अलकार में विशेषण पहले होता है और विशेष बाद में। जैसे :—

"सुमति वही निज-हित लखै हित व जित उपकार,
उपकृति वह जहँ साधुता, साधुन हरि अधार ॥"

असंगति अलंकार :—जहाँ पर कारण तो कहीं हो और कार्य कही दिखाया जाय वहाँ असंगति अलंकार होता है। जैसे :—

"हरन कुसुम-छवि कामिनी निज अंगन सुकुमार।
पै बेधन यह कुसुमसर युवकन हिय सर मार ॥"

सन्देह अलंकार :—जहाँ उपमेय में उपमान का सन्देह हो वहाँ सन्देह अलंकार होता है। जैसे :—

"कहिये कोई स्वर्ग वाला, समुज वीणा बजा रही है,
सुरों के संगीत कैसी, सुरीली आवाज आ रही है,
कोई पुरन्दर की किंकरी है या सुर की सुन्दरी ॥"

भ्रम अलंकार :—जहाँ उपमान के समान उपमेय को देख कर अप्रकृत की भ्रान्ति हो जाती है वहाँ भ्रम अलंकार होता है, जैसे :—

"किंशुक कुसुम जानकर झपटा, भौंरा शुक की लाल चोंच पर।
तोते ने भी चोंच चलाई जामुन का फल उसे समझ कर ॥"

विरोधाभास अलंकार :—जहाँ विरोध न होते हुए भी विरोध की प्रतीति हो वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है, जैसे :—

राज-घाट पर पुल बन्धत, जहँ कुलीन की ढेर।
आज गये कल देखि के, आजहुँ लौटे फेरि ॥"

विशेषोक्ति :—जहाँ कारण के विद्यमान रहने पर भी कार्य में न होने

का वर्णन हो वहाँ विशेषोक्ति अलकार होता है। जैसे :—

"देखो-दो-दो मेघ वरसते मैं प्यासी की प्यासी।"

परिकर अलंकार :—जहाँ पर साभिप्राय विशेषणो का वर्णन हो वहाँ परिकर अलकार होता है। जैसे :—

"कलाधार दिजुराज तुम हरत सदा सताप,
मो अवला के गात क्यो जारतु हो अव आप॥"

परिसख्या अलंकार :—जब किसी वस्तु धर्म गुण तथा जाति को उनकी स्वाभाविक स्थिति से दूर कर किसी विशिष्ट स्थल पर रखकर वर्णन किया जाय तव परिसख्या अलंकार होता है। जैसे :—

"इतनो ही स्वारथ वड़ो लहि नरतन जग माँहि,
भक्ति अनन्द गुविंद पद लखहि चराचर ताहि॥"

व्याजस्तुति अलंकार :—जहाँ निन्दा से स्तुति और स्तुति से निंदा की जाय वहाँ व्याजस्तुति अलंकार होता है।

(निन्दा स्तुति).—

"कहत कौन रण मे तुम्हे धीर वीर सरदार।
लखि रिपु विनु हथियार जो डारि देत हथियार॥"

(स्तुति से निन्दा)

"है घूमता फिरता समय तुम किन्तु ज्यो के त्यो खडे।
फिर भी अभी तक जी रहे हो वीर हो निश्चय वडे॥"

अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार :—जहाँ पर अप्रस्तुत के कथन द्वारा प्रस्तुत अर्थ को स्पष्ट किया जाय वहाँ अप्रस्तुत प्रशसा अलकार होता है। इसके पाँच भेद हैं :—

(१) कार्य निवधना।
(२) कारण निवधना।
(३) सामान्य निवधना।
(५) विशेष निवधना।
(६) सारूप्य निवंधना।

१—कार्य निवन्धना—जहाँ पर अप्रस्तुत कार्य के कथन द्वारा प्रस्तुत कारण को इगित किया जाय तव कार्य निवन्धना होता है। जैसे—

"मातुपितहि जनि सोच वसि करसि महीप किशोर।"

२—कारण निवन्धना—जहाँ अप्रस्तुत कारण के कथन द्वारा प्रस्तुत कार्य की प्रतीति कराई जाय वहाँ कारण निवन्धना होता है। जैसे—

"सरद सुधाकर विंव सो लेके सार सुधारि;
श्री राधा-मुख को रच्यो चतुर विरंचि विचार॥"

३–सामान्य-निबन्धना—जब सामान्य के कथन द्वारा विशेष की अभिव्यक्ति की जाती है तब उसे सामान्य निबन्धना कहते हैं। जैसे—

"अपमान को कर सहन रहते मौन जो—
उन नरो से धूलि भी अच्छी कही,
चरण का आघात सहती है न जो,
शीश पर चढ बैठती है तुरत ही।"

४–विशेष निबन्धना—जब विशेष के द्वारा सामान्य को व्यक्त किया जाय तब विशेष निबन्धना होता है। जैसे—

हरिण अंक मे रखकर—
मृगलाछन चन्द्र कहलाया,
मृग-गण मार निरन्तर
नाम मृगाधिपति सिंह ने पाया।

५–सारुप्य निबन्धना—जब समान अप्रस्तुत कथन के द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना होती है तब सारुप्य निबन्धना होती है। जैसे :—

"सुनु दशमुख खद्योत प्रकाशा, कबहुँ कि नलिनी करहिं विकासा॥"

विभावना अलंकार—जहाँ कारण और कार्य सम्बन्ध मे कुछ विलक्षण कल्पना होती है वहाँ विभावना अलकार होता है। यहाँ छः प्रकार की होती है।

१–प्रथम विभावना—जहाँ कारण के अभाव में भी पूर्ण कार्य का होना वर्णित किया जाय वहाँ प्रथम विभावना होता है। जैसे :—

"कामकुसुम धनु सायक लीन्हे, सकल भुवन अपने बस कीन्हे।"

२–द्वितीय विभावना—बिना कारण के जहाँ कार्य का होना वर्णित किया जाय वहाँ द्वितीय विभावना होती है। जैसे—"बिना महावर लगाये तुम्हारे चरण लाल रग के प्रतीत हो रहे हैं।

३–तृतीय विभावना—बाधा रहने पर भी जहाँ कार्य की सिद्धि पूर्ण दिखाई जाय वहाँ तृतीय विभावना होनी है। जैसे—"रात दिन श्रुति के पास रहने पर भी नेत्र मोह मे पडे हुए हैं।" यहाँ श्लेष से श्रुति का अर्थ वेद है। अतः मोह के मार्ग में बाधा होने पर भी कार्य पूर्ण हो गया है।

४–चौथी विभावना—अकारण से कार्य का होना जहाँ वर्णित किया जाय वहाँ चौथी विभावना होती है। जैसे :—

"आवत हैं तिल फूल तें मलय सुगन्ध समीर।
इन्दीवर-दल जुगल ते निकरतु तीच्छन तीर॥"

५–पाँचवी विभावना—जिस कारण से अभीष्ट कार्य न होकर उसके विपरीत हो वहाँ पाँचवी विभावना होती है। जैसे :—

"मार सुमार करी खरी भरी मरीहि न मार,
सीच गुलाव घरी घरी अरी ! वरीहिन वार ॥"

छठी विभावना—जहाँ कारण के द्वारा कार्य की उत्पत्ति की प्रतीति हो वहाँ छठी विभावना होती है । जैसे :—

"ललन चलन की बात सुनि दहक दहक हिय जात ।
दृग-सरोज से निकसि अलि ! सलिल-प्रवाह बसात ॥"

विषम अलकार—जहाँ अयोग्य वस्तु का सम्बन्ध हो उसे विषम अलंकार कहते हैं । इसके तीन भेद होते हैं ।

१–प्रथम विषम—जहाँ दो बेजोड़ वस्तुओं का सम्बन्ध दिखाया जाय वहाँ प्रथम विषम अलकार होता है । जैसे :—

"कहँ कुम्भज कहँ सिन्धु अपारा, सोखऊ सुयस सकल संसारा ।"

२–द्वितीय विषम—जहाँ कारण से भिन्न गुण कार्य मे वर्णित हो वहाँ द्वितीय विषम होता है । जैसे :—

"हो गई दिशाएँ रजित सी; उस अरुण मनोज्ञ प्रणाली से
पर निकल पडी काली रजनि, सध्या की सुन्दर लाली से ॥"

३–तृतीय विषम—जहाँ प्रयत्न करने पर भी अभीष्ट फल की प्राप्ति न हो वहाँ तृतीय विषम होता है । जैसे :—

"सखि ने जो कपूर लगाया, उसने शरीर को ताप ही दिया ।"

अनुमान अलंकार—जहाँ किसी हेतु के द्वारा किसी वस्तु के अनुमान का वर्णन हो वहाँ अनुमान अलंकार होता है । जैसे :—

"देखलो यह है स्वर्णप्रभात, खिल रहे सर में जलजात ।
कहाँ है तिमिर कहाँ है रात, कहाँ है स्वप्नलोक अज्ञात ॥"

समासोक्ति अलंकार—जहाँ प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की प्रतीति हो वहाँ समासोक्ति अलकार होता है । इसके दो भेद हैं—श्लिष्ट और अश्लिष्ट ।

१–जहाँ श्लेष बल से अप्रस्तुत की प्रतीति कराई जाय वहाँ श्लिष्ट समासोक्ति होता है । जैसे :—

विकसित मुख प्राची, निरखि, रविकर सो अनुरक्त ।
प्राचेतस-दिसि जात ससि ह्वै दुति मलिन विरक्त ॥"

२–जहाँ अश्लिष्ट बल से अप्रस्तुत से प्रस्तुत की पतीति कराई जाय वहाँ अश्लिष्ट समासोक्ति होता है । जैसे :—

"कुमोदिनी प्रफुल्लित भई साँझ कलानिधि पाय ।"

पर्यायोक्ति अलंकार—जहाँ किसी बात को साधारण रूप में न कह कर चातुर्य से कहा जाय वहाँ पर्यायोक्ति अलकार होता है । यह दो प्रकार का होता है ।

१–जहाँ कोई बात स्पष्ट न कहकर वचन चातुरी से घुमा फिरा कर कही

जाय वहाँ प्रथम पर्यायोक्ति होता है। जैसे :—

"यहि घाट तें थोरिक दूर अहै, कटिलौं जल थाह दिखाइहौं जू,
परसै पग धूरि तरै तरनी घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू,
"तुलसी" अवलम्ब न और कछू लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू,
बरु मारिये मोहि बिना पग धोये, हौं नाथ न नाव चढाइहौं जू ॥"

२—जहाँ किसी अच्छे बहाने के द्वारा इच्छित कार्य सिद्धि की प्रतीति हो उसे द्वितीय पर्यायोक्ति कहते हैं। जैसे :—

"देखन मिस मृग विहंग तरु फिरैं बहोरि बहोरि
निरख-निरख रघुबीर छवि, बाढ़ै प्रीति न थोरि ॥"

विनोक्ति—जहाँ एक के अभाव में दूसरे के शोभित अथवा अशोभित होने की प्रतीति हो वहाँ विनोक्ति अलकार होता है। जैसे :—

शशि बिनु सूनी रैन, ज्ञान बिनु हिरदै सूनो।
कुल सूनो बिन पुत्र, पत्र बिनु तरुवर सूनो।"

सहोक्ति अलंकार—जहाँ सग सार्थक शब्दों के द्वारा एक पदार्थ का सम्बन्ध अन्य पदार्थ से बतलाया जाय वहाँ सहोक्ति अलकार होता है। जैसे :—

"अब भी सब साज समाज वही, तब भी सब आज अनाथ यहाँ।
सखि ! जा पहुँचे सुध सग कहीं, वह अन्ध सुगन्ध समीर कहाँ ?"

परवृत्ति अलंकार—जहाँ दूसरे की वस्तु को ग्रहण करके अपनी किसी वस्तु को देने का वर्णन हो वहाँ परिवृत्ति अलकार होता है। जैसे :—

"मृदु सौरभ अर्पण करती हैं, सुरभित मलय पवन
तरु शाखाएँ उसे चढाती हैं फल पत्र सुमन ॥"

अनुज्ञा अलंकार—जब किसी विशेष गुण के कारण दोष युक्त वस्तु में भी उपादेयता का वर्णन हो वहाँ अनुज्ञा अलकार होता है। जैसे :—

दुःख से भी जाऊँ, मुझे उससे है ममता
बढती है जिससे सहानुभूति समता।"

तिरस्कार अलंकार—जहाँ किसी दोष के कारण प्रसिद्ध वस्तु का तिरस्कार हो वहाँ तिरस्कार अलंकार होता है। जैसे :—

"जिन ह्वै बहु श्रिय विभव तिय गज तुरंग अरु बाग,
जिनके बस नर करत नहि हरि-चरनन अनुराग ॥"

यथासंख्य अलंकार—जहाँ क्रमपूर्वक पदार्थों का वर्णन हो तथा उसी क्रम से उनका अन्वय हो वहाँ यथासख्य अलकार होता है। इसे क्रम अलंकार भी कहते हैं। जैसे :—

"अमिय हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवन एक बार ॥"

सार अलंकार—जहाँ शृंखला रूप मे आये हुए पदार्थों के उत्कर्ष या अपकर्ष का वर्णन हो वहाँ सार अलकार होता है। जैसे :—

"काव्यो मे नाटक, नाटक मे शकुन्तला और उसमें भी चतुर्थ अंक और चतुर्थ अंक मे भी चार श्लोक अति उत्तम हैं।"

मीलित अलंकार—अधिक सादृश्यता के कारण जहाँ भिन्नता का स्पष्ट न होने का वर्णन हो वहाँ मीलित अलंकार होता है। जैसे :—

"पान पीन अधरात मे सखि ! लखि नहिं जाय,
कजरारी अँखियन में कजरा री ! न लखाय ॥"

उन्मीलित अलंकार—जहाँ किसी एक कारण विशेष से समानता में भिन्नता की प्रतीति का वर्णन हो वहाँ उन्मीलित अलकार होता है। जैसे :—

"चंपक हरवा अँगू मिली अधिक सुहाय,
जानि परै सिय-हिया जब कुम्हिलाय।"

मुद्रा अलंकार—प्रस्तुत अर्थ को स्पष्ट करने वाले पदों से जब किसी दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति होती है तब उसे मुद्रा अलकार कहते हैं। इसमें अधिकांश मे ऐसे शब्दो का प्रयोग किया जाता है जो सामान्य तथा विशेष अर्थों के द्योतक हो। जैसे :—

"करुणे क्यो रोती हो ?
"उत्तर" मे और अधिक तू रोई।
मेरी विभूति है, जो
उसको भवभूति क्यो कहे कोई ॥"

मानवीकरण—जब मानव गुणो, रूपो, कार्यो का आरोप भावनाओ पर किया जाता है तब मानवीकरण अलकार होता है। जैसे :—

"नेत्र निमीलन करती मानो प्रकृति प्रवुद्ध लगी होने
जलधि लहरियो की अँगडाई, बार-बार जाती सोने।"

या :—

"जगी वनस्पतियाँ अलसाई, मुख धोती शीतल जल से।"

विशेषण विपर्यय—आधुनिक कवियो भाव को तीव्रता प्रदान करने के लिए विशेषण को उसके वास्तविक स्थान से हटाकर ऐसे स्थान पर उसकी योजना करते हैं जहाँ वह एक लाक्षणिक अर्थ की प्रतीति कराने लगता है। इस लाक्षणिक अर्थ द्वारा रचना के अर्थ सौन्दर्य मे वृद्धि हो जाती है। जैसे :—

"मणि दीपो के अन्धकारमय अरे निराशापूर्ण भविष्य।"

या :—

"हार बैठे जीवन का दाव, जीतते जिसको मरकर जीव।"

ध्वन्यर्थ व्यंजना—जहा कर्ण को मधुर लगने वाली एसी शब्द-ध्वनियों का प्रयोग किया जाय जो स्वतः अर्थ सौंदर्य को व्यक्त करती चलें तब वहाँ ध्वन्यर्थ व्यंजना होती है। जैसे :—

"पपिहों की वह पीन पुकार, निर्भरों की भारी झरझर।
झींगुरों की झीनी झंकार और घनों की गुरु गंभीर घहर ॥"

उभयालकार

संसृष्टि अलंकार—संसृष्टि अलंकार वहाँ होता है जहाँ कई अलकारो की एकत्र स्थिति होती है। इसके तीन भेद हैं :—

(१) शब्दालंकार संसृष्टि।
(२) अर्थालंकार संसृष्टि।
(३) शब्दार्थालंकार संसृष्टि।

इन तीनों प्रकार के अलंकारों मे भिन्न-भिन्न अलंकार घुले-मिले भी रहते हैं और पृथक-पृथक भी रहते हैं।

शब्दालंकार संसृष्टि—जहाँ दो या दो से अधिक शब्दालंकारो की स्थिति एक साथ रहती है वहाँ शब्दालंकार संसृष्टि होती है। जैसे :—

कुंडल जिय रक्षा करन कवच करन जय वार,
करन दान आहव करन करन करन वलिहार ॥"

अर्थालंकार संसृष्टि—जहाँ अनेक अर्थालकारों की एकत्र स्थिति हो। जैसे—

सखि नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह।
छाँह सी अम्बर पथ से चली ॥"

शब्दार्थालंकार संसृष्टि—जहां शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों की एकत्र स्थिति हो। जैसे—

"औरन के तेज तुल जात हैं तुलान बिच
तेरो तेज जमुना तुलान न तुलाइये।
औरन के गुन की सु गिनती गने ते होत
तेरे गुन गन की न गिनती गनाइये।
"ग्वाल" कवि अमित प्रवाहन की थाह होत
रावरे प्रवाह की न थाह दरसाइये।
पारावार पार हू को पारावार पाइयत
तेरे पारावार को न पारावार पाइये ॥

संकर अलंकार—जहाँ अनेक अलंकार नीर-क्षीर न्याय के अनुसार मिले रहते हैं वहाँ संकर अलंकार होता है। जैसे—

"करूणामय को भाता है तम के पर्दे से आना।
ओ नभ की दीपावलियों तुम क्षण भर को बुझ जाना ॥"

सकर अलंकार के तीन भेद हैं—

(१) अङ्गाङ्गीभाव सकर

(२) सन्देह सकर

(३) एकवाचकानुप्रवेश संकर

(१) अङ्गाङ्गीभाव सकर–जहाँ अनेक अलकार एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं वहाँ अङ्गाङ्गीभाव सकर होता है।

(२) सन्देह सकर—अनेक अलकारो के एकत्र होने के कारण किसी एक अलंकार का निश्चय न होने को सन्देह शकर कहते हैं।

(३) एकवाचकानुप्रवेश सकर—जहाँ चमत्कार उत्पन्न करने वाले अनेक अलंकारो का एकत्र समीकरण होता है वहाँ एकवाचकानुप्रवेश सकर होता है।

दसवां अध्याय

'ध्वनि सम्प्रदाय'

नवम शताब्दि मे आनन्दवर्धनाचार्य ने सर्वप्रथम ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की, उन्होने काव्य की आत्मा ध्वनि मानी है। परन्तु उनसे पूर्व भी ध्वनि का विवेचन हो चुका था। स्वय आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने प्रथम छन्द में इस बात को स्पष्ट शब्दो में व्यक्त किया है—"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य. समाम्नातपूर्वः [ध्वन्यालोक १, १] अर्थात काव्य की आत्मा ध्वनि है ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है।" डा० पाण्डेय ने ध्वनि सिद्धान्त का उदय विकास आठवी शताब्दी से ग्यारहवी शताब्दी तक के मध्य मे माना हैं। उन्होने आठवी शताब्दी में उद्भट को ध्वनि का व्याख्याकार माना है। वास्तव मे ध्वन्यालोककार से पूर्व वैय्याकरणो के सूत्रों मे स्फोट की व्याख्या मे ध्वनि के सकेत मिलते भी हैं। यद्यपि ध्वनि सिद्धान्त से पूर्व रस, अलंकार और रीति आदि सम्प्रदाय पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गये थे और उन्होने ध्वनि के सम्बन्ध मे अपनी विशेष जानकारी का परिचय भी नही दिया था, परन्तु फिर भी ध्वन्यालोककार का विचार है कि उन्होने ध्वनि की सीमा का स्पर्श कर लिया था। यह तो स्वीकार करना ही होगा कि ध्वनि सिद्धान्त ही ऐसा सम्प्रदाय है जो जो रस सम्प्रदाय की समता मे अपने को रख सका है। विरोधो के प्रवल झझावात मे भी यह अपना अस्तित्व वनाये रहा।

ध्वनि सम्प्रदाय का संक्षिप्त परिचय—ध्वनि सिद्धान्त को स्थापित करने का श्रेय ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन को है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक पर अपनी "लोचन" नामक टीका लिखकर इस सिद्धान्त का समर्थन किया। अभिनव गुप्त ने उद्भट तथा वामन मे भी ध्वनि के सकेत माने हैं। वामन ने वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है—"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति" अर्थात वक्रोक्ति में लक्षणा सादृश्यगर्भित होती है। सादृश्य की इस व्यंजना को ध्वनि के अन्तर्गत स्थान दिया गया है इसलिए वामन में ध्वनि का संकेत माना गया। भोजराज ने सभी प्राचीन आचार्यों के मतो का समन्वय करने का प्रयत्न किया था। उनके पश्चात मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश मे सभी आक्षेपो का निराकरण कर रस की प्रतिष्ठा की। अत: वे "ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य' के नाम से अभिहित हुए। विश्वनाथ तथा जगन्नाथ ने भी "ध्वनि सम्प्रदाय" को वल दिया। इन आचार्यों ने वाक्य की रचना तीन प्रकार की बतलाई—

(१) असमासा या विना समास वाली।
(२) मध्यसमासा या कम समास वाली।
(३) दीर्घ समासा या बड़े समास वाली।

उन्होने इस बात का आदेश दिया कि इन सबका प्रयोग रस, वक्ता तथा विषय के अनुकूल होना चाहिए।

ध्वनि सिद्धान्त निर्विरोध स्थापित नही हो गया था उसे अनेक पराक्रमी विरोधियो का सामना करना पडा। सबसे प्रबल विरोधी प्रतिहारेन्दुराज ने उद्भट के काव्यलकार की टीका मे ध्वनि को पृथक सम्प्रदाय न मानकर अलकारो में स्थान दिया। भट्टनायक ने काव्य की भावकत्व और भोजकत्व दो शक्तियो की कल्पना करके व्यजना का निषेध किया। उन्होंने अपने "ध्वनिध्वस" या "हृदय-दर्पण" मे ध्वनि का खण्डन करके रस का महत्व प्रतिपादित किया। कुन्तक ने यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से तो ध्वनि का खण्डन नही किया परन्तु उन्होने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना और ध्वनि तथा रस को वक्रोक्ति के भेद के रूप मे ग्रहण किया। महिमभट्ट ने अपने "व्यक्ति-विवेक' मे ध्वनि को अनुमान के अन्तर्गत स्थान देकर उसका खण्डन किया। उन्होने कहा कि तर्क की दृष्टि से व्यंजना की उद्भावना गलत है। शब्द की केवल दो शक्तियाँ हैं अभिधा और लक्षणा यह तीसरी शक्ति व्यंजना का कोई अस्तित्व नही। उन्होने केवल एक ही शक्ति मानी। उन्होने ध्वनि को लक्षणा द्वारा सिद्ध माना। परन्तु उनकी बात मान्य न हो सकी। इन विरोधी आचार्यो के पराजित हो जाने पर ध्वनि का मार्ग अकण्टक हो गया।

पडितराज जगन्नाथ के समय तक ध्वनि और रस सिद्धान्त का समन्वय हो चुका था और अब आचार्यो की दृष्टि मे दोनो मे कोई विशेष भेद न रह गया था। हिन्दी के रीति ग्रन्थो ने जो परम्परा प्राप्त की थी उसमे ध्वनि का रस मे बहुत कुछ अन्तर्भाव हो गया था। वस्तुतः हिन्दी के आचार्यो ने ध्वनि की ओर इंगित करके रस की ही व्याख्या की है। परन्तु फिर भी कुलपति प्रताप आदि ने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानी है रस को नही।

ध्वनि की परिभाषा और व्याख्या—"जहाँ प्रत्यक्ष (वाक्य) अर्थ में से कोई दूसरा ही अर्थ निकले और वह नया अर्थ उसके प्रत्यक्ष या वाक्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार पूर्ण हो वही ध्वनि है, और उस प्रकार के ध्वन्यार्थों से भरा हुआ काव्य ही ध्वनि काव्य कहलाता है।"

ध्वन्यालोककार आनन्द वर्धन ने ध्वनि की व्याख्या इस प्रकार की है—

"यथार्थ शब्दो वा तयर्थमुदसर्जनी कृतस्वार्थों।
व्यक्तः काव्य विशेष. सध्वनिरिति सूरिभिः कथित।"

अर्थात जहाँ अर्थ स्वय को शब्द अपने अभिधेय अर्थ को गौण करके उस अर्थ को स्पष्ट करे उस काव्य विशेष को विद्वानो ने ध्वनि की सज्ञा दी है। यहाँ पर तयर्थ शब्द विचारणीय है। इसकी व्याख्या इस प्रकार मिलती है—

"प्रतीयमान् पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
एवद् प्रसिद्धावयभाति रिक्तमभाति लावण्य भिवाङ्गनासु॥"

जिस प्रकार रमणी के प्रसिद्ध अंगों से भिन्न लावण्य होता है। उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही होता है जिसका आभास महाकवियो की सूक्तियो मे प्राप्त होता है। इसी बात को दूसरे श्लोक मे दूसरी प्रकार से दोहराया गया है—

"सरस्वती स्वादु तदर्थं वस्तुनिष्यन्दमानामहताम् कवीनाम्।
आलोक सामान्य मानमभिव्यवित परिस्फुरन्तभ प्रतिभा विशेषम्।"

अर्थात उस स्वादु अर्थ को विकीर्ण करती हुई महाकवियों की सरस्वती अलौकिक तथा प्रतिभा विशेष की परिचायक है।

इस पर लोचनकार अभिनवगुप्त ने अपनी टिप्पणी इस प्रकार दी है—

"सर्वत्र शब्दार्थ योरुभयोरपि ध्वनन व्यापारः" स (काव्य विशेषः) इति। अर्थो वा, शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाक्यो वा ध्वनीति शब्दोऽप्येव व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यते इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्रधान्येन समुदाय एव वाच्य रूपमुखतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्॥"

अर्थात सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनो का ध्वनत व्यापार होता है। यह काव्य विशेप का अर्थ है। अर्थ शब्द के द्वारा वाच्य अर्थ भी ध्वनित होता है और शब्द भी। इस प्रकार व्यंग्य अर्थ भी ध्वनन होता है।" वस्तुतः ध्वनि शब्दगत और अर्थगत दोनों प्रकार की है।

श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने ध्वनि की व्याख्या इस प्रकार की है—"जहाँ "वाच्य" से "व्यंग्य" मे अतिशय अधिक चमत्कार हो उसे "ध्वनि" कहते हैं।"

आचार्य मम्मट ने इस प्रकार के काव्य को सर्व श्रेष्ठ काव्य माना है।

"इत्तमुदममति शमिनि व्यग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।"

अतः आचार्यों ने अर्थ के दो रूप वतलाये हैं:—

(१) वाच्य, जिसके अन्तर्गत अलकार आदि आते हैं।
(२) प्रतीयमान अर्थ, जिसके अन्तर्गत ध्वनि का स्थान है।

आचार्यों का विचार है कि "व्यक्ति यदि काव्य में वास्तविकता के दर्शन करना चाहे तो उसे प्रतीयमान अर्थ अच्छी तरह से स्पष्ट हो सकते हैं। जैसे किसी रमणी के शारीरिक अवयवो के रहते हुए भी उनसे भिन्न लावण्य रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण काव्य में पृथक विचिका, निराले, चमत्कार पूर्ण प्रतीयमान अर्थ का भी अस्तित्व रहता है।" पाश्चात्य विद्वानो ने ध्वनित अर्थ को Subjective meaning का महत्व दिया है। ड्राइडन ने लिखा है—"More is meant than meets the ear अर्थात्—"यह ध्वन्यर्थ वहाँ होता है जहाँ कान से सुनाई पड़ने वाले शब्दों से कुछ अधिक अर्थ प्रतीत हो।"

यद्यपि इस ध्वन्यर्थ का प्रयोग आदि कवि वाल्मीकि के समय से ही सब कवि अपने काव्यो मे करते आये हैं, किन्तु इस ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप मे प्रतिष्ठित करके इसे स्वतन्त्र काव्य तत्त्व मानने का श्रेय सर्वप्रथम ध्वन्यालोककार

आनन्दवर्धन को ही है। उनके इस सार्वभौम सिद्धान्त की मान्यता युग-युग तक रही। अब तक जो सिद्धान्त थे वे एकागी थे। अलकार और रीति ने काव्य के बाह्य रूप को ही महत्व दिया। इस सिद्धान्त ने अलौकिक आनन्द को ही काव्य का प्राण माना। इसके अतिरिक्त रस का निर्वाह प्रबन्ध काव्यो मे तो अच्छी तरह हो सकता है, स्फुट छन्दो मे इसका निर्वाह अत्यन्त कठिन है। ध्वनिकार ने इन सब दोषो का निराकरण करते हुए व्यंजना पर आधारित ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। उन्होने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना करते समय दो निश्चित दृष्टिकोणो को अपने सम्मुख रखा। (१) प्रथम तो उन्होने ध्वनि की स्पष्ट शब्दो मे प्रतिष्ठा, और इस बात की घोषणा की कि पूर्ववर्ती किसी सिद्धान्त मे इसका समाहार नही हो सकता। (२) रस, अलकार, रीति, गुण आदि के दोषो को दृष्टि मे रखते हुए उनका सम्बन्ध ध्वनि के साथ स्थापित किया और इस दिशा मे उन्हे आशातीत सफलता मिली।

ध्वनि सिद्धान्त की मान्यता इस प्रकार है :—

(१) काव्य की आत्मा ध्वनि है। इसका अभिप्राय यह है कि काव्य में मुख्यतः व्यग्यार्थ का सौन्दर्य होता है।

(२) व्यग्यार्थ के महत्व की दृष्टि से काव्य तीन प्रकार के हैं—(१) उत्तम अर्थात् ध्वनि काव्य, मध्यम अर्थात् गुणीभूत-व्यंग्य काव्य, और अधम अर्थात् चित्र काव्य।

(३) ध्वनि तीन प्रकार की होती है—वस्तु ध्वनि, अलकार ध्वनि और रस ध्वनि। इसमे रस ध्वनि महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार ध्वनि सिद्धान्त ने भी रस को महत्व दिया। रस से रहित काव्य को चित्र-काव्य की सज्ञा दी गई।

अभिनव गुप्त ने अपने लोचन की रचना करके ध्वनि सम्प्रदाय के गौरव तथा लोकप्रियता को बढाया। उन्होने अकाट्य शब्दो मे ध्वनि विषयक भ्रान्तियो तथा आक्षेपों को निर्मूल किया। अभिनवगुप्त ने रस की दृष्टि से ध्वनि को महत्व दिया है।

डा० के० सी० पाण्डेय ने अपनी थीसिस "इण्डियन एस्थैटिक्स" में लिखा है कि सस्कृत साहित्य मे ध्वनि शब्द का प्रयोग पाँच अर्थों मे हुआ है। उनका सकेत डा० के० सी० पाण्डेय ने इस प्रकार दिया है:—

१. "ध्वनित यः सः व्यञ्जक. शब्दः ध्वनिः"—व्यंजक शब्द ध्वनि वह है जो ध्वनित करे या कराये।

२. "ध्वनति ध्वनयति वा य. स. व्यञ्जकेऽर्थो" ध्वनिः—जो ध्वनि करे या ध्वनित करवाये उसे व्यञ्जक अर्थ ध्वनि कहते हैं।

३. " ध्वन्यते इति ध्वनि" .—इसके द्वारा ध्वनित किया जाता है। इसके अन्तर्गत रस, अलकार और वस्तु व्यग्य अर्थ के यह तीनो रूप आ जाते हैं।

४. "ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः" :—जिसके द्वारा ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है।

५. "ध्वन्यते अस्मिन्निता ध्वनि" :—इसके द्वारा वस्तु, अलंकार और रसादि ध्वनित होते है।

स्फोट और ध्वनि :—ध्वनिकार ने अपने ध्वनि सिद्धान्त के लिए वैय्याकरणो के स्फोट से प्रेरणा ग्रहण की थी। यह उनके "सूरिभिः कथितः" वाक्यांश से स्पष्ट भी होता है। जिसके द्वारा अर्थ का प्रस्फुटन हो उसे स्फोट कहते है। शब्द कौस्तुभ मे स्फोट की व्याख्या इस प्रकार मिलती है— "स्फुटत्यर्थोऽस्यादिति स्फोट." अर्थात् जो अर्थ को प्रकट करे या जिससे अर्थ प्रस्फुटित हो उसे स्फोट कहते हैं। मंजूषा मे नागेश ने अर्थ का बोध कराने वाले शब्द को ही स्फोट माना है। जैसे-जैसे स्फोट का विवेचन किया गया वैसे-वैसे स्फोट के अनेक रूप होते गये। तदनुसार स्फोट के आठ प्रकार हो गये:—

(१) वर्ण-स्फोट, (२) पद-स्फोट, (३) वाक्य-स्फोट, (४) अखण्ड-पद स्फोट, (५) अखण्ड वाक्य स्फोट, (६) वर्ण जाति स्फोट, (७) पद जाति स्फोट, (८) वाक्य जाति स्फोट। शबर स्वामी ने केवल दो स्फोटो को ही स्वीकार किया—(१) वर्ण-स्फोट, (२) पद-स्फोट। उनका विचार है कि "प्रत्येक वर्ण में अर्थ होता है।" उन्ही अर्थ वाले वर्णो के समूह को पद और पद के समूह को वाक्य की सज्ञा दी गई है। वस्तुतः वाक्य वर्ण तथा पद से अभिन्न है। मीमासको का भी कथन है कि "हमारे अज्ञान के कारण वह भले ही न जाना जा सकता हो परन्तु प्रत्येक वर्ण में अर्थ होना अवश्य है।" कुमारिल भट्ट ने भी इसी बात की पुष्टि करते हुए लिखा है कि—"यदि हम वाक्य को अखण्ड मानेंगे और उसकी पृथक सत्ता स्वीकार करेंगे तो वर्ण और पद दोनो अनित्य हो जावेंगे। इसलिए वाक्य स्फोट के स्थान पर वर्ण-स्फोट और पद-स्फोट भी उचित हैं।"

पतंजलि और राजपुरुष का विचार था कि वर्ण से अर्थ का ठीक ज्ञान नही होता। अतः "वास्तविक अर्थ ज्ञान वाक्य स्फोट से ही होता है और वही नित्य है।" मंजूषा मे नागेश ने लिखा है "वाक्य स्फोट एव लोकेऽर्थप्रत्यायकत्वेन शक्तिमान" अर्थात् लोक मे वाक्य से ही अर्थ ज्ञान होता है, वर्ण और पद से नही।

भाष्यकार ने लिखा है—

"वाक्यस्फोटात्मकं शब्द ब्रह्मज्ञान, व्याकरणस्य मुख्य प्रयोजनम्"।

अर्थात् व्याकरण का प्रधान अभिप्राय वाक्य स्फोट ब्रह्म का ज्ञान करना ही है। वाक्य स्फोट के सम्बन्ध मे भर्तृहरि लिखते है :—

"जैसे आकाश नित्य है किन्तु उपाधि लगाकर हम उसके महाकाश और घटाकाश आदि अनेक भेद कर लेते हं उसी प्रकार वाक्य के नित्य रूप में हम वर्ण और पद नाम के विभाग कर लेते हं। इनके अतिरिक्त प्रकृति और प्रत्यय आदि जो विभाग किये गये है वे वास्तविक नही, कल्पित हैं।"

भट्टो जी दीक्षित ने भी वाक्य स्फोट को ही प्रधानता दी है :—

"वस्तुतस्तु वाचकता स्फोटकर्तवैका नित्या।"

भूषणकार कौण्डभट्ट का भी विचार था कि वाक्य स्फोट ही मुख्य है यही उसका निष्कर्ष है :—

"वाक्य स्फोटोऽति निष्कर्षे तिष्ठनीति मतस्थिति.।"

वाक्य स्फोट की प्रधानता होते हुए भी कभी-कभी वर्ण और पदो से भी अर्थ बोध हो जाता है। जैसे :—"पानी" कह देने मात्र से "पानी लाओ" अर्थ का बोध हो जाता है। इसी प्रकार "हा" कह देने से किसी बात का समर्थन हो जाता है।

ध्वनि का आधार :—यह हम लिख चुके हैं कि ध्वनिकार ने अपने सिद्धान्त का आधार वैय्याकरणो के स्फोट से ग्रहण किया था। स्फोट की व्याख्या करने से स्पष्ट हो जाता है कि स्फोट और ध्वनि का व्यंग्य-व्यजक सम्बन्ध है। ध्वनियाँ अर्थ का बोध या व्यजना करती और स्फोट ध्वनियों के सहारे होता है। भर्तृ हरि ने वाक्यपदीय मे इस बात को स्पष्ट किया है :—

"स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतद्ध्वनि रिष्यते

अर्थात् प्राकृत ध्वनियो से ही स्फोट का बोध होता है।

अभिनवगुप्त ने वैय्याकरणो के स्फोट सिद्धान्त का अलकारिको के ध्वनि सिद्धान्त से समन्वय स्थापित किया है। व्याकरण शास्त्र मे ध्वनि के पाचो रूपो व्यजक शब्द, व्यजक अर्थ, व्यग्य अर्थ, व्यजना व्यापार तथा व्यग्य काव्य का स्पष्ट रूप मिलता है। अभिनवगुप्त की टिप्पणी का डा० त्रिगुणायत ने हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार दिया है :—

"जब मनुष्य किसी शब्द का उच्चारण करता है तो श्रोता उस उच्चरित शब्द को नहीं सुनता। मान लीजिए कि मै आपसे दस गज की दूरी पर खड़ा हूँ और आपने किसी शब्द का उच्चारण किया तो मै उस शब्द को नहीं सुन सकूँगा जो आपने उच्चरित किया है। आपके द्वारा उच्चरित शब्द मुख के पास दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है। दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को, इत्यादि इस प्रकार कम चलता रहता है। इस प्रकार हम सन्तान रूप में आये हुए शब्दज शब्द को ही सुन पाते है। यहाँ शब्दज शब्द ही ध्वनि कहलाते है।"

भर्तृहरि ने "वाक्यपदीय" मे लिखा है कि शब्द के सयोग-वियोग से जो स्फोट उद्भूत होता है उसे विद्वानो ने ध्वनि के नाम से अभिहित किया है। देखिए :—

'य सयोगवियोगाभ्याम कारणे रूपजन्यते।
स' स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरिति उच्यते बुधैः॥"

वस्तुत. वक्ता के मुख से उच्चरित शब्दो से उद्भूत शब्द हमारे मानस मे नित्य स्फोट की सृष्टि करते हैं और इसी को वैय्याकरणो ने ध्वनि की सज्ञा दी है।

वैय्याकरणो ने इस बात का निश्चय किया कि अर्थ बोध शब्द में स्फोट के द्वारा होता है। अर्थात् "पूर्व पूर्व वर्णों के संस्कार अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द का अर्थ बोध गम्य कराते हैं। इसी स्फोट का दूसरा नाम "ध्वनि" है। इस सम्बन्ध में भर्तृहरि ने लिखा है :—

"प्रत्ययैरनुपाख्येयैः ग्रहणानुगुणैस्तथ।
ध्वनि प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते॥"

अर्थात् ग्रहणीय शब्दो मे अभिव्यक्त न होने वाले योग्य प्रत्ययों द्वारा ध्वनि रूप मे उद्भूत शब्द स्फोट कहलाता है।

पुण्य राज ने प्रत्येक ध्वनि को सार्थक माना है—

"प्रत्ययै रनुपाख्येयर्ग्रहणानुगुणैस्तथा।
ध्वनि प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते॥"

भर्तृहरि का विचार

'अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥"

अर्थात् शब्द अनादि, अलौकिक, अव्यक्त ब्रह्म है। वही अर्थ के रूप मे अभिव्यक्त होता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वाक्य स्फोट का विशेष महत्व है क्योंकि इसी के द्वारा अर्थ बोधगम्य होता है। कभी-कभी "हाँ-हूँ" के द्वारा भी अर्थ का पूर्ण बोध हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिस शब्द को हम उच्चरित करते हैं और उससे जो अर्थ निकलता है वही स्फोट है। उच्चरित होने वाला शब्द इस अर्थ का बोध कराता है वही ध्वनि हैं। वैय्याकरणो ने विकृत शब्दो के उच्चारण रूप विभिन्न व्यापार को भी ध्वनि माना है। जैसे गौः शब्द से गौ का अर्थ निकलता है किन्तु इससे पूर्व ग शब्द से भी गौः की प्रतीति हो जाती है। इसका कारण यह है कि शब्द दो प्रकार के होते हैं—स्फोट रूप मे वर्तमान प्राकृत शब्द, विकृत शब्द। जिन शब्दो का उच्चारण होता है वे उस स्फोट रूप प्राकृत शब्द की अनुकृति होते हैं। अलंकारिको ने घटा, नाद, अनुकरण, रूप शब्द से उद्भूत अर्थ व्यंग्य रूप को ध्वनि कहा है। उन्होने चार प्रकार की ध्वनि मानी—व्यंग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यञ्जकत्व व्यापार। ये चारो मीलित होकर काव्य की ध्वनि होते हैं। लोचनकार ने भी पाँचो मे ध्वनित्व माना है।

वस्तुतः शब्द साम्य तथा व्यापार साम्य के आधार पर स्फोट से प्रेरणा ग्रहण करके ध्वनिकार ने अपने ध्वनि सिद्धान्त की सृष्टि की। जिस प्रकार घंटे पर प्रहार होने से टंकार होती है फिर उसमे से मधुर झंकार निकलती है, ठीक उसी प्रकार वाच्यार्थ को टंकार और व्यंग्यार्थ को झंकार माना गया है। व्याकरण में तो ध्वनि उस शब्द को माना गया है जो अर्थ की अभिव्यंजना के लिए आता है। परन्तु साहित्य शास्त्र मे शब्द और अर्थ दोनो अर्थ का बोध कराते हैं, इसलिए दोनों के लिए "ध्वनि" शब्द का व्यवहार होता है।

शब्द शक्तियाँ :—ध्वनि सिद्धान्त को समझने के लिए शब्द शक्तियों पर विचार करना भी आवश्यक है। शब्द शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं—अभिधा लक्षणा और व्यजना

ध्वनि सिद्धान्त से पूर्व अभिधा उस शक्ति को माना जाता था जो दर्शक के हृदय पर उससे परम्परागत सम्बन्धित वस्तु का पूर्ण चित्र चित्रित कर दें। मनुष्य ने वस्तुओ के लिए बहुत से बोधक शब्दों का निर्माण किया। इन बोधक शब्दो की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानो के भिन्न-भिन्न मत है।

वैय्याकरणो का मत :—वैय्याकरणो के विचार से "अर्थ का ज्ञान कराने वाली शब्द की शक्ति शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई विशेष वस्तु नहीं है।" उन्होने इस शब्द शक्ति को अपरिमित मानते हुए वस्तु के अभाव में भी इसका अस्तित्व स्वीकार किया है। अर्थ को बोध-गम्य कराने वाली शक्ति में शब्द और अर्थ का अभिन्न सम्बन्ध रहता है। यह सम्बन्ध वाच्य वाचक भाव का होता है। यह ही सकेत है। इसी सकेत के सहारे शब्द के अर्थ का बोध होता है। इसी सकेतन शक्ति को साहित्य म अभिधा शक्ति के नाम से अभिहित किया गया। नागेशभट्ट की मजूषा से भी इसी बात का समर्थन होता है:—

"पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्ति वाच्यवाचक भावापरपर्याया। तद्ग्राहकञ्चेतरेतराध्यास मूल तादात्म्यम्। तच्च सकेत रूपम्॥"

नैय्यायिको का मत :—नैय्यायिको ने सकेत के स्थान पर ईश्वरेच्छा से अभिधा मूलक अर्थ की उत्पत्ति मानी है:—

"अस्मात् पदात् अमडर्थो बोधव्य इति ईश्वरेच्छा शक्तिः

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वैयाकरणो का मत अधिक सगत है।

शुक्ल जी का मत :—अभिधा के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं:—"बिम्बानुभूति या दृश्य ग्रहण अभिधा के द्वारा ही होता है।" इस सम्बन्ध मे शुक्ल जी प्राचीन आचार्यो से एक पग आगे हैं। शुक्ल जी ने लिखा है कि अभिधा शक्ति के द्वारा बिम्बग्रहण और अर्थ ग्रहण दोनो होता है। इस सम्बन्ध में उन्होने उदाहरण दिया है कि कमल शब्द का उच्चारण करने से उसका रूप या बिम्ब हमारे मानस में आता है, उसके पश्चात् पद के अर्थ का बोध हो जाता है। उनका यह भी विचार है कि मस्तिष्क पर बिम्ब ग्रहण हुए बिना भी अर्थ स्पष्ट हो सकता है। वस्तुतः सकेत ग्रह की दो प्रक्रियाएं हैं—प्रथम तो वस्तु का बिम्ब ग्रहण होता है और फिर बाद मे उसी बिम्ब के द्वारा अर्थ प्रगट होता है। यह सम्भव हो सकता है कि शीघ्रता मे बिम्बानुभूति न होकर केवल अर्थ का ही ज्ञान हो जाय।

वाचक शब्द :—यहाँ पर अभिधा के साथ वाचक शब्द पर प्रकाश डालना डालना भी अनुपयुक्त न होगा। 'काव्य प्रकाश' मे वाचक शब्द उसे माना गया है जिससे साक्षात् सकेतित शब्द का ज्ञान हो —

"साक्षात्सकेतित योऽर्थमभिधत्ते स वाचक.।",

इसका अर्थ शब्द संकेत के सहारे ही अभिव्यक्त होता है। ये सकेत ग्रहण आठ प्रकार के हैं—व्याकरण, उपमान, कोष, आप्त वाक्य, व्यवहार, प्रसिद्ध पद का सान्निध्य वाक्यशेष, विवृति।

वाचक शब्द के चार भेद हैं—जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक, मुख्य-वाचक।

साहित्य में अभिधा शक्ति—वाचक शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने वाली शक्ति को अभिधा कहते हैं। साहित्य मे अभिधा का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। ध्वनि से पूर्व अभिधा ही ध्वनि का कार्य करता था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अभिधा के महत्व के सम्बन्ध मे लिखते हैं—"यह स्पष्ट है कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी योग्यता या उपपन्नता को पहुँचा हुआ समझ में आने योग्य रूप में अर्थ ही होता है। अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षण या व्यंजना द्वारा ही अर्थ बोधक बन जाता है।"

काव्य प्रकाश मे अभिधा शक्ति की व्यापकता के सम्बन्ध में इस प्रकार मिलता है :—

"सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घ तरो व्यापारः मत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति।"

अर्थात् जिस प्रकार वाण उत्तरोत्तर वेधन करता जाता है, उसी प्रकार अभिधा भी उत्तरोत्तर अर्थ को व्यक्त करती जाती है।

साहित्य दर्पणकार ने अभिधा शक्ति को अग्रिमा शक्ति मानी है।

अभिधा से लक्षणा तथा व्यजना दोनो सम्बन्धित हैं। मुकुल भट्ट ने अभिधा तथा लक्षणा के तादात्म्य को स्वीकार किया है। ध्वन्यालोककार का भी मत है कि व्यंग्यार्थ के ज्ञान के लिए उसके जनक अभिधेयार्थ का ज्ञान भी अपेक्षित है। नैय्यायिकों ने वाच्यार्थ के सम्बन्ध को लक्षणा माना है। उनका विचार है कि लक्ष्यार्थ केवल पद पर निर्भर नही होता है, अपितु उसका सम्बन्ध पद के वाच्य अर्थ से भी होता है।

लक्षणा शक्ति—"लाक्षणिक शब्द के अर्थ को बोध कराने वाली शक्ति को लक्षणा कहते हैं।'

साहित्य में बहुत से ऐसे अर्थ हैं जिनका स्पष्टीकरण केवल अभिधा से नही हो पाता। अभिधा शक्ति तथा तात्पर्या शक्ति दोनो मिलकर भी उस अर्थ को स्पष्ट करने में असमर्थ होती हैं। उदाहरणार्थ "गंगायाम् घोषः" को ही ले सकते हैं। इसके अर्थ की प्रतीति दोनो शक्तियो के द्वारा नही होती। अभिधा शक्ति के द्वारा केवल इतना ही अर्थ निकलता है—"गगा मे घोषो की वस्ती" इसलिए लक्षणा शक्ति का आश्रय लेना पडा। काव्यप्रकाशकार तथा ध्वन्यालोककार ने इन शक्तियो के अतिरिक्त चौथी शक्ति व्यजना की भी उद्भावना की।

तात्पर्या वृत्ति—मीमासको ने तात्पर्या वृत्ति की उद्भावना की। उन्होने इसे अभिधा तथा लक्षणा दोनो से पृथक माना। तात्पर्या वृत्ति को मानने वालो का

विचार है कि "वाक्य में प्रयुक्त पद, आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि आदि के कारण पदों से भिन्न वाक्य का एक भिन्न अर्थ देते हैं। तात्पर्या वृत्ति ही पदो से भिन्न वाक्य के इस पृथक अर्थ की प्रतीति कराती है।" धनिक ने भी तात्पर्यावृत्ति को स्वीकार किया है। धनिक का विचार है कि तात्पर्यावृत्ति के द्वारा ही वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ का ज्ञान होता है। उन्होने तात्पर्य के प्रसार को व्यापक माना और व्यंजना वृत्ति का निषेध किया।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य ने इस मत को स्वीकार नही किया। काव्य प्रकाशकार तथा ध्वन्यालोककार दोनो ने इसका खडन किया।

व्यंजना शक्ति—वास्तव मे ध्वनि सिद्धान्त व्यजना शक्ति पर ही आधारित है। व्यंजना का भवन इतना सुदृढ था कि ध्वनि विरोधियो के प्रवल आघातो में भी वह अपना अस्तित्व पूर्ण रूपेण वनाये रहा। यद्यपि व्यजना की प्रतिष्ठा आनन्दवर्धन ने की थी परन्तु यह प्रारम्भ से ही किसी न किसी रूप मे प्रयोग मे आ रही थी। पर्यासोक्त, अप्रस्तुत प्रशसा, व्याज स्तुति जैसे वक्रता मूलक अलकारो का अर्थ व्यंजना के द्वारा ही स्पष्ट होता है। उदाहरणार्थ—"न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गता" के पद को ले सकते हैं। अभिधा की सहायता से केवल इतना अर्थ निकलता है कि—"जिस पथ से वाली यमपुर गया। लक्षणा कुछ और स्पष्ट कर देगी। परन्तु पूर्ण अर्थ की प्रतीति—"जिस प्रकार वाली मारा गया उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो"—व्यंजना के द्वारा ही होती है। इस सम्बन्ध में शब्द शक्ति का प्रचलित उदाहरण भी लिया जा सकता है—"गङ्गायां घोष"—अभिधा के द्वारा तो हुआ इसका अर्थ—गगा पर घर। लक्षणा की सहायता से इसका अर्थ ले सकते हैं—गगा के किनारे घर। किन्तु गगा के किनारे होने के कारण उस घर की पवित्रता आदि का वोध होता है।

अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने अनेक अकाट्य तर्कों के द्वारा व्यंजना की आवश्यकता को स्पष्ट किया है। उनके साराश को सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के शब्दो में हम इस प्रकार दे सकते हैं :

(१) जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है लक्षणा मे जो प्रयोजन रूप व्यग्यार्थ होता है, जिसके लिए लक्षणा की जाती है, उसका वोध लक्षणा द्वारा न होकर केवल व्यजना द्वारा ही हो सकता है।

(२) असलक्ष्य क्रम—व्यग्य मे रस भावादि व्यंग्य रहते हैं जो न तो अभिधा के वाच्यार्थ हैं और न लक्षणा के लक्ष्यार्थ।

(३) समान अर्थ के वोघ शब्दो का अभिधेयार्थ सर्वत्र एक ही होता है परन्तु व्यग्यार्थ भिन्न हो सकते हैं।

(४) प्रकरण, वक्ता, वोधक, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, संख्या और विपय आदि के अनुसार व्यग्यार्थ प्राय. वाच्यार्थ से भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए "सूर्यास्त हो गया" इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी के लिए एक ही होगा परन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरण आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होगा।



ध्वनि के भेद :—ध्वनि के आचार्यों ने ध्वनि को तीन भागों में विभाजित किया है—

(१) रस ध्वनि;
(२) अलकार ध्वनि;
(३) वस्तु ध्वनि।

स्थूल रूप से ध्वनि दो प्रकार की मानी गई है—

(१) अभिधा मूला ध्वनि;
(२) लक्षणा मूला ध्वनि।

अभिधा मूला ध्वनि :—इसमें वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ की सहायता करता है। इसलिए इसे वाच्य ध्वनि भी कहा गया है। इसके भी दो प्रकार हैं :—

(१) असंलक्ष्य व्यंग्य ध्वनि।
(२) सलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि।

असंलक्ष्मक्रम व्यंग्य ध्वनि :—असंलक्ष्य क्रम व्यंग ध्वनि वहाँ होती है जब वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम स्पष्ट नहीं हो पाता। असंलक्ष्यक्रम व्यंग के आठ भेद माने गये हैं :—

(१) रस
(२) रसाभास
(३) भाव
(४) भावभास
(५) भावशान्ति
(६) भावोदय
(७) भावसन्धि
(८) भावशबलता।

इन सब का परिचय हम रस-प्रकरण में दे चुके हैं।

संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि :—संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि उसे कहते हैं जिसमें वाच्यार्थ और व्यंगार्थ का पौर्वापर्य क्रम स्पष्ट रहता है। कभी तो इसकी प्रतीति शब्द शक्ति के द्वारा होती है और कभी उभय शक्ति द्वारा। इसी आधार पर इसके तीन प्रकार किये गये हैं :—

(१) शब्द शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि।

(२) अर्थ शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि ।

(३) उभय शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि ।

शब्द शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि :—जो शब्द प्रयुक्त हो, उसी शब्द से व्यग्यार्थ स्पष्ट हो, न कि उसके पर्यायवाची शब्द से–तब वहाँ शब्द शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि होती है । इसके भी दो प्रकार है :—

(१) वस्तु ध्वनि ।

(२) अलंकार ध्वनि ।

वस्तु ध्वनि वहाँ होती है जहां केवल कोई वास्तविक या यथार्थ भर का अर्थ प्रतीत हो । "रस मंजरी" मे वस्तु ध्वनि का उदाहरण इस प्रकार मिलता है :—

"पत्थर थल है पथिक । इत पत्थर कहुँ न लखाय ।
उठे पयोधर देख जो रह्यो चहत, रहि जाय ।"

स्वयं दूतिका नायिका का यह कथन है । इसका वाच्यार्थ होगा—"हे पथिक, यह पहाड़ी प्रदेश है यहाँ पर विस्तर आदि प्राप्त न होगे । यहाँ के उठे हुए वादलो का अवलोकन करके यदि तुम्हारी रुकने की अभिलाषा हो तो ठहर जाओ । इसके व्यंग्यार्थ मे शृंगार है । नायिका कहती है कि यदि मेरे उन्नत कुचो से तुम प्रभावित हो तो एक रात्रि सुख से यही विश्राम कीजिए । यह पहाडी प्रदेश है यहाँ पर नियमो का बन्धन नही है ।

अलंकार ध्वनि :—अलकार ध्वनि उसे कहते है जब प्रयुक्त किया हुआ शब्दार्थ वर्णनात्मक या इतिवृत्तात्मक न होकर शुद्ध काल्पनिक हो अर्थात् जो अन्य शब्दो में व्यक्त किये जाने पर अलंकार का रूप ग्रहण कर लेता है । रस मजरी मे अलकार ध्वनि का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है :—

"उपादान संभार बिनु जगत चित्र बिनु मीत ,
कलाकार हर ने रच्यो वन्दो उन्है विनीत ।"

इस दोहे मे भगवान शिव की अलौकिक चित्रकला नैपुण्य को व्यक्त किया गया है । अभिधा के द्वारा इसका अर्थ स्पष्ट तथा सुवोध है । व्यजना के द्वारा साधारण चित्रकार की अपेक्षा भगवान शंकर की निपुणता प्रगट होती है । यहाँ पर व्यतिरेक अलंकार का प्रयोग किया गया है । अतः यह अलंकार ध्वनि है ।

अर्थ शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि :—जब किसी रचना में किसी शब्द के

पर्यायवाची शब्द के आने पर भी व्यंगार्थ की व्यंजना मे कोई अन्तर उपस्थित नही होता तब उसे अर्थ शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि कहते हैं।

व्यंजक अर्थ के आधार पर इसके तीन प्रकार माने गये हैं :—

(१) स्वतः सम्भवी।

(२) कवि प्रोढोक्ति सिद्ध।

(३) कवि निवद्ध पाव की प्रोढोक्ति मात्र से सिद्ध।

इनके भी अनेक भेद उपभेद हैं।

शब्द और अर्थ उभय शक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनिः—जहाँ कुछ पदों मे परिवर्तन न हो और कुछ मे हो जाय, तब व्यंग का आभास हो तो उसे शब्दार्थ उभय शक्ति मूलक अनुरणन ध्वनि कहते हैं। इसका उदाहरण देखिए.—

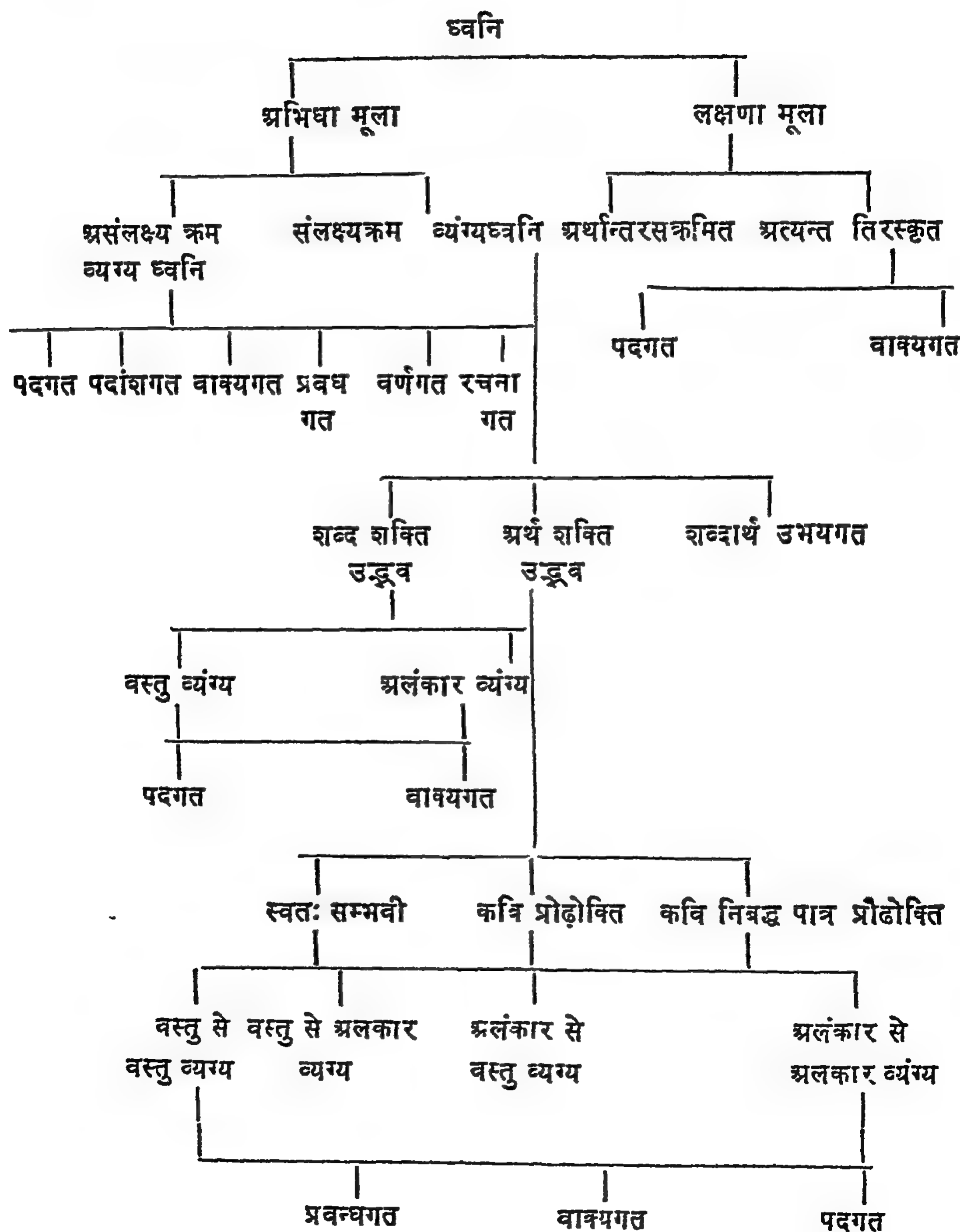
"अनुपमा चन्द्राभरत जुत मनमथ प्रवल वढातु।
तरल तारका कलित यह, श्याम ललित सुहातु।" (रस मजरी)

श्लेप के द्वारा इसके दो वस्तुगत वाच्यार्थ है। एक रात्रि के पक्ष मे और दूसरा स्त्री के पक्ष मे। रात्रि के पक्ष में इसका अर्थ होगा—चन्द्रमा तथा तारागणो से सम्पन्न रात्रि काम भावना को उद्दीप्त कर रही है। स्त्री के पक्ष मे इसका अर्थ यह होगा—चन्द्राभूषण से युक्त चंचल तारको वाली स्त्री काम भावना को उद्दीप्त करती हुई शोभायमान है। परन्तु "चन्द्र तरल" तथा "श्यामा" शब्दों के पयार्यवाची शब्द मानने पर यह दोनों अर्थ स्पष्ट नही होते। इस दृष्टि से इसे शब्द शक्ति मूलक कहा जायेगा। यदि "आभारण" और "वढात" शब्द के पर्यायवाची शब्द प्रस्तुत किये जायें तो उपर्युक्त दोनों अर्थों में कोई भेद नही आता। वस्तुतः यह उभयशक्ति उद्भव अनुरणन ध्वनि होगा। शब्दार्थ उभय शक्ति उद्भव अनुरणन-ध्वनि केवल वाक्यगत होती है। ये ध्वनि के अठारह भेद हुए। पदगत, वाक्यगत, प्रवन्धगत, पदोशगत, वर्णगत और रचनागत आदि भेदों को मिलाकर ध्वनि के ५१ भेद हो जाते है। संकर और संसृष्टि के आधार पर ध्वनियों के सैकड़ो भेद, उपभेद हो जाते है। प्राचीन आचार्यो ने तो ध्वनि मे १०, ४५५ भेद माने है। विस्तार भय से इनका विवेचन नही किया गया है।

विद्वानो ने इस रस ध्वनि को श्रेष्ठ माना है। क्रोच वध के करूणापूर्ण दृश्य वालमीकि के हृदय मे श्लोक के रूप मे जो शोक उद्भूत हुआ वही रस ध्वनि है। अतः स्पष्ट है कि ध्वन्यालोककार ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना अवश्य है

परन्तु उन्होंने रस ध्वनि को प्रधान मानकर रस को काव्य का प्रधान गुण तत्त्व स्वीकार किया है।

निम्नलिखित तालिका से ध्वनि के भेद और स्पष्ट हो जायेंगे।



इस प्रकार ये ध्वनि के ५१ भेद हैं।

ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार काव्य के भेद—ध्वनि-सम्प्रदाय वालों ने काव्य के तीन भेद किये हैं—

(१) ध्वनि काव्य—जिसमे प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति वाच्य या प्रत्यक्ष अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण होती है।

(२) गुणीभूत व्यंग्य—जिसमे वाच्य अर्थ व्यंग्य अर्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण होता है।

(३) चित्र काव्य—इसमे शब्द और अर्थ के अलकारो का चमत्कार रहता है। इसे अधम काव्य की संज्ञा दी गई है।

ध्वनि सिद्धान्त वालों ने गुणों और अलंकारो को पृथक-पृथक किया है। उन्होने गुण को काव्य का नित्य धर्म माना है और अलंकार को अनित्य धर्म। उनका मत है कि "सतकाव्य में अलंकार हो या न हो किन्तु गुण अवश्य होना चाहिए।" वस्तुतः उन्होने अलकारो को बाह्य शोभा बढाने वाले अलंकार माने; और गुणों को शौर्य आदि के समान सात्विक या स्वाभाविक शोभा वर्द्धक कहा है।

ध्वनि और रस—ध्वनि और रस के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए एक वार फिर भरत के रस-सूत्र पर एक विहगम दृष्टि डालनी होगी। भरत ने रस निष्पत्ति की व्याख्या इस प्रकार की हैं—

"विभावानुभावव्यभिचारि सयोगात् रस निष्पत्ति"

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है।

भरत के रस सूत्र की व्याख्या करने वालों मे चार विद्वानों के मत उल्लेखनीय हैं—

(१) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद,
(२) शकुक का अनुमितिवाद,
(२) भट्ट नायक का मुक्तिवाद,
(४) अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

इन सब में अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद ही विद्वानो को अधिक मान्य हो सका है। अभिनवगुप्त ने काव्य को साधक और रस को साध्य माना है। उनके विचार से रस प्रतीति काव्य के व्यजन व्यापार से होती है। ध्वनि सिद्धान्त का भवन व्यजना वृत्ति की नीव पर ही आधारित है। काव्य मे प्रयुक्त शब्द का व्यंग्य अर्थ व्यंजना के द्वारा ही प्रकाशित होता है। अभिधा और लक्षणा के द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति नही होती वह व्यंजना के द्वारा स्पष्ट हो जाती है। अतः अभिधा तथा लक्षणा द्वारा अस्पष्ट अर्थ को स्पष्ट करने वाली वृत्ति व्यंग्यार्थ कहलाती है। इस व्यंग्यार्थ को ही ध्वनिकारो ने ध्वनि के नाम से अभिहित किया है—

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृत स्वार्थौ
व्यक्तः काव्य विशेषः स ध्वनि रिति सूरभिः कथितः ।[1]

कही वाच्यार्थ प्रधान होता है और कही व्यग्यार्थ । जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यग्यार्थ मुख्य होता है वही उसे ध्वनि कहा गया है । इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यजना के सहारे जिस व्यग्यार्थ का ज्ञान होता है वही रस का कारण हे । और यही ध्वनि तथा रस का सम्वन्ध है । रस वाच्य नही होता, इतना ही नही, रस का वाचक शब्दो द्वारा कथन रस दोप कहलाता है । ध्वनिकार ने रस को रस ध्वनि के नाम से अभिहित किया है । इस प्रकार उन्होने रस को ध्वनि का एक अग माना है । ध्वनिकारो ने स्थूल रूप से ध्वनि के दो भेद किये—

(१) अभिधा मूला ध्वनि या विवक्षित अन्य पर वाच्य ध्वनि ।

(२) लक्षणा मूला या अविवक्षित वाच्य ध्वनि ।

अभिधा मूला ध्वनि के भी दो भेद हैं—

(१) असलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि ।

(२) सलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि ।

असलक्ष्यक्रम व्यंजना ध्वनि के आठ भेद हैं—

(१) रस
(२) भाव
(३) रसाभास
(४) भावाभास
(५) भावोदय
(६) भाव शान्ति
(७) भाव सन्धि
(८) भाव शवलता

रस को असंलक्ष्यक्रम व्यग्य के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। क्योकि विभावादि द्वारा जो रस की प्रतीति होती है उसमे पूर्वापर सम्वन्ध का ज्ञान नही रहता । पूर्वापर सम्वन्ध रहता है किन्तु वह "शत पत्र भेदन न्याय" के समान नही लगता ।

सक्षेप में ध्वनि तथा रस का यही सम्वन्ध माना गया है । ध्वनिवादियो ने रस को नष्ट करने वाले दोषो को ही दोष कहा है—

"मुख्यार्थापहितर्दोष."

अर्थात प्रधान अर्थ या रस का नाश करने वाले तत्त्व को ही दोप कहते हं ।

उपसहार—हमारे साहित्य शास्त्र मे सम्प्रदायो की जो प्रतिद्वन्द्विता उपस्थित हो गई थी उसका प्रधान कारण यह था कि आचार्यों ने रस, अलकार, रीति, वृत्ति,

---

१. ध्वन्यालोक १/१३

ध्वनि आदि को पृथक-पृथक काव्य की आत्मा मानकर उनका महत्व प्रतिपादित किया है। परन्तु यदि काव्यों का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक न तो ध्वनि ही रहती है, न रस ही, न अलंकार ही, न वक्रोति ही। कवियो ने अपने काव्य को सुन्दर तथा प्रभावशाली बनाने के लिए समय-समय पर इन तत्वो का समावेश किया है। डा० नगेन्द्र "रीतिकाव्य की भूमिका" मे लिखते हैं—

"रस, अलंकारः रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति ये पांच पृथक सिद्धान्त नही हैं। वरन् मूलतः केवल दो ही सिद्धान्त हैं—रस और रीति अथवा रस और अलंकार। एक केवल आत्मा को ही सम्पूर्ण महत्व दे देता है दूसरा केवल शरीर को। रस और ध्वनि मूलतः रस के ही अन्तर्गत आ जाते हैं और ये आत्मवादी हैं। अलंकार रीति और वक्रोक्ति तत्वतः रीति अथवा अलंकार के अन्तर्गत आते हैं (शुक्ल जी ने 'रीति' नाम ही अधिक उपयुक्त माना है, जो वास्तव में अलंकार की अपेक्षा अधिक संगत एवं स्पष्ट है) और ये शरीरवादी हैं। आत्मा और शरीर की सापेक्षिक अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है, यदि आत्मा के विना शरीर निरर्थक है तो शरीर के विना आत्मा का भी कोई मूर्त अस्तित्व नहीं है। यही बात रस और रीति के सम्बन्ध में भी घटती है। भाव का सौन्दर्य उक्ति के सौन्दर्य से निरपेक्ष कैसे हो सकता है? इसी प्रकार उक्ति का सौन्दर्य भी भाव के सौन्दर्य से निरपेक्ष नहीं हो सकता।"

कुछ विद्वानों का विचार है कि औचित्य सम्प्रदाय ही सबसे मान्य है और अन्य सिद्धान्तों का समावेश यथास्थान पर यथोचित रूप मे होना चाहिए।

कुछ प्रगतिशील विचारकों का मत है कि "अब रस की दृष्टि से विचार करना छोड़कर नये दृष्टिकोण से काव्य का परीक्षण और समीक्षण करना चाहिए।" किन्तु इसके साथ उनका यह भी विचार है "रचना में यह शक्ति भी होनी चाहिए कि वह पाठक को प्रारम्भ से अन्त तक उलझाये रहे।" अतः स्पष्ट है कि वे काव्य मे रस की स्थिति को महत्व देते हैं। क्योकि काव्य को चारुत्व रस ही प्रदान करता है। वस्तुतः काव्य की लोकप्रियता के लिए रस की स्थिति आवश्यक है। और यह तभी सम्भव है जब काव्य के समस्त अगो तत्वो और साधनों का उचित विन्यास हो। तत्व रूप मे रस और रीति सम्प्रदाय एक दूसरे के पूरक एवं अन्योन्याश्रित हैं। और प्रतिवाद करते हुए भी एक दूसरे के महत्व को किसी न किसी रूप मे मानते हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय

रीति-सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिष्ठापक आचार्य वामन हैं। उन्होंने अलङ्कार सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया स्वरूप रीति-सम्प्रदाय की प्रतिष्टा की। उन्होंने सर्व प्रथम रीति शब्द का प्रयोग किया और "रीति आत्मा-काव्यस्य" (काव्य की आत्मा रीति) की उद्घोषणा की। वामन ने पदो की विशिष्ट रचना को रीति-माना—"विशिष्ट पदरचना रीतिः।" परन्तु उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि पदो में यह विशेषता गुणो के द्वारा आती है—'विशेषो गुणात्मा।" इसलिए रीति सम्प्रदाय को कुछ लोगो ने गुण-सम्प्रदाय की सज्ञा दी है।

① रीति का सामान्य अर्थ :—प्रत्येक लेखक अपने विषय का प्रतिपादन अपने ढँग से करता है—और यही उसकी रीति है। रीति लेखक के विशिष्ट लेखन प्रकार का परिचायक है। कोई लेखक अपनी बात को साधारण ढँग से कहता है तो कोई विशेष शब्दो तथा वाक्यो का प्रयोग करता है। प्रत्येक कवि या लेखक की अपनी निजी रीति होती है। वस्तुत जितने कवि या लेखक हैं उतनी ही रीतियाँ या शैलियाँ हैं। इस सम्बन्ध मे दण्डी ने लिखा है :—

> "अस्त्यनेको गिरा मार्ग. सूक्ष्मभेद. परस्परम्।
> तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ॥[1]
> इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
> तद्भेदास्तु न शक्यते वक्तु प्रतिकविस्थिता॥
> इक्षुक्षीर गुडादीना माधुर्यस्यान्तर महत्।
> तथापि न तदाख्यातु सरस्वत्यापि शक्यते॥[2]

अर्थात् रीतियाँ संख्यातीत हैं। उनमे परस्पर भेद करना अत्यन्त सूक्ष्म है। ऊख, दूध, गुड, चीनी, मिश्री आदि के माधुर्य में विभिन्नता है और इसकी अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति को होती है। दूध के मिठास मे जो स्वाद है वह चीनी के मिठास में नही। चीनी तथा मिश्री का भेद तो स्पष्ट है। परन्तु उनका भेद अत्यन्त सूक्ष्म है। इसी प्रकार शैलियाँ भी अनन्त होती हैं और इनमे इतना सूक्ष्म अन्तर है कि स्वय सरस्वती भी इन भेदो को स्पष्ट करने की क्षमता नही रखती।

शारदातनय ने भी दण्डी की इस बात को स्वीकार किया है :—

> "प्रतिवचनं प्रतिपुरुष तदवान्तरजातितः प्रतिप्रीति।

१—काव्यादर्श—१।४०

२—काव्यादर्श—१।१०१

आनन्त्यात् संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्धैव ॥
स एवाक्षरविन्यासास्ता एवाक्षरपंक्तय:
पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती ॥[3]

अर्थात् प्रत्येक वचन, प्रत्येक पुरुष, अवान्तर जाति आदि के भेद की दृष्टि से रीतियाँ भी विभिन्न हैं। अक्षरों की योजना, तथा पदों की पंक्तियों में समानता रहने पर भी प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजी विशेषता के कारण उनकी सरस्वती भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करती है।

वस्तुत: रीति लेखक के व्यक्तित्व का परिचायक है। लेखक के व्यक्तित्व के अनुसार ही उसकी रीति होगी। इसलिए अंग्रेजी में कहा गया है—"Style is the man" अर्थात् शैली ही व्यक्ति है।

(2) रीति शब्द की व्युत्पत्ति:—रीति शब्द की व्युत्पत्ति रीङ् गतौ गत्यर्थक रीङ् धातु से क्तिन् प्रत्यय के योग से हुई है। अत: रीति के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ हुए मार्ग, पन्था, वीथि, गति आदि। रीति की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में महाराज भोज ने "सरस्वती कण्ठाभरण" में लिखा है:—

'वैदर्भादिकृत: पन्था: काव्ये मार्ग इतिस्मृत:
रीङ: गताविति धातो: सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते"—(२-२६)

अभिव्यंजना के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। प्रत्येक लेखक अपनी रुचि के अनुकूल इन मार्गों का अवलम्बन करता है। रीति शब्द के द्वारा अभिव्यंजना की विभिन्नता का परिचय मिलता है। आज रीति शैली का पर्याय माना जाता है। शैली शब्द की व्युत्पत्ति शील शब्द से मानी गई है। यह भी लेखक के व्यक्तित्व की परिचायक है। कुल्लूक भट्ट ने शैली का प्रयोग व्याख्यान पद्धति के अर्थ में किया है।

(3) रीति की परिभाषा और स्वरूप:—रीतितत्त्व के मर्मज्ञ तथा उद्भावक आचार्य वामन ने "काव्यालंकार सूत्र" में रीति की व्याख्या इस प्रकार की है:—

"विशिष्टा पद रचना रीति:"

अर्थात् पदों की विशिष्ट रचना को रीति कहते हैं। पद रचना का यह वैशिष्ट्य विभिन्न गुणों के सश्लेषण पर निर्भर है—'विशेषो गुणात्मा।' गुणों का अर्थ उन्होंने माना—'काव्य को शोभित करने वाले धर्म।' सर्व प्रथम वामन ने अलंकार और गुणों को पृथक्-पृथक करके उनका भेद स्पष्ट किया। इससे पूर्व भामह तथा दण्डी ने गुण तथा अलंकार के पार्थक्य को स्पष्ट नहीं किया था। दण्डी ने तो गुणों को अलंकार के रूप में ग्रहण किया था—"काव्य शोभाकरान् धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते"। किन्तु वामन ने अलंकारों की अपेक्षा गुणों का महत्व प्रतिपादित किया। उन्होंने गुण को काव्य के उत्कर्ष का प्रधान साधन माना तथा अलंकारों को तीव्रता प्रदान करने वाला स्वीकार किया। वे लिखते हैं:—"काव्यशोभाया: कर्त्तारो धर्मा:

३—भावप्रकाशन—पृ० ११-१२

गुणाः तदति शमहेतवस्त्वलङ्कारा: ।' उनका विचार ' –"गुण तो काव्य में रहते हैं, बिना उसके काव्य मे शोभा ही उत्पन्न नहीं होती। वह गुण युक्त रचना ही काव्य कहलाती है, गुणहीन रचना नहीं।" गुण के सम्बन्ध में आगे वे लिखते हैं— "यदि किसी स्त्री में यौवन न हो तो कङ्कन, कण्ठहार, आदि आभूषण उसकी शोभा नही बढा सकते । अत: अलंकारो को तो कङ्कन आदि के समान समझना चाहिए और गुण को यौवन के समान ।"

वस्तुत [1] "वामन के अनुसार रीति पद रचना का वह प्रकार है जो दोषो से मुक्त हो, एव गुणो से अनिवार्यत: तथा अलकारो से साधारणत: सम्पन्न हो।"

वामन के पश्चात् कुन्तक ने रीति को "कवि प्रस्थान-हेतु" या कवि कर्म की विधि माना। भोज ने भी रीति शब्द का प्रयोग काव्य मार्ग के अर्थ मे किया है।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन का विचार था कि रीति सम्प्रदाय के आचार्यों ने काव्य तत्त्व का यथार्थ वर्णन नही किया। इसीलिए उन्होंने रीतियो का प्रचलन किया वे ध्वन्यालोक मे लिखते हैं :—

"अस्फुटस्फुरित काव्यतत्त्वमेतद्यथोदित ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्त्तुं रीतय. सम्प्रवर्तिता. ॥"

अर्थात् रीति वाले काव्य तत्त्व से परिचित अवश्य थे, किन्तु उन्हे व्यक्त करने का प्रकार नही जानते थे इसलिए ये रीति के फेर मे पड गये।

आनन्दवर्धन ने वामन तथा कुन्तक की अपेक्षा अपनी रीति की व्याख्या को अधिक स्पष्ट किया। उनके विचार से रीति वह विधि है जिसके द्वारा काव्य के शरीर शब्द और अर्थ मे चारुता का सन्निवेश होता है। उन्होंने रीति का रस से सम्बन्ध स्थापित करने का भी प्रशसनीय प्रयत्न किया —

"गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यक्तिसा
रसान् ... ..."

अर्थात् पद-रचना, माधुर्य गुणो पर अवलम्बित रहती और रस की अभिव्यजना मे योग देती है।

आचार्य वामन ने पद रचना की विशिष्टता के लिए "विशेषो गुणात्मा" कहा है आनन्दवर्धन ने "सघटना' शब्द के द्वारा इस कथन की व्याख्या की है। उनका "संघटना" से अभिप्राय था पदो की सम्यक या शोभन योजना।

आनन्दवर्धन ने सघटना और गुणो का सम्बन्ध निश्चित किया। उन्होने प्रसाद गुण को सभी संघटनाओ या रीतियो के अन्तर्गत माना है। वे लिखते हैं :—

"सर्वासु च संघटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी। सहि सर्वसाधारण: सर्व सघटना साधारण इत्येत्युक्तम्" .... इत्यादि।

१—डा० नगेन्द्र–रीतिकाव्य की भूमिका

विश्वनाथ ने "साहित्य दर्पण" मे आनन्दवर्धन के अनुसार रीति की व्याख्या की है :—

"पद संघटना रीतिः अंग संस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनाम् ... ..."

अर्थात् जिस प्रकार रमणी के अंगों का सुनिर्मितगठन सुन्दर लगता है उसी प्रकार "पद संघटना" या रस रीति काव्य सौन्दर्य की वृद्धि में सुन्दर योग देते हैं ।

मम्मट ने भी रचना वैशिष्ट्य के लिए प्रसाद गुण आवश्यक माना है । वे लिखते हैं :—

"शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छ जलवत् सहससैव य ।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहित स्थितिः "[1]

अत स्पष्ट है कि वामन के समान अन्य आचार्यो ने भी रीति मे गुणों को प्रधानता दी है । वामन ने रीति में आन्तरिक तत्व को भी स्वीकार किया है । क्योकि उन्होंने अर्थ और वाणी मे सामंजस्य पर वल दिया है । वामन की रीति में वैयक्तिक तत्त्व को कदाचित् उतनी प्रधानता नही मिली जितनी पाश्चात्य काव्य शास्त्र में शैली को । भारतीय काव्य शास्त्र की रीति का सम्वन्ध कवि-व्यक्तित्व की अपेक्षा कला से अधिक है । किन्तु फिर भी डा० डे का निम्नलिखित कथन स्वीकार नही किया जा सकता :—

"भारतीय रीति सर्वथा निर्वैयक्तिक रचना कौशल है अतएव वह पाश्चात्य "शैली" से एकान्त भिन्न है ।"

गुणों का लक्षण तथा स्वरूप—गुणो का स्वरूप तथा लक्षण प्राचीन ग्रन्थों में भी उपलव्ध होते हैं । (हम पीछे गुणों के सम्बन्ध मे लिख चुके हैं ।) भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र मे काव्यार्थ के दस गुण माने हैं—श्लेप, प्रसाद, समाधि, समता, माधुर्य, ओज, पद सुकुमासा, अर्थ व्यक्तित्व, उदारता, कान्ति ।

रूद्रदामन ने अपने गिरनार के शिलालेख (१५० ई०) में माधुर्य, कान्ति और उदारता आदि गुणो का वर्णन किया है ।

अग्निपुराण मे गुण का लक्षण इस प्रकार मिलता है :—

"यः काव्ये महती छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः" ३४६ । ३

अर्थात् गुण काव्य को अत्यधिक शोभा प्रदान करने वाला तत्व है ।

यद्यपि दण्डी ने भी भरत की गुण व्याख्या को अपनाया है । किन्तु उन्होंने अपने गुण विवेचन में कुछ अन्तर कर दिया है । उन्होने गुणों को वैदर्भी रीति का लक्षण माना हैं और कहा है कि गौडी रीति में इन गुणों का ठीक उल्टा समझना चाहिए :—

"एषा विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड वर्त्मनि"

१—काव्य प्रकाश अष्टम उ०, ७० का०

अर्थ व्यक्ति, उदारता तथा समाधि गुणों को उन्होने वैदर्भी और गौडी दोनों के लिए अनिवार्य बताये हैं।

वामन ने गुणो का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

"काव्य शोभाया कर्त्ताशेधर्मा गुणा:"

मम्मटाचार्य ने गुणो का सम्बन्ध रस से स्थापित किया है। देखिए:—

"ये रसस्याङ्गिनो धर्मा: शौर्यादय इवात्मन:
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचल स्थितयो: गुणा:।"[२]

स्वरूप—साहित्य शास्त्र में प्रसाद, माधुर्य और ओज तीन गुण माने गये हैं। परन्तु प्राचीन संस्कृत साहित्य में गुणो की संख्या तीन से अधिक थी। जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं कि भरतमुनि ने नाटय शास्त्र में दस गुणों का उल्लेख किया है।

"श्लेष·, प्रसादः, समता समाधिर्माधुर्य्यमोज: पद सौकमार्य्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कातिश्च काव्यार्थ गुणादशैते॥"

इस प्रकार भरतमुनि ने दस गुण माने। अग्नि पुराण मे १९ गुणो का उल्लेख है। दण्डी ने कुछ भिन्न प्रकार के दस गुणो को स्वीकार किया :—

"श्लेप:, प्रसाद, समता माधुर्य, सुकुमारता।
अर्थ व्यक्ति रुदारत्वभोज: कान्तिसमाधय.॥"
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा: दश गुणा: स्मृता।
एषा विपर्यम. प्रायो दृश्यते गौड्वत्र्मनि॥

वामन ने भी दस गुण माने। परन्तु उन्होने यह दस गुण शब्द और अर्थ दोनों में माने हैं। इसकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं :—

"पद रचना में समर्थता लाने से ओज आता है और शिथिलता से प्रसाद। किन्तु ओज के साथ मिलकर प्रसाद गुण भी हो जाता है। अनेक अलग-अलग पदों का समास के समान मिला हुआ प्रतीत होना ही श्लेष गुण है। आरम्भ से अन्त तक रचना का एक रूप होना ही समता कहलाता है। क्रमिक रूप से आरोह-अवरोह होना समाधि कहलाता है। पदो का अलग-अलग होना माधुर्य है, और कोमल पदों का प्रयोग ही सुकुमारता कहलाता है। शब्द विन्यास में जब अर्थ नाचते हुए से प्रतीत होते हैं तब उसे उदारता कहते हैं। जिन पदों से अत्यन्त शीघ्र अर्थ की प्रतीति होती है उसे अर्थ व्यक्ति कहते हैं। सुन्दर कथा, भव्य पद-योजना से कान्ति उत्पन्न होती है।"

वामन से पूर्व भामह ने प्रसाद, माधुर्य और ओज तीन गुण स्वीकार किये थे। मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि ने भी तीन गुणो को माना है। शेष सात गुणो के सम्बन्ध मे इन आचार्यों का विचार था कि—"अन्य सात गुण या तो इन्हीं

२—काव्य प्रकाश ८। ६६